2.4

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये ।

जीवनालोक

जिनके चरितालोक में मिले सनातन पन्थ ।
ब्रह्मलीन ब्रह्मर्षि को अर्पित संस्मृति-ग्रन्थ ॥

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः । गीता ४/१३

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् । यजुर्वेद

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छत्वं मम तेजोंशसम्भवम् ॥ गीता १०/४१

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ गीता १२/१६

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ गीता १५/६

॥ श्रीः ॥

वैदिक द्विज की धारणा, जिनमें थी साकार ।
उन श्रीजीवनदत्त को , है प्रणाम शतबार ॥

मानव सृष्टि में प्रकृति की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है । सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम वनस्पति जगत् से उद्भूत प्राण के दर्शन होते हैं । भूगर्भ से उत्पन्न शष्पांकुर मिट्टी, जल, वायु, एवं प्रकाश का उपयोग कर अपनी वृद्धि करने लगता है और अन्त में अपनी स्थिरता एवं सातत्य के लिए अपना बीज उत्पन्न करने में समर्थ होता है । बीज से पुनः उसी वनस्पति की उत्पत्ति संभव होती है ।

इस वनस्पति जगत् में प्राणिता के अतिरिक्त विकास-परम्परा में अनुस्यूत विविधता भी दृष्टिगोचर होती है । निश्चय ही वनस्पतियों में भी विकास-क्रम में कुछ आगे-पीछे की स्थिति है अर्थात् कुछ वनस्पतियाँ दूसरी की अपेक्षा विकसिततर हैं । जो वनस्पतियाँ—उदाहरण के लिये लतापरिवार की वनस्पतियां—पृथ्वी के समानान्तर वृद्धि-शील रहती हैं वे विकास—परम्परा में उन वनस्पतियों की अपेक्षा जो पृथ्वी से आकाशोन्मुख वर्द्धिष्णु होती हैं पहले की स्थिति की हैं अर्थात् कम विकसित हैं ।

वनस्पति जगत् में कुछ वनस्पतियाँ पृथ्वी की आकर्षण शक्ति की अवहेला करके आकाश की ओर सिर उठाये बढ़ती चलती हैं । उनका पृथ्वी से खाद—पानी तक का ही सम्बन्ध रहता है । उनकी आवश्यकता की अधिक पूर्ति वायु एवं प्रकाश से होती है । वे पृथ्वी से चिपकी रहने वाली वनस्पतियों की अपेक्षा उन्नत एवं विकसित वनस्पतियाँ हैं ॥

पृथ्वी सभी का आधार है, अतः पृथ्वी से सम्बन्ध त्याग कर जीवन की सम्भावना नहीं जान पड़ती है । फिर भी केवल बुभुक्षा-शान्ति के अतिरिक्त पृथ्वी का अधिक मोह पृथ्वी से चिपके रहने के लिए बाध्य करता है । यह मानना उचित जान पड़ता है ।

जीवन का जो सिद्धान्त वनस्पति जगत् से विद्यमान है वही प्राण के विकसिततर स्तरों पर भी परिलक्षित है किन्तु इसका विस्तृत विवेचन करने की यहाँ आवश्यकता नहीं है ।

वनस्पति जगत् के पश्चात् कृमिकीटादि, तत्पश्चात् पशुपक्षी और उनके बाद मानव का स्थान है । मानव में प्राण अभी तक उच्चतम भूमि से विद्यमान है । कुछ विद्वानों की धारणा है कि मानव से भी उच्चतर अभिव्यक्ति आगे आ सकती है, किन्तु कुछ की धारणा है कि मनुष्य उच्चतम भूमि में हैं और उससे आगे विकास सम्भव नहीं है । प्रकृति के समग्र रूप पर एक साथ दृष्टिपात करने पर तो यही जान पड़ता है कि मनुष्य ही अन्तिम एवं उच्चतम रचना है ।

प्राणिमात्र की सृष्टि-विनिहित भोजन-व्यवस्था पर दृष्टिपात करने पर भी उपयुक्त धारणा की पुष्टि होती है । प्रकाश-वायु एवं जल के अतिरिक्त वनस्पतियों को खाद की आवश्यकता पड़ती है, पशुओं को घासपात और अन्न की । किन्तु मनुष्य वनस्पतियों के फलादि, और अन्न से शरीर-यात्रा

करता है। गेहूँ और बाजरा का बीज मानव का भोजन है ओर डण्ठल पशुओं का। इससे आगे की भोजन व्यवस्था अनुपलब्ध होने के कारण यही सत्य प्रतीत होता है कि मनुष्य ही प्रकृति की अन्तिम उच्चतम रचना है। अतएव मनुष्य सृष्टिकर्त्ता का प्रतिरूप है।

इससे पूर्व वनस्पतिजगत् की विविधता का उल्लेख किया था उसमें यह भी दिखाने का प्रयत्न था कि कुछ वनस्पतियाँ विकसिततर स्थिति में हैं। मनुष्यों को भी यह बात स्वीकारनी पड़ेगी। अर्थात् ऊपर से कुछ मनुष्य जैसे शरीरधारी होने पर भी उतने विकसित नहीं हैं जितने कुछ अन्य मनुष्य हैं। इस विकास को कसौटी भो वही माननी पड़ेगी जो वनस्पतियों के सम्बन्ध में मानी है। इस कसौटी के अनुसार वे वनस्पतियाँ–वनस्पति रूप में भी कम विकसित हैं जो पृथ्वी से चिपक कर, बढ़ती हैं। वस्तुतः विकास एवं प्रगति स्थूल से सूक्ष्म की ओर है। पार्थिक आकर्षण स्थूल है उनको अवहेलना ही सूक्ष्म की ओर बढ़ने का लक्षण है।

जो मनुष्य–स्त्री अथवा पुरुष–पृथ्वी के मोह को त्याग कर अकाश की ओर नहीं उठ सका वह उसकी अपेक्षा जो पृथ्वी के मोह को बिल्कुल छोड़ चुका है कम विकसित है। मानव के सम्बन्ध में पृथ्वी के मोह से हमारा तात्पर्य स्थूल इन्द्रियों की पार्थिव तृप्ति से है। यह अवश्य है कि पृथ्वी पर जन्म लेने वाला पार्थिव शरीर में रहकर पृथ्वी की नितान्त अवहेला न कर सकेगा। उसे भी अपनी शरीर-यात्रा के लिए पार्थिव पदार्थों की आवश्यकता एवं वाञ्छा रहेगी। यह पार्थिव-पदार्थ-अपेक्षा ही पृथ्वो सम्बन्ध है। इसी को ध्यान में रखकर'आहार-निद्राभय-मैथुनं च-सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम्' कहा गया है।

आहार-निद्रा की आवश्यकता तो वनस्पतिजगत् में भी दिखलाई पड़ती है। वस्तुतः आहार-निद्रा का सम्बन्ध ही पार्थिव सम्बन्ध है। उच्चतम अवस्था अथवा भूमि पर स्थित व्यक्ति को आहार-निद्रा को भी उतनी अनिवार्य आवश्यकता नहीं होती जितनी अपेक्षाकृत अविकसित मनुष्यों को होती है। भारतीय तपस्या-क्रम में आहार और निद्रा को त्याग कर लम्बे समय तक जीवन-धारणा के प्रमाण हैं।

विकास की निम्न भूमि पर स्थित व्यक्ति को आहार–निद्रा की आवश्यकता भी होती है और उस आवश्यकता को पूर्ति की वाञ्छा भी। विकास की निम्नतर भूमियों में पूर्ति–वाञ्छा प्रवलतर होती जाती है। इसके विपरीत विकास की उच्चतर भूमियों में आवश्यकता की समानता रहने पर भी वाञ्छा निर्बलतर होती जाती है। भारतीय संस्कृति के तत्व तितिक्षा में इच्छापूर्ति को समाप्त करने का प्रयत्न विद्यमान है। दूसरे शब्दों में पार्थिव तृप्ति को ही जीवन का परम लक्ष्य मानना पशुता ही है, और उससे ऊपर उठकर आहार-निन्द्रा की अनिवार्यता को भी अनिच्छा से ग्रहण करना मानवता का वास्तविक लक्ष्य है।

जीवन की इसी स्थिति का साक्षात्कार कर गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा था।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

"अर्थात् मैंने ही गुणकर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य की रचना की है।" स्पष्ट है कि जो व्यक्ति अपने जीवन में 'आहार-निद्रा आदि' की पूर्ति को ही जीवन की सफलता मानता है वह निश्चय ही चातुर्वर्ण्य में निम्नतम कोटि का है और जो इसकी पूर्ति की आवश्यकता को आवश्यकता न मानकर इसके त्याग को ही आवश्यक मान लेता है उच्चतम कोटि का है।

गीता के गायक ने गुण एवं कर्म के अनुसार चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था दी है। गुण अंतःकारण की वृत्ति का सूक्ष्म रूप है और कर्म उसी वृत्ति का स्थूल रूप है। जिस प्रकार सहस्रों आतप–सन्तप्त पथिकों को अपनी विशाल छाया में आश्रय प्रदान करने वाला वट वृक्ष का एक वह रूप है जो भूमि के ऊपर दृष्टिगोचर होता है; किन्तु इस विशाल भूरुह का एक वह भी रूप है जो भूमिगत होने के कारण आँखों से ओझल रहता है। वृक्ष के इस रूप को जड़-विस्तार नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार भूमिगत एवं भूबहिर्गत दोनों रूप वृक्ष ही हैं उसी प्रकार गुण-कर्म भी एक ही हैं। गुण की स्थूल अभिव्यक्ति ही कर्म है।

चातुर्वर्ण्य की उच्चतम भूमि में वर्तमान व्यक्ति के गुण एवं कर्म उसे पार्थिवता से ऊपर उठाते चलते हैं। उसका मन त्याग में ही रति करता है अथवा वह 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' ही ग्रहण करता है।

इन निम्नतम एवं उच्चतम भूमियों के गुण-कर्म में एक दूसरे से विपरीतता दिखलाई पड़ती है। इसी विरोध को देखकर गीताकार ने कहा थाः—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥

'जो समान रूप से सभी जीवों की रात्रि है, उसमें संयमी जागता रहता है। जिसमें समस्त भूत जागते रहते हैं, वस्तुद्रष्टा मुनि उसको रात्रि मानकर सोता रहता है।' समस्त जीव अपनी पार्थिव आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सतत सजग एवं जागरूक रहकर प्रयत्न करते रहते हैं, वस्तु द्रष्टा उसे अकरणीय प्रयत्न मानकर उस ओर से उदासीन रहता है. और जिस त्याग का सामान्य जीवों को ध्यान भी नहीं रहता है, सजग मुनि उसी की ओर सचेष्ट रहता है।

सामान्य धरातल का व्यक्ति एवं उच्चतम धरातल का द्रष्टा मुनि बाहर से एक से ही शरीर वाले होते हैं। दोनों के शरीरावयवों की संस्थिति भी समान ही होती है, परन्तु दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। उनका यह भेद स्थूल दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ सकता है। वस्तुतः इतना भारी अन्तर उनके सूक्ष्म जगत् में है। यही कारण है कि दोनों का देखना–सुनना एक दूसरे के विपरीत है।

चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था में इनमें निम्नतम अथवा सामान्यभूत-भूमि पर स्थित व्यक्ति की शूद्र संज्ञा है और उच्चतम अथवा विशिष्ट स्थिति में पहुँचे व्यक्ति की ब्राह्मण। शूद्र पार्थिव भोगों को ही चरम महत्त्व प्रदान करता है और ब्राह्मण उनके त्याग को चरम महत्त्व।

ब्राह्मण की जीवन–दृष्टि शूद्र की जीवन-दृष्टि से पूर्णतया विपरीत है, अतः गीताकार ने उन दोनों को दो अलग-अलग वर्गों में रखा है। किन्तु विभिन्न एवं विपरीत वर्गों में विभक्त होने पर भी दोनों ही मानव-समाज के अभिन्न अंग होने से एक-दूसरे से विलग न होकर एक–दूसरे से सम्पृक्त हैं। दोनों की सम्पृक्तता की ओर भी भारत के चिन्तनशील मनीषियों का ध्यान गया है। यजुर्वेद के पुरुष सूक्त में ब्राह्मण को विराट् पुरुष का मुख और शूद्र को चरण स्वीकारा है। यथाः—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

इस पुरुष-सूक्त के द्रष्टा ऋषि को ब्राह्मण विराट् पुरुष का मुख एवं शूद्र चरण दिखलाई पड़ा, एक आकाश में उठा हुआ और दूसरा पृथ्वी पर चिपका हुआ। यदि विराट् पुरुष को मानव-समाज स्वीकारा जाय तो उसमें ब्राह्मण का वही स्थान है जो शरीर में मुख का है और उसमें शूद्र का वह स्थान जो शरीर में चरण का है।

यजुर्वेद के इस सूक्त में एक महान् वैज्ञानिक सत्य की ओर संकेत है। प्रबुद्ध पाठकों की जानकारी के लिए उसकी ओर किञ्चित् संकेत करना आवश्यक है।

शरीर में मुख उत्तमांग है। अवयवी शरीर में प्रत्येक अवयव का अपना महत्त्व है। शरीर-यात्रा में प्रत्येक अवयव का अपना योगदान है। वह न उत्तमांग मुख के बिना पूर्ण है और न आधाररूप चरणों के बिना सक्रिय। भारतीय प्रमुख दर्शनों की मान्यता के अनुसार मानव-शरीर में दश इन्द्रियाँ हैं। इनमें से पांच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। सांख्यकारिका में ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धीन्द्रियाँ नाम से अभिहित हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि मुख सभी बुद्धीन्द्रियों का केन्द्र है। मुख में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का समावेश है। सम्पूर्ण शरीर में यदि कोई ज्ञानेन्द्रिय स्थित है तो वह वायु की इन्द्रिय त्वचा है। केवल स्पर्श की अनुभूति सम्पूर्ण शरीर कर सकता है। फलतः ज्ञान का केन्द्र अथवा अधिष्ठाता मुख ही है। मुख की इसी महिमा की ओर संकेत करते हुए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा था—

मुखिया मुख सो चाहिये खान-पान को एक।
पाले पौसे सकल अंग तुलसी सहित बिवेक ॥

ज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त मुख में आकाश तत्त्व की ज्ञानेन्द्रिय—कान-एवं उसकी कर्मेन्द्रियवाणी दोनों हैं। आकाश पांचों में सूक्ष्मतम है। वाक् कर्मेन्द्रियों अन्य कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा विशिष्ट है। उसकी विशिष्टता की ओर सांख्यकारिकाकार ने संकेत किया है। इस प्रकार शरीर का उत्तमांग मुख ज्ञान का केन्द्र होने के साथ ही साथ सकर्मेन्द्रिय भी है।

ज्ञानेन्द्रियों की उत्पत्ति तत्त्वों के सात्त्विक अंशों से होती है और कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति राजस अंशों से। इस दृष्टि से मुख पञ्च तत्व के सात्त्विक अंशों का केन्द्र है और कर्मेन्द्रियाधिष्ठान की दृष्टि से यदि राजस सम्बन्ध भी स्वीकारें तो केवल सूक्ष्मतम उत्कृष्ट तत्त्व आकाश के अंश का। आकाश तत्त्व से ही अन्य चार तत्त्वों की उत्पत्ति होती है। वागिन्द्रिय से उत्पन्न शब्द की भी संसार में बड़ी महत्ता मानी गई है। इंज्जील में शब्द को ईश्वर ही माना है। वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने भी शब्द को ब्रह्म स्वीकारा है। उन्होंने अपने एक सुभाषित में वाणी महत्त्व प्रदर्शित करते हुए लिखा है।

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वलाः ॥
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालंकृता मूर्धजाः ॥
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते।
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥

भुजबन्ध मनुष्य को विभूषित नहीं करते और न चन्द्रमा के समान उज्ज्वल हार ही उसे सुशोभित करते हैं। स्नान, विलेपन एवं पुष्पों से भी उसकी अधिक शोभा नहीं होती है। अलंकृत केशपाश भी मनुष्य का विभूषण नहीं है। केवल एक संस्कृत वाणी ही उसे सुशोभित करती है, क्योंकि सभी विभूषण क्षीण हो जाते हैं; केवल संस्कृत वाणी सदा एकरस रहती है।

भाष्यकार ने भी शब्द की महिमा का उल्लेख करते हुए लिखा है—

एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति ।

वस्तुतः शब्द की महिमा अपार है। इसी प्रसंग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह भी है कि विज्ञान बिना वाणी के आश्रय के नहीं टिक सकता है।

काक एवं पिक की वाणी से ही परीक्षा होती है। वाणी से ही मनुष्य का मूल्य प्रकट होता है। इस कर्मेन्द्रिय को प्रकृति ने उत्तमांग में हीं स्थान दिया है। कलायें बिना वाणी के भी रह सकती हैं।

इस प्रकार शरीर में मुख का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यजुर्वेद के 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' में समाज के मुख ब्राह्मण की महत्ता की ओर संकेत है। मुख की भाँति ब्राह्मण ही समाज को प्राप्त होने वाले ज्ञान का अधिष्ठाता है। समाज को ज्ञान उसी के माध्यम से प्राप्त होना चाहिए। समाज की आवश्यकताओं के अनुसार ज्ञान का सच्चा वितरक ब्राह्मण ही है। ज्ञान का उपदेश, सर्वसाधारण तक तदनुकूल ज्ञान को पहुँचाना ही उस ब्राह्मण का कर्म है। उसका एकमात्र कर्त्तव्य है। मुख में वाणी के अतिरिक्त दूसरी कर्मेन्द्रिय है भी तो नहीं।

सृष्टिक्रम में आकाश से वायु; वायु से अग्नि; अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति एवं सृष्टि होती है। पृथ्वी का जन्म जल से और उसका लय भी जल में है, कदाचित् इसीलिए इस तत्त्व का नाम जल है। इन पांचों तत्त्वों में अग्नि मध्य का तत्त्व है। अग्नि पृथ्वी पर तेज का प्रतीक एवं प्रतिनिधि है।

मूर्तरूप ग्रहण करने के पश्चात् भी आकाश एवं वायु शेष तीन तत्त्वों की अपेक्षा सूक्ष्म ही रहे। शेष तीन प्रथम दो की अपेक्षा मूर्त हैं। सूक्ष्म तत्व आकाश एवं वायु पृथ्वी से ऊर्ध्व स्थिति में है। व्यवहार में पृथ्वी से ऊपर वायु और उससे ऊपर आकाश है। अग्नि एवं जल पृथ्वी से ही सम्बद्ध है। पृथ्वी एवं जल यमल की सी स्थिति में हैं। जल पृथ्वी के आधार पर ही रह सकता है। अग्नि पृथ्वी पर रहते हुए भी ऊर्ध्वगतियुक्त है। अतएव वह ऊर्ध्वस्थिति तत्त्वों से स्थूल का संयोजक है। यह एक मुख्य कारण है कि हमारी सनातन परम्परा में अग्नि का इतना उच्च स्थान है।

मुख में अग्नि की ज्ञानेन्द्रिय नयन हैं। प्रकाश के सात्त्विक अंश से उत्पन्न होने के कारण आँख देखने का कार्य करती है। ज्ञान भी प्रकाश स्वरूप है, अतः सभी ज्ञानेन्द्रियों से भी नयन का कार्य अधिक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। हमारी योग-पद्धति में नयन-निमीलन से ही प्रत्याहार हो जाता है। यह नयन-निमीलन भोजन-पाचन में भी सहायक होता है।

प्रकाश की कर्मेन्द्रिय पद हैं। पद के ही चरण, पाद, पग, पैर आदि अनेक नाम हैं। प्रकाश के राजस अंश से चरणों की उत्पत्ति होने के कारण इनका भी प्रकाश से उतना ही सम्बन्ध हैं, जितना नेत्रों का। नेत्रों की स्थिति, संघटना, कार्य आदि पैरों की स्थिति आदि सें नितान्त भिन्न हैं। इतने पर भी प्रकाशोत्पन्न होने के कारण एक दूसरे से अभिन्नतया सम्बद्ध हैं। कदाचित् इसी सिद्धान्त

के आधार पर जिनसे हमें आशिष लेना है उनके चरण स्पर्श करते हैं और चरणों की ही वंदना करते हैं। कर्मशक्ति की प्राप्ति कर्मेन्द्रिय से सम्भव है।

इस उल्लेख से स्पष्ट होता है कि मुख की प्रमुख ज्ञानेन्द्रिय नयन का अपनी कर्मेन्द्रिय चरण से साक्षात् सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध अत्यन्त गहरा है। ज्ञानेन्द्रिय को निष्क्रिय कर देने पर कर्मेन्द्रिय स्वतः ही निष्क्रिय हो जाती है। उदाहरण के लिए आँख के बन्द कर लेने पर चरण चलना अस्वीकार कर देते हैं। चरण नयन के इतने अधिक वशंवद हैं। इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होने पर दोनों में किसी को भी हीनेतर नहीं स्वीकारा जा सकता। दोनों में हीनेतर भावना को अवकाश ही कहाँ मिल सकता है, दोनों की उत्पत्ति एक ही तत्त्व से है। दोनों में भिन्नता अथवा विलगाव इतना ही है कि एक की उत्पत्ति उसके सत्त्व स्वरूप से है दूसरी की उसके राजस अंश से।

मानव-समाज में भी ब्राह्मण-शूद्र सम्बन्ध को नयन-चरण सम्बन्धवत् मानना आवश्यक है। अतः दोनों के कार्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी। दोनों में आवश्यकता, आदि की दृष्टि से हीनेतर-भावना को अवकाश प्राप्त नहीं होता है। समाज में दोनों का ही समान महत्त्व है।

इस सूक्त के एक अन्य तत्त्व की ओर भी संकेत करना आवश्यक है। शरीरधारी के व्यक्तित्व का परिचय मुख से ही मिलता है, न कि उसके अन्य शरीरावयवों से। कर-चरण, अथवा धड़ से किसी की भी पहचान असम्भव है। पहचान मुख से ही होती है। मुख में इन्द्रिय-संस्थिति की समानता रहने पर उनकी थोड़ी भी विभिन्नता विभेदकारी सिद्ध होती है। मुखवान् की पहचान के अतिरिक्त उसकी सुरूपता एवं कुरूपता भी मुख की संघटना एवं निर्मिति पर अवलम्बित है। इसके निर्णय में उसके इतर अवयवों का इतना योगदान नहीं है।

इसी प्रकार ही ज्ञान ही मनुष्य की उन्नति का मात्र मापदण्ड एवं आधार है। मनुष्य के समान किसी देश की पहचान भी उसके ज्ञानी ब्राह्मणों के कारण होती है। जिस समय भारत संसार का सिरमौर और विश्व का गुरु था, उस समय भी इसकी महत्ता अग्रजन्मा ब्राह्मणों के कारण ही थी। उन्होंने ही सभी को स्व-स्वचरित्र की शिक्षा दी थी। मनुजी की गर्वोक्ति

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः,
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षरेन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

से कौन परिचित नहीं है। इतिहास साक्षी है कि अनेक सभ्यताओं का उदय हुआ, किन्तु प्रातः-कालीन नक्षत्र की भांति, अथवा जलद-पटल व्यापिनी विद्युल्लता की भाँति अपनी-अपनी क्षणिक चमक दिखा कर अस्त हो गई है। ग्रीस, मिश्र और रोम की सभ्यताओं के अवशेष कहाँ? इसके विपरीत भारत को सनातन वैदिक संस्कृति बलवान काल की कठोर छाती छेदती हुई अद्यावधि पल्लवित एवं पुष्पित है। इसकी अमर सत्ता के अनेक कारणों में से एक ब्राह्मणों का योगदान ही प्रशस्त है।

आज भी जो देश शक्तिमान एवं अग्रगण्य माने जाते हैं वे भी अपने वैज्ञानिक विद्वानों के कारण ही। अमेरिका, रूस आदि पश्चिमी देशों की उन्नति का आधार तत्तत् देशवासी वैज्ञानिक ही हैं।

यजुर्वेद में ज्ञान प्रसार को सरस्वती-प्रवाह स्वीकारा गया। वहाँ पर भी उपरि-लिखित मान्यता पर बल दिया गया है। यजुर्वेद का मंत्र यहाँ उद्घृत है :—

पञ्चनद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः,
सरस्वती तु पञ्चाधासौ देशे भवत्सरित्। यजु० ३४। ११

"वही देश सभी प्रकार के उत्तम भावों को धारण किया करता है जहाँ सरस्वती देवी की धारा पाँच प्रवाहों में निरन्तर बहती रहती है।"

इसी मन्त्र से महाराज श्रीजीवनदत्त जी को वेद का साङ्ग अध्ययन कर उसका देश में प्रचार-प्रसार करने का प्रणोदन प्राप्त हुआ था। इस मन्त्र के अर्थ को पूर्णतः हृदयङ्गम करते ही उन्होंने सांग वेद का प्रचार करने का दृढ़ निश्चय कर लिया था।

वैदिक ऋषि ने ज्ञान पद का प्रयोग न करके उसके लिए 'सस्रोतस सरस्वती पयस्विनी' का प्रयोग किया है। वस्तुतः उनका कथन मुख्य अर्थ को स्पष्ट करते हुए अपने गौण अर्थों को भी लपेटे रहता था।

जननी एवं जन्मभूमि दोनों ही समान पूज्या हैं, कारण दोनों का समान ऋण व्यक्ति एवं समाज पर है। जन्मभूमि वसुन्धरा धारण करने के कारण धरित्री है। जिस प्रकार सद्यप्रसूत को जननी अपनी पयोधर-निसृत पयोधारा से पोषण प्रदान करती है, उसी प्रकार पर्वत-पयोधर-मण्डला पृथ्वी भी वक्षःस्थलप्रसूता पयस्विनियों द्वारा देश को समृद्ध करती है। स्रोतस्विनी-संकुल देश पोषण के लिये दूसरों के सम्मुख हाथ नहीं फैलाता। नदियाँ अपनी पयोधारा से देश की भूमि को उर्वरा बनाकर समृद्धि दान करती हैं। साधारण नदियाँ जब देश को उन्नत एवं समृद्ध बनाने में सक्षम हैं तो ज्ञान की पयस्विनी की तो बात ही दूसरी है। वे किसी भी देश को कितनी प्रगति प्रदान करती हैं, यह केवल प्रयोग कर देखने की वस्तु है।

यह ज्ञान-सरस्वती पञ्चप्रवाहवाली है। इसके निम्नलिखित पाँच प्रवाह हैं :—

पुस्तकमन्तःकरणञ्च गुरुः शिष्यस्तथैव च।
गुणगृहीता ख्याता च पञ्चस्रोता सरस्वती।

"(१) देशोन्नतिकर वैज्ञानिक रहस्यों से परिपूर्ण पुस्तकें, (२) पवित्र (रागद्वेषादि रहित, सर्व कल्याण संलग्न) अन्तःकरण, (३) बाह्यान्तर्जगत् के पूर्ण रहस्यवेत्ता गुरुजन, (४) सद्गुरुजनों की आज्ञा तथा शास्त्रोक्त आचार का पालन करने वाला शिष्य वर्ग, (५) सद्गुणों को ग्रहण कर प्रचार करनेवाला समाज। इन पाँचों प्रवाहों से सरस्वती देवी जहाँ पर दिन रात बहती रहती है, वही देश सर्वोन्नत एवं समृद्धि-सम्पन्न होता है। जिन देशों में यह पञ्चप्रवाहशीला पयस्वनी की धारा अवरुद्ध हो जाती है, अथवा शुष्क हो जाती है वह देश समृद्धि के मानचित्र से सर्वदा के लिए समाप्त हो जाता है। आजकल भारत में भी इसकी धारा अवरुद्ध है। अत्यन्त प्राचीनकाल में जब यह ज्ञान सरस्वती यहाँ समृद्धसलिला थी तब इस देश के लिए सुरापगा में अवगाहन करने वाले, नन्दन में विहार करने वाले, सुधा का पान करने वाले अजर-अमर भी लालायित कण्ठ से इसकी महिमा का गान किया करते थे। इसी के लिए लिखा है :—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तुते भारत भूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद मार्ग भूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

यह भारतवर्ष अपने निवासियों को स्वर्ग-सुख प्रदान करके मोक्ष का द्वार खोलता था; और आज मोक्ष के द्वार एवं मार्ग की बात की चर्चा ही करना व्यर्थ है, सुख-सुविधा की गठजोड़ भी सम्भव नहीं हो पा रही हैं।

ऊपर जिस पंच प्रवाहवती सरस्वती का उल्लेख हुआ है उसमें वैज्ञानिक रहस्यों से परिपूर्ण पुस्तकों का प्रथम स्थान है। प्राचीन भारत में पदार्थ-विज्ञान से अध्यात्म विज्ञान का स्थान ऊँचा था। पुस्तकों की दृष्टि से वेद दोनों प्रकार के विज्ञान के ग्रन्थ माने जाते हैं। षडंग वेदाध्ययन करने वाले वेदज्ञ पंडितों का यही निश्चित मत है। महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं वर्तमान काल में उषबुर्ध ब्रह्मचारी वेदों का पदार्थ विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व वर्णन करते हैं।

पदार्थ विज्ञान तथा अध्यात्म विज्ञान के गुह्य तत्व निरन्तर प्रयोग एवं साधनों से स्पष्ट होते हैं, अतः उन्हें अनधिकारी तथा अपात्रों को देना अनुचित माना जाता है। आज भी पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक उच्च कोटि के वैज्ञानिक तथ्यों को गुह्यातिगुह्य बनाये हुए हैं। कदाचित् वैदिक ज्ञान को भी चातुर्वण्य तक न पहुँचने देने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया था।

देशोन्नतिकारिणी सरस्वती का दूसरा स्रोत पवित्र अन्तःकरण माना गया है। वस्तुतः ज्ञान-विज्ञान की उन्नति से देश को अग्रसर करने की पवित्र भावना पवित्र अन्तःकरण में ही उदय हो सकती है। यह बहुत ही मूल्यवान् स्रोत है।

इसमें तीसरा स्थान बाह्य जगत् एवं अन्तर्जगत् के पूर्ण रहस्यवेत्ता गुरुजनों का है। विज्ञान जगत् के बाह्य अन्तर्भेद से दो प्रकार का है। बाह्य जगत् की विभूतियों को हस्तामलकवत् करना पदार्थ विज्ञान के अन्तर्गत आता है और अन्तर्जगत् अथवा सूक्ष्म जगत् की विभूतियों की उपलब्धियाँ अध्यामिक विज्ञान की परिधि में आती हैं। सूक्ष्म में स्थूल से कहीं अधिक शक्ति रहती है। पदार्थ-विज्ञान धनी विश्वामित्र अध्यात्म-विद्या के अधिकारी वशिष्ठ को जीत नहीं सके। यही कारण था कि भारत में पदार्थ विज्ञान को अत्यधिक महत्व नहीं मिल पाया। अध्यात्म विद्या के विशेषज्ञ ही भारत में गुरुपदों को आज तक सुशोभित करते हैं।

चौथा स्थान शिष्य वर्ग का है। भारत में विद्यार्थी, शिक्षार्थी आदि शब्दों को उतना प्रचार एवं महत्व नहीं मिला जितना शिष्य को। गुरु के शासन को शिरोधार्य करने वाला आज्ञापालक विद्यार्थी ही शिष्य माना जाता है। विज्ञान विद्या के गुप्त रहस्य ऐसे ही पवित्र हृदय आज्ञाकारी शिष्यों को ही देने पर सुरक्षित समझे जाते थे। वे प्राणों पर भी संकट उपस्थित होने पर प्राण देना सरल और सहज मानते थे, वैज्ञानिक रहस्यों का उद्घाटन नहीं। साधारण व्यक्ति के हाथ लगे तथ्य पैसों के विनिमय में एक देश से दूसरे देश तक आज भी पहुँचते सुने जाते है।

पाँचवां स्रोत गुणग्राही समाज का है। विज्ञान के तत्वों के साक्षात्कार में सतत संलग्न गुरुजनों की ऐहिक आवश्यकताओं की पूर्ति समाज के गुणग्राही व्यक्ति ही करते रहते हैं। उपर्युक्त पाँचों स्रोतों से समन्वित सरस्वती ही किसी देश की सर्वांगीण उन्नतिकारिणी होतीं है।

निष्कर्ष यह कि ऊपर ब्राह्मणों एवं वैज्ञानिकों की जिन-जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ उनसे विशिष्ट व्यक्ति ही देश की उन्नति के स्तम्भ हैं। त्रिविध विज्ञान की उन्नति इस देश में ब्राह्मणों के द्वारा ही हुई। आज भी यह निर्विवाद एवं निर्भ्रान्त सत्य है कि वैदिक मान्यता के वाह्मण ही किसी देश विशेष के सच्चे परिचय, पहचान एवं उन्नति के सोपान हैं। जहाँ उनका उदय होता है वह देश सौभाग्यशाली हैं, जहाँ उनका उदय नहीं होता वे भाग्यहीन हैं। देश के कर्णधारों, शुभ-चिन्तकों, निवासियों का यह परम कर्तव्य है कि देश में ऐसी स्थिति उत्पन्न करें कि वैदिक धारणा के ब्राह्मणों का उदय एवं निर्माण सम्भव हो सके।

किन्तु ऐसे साधारणेतर ब्राह्मणों के भी झुण्ड कभी भी और कहीं भी एक साथ जन्म नहीं लेते हैं। कल्प-वृक्ष एवं पारिजात के समूह तो स्वर्ग में भी नहीं बताये जाते हैं। कदाचित् कल्प-वृक्ष तो अकेला ही नन्दन की शोभा वढ़ाता है। विशिष्टता ही आकर्षण का हेतु है। श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में कहा है :—

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

"जब-जव धर्म-हानि होती है, और अधर्म का अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं शरीर धारण करके अवतीर्ण होता हूँ। गीता की पंक्ति में यदा-यदा एवं तदा काल-विशिष्ट के परामर्शक हैं। सदा–सर्वदा एवं साधारण से भिन्नता प्रदर्शन के लिए ही यदा-यदा है। सदा–सर्वदा भी विशिष्टता रहित समता वाला नहीं होता है। सदा–सर्वदा भी विशिष्टता-निविष्ट विविधता अक्षि-गोचर होती रहती है। यह विशिष्टता ही भगवान् का अंश है। गीता में योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं ही कहा :—

यद्यद्वि भूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवागच्छ त्वं मम तेजोंश सम्भवम्॥

अर्थात् जो-जो बिभूति युक्त प्राणी अथवा श्री युक्त व्यक्ति दिखाई देता है उस-उस में बिभूतिमत्ता एवं श्रीमत्ता मेरे ही तेज का अंश है।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक काल की सच्ची विभूति उस समय के महापुरुष ही होते हैं। वे मानव-समाज को उसी ओर ले जाना चाहते हैं जिस ओर जाने में उसकी प्रगति, समृद्धि एवं मंगल होता है। वस्तुतः जगन्नियन्ता परमेश्वर इसीलिए उन महापुरुषों के रूप में उतर कर आते हैं और आध्यात्मिक, आधि-दैविक एवं आधिभौतिक प्रगति का संयोजन और नियमन करते रहते हैं। कारण, महात्माओं, विभूतिमत् व्यक्तियों का कोई भी कार्य स्वार्थ के उद्देश्य से नहीं होता, उनकी समस्त क्रियाएँ विश्व के मंगल-विधान के लिए ही विश्वम्भर की प्रेरणा से ही होती हैं। प्राचीन काल के ऋषि मुनियों से लेकर आधुनिक महापुरुषों तक का जीवन इसी सिद्धान्त से परिचालित दिखाई पड़ता है।

यहाँ तक जो कुछ भी कहा गया है उसमें समाज में ब्राह्मण का आदर्श स्थान, उसके द्वारा ज्ञान का अर्जन, समाज के स्तरानुकूल उसका वितरण एवं समाज के मंगल-विधान के लिए ही जीवन-यापन आदि आवश्यक सिद्धान्तों की ओर संकेत किया गया है। यह सब कुछ लिखने की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि परम पूज्य महाराज श्री जीवनदत्तजी में उपर्युक्त सभी धारणाएँ इस प्रकार मिल

गईं थी जिस प्रकार श्वास में गति, ध्वनि एवं ऊष्मा मिलकर एक हो गई है। उपर्युक्त विवरण वस्तुतः उन्हीं की व्याख्या है। वह उसके मूर्तिमान् स्वरूप थे।

कहा जाता है कि एक बार परमसिद्ध उड़िया बाबा से बातचीत करते हुए किसी व्यक्ति ने यह कह दिया था कि आजकल सतयुगीन अथवा वैदिक धारणा के ब्राह्मण कहीं दिखाई नहीं पड़ते हैं। इस शंका को सुनकर परम सिद्ध महात्माजी की आँखों में तत्काल अरुणिमा दौड़ गई और संतप्त होकर बोले, "हैं, क्यों नहीं! आपने उनको खोजने का प्रयत्न किया है? आप नरवर में जाकर महाराज श्री जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी के दर्शन करें। आपको वैदिक युगीन धारणा वाले ब्राह्मण के दर्शन होंगे।"

परम पूज्य उड़िया बाबा नरवर में महाराजश्री के सानिध्य में बहुत दिन तक रहे थे। वह उन्हें भली भाँति पहचानते थे।

उन्होंने संवत् १९६० वि० में नरवर महाविद्यालय की स्थापना की थी और वहीं अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों एवं अध्ययन करने वाले आचार्यों के योग-क्षेम की व्यवस्था करते थे अतः वह शब्द के प्रतिष्ठित प्राचीन अर्थ में 'कुलपति' अभिहित होते थे। उनके अप्रतिम स्वभाव, व्यवहार का परिचय देते हुए उन्हीं के अन्तेवासी ने श्रद्धापूरित कण्ठ से एक बार कहा था :—

"हमारे अनन्त श्री विभूषित कुलपतिजी वर्तमान काल की उन्हीं भारतीय विभूतियों में से एक थे। आप अपने समय के अग्रगण्य महापुरुषों में से थे। आपकी कीर्ति दिग्दिगन्त में व्याप्त थी। जिन्हें आपके ही चरणों का सान्निध्य प्राप्त हुआ वह जानते हैं कि उनकी छत्र-छाया कितनी शीतल, मधुर, निरापद और सुखमयी थी, जिसे एक बार भी आपके पुण्य दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ वह सदा के लिए आपका भक्त हो गया। आप में करुणा, वाणी की मधुरता, सौजन्य, तत्वनिष्ठा, समता, शान्ति स्थिरता, सरलता, जितेन्द्रियता, प्रसन्नता, उदासीनता, सज्जनता आदि सभी दिव्य गुणों का अद्भुत समावेश था। आपके संसर्ग में रहने वाले व्यक्तियों में प्रत्येक यह समझता था कि श्री महाराज जी की सर्वाधिक कृपा मुझ पर ही है। विशेष अवसरों पर आपके समीप सैंकड़ों की भीड़ हो जाती थी, किन्तु उस समय भी ऐसा कोई व्यक्ति नहीं बचता था जिसकी सुविधाओं के विषय में वह पूँछ-ताछ न करते हों। आपके शरीर, वाणी, नेत्र, मुसकान, और झिड़कन में भी एक अपूर्व माधुर्य था जिससे प्रत्येक व्यक्ति श्रद्धा विभोर होकर आपके प्रति आकृष्ट हो जाता था। आपमें सर्व धर्म समन्वय का एक अपूर्व सामंजस्य था—जिससे प्रत्येक धर्मावलम्बी पुरुष अपने धर्म के विषय में वार्तालाप कर आत्मिक शान्ति तथा प्रेरणा प्राप्त कर सन्तुष्ट होता था। आपकी सेवा में उपस्थित होकर जिस जाति या सम्प्रदाय का अनुयायी कुछ जिज्ञासा करता था उसको उसी जाति एवं धर्म की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उपदेशामृत से प्लावित करते थे। और यही विशेष कारण था जो कि आपके द्वारा प्रत्येक जाति एवं सम्प्रदाय का उपकार हुआ, आपके द्वारा तत्व जिज्ञासुओं की ज्ञानपिपासा भी पूर्णतया शान्त होती थी, आपकी सी ओजस्विनी, मार्मिक एवं शान्त, मधुर उपदेश शैली अन्यत्र दुर्लभ थी।" (उ.व.उ.)

अलीगढ़ जिले में नगर से लगभग १२ मील की दूरी पर उत्तर पूर्व की ओर बरौली नाम का ग्राम है। इस ग्राम में श्री राव कर्णसिंहजी बड़े रईस एवं जमींदार थे जिनको राव साहब की उपाधि थी। श्रीराव साहब रघुवंशी राजपूतों के वंशधर एवं लगभग दो हजार गाँवों के जमींदार थे। वैभव एवं सम्पत्ति की दृष्टि से यह एक छोटे राजा थे।

महाराजश्री श्री जीवनदत्तजी के पितामह वैद्य श्री प्राणनाथजी का जन्म इसी बरौली ग्राम में हुआ था। वह अपने समय के पीयूषपाणि वैद्य थे जिनकी अमोघ चिकित्सा पद्धति की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी। उनके तीन पुत्र हुए (१) श्री बल्देवसहाय (२) श्री हरदेवसहाय (३) श्री रामप्रसाद।

पं० बल्देव सहाय जी—कहा जाता है—अरबी भाषा के इतने प्रकाण्ड एवं प्रसिद्ध विद्वान् थे कि उन दिनों दूर-दूर से विद्वान् अरबी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए उनके पास आते थे। इनके एक पुत्र पं० बद्रीप्रसादजी अंग्रेजी के उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् हुए।

वैद्य प्राणनाथजी के द्वितीय पुत्र श्री हरदेवसहायजी हिन्दी एवं उर्दू के अच्छे जानकार थे। उनकी प्रतिभा एवं व्यवहार-कुशलता के कारण श्री राव कर्णसिंहजी ने उन्हें अपना मन्त्री नियुक्त कर लिया था। यह बड़े ही स्वाभिमानी ब्राह्मण थे। अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए कभी-कभी श्री राव-साहब से ही विवाद करने लग जाते थे। इनकी स्पष्टभाषिता, व्यवहार-कुशलता, स्वामिभक्ति, दृढ़ता, सत्यप्रियता आदि के कारण वह जनता एवं राव साहब दोनों के प्रतीति एवं प्रीति-भाजन थे। श्री हरदेवसाहय जी के दो पुत्र हुए श्री होतीलाल एवं श्री नन्दलाल जी। श्रीनन्दलाल जी बाल्यकाल में ही विरक्त हो गये और श्री होतीलाल जी के कोई सन्तान नहीं हुई।

श्री प्राणनाथ जी के तृतीय पुत्र पं० रामप्रसाद जी हुए। यही पूज्य कुलपति जी के पिता थे। श्री पं० रामप्रसाद जी अपने पूज्य पिता जी के समान ही अमोघ चिकित्सक थे। इन्होंने ब्राह्मण के पंच आयुधों को धारण करते हुए मथुरा में प्रसिद्ध विद्वान्, वैदिक वाङ्मय के उद्भट पं० प्रज्ञाचक्षु स्वामी ब्रजानन्दजी महाराज से अष्टाध्यायी, महाभाष्य एवं काव्यादि का अध्ययन किया। महर्षि स्वामी दयानन्द ने इन्हीं स्वामी ब्रजानन्द जी से वेदों का अध्ययन किया था। तत्पश्चात् आयुर्वेद का अध्ययन अपने पूज्य पिताजी से ही किया था।

जिस प्रकार पिताजी की आत्मा ने पुत्र में प्रवेश किया था, उसी प्रकार उसका आयुर्वेद ज्ञान भी पुत्र में प्रवेश पा गया था। अपने पिता के समान ही वैद्य नाम से प्रसिद्ध हुए। इनको लोग रम्मूजी कहकर पुकारते थे। वैद्य रम्मूजी को मल्ल विद्या से भी अत्यन्त प्रेम था। इनका यह शौक बहुत दिनों तक चलता रहा। जब यह बरौली छोड़कर अलीगढ़ आकर रहने लगे तो इनके व्यायाम प्रेम के कारण ही श्री फतहचन्द की बगीची स्थानीय मल्लों का केन्द्र हो गई थी।

महाराजश्री के पूज्य पिताजी पं० रामप्रसाद जी को ब्राह्मणत्व का गर्व था। वह अपनी दृढ़ता के लिए प्रसिद्ध थे। अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन बड़े-बड़े कष्ट सहन कर भी करते थे। स्वाभिमान की तो जीवन्त प्रतिमा थे।

वैद्य प्राणनाथ के शरीरावसान के पश्चात् वैद्य रम्मूजी बरौली रहकर ही आयुर्वेद के माध्यम से जनता-जनार्दन की सेवा करने लगे। कहा जाता है कि बरौली के राजा राव कर्णसिंह एवं वैद्यजी के अग्रज पं० हरदेवसहाय जी में किसी प्रसंग पर विवाद हो गया। जैसा पहले कहा गया है कि "वैद्य बड़े ही स्वाभिमानी एवं मनस्वी व्यक्ति थे। वह राव साहब के किसी आक्षेप से तिलमिला गये और पुरातन काल के सर्वतंत्रस्वतन्त्र अमृताशी ब्राह्मण की भाँति शेष जीवन में बरौली का अन्न जल ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा करली और सम्पूर्ण लौकिक सम्मति का निःसंकोच त्याग कर अपने परिवार को लेकर तुरन्त अलीगढ़ के लिए चल दिये। अलीगढ़ में आपकी ननसाल थी। कहा जाता है कि

आपकी मनस्विनी धर्मपत्नी ने आपकी प्रतिज्ञा का हार्दिक समर्थन करते हुए आप से निवेदन किया कि ऐसी दशा में उन्हें ननसाल में चलकर रहना रुचिकर न होगा। सम्भव है वहाँ उनके सम्बन्धी उन्हें हेय दृष्टि से देखें जिसे वह कदापि न सहन कर सकेंगी। अतएव बरौली त्यागते समय ननसाल पहुँचने के निश्चय से चलने वाले निर्मल एवं तेजस्वी ब्राह्मण ने मार्ग में ही अपना निश्चय बदल दिया और अलीगढ़ आकर अपने सम्बन्धियों के यहाँ न पहुँच कर रात्रि-निवास के लिए किसी सराय में ही टिक गये।

धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी। आपति काल परखिये चारी॥

के अनुसार मनस्वी पति के दृढ़ निश्चय में पत्नी ने दृढ़ता प्रदान की। साधारण नारी की भाँति उन्हें व्यंग्य वाणीं से छलनी बनाकर न तो दुखी किया और न उनका धैर्य ही भंग किया। किसी ने सत्य कहा है कि नारी नर की शक्ति है। नारी का समर्थन पाकर तुच्छ पुरुष भी अपनी शक्ति के ऊपर कार्य कर जाता है।

अलीगढ़ में दूसरे दिन ही मकान किराये पर लिया और गृह प्रवेश से पूर्व उस मकान की शास्त्रोक्त विधि-विधान से शुद्धि की तत्पश्चात् उसमें निवास की भावना से प्रवेश किया। वह कुछ दिन अपनी ननसाल में रह सकते थे। सम्बन्ध सुख में सुख वृद्धि करने एवं कष्ट के दिनों में कष्ट दूर करने में सहयोग देते हैं, परन्तु वैद्यजी जैसी स्थिति में अलीगढ़ पहुँचे थे, उसमें उन्हें ननसाल से अलग रहने में ही कल्याण जान पड़ा। इस प्रसंग में उन्हें अपनी सहधर्मिणी के मुख से स्वयं भगवती वीणापाणि ही स्थिति निर्देश करती जान पड़ीं। ऐसा कहा जाता है कि महाराजश्री के पूज्य पिताजी बरौली से आकर सर्व प्रथम अलीगढ़ के खाई डोरा मुहल्ले में रहे थे।

बरौली का अन्न-जल ग्रहण न करने का नियम पूज्य वैद्यजी ने इतनी दृढ़ता एवं कट्टरता के साथ निभाया कि बरौली से अलीगढ़ की सब्जी मण्डी और बाजार में आने वाले साग-सब्जी एवं अनाज का खरीदना भी बन्द कर दिया।

श्री वैद्यजी के द्वारा इतने कठोर प्रण के कारण तुरन्त बरौली त्याग कर चले आने के पश्चात् श्री राव साहब को पश्चाताप हुआ और बड़ी प्रार्थना और सम्मान के साथ क्षमा मांगी और पुनः बरौली लौटने का आग्रह किया, किन्तु मनस्वी वैद्यजी अपने प्रण से तनिक भी विचलित न हुए। इसका बरौली के जमींदार-परिवार को सदा दुःख रहा।

श्रीमान् राव कर्णसिंह के पुत्र श्री राव राजकुमारसिंह ने अपने हृदय की वेदना को पूज्य महाराजश्री के सम्मुख प्रकट किया और उनसे ही बरौली चल कर उसे पवित्र करने की प्रार्थना की। जीव मात्र का कल्याण चाहने वाले पूज्य ब्रह्मचारीजी उनके आग्रह पर एक बार बरौली गए और श्री राव साहब की खिन्नता का मार्जन किया। किन्तु पूज्य वैद्यजी के दिवंगत होने के पश्चात् ही जा सके।

उनकी दृढ़ता का यही उदाहरण नहीं है। यह दृढ़ता उनके स्वभाव का अभिन्न अंग बन गई थी। इसी दृढ़ता का परिचायक एक उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

जिस समय पूज्य कुलपति जी बेलोन की आर्य समाज मन्दिर वाली संस्कृत पाठशाला में अध्यापन करने लगे थे, पूज्य वैद्यजी उनको अपनी सेवा का अवसर न देकर अपने श्रद्धालु भक्त श्री ठा० गोपालसिंहजी के स्थान पर ग्राम—मखैना जिला बुलन्दशहर में वहाँ के श्रद्धालु भक्तों के

स्निग्ध आग्रह को अंगीकार कर रहने लगे थे। जीवन के प्रारम्भ काल से ही जब पूर्ण मनस्विता एवं स्वाभिमान का पालन करते हुए ही जीवनयापन होने लगा तो विश्व का पालन-पोषण करने वाले विश्वम्भर की विश्वम्भरिता पर उन्हें अविचल विश्वास हो गया और वह अयाचित वृत्ति से जीवन-निर्वाह करने लग गये थे। फलतः अपनी श्रद्धा प्रकट करने के लिए श्रीमान् ठा० गोपालसिंहजी ने उनकी वार्षिक वृत्ति बांध दी थी। उन्होंने उनके निर्वाह के लिए अपनी रियासत से दस मन गेहूँ और २५) रु० नकदी प्रति वर्ष दिये जाने के लिए लिखित वचन देकर उसकी रजिस्ट्री करा दी थी। ठाकुर साहब के दिवंगत होने पर भी यह स्थिति चलती रही।

भोक्ता और भोग्य में जो भी अधिक बलवान् होता है वही अपने से दूसरे को अपने समीप आकृष्ट कर लेता है। उसके अनुकूल साधन सम्पत्ति दैवाधीन होती है। मखैना का भोक्तव्य अन्न आदि प्रारब्ध की प्रबल सहायता से वैद्यजी को वहाँ ले पहुँचा था। किसी भी भोग की समाप्ति से पूर्व उसमें स्वाभाविक अरुचि होना भोग की समाप्ति का अन्तरङ्ग सूचक है, पीछे उसके अनुकूल साधन दैवाधीन होते हैं। श्री वैद्यजी का मानस शरीर अपने प्रिय पुत्र श्री कुलपतिजी के समीप रहने को कृत सङ्कल्प हो चुका था, किन्तु चार वर्षों तक रजिस्ट्री में लिखित धनादि प्राप्त न होने पर भी भोग की अन्तिम शक्ति ने उनके स्थूल शरीर को वहीं रोके रखा। उनके बढ़े हुए मानसिक सङ्कल्प को मूर्त रूप देने के लिये दैवी प्रेरणा ने श्री वैद्यजी द्वारा ४ वर्ष से न दिये गये अन्नादि के दानार्थ भी ठा० गोपालसिंहजी की विधवा पत्नी को सुझाव दिलाया कि—"निरयं गन्तुमिच्छुर्यः प्रतिज्ञाय न यच्छति" अर्थात् नरक जाने की इच्छा वाला पुरुष प्रतिज्ञा करके फिर नहीं देता है। पहले अधिकारी द्वारा की गई प्रतिज्ञा की पूर्ति का भार उत्तराधिकार के साथ ही उत्तराधिकारी को प्राप्त होता है। इसीलिये अपने सङ्कल्पित वंश परम्परा के अनुकूल शेष कर्तव्यों की पूर्ति के लिये मनुष्य अपने वंश के अनुरूप सत्पुत्र को प्राप्त करना चाहता है। परन्तु इस दशा में श्री ठा० गोपालसिंहजी की धर्मपत्नी ने आयकी न्यूनता एवं व्यय की अधिकता के कारण अपने पति के द्वारा की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार अन्न आदि के पूर्ववत् देते रहने में अपनी असमर्थता प्रकट की। श्री ठकुरानीजी की इस आकुलता की भावना ने श्री वैद्यजी को बेलोन पहुँचने का मूल समर्थन किया। परिणाम स्वरूप वह बेलोन में अपने पुत्र (श्री कुलपति जी) के समीप पहुँच गये।

पुनः श्री ठकुरानी जी तथा उनके भ्राता श्री ठा० धनसिंह जी ने श्री वैद्यजी से उनकी मखैना ग्राम की पूर्व के समान निवास की प्रार्थना कई बार की किन्तु वह फिर वहाँ न जा सके। उनका विश्वास था कि ऋणानुबन्ध योगेन दातुरुत्पद्यते मतिः, के आधार वहाँ से भी वह अपना भोग समाप्त मानकर सहर्ष चले आये।

ऐसे ही मनस्वी, स्वाभिमानी, ब्राह्मणत्व को अलंकृत करने वाले माता-पिता के यहाँ महाराजश्री जीवनदत्त जी ने संवत् १९३४ वि० की आश्विन शुक्ल पंचमी ज्येष्ठा नक्षत्र में जन्म लिया। उस समय पं० रामप्रसाद जी—पूज्य कुलपति जी के पूज्य पिताजी अलीगढ़ नगर के कटरा मुहल्ले में रहते थे। नगर में यह मुहल्ला दिल्ली दरवाजे के समीप है।

शास्त्रोक्त संस्कारों के पश्चात् नामकरण संस्कार हुआ और जातक का नाम जीवनकिशोर रखा गया। महाराजश्री का यह नाम बहुत दिन तक रहा जिसको उन्होंने स्वयं जीवनदत्त में परिवर्तित कर लिया। सर्व साधारण की जानकारी के लिए पूज्य चरण ब्रह्मचारी जी की जन्म-कुण्डली

नीचे दी जा रही है । कुण्डली पर आगे ज्योतिष-सिद्धान्तों के अनुसार विचार भी किया गया है जो आगे की पंक्तियों में शब्दबद्ध है ।*

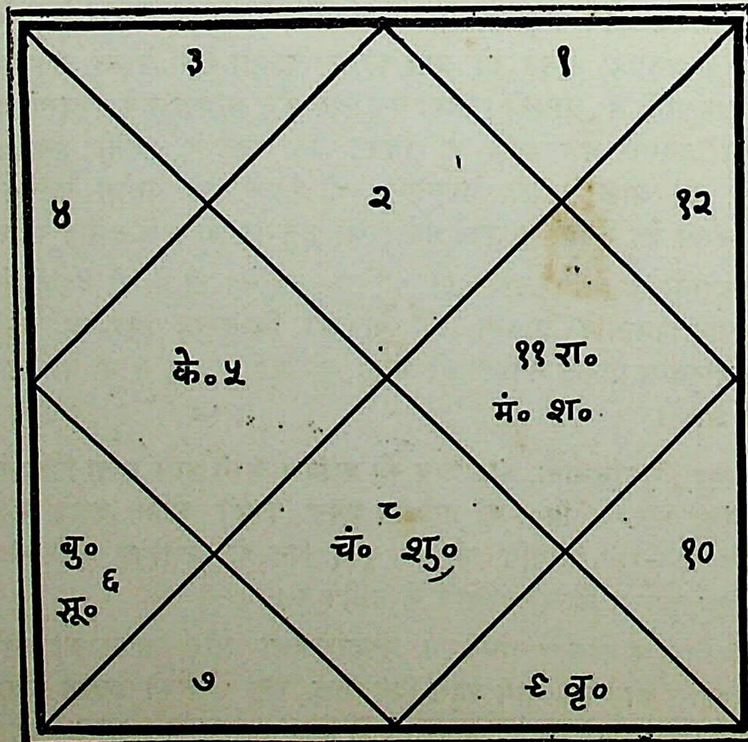
ज्योतिष पदार्थ-विज्ञान का एक प्रकार है । इसके दो भाग हैं—गणित एवं फलित । प्राचीन भारत में दोनों भागों की यथेष्ट उन्नति हुई; परन्तु बाद में फलित का आकर्षण इतना अधिक बढ़ा कि गणित की प्रगति ही समाप्त हो गई और भारतीय जन-जीवन में यह आकर्षण दुर्गुण बनकर जम गया । बड़े-बड़े ज्योतिषी भी फलित के चक्कर में फँसकर रह गये ।

कुछ लोग ज्योतिष पर अविश्वास करने लग गये हैं । गणितहीन फलित ज्योतिष पर विश्वास विचार रहित आग्रह है । ज्योतिष में नवग्रह एवं द्वादश राशि-चक्र का प्रमुख स्थान है । नवग्रह में सूर्य एवं चन्द्र भी ग्रह ही है । सूर्य का प्रभाव तो स्पष्ट ही है । आश्विन मास में सूर्य की धूप रोगकारी हो जाती है । शारदीय ज्योत्स्ना उस प्रभाव को समाप्त करती है । 'शरद ताप ससि निसि अपहरई' के अनुसार शरदातप के दोषों को निर्मूल करने की सामर्थ्य चन्द्र में है । जब इन दोनों के साक्षात् प्रभाव को अस्वीकारना असम्भव है तो ज्योतिष को भी नकारना, पदार्थ विज्ञान से मुख मोड़ने के अतिरिक्त दूसरी बात नहीं है ।

* श्री गणेशायनमः *

महाराजश्री श्री जीवनदत्तजी की जन्म कुण्डली

अथ शुभ संवत् १९३४ शाके १७९९ आश्विनमासे शुक्लपक्षे पञ्चाम्यां तिथौ गुरुवासरे ज्येष्ठाः नक्षत्रे ५६/४ सौभाग्य-योगे कन्या के गतांशाः २६ तत्रेष्टम् ३४/४८/३० वृष-लग्नोदये ज्येष्ठाभे तृतीयचरणे ब्रह्मकुलभूषण श्री प्राणनाथस्य पौत्रः तथा श्री रामप्रसादगृहे पुत्रो जातः ।



* जन्म-कुण्डली पर विचार पं० जयनारायण जी आचार्य एम० ए०, हिन्दी-व्याख्याता तिलक इण्टर कालेज, फीरोजाबाद ने किया है । जो ऊपर उन्हीं के शब्दों में उद्धृत है ।

१—महाराजश्री का जन्म संवत् १९३४ में आश्विन शुक्ल पंचमी की रात्रि में हुआ था। जन्म के समय वृष लग्न थी। लग्न अथवा प्रथम भाव वृष का स्वामी शुक्र है जो सातवें भाव में चन्द्र के साथ स्थित है अतः वह लग्न को पूर्ण दृष्टि से देखता है। चन्द्रमा की भी लग्न पर पूर्ण दृष्टि पड़ रही है। अतः जातक स्वस्थ, सुन्दर, गौर-वर्ण, मनस्वी, नीतिज्ञ, सौम्य स्वभाव एवं पुष्ट शरीर वाला होना चाहिए। जैसा कि कहा गया है :—

"तोयर्क्षेङ्गेशे शुभान्विते वा जलखगदृष्टं देहपुष्टिः।"

लग्न का स्वामी जल-राशि में ४।११।१०।१२।७।८ में स्थित होकर शुभ ग्रहों (चं०, बु०, गु०, शु०) से युक्त हो अथवा जल-ग्रह (चं०, शु०, बु०) से दृष्ट हो तो जातक पुष्ट देह वाला होता है। लग्न का स्वामी शुक्र केन्द्रस्थ है। नवां भाव कर्म का और दशम स्थान धर्म का होता है। नवम एवं दशम भाव का स्वामी शनि है और वह दशम स्थान अपने क्षेत्र में स्थित होकर शुक्र की भाँति केन्द्रस्थ है अर्थात् क्रमशः वे सातवें एवं दशवें भाव में जो केन्द्र माने जाते हैं स्थित है। अष्टम भाव धन का है। धन का स्वामी वृहस्पति भी स्वगृही है। पाराशरी आदि के अनुसार अष्टम भाव से जातक की आयु का निर्णय होता है। अतएव उपयुक्त ग्रह-स्थिति जातक का दीर्घायु-योग वनाती है। स्वगृही गुरु अन्य दृष्टियों से भी शुभ है।

२—द्वितीय भाव मिथुन राशि का स्वामी बुध उच्च का होकर त्रिकोण पाँचवे स्थान में वैठा है। एक, चार, सात और दशवें भाव केन्द्र माने जाते हैं। चौथे भाव अर्थात् सिंह राशि का स्वामी सूर्य पांचवे स्थान त्रिकोण में बुध के साथ है। इससे केन्द्रेश-त्रिकोणेश योग हो जाने से राजयोग-कारक भी हो गया है। द्वितीय स्थान संचित तथा मस्तिष्क का स्थान हैं। यही कारण है कि वे असाधारण मेधावी निकले और उनके यहाँ अपेक्षित सर्वविध वस्तु-संग्रह सदैव ही रहा। उन्हें अभाव कभी चिन्तित न कर सका।

३—तृतीय भाव में कर्क राशि है। तृतीय भाव सहज अर्थात् बहिन-भाइयों से सम्बन्धित माना जाता है। कर्क स्त्री राशि है। कर्क का स्वामी चन्द्र भी स्त्री-ग्रह है। वह वृश्चिक राशि में स्थित है, अतः नीच का है। इसके कारण दो बहिनों का योग बनता है, भ्राता का नहीं। चन्द्र के साथ का स्त्री-गृह शुक्र भी इसकी पुष्टि करता है।

४—चतुर्थ भाव की लग्न सिंह है और सिंह का स्वामी सूर्य अर्थात् सिंह राशि सूर्य का क्षेत्र है। किन्तु इस भाव में केतु जो सूर्य का शत्रु है स्थित है। अतएव चतुर्थेश सूर्य के मातृ-स्थान में द्वितीय मारक स्थान में शत्रु-क्षेत्रीय होने से जातक के लिए मातृ-सुख का अभाव करता है। पूज्य ब्रह्मचारीजी भी पूजनीया माता के वात्सल्य से बाल्यकाल में ही विरहित हो गये थे। साथ ही एक बात अवश्य है कि सूर्य राजयोगकारक है अतएव शैशव काल में भी कुछ समय तक मातृ-सुख की प्राप्ति सम्भव है। महाराजश्री की पूजनीया माताजी का जब देहावसान हुआ था, उस समय उनकी नौ वर्ष की अवस्था थी। आजन्म स्वस्थ एवं कर्म-रत रहते हुए भी स्वदेह-सुख-विषयक चिन्ता से विरक्ति भी इसी ग्रह स्थिति का प्रसाद था।

५- प्रातः स्मरणीय श्री महाराज जी के जन्म-पत्र में सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रहयोग इस पंचम स्थान में ही पड़ा है। इस स्थान में कन्या लग्न है। यह विद्या तथा सन्तान का घर है। इसमें

उच्च राशि का (कन्या राशिका) बुध स्वगृही होकर केन्द्रेश सूर्य के साथ राजयोगकारक हो गया है। इसी के करण वे उच्च कोटि के विद्वान, बुद्धिमान, सौम्य एवं सूर्य के समान प्रकाशक अर्थात् ज्ञानवान् हुए। 'सूर्यं आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' के अनुसार वे आत्मप्रकाश से पूर्ण आलोकित थे। उनके ये अलौकिक एवम् आध्यात्मिक गुण स्वयं में ही सीमित न रहकर सूर्य की ही भांति उत्पादक अथच प्रकाशक बने। उनके विविध विषयों के विद्वान् शिष्य भारत के विभिन्न प्रान्तों में फैले हुए हैं और उनके यश-परिमल को दिग-दिगन्त में फैला रहे हैं। इतना ही नहीं उनके शिष्यों में से अनेक योगि-मूर्द्धन्य भी हैं। इस विद्या के स्थान पंचम घर से सम्बन्धित कुछ ज्योतिः शास्त्र के सूत्र हिन्दी अर्थ सहित नीचे उद्धृत किये जाते हैं। "ज्ञार्कयोगे क्रियापटुर्धी-कीर्तिंसौख्यान्वितः"

'जिसके पंचम स्थान में बुध और सूर्य का योग होता है वह (वैदिक एवं लौकिक) क्रियाओं में कुशल, असाधारण बुद्धि, कीर्ति एवं सौख्य से सम्पन्न होता है।' श्री महाराजजी के जन्मपत्र में तो यह योग उच्च के बुध तथा बुध एवं सूर्य के राजयोगकारक हो जाने के कारण अत्यन्त महत्व-पूर्ण हो गया है।

धनेशे तुङ्गे गोपुरेऽर्कजे सिंहासने जीवे च वेदान्तज्ञः।' धनेश बुध उच्च का है। द्वितीय स्थान में मिथुन लग्न होने से बुध धनेश तथा पंचम स्थान में कन्यायोग होने से पंचमेश है। यह स्थान शरीर में मस्तिष्क स्थानीय है। जैसा पहले ही निर्देश कर दिया है। इसने उनको यथार्थ में उन्नत मस्तिष्क एवं यथार्थ वेदान्तवित् बनाया 'बलीसुतेशे केन्द्रकोणगे विद्वान्' पंचम स्थान का स्वामी (सुतेश) बली होकर यदि केद्र या त्रिकोण में बैठे तो जातक को विद्वान बनाता है।

महाराजजी के जन्मपत्र में सुतेश बुध की स्थिति बली ही नहीं अपितु अतिबली की हो गई है। अतिबली ग्रह अपना फल अवश्य प्रदान करता है।

इस पंचम स्थान से ही पुत्र-विषयक विचार भी किया जाता है। अतः इस विषय से सम्बन्धित कतिपय योगों का भी यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। ग्रह-स्थिति के अनुसार अनेक अपुत्र कारक योग बने हैं।

१– शनि-मंगल नवमें या दशवें गये हों तो अपुत्र होता है।

२– व्ययेश (मंगल) लग्न या दशवें गया हो तो विपुत्र होता है।

३– पंचम भाव को शुक्र और मंगल ये दोनों किम्वा इन दोनों में से कोई एक मंगल अथवा शुक्र न देखता हो तो सन्तानहीन होता है। एकाधिक विवाह करने पर भी ऐसा जातक पुत्रहीन रहता है।

४– विषम राशि १,३,५,७,९,११, में मंगल और सम राशि २,४,६,८,१०,१२, में शुक्र के होने पर और शनि या सूर्य से पूर्ण दृष्ट हो तो जातक पुत्र रहित होता है।

५– शत्रु स्थान का स्वामी शत्रु लग्न से द्वितीय मारक स्थान में है, अस्त राशि का है तथा नीच के चन्द्रमा से युक्त है अतः ऐसे जातक अजातशत्रु होते हैं। यदि कोई उनसे शत्रु भाव रखे तो स्वयं नष्ट हो जाता है। यह ग्रह-स्थिति मातुल पक्ष के लिये भी अशुभ फल दायक है।

६– रवि, चन्द्र अथवा शुक्र निर्बली हो अर्थात शत्रु, नीच या अस्त राशि में गये हों और इनको परिपूर्ण बलवान शनि दूषित करता हो (शनि पाप दृष्टि से देखता हो वा युक्त हो) तो विवाह

नहीं होगा। इन योगों वालों का विवाह नहीं होता है। (जातक तत्व पृष्ठ ३०२ पंक्तियाँ ११ से १४ तक)। महाराजश्री की कुण्डली का यह उल्लेखनीय योग है।

श्रीमहाराजजी के जन्म-पत्र में स्त्री के घर (सप्तम) में चन्द्रमा नीच राशि (वृश्चिक) का है, शुक्र अस्त राशि का है तथा इस घर पर शत्रु क्षेत्रीय मंगल तथा राहु से युक्त स्वगृही होने के कारण पूर्ण वली शनि की क्रूर दृष्टि होने के कारण अविवाह का पूर्ण वली योग बनता है। फलस्वरूप वे आजन्म ब्रह्मचारी रहे।

विशेष—विद्या के घर में, जो सन्तान का भी घर होता है अर्थात् पांचवें भाव में उच्च के बुध तथा केन्द्र एवं त्रिकोणेश होने के कारण और सूर्य एवं बुध के राजयोगकारक होने के कारण (और सन्तान न होते हुए भी) 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' इस सूत्र के अनुसार उनके असंख्य उच्च कोटि की सन्तानें (शिष्य रूप में) थीं। जिनमें से बहुतों का तो उन्होंने पुत्रवत पालन-पोषण किया एवं विवाहादि कार्य कर जीविकोपार्जन में भी लगवाया।

८—दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण योग यह कि अष्टमस्थान धन का स्वामी गुरु स्वगृही है। १- ऐसे व्यक्ति का निवास एवं मरण तीर्थ-स्थान में ही होता है। पूज्य महाराजजी का प्रायः समस्त जीवन पुण्यसलिला सुरसरिता के तीर पर तीर्थ स्वरूप बन कर ही व्यतीत हुआ। २- ऐसे व्यक्ति वैकुण्ठ या मोक्ष के अधिकारी होते हैं। महाराजश्री के जीवन के समस्त कार्यकलाप उक्त फल को निर्विवाद रूप से प्रमाणित करते हैं। ३- गुरु उनके आय या लाभ स्थान का स्वामी है। क्योंकि ग्यारहवें भाव में मीन लग्न हैं उनकी सम्पूर्ण आय विद्यार्थियों के भरण-पोषण में ही व्यय हुई। अष्टम स्थान एवं गुरु का लग्न अथवा जीवन के साथ भी सीधा सम्बन्ध होता है! अतः उनका समस्त तन, मन, धन एवं जीवन महाविद्यालय की उपासना में रत या लीन रहा। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि इस महत्वपूर्ण स्थिति में विराजमान इस जीव (वृहस्पति ही) ने उन्हें यथानाम तथागुण श्रीजीवनदत्त महाराज बनाया।

९—नवम भाग्य या धर्म स्थान का स्वामी शनि (१०वीं मकर राशि होने से) स्वगृही होकर कर्म क्षेत्र में बैठा है। नवमेश दशम भाव में बैठे तो राजयोग-कारक होता है। अतः शनि राजयोग-कारक हुआ। इसी प्रकार शनि त्रिकोण (नवम) का स्वामी है तथा मंगल केन्द्र (सप्तम) का स्वामी है। अतः शनि एवं मंगल दोनों राजयोग-कारक हुए। इसी प्रकार राहु केन्द्र में त्रिकोणेश शनि के साथ योग करने के कारण राजयोग-कारक हुआ। उपर्युक्त विवेचन के अनुसार शनि, मंगल तथा राहु तीनों ही राजयोग-कारक ग्रह बन गये हैं। इनमें सर्वाधिक बली ग्रह शनि है। राहु जिसके साथ अथवा जिसके घर में बैठता है उसके फल को ग्रहण कर लेता है जैसा कि कहा गया है "यद् यद् भावगतौ वापि, यद् यद् भावेशसंयुतौ। तत्तत्फलानि प्रबलौ प्रदिश्येतां तमोग्रहौ॥" यहाँ राहु शनि के घर में शनि के साथ बैठा है। अतः पूर्ण रूप से शनि जैसा ही फल देने वाला है। इसी प्रकार मंगल अपने से प्रबल शत्रु शनि के अधिकार में आजाने के कारण शनि के अनुरूप ही फल देने के लिये बाध्य है।

अब शनि के फल पर भी विचार कर लिया जाय। शनि धर्म एवं पुण्य क्षेत्र का स्वामी होकर कर्म क्षेत्र में बैठा है। अतः आजीवन धर्म एवं पुण्य के कार्य ही कराने वाला है। मंगल स्त्री एवं व्यापार के घर का स्वामी है तथा शनि के आधीन है। अतः जिस प्रकार सामान्यजन स्त्री एवं व्यापार में संलग्न रहते हैं उसी प्रकार मंगल भी उक्त योगवाले व्यक्ति को धर्म तथा पुण्य कार्यों में संलग्न

रखने के लिए विवश है। राहु शनि के अनुकूल फलदाता होने के कारण उक्त फल की ही पुष्टि करने वाला है। यह पहले ही निर्देश किया जा चुका है कि शनि की अपने निर्बल शत्रु मंगल के घर पर पूर्ण रूप से क्रूर दृष्टि है। अतः वह स्त्री तथा अन्य लौकिक व्यापारों का पूर्णतया अभाव कर देने वाला है। तदनुसार श्रीमहाराजजी का समस्त जीवन धर्म एवं पुण्य कार्यों में उसी प्रकार व्यस्त रहा जैसे भौतिकता के उपासक राजयोगवालों का जीवन अर्थोपार्जन और रमणी-रमण में व्यस्त रहता है।

विशेष—उपर्युक्त विवेचन के अनुसार उनका एक ग्रह बुध उच्च का है। शनि तथा गुरु दो स्वगृही हैं। बुध, सूर्य, मंगल, शनि तथा राहु ये पाँच ग्रह राजयोग-कारक हैं। चन्द्र नीच का है। शुक्र कुगृही या अस्त राशि का है और केतु शत्रु-क्षेत्रीय है।

ज्योतिशास्त्र का सिद्धान्त है कि—

त्रिभि रुच्चैर्भवेद्राजा, त्रिभिः स्वस्थैश्च मंत्रिणः।
त्रिभिर्नीचैर्भवेद्दासः, त्रिभिरस्तै भवेज्जडः॥

इसी प्रकार राजयोग-कारक ग्रह किसी भी अवस्था में हों शुभ ही फल देते हैं। फिर जब वे उत्तम अवस्था में हों तब तो कहना ही क्या ?

इस कुण्डली के अनुसार चन्द्र, शुक्र तथा केतु अशुभ ग्रहों की कोटि में हैं। इनका सम्वन्ध भ्राता, माता, स्त्री तथा पुत्र से है। अतः यह अपनी शक्ति एवं स्थिति के अनुसार उक्त घरों को नष्ट करने वाले सिद्ध हुए।

बुध, सूर्य, गुरु, शनि, मंगल एवं राहु ये ग्रह उच्च, स्वस्थ एवं अनेक प्रकार से राजयोग-कारक स्थिति में आये हैं। अतः इन्होंने उन्हें अद्भुत विद्वान्, शिक्षक, विविध विद्याओं का कल्पवृक्ष एक शिक्षा संस्था का संस्थापक, व्यवस्थापक और कुलपति बनाया। एक सुयोग्य राजा की कसौटी सुव्यवस्था एवं प्रजानुरंजन तथा प्रजापालन ही है। तदनुसार उनके राजयोग-कारक ग्रहों ने उनमें उपर्युक्त गुणों का प्रचुर मात्रा में समावेश किया। अष्टमस्थ स्वगृही गुरु ने उन्हें मोक्ष का अधिकारी बनाया। आज जन-मानस उन्हें राजा ही नहीं 'महाराज' पद से विभूषित कर रहा है और उन्होंने लोक एवं परलोक दोनों पर जैसी विजय प्राप्त की उसको सस्पृह दृष्टि से देखता हुआ उनके चरणों में नत-मस्तक होता हुआ उन्हीं की भाँति कल्याणकारी कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त कर रहा है।

टिप्पणी :—ग्यारहवें भाव के स्वामी गुरु का फल पहले ही निर्दिष्ट कर दिया गया है। तथा वारहवें भाव के स्वामी मंगल शनि से नियन्त्रित होने के कारण शनि के ही फल संन्यास एवं अथक कर्म-योग में जीवन व्यय के फल को पुष्ट करने वाले हैं। अतः यहाँ उनका अलग से विस्तृत फल लिखने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई।

महाराजश्री की जन्म-कुण्डली पर विचार हो चुका। जिस समय इनका जन्म हुआ उस समय पूज्य वैद्यजी अलीगढ़ के कटरा मुहल्ला में रहने लगे थे। अतएव बालक जीवनकिशोर का बाल्यकाल यहीं पर व्यतीत हुआ।

ऊपर हमने महाराजश्री के पूज्य पिताजी की स्वभावगत दृढ़ता पर विचार किया था और उनके जीवन की दो घटनाओं के उदाहरण देकर यह सिद्ध किया था कि वह सच्चे स्वाभिमानी एवं दृढ़ स्वभाव

वाले ब्राह्मण थे। ऐसे व्यक्तियों के जीवन-क्रम भी व्यवस्थित होते हैं। सूक्ष्म जगत् के अनुकूल विकास के लिए जीवन में संयम एवं व्यवस्था की अत्यधिक आवश्यकता है।

वैद्यजी प्रातःकाल ब्राह्म-वेला में उठकर शौचादि से निवृत होने के लिए फतहचन्द की बगीची जो नगर से बाहर स्थित थी, पर जाया करते थे। यहीं पर वह बगीची में व्यायाम करते और मल्लविद्या से प्रेम होने के कारण यहीं के अखाड़े में मुहल्ले एवं नगर के इच्छुक व्यक्तियों को जोर कराते थे। लाला जयरामदास, गंगाप्रसाद एवं सालग्राम आदि प्रतिदिन इनसे जोर करने जाया करते थे। कभी-कभी स्नानादि के पश्चात् सन्ध्यादि यहीं कर लिया करते थे। वैद्यजी का यह प्रायः नित्य-प्रति का कार्य था।

परमादरणीय श्रीमहाराजजी का जन्म वैद्यजी की प्रौढ़ावस्था में हुआ था। तीन-चार वर्ष की अवस्था से ही वह अपने पूज्य पिताजी के साथ बगीची चले जाते थे। फलतः इस अबोध अवस्था से ही उनमें नित्य-नियम पालन के संस्कार पड़ने लग गये थे। बालक अनुकरणप्रिय होते हैं। अतः बगीची जाना, व्यायाम करना और स्नानादि से निवृत्त होकर गृह लौटना इनका नित्य-प्रति का व्यवहार हो गया। यहाँ से संस्कार पड़े वे आगे विकसित और दृढ़ होते गये।

भारतीय संस्कृति में प्रकृति प्रेम का प्रमुख स्थान है। प्रकृति अपने सच्चे अर्थ में मानव की अग्रजा और जीजी है। * मानव का भी उसके साथ सहज प्रेम है। आज जब वह नागरिक संस्कृति के चक्कर में पड़कर प्रकृति से विलग हो गया है तब भी कृत्रिम प्रकृति के विभिन्न रूपों से घिरा रहना चाहता है। नगरों में— विशेषकर ब्रज के नगरों में— बगीची नगर को प्रकृति के उन्मुक्त रूप से सम्बद्ध करती है। ब्रज के नगरों में बगीचियों का अधिक महत्व है, इन बगीचियों में स्नानादि के लिए कुए, विहार एवं पुष्प चयन के लिए वाटिकायें, सन्ध्या पूजा के लिए मन्दिर और व्यायामादि के लिए अखाड़े एवं व्यायामादि के उपकरणों का होना अनिवार्य सा है। मन्दिर भी प्रायः हनूमान् अथवा शिवजी के ही होते हैं।

शौचादि से निवृत्त होने के लिए बगीची पर पहुँचने वाला, पुष्पवाटिका में टहल लेता है, मन्दिर से आसनादि लेकर बैठकर हनूमान चालीसा तो पढ़ ही लेता है। प्रायः गर्मी के दिनों में जब अधोवस्त्र धोकर सुखाने के साथ ही सूख जाते हैं, पहुँचने वाला स्नान करके कपड़े सूखने तक मूर्ति के सामने बैठकर थोड़ा जप भी कर लेता है। इस प्रकार ब्रज की मस्त प्रवृत्ति वाली संस्कृति में इन बगीचियों का अपना योगदान है। व्यक्ति नियमबद्ध जीवन की सरलता एवं सुकरता के लिए यदि बगीचियों की ओर उन्मुख होता है तो उसे इनसे उल्लेखनीय सहायता मिलती है।

पिता के नियमबद्ध बगीची जाने के नियम से अनुकरणप्रिय बाल्यकाल में ही सदा साथ जाने-वाला पुत्र प्रारम्भिक जीवन में ही नियम पालने में आनन्द लाभ करने लगा होगा, ऐसा स्वीकारना विवादास्पद नहीं है।

संस्कारों की अपनी प्रक्रिया है। हमारे प्रमुख मान्य दार्शनिक सिद्धान्तों में पंचकोशी मानव में तीन शरीरों की संस्थिति स्वीकारी जाती है स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर।

* जीजी शब्द फारसी भाषा का है। इसका अर्थ दूध पिलाने वाली है। माता का आदेश पाकर प्रायः बड़ी बहने ही छोटे भाइयों को दुग्धपान कराती हैं अतः उन्हें 'जीजी' कहकर पुकारा जाता है। प्रकृति मनुष्य के पालन में अप्रतिम योगदान करती है अतः उसे जीजी माना है।

ये तीनों शरीर एक दूसरे को प्रतिक्षण प्रभावित एवं परिवर्तित करते रहते हैं। इनमें सूक्ष्म और स्थूल की एक दूसरे के प्रति प्रतिक्रिया अधिक स्पष्ट रहती है। स्थूल शरीर के कार्यों का जो प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है उसे ही संस्कार कहते हैं। ये संस्कार सूक्ष्म शरीर में वासना रूप से स्थिर होने लगते हैं। वासना तृप्ति का साधन स्थूल के कार्यों में पाती है। इसलिए वासना मन को, मन इन्द्रियों को वासना पूर्ति के लिए व्यग्र करता रहता है और इस प्रकार सूक्ष्म स्थूल का नियमन करता रहता है।

मनुष्य को कर्म तो विवश होकर करना ही है। वह कौनसा कर्म करे, कौनसा न करे इस निर्णय में वह स्वतन्त्र है। वह तंत्र अथवा छन्द के बिना नहीं रह सकता है। हां वह अपना तंत्र अथवा छन्द अपनी रुचि से निश्चित कर सकता है। इन्हीं संस्कार सम्बन्धी आध्यात्मिक नियमों के रहस्यवेत्ता होने के कारण भारतीय मनीषी बाल्यकाल से ही बालक में दबाव से संस्कार डालने का पक्षपाती है। प्रारम्भ में वह उसे अनियन्त्रित छोड़ने का पक्षपाती नहीं है। जब सूक्ष्म शरीर नियन्त्रण में रस लेने लग जाता है उस समय बाहरी दबाव अलग करना उचित रहता है। यह अवस्था किशोरावस्था बीतने पर प्रारम्भ होती है।

इस प्रकार के दृढ़ निश्चय एवं सयंम की शक्ति का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणयाप्नोति श्रद्धां श्रद्धया सत्यमश्नुते।

"जीवन में व्रत से—दृढ़ निश्चय एवं संयम—से दीक्षा अर्थात् तत्परता आती है। तत्परता आने पर नैपुण्य प्राप्त होता है। निपुणता से श्रद्धा अर्थात् आस्था प्राप्त होती है और आस्था से सत्य की उपलब्धि होती है"। इसी श्रद्धा को विश्वास के साथ मिलकर स्वान्तःस्थ ईश्वर के दर्शन कराने वाली अंगीकार किया है।

जैसा पहले कहा गया है पूज्य वैद्यजी अपने प्रिय पुत्र को अपने साथ बगीची उसी समय से ले जाने लग गये थे जब वह केवल ठुमुक-ठुमुक चलने लायक ही था। उस छोटी अवस्था में बालक अनुकरण में आनन्द लाभ करता हुआ देखा-देखी नियमित जीवन व्यतीत करने लगा। इसके पश्चात् संस्कार ही जीवन को नियमित कर रस देने लगे और किशोरावस्था से पूर्व ही बालक जीवनकिशोर नियमित एवं नियन्त्रित जीवन यापन करने में रस लेने लगा।

जीवन जिधर चलने लगता है उधर की ही स्थिति संगत एवं रुचिकर जान पड़ने लगती है। साधना का नियमित जीवन प्रारम्भ से ही बिताने के कारण पूज्य महाराजश्री को अपना जीवन-लक्ष्य भी स्पष्ट होने लग गया।

परम पूज्य श्री जीवनदत्तजी महाराज को उनके शिष्य एवं भक्त उन्हें 'महाराजजी' कह कर पुकारते थे, किन्तु वे स्वयं को ब्रह्मचारी ही कहलाना पसंद करते थे। इस जीवनी-लेखन-क्रम में स्थान-स्थान पर इन दोनों ही सम्बोधनों से किसी एक का प्रयोग होगा।

जब वह पाँच वर्ष के हुए तो उनका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। ब्राह्मण को यज्ञोपवीत संस्कार के लिये पाँच वर्ष की अवस्था ही उचित एवं आवश्यक मानी गई है। ब्राह्मण जातक के लिए यह संस्कार जीवन का प्रमुख संस्कार माना जाता है। इस संस्कार के कारण ही उसकी द्विज संज्ञा होती है। यज्ञोपवीत-संस्कार के पश्चात बालक का संध्यावंदन, गायत्री आदि का जप नित्यप्रति करना अनिवार्य

हो जाता है। जैसे बगीचो जाने के नियम के उल्लेख प्रसंग में कहा जा चुका है कि बालक ब्रह्मचारी इस नित्यप्रति के संध्यावंन्दन आदि कार्यों को बड़ी तत्परता एवं रुचि के साथ करने लगे। प्रसन्नता के साथ किये जाने वाले कार्य हृदय पर गहरा संस्कार छोड़ते हैं। बालकों को छन्दोबद्ध एवं संयमित करने के लिए भारतीय संस्कृति का यह प्रमुख संस्कार है। कहा तो यह जाता है कि पूज्य महाराजश्री वाल्यकाल से ही त्रिकाल सन्ध्या करने लग गये थे।

ब्राह्मण वह्मचारी के लिए सन्ध्या-वंदनादि जो जो कृत्य आवश्यक है उनकी वैज्ञानिक महत्ता का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दिया जाता है। प्रातःकालीन सन्ध्या तारावती शुभ मानी गई है अर्थात् जिस समय आकाश नक्षत्रयुक्त हो उस समय की प्रातः सन्ध्या प्रशस्यतर है। यह समय ब्राह्म मुहूर्त्त माना जाता है। रात्रि में जिस प्रकार मध्य रात्रि के पश्चात् एक बजे से तीन बजे तक का समय दार्शनिक समय माना जाता है उसी प्रकार तीन बजे से पांच बजे तक का समय ब्राह्म मुहूर्त्त माना जाता है। इस समय में शय्या त्याग कर शौचादि से निवृत्त होकर स्नानादि एवं पूजादि करना बुद्धि को निर्मल करने वाला और तेज में वृद्धि करने वाला होता है।

सन्ध्या-वंदन से पूर्व स्नान अनिवार्य है। स्नान के सम्बन्ध में कहा गया है :—

स्नानं पवित्रमायुष्यं श्रमस्वेदमलापहम्।
शरीरबलसन्धानं केश्यमोजस्करं परम्॥

"स्नान क्रिया पवित्रताजनक, आयु-वृद्धिकर, श्रमनाशक, स्वेद-निवारक, मलापहारक, बलवर्द्धक, केशवर्द्धक तथा परम तेज बृद्धि कारक है।" किन्तु प्रातःकाल का स्नान अधिक महिमामय है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है :—

गुणा दश स्नानपरस्य मध्ये रूपञ्च तेजश्च बलञ्च शौचम्।
आयुष्यमारोग्यमलोलुपत्वं, दुःस्वप्नघातश्च तपश्च मेधा।

"प्रातःकालीन स्नान से रूप, तेज, बल, शौच, आयु, आरोग्य, अलोलुपता, दुःस्वप्नघात, तप एवं मेधा की प्राप्ति होती है।" इसका कारण यह कि रात में चन्द्र से जल में अमृत आ जाता है, जिसे सूर्योदय के पश्चात् सूर्य की किरणें समाप्त कर देती हैं। इसे सूर्योदय से पूर्व का स्नान अमृत स्नान है। सूर्य की किरणों के द्वारा जलस्थ अमृत के नष्ट हो जाने पर स्नान वह महत्व नहीं रहता है।

स्नान के पश्चात् सन्ध्यावंदन किया जाता है। वेद भगवान् में 'अहरह सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्योपासना करनी चाहिए से आदेश दिया गया है। आर्य-शास्त्रों में सन्ध्योपासना की विशेष महिमा वर्णित है।

सन्ध्या में मार्जन, प्राणायाम, आचमन, अघमर्षण एवं सूर्योपस्थान आदि प्रमुख क्रियायें हैं। इन क्रियाओं की नित्य आवृत्ति से व्यक्ति के सूक्ष्म शरीर में अनेक अनुकूल संस्कार जन्म लेते हैं।

महाराजश्री अपनी अन्तिम स्वास तक त्रिकाल सन्ध्या करते रहे। नरवर आश्रम में पहुँचने के पश्चात् तो त्रिकाल गंगा स्नान के पश्चात् सन्ध्योपासना करते थे। गंगा-स्नान का अपना महत्व अलग है। गंगा-स्नान की महिमा अपार है।

सन्ध्या के पश्चात् वह प्रतिदिन तीन सहस्र गायत्री मंत्र का जप करते थे। उन्होंने गायत्री के कई पुरश्चरण किये थे। प्रातःकालीन सन्ध्या में महाराजश्री को पाँच से छः घन्टे तक लगते थे।

उनमें गंगा एवं गायत्री की ही अमोघ शक्ति थी, जिसका संकेत आगे किया जायगा। यहाँ गायत्री जप के महत्व की ओर संकेत करना प्रासंगिक एवं आवश्यक है।

आर्य-शास्त्रों ने सन्ध्योपासना की भाँति गायत्री उपासना को भी ब्रह्मोपासना स्वीकारा है। कारण, दोनों ही उपासनाओं में ब्राह्मी, वैष्णवी, रौद्री-रूपिणी त्रिधा विभक्त ब्रह्मशक्ति की उपासना होती है। ये तीनों शक्तियाँ गायत्री में समन्वित होकर एकाकार हो जाती हैं। इसीलिए इस त्रिशक्ति-समन्वय-रूपिणी गायत्री देवी को वेद जननी भी माना है। गायत्री के उपासक हमारे एक मित्र ने गायत्री शब्द की व्युत्पति करते हुए कहा था कि देवी गायत्री गान करने वाले की रक्षा करती है।

गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति दिवि चेह च पावनम्।

गायत्री वेद जननी हैं, गायत्री पापनाशिनी हैं, गायत्री से अधिक पवित्र एवं फलदायिनी वस्तु मर्त्यलोक एवं द्यु लोक में कहीं भी नहीं है।

इस अमोघ शक्ति के पूज्य ब्रह्मचारीजी अनन्य उपासक थे। गायत्री मंत्र में स्वयं कितनी अपूर्व शक्ति समाहित है इसके उल्लेख का यहां उपयुक्त अवसर नहीं है। यह इसी मंत्र की उपासना की शक्ति ही थी कि पैसे का स्पर्श त्याग कर भी पूज्यचरण महाराजश्री नरवर आश्रम एवं सांगवेद महाविद्यालय का संचालन निर्विघ्न करते रहे।

उनके प्रातः कृत्य में संध्योपासना, गायत्री जप के साथ-साथ तर्पण एवं पंचमहायज्ञ भी सम्मिलित थे। इन दोनों क्रियाओं के अनुष्ठान से पूज्य महाराजश्री ने विश्वजीवन के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थिर कर लिया था। गीतोक्त यज्ञभावना उनमें मूर्त रूप धारण कर चुकी थी। यही कारण था कि वह दर्शकों को अपनी कृपा-दृष्टि से निहारकर निहाल कर देते थे; मात्र दृष्टि डालकर सभी की आधियों का हरण कर लेते थे और प्रत्येक के अन्तःकरण में यह विश्वास उत्पन्न कर देते थे कि वह उसी को सर्वाधिक प्रेम करते हैं। दर्शक की चेष्टा देखकर ही उसकी आवश्यकता जान लेते थे और निवेदन करने से पूर्व ही उसकी दुश्चिन्ता के निवारण का आदेश दे चुके होते थे। उनकी दृष्टि इतनी पावन एवं मङ्गलविधायिनी इसी प्रकार की उग्र तपस्याओं के कारण हो गई थी।

संस्मरण-लेखक उनके श्रद्धालु शिष्यों ने गद्गद् अंगीकार किया है कि जिस समय वह पूज्यचरण महाराजश्री का ढाई सेर शौच-जल वाला लोटा लेकर उनके साथ दूर तक जाता था तो चलते-चलते जो आवश्यक बातें उनसे हो जाती थीं, उनकी मात्र स्मृति से वह आज भी निहाल है। इस नित्य-नियम पालन से ही उन्होंने अमोघ शक्ति अर्जित की थी। वे समीप आने वाले भक्तों, श्रद्धालुओं, शिष्यों, सेवकों की लौकिक, पारलौकिक, एवं पारमार्थिक सभी प्रकार की समस्याओं एवं उलझनों को अपूर्व आत्मीयता एवं आवश्यक सहानुभूति से सुलझाते थे। वस्तुतः उन्होंने चराचर जगत के हितार्थ अपने जीवन को अर्पित कर दिया था। वैदिक धारणा वाले ब्राह्मण का सच्चा लक्षण भी यही है। उनके लौकिक व्यवहार में "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" की स्पष्ट प्रतीति होती थी।

यहाँ तक ब्राह्मण के लिए नित्यकर्म का महत्त्व प्रदर्शित करते हुए महाराजश्री के जीवन पर उसका जो प्रभाव पड़ा उसका उल्लेख हुआ। ऊपर उनकी कुण्डली पर विचार करते हुए उनके व्यक्तित्व में ग्रहयोग प्रदत्त अर्हताओं का भी उल्लेख हो चुका है। यहाँ इतना कहना भी आवश्यक है कि ग्रहों के फलाफल जातक की साधारण प्रवृत्तियों का उल्लेख करते हैं। किन्तु जातक की कठोर तपस्या फल

को समृद्ध और अफल का मार्जन भी कर सकती है। कहने का अभिप्राय तपस्या एवं साधना का प्रभाव भी अवश्यम्भावी है। महाराजश्री ने अपनी कठोर साधना से उसमें परिवर्तन कर दिये।

उनकी जन्म कुण्डली में अपुत्र योग है। किन्तु जब तर्पण एवं पञ्चमहायज्ञ की साधना से उनमें प्राणिमात्र का प्रेम समृद्ध हुआ तो वे अपने शिष्यों को अपत्य-स्नेह प्रदान करने लग गये। ग्रहों ने औरस पुत्रों का अभाव सिद्ध किया, किन्तु तपस्या ने विद्या-सन्तान इतनी अधिक, सुशील तथा सम्पन्न बना दी कि पुत्रवानों के पुत्र कदाचित् उनके श्राद्ध छोड़ भी बैठे होंगे, किन्तु नरवर आश्रम के भीष्मपितामह का श्राद्ध शतशः गृहों में हार्दिक श्रद्धा के साथ होता है। औरस सन्तानों के जननी-जनक परिवार वालों की विस्मृति के अन्धकार की गहराइयों में पड़कर 'नाभूत' की स्थिति में पहुँच चुके होंगे, किन्तु विद्याकुल के प्रवर्तक कुलपति को गद्‌गद् कण्ठ से स्मरण करने वाले अभी हैं और अनेक हैं।

हम इस स्मृतिग्रन्थ का सन्देश लेकर जब व्यक्ति-सम्पर्क में प्रवृत्त हुए तो हमें ऐसे अनेक गण्यमान्य सज्जन मिले जिन्होंने अश्रुमुखी श्रद्धा एवं कृतज्ञतापूर्ण हृदय से ब्रह्मलीन कुलपतिजी का स्मरण किया। यहाँ तक कि कहीं-कहीं पर उनकी श्रद्धा एवं हार्दिकता से प्रभावित होकर हमें भी महाराजश्री के शील-श्रवण से रसानुभूति हुई— मन में मोद, तन में पुलक एवं नयनों में जल तुरन्त आ गया। वस्तुतः वे धन्य हैं जिन्हें ऐसे अपत्यस्नेह-स्निग्ध तपस्वी विद्यागुरु की विद्यासन्तति होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उन्हें इतने से ही जीवन लाभ मिल गया।

पूज्य महाराजश्री के पाँच वर्ष की अवस्था की दूसरी उल्लेखनीय घटना आर्यसमाज के संस्थापक वैदिक वाङ्मय के प्रचारक, भारतीत संस्कृति के उन्नायक, अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रत के पालनकर्त्ता महर्षि दयानन्द सरस्वती का दर्शन है। इस दर्शन के सम्बन्ध में दो प्रमुख धारणायें हैं। उन धारणाओं का उल्लेख करने से पूर्व पाठकों को यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि महाराजश्री के पूज्यपाद पिताजी पं. रामप्रसाद शर्मा एवं महर्षि दयानन्दजी दोनों ही प्रज्ञाचक्षु स्वामी ब्रजानन्द सरस्वती के अन्तेवासी थे। अतः एक दूसरे से परिचित थे।

संवत् १९३९ के आसपास स्वामी दयानन्दजी सरस्वती मात्र कौपीन धारण किये हरिद्वार से काशी पर्यन्त उपगंग भ्रमण कर रहे थे। कदाचित् पुण्यतोया भागीरथी के सूक्ष्म साक्षात्कार का उनका व्रत था। उस समय तक आर्यसमाज की स्थापना नहीं हो पाई थी, उस समय वह संस्कृत भाषा में ही भाषण करते थे। इसी भ्रमण प्रसंग में वह गंगातटवर्ती कर्णवास—नरवर से ८ मील उत्तर— में पधारे। उस समय श्री वैद्यजी अपने पञ्चवर्षीय पुत्र— पूज्य ब्रह्मचारी जी— को उन महापुरुष के दर्शनार्थ अपने साथ ले गये। महर्षि से उनकी भेंट हुई। पूज्य वैद्यजी ने अपने प्रिय पुत्र को उस महान् विभूति के चरणों में प्रस्तुत किया। दिव्यों को निगूढ़ दिव्यता भी साक्षात् दिखाई देती है। स्वामीजी महाराज ने भी प्रतिभाशाली शिशु में निहित दिव्यता को देख लिया। पूज्य स्वामीजी ने बालक के सिर पर हाथ फेरते हुए वैद्यजी से कहा—'इसे आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन कराना एवं पच्चीस वर्ष की अवस्था तक इसका विवाह न करना।' उन्होंने स्वामीजी के स्निग्ध आग्रह को पूरा करने का उसी समय वचन दिया। वैद्यजी की स्वभाव-दृढ़ता का पीछे उल्लेख हो चुका है। वही स्वभावगत दृढ़ता भी इस वचन-पालन के रूप में परिणत होकर महाराजश्री के लिए आशिष बन गई।

स्वामीजी के इस आशिष से पूज्य कुलपतिजी का पथ-निर्दिष्ट हो गया—आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन अर्थात् गुरुकुल परिपाटी से अमरवाणी का अध्ययन और पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रहने के

लिए पूज्य वैद्यजी से आज्ञा मिल गई। उस समय समाज में बालक-बालिकाओं की शीघ्र शादी करने का चलन था। यदि स्वामीजी का आदेश न मिलता तो सम्भव है वैद्यजी पूज्य महाराजश्री को विवाह करने के लिए आग्रह कर उद्विग्न करते। उनकी ओर से विवाह का प्रसंग भी नहीं चलाया जायगा, इसका आश्वासन पूज्य कुलपतिजी को मिल गया। वह निर्द्वन्द्व होकर आर्ष ग्रन्थों की ओर उन्मुख हो गये। उनके परिवार में—जैसा पहले कहा जा चुका है—अरबी एवं अंग्रेजी का अध्ययन हुआ था। यदि स्वामीजी का आदेश न होता तो सम्भव है वह भी संस्कृतेतर किसी भाषा का अध्ययन करने लगते।

कुछ अधिकारी व्यक्ति यह कहते हैं कि पूज्य कुलपतिजी के पिताजी की स्वामीजी से भेंट कर्णवास नहीं हुई थी; किन्तु अलीगढ़ में ही हुई थी। उनका कहना है कि स्वामीजी भ्रमण करते हुए अलीगढ़ आये और वैद्यजी अपने पंचवर्षीय पुत्र को लेकर उनके दर्शन करने गये। किन्तु भेंट के पश्चात् जो कुछ भी स्वामीजी ने उनसे कहा था उस सम्बन्ध में इन सज्जनों को भी तनिक विप्रतिपत्ति नहीं है। तथ्य की एकरूपता ही मुख्य है।

वैद्यजी अपने पुत्र को लेकर स्वामीजी से मिले और उन्होंने महाराजश्री के सम्बन्ध में उन्हें एक आदेश दिया, यह तथ्य सभी को समान रूपसे स्वीकृत है। स्थान का इस प्रसंग में कोई भी महत्व नहीं है।

स्वामी ब्रजानन्दजी महाराज को ही यह हार्दिक वेदना थी कि भारत से संस्कृति एवं समृद्धि के मेरुदण्ड आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन शनैः शनैः समाप्त हो रहा है। उन्होंने इसी वेदना के साथ-साथ आर्ष ग्रन्थों का मर्म एवं महत्व अपने अन्यतम अन्तेवासी स्वामी दयानन्दजी के अन्तःकरण में उतार दिया। पूज्य ब्रजानन्दजी नेत्र-ज्योति से हीन होने के कारण इस भारत-दिग्विजय एवं उद्बोधन के लिए यात्रा नहीं कर सकते थे जिस प्रकार उनके समर्थ शिष्य ने की और वेदज्ञान का उद्घोष पुनः समस्त भारत में कर दिया। स्वामीजी गुरु-कृपा से आर्ष ग्रन्थों के मर्म को कितना हृदयंगम कर चुके थे उसका उनकी वेदादि-भाष्य-भूमिका से परिचय मिलता है। यही कारण था कि स्वामीजी आत्म-विस्मृत द्विजाति मात्र को वेदाध्ययन की ओर प्रवृत्त करने लिये प्रयत्नशील थे, पूज्य महाराजश्री के प्रतिभा-सम्पन्न बालक रूप को देखकर उन्हे अपने उद्देश्य एवं यात्रा की सफलता दिखाई पड़ी होगी। कारण आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के लिए जितना कार्य इन अकेले मूक साधक ने किया है उतना कार्य सम्पूर्ण आर्य समाज ने मिलकर नहीं किया है। इस कथन की प्रामाणिकता के लिए आर्य समाज के एक दिग्गज विद्वान के शब्द यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। पं० नरदेव शास्त्री पूज्य महाराजश्री के सहाध्यायी थे। उनसे आर्यजगत भली-भाँति परिचित है उन्होंने अपनी आत्मकथा अर्थात् 'आप बीती जग बीती' में आचार्यजी के विषय में निम्नलिखित पंक्तियाँ लिखी थीं:—

"अपनी गाथा में मैं इस सहाध्यायी का उल्लेख न करूँ तो दोष का भागी बनूंगा। आप मेरे सहाध्यायी १८९८ से १९०३ तक रहे हैं। हम दोनों ने स्वर्गीय पं०गंगादत्तजी शास्त्री के पास नवाह्निक महाभाष्य साथ साथ पढ़ा था। अब बीस वर्ष से आप गंगाजी के किनारे साङ्गवेद-विद्यालय चला रहे हैं। बड़े त्यागी तपस्वी पुरुष हैं। उनकी पाठशाला में लगभग डेढ़ सौ छात्र पढ़ते हैं। सैकड़ों छात्र पढ़ गये। एकरस काम चल रहा है। आप वैसे पण्डित भीमसेन शर्मा इटावा निवासी के पास भी अनेक विषयों का अध्ययन कर चुके थे। आपका भक्तपरिवार पण्डा है, सेठ साहूकारों की सहायता से ही पाठशाला चलती है। एक आर्य समाज की संस्कृत पाठशालाएँ हैं, गुरुकुल और विद्यालय हैं, जहाँ

इतना काम नहीं होता और हल्ला बहुत रहता है। झगड़ों का तो पूछिये नहीं। एक पण्डित जीवनदत्तजी की पाठशाला है, जहां से सैकड़ों विद्वान तैयार हो गये और कोई विज्ञापन नहीं कोई उत्सव नहीं कोई घोषणा नहीं।"

वस्तुतः स्वामी दयानन्दजी ने आर्य-समाज संस्था की इसी गम्भीर उद्देश्य से स्थापना की थी न कि उससे जिसमें आर्य-समाज चलकर आकण्ठ मग्न हो गया। यदि आज भी आर्य-समाज दलीय दलदलों से निकल कर केवल आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन प्रचार ऐसे मूक साधकों को खड़ा कर करने चल पड़े जैसे पूज्य महाराज श्री जीवनदत्तजी थे तो यह आर्य-समाज एवं समस्त देश के लिए समृद्धिकर कार्य सिद्ध होगा। पूज्य स्वामीजी ऐंग्लों-वैदिक विद्यालयों के माध्यम से विलग होने वाले पदार्थ-विज्ञान और आध्यात्मिक-विज्ञान तथा ऐहिकता और आमुष्मिकता को इस प्रकार मिलाने के पक्षपाती थे जिस प्रकार सूर्य की किरणों में उष्णता एवं प्रकाश साथ-साथ मिल गये हैं। उनसे प्रकाश लेने के इच्छुक को उष्णता और उष्णता चाहने वाले को प्रकाश स्वतः ही बिना मांगे एवं बिना इच्छा किये ही मिल जाता है। जब पदार्थ-विज्ञान के अनुसंधित्सु को आध्यात्मिकता और ऐहिकता के लिए प्राण देने वाले को आमुष्मिकता स्वतः ही मिलने लग जायगी, उस दिन विश्व-संकट के दिन सदा के लिए चले जायेंगे और उन्नति और समृद्धि शिशिर के प्रातःकाल की ओस की भाँति वसुन्धरा पर बिखरी रहेगी, परिग्रह की आपाधापी दिवस में तारों की भाँति अस्त हो जायगी, और मैत्री एवं मुदिता वासंतिक पवन की भाँति प्राणिमात्र की हृदय-कलियों को उत्फुल्ल करने लगेगी।

उपर्युक्त पंक्तियाँ भावावेश में नहीं लिखी गई हैं, अपितु भारत के शाश्वत जीवन-उद्देश्य को समक्ष रखकर लिखी गई हैं। आर्ष ग्रन्थों के विषय में जिस तथ्य का साक्षात्कार प्रज्ञाचक्षु स्वामी ब्रजानन्दजी ने किया था, जिसकी अनुभूति से प्रणोदित स्वामी दयानन्दजी महाराज ने वैदिक ज्ञान की भेरी बजाते हुए भारत भ्रमण किया था एवं जिसको अपनी मूक साधना तथा तपस्या से पूज्य ब्रह्मचारीजी ने नरवर आश्रम के माध्यम से मूर्त रूप प्रदान किया था, देश की प्रजातन्त्रीय सरकार यदि उसकी महत्ता स्वीकारले, देश के मूर्धन्य शिक्षाविद् उसका यदि अनुभव करलें, और देशवासी उसको जीवन में उतारने के लिए अग्रसर हो जायें तो भारत विश्व के सम्मुख अपने उसी पुरातन रूप में खड़ा हो सकेगा जिसकी गर्वोक्ति मनुजी ने की थी—इसमें से संदेह करने का अवकाश नहीं है।

पूज्य महाराजश्री की दूरदर्शिनी दृष्टि एवं उनके कार्य की महत्ता की ओर संकेत करने के उद्देश्य से उपर्युक्त मन्तव्य थोड़ा और स्पष्ट करना अनुचित न होगा। उन्होंने नरवर में साङ्गवेद महाविद्यालय की स्थापना की। संस्कृत भाषा के प्रचार और वेद के साङ्ग अध्ययन को प्रामुख्य प्रदान करने के उद्देश्य से महाविद्यालय का उपर्युक्त नामकरण किया।

संस्कृत अमरवाणी है; देवता उसी का प्रयोग करते थे; यह अद्वितीय भाषा है—आदि कथनों से संस्कृत माहात्म्य भले ही प्रकट किया जा सके, किन्तु उनसे अब सर्वसाधारण के हृदय में संस्कृत का प्रेम और उसके अध्ययन के लिए लालसा उत्पन्न होती नहीं जान पड़ती। कारण, आज श्रद्धा की निरन्तरगामिनी सरिता सूख गई है, किन्तु कुतर्क के क्षण-प्रवाही स्रोत फूट कर बह निकले हैं।

संस्कृत परिज्ञात विश्व की प्राचीनतम साहित्य-भाषा है। वैदिक ज्ञान, दार्शनिक सिद्धान्त, मंत्र-तंत्र-विज्ञान तथा अन्य कतिपय अमूल्य ज्ञान-रत्न संस्कृत भाषा की पेटिका में ही पिहित हैं। इनकी

आज मात्र भारत को ही आवश्यकता नहीं है, अपितु विश्व भी उन्हें पाकर कृत्य-कृत्य होगा। इसका तत्व-दर्शक शब्द-भण्डार क्षीणदृष्टि वालों को निर्मली वन सकेगा। सम्भव है यही भाषा जिस प्रकार भारत को एक सूत्र में बाँधे हुए है उसी प्रकार विखरते विश्व को भी बाँधने में सफल हो जाय। हमारी यह निश्चित धारणा है कि संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा भारत की भावात्मक एकता का एक प्रमुख उपाय है। संस्कृत वाणी की ऐसी ही अनिवार्य महत्ता को हृदयगंम करके महर्षि दयानन्दजी उसके वैतालिक बनकर उसका अलख जगाते विचरते रहे और पूज्य ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी उसके प्रचार का मौन अनुष्ठान करते रहे।

स्वामीजी ने अपनी वेदादि-भाष्य-भूमिका में वेदों में पदार्थ-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान एक दूसरे से जलदुग्धवत् मिले हुए सिद्ध किये हैं। इस विश्वास में अन्धश्रद्धा नहीं है अपितु अनुभूति है। यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त में सामाजिक विज्ञान और पदार्थ-विज्ञान को आध्यात्मिक आधार पर खड़ा किया गया है। इसके 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' मन्त्र के विज्ञान की ओर डा० रामदासजी गौड़ ने नीहारिकाओं के प्रसंग में संकेत किया था। इस अकेले सूक्त में सृष्टि निर्माण सम्बन्धी विज्ञान के अनेक बीज हैं, जिनकी परीक्षा एवं विवेचना कर सिद्धान्त-वृक्ष खड़े करने की आवश्यकता है।

कभी कोलब्रुक नामक विद्वान ने कहा था कि वेदों से पढ़ने वालों को भी अपने परिश्रम का फल तक नहीं मिल सकता, उसके अनुवादकों को उससे कुछ हाथ न लगेगा, किन्तु मोक्षमूलर ने इस धारणा को अन्यथा सिद्ध कर दिया। जो यह मानते हैं कि वैदिक मंत्रों में पदार्थ-विज्ञान के अमूल्य बीज न मिलेंगे, वे परीक्षा करने के लिए आगे बढ़ें और तथ्यातथ्य का निर्णय करें। निर्णय यह कि पूज्य स्वामी दयानन्द एवं महाराजश्री के साङ्ग वेद के अध्ययन-आग्रह को गति देने की आवश्यकता है।

यहाँ तक उन दोनों साधारण सी दो घटनाओं का उल्लेख हुआ, जिनके कारण महाराजश्री के जीवन को दिशा एवं गति मिली। ब्राह्मण बालक का यज्ञोपवीत संस्कार होने के पश्चात् ही अक्षरारम्भ भी हो जाता है।। पूज्य ब्रह्मचारीजी का अक्षरारम्भ स्वामी रामेश्वरानन्द जी के द्वारा कराया गया। स्वामीजी आगरा जनपद के निवासी थे और बाद में अलीगढ़ से बम्बई चले गये जहाँ उन्होंने यथेष्ट अर्थ-संचय किया। बालक जीवन किशोर से उनके प्रारम्भिक गुरु अत्यन्त प्रसन्न रहते थे। कहा जाता है स्वामीजी के बम्बई पहुँचने पर भी दोनों के मध्य पत्रों का आना-जाना बना रहा। आधिकारिक सूत्रों का कथन है कि महाराजश्री अपने प्रथम गुरु के अधिकाधिक स्नेह-भाजन बनते गये। वस्तुतः आज्ञाकारी, परिश्रमी, सुशील, एवं विनीत शिष्यों के लिए गुरुओं के समीप कोई भी वस्तु अदेय नहीं होती। शिष्य गुरु का मानस पुत्र होता है।

जैसा पहले कहा गया है महाराजश्री का यज्ञोपवीत संस्कार पं० प्रसादीलालजी द्वारा हुआ था। यही पंडित जी उनके द्वितीय गुरु भी हुए। इन्होंने उन्हें संस्कृत पढ़ाना प्रारम्भ किया था। यह अध्ययन कई वर्षों तक अलीगढ़ में ही चलता रहा। तीव्र बुद्धि के बालक होने के कारण वह अपने अध्यापक को पूर्ण सन्तोष प्रदान करते थे। वस्तुतः अध्यापक भी ऐसे ही छात्रों को स्नेह करते हैं, उन्हें ऐसे प्रतिभाशाली छात्रों के अध्ययन से ही यश भी मिलता है।

अलीगढ़ में ही जब वह—नौ वर्ष के हुए तो उनकी पूज्या माताजी का देहावसान हो गया। बाल्यकाल में स्नेहमयी जननी से बालक का सर्वाधिक स्नेह रहता है। महाराजश्री ने तो पिता की लगभग पचास वर्ष की अवस्था में जन्म लिया था, और जनक-जननी के एकमात्र पुत्र थे। ऐसी अवस्था में आपके प्रति माता का कितना गम्भीर वात्सल्य रहा होगा, इसका अनुमान करना कठिन है। एकमात्र पुत्र तो किसी माता-पिता के लिए चिन्ता का विषय रहता है। इसी मानसिक व्याकुलता की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिए तुलसी ने एक पुत्र की प्राप्ति पूर्व के पापों के फलस्वरूप स्वीकारी है। सन्तान की ओर से उद्विग्नता बनी ही रहती है। इन्हीं बातों पर विचार करके पूज्य महाराजश्री के प्रति उनके माता-पिता—विशेष कर वात्सल्य की मूर्ति-जननी—की ममता और आसक्ति की दृढ़ता एवं गम्भीरता का अनुमान लगाया जा सकता है। ऐसी ममतामयी माता अवश्य ही पुत्र की ममता लेकर परलोक सिधारी होगी। मूर्तिमयी ममता के चिरविदा ग्रहण करने पर बालक को एकबार तो सारा संसार जले और सूखे वन के समान प्रतीत हुआ। त्रिभुवन परिमुषितरत्न और शून्य जान पड़ा। दशों दिशायें स्नेह शून्य सी लगने लगीं, घर-आँगन भाँय-भाँय करता हुआ खाने के लिए दौड़ने लगा, जनरव एवं सान्त्वना के शब्द झाँझ की झनकार की भांति मात्र कोलाहल के सदृश व्यर्थ समझ पड़ने लगे, अबोध बाल हृदय में माँ-माँ की अविरत पुकार सुबकियों में अथवा अश्रु-धारा में बहकर भी उसको सान्त्वना प्रदान न कर पायी। संक्षेप में कहने का अभिप्राय बालक जीवन किशोर माता के वियोग में एकबार तो हतप्रभ सा, मुमुर्षु सा, किंकर्तव्यविमूढ सा, उन्मूलितबाल-पादप सा और शून्य सा हो गया। पुत्र की चिन्ताजनक दशा देखकर पूज्य वैद्यजी को अर्धांगिनी का चिरविरह दुख वृश्चिक दंशन की भाँति असह्य हो गया। फिर भी उनकी स्वभावगत दृढ़ता ने उन्हें सँभाला और अपने इकलौते मातृ-वियोग के दुख से दुखी पुत्र को मातृत्व प्रदान करने में संलग्न कर दिया। वह सचेष्ट एवं सतर्क होकर ऐसी व्यवस्था करने लगे कि बालक माता के अभाव का न्यूनातिन्यून अनुभव करे।

मातृ-वियोग के पश्चात् वैद्यजी पूज्य ब्रह्मचारी जी को अधिकतर अपने साथ रखने लगे। वह स्वभाव से ही प्रतिभासम्पन्न थे। वह माताजी की चिरविदा से और अधिक अन्तर्मुखी हो गये। अब सन्ध्या-वंदन और नित्य-कर्म में अधिक समय लगाने लगे और अपनी जागृत होने वाली जिज्ञासाओं को अपने पूज्य पितृपाद के सम्मुख रखने लगे और वह भी अत्यन्त प्रेम के साथ उनका युक्ति-युक्त उत्तर देकर उनकी जिज्ञासाओं को शान्त करने लगे।

एक दिन किसी प्रसंग में उन्होंने अपने वैद्य पिता से पूछा, "पिताजी! मनुष्य में रोग क्यों अधिक होते हैं? उन्हें ही इतने औषधालयों की आवश्यकता पड़ती है? पशु-पक्षी न तो इतने रुग्ण होते हैं और न उन्हें इतनी औषधियों की ही आवश्यकता होती है।"

वैद्यजी ने बड़े स्नेह से उन्हें पास बिठाकर उनके उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया। मनुष्य एवं पशु-पक्षियों की जीवन-पद्धति में यद्यपि एक ही नियम व्यवहृत है, परन्तु उन दोनों में एक महत्वपूर्ण अन्तर भी है। पशु-पक्षी अपनी जीवन-पद्धति में पूर्णतया प्रकृति-तन्त्र के अधीन हैं। वे वही कार्य करते हैं जो प्रकृति उनसे कराती है। प्रकृति ने द्वन्द्व-तितिक्षा की उन्हें मनुष्य की अपेक्षा अधिक सहनशक्ति प्रदान कर दी है। वस्तुतः पशु-पक्षियों का जीवन गीतोक्त यज्ञ-भावना-भावित जीवन है, प्रकृति उनसे यज्ञ कराती रहती है। अतएव प्रकृति अनुकूल जीवन होने के कारण उन्हें रोग-प्रकृति जनक

गुण वैषम्य—नहीं होने पाता है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह कि पशु-पक्षियों का आहार प्रायः घास-पात एवं वनस्पतियों से निवर्तित होता है। इनके भोजन में ऐसी जड़ी-बूटियाँ भी आ जाती हैं जिनका रोग नाशक गुण अत्यन्त अधिक होता है! परिणाम स्वरूप यदि उनमें कभी गुण-वैषम्य का उदय भी होता है तो उनके भोजन-गुणों से वह समाप्त हो जाता है और पशु-पक्षी आदि रुग्ण नहीं हो पाते हैं। किन्तु यदि उनमें कभी रोग उत्पन्न भी हो जाता है तो वह खान-पान छोड़कर निराहार रहने लगते हैं। उनके इस उपवास प्रयोग से प्रकृति उन्हें थोड़े समय में नीरोग कर देती है। इसके विपरीत मनुष्य की जीवन-पद्धति प्रकृति-तन्त्र से मुक्त एवं स्वतन्त्र है। मनुष्य क्या करे और क्या न करे इस विषय में पशु-पक्षियों की की भाँति प्रकृति-परतन्त्र नहीं है। फलतः वह अपनी स्वतन्त्रता की प्रकृति-नियमों को तोड़ने में सफलता एवं सार्थकता समझता है। उसकी अहम्मन्यता की तृप्ति इसीसे होती है। परिणाम स्वरूप उसकी जीवन-पद्धति प्रकृति के विपरीत चलने लगती है। कहना न होगा, प्रारम्भ में तो मनुष्य इसमें गर्व का अनुभव करने लगता है। यदि स्वतन्त्र होकर भी मनुष्य प्रकृति-तन्त्र को ही अपना तन्त्र मानने लगे तो वह सर्वदा स्वस्थ तथा नीरोग रह सकता है। मनुष्य के रुग्ण होने का प्रथम कारण तो उसकी तन्त्रहीन उन्मुक्त जीवन-पद्धति है और दूसरे उसकी भोजन-पद्धति भी पशु-पक्षियों के समान रोगहर न होकर रोगकर ही है। आयुर्वेद मनुष्य को 'मितभुक् एवं हितभुक्' होने का उपदेश देता है किन्तु जिह्वा-लौल्य का दास मनुष्य न तो हितभुक् ही हो सकता है और न मितभुक् ही। परिणामतः रोग उसे घेरने लगते हैं। रुग्ण होने पर भी वह निराहार एवं निर्जला उपवास-पद्धति का पालन कर ही नहीं सकता है। औषधों का प्रयोग भी वह रोग की दृष्टि न करके स्वाद आदि की दृष्टि से करता है।

उपर्युक्त दोनों कारणों के अतिरिक्त तीसरा प्रमुख कारण और है। प्रकृति-परतन्त्र पशु-पक्षी जितेन्द्रिय हैं, वह इन्द्रिय-शैथिल्य अथवा इन्द्रिय-भोग में भी प्रकृतितन्त्र के अधीन हैं। कहने का अभिप्राय प्रकृति उसे जितेन्द्रिय बनाये रहती है। इसके विपरीत मनुष्य सर्वथा इन्द्रियों का दास हो गया है। इन्द्रियाँ उसके वशीभूत नहीं है अपितु वह इन्द्रियों के वशीभूत है वह जितेन्द्रिय नहीं है अपितु इन्द्रियजित है। भारतीय संस्कृति में जितेन्द्रियता का ही अधिक महत्व है। एक नीति-श्लोक में कहा है :—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थात् इन्द्रियों की संयमहीनता आपत्तियों का मार्ग है और उनका संयम सुख-सम्पति का। पशु-पक्षियों में इन्द्रिय-संयम प्रकृति परतन्त्रता के कारण स्वतः ही है, उन्हें उसके लिए प्रयत्न करना नहीं पड़ता। परन्तु मनुष्य को इन्द्रिय-संयम स्वयं करना पड़ता है। हाँ! इतना अवश्य है कि संयम को सुकर बनाने के लिए प्रकृति अथवा विधाता जिसको भी मनुष्य के शरीर का निर्माण करने वाला माना जाय—ने उसके शरीर का संघटन ऐसा किया है कि तनिक सी चेष्टा से अथवा कभी-कभी इच्छा मात्र से ही संयम हो जाता है। संयम की स्थिति सहज बन जाती है। उदाहरण के लिए पातञ्जल-योग के आठ विधानों में प्रत्याहार भी एक प्रमुख विधान है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपनी पाँचो ज्ञानेन्द्रियों से निरन्तर सृष्टि-भोग में संलग्न है तथा निरत है। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तत्तत् विषय का भोग ही आहार है। इसमें सर्वाधिक आहार नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से मनुष्य करता है। 'नाम रूप दुइ ईश उपाधी' के अनुसार सम्पूर्ण संसार नाम रूप में आ जाता है। रूप का आहार नेत्र करते हैं। रूप

का साक्षात्कार नेत्रों के द्वारा ही होता है। नेत्र सबसे अधिक आहार करने वाले हैं। प्रत्याहार शब्द का अर्थ आहार को उगल देना अथवा न करना है। नेत्रों के ऊपर निर्माण करने वाले ने पलक पर्दा डाल दिया है जिसे मात्र इच्छा से गिराया एवं उठाया जा सकता है। उसमें अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। योग का यह प्रत्याहार-विधान मात्र इच्छा से पूरा हो जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में चरित्रवान् शब्द सुनने को कम मिलता है, जितेन्द्रिय अधिक। मनुष्य जितेन्द्रिय होकर—स्वयं का नियमन कर—चराचर जगत् का नियमन कर्त्ता बन सकता है। किन्तु उसका जितेन्द्रिय होना ही सर्वाधिक कठिन है। इन्हीं कारणों से मनुष्य रुग्ण रहता है और पशु-पक्षी नहीं।

पूज्य वैद्यजी के उपर्युक्त कथन का जिज्ञासु बाल-मस्तिष्क पर अमिट प्रभाव पड़ा। अपने पूज्य पिताजी से संयम, जितेन्द्रियता, भोजन-पद्धति आदि के सम्बन्ध में प्रबुद्ध उत्तर सुनकर मन ही मन अपने जीवन को उपर्युक्त उपयुक्त जीवन-सिद्धान्तों में ढालने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्हें अपने पिताजी के उपर्युक्त कथन में अपने लिए प्रच्छन्न उपदेश जान पड़ा। उन्होंने उसके पालन करने के लिए गांठ बांधली।

जप की विधि के सम्बन्ध में पूछने पर आपके दीक्षा-गुरु ने आपको बताया था :—

जपकाले नभाषेत नान्यानि प्रेक्षयेद् बुधः।
न कम्पेत शिरोग्रीवां दन्तान्नैव प्रकाशयेत्।

'जप के समय बुद्धिमान साधक को न तो बात करना चाहिए, न दूसरी वस्तुओं को देखना चाहिए, न शिर एवं ग्रीवा को हिलाना चाहिए और न दाँतों को दीखने देना चाहिए।' नियम स्थूल रूप में मार्ग-दर्शक होते हैं। जब नियम-पालन में भावना का योग हो जाता है, अर्थात् नियम-पालन में जब आनन्द की अनुभूति होने लगती है तो नियम बन्धन नहीं प्रतीत होता। इस प्रकार के नियम-पालन से उद्देश्य-सिद्धि शीघ्र होती है।

अलीगढ़ में भाँकरी के नारायणदत्त महाराजश्री के सहपाठी थे। उनसे ही इनकी अभिन्न मित्रता हो गई जो बाद में प्रगाढ़ होकर भ्रातृत्व में परिवर्तित हो गई और अन्त तक उसी रूप में निभती रही।

महाराजश्री को अपनी प्रथम यज्ञोपवीत-दीक्षा से सन्तुष्टि न हुई अतः उन्होंने खाई डोरा* निवासी गुजराती ब्राह्मण शुक्लजी से पुनः संस्कार कराया। यह शुक्ल परिवार आज भी अपने आचार-विचार एवं कर्म-काण्ड के पालन के लिए प्रसिद्ध है। आगे चलकर इनके पुत्र एवं पौत्रों का नरवर आश्रम से अभिन्न सम्बन्ध बना रहा।† महाराजश्री का पूजा करते हुए लिया गया चित्र हमको इसी परिवार से मिलता है।

उत्तर प्रदेश में संस्कृत अध्ययन के लिए खुर्जा का विशेष नाम रहा है। खुर्जा के श्री नत्थीमल, श्री गोइन्का एवं श्री जटिया परिवारों ने संस्कृत के लिए महान् त्याग का परिचय दिया है। आज भी श्री राधाकृष्ण एवं श्री लक्ष्मणदास संस्कृत महाविद्यालय अपनी पूर्व परम्पराओं का निर्वाह

* खाई डोरा अलीगढ़ का एक मुहल्ला है। जयगंज एवं खाई डोरा समीप-समीप हैं।

† इस ग्रन्थ के सम्पादक डा० गोवरधननाथ शुक्ल महाराजश्री के दीक्षा गुरु के पौत्र हैं।

अक्षुण्ण रूप से करते चले जा रहे हैं। उस समय इन विद्यालयों के कुछ विद्वान् एवं कर्मनिष्ठ अध्यापकों की कीर्ति-कौमुदी दूर-दूर तक फैलकर ज्ञान-पिपासु छात्र-चकोरों को खुर्जा पहुँचने के लिए प्रेरित करती रहती थी।

पूज्य ब्रह्मचारीजी अपने सहपाठी नारायणदत्त के साथ खुर्जा चले गये। पूजनीया माताजी के नामशेष होने के पश्चात् ही उन्हें भोजन बनाने का अवसर आ गया था; किन्तु जब तक अलीगढ़ रहे और अवस्था में पाचन-कार्य योग्य नहीं थे, फलतः पूज्य वैद्यजी अधिकतर भोजन बनाते थे। खुर्जा पहुँचने के समय इनकी अवस्था लगभग ग्यारह वर्ष को थी, अतएव भोजन स्वयं ही बनाना पड़ता था। वह जीवन भर स्वयं ही भोजन बनाते रहे।

ब्राह्मण संस्कृति में भोजन को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। धारणा यह है कि जैसा अन्न खाया जायगा, वैसा ही खानेवाले का मन बनेगा। आयुर्वेदज्ञ एवं वनस्पति-विशेषज्ञों ने सांख्य की गुण-पद्धति पर अन्नको तीन भागों में विभक्त कर दिया है और जो पदार्थ तामस श्रेणी में माने गये, वे ब्राह्मण मात्र के लिए अखाद्य घोषित हो गये। तामस पदार्थों में ब्राह्मण के लिए दो दुर्गुण मुख्य हैं; एक भोजनोपरान्त आलस्यानुभूति और दूसरे इन्द्रियोत्तेजना की अनुभूति। ब्राह्मण के अध्ययन-अध्यापन कार्य की दृष्टि से ये दोनों स्थितियाँ दुर्गुण हैं। जितेन्द्रियता एवं नियम-पालन के मार्ग में ये स्थितियाँ विशेष बाधक हैं।

पदार्थ-विज्ञान में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को अन्नसम्बन्धी उपर्युक्त मन्तव्य में अधिक विश्वास करना चाहिए। आधुनिक पश्चिमी चिकित्सा-पद्धति में पथ्यापथ्य का निरूपण है। भोजन के प्रभाव का हमें अपना व्यक्तिगत अनुभव है। मोतियाबिन्द के आपरेशन के एक महीने के बाद ही हमें अपने एक सम्बन्धी के यहाँ जाना पड़ा। उनके यहाँ संकोच के कारण भोजन में दही एवं लालमिर्च का उपयोग कर लिया। हमने लगभग बारह बजे भोजन किया और तुरन्त घर को चल दिये। सायं चार बजे घर तक आते-आते वह आँख उस भोजन से इतनी प्रभावित हो गई कि लगभग चार दिन असूर्यम्पश्य स्थिति में रह कर तथा औषध प्रयोग करने के पश्चात् ठीक हो सकी।

भोजन में खाद्य पदार्थों के प्रभाव के सम्बन्ध में किसी को विचार करने पर विवाद न होगा; किन्तु भोजन पकाने और खिलाने वाले के प्रभाव के सम्बन्ध में एकमत नहीं होता है। कारण, इनका उस पर मानसिक प्रभाव पड़ता है। पढ़ने-लिखने एवं साधना का जीवन-यापन करने वालों को इस प्रभाव को भी स्वीकारना पड़ेगा।

गोवरधन पीठ पुरी के भूतपूर्व जगद्गुरु शंकराचार्य पूज्य भारतीकृष्णतीर्थ ने प्रसंग चलने पर अपना व्यक्तिगत अनुभव बताकर भोजन बनाने एवं खिलाने वाले के प्रभाव का मानसिक पक्ष स्वीकारा था। यह प्रभाव सूक्ष्म होता है अतः इसकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति को नहीं हो पाती है। आहार-शुद्धि का सम्बन्ध उपर्युक्त दोनों तथ्यों से है। भोजन का स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव पड़ता है। मालवीयजी के साथ तीस दिन के लेखक श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा पूज्य मालवीय जी से उनके स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछे जाने पर उन्होंने बताया था कि उन्होंने पूज्या माता, प्रिय बहिन एवं पत्नी की छोड़कर किसी चौथे के हाथ का बनाया भोजन नहीं खाया है।

ऊपर जिन भोजन की विशेषताओं का उल्लेख हुआ है उनका सर्वाधिक महत्व ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में कार्य करने वालों के लिए, साधना एवं संयम का जीवन व्यतीत करने वालों के लिए, और

मानसिक तथा शारीरिक रोगों से पीड़ित रहने वालों के लिए ही अधिक है। खेद है कि वर्तमान-जीवन पद्धति में सर्वाधिक शिथिलता इसी विषय में आगई है।

पूज्य महाराजश्री प्रारम्भ से ही जिन परिस्थितियों में पल रहे थे, उनमें उन्हें भोजन-विषय में सात्विकता का विचार करने और पकाने की कड़ाई बरतने में ही कल्याण दिखाई पड़ा और उन्होंने भोजन में स्वयंपाकी रहने का जो दृढ़ निश्चय किया, वह निरन्तर अवाधगति से आनन्द के साथ चलता रहा।

संस्कृत पाठशालाओं में प्रायः आज भी स्वयंपाकी भोजन-पद्धति का ही प्रचार है। वहाँ पर सहभोजन का अधिक प्रचार नहीं हो पाया है। महाराजश्री द्वारा स्थापित नरवर आश्रम-व्यवस्था में इसका ध्यान अधिक रहता था।

खुर्जा में उन्होंने पं० हजारीलाल से प्रारम्भिक संस्कृत ग्रन्थों का अध्ययन किया और वहाँ पर लगभग तीन वर्ष रहे। यहाँ से वह अध्ययन करने के लिए ही नैथला ग्राम चले गये। यह ग्राम खुर्जा के समीप ही है।

नैथला में उस समय पं० हरनारायणजी शास्त्री अपनी छोटी संस्कृत-पाठशाला चलाते थे। पंडितजी परम सात्विक, तपस्वी और भोले ब्राह्मण थे। पूज्य ब्रह्मचारीजी उनकी दिनचर्या एवं सात्विक जीवन की कीर्ति सुनकर खुर्जा छोड़कर नैथला चले गये। इस ग्राम में वह लगभग दो वर्ष रहे और परम पूज्य शास्त्रीजी की सात्विक-जीवन-निर्वाह की दृढ़ता को उन्होंने मनसा ग्रहण कर लिया।

(भगवद्भक्त पं० हरनारायण शास्त्री नैथला निवासी की दिन-चर्या)

श्री हरनारायण शास्त्री जी का जन्म मेरठ मण्डल के धनोरा नामक ग्राम में हुआ था। आप जाति के ब्राह्मण थे। विद्याध्ययन आपने पूज्य पं० श्री हरियशराय जी भट्टियाने वालों से किया था। व्याकरण पढ़ने के बाद बड़ी अवस्था में आपका श्री पं० नरायणदत्त जो अग्निहोत्री जी से समागम हुआ। आपने उन पण्डित जी से खुर्जा जिला बुलन्दशहर में जाकर वेद, उपनिषद् आदि ग्रन्थों का वड़े प्रेमपूर्वक अध्ययन किया। यद्यपि पं० श्री नरायणदत्त जी अग्निहोत्री आपसे अवस्था में छोटे थे तथापि उन्होंने सम्यक सेवा करते हुए उनसे विद्या पढ़ी। आप उनके लिए नंगे पैरों ही वन जाकर समिधायें, कुशा आदि शिर पर रख कर लाते थे और प्रति-क्षण तन-मन से गुरू जी की सेवा में लगे रहा करते थे। बाद में आपने श्री विश्वनाथपुरी काशी जाकर गुरु जी की वहां अपूर्व सेवा करते हुए विद्या पढ़ी।

यथासमय आपका विवाह संस्कार हुआ आप अपनी धर्मपत्नी को अपने साथ लेकर धनोरा से जिला बुलन्दशहर के नैथला नामक ग्राम में जो कि ब्राह्मणों की एक बहुत बड़ी अच्छी बस्ती है चले आये और फिर आपने यहीं पर निवास किया। आप अपनी पूज्या माता को भी अपने साथ ही लाये थे। छात्रावस्था से ही आपका भगवद्भक्ति तथा वर्णाश्रम के अनुकूल धर्मानुसार चलने में जीवन काल तक अनुराग रहा। नैथला-ग्राम में आने पर आपने अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। अयाचित रूपेण जो भी किसी से आजाता था उसी से गृहस्थी का पालन करते। सब विद्यार्थी चाहे वे अमीर घर के हों चाहे गरीब घर के हों सब भिक्षा मांगकर ही लाते थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य केवल तीनों वर्णों के छात्र आपके पास पढ़ते थे। अध्ययन का कोई शुल्क नहीं लिया जाता था।

नोटः—पिलखुआ निवासी भक्त रामशरणदासजी ने पूज्य शास्त्री के विषय में स्वयं महाराजश्री से जो कुछ सुना था, वह उन्हींके शब्दों में ऊपर दिया जा रहा है।

पूज्य श्री पण्डित हरनारायण जी शास्त्री की दिन-चर्या प्रातः से लेकर रात्रि-पर्यन्त इस प्रकार थी कि वह ब्राह्म मुहूर्त में उठते, शास्त्र-विधि के अनुसार चाहे कितनी ही गर्मी, वर्षा एवं जाड़ा क्यों न हो बिना जूते पहने हीं शौच जाते। फिर कूप पर आकर अपने हाथ पैर धोकर पांच लोटे से कूप को धोते थे। यदि किसी ने कूप में लोटा डाल रखा हो तो जब तक वह व्यक्ति लोटा न निकाल ले तब तक आप लोटा नहीं डालते थे। दन्तधावन से लेकर स्नानादि की जो विधि शास्त्रों में वर्णित है ठीक आप उसी शास्त्र-विधि का पूर्ण रूप से पालन किया करते थे। स्नान करने के पश्चात् सन्ध्या तर्पण कर जप करते थे। तदनन्तर दिव्य भगवान श्री शालिग्राम महाराज को चांदी के सिंहासन में विराजमान कर विधिवत् अनन्य भाव से गंगाजल, दुग्ध-दही-घृत, पत्र-पुष्प, फलों से पूजन कर साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करते और पुनः १०८ बार परिक्रमा करते हुए विष्णु-सहस्रनाम का पाठ भी करते जाते थे। श्री विष्णुसहस्रनाम का पाठ और परिक्रमा होने पर आप शालिग्राम भगवान के सामने खड़े होकर नृत्य करते हुए कीर्तन करते थे। कीर्तन में तन्मय होकर आपको अपने शरीर की सुध-बुध नहीं रहती थी। घन्टों आप भगवद्भक्ति में लीन हो जाया करते थे।

श्री शास्त्री जी कोई वस्तु चाहे वह कैसी ही हो सबसे पहले उसे अपने ठाकुर जी महाराज के सम्मुख रखते और बिना ठाकुर जी महाराज के भोग लगाये काम में नहीं लाते थे। भोग लगाने पर ही अपने उपभोग में लाते थे।

जब आप कहीं मार्ग में जाते थे तो मार्ग में देवमूर्ति गो-ब्राह्मण, पीपल, तुलसी, मन्दिर कोई भी दैवी सम्पत्ति पड़े तो उसे सीधी ओर से लेते थे चाहे आपको इसके लिए कितना ही चलने में कष्ट तथा फेर क्यों न हों। आप इसकी चिन्ता नहीं करते थे। अपने नियम का पालन करते थे सबको हाथ जोड़ कर प्रणाम करते थे।

आप अपने छात्रों पर कभी क्रोध नहीं करते थे। क्रोध करना तो जानते ही नहीं थे। छात्रों को दण्ड देने की आपकी ऐसी प्रक्रिया थी कि यदि कोई भी विद्यार्थी दिन में पढ़ने के बजाय पढ़ने के समय में आलस्यवश सो जाता था तो आप उसे जगाते नहीं थे। बल्कि यदि गर्मी के दिन होते थे तो आप अपने हाथ में पंखा लेकर उसकी हवा करते और यदि जाड़े के दिन होते थे तो आप उन्हें चुप-चाप कपड़ा उढ़ा देते थे। उसे जगाते नहीं थे। जब विद्यार्थी सो कर जागता था और गुरू जी को अपने हाथों पंखा करता देखता था तो वह विद्यार्थी लज्जित होता था और फिर कभी भी असमय पर नहीं सोता था। आप दया की तो साक्षात् मूर्ति थे। यदि कोई छात्र अपना जूठा बर्तन नहीं माँजता तो आप स्वयं उस जूठे बर्तन को अपने हाथ से माँज देते थे। विद्यार्थी को मालूम होने पर फिर वह ऐसी भूल कभी नहीं करता था। बस यही आपका दण्ड था।

आप बाजार की बनाई हुई कोई भी वस्तु नहीं खाते थे। स्वयं अपने हाथों से बनाते थे। जिन पात्रों में ठाकुर जी महाराज को भोग बनता था उन पवित्र पात्रों में आप कभी भी भोजन नहीं करते थे। आप सदा पत्तल में भोजन किया करते थे। श्री ठाकुर जी महाराज का भोग लगाकर ही आप और आपकी धर्मपत्नी भगवत्प्रसाद ग्रहण किया करते थे। जिस दिन आप कभी श्राद्ध किया करते थे उस दिन अपने हाथों से सुस्वादु सुपाच्य भोजन बनाते थे जैसा कि शास्त्रों में विधान है। उनका ऐसा सिद्धान्त था कि पूज्य भूदेव ब्राह्मणों को श्राद्ध में ऐसा भोजन कराना चाहिए कि जिसमें घृत टपकता रहे। भोजन कराने से पूर्व आप सब ब्राह्मणों के चरण अपने हाथों से धोते थे

और उस चरणोदक से अपने शरीर का मार्जन करते थे। उन ब्राह्मणों के सामने पृथ्वी पर लोट जाते थे, उन से कहते थे कि महाराज आप पूज्य हैं, ब्राह्मण हैं, मेरे शरीर पर चलकर निकलो, मुझे पवित्र करो। ब्राह्मणों में वहुत से उन के शिष्य ब्राह्मणों के लड़के भी होते थे। परन्तु शिष्य होने परभी गुरु की आज्ञा होने से वे भी लाचार होकर आपके शरीर पर होकर विवस से निकलते थे। शास्त्री जी ब्राह्मणों को बड़े प्रेम-भक्ति पूर्वक भोजन कराकर प्रसन्न करते ऐसी अलौकिक दिव्यब्राह्मण-भक्ति देखकर लोग आश्चर्य-चकित हो जाते थे। आपके सभी कार्य अद्भुत थे। आप अपनी पूज्या माता जी के भी बड़े ही अनन्य भक्त थे। एक बार आपकी पूज्या माता जी रुग्णा हो गयी तो जब माता जी थूकती थी तो आप पूज्या माता जी को थूकने के लिए उठने में कष्ट न हो इसलिए उनका थूक अपने हाथों में ले लेते थे। यद्यपि पूज्या माता जी ऐसा करने को आप से बहुत निषेध करती थी लेकिन आप नहीं मानते थे, कहते थे माता जी यह मेरे हाथ कैसे पवित्र होंगे। तुमने भी तो हमारे बहुत मल-मूत्र उठाये हैं।

गुरु-भक्ति भी आपकी बड़ी अद्भुत थी। अधिकतर आप किसी भी सवारी में नहीं बैठा करते थे। आप जहाँ कहीं भी जाया करते थे, आप वहाँ पैदल ही जाया करते थे। केवल साल भर में एक दिन श्री पूर्णिमा के शुभअवसर पर अपने विद्यार्थियों के बहुत अनुरोध करने पर अपने शिष्यों द्वारा अपना पूजन हो जाने पर शीघ्र ही सवारी में बैठकर हाथरस पहुँचते। वहां विधि-विधान से अपने गुरुजी का पूजन करते और तदुपरान्त हो जलपान आदि करते। पूजन से पूर्व कुछ नहीं खाते थे। यदि कभी आपके पूज्य गुरु जी आपके गाँव आते तो आप भागते हुए उनके पास पहुँचते। यदि शास्त्री जी को गुरु जी का आने का मार्ग मालूम होता तो आप पैदल ही ४ मील तक गुरु जी को मार्ग में लेने के लिए जाते थे। अपने कन्धे पर बैठाकर गुरु जी का शास्त्र-विधि से पूजन कर प्रसन्न और गद्गद हो जाते थे।

आप दानी भी अद्भुत विलक्षण थे। शायद आपके समान उस समय दूसरा कोई दानी न था। आपने कई बार ऐसा किया कि आपके पास जो कुछ भी पुस्तकें, वस्त्र आदि थे, सब ब्राह्मणों को दान में दे दिया। केवल मिट्टी के पात्रों में ही निर्वाह करने लगे। कुछ दिन बाद पुनः वस्त्र, बर्तन, पुस्तकों के एकत्रित होने पर द्वितीय बार भी सब ब्राह्मणों को दे दिया। इस प्रकार आप जाति के ब्राह्मण होने पर भी ब्राह्मणों में आपकी अपूर्व भक्ति थी।

पतितपावनी कलिमल-हारिणी भगवती भागीरथी गंगाजी महारानी में आपकी विलक्षण भक्ति थी। आप जब कभी गंगाजी को जाते थे ,तो पहले अपने प्राणप्रिय श्रीठाकुर जी महाराज श्री शालिग्राम भगवान को चाँदी की डिबिया में बैठाकर, उस डिबिया को गले से बांधते थे और भोजन बनाने के लिए कुछ पात्र तथा वस्त्र अपने सिर पर बांध कर रखते थे, हाथ में लोटा लेकर नैथला से पै.ल २० कोस गंगाजी जाते थे। श्री गंगाजी पर पहुंच कर बड़ी श्रद्धा-भक्ति से उनको साष्टाङ्ग प्रणाम करते। उसके बाद विधिवत् श्री गंगाजी का पूजन करते उनको अपनी पूज्या जननी मानकर प्रेमपूर्वक भक्ति में विभोर होकर न जाने गुनगुनाते हुए उनसे क्या क्या कहा करते थे।

शास्त्री जी की उपदेश देने की भी अद्भुत शैली थी। आपका नियम था कि आप सभाओं में उपदेश देने नहीं जाते थे। वह सोचते थे कि कहीं भाषण करने में मेरे द्वारा किसी का अपमान न हो

जाय। अतः आप सभाओं में नहीं जाते थे। यदि किसान आपके पास आता तो उसे बड़े प्रेम समादर पूर्वक अपने पास बैठाते थे, पुनः उसे सुमधुर शब्दों में कहते थे कि भाई कूप पर अपने हाथों से डोर बट कर डाल दिया करो। कोई स्नान कर भजन करेगा, सन्ध्या-तर्पण कर सूर्य भगवान को जल देगा, तो उसका पुण्य तुमको भी मिलेगा। ऐसा कहने पर आप उसको छिपकर देखते थे वह मेरे कथनानुसार चला या नहीं। यदि वह व्यक्ति आपकी आज्ञा का पालन करता तो आप उसे दूसरे सत्कर्म करने की बतलाते थे। यदि वह नहीं करता तो आप भी उसकी उपेक्षा कर देते थे। फिर कुछ भी नहीं बतलाते थे। आपकी कृपा से कई बाल-विधवायें तपस्विनी हो गई थीं तथा च उनकी चेष्टाओं पर अबला का भाव मालूम नहीं होता था। आप विधवाओं को व्रत रखने, धरती में शयन करने, श्री रामनाम जपने आदि का उपदेश देते थे।

एक बार की बात है कि शास्त्री जी के प्राण-प्रिय भगवान श्री शालिग्राम महाराज को चूहे लेगये। आपने उनके वियोग में दो-तीन दिन तक कुछ भी नहीं खाया और यह प्रतिज्ञा की कि जब तक प्राणप्रिय भगवान शालिग्राम मुझे नहीं मिलेंगे तब तक मैं कुछ न खाऊँगा, न कुछ पीऊँगा। तदनन्तर कई दिन बाद स्वयं शालिग्राम भगवान पूर्व स्थान पर ही प्राप्त हो गये। आपने उनका विधिवत् पूजन कर भोग लगा कर स्वयं प्रसाद ग्रहण किया।

एक बार आप हरिद्वार में ठहरे हुए थे। उन्ही दिनों आपके पास डासनेवाले परम पूज्य प्रातः-स्मरणीय छत्रपति श्री श्रीधर जी महाराज भी ठहरे हुए थे। उस समय कोई एक बहुत बड़ा धनिक भक्त आपके पास आया और चलती बार आपके पास १००) सौ रुपये के नोट रख कर चला गया। आप जानते ही नहीं थे कि यह सौ रूपये के नोट हैं। मालूम होने पर कि यह सौ रुपये के नोट है आप नोट लेकर पं० श्री धरजी महाराज के पास गये और उनके चरणों में रखकर लौट गये। पूज्य पं० श्रीधर जी यह देखकर चकित होगये और कहने लगे कि हमने अपने जीवन में ऐसे परमत्यागी कर्मनिष्ठ ब्राह्मण नहीं देखे। आप तो त्याग की साक्षात् मूर्ति हैं।

आप उच्चासन पर बैठना स्वीकार नहीं करते थे, न कभी वह पर्यङ्क में ही शयन करते थे, न आपने कभी सिला हुआ बस्त्र ही पहना, सदा बिना सिला हुआ ही वस्त्र आप पहनते थे। एक बार एक सज्जन आपके पहनने के लिए एक ऊन की बड़ी सुन्दर बगलबण्डी सिलवा कर लाये। लाकर शास्त्री जी के सम्मुख रखदी। आपने उसी समय पास में बैठे हुए ब्राह्मण को देदी।

आप बहुत चमकीला वस्त्र कभी नहीं पहनते। जो व्यक्ति आपके पास बैठा करते थे उनको भी चमकीले वस्त्र पहनने को निषेध करते थे। अपना कार्य स्वयं किया करते थे। यदि किसी विशेष श्रद्धालु विद्यार्थी के विशेष आग्रह से कोई कार्य करवा भी लिया तो उसे रोटी बना कर अथवा अन्य कोई उसका कार्य अवश्य कर देते थे। जैसे ब्राह्मण ग्रन्थों में लिखा है शास्त्री जी की दिनचर्या ठीक उसी प्रकार थी।

शास्त्री जी द्रव्य का कभी भी स्पर्श नहीं करते थे। यदि कोई बड़ी श्रद्धा से यह कह कर कि यह आपके श्री ठाकुर जी महराज के लिए है, मना करने पर भी रख जाता था तो आप उन रुपयों को विद्यार्थी को दे देते थे। वही घर में जिस वस्तु की आवश्कता होती थी लाकर दे दिया करते थे। आप उनसे कोई हिसाब नहीं लेते थे, न पूछते ही थे।

आपका एक यह भी नियम था कि यदि आपको जल डालना होता तो वह उस जल को पेड़ या हरी घास में डालते थे जिस से जल का उपयोग ठीक हो सके। दूसरों को भी इसी प्रकार करने को कहते थे। शास्त्री जी साधु, सन्त, महात्माओं के भी अनन्य भक्त थे। यदि कोई महात्मा आपको मिलने आता तो आप उन महात्मा का विधिपूर्वक सत्कार कर भोजन प्रेम से कराते थे।

कुछ काल व्यतीत होने पर आपकी पूज्या माता जी रुग्णा हो गयी। आपने उनका अन्तिम समय जानकर उनको काशी ले जाना उचित समझा। तब आप अपनी धर्मपत्नी को साथ लेकर काशी चले गये। काशी जानेपर आपकी माताजी तो ठीक हो गयी लेकिन आपकी धर्मपत्नी का शरीरान्त हो गया। आपने अपनी धर्मपत्नी का अन्तिम संस्कार काशीमें ही किया। बाद में माताजी को लेकर लौट आये। धर्मपत्नी के मरने के बाद आप वानप्रस्थ आश्रम में रहकर कठिन से कठिन चान्द्रयण, प्राजापत्य व्रत करने लगे। आप एकादशी का व्रत इस प्रकार करते थे कि दशमी को एक बार हविष्य स्वल्पाहार कर एकादशी को निराहार और रात्रि को जागरण फिर द्वादशी को ब्राह्मणों को विधिवत् भोजन करा कर तदनन्तर आप स्वयं भोजन करते। यह नियम भी आपका जीवन पर्यन्त चला।

कुछ दिनों बाद आप नैथला से अनूपशहर आगये और वहीं पर रहने लगे। उस काल में आपका एक छात्र नरवर साङ्ग-वेद महाविद्यालय पहुंचा। उस विद्यार्थी से पण्डितजी का समाचार सुन कर श्री महाराजजी को बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई। पुनः श्री पूज्य ब्रह्मचारीजी श्री शास्त्रीजी महाराज को लेने के लिए अनूपशहर गये और शास्त्री जी से नरवर चलने की प्रार्थना की। पण्डित जी ने कहा कि सम्प्रति तो नहीं किन्तु अवश्य आपके यहां आऊँगा। तदनन्तर महाराजजी आप से वचन लेकर लौट आये।

पुनः अपने वचनों का पालन करते हुए श्री शास्त्री जी नरवर आये और वहां रहने लगे। उस काल में श्री महाराज जी ने भी पण्डित जी से शिक्षा ली तथा कुछ ग्रन्थ भी पढ़े। बाद में पण्डित जी ऋषीकेश गये। वहां से पैदल चारों धामों की यात्रा कर लौटकर ऋषीकेश आकर दुग्धाहार कर आतुर संन्यास लिया। तदनन्तर यशःशरीर यहीं छोड़कर स्वर्गलोक को चले गये।

विपद्घनध्वान्तसहस्रभानवः
समीहितार्थार्पणकामधेनवः
अपारसंसारसमुद्रसेतवः
पुनन्तु माम् ब्राह्मणपादरेणवः

विपद् रूपी अंधकार को ध्वंस करने में हजार सूर्य के बराबर, मनोवांछित फल के लिए कामधेनु के समान संसार रूपी अपार समुद्र से पार होने के लिये पुल सदृश, ब्राह्मण की चरण-रज मुझको पवित्र करे। यहीं तक नहीं भगवान् श्री कृष्ण ने तो अपने श्रीमुख से कहा है:

अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः

ब्राह्मण विद्वान् हो अथवा अविद्वान् हो वह मेरा ही शरीर है। पूज्य ब्राह्मणों की महिमा विलक्षण ही नहीं, अपार है। यदि ब्राह्मण विद्वान्, त्यागी, तपस्वी भगवद्भक्ति में लीन रहता हो तो उसके सम्बन्ध में कहना ही क्या है? दर्शन करने मात्र से मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। लिखा भी है—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा पुण्यवती च तेन ।
अपारसच्चित्सुखसाग रेऽस्मिन् लग्नं परब्रह्मणि यस्य चेतः ।।

यहाँ यह कह देना प्रासंगिक एवं संगत है कि आदरणीय पं० हरनारायणजी शास्त्री जैसे नियमनिष्ठ, भक्त, श्रद्धालु, सरल, एवं साधक व्यक्ति का नियम और साधना का संवल बनाकर चलने वाले छात्र पर गहरा प्रभाव पड़ा । यही कारण है कि पूज्य महाराजश्री उपर्युक्त शास्त्री जी को आर्द्र श्रद्धा के साथ स्मरण किया करते थे ।

उत्तरी भारत में संस्कृत विद्या के अध्ययन के लिए वाराणसी एवं जयपुर की अधिक प्रसिद्धि है । ये दोनों ही अमरवाणी के अध्ययन के प्रतिष्ठित केन्द्र माने जाते हैं । इनमें भी काशी का उच्चतम स्थान है । फलतः संस्कृत भाषा, और उसके माध्यम से प्राचीन भारत के अमर वाङ्मय तथा आर्षग्रन्थों के अध्ययन की इच्छा रखने वाले विद्यार्थी के हृदय में काशी जाकर पढ़ने की उत्कण्ठा स्वाभाविक ही मानी जानी चाहिए । काशी में सभी विषयों के धुरन्धर विद्वान् प्रायः मिलते हैं । आज भी जब चतुर्दिग् विद्या और पाण्डित्य का ह्रास दिखाई पड़ता है काशी में उच्चकोटि के विद्वानों का अभाव नहीं है । साथ ही यह विश्वनाथ की नगरी है जो पतित-पावनी जाह्नवी के तटस्था होने से धर्म और पुण्य का पवित्र क्षेत्र बन गई है । इस नगरी में निवास करने वाले आत्माराम मनीषी चना-चबैना और गंगाजल की पूर्ति मात्र पर काशी को स्वर्ग के लिए भी त्यागने के लिए प्रस्तुत नहीं होते हैं । पूज्य ब्रह्मचारी जी की अवस्था लगभग पन्द्रह वर्ष की हो गई थी । उनके हृदय में देववाणी के अध्ययन की अतृप्त भावना के अंकुर उत्पन्न हो ही गये थे । अतएव दोनों मित्रों— पं० नारायणदत्त एवं पूज्य ब्रह्मचारी जी— ने काशी पहुँचकर वहाँ के प्रसिद्ध पंडितो से ज्ञानार्जन करने का निश्चय कर काशी के लिए प्रस्थान किया ।

किन्तु काशी में वह अधिक दिन न ठहर सके । महाराजश्री को काशीवाले पण्डित-विद्वानों का सिद्धान्तेतर वैमत्य अहितकर होने से रुचिकर प्रतीत न हुआ ।

काशी में रहकर उनका अध्ययन नियति को स्वीकार्य नहीं था । वस्तुतः काशी के अनृणी रहकर भी उनके द्वारा भविष्य में ऐसे आश्रम की स्थापना होना थी जहाँ के अधीत विद्वान काशी में सम्मानार्थ हों । वह काशी में केवल दो महीने ही ठहरे और उसके पश्चात् जन्म-स्थान की ओर लौट पड़े ।

संस्कृत के छात्र कष्ट-सहिष्णु होते हैं । ब्रह्मचर्य-जीवन ही तपःकाल है । भारतीय परम्परा के अनुसार इस आश्रम में ब्रह्मचारी को तपोभावना के कारण कष्टों को मित्र मानना चाहिए । जो व्यक्ति इस जीवन में तप लेता है उसका शेष जीवन सुखी और समृद्ध होता है । दोनों ही साथी काशी का मोह त्याग कर पैदल ही घर की ओर चल पड़े । कहा जाता है कि प्रयाग तक वह पर्यटन अथवा देशाटन का आनन्द लेते, राजशेखर की काव्यमीमांसा के काव्यपुरुष की भाँति स्थान-स्थान का अवलोकन करते प्रयाग आ गये ।

भारतवर्ष विशेषतः उत्तरी भारत में जहाँ दो नदियों का संगम होता है, वहीं प्रयाग है । विष्णु प्रयाग, रुद्र प्रयाग, कर्ण प्रयाग, आदि इसके उदाहरण हैं । किन्तु इस प्रयाग में विशेषता है अन्यत्र द्विवेणी है और यहाँ त्रिवेणी । इसीलिए यह तीर्थराज है । तीर्थराज में त्रिवेणी का स्नान अक्षय पुण्यप्रदायक है । त्रिवेणी अवगाहन के पश्चात् आंजनेय मारुति का दर्शन निदाध के उष्ण संताप से

संतप्त प्राणी को चन्दन-सरोवर के स्थान के सदृश संतर्पणकारी होता है। विन्दुमाधव का दर्शन भी पापौघ को समाप्त करने में सक्षम है। शुद्ध तीर्थ भावना से स्नान-दर्शन से निवृत होकर वह कतिपय दिवसों में इटावा आ गये।

इटावा उस समय संस्कृत के अध्ययन के लिए दो दृष्टियों से महत्वपूर्ण था, प्रथम परम पूज्य सिद्धनाथ जी महाराज के द्वारा स्थापित विश्वविख्यात प्राच्यपुस्तकालय के कारण और दूसरे वेद के पारंगत विद्वान पं० भीमसेनजी के उपस्थिति से। यहाँ एक विशेषता और है जिसका श्रद्धालुओं पर विशेष प्रभाव है। यह नगर यमुना के किनारे पर स्थित है। यहाँ यमुना चतुर्दिक् वाहिनी है। इसके प्रवाह का प्रायः वृत्त सा बन जाता है। इस वृत्त के भीतर की भूमि सिद्ध-भूमि मानी जाती है।

काशी से लौट कर इटावा पहुँचने पर महाराजश्री के पवित्र हृदय में सनाढ्य-कुल-भूषण वेद-व्याख्याता पं० भीमसेन जी से वेद एवं अन्य आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन का संकल्प उदय हुआ। 'संतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः-करण प्रवृत्तयः, संदेहशील कार्यों में सज्जनों की अन्तःकरण प्रवृत्ति ही प्रमाण होती है। उन्होंने अपने सत्संकल्प के अनुसार इटावा रहकर पण्डित् शिरोमणि वेदव्याख्याता के अन्तेवासी होकर अध्ययन करने का निश्चय कर लिया।

उस समय स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य-समाज की पताका फहराते हुए आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन का प्रचार कर रहे थे। उनका सर्वाधिक बल वेदाध्ययन पर था। कुछ दिन पं० भीमसेन जी स्वामी जी के अनुकूल रहे और पूर्वोत्तर भारत में वेदज्ञान का डंका बजाया। स्वयं स्वामी जी भी पूज्य पंडित जी का उनके वेदज्ञान के कारण अत्यधिक सम्मान करते थे। वेदज्ञान में वह उस समय गुरु वृहस्पति माने जाते थे। यहाँ तक विश्वनाथ की नगरी भी उनको सम्मान की दृष्टि से देखती थी। उनकी इसी दिगन्तव्यापिनी वेदज्ञान-सम्बन्धिनी कीर्ति के कारण ही उनसे कलकत्ता विश्वविद्यालय के वेद विभाग के अध्यक्ष पद को अलंकृत करने के लिए प्रार्थना की गई। पहले तो वह वहाँ जाने को प्रस्तुत न हुए परन्तु विश्वविद्यालय के अधिकारियों के विशेष आग्रह पर वह कलकत्ता गये और पांच वर्ष के लगभग वह उस विशाल नगरी में रहे। वह कई भाषाओं के ज्ञाता थे।

सर्व प्रथम परम पूज्य पंडितजी ने अपने आगन्तुक शिष्य से उसका पारिबारिक परिचय आदि पूछा। संस्कृत भाषा और उसकी विद्या अज्ञात-कुलशील को नहीं दी जाती। गुरु शिष्य को अंगीकार करने से पूर्व उसके रक्त एवं उसकी अर्हताओं को जानना आवश्यक मानते हैं। ज्ञान के भाण्डार की कुंजी ऐसे ही व्यक्ति को सौंपी जा सकती है जो ज्ञान के निरुपयोग अथवा दुरुपयोग से ज्ञान प्रदाता गुरु को लज्जित न करे। पूज्य महाराजश्री ने पूज्य पंडितजी को अपना विस्तृत परिचय दिया। उनके परिचय से पूज्य पंडितजी को हार्दिक प्रसन्नता हुई।

ज्ञानयज्ञ प्रारम्भ हो गया। अध्ययन अनवरत चलने लगा। पूज्य ब्रह्मचारीजी तथा अन्य विद्यार्थियों के साथ पूज्य पण्डितजी अहर्निशि संस्कृत भाषा में ही वार्तालाप करते थे। ग्रन्थों का अध्ययन तो देववाणी के माध्यम से होता ही था, किन्तु शेष दैनंदिन वार्तालाप भी अखण्ड रूप से संस्कृत में ही होता था। पाक्षिक अथवा मासिक अधिवेशनों में शास्त्रार्थ कराये जाते थे। ये शास्त्रार्थ दो दृष्टियों से किये जाते थे :—एक शास्त्र का अर्थ निश्चय करने के लिए और दूसरे अन्य धर्मों का तुलनात्मक ज्ञान कराने के लिए।

पूज्य ब्रह्मचारीजी जिस समय इटावा पहुँचे थे उस समय लगभग पन्द्रह वर्ष के थे। वह इटावा में लगभग पाँच वर्ष रहे। इतने लम्बे समय तक वह अभी कहीं अन्यत्र नहीं रुके थे। अपने वेद बृहस्पति गुरु के ज्ञान, प्रेम, सारल्य आदि के कारण ही वह इटावा में रुके रहे।

इस समय वह किशोर-जीवन के वसंत में पदार्पण कर चुके थे। मनुष्य की शतवर्षीय आयु में किशोर वय ही उत्कृष्ट एवं अनुपम वय है। बाल्यावस्था में विवेक का पूर्ण विकास नहीं होता है। प्रौढ़ावस्था एवं वार्धक्य में भावुकता की सरस्वती सूख जाती है। युवावस्था लौकिक बोझ से बोझिल बनी रहती है। किशोर-वय इन सब से अनूठी, अप्रतिम एवं अनुपम वय है। यही कारण है कि राम, कृष्ण एवं शिव आदि देवताओं के चित्र इसी वय के चित्र हैं। इस वय में विवेक भी पूर्णतया प्रस्फुटित हो जाता है, भावुकता पयस्विनी आकूलप्रवाहिनी रहती है, उत्साह का अदम्य विन्ध्याचल सूर्य-चन्द्र के रथ को रोकने के लिए प्रस्तुत रहता है, शारीरिक शक्ति का स्रोत सृष्टि में असंभव को अस्वीकृति देता रहता है, एवं आदर्श को सृष्टि पर उतार कर सर्व-जन सुलभ बनाने की उत्कट भावना निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। जो किशोर वय अखण्ड ब्रह्मचर्य से उल्लसित हो, जिसका विवेक गायत्री के अनवरत जप से उज्वल हो गया हो, और शुद्धाहार एवं नित्य नियम के पालन से जिसका आकर्षण चुम्बकीय हो उठा हो उस किशोर-जीवन में विद्यमान पूज्य जीवन किशोर के भव्य व्यक्तित्व का अनुमान लगाना सहज है।

पूज्य ब्रह्मचारीजी अपने नियम पालन में कितने दृढ़ थे इसका परिचय एक घटना से मिलेगा। उन्होंने पहले ही निश्चय कर लिया था कि वह बिना सिले वस्त्र पहनेंगे। कारण भारतीय संस्कृति, भारतीय वातावरण, भारतीय जलवायु के अनुकूल ऐसे ही वस्त्र हैं। आज के इस आडम्बर एवं कृत्रिमता-प्रिय युग में लोग मोजे पहनते हैं और उनके ऊपर फीतेदार जूते। उनका यह परिधान उनकी नयन-ज्योति को क्षीण करता है; किन्तु अज्ञान में डूबे वे उसे छोड़ते नहीं है। न जाने भारतीयों को अपनी वेष-भूषा की वैज्ञानिकता का बोध कब होगा?

आप नियम की ही दृढ़ता के प्रत्येक प्रकार की दृढ़ता के साक्षात् मूर्त स्वरूप ही थे। उनके नियम में परिवर्तन होते आजन्म नहीं देखा गया। शैशव से ही उनमें जो अपने विचारों की दृढ़ता थी उसका एक उदाहरण निम्न है—

आपका आजन्म यह दृढ़ निश्चय रहा कि स्वदेश की उन्नति को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिये चार स्तम्भ अत्यावश्यक हैं, यथा स्वदेशानुकूल वेष, भाषा, आहार, आचार। वेष अपने देश के अनुकूल होना आवश्यक है, भाषा भी उसी देश के अनुकूल हो। आहार और आचार भी देश के अनुकूल ही हों। हमारे उपनयनादि संस्कार बताते हैं कि इस देश का वेष बिना सिला वस्त्र पहनने का है, भाषा संस्कृत, आहार शाक है, आचार श्रुति-स्मृति-बोधित है।

इस विषय में भी श्री कुलपति जो की परीक्षा उस समय हुई जबकि इटावा संस्कृत पाठशाला में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। वहाँ के नियम से प्रत्येक रविवार को पाठशाला में छात्र-सभा होती थी। उस समय में पाठशाला के प्रधान मंत्री, सदस्य सभी उपस्थित होते थे। एक समय श्री कुलपति कटिवस्त्र पहने और उत्तरीय ओढ़े हुए सभा में उपस्थित हुए। मंत्री महोदय ने कहा कि नंगे सिर सभा में आना, क्या यह भी सभ्यता है। सभा में पूर्ण वस्त्र धारण कर आना चाहिये। दृढ़

प्रतिज्ञ भी कुलपति जी ने सभा में आना बन्द कर दिया ; क्योंकि श्री कुलपति जी के हृदय में इस अनुचित बन्धन को मानने का अवकाश न था।

एक दिन मंत्री महोदय ने प्रश्न किया कि वह छात्र सभा में नहीं दृष्टि आता है। उनके सहाध्यायी श्री जीवाराम ने उत्तर दिया कि 'उनका नियम बिना सिला वस्त्र पहनने का है, सभा का नियम भंग न हो इस कारण वह नहीं आते'। मंत्री महोदय ने आग्रहपूर्वक उनको बुलवाया। आने पर वेष भूषा आदि पर उनका एक व्याख्यान हुआ जिससे प्रभावित होकर मंत्री महोदय को अपने व्याख्यान में वाध्य होकर यह कहना पड़ा कि सभा में सभी छात्र इसी वेष में आया करें। वह आपकी नियम-दृढ़ता की छात्रावस्था में पूर्ण विजय थी।

जहाँ जितने दिन का अन्नजल होता है वहाँ उतने दिन से अधिक रह ही कौन सकता है। बीस वर्षीय ब्रह्मचारी जी पाँच वर्ष के इटावा अध्ययन के पश्चात घर वापस लौट आये। यद्यपि विवाह के योग्य हो गये थे, किन्तु पूज्य वैद्यजी स्वामी दयानन्द जी को दिये गये वचन के अनुसार पच्चीस वर्ष की अवस्था से पूर्व विवाह का प्रसंग चला ही नहीं सकते थे। पूज्य ब्रह्मचारीजी इस दृष्टि से दृढ़-प्रतिज्ञ पिताजी की ओर से पूर्ण निश्चिन्त थे। निरन्तर ज्ञानार्जन चल रहा था। फिर हृदय में अभी तक ज्ञानार्जन-लालसा पूर्ण बलवती थी। अतः पुनः अपने पूज्य पिताजी से अनुमति लेकर ऋषिकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के लिए चल दिये।

ज्वालापुर हरद्वार के समीप उससे दो मील नीचे पतितपावनी, पुण्यतोया भगवती भागीरथी के उसी किनारे पर है जिस पर हरद्वार है। कनखल और ज्वालापुर एक दूसरे के समीप हैं। यहाँ पर आर्य-समाज के प्रारम्भिक कर्णधारों द्वारा संस्थापित ऋषिकुल महाविद्यालय था। संस्कृत के अध्ययन एवं अध्यापन की दृष्टि से इस महाविद्यालय का उत्तर भारत में महत्वपूर्ण स्थान है। काशी एवं जयपुर के संस्कृत विद्वान भी इस महाविद्यालय को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। स्थान की पवित्रता की दृष्टि से ज्वालापुर काशी के समान ही है। संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान श्रीनरदेव शास्त्री यहीं पर आपके साथी हुए, जिन्होंने अपनी आत्मकथा में महाराजश्री को अत्यन्त आदर एवं श्रद्धा के साथ स्मरण किया है। उन्होंने महाराजश्री के सम्बन्ध में लिखा है, "अपनी गाथा में मैं सहाध्यायी का उल्लेख न करूँ तो दोष का भागी बनूंगा। आप मेरे सहाध्यायी सन् १८६८ से १६०३ तक रहे हैं। हम दोनों ने पं० गंगादत्त जी शास्त्री के पास नवाह्निक महाभाष्य पढ़ा था।" उनके कथन का उल्लेख पीछे किया जा चुका है। साथ-साथ इस समय ज्वालापुर विद्यालय में षड्दर्शनाचार्य संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् महामहोपाध्याय काशीनाथजी भी विद्यमान थे। ज्वालापुर विद्यालय में महाराजश्री लगभग पाँच वर्ष रहे यद्यपि वह इधर-उधर भी आते-जाते रहे।

पं० गंगादत्तजी शास्त्री अपने समय के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वह नरवर के समीप बेलौन कस्बे के रहने वाले थे। ज्वालापुर विद्यालय से कार्य-भार मुक्त होने पर उन्होंने सन्यास लिया और शुद्ध-बोध तीर्थ नाम से प्रसिद्ध हुए। शास्त्रीजी का सामयिक विद्वत्समाज में विशेष आदर था। इनके व्यक्तित्व का भी परमपूज्य महाराजश्री पर गहरा प्रभाव पड़ा। वह प्रसंग आने पर शास्त्रीजी का कृतज्ञतापूर्ण कण्ठ से स्मरण करते थे।

महाराजश्री अध्ययन के प्रसंग से ज्वालापुर में लगभग पांच वर्ष तक रहे। उसके पश्चात् अध्ययन समाप्त कर घर लौटने की उनकी इच्छा हुई। वह अपने पूज्य पिताजी के पास मखैना वापस आ गये।

कुछ सूत्रज्ञों का कथन है कि महाराजश्री ज्वालापुर से अलीगढ़ वापस आये। किन्तु श्री वैद्यजी इस समय मखैना में ठा० गोपालसिंह के यहाँ रहते थे अतः निश्चित सम्भावना यही है कि वह मखैना आये।

इस समय वह २५ वर्ष की अवस्था को प्राप्त कर चुके थे। समीप के ब्राह्मण वर्ग में अनेक लोगों का अपनी कन्याओं की उनके साथ शादी करने का विचार स्वाभाविक ही था। प्रायः उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक पहुँच चुकी थी।

सम्पन्न गृह, प्रतिष्ठित वंश, सुन्दर स्वस्थ सदाचारी एवं विद्वान बालक के लिये विवाह की कमी न थी, अतः अनेक कन्याओं के पिता विवाह के निमित्त श्री वैद्यजी की सेवा में आने लगे। श्री स्वामीजी के सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा—आर्ष ग्रन्थ पढ़ाना और २५ वर्ष की आयु पर्यन्त विवाह न करना—को पूर्ण हुई देख और शिष्ट कुलीन अनेक सम्बन्धी, मित्रों एवं परिचितों का आग्रह देखकर श्री वैद्यजी के हृदय में भी आपका विवाह करने का विचार उत्पन्न हो गया, किन्तु 'यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति' यच्चेतसा न गणितं तदिहाभ्युपैति' अर्थात् जो सोचते हैं वह दूरतर होजाता है और जिसका चित्त में विचार भी नहीं वह आकर उपस्थित हो जाता है; अथवा 'मेरे मन कछु और है कर्ता के कछु और' के अनुसार जगन्नियन्ता को तो आपके द्वारा और महत्वपूर्ण कार्य कराना स्वीकार था। अतः श्री पूज्य पिताजी द्वारा वंश-परम्परा निर्वाहार्थ विवाह आवश्यक सुन कर महाराजश्री ने अत्यन्त विनम्र वाणी में प्रार्थना की कि 'वंशोद्विधा विद्यया जन्मना च' अर्थात् वंश दो प्रकार का होता है विद्या से और जन्म से। इनमें मैं विद्या-वंश को उत्तम समझता हूँ। वंश-जन्म के निमित्त अनेक सांसारिक प्रपंच खड़े करने पड़ते हैं। जीविकार्थ अनेक व्यवसाय स्वीकार करने पड़ते हैं जिनमें मिथ्या-भाषण, छल आदि का आश्रय लेना पड़ता है। इस जीवन में स्वार्थ-साधन का बाहुल्य और परहित गौण रहता है जो कि मेरे विचार के सर्वथा विपरीत है। मेरे विचार से मनुष्य-जन्म में परहित ही प्रधान होना चाहिए क्योंकि इस ऋषियों की तपोभूमि भारत में आसुरी सृष्टि की वृद्धि हो रही है, वर्ण व्यवस्था नष्ट होती जा रही है, द्विजाति वर्ग कर्म-च्युत हो रहा है। जहाँ वेद शास्त्रों की चर्चा प्रतिक्षण होती थी वहां अब उनका नाम भी सुनने में नहीं आता है, संध्या-गायत्री को भी द्विज भूल बैठे हैं। सनातन धर्म की परम्परा विनाश की ओर अग्रसर होती जा रही है। अपने इस भारत वर्ष की ऐसी दशा देखकर मेरे हृदय को शल्य से चुभने के तुल्य प्रतिक्षण पीड़ा होती है। अतः मेरा विचार आजन्म नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर विद्या का दान करते हुए सनातन-धर्म की सेवा करने का है। आशा है कि आप मेरी इस धृष्टता को क्षमा कर श्री शुकदेवजी को ज्ञानोपदेश देने वाले श्री वेदव्यासजी के समान आज्ञा देकर मुझे उत्साहित करते हुए कृत-कृत्य करेंगे। जैसा मैं पूर्व निवेदन कर चुका हूँ कि मुझे वंश-जन्म से विद्याजन्म अधिक उत्तम प्रतीत होता है। श्री वैद्यजी द्वारा 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति' इत्यादि धर्मशास्त्र के कारण पुनः विवाहार्थ आग्रह करने पर उन्होंने अखण्ड ब्रह्मचर्य तपश्चर्या को सन्ततिहीन दशा में भी सद्गति का सर्वोत्तम कारण अनेक उदाहरणों सहित निवेदन किया। उन्होंने सनातन-शास्त्रों के उपयुक्त प्रमाणों से सिद्ध कर दिया कि विद्याजन्म वालों की कई पीढ़ियों के पूर्वजों का उद्धार हो जाता है। जैसा हम पहले लिख चुके हैं कि आज महाराजश्री का तर्पण एवं श्राद्ध अनेक घरों में होता है। हमारा यह व्यक्तिगत अनुभव है। महाराजश्री के शिष्यगण बड़ी तत्परता से नरवर विद्यापीठ के संस्थापक का श्राद्ध करते हैं।

अब नैष्ठिक ब्रह्मचारी महाराजश्री का पुण्य-जीवन विशुद्ध तपश्चर्या में व्यतीत होने लगा। वैसे तो वह छात्रावस्था में ही एक सहस्र गायत्री जप तथा इसका दशांश होम नित्य किया करते थे। पर अब तो उनका जीवन विशुद्ध तपश्चर्या का साधन बन गया। यहां तक कि यह असुलभ-नियमवर्तिता उनके जीवन से दृढ़ समवेत हो गई। उस समय आपके प्रशस्त समय की भीष्म-प्रतिज्ञा की यत्र-तत्र-सर्वत्र चर्चा होने लगी। कृताध्ययन होकर और त्याग एवं तपश्चर्या पूर्वक परोपकार को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर भी महराजजी ने अपनी जन्म-भूमि अलीगढ़ को अलंकृत किया। इसी समय छतारी जि० बुलन्दशहर निवासी कतिपय संस्कृतानुरागी सज्जनों ने अपने ग्राम की लघुकाय संस्कृत पाठशाला की समुन्नति के लिए श्री कुलपति जैसे श्रेष्ठ देशरत्न विद्वान को अध्यापक पद-पर प्रतिष्ठित कर आर्षसंस्कृत के प्रचुर-प्रचार से उस भूमि को गौरव देने की प्रार्थना की परन्तु श्री कुलपति जी की अपनी निजी विचार-धाराओं में वेतन-ग्रहणपूर्वक अध्यापन कार्य के लिए कोई स्थान नहीं था, तथा प्रार्थी को निराश लौटाना भी उनके स्वरूप एवं स्वभाव के अनुकूल नहीं था, अतः उक्त पाठशाला के अभ्युदय की कामना से वहां के अध्ययन प्रबन्ध का मानस-भार स्वीकार कर उन्होंने बदायूँ प्रान्तान्तर्गत भदरौल ग्रामवासी श्री पं० रामदयालुजी शर्मा को संस्कृत-पाठशाला छतारी में अध्यापक पद पर प्रतिष्ठित करा दिया।

'न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्' रत्न किसी को नहीं खोजता है वह ही ढूंढा जाता है, इस के अनुसार उत्तम रत्न की खोज एवं आदर सर्वत्र किया जाता है। देव-दैत्य गणों के रत्नाकर-मंथन प्रसङ्ग से प्रेरणा लेकर आज भी अनेक रत्नान्वेषीजन सर्वत्र विविध प्रकार के रत्नों के अन्वेषण में ऐड़ी से चोटी तक का पसीना एक कर देते हैं। एतादृश व्यक्तियों में ही बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत बेलौन ग्रामवासी श्री पं० केदारनाथजी, पं० शालिग्रामजी पंसारी, लाला गगांप्रसादजी सर्राफ थे, जो कि उत्तम आर्ष शास्त्रज्ञ एवं तदनुकूल आचरण करने वाले आदर्श अध्यापक-रत्न की खोज में थे। श्री कुलपति जी के दिगन्तविस्तारी यशःसौरभ से आकृष्ट होकर उन महान आत्मा के समक्ष उनसे अध्यापनार्थ बेलौन में पधारने की प्रार्थना लेकर उपस्थित हुए। यद्यपि इन सज्जनों के जाने से पूर्व भी अनेक बेलौन वासी-जन अनेक वार इसी भावना को लेकर पहुँच चुके थे कि महराजश्री बेलौन पहुँचने का आग्रह किसी प्रकार भी स्वीकार करलें। किन्तु उन्होंने उन सब के समक्ष छतारी संस्कृत पाठशाला का सा सुझाव रखा, तो भी वे सज्जन उनकी सेवा में पहुँचे और उन्होंने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया। पं० मुकुन्दीलालजी की कन्या के पाणि-पीडनोत्सव में सदुपदेश एवं आशीर्वाद प्रदान करने की व्याज से कुलपतिजी से बेलौन पधारने की प्रार्थना की। पं० मुकुन्दीलाल उस समय रघुनन्दन पण्डा के यहाँ जमींदारी की देखभाल करते थे। महाराजश्री उन सभी सभ्रान्त लोगों का आग्रह न टाल सके और उन्होंने उक्त विवाह में सम्मिलित होने का वचन दे दिया।

यथा समय वह अपने वचनानुसार बेलौन पधारे। वहां के सुसङ्गठित जन-वर्ग द्वारा आयोजित सभा में उनके दो उपदेश संस्कार तथा विद्याध्ययन पर अत्यन्त प्रभावोत्पादक हुए। तपश्चर्यापूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य महाव्रत समन्वित उनकी सत्यपूता वाणी का सभी ने हार्दिक स्वागत किया तथा सभ्रान्त व्यक्तियों ने मिलकर निश्चय किया कि यहां के छात्रों के जीवन को संस्कृताध्ययन पूर्वक ऋषिजीवन में परिवर्तित कर देने के लिये इस समय भी ब्रह्मचारीजी महाराज से सामूहिक प्रार्थना अध्यापकत्व स्वीकरणार्थ की जानी चाहिये। 'अथवा भवितव्यतानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र' जो होनहार

होता है उसके सैकड़ों मार्ग निकल आते हैं। श्री महाराज से सम्मिलित रूप में प्रार्थना की गई। निम्न एक दो बातों में अपना सामञ्जस्य स्थिर करके श्री महाराजजी ने आर्य-मन्दिर बेलौन में अध्यापक-कार्य स्वीकार कर लिया। वे दो बातें इस प्रकार थीं—

मैं वेतन लेकर अध्यापन कार्य न करूँगा। मैं नौकरी कर रहा हूँ इस प्रकार की भावना न तो मैं स्वयं रखना चाहता हूँ और हम वेतन दे रहे हैं, इस प्रकार का विचार पाठशाला-प्रबन्धकों का भी स्वयं न होना चाहिए।

मेरे पास सभी सम्प्रदायों के द्विजाति छात्रों को अध्ययन की सुविधा एवं स्वतन्त्रता रहेगी। न तो मैं किसी विचारधारा की परतन्त्रता स्वीकार करूँगा और न अन्य सम्प्रदाय वालों के अध्ययन की उत्कण्ठा का हनन आवश्यक है। किसी विचारधारा विशेष का बन्धन अध्ययन में न रहेगा।

बेलौन के आर्य-मन्दिर में महाराजश्री द्वारा आर्ष-पद्धति से छात्रों का अध्ययन प्रारम्भ हो गया। आस-पास के अनेक ग्रामीण छात्र सुरभारती की एकमात्र उपासना से सच्चे भारतीय बनने की उत्कट कामना लेकर अध्ययनार्थ उस पाठशाला में प्रविष्ट होने लगे। यम, नियम, शिष्टाचार आदि ग्रहण पूर्वक अध्ययन करने वाले छात्र अनुपयुक्त, अनुचित, अश्लील भाषणादि अनेक बाल-सुलभ दोषों से रहित होकर सन्ध्या, गायत्रीजप, वैश्वदेव आदि शास्त्रीय कर्मोंका यथावत् पालन करने लगे। सासूहिक मेला या पर्व के दिन कोई छात्र यदि किसी आवश्यक कार्यवश भी मेला भ्रमण में चला जाता तो उसे सचैल स्नान आवश्यक होता था। यह पाठशाला के आचार का उत्कृष्ट उदाहरण है।

पढ़ने एवं सुनने में आज ऐसे नियमों की चर्चा हास्यास्पद प्रतीत होगी। वस्तुतः जब अध्यापकवर्ग आचार सम्बन्धी नियमों में स्वयं को बांधना उचित नहीं समझता उस समय विद्यार्थीवर्ग उनसे अधिक स्वच्छन्दता प्रदर्शित करेगा। गुण एवं दोष ऊपर से उतरते हैं। गीता में कहा है कि 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः,' श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी वैसा ही आचरण करते हैं। यह निर्विवाद है कि जैसा आचरण अध्यापक करते हैं, विद्यार्थी भी उन्हीं का अनुकरण करते हैं। जैसा आचरण सरकार के अधिकारी करते हैं वैसा ही आचरण जनता के आदमी करते हैं और जैसा आचरण परिवार में बड़े-बूढ़े करते हैं वैसा ही आचरण परिवार के बालक करते हैं।

पूज्य महाराजश्री का नित्य-प्रति का स्वयं का आचरण इतना कठोर था कि उपर्युक्त नियम भी सरल प्रतीत होते थे। उनके चरणों में बैठकर अध्ययन करने वाले छात्र अपने ऊपर लगाये गये आचरण सम्बन्धी प्रतिबन्धों को प्रसन्नता के साथ स्वीकारते थे। उन्हें महाराजश्री के आदेश पालन करने में असीम आनन्द मिलता था।

सच्चा अध्यापक विद्यार्थियों में उतरने लगता है। महाराजश्री जीवन में जिस उद्देश्य को लेकर चल रहे थे उसमें ऋषि-जीवनपद्धति का नवयुवकों में उतारना आवश्यक था। अतः प्रति रविवार के दिन श्री कुलपतिजी अपने छात्रों समेत बेलौन से दो कोस उत्तर दिशा में बहने वाली श्री भागीरथी गंगा में स्नान करने के लिए जाते थे और गंगा तटवर्ती सघन वन में स्थित उस नरवर नामक स्थान में निवास करते थे कि जिसे एक दिन उन्हीं के पवित्र समाश्रय से साङ्गवेद महाविद्यालय के नाम से प्रसिद्ध होना था। यह स्थान श्री गर्गाचार्यकृत गर्ग-संहिता

ग्रन्थ में वद्धकेशी सिद्धपीठ के नाम से प्रसिद्ध है। जन-श्रुति है कि यहाँ प्राचीन काल में श्रीनरवर देवी का एक लघु-काय मन्दिर था। नवरात्रियों में यहाँ बहुत से यात्री आते थे। जनभावना से क्षेत्र के प्रभाव एवं आकर्षण में वृद्धि होती है। सद्सद् विचारों की उद्भूति को सत् असत् देशपात्र आदि से बड़ा बल मिलता है। क्षेत्र की पवित्रता में अगाध विश्वास रखने वाले महाराजश्री इस पवित्र सिद्ध-पीठ क्षेत्र में रविवार को गंगा-स्नान के पश्चात् रुक जाते थे। वहाँ रुककर छात्रों को अनेक विषयों को लेकर समझाते थे। कभी उनको समझाते कि 'सुखस्य मूलं धर्मः' जो व्यक्ति सुख चाहता है उसे धर्म का पालन करना चाहिए। अनिष्ट की समाप्ति, सुख की प्राप्ति एवं सुख की समृद्धि विना धर्म के आचरण के त्रिकाल में भी असम्भव है। कभी वह उन्हें हृदयङ्गम कराते कि 'राज्यस्य मूलमिन्द्रियजयः' राज्य की प्रतिष्ठा का आधार इन्द्रियजय है। यदि राज्य-संचालन में नियुक्त उच्च अधिकारी जितेन्द्रिय नहीं हैं तो उनका आश्रित कर्मचारी-वर्ग कभी भी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है। शासन में जब उच्च पदाधिकारी अजितेन्द्रिय होते हैं तो शासन कुशासन अथवा दुशासन रहता है। राज्य की प्रतिष्ठा, समृद्धि एवं स्थिरता जितेन्द्रिय संचालकों से ही सम्भव है। कभी उन्हें उद्बोधन देते कि 'परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्' परोपकार से पुण्य होता है और परपीड़ा से पाप। मानव जीवमात्र का रक्षक है, भक्षक नहीं। फलतः अपने से अन्य व्यक्ति की सहायता पुण्य का कारण बनती है और परपीड़ा पाप का। कभी उनके पूछने पर व्यक्तिगत आकर्षण का उन्हें मूलमंत्र प्रदान करते कि 'यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा' परापवाद-ससेभ्यो गांचरतीं निवारय' यदि किसी एक ही आचरण से मनुष्य जगत् को वश में करना चाहता है तो उसे दूसरों की निन्दा नहीं करनी चाहिए। प्रति रविवार को नरवर आने वाले छात्रों को ये तथा इसी प्रकार के अन्य उद्बोधन सुनने को मिलते थे। महाराजश्री के उपदेशों में इतनी गहरी प्रेरणा रहती थी कि छात्र उनके उपदेशों को अपने-अपने आचरण में उतारने का प्रयत्न करते। सायंकाल लौटते समय मार्ग में सभी छात्रों को प्रश्नोत्तर शैली में शास्त्रीय वाक्यों का अनुगम कराते चलते थे। महाराजश्री की यह शैली अन्त तक बनी रही।

उन महान् आत्मा की अडिग धार्मिक मनोवृत्ति कितनी दृढ़ निष्ठा पर थी इसका आभास एक निम्नलिखित घटना से मिलता है।

अपने पूर्वोक्त रविवासरीय कार्यक्रम के अनुसार श्री कुलपतिजी छात्रों सहित गङ्गा-स्नान करके लोअर नहर गङ्गा के उद्भव स्थान कलकत्ती (नरौरा) से बेलौन लौट रहे थे। अकस्मात् मार्ग में श्री ला० कल्याणदासजी जो कि उस समय नहर विभाग के एक प्रतिष्ठित ठेकेदार थे, मिले। उक्त ठेकेदार धार्मिक भावना युक्त, साधु-सेवी तथा कभी कभी दानियों के मार्ग को भी अलंकृत करने वालों में से थे। उचित शिष्टाचार के अनन्तर वह प्रार्थना करके छात्रों समेत श्री कुलपतिजी को अपने तत्कालिक निवास स्थान पर ले गये। उचित सत्कार तथा लघु विश्राम के पश्चात् वार्ता प्रसङ्ग में श्री ठेकेदारजी ने प्रश्न कर दिया कि—श्री महाराज जी ! आपको बेलौन की आर्य-मन्दिर पाठशाला में क्या मिलता है ? स्पष्ट है कि उनका यह प्रश्न वेतन के सम्बन्ध में था। श्री कुलपतिजी महाराज ने अपने स्वभाव सुन्दर मधुर आकर्षक शब्दों में उत्तर दिया कि—"जिसकी लोक-परलोक दोनों में ही आवश्यकता होती है, जिसके बिना जीवन घोर अन्धकार पूर्ण ही रहता है, जिसके उपार्जन के लिये ही मनुष्य शरीर मिलता है, वह जगन्नियन्ता परमेश्वर का परम प्रिय धर्म-धन ही

हमें मिलता है कि जिसका मूल्य शास्त्रों में प्राणों से भी अधिक माना गया है'' । इस भारतीय गौरव-पूर्ण उत्तर को सुनकर श्री लाला कल्याणदासजी के समस्त शरीर में आह्लाद से उत्पन्न रोमाञ्च के व्याज से श्री कुलपतिजी के प्रति श्रद्धा के असंख्य बीज अंकुरित हो गये, और एक भारत विभूति महात्मा के क्षण भर के सत्सङ्ग से उन्होंने अपने विविध व्यापार-परायण-हृदय नें धार्मिक भावना का प्रसार पाया।

आर्यसमाज मन्दिर बेलौन में अध्यापन कार्य करते हुए भी श्री कुलपतिजी साम्प्रदायिक विरोधी भावनाओं के अभ्यासी न थे। अथवा दूसरे शब्दों में वह सब धर्मों को आदर की दृष्टि से देखते थे। उनकी विचार-धारा संकुचित न थी। वह सदैव श्रौत-स्मार्त धर्मानुष्ठान में अग्रसर थे। पञ्च देवोपासना का महत्व उनके हृदय में घर किये हुए था अतः अलौकिक शक्ति सम्पादन के लिए उपासना पद्धति जानने की इच्छा वाले कतिपय छात्रों ने उस समय के प्रसिद्ध पुस्तक प्रकाशक श्री वेङ्कटेश्वर प्रेस बम्बई से अपने अभीष्ट देवों की उपासनार्थ कुछ पुस्तकें मंगवाईं। वी० पी० खोलने के समय आर्य-समाज के प्रधान पं० रघुनन्दनप्रसादजी उपस्थित थे। वह उस समय के अत्यन्त धनी व्यक्ति थे। उनके पास १२ ग्राम की जमींदारी थी। आर्य-समाज प्रधान थे। उस समय आर्य समाज का नया-नया प्रभाव था। उन्होंने पुस्तकें देखकर कहा कि 'आर्य-समाज-मन्दिर' में दुर्गा और सत्यनारायण का पढ़ना नितान्त सिद्धान्त विरुद्ध है। श्री कुलपतिजी ने उत्तर दिया कि 'आप सब लोग दुर्गा की दया से ही बने हैं और उसी का धन खाते हैं। हमारे छात्रों पर दुर्गा की पुस्तक पढ़ने पर प्रतिबन्ध लगाते हैं। हमने अपने विचारों को पराधीन नहीं किया, न हमको किसी धर्म से द्वेष है, हम यह बात पूर्व ही कह चुके हैं कि 'सभी सम्प्रदाय के छात्रों को अध्ययन में स्वतन्त्रता होगी'। किन्तु प्रधानजी के अपनी बात का हठ करने के कारण श्री कुलपतिजी दूसरे ही दिन वहां का अध्यापन कार्य छोड़ मखैना चले गये।

अधिगतपरमार्थान् पण्डितान् मावमंस्था, तृणमिव लघु लक्ष्मीर्नैवतान् संरुणद्धि
अभिनवमद् लेखाश्यामगण्डस्थलानाम् न भवति विसतन्तु वरिणं वारणानाम् ॥

अर्थात्—परमार्थ के जानने वाले पण्डितों का अपनान न करो, तिनके के समान लघु लक्ष्मी उनको नहीं रोक सकती। नवीन मद की रेखा से श्याम गण्ड स्थलों वाले मत्त गज को कमलतन्तु नहीं बाँध सकता है।

महांराजश्री ने देखा कि पं० रघुनन्दनजी की वाणी में कुछ-कुछ अधिकार का भाव विद्यमान है, अतः उन्हें अपनी मनस्विता के अविच्छिन्न प्रवाह में अवाञ्छित अबरोध सा प्रतीत हुआ। जिनको भूमा के सुख की अनुभूति होगई है, जो बिना किसी से कुछ मांगे जगत्-हित में संलग्न हैं, भौतिकता के मोह को सामान्य तिनके के समान जो त्याग चुके हैं, जिनसे प्राणिमात्र के कल्याण की उत्कट अभिलाषा संसार के कार्य करा रही है, जिनके लिए अपना-पराया कोई नहीं है, जिसकी पुत्रेषणा एवं वितेषणा पूर्णतः निमूंल हो चुकी हैं, वह किसी अनधिकारी के दर्प से अभिभूत कैसे हो सकता है? सूर्यकान्त मणि सूर्य के तेज को सहन न करती हुई प्रतिविम्बित सूर्य तेज को दीप्त एवं प्रखरता प्रदान कर अपनी मनस्विता प्रकट कर देती है। उन्हें बैलोन की पाठशाला से कौन बाँध सकता था? वह तो स्वयं ही अपने पूर्व प्रदत्त वचन का पालन कर रहे थे। वचन पालन के अतिरिक्त उनका कोई बन्धन न था अतः बेलौन त्याग में अधिक सोच-विचार

एवं ऊहापोह का अवसर ही नहीं था। मार्ग में रात्रि के कारण रुकने वाला राही जिस प्रकार प्रातः होते ही अपने रात्रि-निवास-स्थान का मोह त्याग कर आगे बढ़ जाता है उसी प्रकार महाराजश्री बेलौन त्याग कर मखैना चले गये।

यह पहले कहा जा चुका है कि मखैना में उनके पूज्य पिता श्रीवैद्यजी रहते थे। महाराजश्री भी पूज्य पिता जी के समीप दूसरे दिन पहुँच गये।

दैवेच्छा से थोड़े दिन के पश्चात् एक प्रतिष्ठित विद्वत्समाज आर्य समाज बेलौन का अतिथि बना, जिसमें आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् श्री गङ्गादत्तजी शास्त्री–श्री शुद्धबोध तीर्थजी, आचार्य महा-विद्यालय ज्वालापुर, तथा उनके शिष्य श्री पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ, तथा मुख्याधिष्ठाता महा-विद्यालय ज्वालापुर थे। यह विद्वत्समाज दैवात् ही वहाँ आ गया था।

इन महानुभावों को यह जानकर कि यहाँ के पुरुषों से व्यावहारिक असन्तोष पाकर श्री कुलपतिजी मखैना पहुँच गये हैं, समाज के उस असद् व्यवहार की आलोचना करते हुए अत्यन्त खेद के साथ कहा कि आप लोगों ने अपनी अदूरदर्शिता से एक ऐसा हाथ में आया हुआ पुरुष-रत्न खो दिया है जिसे अधिक परिश्रम पूर्वक खोजने पर प्रबल भाग्य से ही प्राप्त किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि उन्हें क्षमायाचना पूर्वक ससम्मान मखैना से बेलौनपुरी लाया जाय। श्री आचार्य शुद्धबोधजी तीर्थ के इस उत्तम परामर्श को अविलम्ब कार्यान्वित करने के लिए उन्हीं की आज्ञा से श्री पं० नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ अपने साथ पं० केदारनाथजी, पं० शालिग्रामजी तथा लाला गंगाप्रसादजी को लेकर मखैना पहुँचे और अपने सहाध्यायी श्री कुलपतिजी से मिले। कहा जाता है कि पुनरावृत्तिरहित निरन्तर गतिशीलता प्राणियों के शारीरिक अवस्था-चक्र की एक विशेषता है किन्तु पूर्व अवस्था के सहचर सहाध्यायी का चिरदर्शन, अपने द्रष्टा की उस समय की अवस्था में भी पूर्णाभ्यस्त व्यवहार-संभाषण के प्रादुर्भाव रूपी फलादेश के साथ पहली अवस्था की अन्तर्दशा ला देता है। दोनों ओर से दो प्रेमी हृदयों की प्रेम की नदियाँ प्रेम लपेटे अटपटे शब्दों के आकार में स्वभाव से सुन्दर सच्ची रसमाधुरी का प्रवाह बहाने लगीं। आगन्तुकों के आगमन से उत्पन्न हुए सर्वाङ्ग श्रम को दर्शन मात्र से दूर करने वाली चन्द्र-किरणों के समान शीतल मुसकान सहित संभाषण किया। मुसकान उनके मुख कमल पर प्रकट हुई और बोले— 'ये यान्त्यभ्युदये प्रीतिनोऽभन्तिव्यसनेषु च, ते बान्धवास्ते सुहृदो लोकःस्वार्थपरोऽपरः।' अर्थात् जो उन्नति देखकर प्रसन्न होते हैं और दुःख में त्याग नहीं करते वही बान्धव हैं और वही मित्र हैं, शेष दूसरे पुरुष तो स्वार्थी हैं आप जैसे अकारण बन्धु विशाल-हृदय मानव श्रेष्ठ सुहृदय रत्न को पाकर हमारा अन्तरात्मा अकथनीय प्रसन्नता का पात्र बन गया है। सम्पूर्ण अङ्गप्रत्यङ्ग को प्रसन्नता के वातावरण के साथ आपके दर्शन पाकर हम मखैना में बैठे हुए भी यह नहीं बता सकते कि इस समय किस अनुपम आनंदमय चिरवाञ्छित नवीन शान्तिधाम में बैठे हुए हैं। प्रेम के भावेश में श्री कुलपतिजी कुछ और भी कहते कि बीच में ही श्री नरदेवजी शास्त्री वेदतीर्थ ने बोलने का अवसर पा लिया। वह कहने लगे कि 'आपका व्यक्तित्व महान् है, आपके स्वाभाविक सद्गुणों से यह स्पष्ट हो रहा है कि इस प्रतिकूल समय में भी वर्णाश्रम-धर्म चिरकाल तक आपके द्वारा प्रसाद पावेगा, तथा वैदिक कर्ममार्गपरता आपसे आश्रय प्राप्त करेगी। अपने निजी प्रसङ्ग को न भूलते हुए उन्होंने कहा कि—"किन्तु ऐसे देशोद्धारक

महाव्रती कभी भी किसी साधारण व्यक्ति के असामयिक अनर्गल वचनों से अनुचित उत्तेजना नहीं लेते। 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' सन्मार्ग में जितने भी विघ्न आते हैं वह सब उस पथ के पथिक को सहायता पहुँचाते हैं। इसलिए समय समय पर आने और चले जाने वाले मान, अपमान, श्रम, दुःख, सुख, राग, मोह, हर्ष, शोक आदि सञ्चारी विघ्नों से कभी भी सबल सन्मार्ग के पथिक भयभीत नहीं होते, वे समझते हैं कि ये सब विघ्न निर्बल पथिक को ही केवल इस मार्ग में सबल बनकर फिर आने के लिए यह कह कर रोक देते हैं कि—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', इत्यादि सामयिक वाक्-चातुर्य द्वारा श्री वेदतीर्थजी ने उनकी मनोवृत्ति को इस योग्य बना लिया कि वह पूर्ववत् आर्य-मन्दिर-पाठशाला बेलौन की अध्ययन परिपाटी को समुचित प्रश्रय दें। पं. शालिग्रामजी तथा ला० गङ्गाप्रसादजी ने भी तत्कालिकलोचित चरणस्पर्शादिपूर्वक क्षमा-याचना करते हुए श्री वेदतीर्थजी के प्रस्ताव का भूरि-भूरि समर्थन किया। 'उत्तमानाँ क्षणं कोपः' अर्थात् उत्तम पुरुषों का क्रोध क्षणिक होता है। तथा 'प्रणिपात प्रतिकार संरम्भो हि महात्मनाम्' अर्थात् महात्माओं का कोप प्रणाम् मात्र से शान्त हो जाता है। इसके अनुसार उन पवित्र आत्मा के हृदय को बेलौन चलने का पक्षपाती बनाकर श्री वेदतीर्थजी के प्रणय को सफलता मिली। वेदतीर्थजी के शुद्ध प्रेम ने श्री कुलपतिजी को पुनः बेलौन पहुँचा ही दिया।

महाराजश्री के ज्वालापुर अध्ययन प्रसंग में यह बताया जा चुका है कि पं. नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ उनके सहाध्यायी एवं समवयस्क थे। दोनों में सौहार्द भी अत्यन्त गंभीर तथा उच्चकोटि का था। कहा जाता है कि नरश्रेष्ठ महाराजश्री के प्रति वेदतीर्थजी के हृदय में अगाध श्रद्धा थी। वह उनके अन्त समय तक अपने हाथ का तैयार किया हुआ वस्त्र पहनने के लिए लाया करते थे। महाराजश्री भी उन्हें वासंतिक प्रफुल्लता के साथ ग्रहण करते थे। नरवर के तात्कालिक विद्यार्थियों का कथन है कि जब नरदेवजी अपने अभिन्न मित्र के दर्शन करने नरवर पधारते थे तो विद्यालय में अनध्याय-सा तो हो ही जाता, साथ ही वहाँ अद्‌भुत हर्ष का वातावरण छा जाता था। दोनों मित्रों का सहालाप भी छात्रों के कौतुक का आधार बना करता था।

पं० नवनिधि पाठकजी का कथन है कि महाराजश्री बेलौन त्याग कर मखैना गये और वहाँ से पर्यटन की व्याज से काशी की ओर चल दिये। सर्वतन्त्रस्वतन्त्र व्यक्ति यदि पर्यटन की इच्छा से घर से निकल पड़े तो उसके लौटने की तिथि का निश्चय कौन कर सकता है? महाराजश्री को लगभग एक वर्ष लग गया। जब उनके मखैना वापस आने की सूचना मिली तब उपर्युक्त प्रतिनिधि-मण्डल श्री वेदतीर्थ जी के नेतृत्व में मखैना पहुँचा।

श्री कुलपतिजी द्वारा आर्यमन्दिर पाठशाला बेलौन का अध्यापन कार्य पुनः पूर्ववत् आरम्भ तो कर दिया गया परन्तु न जाने किस दैवी प्रेरणा के बल से उनके अन्तःकरण में बेलौन रहने के संस्कार दृढ़ न हो पाये। उनकी इस भावना के आकार का संकेत किसी प्रकार कासगंज जि० एटा की संस्कृत पाठशाला के प्रेमी पुरुषों को हुआ। फलस्वरूप श्री पं. बद्रीदत्तजी नामक एक महानुभाव ने वहाँ की संस्कृत पाठशाला की सुव्यवस्था और सुविधा के लिये बेलौन श्री कुलपतिजी के समीप एक सज्जन के द्वारा अपना मनोरथ भेजा कि जिसमें उनके कासगंज पधारने का विशेष आग्रह था। उस कासगंज के मनुष्य के विचारों के अनुसार अपने समाज के संमुख श्री महाराज ने उसके साथ कासगंज

जाने का अपना विचार प्रस्तुत करके अपने जाने की भूमिका बनाली। श्री कुलपतिजी की इच्छा के सामने कोई अनुकूल अवरोध उपस्थित न करते हुए भी वेदतीर्थजी बेलोन संस्कृत पाठशाला के छात्र-समुदाय के सहित इस विचार से कुलपतिजी के साथ कासगंज चलने को उद्यत हो गये कि कासगंज से शीघ्र बेलोन लौट आने का कारण यदि कोई बलवान् न हो तो उनके न लौटने की दृढ़ता न हो जाय। सभी ने शुभ समय में बेलोन से कासगंज को प्रस्थान किया।

कासगंज से संस्कृत भाषा के सेवकों द्वारा बेलोन की उस जङ्गम संस्कृत पाठशाला का बहुत सुन्दर स्वागत और सत्कार किया गया। कुछ काल तक ठहर कर उन दोनों (श्री कुलपतिजी एवं श्री वेदतीर्थजी) महापुरुषों ने वहां की संस्कृत पाठशाला को व्यवस्थित कर एक अध्यापक की नियुक्ति करदी। इसके पश्चात् श्री वेदतीर्थजी द्वारा रखी हुई बेलोन लौट चलने की समस्या ने श्री कुलपतिजी को अपना लक्ष्य बनाया। वह श्री वेदतीर्थजी की विचारधारा में पड़कर बेलोन लौट आने के लिए उद्यत हो गये।

वे दोनों नररत्न अपनी छात्र सम्पति के साथ भूतल के मनोरम प्राकृतिक दृश्यों का अवलोकन करते हुए पैदल ही कासगंज से चलकर बेलोन आ गये तथा पूर्ववत् अध्यापनकार्य प्रारम्भ हो गया। किन्तु वेद और वेद के अङ्गों का प्रचार तथा प्रसार आदि अनेक प्रशंसनीय कार्यों के सूक्ष्म संस्कारों से संयुक्त उनका चित्त अपने विस्तृत लोकोपकार व्रत को अवाध गति से आजीवन सुरक्षित रखने के लिए और स्वाधीनतापूर्वक उस पथ पर अग्रसर होकर अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए निरन्तर योजना बनाने में प्रयत्नशील था।

यद्यपि महाराजश्री सम्मान्य मित्र श्री वेदतीर्थ के आग्रह एवं नगर के सम्भ्रान्त नागरिकों की क्षमायाचना से पुनः बेलोन आगये थे किन्तु उनका मन वहाँ पहले जैसा नहीं लगा।

एकबार वह मरवैना से कर्णवास पधारे थे। कर्णवास में पक्के घाट के समीप पं० जीवाराम की साङ्गवेद पाठशाला को देखने गये थे। यह स्थान श्रीगंगासागर जटिया की धर्मशाला के पूर्व में था। वह स्थान आज भी जीवाराम के टीले के नाम से प्रसिद्ध है। पुण्यसलिता देवनदी गंगा के किनारे बसे कर्णवास कस्बे की विशिष्ट स्थिति है। यदि आधुनिक सभ्यता की अपवित्रता को नगर से दूर कर दिया जाय तो उसमें प्राकृतिक सुषमा के साथ भागीरथी-प्रदत्त पवित्रता मिलकर अनोखा आकर्षण उत्पन्न कर सकती है।

पं० जीवारामजी बदायूँ जिले के चन्दूनगला ग्राम के निवासी थे और उनके एक सहोदर और थे जिनका नाम श्री पं० टीकारामजी था। जब दोनों भाई विद्यापारंगत और शास्त्र निष्णात विद्वान् हो गये और गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर चुके तो दोनों ने भावी जीवन के प्रगतिक्रम पर विचार किया। विचार विनिमय के पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता पं०जीवारामजी ने निश्चय किया कि वह क्षेत्र-संन्यास लेकर कर्णवास में ही अयाचित वृत्ति से रहेंगे, और ऋषि-जीवन-पद्धति पर जीवन सन्ध्या पर्यन्त विद्यादान करते रहेंगे। अपने ज्येष्ठ भ्राता के भावी जीवन सम्बन्धी निश्चय को सुनकर श्री पं० टीकाराम ने निश्चय कर लिया कि वह जीवनभर यायावर ही रहेंगे। यायावरीय जीवन में एक स्थान पर अधिक दिन तक निवास करने का निषेध हैं। दोनों भाइयों के अद्भुत निश्चय थे। दोनों की सहधर्मिणियाँ भी परम विदुषी थीं। दोनों ने अपने अद्भुत निश्चयों को विस्मयकरी दृढ़ता के साथ निभाया भी।

पं० टीकाराम अपनी परम विदुषी पत्नी से संस्कृत में ही वार्तालाप करते थे। वह एक स्थान पर कभी भी अधिक दिन नहीं टिके। भगवती भागीरथी के किनारे ही हरिद्वार से प्रयाग पर्यन्त आते जाते रहते थे। पं० अखिलानन्द शर्मा इन्हीं पं० टीकाराम की सन्तान थे। पं० अखिलानन्दजी के यश से आर्य समाज एवं सनातन समाज भली भांति परिचित हैं।

पं० जीवारामजी ने दो निश्चय किये थे। (१) कर्णवास त्याग कर किभी भी परिस्थिति में कहीं जाना नहीं है और (२) किसी भी आवश्यकता एवं परिस्थिति में किसी से कुछ याचना नहीं करनी है। उन्होंने जीवन पर्यन्त अपने दोनों निश्चयों का कड़ी कठोरता के साथ पालन किया। इतने पर भी उनकी अपनी साङ्गवेद पाठशाला में लगभग एकसौ पच्चीस छात्र आर्ष पद्धति से वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन करते थे। इन छात्रों का भोजन और वस्त्र एवं ग्रन्थादि का प्रवन्ध भी अयाचित वृत्ति से ही होता था। ऋषिकल्प पंडित जी इन छात्रों के योगक्षेम के नाम पर भी कभी किसी से मांगने नहीं गये, जो कुछ भी अयाचित वृत्ति से आगया, उसी से अपनी, परिवार की तथा छात्रों की सभी व्यवस्थायें होती थीं। सभी विद्यार्थी वेदोक्त वेष-भूषा में रहते थे। दण्ड, मेखला, मौञ्जो कौपोन धारण कर और अनसिले परिधान धारण कर अध्ययन-रत रहते थे। भूमा के आनन्द सागर में सदा निमग्न रहने वाले गुरु के शिष्य भी अपने प्रारम्भिक जीवन में स्वावलम्वन तथा अयाचकता का स्वाद चख अमृत का अनुभव कर लेते थे।

पाठशाला की व्यवस्था, स्वरूप, शास्त्रीय त्याग, तपस्या, सदाचार, सद्विचारों आदि से महाराजश्री के शुद्ध अन्तःकरण में विद्युच्छटा सी कौंध गई। उन्हें अपने जीवन का भावी स्वरूप स्पष्ट दिखाई पड़ गया। उन्हें इसी पाठशाला से गंगा के किनारे अन्यत्र इन्हीं नियमों के आधार पर एक विद्यालय की स्थापना का विचार हृदयस्थ हो गया जो भारतीय संस्कृति, ऋषिजीवन पद्धति, ब्राह्मणत्व के सच्चे स्वरूप, एवं ज्ञान के स्रोत का आदर्श निदर्शन वन सके। कहने का अभिप्राय यह कि महाराजश्री की यह कर्णवास-यात्रा और पं० जीवारामजी की पाठशाला का अवलोकन भविष्य में बनने बाले नरवर विद्यालय की आधार-शिला सिद्ध हुए।

कहा जाता है कि महाराजश्री ने ऋषिकल्प पंडितजी से व्यवस्था सम्वन्धी अनेक विषयों पर विचार-विनिमय भी किया। जब वेदपाठी पंडितजी ने अपनी पाठशाला की स्थापना करने के पूज्य ब्रह्मचारीजी के विचार का अनुमोदन भी कर दिया तो उन्होंने विद्यालय-स्थापना का निश्चय एवं निर्णय कर लिया।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि पूज्य महाराजजी जिस समय बेलौन के आर्य मन्दिर में अध्यापन करते थे उस समय ही वहाँ से प्रति रविवार को अपने समस्त छात्रों के साथ गंगास्नान एवं वन निवास के लिये आया करते थे। विद्यालय की स्थापना का निश्चय होते ही विद्यालय के स्थान का निर्णय भी हो जाना स्वाभाविक था। महाराजश्री को विद्यालय के लिए नरवर की स्थिति कर्णवास से भी उपयुक्ततर प्रतीत हुई।

कर्णवास कस्वा है अर्थात् जनसंख्या की दृष्टि से एक वड़ा ग्राम है, अतएव जनसंमर्द के निवास के दोष उसमें अनिवार्य रूप से थे। किन्तु नरवर एकान्त स्थान था। उस समय यहाँ पर जंगल भी सघन था। भगवती गंगा और विद्यालय के स्थान के बीच में नदी की तलहटी भी काफी विस्तृत थी। ऋषि परम्परा की पाठशाला के लिए यह स्थान आदर्श स्थान है। आज भी जब महाराजश्री की चैतन्य शक्ति उसमें से निकल चुकी है, वह कम आकर्षक नहीं है।

महान् व्यक्तियों के निश्चय में दृढ़ता होती है, वह अडिग होता है। यह ठीक है कि संकल्प-परित्यागी होने के कारण उनमें संकल्प का उदय तथा उसमें दृढ़ता समयापेक्षी होती है। नियम पालन में, व्रत में, निश्चय में तथा साधना में दृढ़ता की आवश्यकता अधिक है। अपने पाठशाला की स्थापना के निश्चय को दृढ़ करके संवत् १९६० में महाराजश्री नरवर पधारे।

नरवर नामक स्थान राजघाट रेलवे स्टेशन से नरौरा (कलकत्ती जहाँ से गंगा से नहर निकलती है) जाने वाली सड़क पर सड़क से बाईं ओर तीन मील की दूरी पर है। सड़क से गंगा की धारा लगभग एक मील है और नरवर स्थान सड़क से ४ फर्लांग। यह स्थान राजघाट से दक्षिण की ओर लगभग तीन मील और कलकत्ती से एक मील उत्तर पश्चिम की ओर है। ऋषि-पद्धति पर पाठशाला के लिए आदर्श स्थान है।

इस स्थान पर स्वर्गीय पंडित हुलासीराम जी रहा करते थे। यहाँ एक प्राचीन शिवालय था। जो उस समय जीर्ण-शीर्ण अवस्था में था। महाराजश्री ने इस मन्दिर का दो बार जीर्णोद्धार कराया। इसमें एकबार श्रीनत्थीलालजी खुर्जा वालों का द्रव्य व्यय हुआ। द्वितीय बार खुर्जा के सेठ सूरजमल बाबूलाल जटिया ने जीर्णोद्धार का व्यय भार वहन किया। यह शिवालय आज भी वेद भवन के सम्मुख विद्यालय के प्रांगण में छात्रों एवं अध्यापकों को शिवार्चन का अवसर प्रदान कर रहा है।

जिस समय पूज्य ब्रह्मचारीजी पाठशाला की स्थापना के विचार से पधारे उस समय यहाँ केवल दो-तीन फूँस की कुटियाँ बनी हुई थीं। इनमें एक में ब्रह्मचारी योगानन्दजी एवं श्री शान्त्यानन्द सरस्वती नामक एक सन्यासी रहते थे। योगानन्दजी शरीर के यद्यपि कृशकाय थे किन्तु उनकी वाणी में अन्त तक इतना ओज रहा जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य होता था। श्री योगानन्दजी के संरक्षण में वहाँ कुछ गायें भी थी। महाराजश्री के आने पर इन दोनों महान् आत्माओं ने उनका हार्दिक स्वागत किया। उनके उक्त मन्तव्य से परिचित होने पर दोनों को हार्दिक हर्ष की अनुभूति हुई और उन्होंने उन्हें सभी प्रकार का साहाय्य प्रदान करने का वचन दिया।

पूज्य कुलपतिजी अयाचित व्रत लेकर यहाँ पधारे थे। अभिप्राय यह कि उन्होंने यह निश्चय किया कि जो विना मांगे ही प्राप्त हो जायेगा उसी से अपना निर्वाह करेंगे। किसी भी परिस्थिति में किसी से कुछ भी मांगेंगे नहीं। उन्हें अपने इस व्रत पालन में कितनी कठिनाइयाँ आईं और कितने कष्ट झेलने पड़े, इसका संक्षिप्त परिचय आगे चलकर दिया जायेगा।

उनका यह भी निश्चय था कि दो दिवस तक यदि अयाचित सहायता प्राप्त न होगी तो तृतीय दिवस अन्यत्र प्रस्थान करेंगे। किन्तु 'योऽसौ विश्वम्भरो देवः सभक्तान् किमुपेक्षते'। जबकि संसार में कोई जीव किसी का आश्रय लेकर उसके निकट पहुंचता है तो वह भी उसका यथाशक्ति पालन करता है तो फिर जिसका नाम विश्वम्भर है वह कहाँ तक उपेक्षा करता। फलस्वरूप बेलौन जहाँ कि श्री कुलपतिजी ड्योढ़ वर्ष अध्यापन कार्य कर चुके थे। श्री पं० रघुनाथप्रसाद उपाध्याय दैवी प्रेरणा से गङ्गातट पर भ्रमण करते हुए अकस्मात् वहां जा पहुँचे जहां कि श्री कुलपतिजा अपनी नित्य क्रियां में संलग्न थे। अकस्मात् दर्शन से उत्फुल्ल हृदय होकर प्रणामादि क्रिया एवं कुशल प्रश्न के पश्चात् आपके वहां पधारने तथा भावी विचार के विषय में प्रश्न किया। उन्होंने उत्तर दिया कि अब तो सब विचार त्यागकर श्रीमाता भागीरथी की गोद का ही आश्रय लेकर

निवास करने का पूर्ण निश्चय कर लिया है। उनके बेलौन चलने का आग्रह करने पर भी आपने अपने दृढ़ निश्चय के परिवर्तन की असमर्थता प्रकट की। जीवन-निर्वाह के साधन के विषय में प्रश्न करने पर उन्होंने उत्तर दिया कि जिसका नाम विश्वम्भर है उसके एवं श्री गंगामाता के अंकाश्रित होते हुए भी अन्न वस्त्र की चिन्ता ? यह प्रश्न ही नहीं उठता। महाराजश्री का यह निश्चय सुनकर उन्होंने उसी समय आपके भोजनादि का प्रबन्ध किया और बेलौन जाकर उनके नरवर पधारने एवं स्थायी रूप से निवास करने का सुसंवाद सबको श्रुतिगोचर कराया। बेलौन निवासी सज्जन यह जान कर अति प्रसन्न हुए। कारण कि ड्येढ़ वर्ष बेलौन में रहने के कारण आपके सात्त्विक व्यवहार ने सबके हृदय को पूर्णतया प्रभावित कर रखा था। अतः बेलौन निवासी सज्जनों का वहां दूसरे ही दिन से आना प्रारम्भ हो गया और आपकी अयाचित वृत्ति साधना भी सफल होने लगी।

आपके नरवर पदार्पण करते समय आपके साथ आपके सुयोग्य एवं प्रिय शिष्य थी द्वारकादत्तजी तथा श्री यज्ञदत्तजी भी थे। वहां निश्चित निवास हो जाने पर सद्यः स्फुटितनवीनकलिका की गंध के समान आपका यशः सौरभ शनैः शनैः इतस्ततः प्रसृत होकर जनता को आपकी ओर आकर्षित करने लगा और लुब्ध मधुकरों के समान ज्ञान-पिपासु छात्रों का आगमन भी प्रारम्भ हो गया। आषाढ़ मास में श्री प्रसादीलालजी, श्री शालिगरामजी, श्री सरयूदत्तजी, श्री जयनारायणजी ये चार छात्र और उपस्थित हो गये। अर्थात् श्री द्वारिकादत्त को सम्मिलित कर पांच छात्र हो गये। पुनः श्री छेदालालजी, श्री पन्नालालजी, श्री नवनिधिजी, श्री प्रियम्वदजी आदि भी छात्र होकर विद्यालय में सम्मिलित हो गये। अब संस्था ने एक लघु पाठशाला का रूप धारण कर लिया।

जब छात्रों का आना प्रारम्भ हो गया तो निवास स्थान भी अत्यन्त आवश्यक था इसके निर्मित्त श्री पं० रघुनाथप्रसादजी तथा श्री पं० रामचन्द्रजी बेलौन के उद्योग से श्री पं० इन्द्रजोतजी रईस बेलौन के द्रव्य से १० कुटी बनवाई गईं, जिनका स्वरूप इस प्रकार था कि दक्षिण दिशा में उत्तराभिमुख श्री कुलपतिजी का निवास स्थान था। इसमें एक दालान जिसमें कड़ी पड़घर पटाव हो रहा था, और उसके आगे फूँस का छप्पर था उसीमें पूर्व की ओर पाठशाला थी उसके बराबर में २ कुटी उत्तराभिमुख और थीं, इसके पश्चिम भाग में दक्षिण से उत्तर तक पूर्वाभिमुख सात या आठ कुटियां और थीं। कुटी बनकर तैयार हो जाने पर उनका प्रति संस्कार अर्थात् तिपाई और उन पर फूँस के छप्पर श्री ला० कल्याणदासजी ठेकेदार जिनका कुछ परिचय पूर्व दिया जा चुका है सम्पन्न किया। इस समय केवल एक अभाव कुछ कष्टप्रद था कि जल की आवश्यकता होने पर श्री गंगा महारानी का ही आश्रय लेना पड़ता था, जो कि कभी दूर भी जाना पड़ता था, इस संकट का निवारण भी श्री ला० कल्याणदासजी ने ४००) मुद्रा के व्यय से पाठशाला के नीचे ही एक कूप बनवाकर कर दिया। इस प्रकार छात्रगण के निवास की समस्या पूर्ण हो जाने पर श्री कुलपतिजी ने हार्दिक शान्ति प्राप्त की। इस समय आपने अपने पूज्य पिताजी को नरवर ही बुला लिया था, इस प्रकार पितृ सेवा का अवकाश भी आपको उपलब्ध हो गया। उस काल में श्री शालिगरामजी, श्री सरयूदत्तजी, श्री जयनारायण जी के अतिरिक्त शेष सब अपने भोजन वस्त्र का भार स्वयंवहन करते थे। किन्तु कभी-२ श्री कुलपतिजी की अयाचितवृत्तिता के कारण उनके भोजन की भी समस्या उपस्थित हो जाती थी। उस समय वह किसी परिचित को पत्र लिखकर अधिकांश बेलौन से श्री शालिगरामजी जी पंसारी से रु० मंगाकर उनका भोजनादि का प्रबन्ध कर देते थे। और कहीं से रुपया आ

जाने पर सर्व प्रथम उधार मंगाया हुआ धन लौटा देते थे। यदि किसी ने उन्हें आवश्यकता पूर्ति के निमित्त कुछ रुपया भेज दिया तो उसमें से सामान्यतया जिस वस्तु की आवश्यकता होती थी उसे मंगाकर शेष धन विद्यार्थियों के व्यय के लिये ही आज्ञापित कर देते थे। स्वयं अपने हाथ से तो कभी धन का स्पर्श करते नहीं थे। किसी योग्य छात्र के पास ही इसका सब प्रवन्ध रहता था। विशेषतया श्री नवनिधिजी शर्मा के ही आधीन यह कार्य था, जिनका सामान्य परिचय भी यथा स्थान दिया जायगा।

समाचार एवं सूचनायें वायु पर चढ़कर चलती हैं। महाराजश्री के नरवर आने के तीन दिन के भीतर ही बेलौन, कलकत्ती, नरौरा, आदि गावों में यह उदन्त कि नरवर पर महाराजश्री स्थायी रूप से रहने के उद्देश्य से आकर रहने लगे हैं पहुँच गया। श्रद्धा में वड़ा वल होता है, वह मनुष्य के अन्तरतम को पवित्र कर देती है। परमपूज्य ब्रह्मचारीजी ने अपने तप एवं त्याग से समीप के वातावरण को श्रद्धा से आपूरित कर दिया था। अतः उनके पास आस-पास के श्रद्धालुओं के आने-जाने का तांता लग गया। एक सप्ताह के भीतर ही अन्न वस्त्र का आना प्रारम्भ होगया। पाठशाला के प्रारम्भिक पाँचों छात्रों के भोजन का प्रबन्ध पण्डित रघुनाथप्रसाद, पंडित रामचन्द्र भक्त, पण्डित गोविन्द राम पुजारी आदि के प्रयत्न से वेलौन से होने लगा। इनके अतिरिक्त श्री हरदयालु भक्त की प्रेरणा से चन्दौसी की जनता से 'श्री रामचन्द्र दलाल की प्रेरणा से देहली से, श्री गंगाप्रसाद वैद्य के प्रयत्न से विद्यालय की समीपवर्ती देहाती जनता से' श्री मुंशी खमानसिंह चौधरी नरौरा के सहयोग से एवं लाला कल्याणदास जी भटवारा बुलन्दशहर ठेकेदार कलकत्ती गंगानहर के यत्न से विद्यालय को अन्न वस्त्र की आवश्यकताओं की पूर्ति होने लगी। नरौरा निवासी चौधरी नन्दलाल जी के यहाँ पांच अथवा छः ब्रह्मचारी नित्यप्रति भोजन के लिए जाने लगे। सम्माननीय चौधरी साहब का विद्यालय की प्रगति में उल्लेखनीय योगदान रहा है। विद्यालय के प्रति उनकी सेवाओं का उल्लेख अन्यत्र दिया गया है। वेलौन निवासी पंडित सालिगराम पंसारी की पूज्य ब्रह्मचारी में अगाध श्रद्धा थी। वह निरन्तर महाराजश्री के पत्र की आज्ञाओं का तुरन्त पालन करते थे। उनकी वदान्यता का उल्लेख ऊपर हो चुका है। उनके पश्चात् उनके उत्तराधिकारी पंडित रेवतीराम की भी महाराजश्री एवं नरवर के विद्यालय के प्रति वैसी ही निष्ठा है।

समीपवर्ती जनता के अयाचित सहयोग की उत्सुकता एवं तत्परता देखकर पूज्य कुलपतिजी को यह तो निश्चय हो गया कि नरवर विद्यालय की प्रगति अवश्यम्भावी है।

विद्यालय के दो तत्त्व ही प्रमुख हैं, प्रथम अध्यापक और द्वितीय विद्यार्थी। ये दोनों ही चेतन तत्त्व हैं। अन्य तत्त्व यथा भवन एवं कोष आदि गौण हैं। आज हमारी शिक्षा–पद्धति में चेतनतत्त्व गौण मान लिए गये हैं और अचेतन तत्त्व प्रमुख हैं। यह विपर्यय हमारी शिक्षा को रसातल को ले जा रहा है।

इस प्रकार विश्वम्भर के आश्रय पर यह पाठशाला प्रगति करने लगी। उस समय इस पाठ–शाला का नाम 'वेद वेदाङ्ग पाठशाला' रखा गया था जोकि बहुत काल तक चलता रहा। उस समय केवल श्री महाराजश्री ही पढ़ाते थे। पढ़ने पढ़ाने का भी कोई स्थान नियत नहीं था। प्राचीन ऋषियों के समान घूमते–फिरते जिस स्थान पर बैठ गये वहीं पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। छात्रों का भी यही क्रम था कि पाठ पढ़कर उसे उपस्थित करने के हेतु श्री जह्नुतनया के तटपर कोई खारों में, कोई

ग्रीष्म और वर्षा काल में किसी शीशम के नीचे, शीत काल में किसी निवात-स्थान में जहाँ सूर्य का आतप हो, जाकर बैठ जाता था। सभी छात्र अपना भोजन स्वयं बनाते थे। इस प्रकार इस कलिकाल में भी यहाँ बाहर के आगन्तुकों को यह आभास होता था कि इतिहास और पुराणों में वर्णित तपोवन का प्रत्यक्ष स्वरूप यही है। प्रतीत तो ऐसा होता था संभवतः दैवीनियम के कारण कलियुग भूमिपाल के भय से सतयुग ने भागकर नरवर का ही आश्रय ग्रहण कर लिया है। कारण, दण्ड मेखला, कौपीन कटि वस्त्र, शिखा सूत्रधारी व्रती ब्रह्मचारी तथा धौतवस्त्र, कौपीन, बगलवन्दी धारी अन्य छात्रवृन्द को पाठशाला में विद्याध्ययन करते एवं प्रातः सायं श्री गंगा महारानी के पावन तट पर सन्ध्या वंदन, गायत्री-जप आदि करते हुए अवलोकन कर प्रत्येक दर्शक का अन्तःकरण सात्त्विक, श्रद्धा एवं आह्लाद से परिपूर्ण हो जाता था। समय पर प्राप्त हुए अतिथि का उसके स्वरूप के अनुसार यथाविधि सत्कार किया जाता था। शनैः शनैः जब श्री कुलपतिजी का यशः सौरभ विस्तृत होने लगा तो दूर दूर के मनुष्य दर्शनार्थ आने लगे और धन धान्य से विद्यालय की सहायता करने लगे। ऐसा नहीं देखा गया कि किसी समुदाय का कोई व्यक्ति वहाँ पर आया हो और वह वहाँ से पूर्ण सन्तोष की भावना लेकर न लौटा हो। प्रातः विद्यालय में जितने भी आगन्तुक बाहर से आते वे सभी वहाँ की व्यवस्था देखकर सन्तुष्ट लौटते थे। सर्वधर्मसमन्वय की आपकी ऐसी क्रिया थी कि किसी मत-मतान्तरवादी को कुछ प्रतिवाद का अवकाश ही नहीं होता था। जो जिस जाति, सम्प्रदाय, व्यवसाय वाला व्यक्ति आता था उसे उसी की जाति, सम्मुदाय, व्यवसाय के अनुसार धार्मिक शिक्षा देकर कर्तव्य मार्ग पर अग्रसर होने का पथ प्रदर्शन कर देते थे। इस कारण सभी जाति, धर्म, सम्प्रदाय वालों के हृदय में आपके प्रति एक अलौकिक श्रद्धा उत्पन्न हो जाती थी जोकि एक निम्न उदाहरण से स्पष्ट व्यक्त होती है :—

एक बार हरदुआगंज (अलीगढ़) में श्री सनातन धर्म का एक महोत्सव हुआ। श्री कुलपतिजी के एक शिष्य श्री पं० हरिशङ्कर जी शर्मा वैद्यराज उसके मन्त्री थे। उनके विशेष आग्रह से उन्होंने हरदुआगंज जाना स्वीकार कर लिया। द्वितीय दिवस दस बजे की गाड़ी से हरदुआगंज को प्रस्थान किया, साथ में श्री चण्डीप्रसादजी शुक्ल तथा साहित्योपाध्याय आयुर्वेदाचार्य श्री पं० नारायणदत्तजी भी थे, हरदुआगंज स्टेशन से सब लोग तो इक्कों में बैठकर वहाँ पहुँच गये किन्तु महाराजश्री किसी जीव द्वारा वहन करने वाले वाहन में यात्रा नहीं करते थे। अतः पदाति ही ४ मील ग्रीष्म के मध्याह्न काल में हरदुआगंज पहुँचे। उस उत्सव में सनातन धर्म के तत्कालीन बड़े बड़े प्रसिद्ध उपदेशक पधारे थे, और उनके अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यान होते थे। जनता शान्तभाव से बैठी रहती थी। यह आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व की बात है। उस समय सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक कैसी ही सभा हो, एक सब इन्स्पेक्टर पुलिस की उपस्थिति अवश्य रहती थी। जितने समय तक व्याख्यान होते थे वह कुर्सी पर पथक् बैठे रहते थे। इसी नियमानुसार एक मुसलमान सब इन्स्पेक्टर पुलिस उस सभा में भी नित्यप्रति आकर आसीन रहते थे। श्री कुलपतिजी की वेषभूषा देख कर जनता की उत्कट इच्छा से वाध्य होकर मन्त्री महोदय ने श्रीकुलपतिजी से प्रार्थना की कि जनता श्रीमुख निर्गलित सुधार-सास्वादन के लिये अत्यन्त उत्कण्ठित है। यदि आप कुछ उपदेशामृत पान करा सकें तो उपस्थित जनता पर अत्यन्त कृपा होगी। प्रथम तो उन्होंने यह कह कर निषेध किया कि न तो हम उपदेशक हैं, और यदि कुछ वोल भी दें तो इन उपदेशकों के समान हस्त-पद संचालन मुख-मुद्रा परिवर्तनादि क्रिया हमारे द्वारा सम्पन्न होने से जनता प्रभावित ही न हो सकेगी।

जब सभा के आयोजकों एवं स्थानीय श्रद्धालुओं ने महाराजश्री से अत्यन्त विनम्र आग्रह किया तो वह बोलने के लिए प्रस्तुत हुए। उनके व्याख्यान से पहले सभी को शान्ति के साथ यथा-स्थान बैठ जाना पड़ा। उन मुसलमान इन्सपेक्टर महोदय को भी कुर्सी छोड़कर सामान्य श्रोताओं के साथ स्थान ग्रहण करना पड़ा। पूर्ण मनोनुकूल व्यवस्था होने के पश्चात् महाराजश्री का व्याख्यान प्रारम्भ हुआ।

इस सभा में वह वर्णाश्रम व्यवस्था पर बोले थे। कहा जाता है कि सभी श्रोता मन्त्रमुग्ध होकर उनके व्याख्यान को सुनते रहे। हरदुआगंज के उस समय के प्रतिष्ठित आर्य समाजी भी मौन होकर उनकी वाणी का रसास्वादन करते रहे। व्याख्यान के अन्त में—कहा जाता है—सभा में सरकार की ओर से उपस्थित रहने वाले मुसलमान इन्सपेक्टर महोदय ने भी व्याख्यान जनित श्रद्धा से परिपूरित हृदय होकर ग्यारह रुपये पूज्य महराजजी को भेट किये और उनकी भूरि–भूरि सराहना की।

हरदुआगंज में मीतल गोत्रीय प्रतिष्ठित परिवार के एक नवयुवक से भेंट हुई। वह इस समय वदायूँ के शिवनारायणदास कालेज के हिन्दी–विभाग में व्याख्याता हैं। उनसे वार्तालाप के प्रसंग में पूज्य महाराजश्री का प्रसंग आ गया और उनके उपर्युक्त सभा के व्याख्यान की बात चल पड़ी। उनसे पता चला कि उनके पूज्य पितामह उस समय अच्छे जमीदार थे और पूज्य ब्रह्मचारी जो को हरदु-आगंज निमंत्रित करने में प्रमुख थे। वह स्वयं छोटी अवस्था के बालक थे, किन्तु जिस उत्साह एवं समा-रोह के साथ महाराजश्री का हरदुआगंज में सम्मान एवं स्वागत हुआ था, उसका धूमिल चित्र आजतक उनके हृदय पटल पर है। सनातनधर्म में विश्वास करने वाले व्यक्तियों को पूज्य महाराजश्री की उपस्थिति एवं व्याख्यान से अपार प्रसन्नता थी।

नरवर आश्रम की सांङ्गवेद विद्यालय की स्थापना के पूज्य कुलपतिजी जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे।

महाराजश्री का पत्र-लेखन

महाराजश्री के अति निकट रहने वाले उनके अन्तेवासियों का अनुमान है कि वे प्रतिदिन अनेक पत्र लिखते थे। पूज्य महाराजश्री के द्वारा लिखे जाने वाले पत्रों की प्रतिदिन की संख्या के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर कई उत्तर मिले। एक ने बड़े विश्वास के साथ बताया कि वे प्रतिदिन कम से कम बीस पत्र लिखते रहे होंगे, दूसरे ने कहा– "महाराजश्री प्रतिदिन कम से कम दश पत्र तो अवश्य लिखते होंगे। कारण, उनके पास जो भी व्यक्ति कोई काम कराने आता, वह उसे अपने हाथ से पत्र लिखकर ही देते थे।" जब हमने शंकाशील दृष्टि से उनको देखकर उन्हें सचेत किया, "आपके इस हिसाब से एक वर्ष में लिखे जाने वाले पत्रों की संख्या साढ़े तीन सहस्र से ऊपर पहुँचती है।" इतनी बड़ी संख्या का गणित सुनकर वह हतप्रभ बिना हुए बोले, "हाँ, इतने पत्रों से अधिक ही लिखे जाते होंगे।"

महाराजश्री के पत्र-लेखन के सम्बन्ध में हमने अनेक व्यक्तियों से पूछताछ की है, और सभी ने अपने अपने अनुमान से जो उत्तर दिये हैं, उनकी तिहाई और चौथाई संख्या स्वीकार कर हिसाब लगाने पर भी एक वर्ष में लिखे जाने वाले पत्रों की संख्या कम से कम एक सहस्र तक पहुँचती है

और साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर के पचास वर्ष के जीवन में महाराजश्री द्वारा लिखे जाने वाले पत्रों की संख्या पचास हजार के आस-पास पहुँचती है। यदि इस संख्या को प्रमाणित संख्या मान लें तो यह भी बहुत बड़ी संख्या है।

हमने स्मृति ग्रन्थ का कार्य प्रारम्भ करने के समय से ही उनके पत्रों का संग्रह करने का संकल्प किया था। प्रचार भी यथेष्ट किया। उसका फल आशाजनक तो नहीं निकला, किन्तु कुछ न कुछ फल निकला अवश्य हमें उनके एक दर्जन पत्र उपलब्ध हुए हैं जिनमें दो-तीन पत्र अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं बहुमूल्य हैं।

इतना अधिक प्रयत्न करने पर भी कम संख्या में ही पत्र एकत्र हो पाये, इसका एक विशेष कारण है- महाराजश्री के अधिकांश पत्र परिचयात्मक अथवा शंसात्मक श्रेणी में आते हैं, जिनका मूल्य प्रायः तात्कालिक था। कहने का अभिप्राय यह कि उनके पास आर्त्त, अर्थार्थी, पीड़ित आदि सहायता के लिए उपस्थित होते थे। कोई यह इच्छा लेकर आता कि वे पुलिस के किसी ऊँचे अधि-कारी को एक पत्र लिख दें जिससे वह अधिकारी उसके अभियोग में सहायक हो जाय, कोई रोगी किसी अच्छे डाक्टर के नाम महाराजश्री का शंसापत्र पाने की इच्छा लेकर आता, कोई दरिद्र विद्यार्थी अपने किसी आर्थिक अभाव से प्रेरित उसकी शान्ति के लिए उनके पास आता और महाराजश्री किसी सेठ, साहूकार, उदारमना व्यक्ति को व्यक्तिगत पत्र लिखकर उसकी अभाव पूर्ति करने के लिए लिखते और कभी कोई अपने इसी प्रकार के किसी अन्य मनोरथ की पूर्ति के लिए महाराजश्री का पत्र लेने आता। उनके अधिकतर पत्र इसी कोटि के हैं जिनका संग्रह किसी भी प्राप्तकर्त्ता ने कदाचित् किया हो, साथ ही किसी भी पत्र-पाने वाले को महाराजश्री के अधिक पत्र पाने की संभावना भी तो नहीं रहती होगी। इतने पर भी आज महाराजश्री को ब्रह्मलीन हुए लगभग सत्रह वर्ष हो गये। इतने लम्बे समय तक तो पत्रों को वेही सहेज सकते थे जो इन पत्रों में अपना सौभाग्य समाविष्ट मानते हैं। यही कारण है कि प्रयत्न करने पर भी हमें थोड़े पत्र ही मिल पाये हैं।

साङ्गवेद महाविद्यालय की स्थापना के पश्चात् महाराजश्री नरवर-आश्रम छोड़कर बहुत कम बाहर जाते थे। उनका बाहर जाना कभी-कभी और वह भी नैमित्तिक हुआ करता था। वस्तुतः नित्य संध्या-पूजा, गायत्री-जप आदि लम्बे समय तक करने वाले महाराश्री जैसे साधना का जीवन बिताने वाले व्यक्ति के लिए बाहर जाना अन्तराय प्रतीत होता है। वह यातो किसी यज्ञ में सम्मि-लित होने के लिए, किसी संस्कृत-पाठशाला अथवा मन्दिर की प्रतिष्ठा के लिए अथवा किसी अन्य महत्त्वपूर्ण प्रासंगिक कार्य के लिए ही बाहर जाते थे। अतः उनके प्रायः सभी कार्य पत्रों के माध्यम से ही सम्पन्न होते थे। श्री १००८ श्री करपात्रीजी महाराज ने अपने संस्मरण के श्लोक से महाराजश्री के पत्र लेखन की ओर संकेत किया है।

तथापि जातु नैवासीद्विदुषो गमनं क्वचित्।
पत्रमात्रं तु निष्पत्त्यै सर्वेषां समजायत॥

'उनका अभिप्राय यह कि नरवर-आश्रम का कार्यभार भी बहुत बढ़ गया था, साङ्गवेद महा-विद्यालय की छात्र-संख्या में विशेष वृद्धि हो गई थी, अनेक उत्तरदायित्व महाराजश्री पर आ गये थे, इतने पर भी वे कभी इनकी पूर्ति के लिए बाहर नहीं गये, उन सबकी पूर्त्ति केवल मात्र पत्रों से ही हो जाती थी।'

नरवर-आश्रम का व्यय-भार वहुत बढ़ गया, किन्तु उसकी पूर्ति मात्र पत्र लिखने से ही होती रही। यह एक अद्भुत बात थी। महाराजश्री के निकटस्थ सूत्रों का कथन है कि उनके प्रियातिप्रिय, विश्वासपात्र और उदारमना व्यक्ति उनसे मिलने आते थे, उनसे पूज्य कुलपतिजी का लम्बा एवं मधुर वार्तालाप भी चलता, किन्तु वे मिलने पर वार्तालाप के मध्य अपने अभाव की वार्ता तक जिह्वा पर न लाते थे। कई बार खुर्जा के सेठ सूरजमल जटिया आदि नरवर आये, किन्तु नरवर आने पर भी उन्हें नरवर की अभाव-वार्ता तक सुनने को न मिली चाहे उनके साथ-ही-साथ नरवर की अभाव-कथा कहने वाला पत्र खुर्जा भी पहुँच गया हो।

पत्र का फल अवश्यम्भावी था। जानकार सूत्रों का कथन है कि उनके पत्रों के प्राप्त करने वाले चाहे कितने ही अधिकार-सम्पन्न व्यक्ति क्यों न रहे, सभी ने उनके पत्र की मांग को पूरा किया। प्राप्तकर्त्ता पत्र से प्रभावित हो जाता था। महाराजश्री के निकटस्थ सूत्रों ने कहा, "महाराजश्री की लेखनी सिद्ध थी। उससे निकले शब्द विधाता की भाग्यलिपि की भांति निश्चित फलदायक होते थे।" संकल्पसिद्ध महात्माओं की चर्चा सुनी है, कुछ के दर्शन भी किये हैं, किन्तु कुलपतिजी की लेखनी सिद्ध थी, अद्भुत होते हुए भी यह सत्य है। संस्मरण खण्ड में प्रिय मित्र श्रीछज्जूराम शास्त्री ने उनको 'सिद्ध लेख' महात्मा माना है।

उनके पत्र-लेखन के सम्बन्ध में पं० जगन्नाथप्रसाद वैद्य के पुत्र श्री विश्वनाथ एम. ए. 'विश्वेश' ने लिखा है :—

"उनकी इस कला की ओर अभी तक विद्वानों का ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। उनके द्वारा लिखे गये सैकड़ों पत्र यत्र-तत्र बिखरे होंगे। उनके पत्रव्यवहार का क्षेत्र बड़ा व्यापक था। गृहस्थ से लेकर साधक तक, सन्यासी से लेकर शंकराचार्य तक तथा सेठ साहूकार, विद्वान, कवि, लेखक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक नेताओं से लेकर अफसरशाही तक उनका प्रभाव और व्यवहार फैला हुआ था। उनके कतिपय पत्र, यथा स्वर्गीय पं० मदनमोहन मालवीय, स्व० पं० गोविन्दबल्लम पन्त, पं० कमलापति त्रिपाठी, श्रीजैतली आई. जी. पुलिस, श्री रैना तथा पं० विनोदचन्द्र शर्मा भू० पू० आई. ए.एस. तथा रंगजी-मन्दिर वृन्दावन के प्रमुख महन्तजी आदि को लिखे, पढ़ने का मुझे अवसर मिला है। उनकी शैली की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे मानव-मनोविज्ञान के बड़े कुशल पारखी थे और सम्बन्धित व्यक्ति के अन्तर में प्रविष्ट होकर उसके मर्म के ऐसे स्थान पर अपना वाक्सन्धान करते थे कि उसका प्रभाव "सतसैया के दोहरे" की भांति अचूक होता था।

शायद हो कोई पत्र व्यक्तिगत एषणा की दृष्टि से लिखा गया हो, सभी लोक-मंगल हेतु ही लिखे गये थे। सम्बन्धित व्यक्ति को वे उसी प्रकार अभीष्ट फल प्राप्त कराने वाले होते थे जिस प्रकार महाकवि रहीम का दो पंक्तियों का राजा अवधनरेशप्रतापसिंहजू के नाम ब्राह्मण को कन्या-विवाह की सहायता हेतु लिखा गया "चित्रकूट में बसि रहे रहिमन अवधनरेस। जा पर बिपदा परत है सो आवत यहि देस॥" पत्र। उनके आश्रम में भी यदि कोई विपदाग्रस्त पहुँच जाता था, तो वे भी उसके संकटों को इसी प्रकार दूर कर दिया करते थे। महाविद्यालय के लैटरपैड के आधे पृष्ठ में ३-४ पंक्तियां लिखकर गागर में सागर भर देते थे।

संस्कृत की किसी न किसी सूक्ति से युक्त सूत्र शैली में लिखित उनके ये पत्र भाषा और भाव की दृष्टि से सर्वथा बेजोड़ हैं। उन पत्रों के सन्दर्भ में स्व० महाराजजी का वैयक्तिक और सामाजिक

अध्ययन एक वैज्ञानिक पद्धति के द्वारा सम्पन्न हो सकेगा जो प्रशस्ति मार्ग से हटकर उनके व्यक्तित्त्व के गौरव को सर्वग्राह्य राजमार्ग की ओर ले चलने में सहायक होगा। मुझे विश्वास हैं, उनका यह नव्य रूप परिचित और अपरिचित सभी व्यक्तियों में उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति उत्पन्न करने में समर्थं होगा।"

एक विद्यार्थी की सहायता के लिए पं० त्रिलोकीनाथ शुक्ल अलीगढ़ को एक पत्र लिखा था :—

श्री पं० त्रिलोकीनाथ शर्मा

प्रसन्न रहो।

यह मदन शर्मा अति संकोच में है। विद्यालय के अध्यापकों ने प्राइवेट फार्म भरवा दिये। कृपया एक चित्र बनादो। उपकार होगा।

भ० श्रेयस्काम
जीवनदत्त शर्मा, नरवर
५-११-५३

विद्यार्थी को प्राइवेट फार्म भरने के लिए फोटो की आवश्यकता पड़ी। श्री त्रिलोकीनाथ को पत्र लिख दिया। पत्र से विद्यार्थी का कार्य सम्पन्न हो गया।

एक व्यक्तिगत पत्र में आश्रम की दशा का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा था, "विद्यालय के लिए अन्न की आवश्यकता है। बड़े दाता किसी कारण से उदासीन हैं, आप कतिपय प्रेमियों से कुछ संचित कर भेजिये।"

एक दूसरे पत्र में लिखा है, "चिरकाल से विद्यालय की पुताई और मरम्मत नहीं हुई, तदर्थ मुम्बई को लिखा है। तुम भी लिखना ·· विद्यालय की पुताई और मरम्मत करा दी जाय।"

स्पष्ट है कि विद्यालथ की मंगलकामना महाराजश्री के मन में सर्वोपरि रहती थी। जिस प्रकार साधारण संसारी मनुष्य को अपने शरीर की चिन्ता रहती है उसी प्रकार उन्हें आश्रम की चिन्ता रहती थी। वह उसका सतत उसी प्रकार पोषण करते रहते थे 'जिमि अविवेकी पुरुष शरीरहिं।'

एक वार उन्होंने वैद्य पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, फिरोजाबाद को एक पत्र लिखा था। श्री वैद्यजो इस स्मृति ग्रन्थ समिति के अध्यक्ष हैं।

श्री:

श्रीयुत् वैद्य जनन्नाथ शर्मा

आनन्दित रहो।

देहरादून में धर्मादि का कई हजार रुपया है, जिसका अधिकार श्रीविनोदचन्द्रजी शर्मा जिलाधोश के हाथ में है। हमारी इच्छा है कि तुम वहां जाकर उस रुपये को विद्यालय के लिये प्राप्त कराओ। इन्धन का कष्ट है। वहाँ से प्रबन्ध हो सकता है। ···

भ० श्रेयस्काम
जीवनदत्त शर्मा, नरवर
२-६-५३

यह पहले कहा जा चुका है कि महाराजश्री के समीप ऐसे बहुत से व्यक्ति पत्र लिखाने आते थे जो किसी अभियोग में फँसे हों। जीव-मात्र के लिए करुणापूरित हृदय वाले पूज्य ब्रह्मचारीजी प्रत्येक को तुरन्त पत्र लिख देते थे। कभी-कभी तो ऐसा होता था कि उनसे दोनों ही पक्ष वाले पत्र लिखा ले जाते थे। इससे पत्र-प्राप्त करने वाले अधिकारियों को कठिनाई भी अवश्य होती होगी।

महाराजश्री के त्रयोदशाह श्राद्ध में डी० आई० जी० पुलिस श्री ब्रजभूषण जैतली ने अपनी

श्रद्धाञ्जलि में कहा था—"मैं समीप के जिले बदायूँ में पुलिस अधीक्षक था। बदायूँ अपराध की दृष्टि से अग्रगण्य जिलों में माना जाता है। वहाँ अपराध आये-दिन होते रहते हैं। मेरे पास पूज्य महाराजश्री के जब तक दो चार पत्र पहुँचे तो मैंने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया; परन्तु जब लगातार पत्र पहुँचने लगे तो मेरे प्रबन्ध में प्रतिबन्ध सा उपस्थित होने लगा। अतः मैं महाराजश्री से मिलने नरवर आया और उनसे सप्रश्रय निवेदन किया, महाराज आप तो बदायूँ की स्थिति से पूर्ण परिचित हैं। वहाँ अपराधों की घटना नित्य की स्थिति है और वह नरवर से बहुत दूर भी नहीं है। वहाँ के जितने अपराधी हैं उनको आपके यहाँ का मार्ग ज्ञात हो गया है। वे तुरन्त आपके पास चले आते हैं। आप सभी को पत्र भी लिख देते हैं। आपकी आज्ञा मेरे लिए वेदवाक्य के समान मान्य है। इससे मेरे कर्तव्यपालन में अन्तराय उपस्थित होता है। अतः आप प्रत्येक व्यक्ति को पत्र न लिखा करें तो अच्छा है।"

श्रीमहाराजजी ने बड़े सहज भाव से उत्तर दिया, "मेरा कर्तव्य दीन-दुखियों पर दया करना है, अतः मैं अपना कर्तव्यपालन करता हूँ, तुम भी अपना कर्तव्यपालन करो, मेरे पत्रों पर विचार न करो; किन्तु एक बात बताओ कि आज तक दण्ड देकर और कारागार भेजकर कितनों का सुधार किया है? अब कुछ क्षमा का दण्ड देकर भी देख लो कि उसका क्या फल निकलता है?"

अतएव महाराजश्री इस प्रकार के पत्र सहज भाव से लिख दिया करते थे। एक बार वैद्य जगन्नाथप्रसाद शर्मा एक अभियोग में फँसे। उस में सम्बन्ध महाराजश्री ने अलीगढ़ के प्रसिद्ध वैद्य श्रीयुत् दीनदयालु शर्मा, उपमन्यु औषधालय को निम्न पंक्तियाँ लिखी थीं:—

श्रीहरिः
विद्याधर्मेण शोभते
श्री सांगवेद महाविद्यालय, नरवर
पो० नरौरा, जिला बुलन्दशहर

स्वस्थि श्रीयुत पं० दीनदयालु शर्मा वैद्य उपमन्यु:
आनन्दित रहो।

जगन्नाथशर्मा वैद्य टूण्डला से एक अभियोग लग गया है जिसका पूरा वृत्त पं० बाबूरामशास्त्री स्वयं सुनावेंगे। श्रीमान् रैना साहब महोदय अलीगढ़ से आगरा जारहे हैं उनसे संक्षेपतः समाचार सुनाकर जगन्नाथ वैद्य का परिचय करा देना यतः अभियोग में सहायता मिल सकेगी। परगना हाकिम के यहाँ अभियोग है।

भ० श्रेयस्काम
जीवनदत्त शर्मा, नरवर

कहने की आवश्यकता नहीं कि महाराजश्री की महती अनुकम्पा से वैद्यजी अभियोगमुक्त हुए।

शादी सम्बन्ध के इच्छुक कन्याओं के अभिभावक भी महाराजश्री से पत्र लिखाया करते थे और वह भी इस प्रकार के पत्र लिखकर आनन्दित ही होते थे।

आगरा में डा० रोशनलाल शर्मा हैं। उनके पिता श्रीचतुर्भुज शर्मा प्रायः नरवर पर ही रहे और वहीं पर उनका देहावसान भी हुआ। महाराजश्री की यही इच्छा हुई कि पितृहीन रोशनलाल की शादी शीघ्र करा दी जाय। वह उस समय पीलीभीत के ललितहरि आयुर्वेदिक विद्यालय में आयुर्वेद का अध्ययन कर रहे थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि विवाह विद्याध्ययन के उपरान्त ही सम्पन्न हो अतः

उन्होंने महाराजश्री के पत्र के उत्तर में कई पृष्ठ का एक लम्बा पत्र उनको लिख दिया। उस लम्बे पत्र की उन पर जो प्रतिक्रिया हुई उसको यहाँ उनके पत्र के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

विद्या धर्मेण शोभते

श्री सांगवेद महाविद्यालय नरवर

पो० नरौरा — जिला बुलन्दशहर

संख्या.................. — तिथि..................

।चिरंजीव रोशनलाल शर्मा। प्रसन्न रहो
बड़े भाग्यशाली हो आचार्य पास भी कामना करते२
थक जाते हैं पर संकल्प पूरा नहीं होता अहोभाग्य।
लगन जागी ।शिक्षा सदृश ही है तुम्हारे बिना
रखली है उसने पर अर्पित की जायगी आखिर तो
चतुर्भुज भगवान के पुत्र हो कौन भाग्यशाली हो
मा. कृ. १० भी शनिवार सायंकाल चलकर शीघ्र आओ
तुम्हें कोई चिन्ता नहीं करनी होगी केवल विष्णुरूपी
बनकर चक्रवर्ती में पहुंचकर शांति को प्राप्त कर
लेना। जिनकी शान्ति पत्नी तयार है उन्हें अशान्ति
जन्य चिन्ता दुःख कहां — एक तुम्हारा पाणिग्रहण
पूर्ण था अब वो दीवक होगये हैं। अब पाणिग्रह
पाकर इस हमारे प्रिय काम को पूरा करो अन्यथा
हमारी हंसी है तुम तो तुम ही रहो —
मौजीराम के ग्राम के श्री ठाकुर साहब को निम-
न्त्रण देकर बरात में लाना।

भी. शुभकाम
जीवनदत्त शर्मा
नरवर
१६/११/५१

पत्र से स्पष्ट है कि महाराजश्री लम्बा पत्र पाकर भो अपने निश्चित पथ से तनिक भी विचलित नहीं हुए और वर की अनुपस्थिति में हो लग्न भी चढ़ाली। पत्र में प्रकट होने वाले पाण्डित्य को हँस कर टाल दिया और अन्त में पूरो गम्भीरता के साथ कार्य की पूर्णता के लिए शीघ्र आने का आदेश भी दे दिया।

डा० रोशनलाल शर्मा ने जब अपना संस्मरण सुनाया तो वह गद्गद् हो गये थे। इसी घटना से सम्बद्ध उनका एक संस्मरण अन्यत्र छपा है। श्री शर्मा के पूज्य पितामह एवं पूज्य पिताजी प्राय: जीवन-भर नरवर पर ही रहे। वे दोनों पवित्रात्माओं ने इहलीला भी नरवर पर ही संवरण की। डा० शर्मा के पूज्य पिताजी के देहावसान पर पूज्य महाराजजी ने उनके योगक्षेम की पूर्ण व्यवस्था की अतः उनका विवाह भी उन्होंने संसारग्रस्त साधारण आदमी की ममता से पूरा किया।

तीसरी कोटि के वे पत्र हैं जो परिचय-पत्र के रूप में लिखे गये हैं। इस प्रकार का एक परिचय-पत्र हमें श्री रामस्वरूपजो त्रिकालदर्शी से मिला है जो यहाँ उद्धृत है। इस परिचय-पत्र में व्यक्ति के साथ भारतीय परकाय-प्रवेश विद्या का उल्लेख है। श्री रामस्वरूपजो शर्मा से हमें दो-तीन पत्र प्राप्त हुए हैं जो प्राय: परिचयपत्र की कोटि में ही आते हैं।

श्रीहरिः

६/२/३८

श्री गङ्गातट

यह पं० रामस्वरूप शर्मा सनाढ्य हमारे विद्यालय में संस्कृत पढ़ते रहे। प्रारब्धवश इन्हें एक योगीराज मिल गये और उनसे इन्होंने त्राटक ध्यान योग की शिक्षा प्राप्त की। इस समय तक भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान की बातों को यथार्थ बतलाते हैं। मृत शरीर में प्रवेश कर १०-५ मिनट चेतना शक्ति का संचार कर बातचीत करा देते हैं। इनकी यह क्रियाएँ हमने स्वयं देखो हैं। इनका कहना है कि यदि निरन्तर अभ्यास का अच्छा प्रबन्ध हो जाय तो अल्पकाल में ही इस योग की अन्तिम श्रेणी तक पहुँच सकता हूँ। अन्तिम श्रेणी तक पहुँचने पर बड़े से बड़े वेग वाले यन्त्रों को भी अपनी शक्ति से रोक सकेंगे। वस्तुतः यह विद्या प्रत्यक्ष है। इनका कार्य सत्य है।

जीवनदत्त शर्मा ब्रह्मचारी
व्यवस्थापक
सांगवेद महाविद्यालय,
नरवर

महामना मालवीयजी भारतीय संस्कृति के उन्नायक थे। पूज्यपाद महाराजजी की इच्छा रही कि पुरातन लुप्त योग विद्या को पुनर्जीवित किया जाय, अतः उन्होंने इन्हीं पं० रामस्वरूप शर्मा की महामना श्रीमालवीयजी से संस्तुति करने के लिए भी एक पत्र लिखा था जो हमारे इस तुच्छ संग्रह में है, जो महाराजश्री की हस्तलिपि में ही नीचे उद्धृत है।

श्रीहरि:

श्रीमत्सु ब्रह्मकुल दिवाकरेषु मालवीय महोदयेषु
सप्रश्रयं प्रणतय: समुल्लसन्तु

यह रामस्वरूप शर्मा आपकी सेवामें आता है इसने योगका अभ्यास किया है यथाय प्रवेश भी कर लेता है अधिक निर्धन घर में जन्म लेने से आगे को अभ्यास नहीं कर सकता है। इस की कामना है कि यदि २ वर्ष के लिये कुछ सहायता मिल जाय तो निरन्तर सर्व कामों को छोड़ कर इस योग क्रिया को पूर्ण करलूं। आपके सिवाय कोई और गुरियों को योग देने वाला दृग गोचर नहीं होता है। कृपा कर इसकी दशा पर दृष्टि दीजिये आपकी कृपा से यह योग्य बनजाय यह मेरी प्रार्थना है।

भवदीय कृपा पात्र
जीवनदत्त शर्मा ब्रह्मचारी
साङ्ग वेद महा विद्यालय
नरवर

महाराजश्री के पत्रों को देखने से पता चलता है कि उनके अक्षरों की बनावट सुन्दर एवं स्पष्ट थी अतः उनके सभी पत्र पूर्ण सुपाठ्य हैं। किसी शब्द में भी अक्षरों की बनावट के कारण पढ़ने में

असुविधा अथवा शंका नहीं होती है। यद्यपि अक्षरों की शिरोरेखाओं को देखने से ऐसा पता चलता है कि वह प्रत्येक अक्षर की शिरोरेखा अक्षर के लिखने के तुरन्त बाद ही लगा देते थे, उसे पूरा शब्द लिखने के बाद नहीं बाँधते थे, फिर भी प्रत्येक अक्षर को अलग-अलग बँधने वाली शिरोरेखा पूरे शब्द की बँधने वाली सीधी शिरोरेखा जैसी लगती है। इसी प्रकार अनेक शब्दों की शिरोरेखायें भी अपना विलगत्व रखते हुए भी सरल-सीधी पंक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लेती हैं। यह लेखन-पद्धति एवं अक्षरों की बनावट लेखक की आन्तरिक शान्ति, सरलता एवं निर्मलता की द्योतक है।

महाराजश्री के पत्रों में विराम चिह्नों–पूर्ण विराम, अर्द्ध विराम आदि का पूर्णतया अभाव तो नहीं हैं, परन्तु उनके विरामादि चिह्नों में पूर्ण व्यवस्था नहीं है। संस्कृत की लेखन-शैली में विरामों की ओर ध्यान कम दिया जाता है। महाराजश्री भी उसी प्रकार पत्रों में विराम के स्थान पर भी विराम नहीं लगाते थे।

हमारे इस संग्रह में महाराजश्री के एक दर्जन से कुछ अधिक पत्र हैं, किन्तु एक भी पत्र ऐसा नहीं है जिसमें उन्होंने एक स्थान पर भी कोई शब्द लिखकर काटा हो। जो शब्द लेखनी के मुख से निकल गया वह मोती अथवा मणि बनकर कागज पर जड़ गया। वाक्य में कहीं भी हेर-फेर करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। प्रतीत होता है सुचिन्तित वाक्य सुव्यवस्थित शब्दावली में यथास्थान उतर रहा है।

महाराजश्री के विचारों में अद्भुत नैर्मल्य है। वे सुश्रृंखलित रूप में पत्रों में उतरते जान पड़ते हैं। जब एक विचार पूर्णता प्राप्त कर लेता है उससे सम्बद्ध अथवा आगे का विचार स्वतः ही आता हुआ जान पड़ता है।

महाराजश्री के अधिकतर पत्र विद्यालय के पैड पर ही लिखे गये हैं। दो-एक पत्र सादा कागज पर भी लिखे गये हैं। पं० रामस्वरूप शर्मा के परिचय-पत्र पर महाविद्यालय की मुहर भी लगी है।

पत्रों का प्रारम्भ प्रेष्य व्यक्ति के अनुसार ही लिखा जाता है। यह प्रारम्भिक सम्बोधन ही प्रेषक की प्रेष्य विषयक भावना को उजागर कर देता है। पूज्य महाराजजी का पत्र-प्रारम्भ भी इस दृष्टि से प्रेष्य के अनुकूल ही है।

पत्र के अन्त में महाराजश्री प्रायः श्रेयस्काम ही लिखते हैं। श्रेयस् परम मंगल है। वह सभी की मंगल कामना ही करते हैं। किसी पत्र में वह अपने नाम के साथ शर्मा जोड़ देते हैं तो किसी में ब्रह्मचारी।

वस्तुतः कुछ और अधिक संख्या में उनके पत्र हमें मिल जाते तो उनके पत्रों का आकलन एवं मूल्याङ्कन अपेक्षाकृत गम्भीर हो सकता था।

———

महाराजश्री की यज्ञनिष्ठा

गीता के तृतीय अध्याय में यज्ञ का उल्लेख है। यहाँ यज्ञ जीवन-व्यापार-यापिनी परोपकारमयो कर्मभावना का प्रतीक है :

'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।

यज्ञार्थ कर्म के अतिरिक्त किया जाने वाला कर्म-समूह बन्धनकारक है। गीता की दृष्टि में ब्रह्मा ने प्रजा का सहयज्ञा सृजन किया था अतः उसकी स्थिति-रक्षा का विधान यज्ञ से ही सम्भव है। गीतोक्त यज्ञ का सामान्यतया यह अर्थ है—जिस प्रकार मानव को अपनी स्थिति-रक्षा प्रिय है उसी प्रकार अन्य सृष्टि को भी प्रिय हैं। मानव सभी सृष्टि के साथ ही आनन्द से जी सकता है और भौतिक उन्नति प्राप्त कर सकता है। यदि वह अपनी स्थिति-रक्षा के लिए मानवेतर सृष्टि की स्थिति-रक्षा को खतरे में डालता है तो थोड़े से समय के पश्चात् उसकी भी स्थिति-रक्षा खतरे में अवश्य पड़ जायगी।

मानव का भौतिक निर्माण पञ्च महाभूतों से हुआ है अतः उसकी सत्ता के नैरन्तर्य के लिए इन भूतों की सतत आवश्यकता पड़ती रहती है। उसके आधार के लिए एवं अन्नादिक की पूर्ति के लिए पृथ्वी की आवश्यकता है और पानी एवं अग्नि की आवश्यकता पृथ्वी से भी अधिक है। स्थूल तत्त्व के बिना मानव की स्थिति थोड़ी-बहुत देर चाहे सम्भव हो जाय किन्तु सूक्ष्म तत्त्वों के बिना क्षण भर भी जीना असम्भव है। अन्नादिक के बिना मानव कुछ समय जी सकता है, किन्तु वायु एवं आकाश के विना वह क्षण भर नहीं जी सकता हैं।

पृथ्वी में बीजस्वरूप डाले हुए अन्न का कई गुना अन्न उसे थोड़े से परिश्रम से मिल जाता है। नदियों, तड़ागों, कूपों एवं मेघ आदि से उसकी पानी की मांग की पूर्ति होती रहती है, वायु एवं सूर्य से उसे वायु एवं प्रकाश की प्राप्ति होती रहती है। वृक्षादिक से सतत उसे फल-फ़ूल मिलते रहते हैं। इस जीवन धारिणी एवं जीवनदायिनी प्राप्ति के लिये उसे कुछ देना नहीं पड़ता है यदि इन तत्त्वों के लिए उसे थोड़ा भी भौतिक मूल्य चुकाना पड़ता तो उसका जीवन दूभर हो जाता। मानव अपने जीवन-सातत्य के लिए इन सतत किये जाने वाले उपकारों के लिए ऋणी है अतः यदि उसका अपना कर्म इसी परोपकार-परम्परा के तालमेल में होता है तो वह मुक्ति का अधिकारी होता है अन्यथा वह इस श्रेष्ठ जीवन के अधिकार से वञ्चित कर दिया जाता हैं। वह आवागमन के दुर्दम चक्कर में पड़ जाता है।

जिस प्रकार मानव की अप्रयास अथवा अल्पप्रयास से ही जीवन-स्थिति एवं जीवन-गति सम्भव हो जाती है अतः उसको मानवेतर सृष्टि की सत्ता में भी योग देना अनिवार्य है। मानवेतर सृष्टि की स्थिति में सर्वाधिक खतरा वही बन सकता है। गीता इसी परोपकार की भावना से किये जाने वाले कार्य को यज्ञ नाम से पुकारती है।

गीता में यज्ञ के दो अर्थों की ओर संकेत और किया गया है। उनमें प्रथम यह है :

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमावाप्स्यथ ।

मानव इस यज्ञ से देवताओं को भावित करे और यज्ञभावित देवता मानव को प्रेय एवं श्रेय की प्राप्ति करावें । इस प्रकार देवता एवं मानव पारस्परिक उन्नति की कामना से परम कल्याण को प्राप्त करें । इसका अभिप्राय यह कि यज्ञ के विधान से देवताओं की पुष्टि एवं उन्नति होती हैं, और यज्ञभावित देवता मानव कल्याण में योगदान करते हैं । दूसरी भावना यह है :

यज्ञाद्भवन्ति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।

'यज्ञ से पर्जन्य (वर्षा) की उत्पत्ति होती है और यज्ञ की उत्पत्ति कर्म से होती है ।' यह धारणा भी प्रथम का ही अंग प्रतीत होती हैं । भारतीय दृष्टि से जल, वायु, तेज आदि तत्त्वों के अधिष्ठातृ देवता हैं, यथा जल के अधिष्ठातृ-देव वरुण हैं, वर्षा के इन्द्र हैं, तेज के अधिष्ठातृ देव सूर्य हैं । इन सभी देवताओं की उन्नति यज्ञ से होती है और दूसरी भावना के अनुसार यज्ञ से वर्षा की उत्पत्ति होती है । यह ठीक है कि मानव की भौतिक सत्ता के लिए वर्षा की महती आवश्यकता है । वर्षा ही मानव को अन्न प्रदान करती हैं । परन्तु यह भावना भी ऊपर की देवभावन वाली भावना का ही अंग प्रतीत होती है । अतः यज्ञ से देवभावन की भावना ही मुख्य जान पड़ती है । विश्वकल्याण की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए यज्ञ की यही भावना सर्वोपरि है । यज्ञ के अनुष्ठान के प्रति यही भारतीय भावनामिश्रित वैज्ञानिक दृष्टिकोण है । इसी कारण यज्ञ भारतीय सनातन संस्कृति का मुख्य अंग है ।

संस्कृत का मंत्र-साहित्य ऋषि-प्रणीत हैं । 'ऋषयोः मन्त्रदृष्टारः' माना गया है । समाहित बुद्धिदृष्ट रहस्यों को बीज रूप में मन्त्रों में समाहित कर दिया गया है । यज्ञ में मन्त्रों से आहुति प्रदान की जाती है अतः उसके सस्वर पाठ का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता है । प्रभाव तो मात्र शब्द में विद्यमान है किन्तु शब्द-शक्ति से परिचित ऋषियों के मन्त्रों में वह सर्वाधिक निहित रहता है और कल्याणकारी ही होता है । प्राणिमात्र का अहेतु कल्याण करना सज्जनों का धर्म है । यह भी यज्ञानुष्ठान का एक मुख्य कारण है ।

यज्ञ की मुख्य उपादेयता एवं उपयोगिता जिसका यहां उल्लेख किया जा चुका है एक भौतिक उपादेयता भी हैं । पाँचो महाभूतों में अग्नि मध्यस्थ महाभूत है और अग्नि अर्पित पार्थिव एवं स्थूल पदार्थों को भस्म करके सूक्ष्म बनाकर वायु को अर्पित कर देता हैं; उनको ऊर्ध्व गतियुक्त कर देता हैं । इसी कारण सनातन संस्कृति में अग्नि का विशेष महत्त्व है ।

मिर्च खाने में तिक्त अथवा कड़ुवी होती है । यदि कोई मनुष्य कड़ुवी मिर्च खा लेता है तो उसका मुँह जलने लगता है और आँखों में अश्रु आजाते हैं किन्तु उसके स्थूल प्रयोग से उस अकेले की ही यह अवस्था होगो; उसके पास बैठने वाले व्यक्ति तक उस मिर्च के प्रभाव से अप्रभावित रहेंगे । यदि मिर्च खाने के स्थान पर उनका कूटना प्रारम्भ कर दिया जाय तो कूटने वाला तो उससे प्रभावित होगा ही, किन्तु उसके समीपवर्ती भी सभी लोग उसकी भस से प्रभावित होंगे । यदि इन मिर्चों को अग्नि में जलाना प्रारम्भ कर दिया जाय तो इससे समीपवर्ती ही नहीं पड़ोसी भी प्रभावित हो जायेगें । अग्नि में जलाई हुई मिर्च वायु में सूक्ष्मरूप से मिल जाने के कारण दूर-दूर तक श्वासावरोधक बन सकती है । यही कारण है कि चेचक, मोतोझरा आदि संक्रामक रोग से तथा सर्पदंश से

मरने वालों के शवदाह की आज्ञा नहीं है। उनके जलप्रवाह अथवा भूनिक्षेप का आदेश है। यदि इनको भूल से भी जला दिया जाय तो उनके विष से असंख्य व्यक्ति पीड़ित हो जायेंगे।

यज्ञ में मन्त्रपाठ के साथ यज्ञसामग्री का हवन किया जाता है। अनुष्ठान करने का थोड़ासा ज्ञान रखने वाले जानते हैं कि यज्ञ के उद्देश्य के अनुसार उसकी सामग्री भी बदलती रहती है। यह सामग्री अग्नि में भस्मसात् होकर वायु में प्रसृत होती हुई सर्व साधारण की कल्याणकारिणी बन जाती है। महर्षि दयानन्द के अनुयायी आर्यसमाजी यज्ञ के इसी गौण रूप को प्रधानता प्रदान करते हैं।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि यज्ञानुष्ठान अनेक दृष्टियों से सृष्टि का कल्याण करने में सक्षम है। अतः सृष्टि का कल्याण चाहने वाले महात्मा प्रायः यज्ञ का अनुष्ठान करते देखे जाते हैं।

पूज्य श्रीमहाराजजी का जीवन ही यज्ञरूप था। उनकी प्रत्येक श्वांस सृष्टि कल्याण के लिए प्रदत्त थी। उनका नाम जीवनदत्त पूर्णतया सार्थक था। वह संस्कृत वाङ्मय के भी पारंगत विद्वान् थे। शास्त्रों का उन्होंने मन्थन किया था, उनके सिद्धान्तों को अपनी निर्मल-बुद्धि कसौटी पर कसा था, उनके त्रिकालावाधित स्वरूप को भली भांति पहचाना था, मानव जीवन के लिए उनकी अनिवार्यता को हृदयङ्गम किया था और उनका सार्वकालिकता तथा सार्वभौमिकता से वे प्रभावित थे। अतः उन्हें यज्ञानुष्ठान में शास्त्र-प्रतिपादन अथवा शास्त्र-समर्थन का सरल मार्ग दिखाई पड़ा जिसका उन्होंने अवलम्बन भी किया। उनकी प्रेरणा, समर्थन, एवं सहयोग से सैकड़ों यज्ञों का स्थान-स्थान पर अनुष्ठान हुआ।

ये सैकड़ों यज्ञ विशाल ही थे, ऐसी बात नहीं है। इनमें कतिपय इतने विशाल थे कि द्रष्टाओं के मुख से आश्चर्य से 'न भूतो न भविष्यति न हुआ है और न होगा' वाक्य ही निकलता था। दिल्ली में होने वाला शतकोटि होमात्मक यज्ञ इसी प्रकार का था। पूज्यचरण महाराजश्री इसके यजमान थे। इस यज्ञ के संयोजक परमपूज्य करपात्रीजी महारराज थे। जो इस यज्ञ में सम्मिलित हुए थे अथवा देखने भी गये थे उनका कहना है कि ऐसी श्रद्धा, ऐसा दान, ऐसा प्रबन्ध, ऐसी पंडितमंडली कहीं भी फिर देखने में नहीं आई। इस यज्ञ में भाग लेने के लिए सहस्राधिक कर्म-काण्ड के पारगंत विद्वान् देश के विभिन्न भागों से आये थे। द्रष्टा के रूप में भी सम्मिलित होने वाले ब्राह्मण को भोजन करने के पश्चात् एक रुपया दक्षिणा दिया जाता था। इस प्रकार भोजनोपरान्त दी जाने वाली दक्षिणा में ही सहस्रों रुपये प्रतिदिन व्यय होते थे। इसके अवशिष्ट धन से ही दिल्ली में मेटकाफ रोड पर धर्म संघ विद्यालय के लिए एक विशाल कोठी खरीदी गई। धर्मसंघ विद्यालय, दिल्ली आज कल इसी कोठी में चल रहा है। परमपूज्य श्री १००८ जगद्गुरु शंकराचार्य ब्रह्मलीन श्रीकृष्ण वोधाश्रमजी महाराज ने अपने निवास से इसी स्थान को पवित्र किया।

दानी वर्ग ने भी इसके सम्पादन के लिए, मैं पहले और मैं अधिक दूं की भावना से दान दिया था। इसके संग्रह एवं उसके अप्रतिहत विनियोग को देखकर कतिपय अश्रद्धालु, अनास्थावान्, नास्तिक सज्जनों ने कहा था, "देश जब कठिनाई के दौर से गुजर रहा है उस समय करपात्रीजी दिल्ली में घी में आग लगा रहे हैं।" दान देने की एक घटना का उल्लेख अप्रासंगिक न होगा।

यज्ञ की समाप्ति का दिन निकट आरहा था, कदाचित् बीच में एक दिन और शेष था। संचालन एवं संयोजक मण्डल सहस्राधिक पंडितों को दी जाने वाली दक्षिणा के सम्बन्ध में थोड़ा चिन्तित

होने लगा तो पूज्य महाराजश्री ने उन्हें धैर्य प्रदान कर कहा, "यज्ञ का यजमान तो मैं हूँ। दक्षिणा देने की चिन्ता मुझे चिन्तित करे तो उचित है, किन्तु वह आपको चिन्तित करती है इसकी विशेष आवश्यकया नहीं है।" खुर्जा के दानवीर सेठ गौरीशंकर गोइनका ने महाराजश्री से जब कोई आदेश अथवा यज्ञ-सहयोग का संकेत मांगा तो पहले तो उन्होंने कहा कि 'यद्यपि मेरे यजमान होने के कारण बुलन्दशहर जनपद—विशेषतः खुर्जा--को दक्षिणा का प्रबन्ध करना आवश्यक है। किन्तु श्रीकरपात्री के दक्षिणा-विषयक विचारां को जानकर कहते कुछ नहीं बनता हैं। आपको क्या संकेत दूँ। किन्तु इतने से श्रीगौरीशंकरजी हतोत्साहित होने वाले दानी थोड़े ही थे, उन्होंने महाराजश्री का स्वर पहचानकर कहा, "आप आदेश दें, खुर्जा ही नहीं केवल गौरीशंकर आपके यजमानत्व का उत्तर-दायित्व वहन करने के लिए प्रस्तुत है।" और उन्होंने एकमुस्त तीन लाख रुपया दान देने की घोषणा की। ऐसे थे हमारे महाराजश्री और उनके अनन्यभक्त दानवीर श्रेष्ठिगण।

इस यज्ञ में प्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित विद्वानों को आमन्त्रित करने के लिए जो निमन्त्रण-पत्र छपा था वह सर्वसाधारण ,जानकारी के लिए अविकल रूप में यहां दिया जा रहा है। यह निमन्त्रण-पत्र संस्कृत भाषा में गुलाबी रंग के काग़ज के दोनों ओर छपा है।

* श्रीहरिः *

भारत राजधान्यामिन्द्रप्रस्थ (देहली) नगर्यामखिलभारतीयधर्मसंघस्य तृतीयाधिवेशनेऽपेक्षितानां वैदिकविदुषां

निमन्त्रणपत्रम्

माननीया विद्वांसः !!!

अभिवादनपुरःसरमिदं निवेदनम्, यदागामिनिमाघमासे शुक्लश्रीपञ्चमीतः पूर्णिमापर्यन्तं (ता० ३० जनवरीतः ता० ९ फरवरी १९४४ ई० पर्यन्तं) इन्द्रप्रस्थ देहली नगर्यां श्रीमज्जगद्गुरूणां धर्माचार्याणां संरक्षकत्वे श्रीस्वामिकृष्णबोधाश्रममहाभागानां तत्वावधाने श्री १०८ स्वामि हरिहरानन्द सरस्वती 'करपात्रि' महात्मनां सान्निध्ये अखिलभारतीय धर्मसङ्घस्य तृतीयं वार्षिकमधिवेशनं भविष्यति, तत्रैव दिव्यभौमान्तरिक्षादिसर्वानिर्थमूलभूतधर्मग्लानिअधर्माभ्युत्थानानिवृत्तये तथा विश्वकल्याणमूलभूत-धर्मसंस्थापनार्थं शतमुखं कोटिहोमात्मकं देवयजनमपि भविष्यति। किञ्चास्मिन्नेव महोत्सवे वैदिकसकलोपलब्धशाखापाठिनां भारतवर्षे यत्रतत्र देशभागेषु विद्यमानानां विशेषज्ञानां विदुषां सम्मेल-नमपि भविष्यति। एवं विधे महति धार्मिके महोत्सवे विशेषरूपेण गणनीयाभवन्तोऽपिसन्तीति सविनयं-सानुरोधं प्रार्थ्यन्ते, यदिहागत्यनिजाभ्यस्तवेदशाखानुसारंस्वाध्यायप्रवचनाभ्यां वेदपुरुषं परितोष्य यथायोग्यसाहाय्यप्रदानेन सर्वं महासम्मेलनं सफलयन्तु भवन्तः, किञ्च निजागमनस्वीकृतिपत्रं शीघ्रं दत्त्वा परितोषयन्त अस्मान्। येन श्रीमतां स्वागतार्थं सज्जाः स्थास्यामः।

भवदीयदर्शनाभिलाषिणः—

यजमान.	स्वागताध्यक्षः	स्वागत मन्त्री च
श्रीजीवनदत्त ब्रह्मचारी,	सेठ वेनीप्रसाद जयपुरिया,	श्रीराम बैरिस्टर,

शतमुखकोटिहोमात्मके यज्ञे सम्मिलितानां वृतविदुषामवश्यं पालनीयाः

विशेषनियमाः

१—वृता ब्राह्मणाः परस्परं श्रद्धाभावेन प्रेमभावेन सम्मानभावेन च वर्तेरन् ।
२—असत्यभाषणं प्रमाद एवं चञ्चलता च न विधेया ।
३—प्रतिक्षणं विश्वकल्याणभावनया शमदमतितिक्षामुदितादि सद्गुणैः सम्पन्ना भवेयुः ।
४—प्रतिदिनं शास्त्रोक्तसमये निजंप्रातराह्निकं कर्म सम्पाद्य प्रधानाचार्यं निर्दिष्टकालात्पूर्वमेव यज्ञमंडप उपस्थातव्यम् ।
५—ताम्बूलतम्बाखूचर्वणं तथा सर्वविधधूमपानादिमादकवस्तुसेवनंसर्वथा निषिद्धम् ।
६—लघुशङ्कानन्तरं जलशौचमवश्यं विधेयम्, क्षुते आचमनं प्राकृतालापे दक्षिणकर्णमूलस्पर्शनं पुरीषोत्सर्गानन्तरं स्नानञ्चावश्यकमेव ।
७—पारायणे, जपे, होमकाले, च वाग्यमनं विधेयम् ।
८—यज्ञस्थाने आचार्यब्रह्मणोः, सदसस्पतीनां सर्वोपद्रष्टुश्च सहयोगानुसारमार्त्विज्यं कर्म साधनीयम् ।
९—सर्वे कुण्डाचार्याः प्रधानाचार्यसहयोगेनैव कार्यंकुर्युः ।
१०—स्वयंपाकिभिर्ब्राह्मणैर्निजपाकपात्राणि, सर्वैश्च पूजापात्राणि तथा शीतापनोदनसाधनानि पर्याप्तं-वस्त्राणि सहैव समानेयानि ।
११—सर्वैरेव गीर्वाणवाण्यामेव वार्तालापोविधेयः । यज्ञमण्डपे तु प्राकृतभाषणं सर्वथा निषिद्धम् ।
१२—सूचीविद्धानि वस्त्राणि न परिधेयानि ।
१३—अपिच प्रयोगसमये प्रधानाचार्यनिर्दिष्टा अपरेऽपिअपेक्षिता नियमा अनुसरणीयाः ।
१४—कुण्डाचार्यपदाय निमन्त्रितैर्यज्ञपात्राणि (प्रणीताप्रोक्षणी स्रुवस्रुचयो) ऽवश्यं सहैव समानेयानि ।

ऐसे ही कई विशाल यज्ञ अकेले नरवर में ही ब्रह्मचारीजी ने कराये थे । नरवर पर आंधे दर्जन से अधिक विशाल यज्ञ हुए । उनमें पूज्य गुरुवर आचार्य भीमसेनजी के निर्वाण पर होने वाला महा-रुद्रयाग भी उच्चकोटि का यज्ञ था । इसमें पं० भीमसेनजी के पुत्र काव्यतीर्थ पं० ब्रह्मदेव शास्त्री यजमान थे । ऐसा ही दूसरा विशाल महारुद्र याग पूज्यचरण स्वामी विश्वेश्वरआश्रमजी महाराज के निर्वाण पर हुआ था । यह यज्ञ लगभग सत्रह दिन तक चला था । एक महारुद्र याग श्री गंगासेवीजी के निर्वाण पर हुआ था । एक का अनुष्ठान यज्ञदत्त ब्रह्मचारी की प्रार्थना पर हुआ था ।

नरवर पर जितने भी यज्ञ हुए उनमें अधिकतर महारुद्र याग ही थे, किन्तु कई विष्णुयाग भी हुए, एक अथवा दो ब्रह्मसत्र भी हुए । नरवर तो महाराजश्री के जीवनकाल में यज्ञों के लिए प्रसिद्ध ही होगया था ।

यह पहले कहा जा चुका है कि महाराजश्री को यात्रा अच्छी नहीं लगती थी । वस्तुतः यात्रा-प्रसंग मनुष्य की दैनिकचर्या में अन्तराय बन जाता है । महाराजश्री की दैनिक चर्या इस प्रकार की थी जिसमें तनिक भी अन्तराय असह्य हो उठता था । उनका गायत्री जप ही वहुत लम्बा चलता था । इतना होते हुए भी उन्होंने यज्ञ के प्रसंग में दूर-दूर तक की यात्रायें की थीं । एक बार अनूपशहर

निवासी श्री श्रीलाल याज्ञिक के अनुरोध से हवाई जहाज से बम्बई पधारे थे। वहाँ भी एक विशाल लक्षचंडी यज्ञ का अनुष्ठान था। वहाँ से ही उन्होंने ब्रह्मलीन स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी के साथ मोटर कार से दक्षिण भारत की यात्रा की थी। दिल्ली जैसा विशाल यज्ञ कानपुर में सरसैयाघाट पर गंगा की रेती में भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् हुआ था। यह यज्ञ भी पूज्यचरण करपात्रीजी महाराज की देखरेख में हुआ था। महाराजश्री इसमें भी सम्मिलित होने गये थे। जिला आगरा के अन्तर्गत खाण्डे ग्राम में जो बरहन स्टेशन से तीन मील पश्चिम में है ब्रह्मसत्र का एक विशाल आयोजन था। इसमें पूज्य उड़िया बाबाजी के साथ परमपूज्य महाराजश्री भी सम्मिलित हुए थे। शिकोहाबाद निवासी सेठ भगवानदास की प्रार्थना पर नरवर में तीन यज्ञ हुए और शिकोहाबाद में उन्होंने गायत्री यज्ञ का अनुष्ठान कराया जिसमें सेठ भगवानदास के अनुरोध पर महाराजश्री सम्मिलित होने को शिकोहाबाद पधारे थे। शिकोहाबाद के निकट रुधैनी ग्राम में श्रीअयोध्याप्रसाद करसौलिया ने तो पक्की यज्ञशाला बनवायी थी जहां महाराजश्री की प्रेरणा से प्रति तीसरे वर्ष यज्ञ होता था। कर्णवास तो नरवर के निकट ही है, यहाँ पर स्वामी लम्बेनाराराण के ब्रह्मलीन होने पर यज्ञ का आयोजन हुआ था जिसमें पूज्य ब्रह्मचारीजी सम्मिलित हुए थे। यज्ञ के प्रसंग से ही उन्होंने दो बार जयपुर की यात्रा भी की थी।

ऐसे यज्ञ के प्रसंग अनेक हैं जिनमें सम्मिलित होने के लिए प्रिय न होने पर भी महाराजश्री यात्रा करते थे। वस्तुतः उनकी इच्छा यह थी कि भारत के कोने-कोने में मन्त्रपाठ एवं यज्ञ-धूम्र भर जाय। ऐसे अनेक यज्ञ बदायूँ, मेरठ, अलीगढ़, खुरजा, अनूपशहर, मुरादाबाद, चन्दौसी आदि स्थानों में, जिनमें अधिकतर महाराजश्री सम्मिलित होने पधारे थे, हुए थे। बिहारघाट में परमपूज्य श्रीस्वामी विष्णुआश्रमजी के तत्त्वावधान में भी एक विशाल यज्ञ का आयोजन हुआ था। पूज्य स्वामीजी नरवर और बिहारघाट पाठशालाओं के ब्रह्मचारी रहे हैं।

यज्ञों के साथ मन्दिर-स्थापना के लिए भी श्रद्धालुओं एवं भक्तों को महाराजश्री प्रणोदित करते रहते थे। बिहारघाट में बिहारीजी का मन्दिर, खुरजा में सूरजमल का शिव मन्दिर, गवाँ बदायूँ में शिव मन्दिर, वेमवीरपुर में सुजानसिंह की प्रार्थना पर शिवमन्दिर की स्थापना महाराजश्री की देखरेख एवं तत्त्वावधान में ही हुई थी।

मन्दिरों के अतिरिक्त कई स्थानों पर धर्मशालायें भी महाराजश्री की प्रेरणा से स्थापित हुईं। उदयपुर का सहस्रचण्डी यज्ञ भी महाराजश्री की प्रेरणा से हुआ था।

महाराजश्री की यज्ञानुष्ठान में अपूर्वनिष्ठा थी। इसी निष्ठा के कारण ही अनेक यज्ञ कराये थे। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वह स्वयं भी यज्ञ की साकार प्रतिमा थे।

महाराजजी द्वारा संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार में योगदान

नरवर महाविद्यालय की स्थापना करने के पश्चात् वह कभी अधिक समय के लिए बाहर नहीं गये। यदि उनको कहीं जाना भी पड़ा तो कुछ दिनों के ही लिए वह बाहर रह सके। नरवर का आश्रम छोड़कर यदि कभी एक सप्ताह से अधिक समय के लिए उन्हें बाहर रुकना पड़ा तो वह किसी

यज्ञ में सम्मिलित होने के ही कारण रहे। उनकी प्रेरणा से कई बड़े-बड़े यज्ञ हुए जिनमें से कतिपय यज्ञों का उल्लेख पीछे किया जाचुका है। यज्ञों के अतिरिक्त वह अन्य किसी कारण से अधिक समय तक बाहर नहीं रहे। यदि श्रद्धालुओं एवं प्रेमियों के कारण किसी संस्कृत पाठशाला के आयोजन में सम्मिलित होना पड़ा, अथवा किसी सम्मेलन को अध्यक्षता करने का आग्रह टालने में असमर्थ होकर स्वीकार लेना पड़ा, या किसी पुत्रकल्प शिष्य की शादी में जाना पड़ा, तो अधिक से अधिक एक-दो दिन के लिए ही नरवर विद्यालय को छोड़कर कहीं गये।

पूज्य महाराजजी कई कारणों से यात्रा-भीरु थे। प्रायः उनका गायत्री पुरश्चरण चलता रहता था गायत्री पुरश्चरण के अनुष्ठान काल में स्थान-सीमा का उल्लंघन वर्जित है और गायत्री का एक पुरश्चरण २४ लाख गायत्री-जप से पूर्ण होता है।

महाराजश्री त्रिकालसंध्या करने के लिए त्रिकाल स्नान करते थे। उन्हें भगवती भागीरथी का त्रिकाल सुलभ एवं शान्ति-सन्तोषदायक स्नान छोड़ने में कष्ट होता था। वह स्वयं भोजन बनाते थे। उनकी यह स्वयंपाकी व्यवस्था प्रायः जीवन के अन्तिम क्षणों तक चली। अन्त में अत्यन्त शिथिल होने पर ही वह किसी परमसात्विक ब्रह्मचारी को सौंपी गई। वह दिन में एक बार ही भोजन करते थे। तपस्वियों को एक सूर्य में एक भोजन करने की ही आज्ञा है। महाराजश्री प्राणी-वाहित-वाहन से कभी नहीं चलते थे। इक्के-तांगे, गाड़ी-बहली आदि में भी वह नहीं बैठते थे। हदुआगंज ग्रीष्मतु के दिनों में गये थे। स्टेशन से सभास्थल लगभग चार मील था। धूप में वह चार मील पैदल ही चलकर पहुंचे थे। साधना-सम्बन्धी ऐसे ही और भी अनेक कारण थे जिनके कारण वह प्रायः प्रवास करने के लिए प्रस्तुत नहीं होते थे।

आजकल सर्वसाधारण में ऐसी धारणा प्रचलित है कि सभी कार्य भाग-दौड़ से होते हैं। महाराजश्री एक बड़े महाविद्यालय के कुलपति थे जिसमें प्रायः ड्योढ़ सौ से अधिक छात्र रहते थे और उन छात्रों तथा अध्यापकों की योगक्षेम व्यवस्था का उत्तरदायित्व उन्हीं के ऊपर था। संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार के लिए वह अधिक आतुर रहते थे। इनके अतिरिक्त अनेक व्यवहार निर्वाह उन्हें करने पड़ते थे; किन्तु संकल्प की दृढ़ता के कारण नरवर को बिना छोड़े ही पूरे होते जाते थे।

संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार में ही देशोन्नति का पूज्य महाराजजी को दृढ़ निश्चय था, अतः उनकी प्रेरणा से अनेक स्थानों पर संस्कृत पाठशालायें एवं संस्कृत-विद्यालय प्रारम्भ हुए। जिस स्थान पर उनको पाठशाला के प्रारम्भ के लिये जाने की आवश्यकता की प्रतीति हुई वह गये भी अवश्य। किन्तु यह कार्य भी अधिकतर नरवर से ही पत्रों द्वारा सम्पन्न होता रहा।

जैसा कि इससे पूर्व लिखा जा चुका है कि पूज्य कुलपतिजी के पूज्य पिताजी ने उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का आदेश दिया था। उस समय उन्होंने अपने पूज्य पिताजी को यह कहकर समझाया था कि कुल दो प्रकार से चलता है : विद्या से और जन्म से। इन दोनों में मैं विद्या जन्म को उत्तम समझता हूँ। उन्होंने संस्कृत विद्यालयों की स्थापना कर अपने विद्यावंशोत्पन्न मेधावी एवं आज्ञाकारी छात्रों को इन विद्यालयों में स्थिर किया और दूसरे देशोन्नतिकारक देववाणी का प्रचार एवं प्रसार भी किया।

इस नरवर विद्यालय की स्थापना भी उपर्युक्त दिशा में प्रथम चरण था। इस विद्यालय को यदि महाराजजी का भौतिक शरीर भी माना जाय तो अत्युक्ति न होगी। इस सांगवेद महा-

विद्यालय से वेद, शास्त्र, व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विषयों के अनेक पारंगत एवं उद्‌भट विद्वान् निकले हैं। संस्कृत-विद्या की उन्नति में काशी एवं जयपुर के पश्चात् उत्तर भारत में नरवर का ही स्थान है।

यह सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त है सत्यप्रतिष्ठित निर्मल हृदय से उत्पन्न संकल्प सदा सफल होता है तपोमूर्ति, सर्वभूतहितेरताः महाराजश्री का संकल्प तो निष्फल हो ही नहीं सकता था। अतः आपका संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार वाला संकल्प उत्तरोत्तर विकसित होने लगा और उसकी अप्रतिहत गति में योगदान करने के लिए विद्याप्रेमी, धनी सज्जन व्यक्ति स्वयं ही आकर पूज्य कुलपतिजी से प्रार्थना करने लगे। विभिन्न स्थानों पर प्रारम्भ होने वाली पाठशालायें नरवर महाविद्यालय रूपी वटवृक्ष की शाखा-प्रशाखायें ही थीं और उनमें नरवर विद्यालय के स्नातक ही अध्यापक-पदवियों पर पदारूढ़ हुए।

१–विहारघाट, राजघाट से चार फर्लांग दक्षिण की ओर स्थित है। यह स्थान नरवर से एक कोश उत्तर की ओर है। इस समय इस स्थान की दशा अच्छी नहीं है। यहीं पर रानी सुहावली तथा स्वर्गीय सेठ सूरजमलजी जटिया के विशेष द्रव्य से संस्कृत पाठशाला प्रारम्भ हुई। इस पाठशाला में न्याय व्याकरणाचार्य पं० ज्वालाप्रसादजी अध्यापक पद पर नियुक्त हुए। पंडितजी पूज्य कुलपतिजी के अत्यन्त प्रिय छात्र थे। आजकल यह पाठशाला समाप्त हो गई और वह मकान जिसमें यह पाठशाला लगती थी, भी जीर्ण-शीर्ण हो गया है।

२– राजघाट से चार मील उत्तर की ओर कर्णवास कस्बा है। गंगा के किनारे के पवित्र नगरों में कर्णवास की गणना है। पूज्य महाराजजी की प्रेरणा और सहायता तथा कर्णवास की जनता के उद्योग से यहां पर भी एक संस्कृत पाठशाला की स्थापना हुई। इस पाठशाला में पं० रमेशदत्तजी वेदपाठी अध्यापक नियुक्त हुए। वेदपाठीजी परम शान्त एवं निस्पृह व्यक्ति थे। सन् १९४४ में उनका देहावसान हो गया। उनके पश्चात् पाठशाला भी प्रायः समाप्त हो गई।

३–कर्णवास से पांच मील पश्चिम की ओर प्रसिद्ध भृगु क्षेत्र है। यह भी अत्यन्त पवित्र एवं प्रसिद्ध स्थान है। यहां से भागीरथी कर्णवास तक सीधी पूर्ववाहिनी है। कर्णवास के घाटों से भृगु क्षेत्र दिखाई पड़ता है। परमपूज्य स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराज कुछ दिन यहीं रहे थे। श्रीज्वालासिंहजी के उद्योग से यहां पर संस्कृत पाठशाला की स्थापना हुई। प्रारम्भ में इस पाठशाला में पं० लक्ष्मीदत्तजी अध्यापक नियुक्त हुए। यह पाठशाला अद्यावधि ठीक-ठीक चलती बताई जाती है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें जितने अध्यापकों की नियुक्तियां हुई हैं वे सभी नरवर के स्नातक ही रहे हैं।

४– भृगु क्षेत्र के पश्चिम में गंगा के किनारे ७ मील के फासले पर अनूपशहर नगर है। यहाँ के गुजराती ब्राह्मण श्रीश्रीलालजी याज्ञिक महाराजजी के श्रद्धालु थे। वह नरवर विद्यालय की स्थापना के पश्चात् अनूपशहर दो-एक बार पधारे भी थे। यहीं विज्ञानभिक्षु के सहयोग से संस्कृत-पाठशाला का उद्‌घाटन हुआ। इसमें भी नरवर पाठशाला के विद्यार्थी श्री होतीलालजी अध्यापक नियुक्त हुए। वह अत्यन्त निस्पृह एवं सात्विक प्रवृत्ति के व्यक्ति हैं। वही इस पाठशाला को चला रहे थे, किन्तु पाठशाला की स्थिति उत्साहजनक नहीं है। इस वर्ष सन् १९७४ में पाठशाला समाप्त हो गयी है।

५–बेलोन नरवर से तीन मील पश्चिम की ओर है। यह कस्बा भगवती सर्वमङ्गला के प्रसिद्ध एवं सिद्ध शक्ति पीठ के कारण अधिक प्रसिद्ध है। पूज्य कुलपतिजी ने भी अपने अध्यापक-जीवन का प्रारम्भ बेलोन की संस्कृत पाठशाला से किया था। यहाँ की जनता की इनमें अगाध श्रद्धा थी। इसका पीछे उल्लेख हो चुका है। पूज्य महाराजश्री जब बेलोन त्याग कर नरवर आगये तो वहाँ की पाठशाला प्रायः समाप्त हो गई। इनकी प्रेरणा एवं जनता के सहयोग से यहाँ संस्कृत-पाठशाला का पुनः प्रारम्भ हुआ। अध्यापन कार्य के लिए पं० अयोध्याप्रसादजी की नियुक्ति हुई।

६–बेलौन के कुछ अन्य सज्जनों के आर्थिक सहयोग से वाजिदपुर में एक पाठशाला का प्रारम्भ हुआ। आर्थिक सहयोग देने वाले सज्जनों में पं० हजारीलाल एवं मक्खनलालजी के नाम उल्लेखनीय हैं। इसमें पं० रामजीत व्याकरणाचार्य अध्यापकत्व के लिए नियुक्त हुए। इनके पश्चात् पं० शिवदत्तजी व्याकरणाचार्य की नियुक्ति हुई। आजकल ये दोनों विद्वान् नरवर महाविद्यालय में ही अध्यापन कार्य कर रहे हैं।

७– नरवर और नरौरा पास-पास ही हैं। यहाँ पर भगवती भागीरथी दक्षिणवाहिनी हैं। यहाँ से दक्षिण की ओर पाँच-सात मील के फासले पर रामघाट का स्थान है। परमपूज्य श्रीउड़ियाबावा प्रायः यहीं रहा करते थे। पूज्य बाबाजी के पास महाराजश्री भी यदा-कदा जाया करते थे। यहां की जनता को उत्साहित कर एक शाठशाला की स्थापना हुई। पं० रामदयालुजी को अध्यापन के निमित्त नियुक्त किया गया।

इन उपयु`क्त पाठशालाओं के अतिरिक्त भी बुलन्दशहर जिले में पूज्य कुलपतिजी को सत्प्रेरणा एवं सहयोग से अन्य कई पाठशालायें स्थापित हुई और उनमें नरवर के स्नातकों की नियुक्तियाँ हुई। अलोगढ़ जिले में अमौली की हनुमानगढ़ी में पाठशाला को स्थापना हुई। इस पाठशाला में पं० बालमुकुन्दजी व्याकरणशास्त्री की नियुक्ति अध्यापक-पद पर हुई।

मैनपुरी जिले के शिकोहाबाद नगर में भी महाराजश्री के कई भक्त और श्रद्धालुओं ने एक पाठशाला का आरम्भ करने की इच्छा व्यक्त की। शिकोहाबाद कस्बे के समीप ही वासुदेवमयी ग्राम के पं० जंगजीतजी गर्ग इस पाठशाला के प्रारम्भ करने वालों में अग्रणी थे। यह श्री गंगेश्वर पाठशाला श्रीस्वामी शतपथ महाराजजी के तत्त्वावधान में आज भी चल रही है। पूज्य महाराजश्री इसकी स्थापना करने के लिये शिकोहाबाद पधारे थे। उन्हीं के शिष्य इसमें अध्यापक हैं।

उपयु`क्त पाठशालाओं के अतिरिक्त अन्य स्थानों में संस्कृत पाठशालायें, महाविद्यालय, ब्रह्मचर्याश्रम पूज्यचरण ब्रह्मचारीजो की सत्प्रेरणा से प्रारम्भ हुए। संवत् ८०-८१ में मुरादाबाद ब्रह्मचर्याश्रम की स्थापना हुई। उन्हीं के शिष्यों एवं भक्तों के प्रयत्न से फिरोजाबाद में हनुमत्संस्कृत पाठशाला की स्थापना हुई। इसके कई अध्यापक नरवर के ही स्नातक हैं। चन्दौसी तो भगवती भागीरथी के दूसरे तट की ओर नरवर से थोड़े से फासले पर ही है। यहाँ भी संस्कृत पाठशाला की स्थापना पूज्य ब्रह्मचारीजी के सत्प्रयत्न से ही हुई।

विद्यालयों में ही मनुष्य का निर्माण होता है। गुरुओं का जितना प्रभाव छात्रों पर पड़ता है उतना माता पिता का प्रभाव पड़ता नहीं देखा गया है। देश का परिचय उसके विद्वानों से ही मिलता है, यही कारण है कि पूज्य महाराजश्री ने संस्कृत पाठशालाओं की स्थापना में अत्यधिक योगदान किया।



महाराजश्री से सम्बद्ध कतिपय चामत्कारिक प्रसंग

निम्नलिखित प्रसंग विहारघाट निवासी श्री श्रीराम वेदपाठीजी ने अपने लेख में लिखे हैं। इनमें एक-दो प्रसंग अन्य महानुभावों से भी सुनने को मिले हैं।

नरवर आश्रम में प्रतिदिन जपराह्न में महाराजश्री के यहाँ महाभारत की कथा हुआ करती थी। इस कथा को श्रवण करने हेतु एक विशाल एवं भयंकर कृष्ण सर्प भी कहीं से निकलकर श्रोताओं से अनतिदूर आकर बैठने लगा। कृष्णसर्प को देखकर अधिकतर श्रोता भयभीत रहने लगे, और कतिपय भय अथवा औत्सुक्य से कृष्णसर्प की ओर ही देखते रहते। इस प्रकार महाराजश्री ने जब सर्पदेव का आगमन कथाप्रसंग में विघ्नकर समझा तो तीसरे दिन उनसे बड़ी विनम्र एवं सुन्दर वाणी में कहा "भगवन् नागदेव, आपने नियमित तीन दिन से कथा का श्रवण किया। आपकी उपस्थिति से कथा के वक्ता, श्रोता निश्चिन्त होकर कथा में दत्तचित्त नहीं हो पाते हैं। आपका कार्य हो गया, अब कृपाकर हमें कल से दर्शन न दें।"

आश्चर्य की बात यह रही कि दूसरे दिन से वह नागभगवान् महाराजश्री की वात मानकर फिर कभी कथा-प्रसंग में दिखलाई नहीं पड़े।

× × × ×

महाराजश्री की भौतिक उपस्थिति से साङ्गवेद विद्यालय का प्रांगण प्रायः आनन्द से उल्लसित रहा करता था। आश्रम के सभी छात्र एवं अन्य निवासी आश्रम के भण्डार से ही भोजन-सामग्री प्राप्त करते ये। प्रत्येक मास में एकाधिकबार किसी उदार धनकुबेर की उदारता के फलस्वरूप विद्यालय में भण्डारों का आयोजन हो जाता था। महाराजश्री को छात्रादिकों को भोजन कराने में तथा उन्हें आतृप्ति भोजन करते देखकर हार्दिक आनन्द की अनुभूति होती थी।

ऐसे भण्डारों में यदि किसी भोज्य पदार्थ की कमी दिखाई पड़ती थी तो महाराजश्री को सूचना दी जाती। कारण, वे ही आश्रम के योग-क्षेम के अधिष्ठाता एवं सर्वद्रष्टा थे।

एक बार किसी विशेष अवसर पर एक भण्डारे का आयोजन हुआ। भोजन-सामग्री के सिद्ध होने पर समयानुसार आमन्त्रित छात्रवर्ग एवं अन्य व्यक्तियों को भोजन परोसा जाने लगा। भोजन-पर्यवेषणकाल में ही पर्यवेषक एवं भण्डार-पर्यवेक्षक को दही की न्यूनता की अनुभूति होने लगी। वे सभी दही की समाप्ति होने पर उसका पुनः आयोजन असम्भव समझकर चिन्तित हो गये और भावी-स्थिति की सूचना महाराजश्री के पास पहुँचाने एक व्यक्ति भेजा गया। वे सूचना पाकर अपनी कुटिया से निकलकर उस व्यक्ति के साथ ही भण्डारगृह की ओर तुरन्त चले आये।

भण्डार-स्वामी ने महाराजश्री को भण्डार के भीतर बुलाकर आमंत्रितों की संख्या की अपेक्षा दही की न्यूनता की बात कही। उन्होंने उसकी चिन्ता जानकर उसको निश्चिन्त किया और दधि-भाण्ड के मुख पर अपना अंगोछा लपेट दिया और पर्यवेषकों को बुलाकर कह दिया, "आप लोग निश्चिन्त होकर यथावत् परोसने का कार्य करें। मां भागीरथी की कृपा से किसी पदार्थ की कमी न पड़ेगी।"

यह कहकर वह अपनी कुटिया में चले गये। कहा जाता है कि सभी आमंत्रित व्यक्ति यथावत् भोजन कर गये, किन्तु दही की कमी न पड़ी। भोजनोपरान्त पर्यवेषकों एवं भण्डारस्वामी ने अन्य आश्रमवासियों को भी महाराजश्री की भागीरथी-भक्ति की सूचना दी। सभी आश्रमवासी उनकी भक्ति के माहात्म्य को जानकर मुग्ध हो गये।

× × × ×

महाराजश्री त्रिकाल सन्ध्या करने के लिए पुण्यसलिला भगवती भागीरथी पर ही उपस्थित होते थे। वह प्रायः निश्चित स्थान पर हो स्नान-विधि पूर्ण करते थे।

एक दिन अपने निश्चित स्थान पर गंगा में गोता लगाने योग्य जल न मिला अतएव स्नान समुचित रूप से सम्पन्न न हुआ। मन स्नान-विधि से पूर्ण तृप्ति-लाभ न कर सका। महाराजश्री ने अञ्जलि बाँधकर भगवती जाह्नवी से प्रार्थना की, 'देवि! आज समुचित रूप से गोता लगाने योग्य जल की गहराई के अभाव में स्नान से तुष्टि नहीं हो पायी है। यदि कल यहीं आप गोता लगाने योग्य गहराई प्रदान करेंगी तो मैं आपके पवित्र तट पर गंगा-लहरी के एकसौ आठ पाठ सम्पन्न कराऊँगा।"

दूसरे दिन जब वे सन्ध्या करने गंगा-तट पर गये और स्नान के लिए पुण्यतोया देवनदी में उतरे तो उन्हें अपने उसी परिचित स्थान पर आज गोता लगाने योग्य गहराई मिली। महाराजश्री भगवती की कृपा का प्रत्यक्ष अनुभव कर मुग्ध हो गये और अपने साथ आने वाले ब्रह्मचारी को विद्यालय इस आशय से भेजा कि वह सभी छात्रों को वहां शीघ्र ही बुला लावे तथा आने वाले छात्र गंगालहरी की प्रतियाँ अपने साथ लेते आवें।

दश-पन्द्रह मिनट के भीतर ही छात्रवृन्द स्नानादि से निवृत्त हो सस्वर गंगालहरी का पाठ करने लगा। विचित्र दृश्य था। गंगा-लहरी के श्रवण से ही पण्डितराज जगन्नाथ को सुरनदी ने पवित्र किया था।

उस समय विद्यालय में दो सौ से अधिक विद्यार्थी थे। महाराजश्री की आज्ञा से देखते-देखते भगवती भागीरथी को गंगा-लहरी के अनेक पाठ सुना दिये गये।

छात्रों के उत्साह एवं पाठ के सम्मिलित उच्च स्वर से कुलपतिजी हृदय से प्रसन्न हो गये और बोले, "आज इन गंगा-लहरी के पाठ करने वालों को तो खाने के लिए लड्डू होने चाहिए। श्रीयज्ञदत्त से कहा कि आज हमारी ओर से पाकशाला में घी और बूरा दे दिया जाय। यज्ञदत्तजी ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और आवश्यक सामग्री के प्रबन्ध में जुट गये।

थोड़ी देर में दो गाड़ियाँ विद्यालय के पास आकर रुकीं और गाड़ियों के साथ आने वाले व्यक्ति ने श्रीयज्ञदत्तजी के पास आकर प्रार्थना की, "भगवन् सेठ गोपीलालजी ने विद्यालय के विद्यार्थियों के लिए लड्डू एवं कचौड़ियाँ भेजी हैं, एवं भगवती भागीरथी के लिए पच्चोस सेर गोदुग्ध भेजा है। कृपया महाराजश्री से इस सामग्री को स्वीकार करने के लिए कहें।"

थोड़ी देर में सेठ गोपीलाल भी वहाँ आ पहुंचे। उन्होंने महाराजश्री से मिलकर उस सामग्री को स्वीकार करने के लिए विनम्र शब्दों में आग्रह किया।

महाराजश्री ने उस दुग्ध-कलश को अपने हाथों में ले लिया और प्रसन्न मन से भगवती भागीरथी की धार में बड़ी श्रद्धा के साथ उसे चढ़ाया। गंगालहरी के पाठ करने वाले छात्रवृन्द ने भी आतृप्ति लड्डू-कचौड़ी का भोजन किया।

× × × ×

नरवर आश्रम में एक बार एक बड़े ब्रह्मभोज का आयोजन था। आयोजन का परिमाणविस्तृत था, अतः उसके भोज्य पदार्थों को तैयार करने के लिए कई मन घी एकत्र हुआ। परम्परा के अनुसार घी टीनों में भरा रखा हुआ था।

जो सज्जन उस समय महाराजश्री के विश्वासपात्र थे, उनके मन में लोभजन्य पाप के उदय होने के कारण उन्होंने उसमें से कई टीन घी छिपा कर अलग कर दिया। इस पाप में प्रवृत्त होने वाले व्यक्ति का नाम, स्थान भी हमें बताया गया था, किन्तु अशोभन समझ उसका उल्लेख यहाँ नहीं किया

गया है। वह इस समय कुष्ठ से पीड़ित हैं।

ब्रह्मभोज की आवश्यक सामग्रियों का सिद्ध होना प्रारम्भ हो गया और आवश्यक सामग्री का आकलन होने पर हलवाइयों ने घी की कमी का उल्लेख किया। आवश्यक परामर्श के पश्चात् महाराजश्री को इसकी सूचना दी गई।

रात्रि का समय, एकान्त जंगल का निवास एवं अन्य कठिनाइयों का उल्लेख महाराजजी से किया गया।

सभी प्रबन्धकर्त्ता प्रायः चिन्तित थे। कोई बैलोन आदमी भेजने का सुझाव देना चाहता था और कोई राजघाट। किन्तु इससे श्रीकुलपतिजी तनिक भी विचलित न हुए और क्षण भर मौन रहकर उन सभी प्रबन्धकर्त्ताओं को यथास्थान आवश्यक कार्यसम्पादन करने भेजकर पांच सुयोग्य ब्रह्मचारियों को उसी समय बुला भेजा।

महाराजश्री की आज्ञा आश्रम में वेदवाक्य मानी जाती थी। आमंत्रित ब्रह्मचारी तुरन्त ही उनके समक्ष आज्ञापालन हेतु उपस्थित हुए। उन्होंने ब्रह्मचारियों को भोजनालय के भण्डार से बड़े-बड़े कलशे लेकर उसी समय गंगाजी पर जाकर उसकी सफेद दिखाई पड़ने वाली धारा से कलशे भरकर ले आने का आदेश दिया। साथ ही यह भी आदेश दिया कि सभी व्यक्ति कलशे भर लेने के पश्चात् आश्रम की ओर चल पड़ें और मुड़कर पीछे की ओर न देखें। आश्रम में पहुँचकर उन कलशों को भण्डार में पहुँचा दें।

ब्रह्मचारियों ने आज्ञा का पालन किया। कहा जाता है उसी का प्रयोग घी के स्थान पर हुआ। घी की कमी की पूर्ति इस प्रकार गंगाजी से उधार लेकर हुई। दूसरे दिन खुर्जा से घी के टिन आगये। महाराजश्री ने तुरन्त आज्ञा दी कि गंगाजी का उधार लौटा दिया जाय। जितने कलश गंगाजल आया था, उतने ही टिन घी गंगाजी में भेंट कर दिया गया।

नोट—यह प्रसंग हमें डा० वाचस्पति पाण्डेय संस्कृत-विभाग आगरा कॉलेज ने सुनाया था।

× × × ×

आश्चर्यजनक एवं विस्मयकारिणी घटनायें तो अनेक हैं, किन्तु स्थानाभाव से सबका यहां संकलन असम्भव है। फिर भी कुछ का उल्लेख इसी ग्रन्थ में अन्य स्थानों पर हो चुका है वे वहीं दृष्टव्य हैं।

पूज्य महाराजश्री के अन्यतम प्रिय शिष्य श्रीज्वालाप्रसाद शर्मा को राजघाट से लौटते हुए मार्ग में भयानक विषधर नाग ने काट लिया। महाराजश्री को ध्यान की स्थिति में उसका तत्क्षण बोध हुआ। उनके उस भयंकर सर्पदंश से कैसे प्राण रक्षा हुई उसका वर्णन उन्हीं के लघुभ्राता आचार्य श्रीसत्यव्रतजी प्रधान भागीरथी संस्कृत पाठशाला गढमुक्तेश्वर, मेरठ के संस्मरण में पठितव्य है। श्रावण मास की हहराती हुई कूलङ्कषा गंगा के उर्मिल प्रवाह में पड़ जाने वाले विद्यालय के दो ब्रह्मचारियों को महाराजश्री ने अपना तपोदान करके बचाया उसका विस्तृत वर्णन डाक्टर शंकरदेव 'अवतरे' ने अपने संस्मरण दुष्प्राप्य एवं दुस्त्याज्य नरवर में किया है। वह संस्मृति आलोक खण्ड में अवलोकनीय है। पूज्य महाराजश्री की परमाराध्या भगवती भागीरथी ने एक छोटी कन्या का रूप धारण कर सेठ भगवानदास, शिकोहाबाद की लधुवयस्का पुत्री के हाथ से नैवेद्य ग्रहण किया हैं इसका उल्लेख सेठजी ने अपने संस्मरण में किया है। वह वहीं पढ़ा जाय। यहां एक अन्य घटना का उल्लेख कर प्रसंग समाप्त किया जाता है। घटना की सूचना वैद्य जगन्नाथप्रसादजी से मिली है।

महाराजश्री के पूज्यचरण गुरुदेव प्रसिद्ध वेदज्ञ पं० भीमसेन शर्मा के ब्रह्मलीन होने पर नरवर

में महारुद्रयाग का आयोजन किया गया था जिसका उल्लेख महाराजश्री की यज्ञनिष्ठा प्रसंग में किया गया है। यज्ञ की समाप्ति पर एक विशाल भण्डारे का आयोजन था।

मध्याह्न में निमंत्रित अभ्यागतों को भोजन कराने का कार्य प्रारम्भ हो गया। उसके कुछ समय उपरान्त मुख्य प्रबन्धकर्त्ता श्रीनवनिधि पाठक ने बालक जगन्नाथ (वैद्य जगन्नाथप्रसाद, फिरोजाबाद) को बुलाकर कहा, "जगन्नाथ देखो महाराजश्री अपनी कुटिया में हैं अथवा नहीं ?" सूचना मिलने पर श्रीपाठकजी महाराजश्री की कुटिया पर पहुँच कर चिन्तित से बोले, "महाराजजी, आगन्तुकों की संख्या को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि सिद्ध सामग्री की कमी पड़ेगी।" महाराजश्री ने पाठकजी को आश्वासन देकर भोजनप्रबन्ध देखने के लिऐ भेज दिया, किन्तु समीप ही उपस्थित बालक जगन्नाथ से कहा, "जगना ! देखना, उडिया महाराजजी कहाँ है ?" उस समय उडिया बाबा महाराजश्री के स्नेह के कारण वहीं रहते थे। उन्हें मां अन्नपूर्णा की सिद्धि थी। बालक जगन्नाथ दौड़ता उनकी कुटिया की ओर गया, और उनको उपस्थित पाकर लौटने को ही था कि पूज्य उडियाबाबा की उस पर दृष्टि पड़ गई और उन्होंने बालक से पूछ ही तो लिया, 'कैसे आये ? क्या बात है ?' भोले बालक ने कहा, "पूज्य महाराजश्री ने मुझे आपको देखने के लिए भेजा है।"

महाराजश्री तो बालक जगन्नाथ के पीछे ही उडियाबाबा की कुटिया की ओर चल पड़े और महाराजश्री ने मुझे दिखवाया है जानकर उडियाबाबा उनकी कुटिया की ओर चल पड़े। दोनों विभूतियों की मार्ग में ही एक-दूसरे से भेट हो गई। महाराजश्री ने श्री नवनिधि पाठक की चिन्ता की बात कही और दोनों ही भण्डार की ओर चले आये।

भण्डार में पहुँचकर परमपूज्य उडियाबाबा के मुँह से निकला 'लड्डू तो कम नहीं होंगे।' उसके पश्चात् दोनों ही अपनी-अपनी कुटियाओं की ओर चले गये। कुटिया में आकर महाराजश्री ने पूज्य उडियाबाबा के वचन पर विचार किया। उस वाक्य से कई ध्वनियां निकलती जान पड़ीं। सभी पर विचार करके उन्होंने वैम के रामस्वरूप एवं यज्ञदत्त आदि पाँच ब्रह्मचारियों को बुलाकर आदेश दिया कि "पांचों लोग कलशे लेकर गंगालहरी का पाठ करते हुए गंगा जाओ और वहाँ से सफेद धार से कलशे भर कर गंगालहरी का पाठ करते चले आओ और गंगाजलपरिपूर्ण कलशों के मुख ढककर भण्डार गृह में रख दो।" ब्रह्मचारियों ने तुरन्त ही पूज्य कुलपति के आदेश का पालन किया।

कहा जाता है कि जीमने–जिमाने का कार्य सायंकाल तक चलता रहा, किन्तु सामग्री की न्यूनता की आशंका उपस्थित नहीं हुई। यहां तक कि सामग्री दूसरे दिन विद्यालय के पुनः भोजन के लिए भी शेष रह गई।

महाराजश्री के जीवनकाल में नरवर, उसके सांगवेद महाविद्यालय एवं उसके आचार्य स्नातकों की ख्याति देश में दूर-दूर तक फैल चुकी थी। उनके वहां रहते हुए नरवर में सदा-सर्वदा जंगल में मंगल होता रहा, किन्तु 'जो आया सो जायगा राजा रंक फकीर' के अनुसार एक दिन यहाँ से जाना सभी को है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' की सत्यता त्रिकालाबाधित है।

एक बार रामस्वरूप त्रिकालदर्शी ने महाराजश्री को बताया था कि "आप चैत्र कृष्ण दशमी संवत् २०१२ में प्रातःकाल ब्रह्मलीन होंगे, उस समय एक एकाक्ष साधु आवेगा।" इस तिथि से पूर्ण महाराज रुग्ण रहने लगे थे। अतः वे उपर्युक्त तिथि को प्रातःकाल इस असार-संसार को छोड़कर परमज्योति में लीन हो गये। उनके अन्त समय का पूर्णोल्लेख 'जीवनालोक-परिशिष्ट' लेखक श्रीशिवप्रसाद वाशिष्ठ ने किया है जो आगे दिया जा रहा है।

जीवनालोक-परिशिष्ट प्रथम

(लेखक— श्री शिवप्रसाद वाशिष्ठ, साङ्गवेद महाविद्यालय, नरवर)

समस्त वृन्दारकवृन्द, जिस पवित्र भूमि में स्वजन्मलाभार्थ अपनी स्पृहा व्यक्त करते हैं, वही यह स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूत भारत वसुन्धरा, सदा से अपने कुक्षिप्रसूत मानवों को वैदिक वर्णाश्रमानुकूल सद्धर्माचरण द्वारा पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की सम्यगुपलब्धि के लिये प्रेरणा देती रही है। इस पवित्र भूमि में उद्भूत विवेकशील मानव अपनी सदसद्विवेक पद्धति से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति की दिशा में स्वाधिकृत साधनों द्वारा गतिशील होता हुआ जब दुःखासंसृष्ट स्वर्गीय सुखों को भी अतितुच्छ समझता है तब उसकी दृष्टि में क्षणिक तथा सान्तराय सांसारिक सुखों का मूल्य ही क्या रह जाता है ? इसी देववन्दिता भूमि में ईशनिश्वासभूत वेदों का प्रादुर्भाव हुआ तथा उनके गूढ़ रहस्यों का साधु अवगम कराने के लिये सदसद्विवेकशील त्रिकालदर्शी महामनीषी ऋषियों द्वारा स्मृति-पुराण-दर्शनादि ग्रन्थों का प्राकट्य हुआ और यहीं पर चराचर जगत् के स्वामी, जराजन्ममरणादि रहित सर्वेश्वर भगवान् भी लोककल्याणार्थ 'अजायमानो वहुधाविजायते' सिद्धान्तानुसार यथासमय लीलावतार धारण करते हैं। अतः इस भूमि के लिये 'पुण्या भारतभूरेषा' यह कथन सर्वात्मना सत्य ही है। अनादिकाल से त्यागी, तपस्वी, योगी, यति, सिद्ध, सत्कर्मनिष्ठ-श्रोत्रिय, अध्यात्मनिरत, लोकोद्धारक, संस्कृतवाङ्मय के प्रखर विद्वान् ऋषि महर्षिगण इसी भूमि को स्वजन्म से अलंकृत करते हुए, अबोधोपहत मानवों को सद्बोध प्रदान कर उन्हें 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।' इस मन्वादिष्ट कर्त्तव्यपालन की ओर अग्रसर करते रहे हैं।

परन्तु वर्तमान धर्मनिरपेक्ष अधर्मबहुल युग में भारतीय आर्ष संस्कृति क्वचिद्दृष्ट क्वचिददृष्ट, मेघाच्छन्न भास्कर का सादृश्य धारण कर रही है, यह सर्वसमर्थ प्रभु की लीला का ही विलास है। भास्कर की नित्यता तथा मेघों की अनित्यता को ध्यान में रखते हुए भगवत्परायणजन विचलित नहीं होते। वे जानते हैं, जैसे वसन्तप्रभृति ऋतुसमुदाय परस्पर विरोधी वातावरण रखता हुआ भी एक दूसरे का पोषक बन कर कालात्मा संवत्सर का आनुगुण्य सम्पादन करता है, वैसे ही असदर्थकामप्रधान अनार्ष संस्कृति भी (जो पश्चिम देशों के सम्पर्क से इस समय इस देश पर दुर्दिनायमान है) ऐहिक भोगों के दुष्परिणाम से संत्रस्त मानवों को सनातन आर्षसंस्कृति के आलोक में पहुँचने की दिशा दिखायेगी यह ध्रुव सत्य है। दिवस के अनन्तर रात्रि का, रात्रि के अनन्तर दिवस का उद्गम होना स्वाभाविक होने के साथ अनिवार्य भी है; क्यों कि इन में एक के ज्ञान बिना दूसरे का ज्ञान होना शक्य सम्भव नहीं है। यही कारण है कि सांसारिक भोगों से नितान्त अशान्त होकर विवेकशील पाश्चात्य जन भी वास्तविक सुख शान्ति की खोज में लगने लगे हैं, और उन्हें भारतीय दार्शनिकगगन में आत्मचन्द्र की सुखद शीत रश्मियों का ईप्सित आभास भी मिलने लगा है। अतएव भारतीय संस्कृत वाङ्मय की आस्था दिनोंदिन विदेशी मानवों में बढ़ती जारही है। भले ही यह सब सनातन सांस्कृतिक जीवन में विश्वास रखने वाले भारतीय जनों के हर्ष का विषय बन सके; परन्तु अब देखना यह है कि हमारे स्वतन्त्र राष्ट्र के कर्णधार जो

म्लेच्छ देशों का अन्धानुकरण करके ही सन्तोष का अनुभव कर रहे हैं तथा अभारतीय वेश-भूषा, आचार-विचार परम्परा को प्रोत्साहन दे रहे हैं, वे आर्षजगत् की उस अक्षय निधि का संरक्षण करने के लिये कौनसा मार्ग अपनाते हैं या नहीं।

यदि आर्ष परम्परा के समुत्थान का समुचित शास्त्रीय मार्ग नहीं अपनाया गया तो भारतीय जन न केवल आत्मकल्याण से ही वञ्चित रहेंगे अपितु उन्हें ऐहिक सुख-साधनों से भी घोर अशान्ति की ही उपलब्धि सम्भव होगी। आज अवसरवादिता अपना विकृत रूप धारण कर चुकी है। एकता बनाये रखने का उद्घोष सामूहिक एकता से अपना सम्पर्क स्थापित नहीं कर पाता। केवल व्यक्तिगत एकता को ही यत्र तत्र सर्वत्र परिलक्षित कराता है। लोककल्याणमयी भावना के अभिव्यञ्जक उत्तम शास्त्र-वाक्य 'आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति। सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वेसन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।' तथा इसी प्रकार के अन्य वाक्य भी 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' 'प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः। किन्तु मे पशुभिस्तुल्यं किन्तु सत्पुरुषैरपि।' इत्यादि केवल ग्रन्थों में ही अपना अस्तित्त्व छिपाये हुए हैं न कि सक्रिय रूप से आज की मानवीय मनोवृत्तियों में। जाति, गोत्र, कुल, परम्परा का बलिदान केवल उच्चपद तथा नश्वर भोगसामग्री की प्राप्ति के लिये कर दिया जाता है। अनन्ततः यह सब क्यों हो रहा है?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि इस अनर्थ का कारण केवल असद्वासनापूर्त्यर्थ कुपथ सेवन ही है। इसी से अधिकांश आज के मानवों में मानवीय तेज, बल, बुद्धि का ह्रास होने से दानवीय प्रवृत्ति को अत्यधिक बल मिलता जारहा है। 'जिमि कुपन्थ पगदेत खगेसा। रह न तेज बल बुधि लवलेसा।' अतः तेज बल बुद्धि का संरक्षण चाहने वाले भारतीय मानवों को कुपथ परित्यागपूर्वक सत्पथावलम्बन ही नितान्त आवश्यक है। महापुरुषों द्वारा अनवरत क्षुण्ण मार्ग ही सत्पथ कहलाता है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः'। महापुरुषों का परिचय हमें बादरायणचरण ने 'महान्तस्ते समचित्ताः प्रशान्ता विमन्यवः सुहृदः साधवो ये।' इस लक्षण वाक्य द्वारा करा ही दिया है। अर्थात् वे ही मानव महापुरुषों की संज्ञा में आते हैं कि जो 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त को अङ्गीकृत कर अपने सुख दुःख के समान ही पराया सुख दुःख समझते हुए प्राणिमात्र में आत्मीयता का दर्शन करते हैं। वशीकृतसकलेन्द्रिय हैं। दैन्यसमुद्भावक काम-क्रोधादि के वश में नहीं आते। सर्वभूत-मैत्रव्रत धारण करते हैं। मन, वचन, कर्म से सदा परार्थ साधन करते हैं। इन लक्षणों से युक्त महापुरुष सदा से ही एतद्देशप्रसूत होते रहे हैं तथा अपने सान्निध्य से इस पुण्यभूमि को गौरवान्वित कर जन साधारण का कल्याण मानवीय सदाचरण की शिक्षा देकर करते रहे हैं।

ऐसे ही महापुरुषों में से एक थे श्री १००८ नैष्ठिक ब्रह्मचारी, वर्तमान युग के महर्षि, तपोनिधि श्रीजीवनदत्तजी महाराजपाद (संस्थापक—श्री साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर, नरौरा–बुलन्दशहर)। उनमें महापुरुषों की उक्त पञ्चलक्षणी सर्वात्मना अद्भुत रूप से दृष्ट होती थी। श्री महाराजपाद ने विक्रम सम्वत् १९३४ में अपने शुभ जन्म से मातृभूमि को अलंकृत कर ग्राम रावबरौली, जिला अलीगढ़, निवासी आयुर्वेदमर्मज्ञ पण्डित श्रीरामप्रसादजी शर्मा को अपने जैसे सत्पुत्र के पिता होने का पूर्ण गौरव प्रदान किया। इसमें सन्देह नहीं कि उनके श्री माता पिता ने केवल एक ही

सत्पुत्र (श्रीमहाराजपाद) को जन्म देकर अनेकों अनीदृशबहुपुत्रजन्मद माता पिताओं को इस दिशा में पराजित कर दिखाया कि जिनके परमयशस्वी सत्पुत्र (श्रीमहाराजपाद) ने प्रबल तपश्चर्यामय आर्षजीवन व्यतीत करते हुए स्वसंस्थापित संस्कृत शिक्षण संस्था— श्री साङ्गवेद महाविद्यालय, नरवर के माध्यम से संस्कृत - जगत् का अभ्युत्थान करके अपना नाम अमर कर लिया ।

एक वार अकस्मात् उन्हें अपनी पांच वर्ष की बाल्यावस्था में आर्यसमाजप्रवर्तकस्वामी श्रीदयानन्दजी महाराज का दर्शन तथा शुभाशीर्वाद मिला । श्रीस्वामीजी ने सामुद्रिकशास्त्रानुसार सुलक्षणों से उन्हें भावी महापुरुष समझ कर उनके पिता श्री पं०रामप्रसादजी को सुझाव दिया कि अपने पुत्र को आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रखकर वेदमाता श्रीगायत्रीदेवी की उपासना कराना । इससे धार्मिक जगत् का बड़ा उपकार होगा । दैवी विधान से ऐसा ही हुआ भी । काशी आदि विद्या-क्षेत्रों में रहकर श्रीमहाराजपाद ने भारतीय दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन किया । भारतविख्यात वेद-व्याख्याता पण्डितप्रवर श्री भीमसेनजी महाराज उनके आदिकालीन शिक्षा-दीक्षा गुरु थे कि जिनकी पुण्यस्मृति में श्रीमहाराजपाद ने स्वसंस्थापित–श्री साङ्गवेद महाविद्यालय के बीच "वेदभवन" नामक एक विशाल भवन निर्माण कराया । इस भवन की बहिर्द्वारभित्ति पर लिखित श्लोक—

"तर्कापास्तसमस्तनास्तिकगतेर्वेदार्थवाचस्पते
र्यस्य क्षीरधिपाण्डुरेण यशसा पूर्णान्तिरे रोदसी ॥
तस्य श्रीगुरु 'भीमसेन' सुधियो ब्रह्मत्वमासेदुष
एतत्स्मारकमस्ति वेदभवनं यज्जीवनस्येप्सितम् ॥"

श्री वेदव्याख्याताजी के स्मारक भवन होने की सूचना दे रहा है ।

यद्यपि श्रीमहाराजचरण शुद्धसात्त्विक मनोवृत्तिपूर्ण तपश्चर्यामय जीवन को अपने अध्ययन काल से ही अधिक महत्त्व देते थे । अनेक शास्त्रों के उपयुक्त अध्ययन कर चुकने के उपरान्त तो "ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते । कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥" इस लोचनो-द्घाटक वचन से उन्हें आजीवन भीष्मव्रतधारणपूर्वक शाश्वतसुखोपलब्धि के लिये प्रबल प्रेरणा मिल गई । वे किसी भी मूल्य पर अपने इस दृढ़तम सङ्कल्प की सुरक्षा चाहते थे । किन्तु "श्रेयांसि बहुविघ्नानि" इस नियतिकृत नियम का उच्छेद भी तो मानवीय बल पर करना शक्यसम्भव नहीं होता । इसके लिये ईश्वरीय बल की अपेक्षा होती है । श्रीमहाराजपाद की उक्त विचारधारा का प्रवाह अन्तःसलिला सरस्वती की भांति उनके पवित्र हृदयान्तराल में ही गूढ़गति बनाये हुए था, तो भी "आकारैरिङ्गितै र्गत्या चेष्टया भाषणेन च । नेत्रवक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः' के अनुसार उनके पूज्यपाद माता पिताजी को उनके तादृश दृढ़ निष्ठा का आभास मिलने लगा । जननी जनक की स्नेह-भरी ममत्व ग्रन्थि का उन्मोचन भी उन जैसे पितृभक्त सत्पुत्र के लिये सरल कार्य नहीं था । क्योंकि यह ग्रन्थि तोड़ने या छोड़ देने की वस्तु नहीं होती । हां, केवल खोलने के लिये सावधान चित्त से किसी सदुपाय का अन्वेषण आवश्यक होता है । श्रीमहाराजपाद के समक्ष केवल एक ही श्रेष्ठतम उपाय था, और वह यह कि उनके माता पिता ही अपने मनःप्रसादपूर्वक उन्हें निवृत्तिपरायण होने की अनुमति दे दें । पितृतुष्टि ही समस्त देवगण की तुष्टि का द्वार है । पितरि प्रीतिमापन्ने प्रीयन्ते सर्वदेवताः । अन्यथा कल्याण मार्ग में पद-पद पर दैवी विघ्नों का आपतित होना अनिवार्य था ।

सर्वतीर्थमयी माता तथा सर्वदेवमय पिता की सेवा में आस्तिक जन सदा से दत्तचित्त रहते हैं। श्री महाराजपाद भी देववत् उनकी आराधना में संलग्न थे। माता तो अपरिमित वात्सल्य की साक्षात् प्रतिमा होती है। वह अपने पुत्र के सार्वविध जागतिक अभ्युदयों की अपने मन में न जाने क्या-क्या रूप-रेखा का निर्माण करती है तथा यथासमय उसे साकार देखना चाहती है। शास्त्रों में पिता की अपेक्षा माता को दस गुना अधिक उच्चस्थान दिया है। "पितुर्दशगुणा माता गौरवेणा-तिरिच्यते।" आद्यशङ्कराचार्य भगवत्पाद भी माता की अनुमति के बिना कृतकार्य नहीं हो सके थे। संन्यस्त सर्वकर्मा परिव्राजक अपने पिता का वन्द्य हो सकता है 'पितुर्वन्द्यो हि मस्करी"। किन्तु माता के चरणों में उसे भी मस्तक नवाने का शास्त्रीय आदेश है—"प्रसूर्वन्द्या प्रयत्नतः"। श्री शङ्कराचार्य भगवत्पाद ने तो माता के ऋण से मुक्ति पाना ही सर्वथा अशक्य घोषित कर दिया है—"आस्तां तावदियं प्रसूतिसमये दुर्वारशूलव्यथा, नैरुच्ये निजशोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी। एकस्यापि न गर्भभारभरणक्लेशस्य यस्याः क्षमो दातुं निष्कृतिमुन्नतोऽपि तनयस्तस्यै जनन्यै नमः।"

माता पिता अपने पुत्र को अपने से पृथक् रख कर निवृत्ततर्ष होने की अनुमति उस दशा में कैसे दे सकते हैं जब कि वे उस से अपने सुख सौविध्य की आकांक्षाओं तथा वंशोन्नतिसमर्थक अनेक सम्भावनाओं की पूर्ति कराने के पक्ष में होते हैं। स्नेह के कारण माता और पिता दोनों के हृदय में आनन्द की जो एक गांठ लग जाती है उसे ही तो भवभूति के शब्दों में पुत्र कहा गया है। 'अन्तःकरण-तत्त्वस्य दम्पत्योः स्नेहसंश्रयात्। आनन्दग्रन्थिरेकोऽयमपत्यमिति पठ्यते।' इस आनन्दग्रन्थि को कौन अपने से पृथक् करना चाहेगा। उस पर भी सद्गुणसम्पन्न पितृभक्त श्रीमहाराजपाद जैसा एकल पुत्र जो कि अपने माता पिता की वृद्धावस्था में उनका सहायक सिद्ध हो और द्वितीय भ्राता के न होने पर स्वयं उसी पर वंशवृद्धि का दायित्व भी आपतित हुआ हो, ऐसे पुत्र को गृहत्यागपूर्वक अरण्य-सेवन की अनुमति देकर आस्तिक मनोवृत्ति वाले माता पिता अपने आपको तथा समस्त पूर्वज पितरों को वंशविच्छेदजन्य निरयसङ्कट में डालना चाहेंगे क्या? अथवा वह अपने माता पिता का एकाकी पुत्र "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्। अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः" के शास्त्रीय सिद्धान्त की जानबूझ कर अवहेलना करने से प्रत्यवायी बनना चाहेगा क्या? श्रीमहाराजपाद के मनोनीत मार्ग में यह एक विकट समस्या सुरसा के सदृश विशाल मुख फैला कर उपस्थित हो गई। बुद्धिमद्वरिष्ठ बालब्रह्मचारी पवनतनय के समान ब्रह्मवर्चसी श्रीमहाराजपाद विचलित तो नहीं हुए परन्तु 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' इस नीति के अनुसार उन्हें काल की प्रतीक्षा अनिवार्य रूप से अपेक्षित हो गई।

श्रीमहाराजपाद की वात्सल्यामृततरङ्गिणी पूज्यामाता पौत्रमुखदर्शन की लालसा अपने अन्त-र्मानस में छिपाये दैवी विधान से इस असार संसार को छोड़कर परलोकवासिनी होगईं। अवश्य ही यह मातृवियोग उन्हें लौकिक दृष्टि से उस समय असह्य शोकजनक रहा होगा। 'तदा शून्यं जगत् सर्वं यदा मात्रा वियुज्यते।' मातृविहीन श्रीमहाराजपाद पर उनके पूज्यपिताजी के शेष जीवन की आशायें केन्द्रित होगईं।

"यद्भावि तद्भवति नात्र विचारहेतुः"

श्रीमहाराजपाद के देहाविर्भाव से पूर्व ही उनके महामनस्वी श्रीपितृपाद अपनी जन्मभूमि रावबरौली नामक ग्राम को किसी कारणवश वहाँ के ग्रामाधीश ठाकुर राव श्रीकर्णसिह वर्मा से अत्यन्त रुष्ट होकर उनके अधिकृत किसी भी ग्राम में अन्न जल स्वीकार न करने का आजीवन व्रत लेकर छोड़ चुके थे।

सशक्त ग्रामाधोश से विरोध, गृहत्याग, आजीवन प्रवास, जीविकाकष्ट, परगृहवासादि अनेक कष्टों को सहन करते हुए हलिगढ़नगर (अलीगढ़ शहर) के कटरा मोहल्ले में रहने लगे। "अवश्यंभाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि। तदा दुःखैर्न युज्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः"—आस्तिक जन विपद्ग्रस्त होकर और अधिक प्रभुपरायण बन जाते हैं। इसीलिये 'विपदः सन्तु नः शश्वत्' के रूप में अपनी भावना वरदानोन्मुख परमेश्वर के समक्ष रख देते हैं। नारायण का विस्मरण करा देने वाली सम्पत्ति की अपेक्षा प्रतिक्षण प्रभुस्मारिका विपत्ति ही श्रेयसी होती है, और वह आस्तिक जनों को प्रभु के अनुग्रह के रूप में प्राप्त हुआ करती है। "यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः", इस वचन से स्वयं भगवान् ही विपत्ति को अपना अनुग्रह बताते हैं। विधाता की सृष्टि में सत्पुरुष दारिद्र्यानलतापसन्तप्त होकर प्रतप्त-स्वर्ण के सदृश चमकते हैं तथा उनकी कुलीनता, विद्या, शौर्य, शील, सुरूपता आदि गुणों के लोकपरीक्षित होने का अवसर भी उसी दशा में मिलता है। अन्यथा—'स्वस्थे को वा न पण्डितः। इसीलिये परमचतुर चतुरानन भी अपनी प्रिय पुत्री की भांति दरिद्रता को सत्कुलीन सुयोग्य मानव की जीवनसङ्गिनी बनाकर वीतचिन्त हो जाते हैं—"परीक्ष्य सत्कुलं विद्यां शीलं शौर्यं सुरूपताम्। विधिर्ददाति निपुणः कन्यामिव दरिद्रताम्'। अस्तु, श्रीमहाराजपाद के पूज्य पिताजी अपनी मनस्विता की रक्षा के लिये उस कष्टतम दशा में रहकर भी सुप्रसन्न थे।

"ईदृशानां विपाकोऽपि जायते परमाद्भुतः
यत्रोपकरणीभावमायात्येवंविधो जनः"

इसी प्रवासकाल में समय बीतने पर किसी सुयोग में श्रीमहाराजपाद का लोकमङ्गलमय श्रीविग्रह इस धरातल पर प्रकट हुआ और उनकी जन्मस्थली होने का गौरवान्वित श्रेय अलीगढ़ नगर को मिला। भिषग्वर पण्डित श्रीरामप्रसादजी ने अपनी कष्टतम तपश्चर्यासिद्धि के फलस्वरूप ऐसे महापुरुषीय सुलक्षणोपेत पुत्ररत्न (श्रीमहाराजपाद) की प्राप्ति की जो उनके लोकपरलोकगत सकलसुखसौविध्य की समुपलब्धि में सफल उपकरण सिद्ध हुए।

हो सकता है द्वापर युग के भीष्मपितामह ही अपने अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत की पुनरावृत्ति के लिये ब्राह्मण शरीर प्राप्ति की स्पृहा लेकर श्रीमहाराजपाद के रूप में प्रकट हुए हों। कारण, पुत्रवत्सला श्रीश्रीजाह्नवीदेवी के द्वारा पुनः उन्हें क्रोडसुख देने के लिये अपने समीप बुला लेने की भूमिका का बनाया जाना इस बात का द्योतक प्रमाण सिद्ध हो सकता है। एक दिन श्रीमहाराजपाद के पिताजी अपने जीवन के एकमात्र अवलम्ब सत्पुत्र (श्रीमहाराजपाद) की तीव्र इच्छा से सर्वतीर्थमयी भगवती भागीरथी गङ्गा के पवित्र दर्शन तथा सविधि सर्वपापापनोदनस्नान की अभिलाषा लेकर उनके सहित वृद्धकेशी सिद्धपीठ (नरवर) पधारे। वहाँ कुछ दिन ठहर कर श्रीमहाराजपाद को मानसिक शान्ति का अभूतपूर्व अनुभव होने लगा। वहाँ की प्राकृतिक रम्य छटायें, सुन्दर वनपंक्ति, गङ्गाजलकणवाही शीतलमन्द सुगन्ध सुखद समीर, हरिद्वार से लेकर सागरसङ्गम तक श्रीगङ्गाजी के दोनों तटों पर ही आजीवन भ्रमण करने वाले सन्त महन्तों का यथासमय शुभदर्शन, पर्णकुटीरों में कृतावास योगी, यति, ब्रह्मचारी, अवधूत सिद्धों का दैनिक सत्सङ्ग आदि से श्रीमहाराजपाद अधिक प्रभावित हो गये और उनके मन में यहीं रहकर तपश्चर्यानिरत होने का शुभ सङ्कल्प जाग उठा। यहाँ श्रीमहाराजपाद के शुभागमन से कई वर्ष पूर्व भरतपुर राज्य के निवासी ब्रह्मचारी श्रीयोगानन्दजी महाराज आजीवन गोसेवा का महाव्रत लेकर कृतनिवास हो चुके थे। नहर विभाग से कृषियोग्य अपेक्षित भूमि का पट्टा

गोशाला के नाम करा लिया था जिससे गोशाला में रहने वाली समस्त गायों के चारे का प्रबन्ध हो जाया करता था। प्रतिदिन गङ्गाकिनारे गोचारण-कार्य ब्रह्मचारी योगानन्दजी स्वयं करते थे तथा सहायता के लिये दो एक वैतनिक सेवक भी रखते थे। उनका भी तपस्वी जीवन बड़ा ही सुन्दर था। पाणिनीय सूत्राष्टाध्यायी, पातञ्जल महाभाष्य, वेदान्त पञ्चदशी, गीता आदि ग्रन्थों के ज्ञान के साथ पौराणिक तथा दार्शनिक संस्कार भी उनमें विराजमान थे। इस प्रकार प्रबुद्ध श्रीयोगानन्दजी से श्रीमहाराजपाद को अधिक प्रेरणा मिली कि वे यहाँ गंगातटवर्ती पावनभूमि नरवर में आजीवन तपोनिष्ठ रहकर संस्कृत वाङ्मय के अध्ययनाध्यापन की यथाशक्ति नींव डालें। अस्तु, इस सुन्दरतम सद्भावना को गूढ़ रूप से हृदय में निहित कर एक दिन श्रीमहाराजपाद अपने पितृपाद के साथ श्रीसर्वमङ्गलादेवीजी के दर्शनार्थ विल्ववन शक्तिपीठ (बेलौन) पधारे। वहाँ की धार्मिक जनता के आग्रह से वहाँ कुछ दिन तक ठहर कर उन्होंने जनसाधारण को सत्सङ्ग का लाभ दिया। इससे वहां की जनता उनसे अति सन्तुष्ट हो गई। तदनु कतिपय पिपठिषु शिष्यों के आग्रह से श्रीमहाराजपाद ने विल्ववन नगर के एक विद्यामन्दिर में अध्यापन कार्य आरम्भ कर दिया। प्रतिदिन दो कोस चलकर नरवर घाट पर गङ्गास्नान करना, तथा फिर लौट कर बेलौन पहुँचना, यह लम्बा व्यायाम उन्हें रुचिकर न लगा। अतः वे अपनी छात्रसम्पत्ति सहित नरवर भूमि में ही आबसे। परिश्रमी ब्रह्मचारी छात्रों ने जंगल से लकड़ी काटकर सुन्दर पर्णकुटीरों का निर्माण किया। एक वृक्षवाटिका भी लगाई। उसमें कल्मी तथा देशी आम, नीबू, नारङ्गी, चकोतरे, खट्टा, मिट्ठा, बड़हल, पनस, बेल, जामुन, अमरूद, अनार, आंवले, उदुम्बर, फालसा आदि के उत्तम वृक्ष बड़े सुन्दर ढंग से अपने-अपने स्थान पर अविचल स्थित थे। चारों ओर सघन केला की बाढ़ लगाई गई थी कि जो वाटिका के हरे रंग के परिधान के सदृश वायु की कक्षा में लहर लेती रहती थी। आकाशीवृत्ति से छात्रों का निर्वाह होने लगा। तैलादि के अभाव के कारण दीपकों का प्रकाश असुलभ होने से आश्रम के छात्र दिन में वृक्षों के सूखे पत्ते एकत्रित कर लेते थे और उन्हें रात्रि में जलाकर किये गये क्षणिक प्रकाश में पाठ्य पुस्तकों के दिवाधीत विषय को कण्ठस्थ किया करते थे। श्रीमहाराजपाद की कष्टतपश्चर्या से नरवर भूमि की श्री दिनोंदिन बढ़ने लगी। वे अद्भुत पितृभक्त थे ही, अतः प्रतिदिन अपने पिताजी को स्नान कराते, उनकी धोती धोते, वस्त्र प्रक्षालन करते, स्वयं हाथ से बनाकर उन्हें भोजन कराते, शेष भोजन को पितृप्रसाद मान कर स्वयं ग्रहण करते, उनके चरणसंवाहन करते, श्रीपिताजी को कोई कष्ट न होने पावे इसका वे सर्वदा ध्यान रखते थे। यों अपने अनुपम सेवाकार्य से उन्होंने श्री पिताजी को अति सन्तुष्ट कर उनका अमोघ आशीर्वाद प्राप्त कर लिया।

श्रीमहाराजपाद के पिताजी, स्ववंशवृद्ध्यर्थ उन्हें गृहस्थाश्रम की शृङ्खला में निबद्ध करना चाहते थे। अकस्मात् एक दिन कोई सज्जन अपनी कन्या के लिये वरान्वेषणप्रसंग में श्रीमहाराजपाद के सद्व्यक्तित्व की चर्चा सुनकर नरवर पहुंचे। श्रीपिताजी ने उन सज्जन पुरुष को अपनी स्वीकारात्मक अनुमति दे दी। श्रीमहाराजपाद के समक्ष धर्मसङ्कट उपस्थित हो गया। एक ओर आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत की भीष्मप्रतिज्ञा, दूसरी ओर विवाह कर लेने के पक्ष में श्री पिताजी का आदेश, दोनों में प्रबल विरोध था। "न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत्। यं तु रक्षितुमिच्छन्ति बुद्ध्या संयोजयन्ति तम्," वचन के अनुसार उपास्यदेवता अपने उपासक को सङ्कटमोचनक्षम सद्बुद्धि देकर सर्वात्मना सर्वकाल उसकी रक्षा का दायित्व संभालता है। श्रीमहाराजपाद ने तात्कालिक एक युक्ति को ध्यान में रखकर विनम्रभाव से अपना विचार यों व्यक्त किया। "पुत्रत्व की रक्षा तीन कारणों से होती

है– जीवित पिता की आज्ञा का पालन, मृत पिता की क्षयतिथि में श्राद्ध, पिण्ड तर्पण तथा विप्रभोजन, अक्षयपितृतृप्ति के लिये गयादितीर्थश्राद्ध। इन तीन कार्यों के बिना पुत्रत्व रक्षित नहीं रहता। "जीवतो वाक्यकरणात् क्षयाहे भूरिभोजनात्। गयायां पिण्डदानाच्च त्रिभिः पुत्रस्य पुत्रता"। अतः श्री पिताजी को आज्ञा से मैं विवाह तो कर लूंगा किन्तु विवाह की रूपरेखा मुझे स्वयं बनाने का अधिकार श्रीपिताजी की ओर से मिल जाना चाहिये, जिससे कि मैं अपना अन्तिम निर्णय दे सकूं। प्रसन्न चित्त से श्रीपिताजी ने उनका प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया, क्योंकि उनका अभिनिवेश तो केवल किसी प्रकार विवाह हो जाने में ही था। अनन्तर श्रीमहाराजपाद कन्या के पिता से इस प्रकार बोले, 'विवाह के सम्बन्ध में मेरे अपने कुछ विचार हैं, यदि वे आपको मान्य हों तो विवाह निश्चित हो जायगा।' मैं बरात लेकर आपके ग्राम में नहीं आऊंगा, सिर पर मुकुट धारण नहीं करूंगा। हरिद्रालेपनादि स्वीकार नही करूंगा, आपकी कन्या के भरण-पोषण का भार भी वहन नहीं करूँगा, ससङ्कल्प प्रतिग्रह के रूप में आपकी कन्या को स्वीकार नहीं करूँगा। यदि आप उचित समझें तो यहीं लाकर केवल भिक्षा के माध्यम से मुझे अर्पित कर दें।' यह सुनकर वातावरण में स्तब्धता छा गई। कुछ देर मौन मुद्रा में रहकर उन सज्जन ने कहा यदि महर्षि जरत्कारु का युग होता और मुझे भी वासुकि का सा सामर्थ्य प्राप्त होता तो कुछ विचार भी किया जा सकता, अब तो मैं आपके निर्णीत विचारों की पूर्ति करने में असमर्थ हूँ। यह कहकर वे सज्जन वहाँ से चले गये। श्रीमहाराजपाद के उक्त विचारों की चर्चा फैल जाने से फिर किसी वरान्वेषणकर्ता ने उनके समीप पहुँचने का कष्ट नहीं किया। श्रीमहाराजपाद का मार्ग निष्कण्टक हो गया। निम्नलिखित श्लोकद्वयी उनके स्मृतिपटल पर सर्वदा आरूढ़ रहती थी 'संसार ! तव निस्तारपदवी न दवीयसी। अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदिरे मदिरेक्षणाः। निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य। सन्दर्शनं विषयिणामुतयोषिताञ्च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु।'

समय अपनी गति से बीतता गया। श्रीमहाराजपाद के तीन कार्य अविचल रूप से समृद्ध होते गये। पितृपाद-सेवा, कष्टतपश्चर्या, छात्राध्यापन।

'मन की मनहीं मांहि रही'। श्रीमहाराजपाद के पूज्य पिताजी का पौत्रमुखदर्शनसङ्कल्प साकार न हो पाया, इसकी उन्हें हार्द वेदना बनी रही। संसार के रंगमंच पर जगन्नाटक सूत्रधार के आदेश से प्राणी भिन्न-भिन्न नामरूपात्मक मायिक नेपथ्य ग्रहण कर वर्णाश्रमधर्मदर्शन नामक रूपक का सुन्दरतम ढंग से अभिनय करने के लिये उतरता है। अभिनय की साधुता तथा असाधुता पर अभिनेता को पारितोषिक तथा दण्डदान की व्यवस्था रहती हैं। साधुता तथा असाधुता के अनेक श्रेणीगत होने से पारितोषिक तथा दण्डविधान की अनेक श्रेणियां धर्मराज के न्यायालय में व्यवहृत होती हैं। श्रीमहाराजपाद के पिताजी वर्णाश्रमानुकूल मानवीय जीवन के श्रेष्ठतम अभिनय में सफल सिद्ध हुए। सुरस्रोतस्विनी के तट पर सिद्धपीठ नरवर की पावनभूमि में अजस्र सात्त्विक परमाणुशक्ति-लब्ध ज्ञान वैराग्यमयी धाराओं के पवित्र संगम में अहर्निश उन्होंने अपने कायिक, वाचिक, मानसिक, सांसर्गिक सभी मलों का भलीभाँति प्रक्षालन कर धर्मराज की पारितोषिक वितरण सभा में अपने अभिनय की साधुता पर पूर्ण पारितोषिक प्राप्त्यर्थ प्रवेश का अधिकार पा लिया। अब केवल आह्वानपत्र की प्रतीक्षा थी। समय बीतने पर उन्हें एक दिन अपनी महायात्रा का पूर्वाभास मिला। तत्काल उन्होंने अपनी अन्तःकरण पेटिका का पुनः निरीक्षण किया कि इसमें कोई सांसारिक वासना तो पड़ी नहीं रह गई। यदि हो तो उसे निकाल फेंका जाय।

लम्बी यात्रा में अधिक भार बोझ अच्छा नहीं होता। वैसे भी गन्तव्य स्थान पर जिस वस्तु की आवश्यकता ही न पड़े उसे क्यों व्यर्थ साथ ले जाया जाय। उन्हें केवल एक ही वासना मिली कि जो अब तक कोई उचित समाधान न मिल पाने के कारण पड़ी रह गई थी। वह थी अपने वंश की अभिवृद्धि कामना के रूप में, क्योंकि इसके समाधान का अब कोई मार्ग नहीं था। अपने अन्तिम सन्देश के सन्दर्भ में उन्होंने श्रीमहाराजपाद को अपनी आन्तरिक व्यथा का स्पष्टीकरण दे ही दिया। वे बोले, 'अनपत्य मानव लौकिक-पारलौकिक सद्गति का अधिकारी नहीं होता। पुत्रपौत्रप्रपौत्रवान् पुरुष ही सत्यलोक तक के मार्ग को साधिकार सरलता से पार कर सकता है। पुत्र ही असूर्य लोकों में प्रकाशस्तम्भ बनकर परमानन्दप्राप्ति का साधन होता है। लौकिक तथा पारलौकिक दुःखजाल से त्राण पाने के लिए पुत्र की बड़ी आवश्यकता होती है। पुत्रमुखदर्शनमात्र से पिता ऋणत्रय से विमुक्ति पा जाता है। इसीलिये पाञ्चभौतिक सकल पदार्थों की अपेक्षा पुत्र का सर्वाधिक मूल्य है। आत्मा ही पुत्ररूप से उत्पन्न होकर अपने पिता तथा समस्त पूर्वजों का संसारसागर से उद्धार करता है। प्रशस्त कल्याणमय मार्ग पुत्रवान् पुरुष के लिये सदा खुला रहता है। ऋषि देवल के मत में— ज्योतीरूप होने के कारण भार्या, कर्म, विद्या, ये तीन ही मनुष्य जीवन के साध्य हैं। गयाश्राद्ध, अश्वमेघ याग, नीलवृषोत्सर्ग आदि के अनुष्ठान से पुत्र ही पिता को सद्गति प्राप्त कराने में समर्थ होता है। इसलिये विज्ञ पुरुष सदा से पुत्रप्राप्ति की कामना करते रहे हैं। आस्तिक सम्प्रदायानुकूल अनेक सद्ग्रन्थों में भी पुत्रप्रशस्तिपरक नाना वचनों द्वारा पुत्र प्राप्ति की आवश्यकता पर पूर्ण बल दिया गया है। जैसे 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति'। 'पुत्रेण लोकाञ्जयति पौत्रेणानन्त्यमश्नुते। अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम्।' 'पुत्रो ह ज्योतिः परमे व्योमन्'। पुदिति नरकस्याख्या दुःखञ्च नरकं विदुः। तस्मात् त्राणाय सत्पुत्र-मिहेच्छन्ति परत्र च। 'ऋणमस्मिन् सन्नयति अमृतत्वञ्च गच्छति। पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चे-ज्जीवतो मुखम्।' 'यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि। यावन्तोऽप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः।' 'शश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन्बहुलं तमः। आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी।' 'नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति। एष पन्था उरुगायः सुशेवो यं पुत्रिण आक्रमन्ते विशोकाः। तं पश्यन्ति पशवो वयांसि तस्मात्ते मात्रापि मिथुनीभवन्ति। 'त्रीणि ज्योतींषि पुरुषे इति वै देवलोऽब्रवीत्। भार्या कर्म च विद्या च संसाध्यं यत्नतस्त्रयम्।' 'एष्टव्या बहवः पुत्रा यद्येकोऽपि गयां व्रजेत्। यजेत वाश्वमेधेन नीलं वा वृषमुत्सृजेत्' आदि आदि।'

उक्त प्रकार से अनेक श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त वचनों का उद्धरण देते हुए उन्होंने श्रीमहाराज-पाद से वंशविच्छेद की निराकृति के लिए तत्काल समाश्रयणीय किसी सदुपाय के अन्वेषण की समस्या का सत्समाधान भी चाहा।

श्रीमहाराजपाद ने अपनी नैसर्गिक प्रसन्नमुद्रा से इस जटिल प्रश्न के समाहित करने का यों उपक्रम- किया 'जहाँ तक वंश वृद्धि का प्रश्न है वहाँ तक अब भी हम किसी समृद्ध वंश परिवार से पीछे नहीं हैं।' 'वंशो द्विधा भवति विद्यया जन्मना वा' वंश दो प्रकार से माना गया है एक विद्यावंश, दूसरा जन्मवंश। विद्यावंश का जितना विस्तार सम्भव हो सकता है उतना जन्मवंश का नहीं। विद्यावंशवृक्ष की शाखायें दूर दूर तक फैल कर अनन्तकाल तक पुष्पित फलित रहती हैं। मेरे अनेक शिष्य-प्रशिष्यगण लौकिक तथा पारलौकिक अभ्युदय की दिशा में पुत्रकृत्य सम्पादन करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। जिस प्रकार आपके वंश की प्रतिष्ठा मुझ अकेले पुत्र से है

उसी प्रकार मेरे असंख्य पुत्रपौत्रादि शिष्य-प्रशिष्यों के रूप में इस भूतल पर सदा के लिये मेरे कीर्तिस्तम्भ बने रहेंगे। विवेकदृष्टि कभी भी पुत्र तथा शिष्य में पारस्परिक भेददर्शन नहीं करती। काण्वशाखा के आधार पर ब्रह्मवैवर्तपुराण में श्रीव्यासपाद ने उक्त व्यवस्था दे रखी है— "यथा पुत्रस्तथा शिष्यो न भेदः पुत्रशिष्ययोः। तर्पणे पिण्डदाने च पालने परिपोषणे। यथाग्निदाता पुत्रः स्यात्तथा शिष्योऽपि निश्चितम्। इतीदं काण्वशाखायामुवाच कमलोद्भवः।" वामनपुराण से भी इसका समर्थन प्राप्त है "पुन्नाम्नो नरकात् त्राणात् पुत्रः स्नेहेन गीयते। शेषपापहरः शिष्यः इतीयं वैदिकी श्रुतिः।" अतः शास्त्रपरायण-आस्तिक-संयतेन्द्रिय मानव को इस विषय में सन्दिहान होने का अवसर प्राप्त नहीं है। प्रत्युत औपनिषद-निर्णय पुत्रैषणा के सर्वथा विपरीत हैं। अमृतमार्ग का अनुसरण करने वाले व्यक्ति को इस प्रपञ्च से सदा ही सावधान रहना चाहिये। "ये प्रजामीषिरेऽधीरास्ते श्मशानानि भेजिरे, ये प्रजां नेषिरेधीरास्तेऽमृतत्वं हि भेजिरे।" इत्यादि अनेक आर्ष वाक्य हमारे अभिमत मार्ग का समर्थन करते हैं तथा उस पर चलने की दिशा भी प्रदान करते हैं। वाङ्मनः कायभृत अखण्ड ब्रह्मचर्य का वल ही वह बल है कि जिससे मृत्युसैन्य का पराजय किया जा सकता है। "ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत"। उसी बल की प्राप्ति के लिये मैं कृतसंकल्प हूँ। संयतात्मेन्द्रिय तपस्वी जनों का धर्म मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थिति के समान होता है, थोड़े से भी प्रमाद से वह अधर्म में परिवर्तित हो जाता है। इसीलिये तादृशधर्मवेत्ताजन चार द्वारों पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं। उपस्थ, उदर, हस्त, वाणी, ये ही वे चार द्वार हैं, जिनसे निश्रेयस सम्पत्ति के लुटेरे कामादि प्रवेश पा जाते हैं। "यस्य द्वाराणि चत्वारि सुगुप्तानि भवन्ति हि। उपस्थमुदरं हस्तौ वाक् चतुर्थी स धर्मवित्।" मेरे अपने विचार से यही मार्ग मुझे निरापद, स्वायत्त तथा समयानुकूल लगता है। "आश्रमादाश्रमं व्रजेत्" पक्ष के अनुसार वंशवृद्ध्यर्थ स्वीकृत गार्हस्थ्य जीवन की कृतार्थता संशयित ही रहती है। स्वीकृत गृहस्थजीवन, कहीं "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" की सोदाहरण व्याख्या बन कर न रह जाय, इस बात को प्रतिक्षण आशङ्का बनी रह सकती है। द्रव्ययज्ञसमुत्सुक देवगणों ने पुरुष को पशुवत् बाँधने के लिये जिस विलक्षण रज्जु का निर्माण किया है, वह मृदुहासभाषिणी दृष्टिविषा, योषित् का पर्याय है। "देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्"। उस रज्जु से बद्ध पुरुष अपनी बद्धता का अनुभव नहीं कर पाता, यह दैवी माया का विचित्र प्रभाव है। विवेचकों ने योषित् को बूर (भुसी) के बने मोदकों का सादृश्य दिया है जो इन्हें सेवन करता है वह पछताता है और जो नहीं सेवन करता वह भी। वस्तुतः इस संसार के बेहड़ जंगल में अनवरत भ्रमण कराने के लिये नारी पुरुष को ऐसा दिग्भ्रम प्रदान करती है कि जिससे वह पथभ्रष्ट होकर मार्ग तथा गन्तव्य स्थान को हो नहीं अपने आपको भी भुला बैठता है। "नहीं ज्ञात है कुछ भी अब, कौन हैं हम। कहां से चले थे कहाँ जा रहे हैं"। इस प्रकार से योषित्पाशबद्ध पुरुष की दशा अतिशोचनीय हो जाती है। अधीतविद्य मानव को भी वरार्थिनी बाला अपना मानस आकर्षण भेजकर दूरतम स्थान से भी अपने घर बुला लेती है। वैवाहिक वाद्यों की स्वरलहरी के आनन्द में वह अपनी इस लघुता को नहीं समझ पाता यह उसका प्रथम पराजय है। तदनु पाणिग्रहण की वेला में; बालिका करकमल स्पर्शजनितजाड्य विद्युत्सञ्चार के समान वरमहोदय के स्थूल तथा सूक्ष्म देह में प्रविष्ट हो जाता है, जिससे वह यह भी नहीं समझ पाता कि वह स्वयं बलिष्ठ होकर भी एक अबला के उत्तरीय वस्त्र के एक ठोक से बद्ध होकर अग्निपरिक्रमण के व्याज से भवाटवी भ्रमण की प्रक्रिया सीख रहा हैं। तीन बार बालिका उसे अपने पीछे चलाकर प्रशिक्षण देती हैं, पश्चात् एक बार अपने आगे चलाकर

उसके भ्रमणसौष्ठव की परीक्षा करती है। कितना बड़ा यह उपहासास्पद पराजय जनसमुदाय के समक्ष वाद्यध्वनि (डंके की चोट) के साथ होता है। "दूरादाहूय वाद्यै रधिगतसकलज्ञानराशेर्वरस्य, स्थूले सूक्ष्मेऽपि देहे निजकरकमलस्पर्शजाड्यं निधत्ते। द्विर्बद्ध्वा चोत्तरीयेऽनलपरिगमनच्छद्मना हन्त तस्मै बालाप्याकल्पगुर्वीमनवरतभवभ्रान्तिदीक्षां ददाति।" बड़े-बड़े धुरन्धर विद्वान् भी, कि जिनसे सनत्कुमारीय मार्ग समाश्रयण की आशा की जा सकती है, वे भी कुसुमशरशरावलीनिर्मित वरवरण-पुष्पमालिका को निजगलपाश की भांति धारण करने के लिये वरार्थिनी बालिका के अभिमुख सहर्ष अपना मस्तक नवा देते हैं। अस्तु वंशवृद्धिकामना से यह पराजय स्वीकार भी किया जाय तो भी पुत्रोत्पत्ति अदृष्टाधीन है। उस पर भी भरणपोषणार्थ द्रव्योपार्जन की चिन्ता, गृहस्थाश्रम सम्बन्धी अनेक सङ्कट, कामक्रोधादि प्रबल शत्रुओं से प्रतिक्षण सङ्घर्ष आदि से जीवन दुर्भर हो सकता है। ऐसी स्थिति में—"भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः" इस न्याय को अपने पर संगत होने का अवसर मिल सकता है। दैवात् यदि पुत्र हुआ भी, तो वह पुत्र की भूमिका का निर्वाह कर सकेगा यह कहना कठिन होगा, क्योंकि कलिसाम्राज्य का विधान, "पुत्राः पितुर्दूषकाः" अवरोधक सिद्ध हो सकता है। प्रारब्धवश वह पुत्र नास्तिक, वर्णाश्रमाचारहीन, अशास्त्रज्ञ होगया तो वंश की अप्रतिष्ठा का हेतु बनेगा और उससे पितृसाम्परायविधि की कोई आशा नहीं की जा सकती। ऐसी स्थिति में पितरों की पिण्डोदक क्रियायें लुप्त हो जायेंगी कि जिनके करने के लिये ही वंशधर पुत्र की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिये आज के युग में ऐसे अनेक परिवार मिलेंगे कि जिन में देवर्षिपितृतुष्ट्यर्थ सविधि-देवपूजन, वेदस्वाध्याय, पितृतर्पण, श्राद्ध, वैश्वदेवादि आवश्यक दैनिक कृत्य पुत्रों द्वारा नहीं हो रहे हैं। शास्त्रज्ञों के विचार से वे दोनों ही वंश विच्छिन्न माने जाते हैं कि जिनमें पुत्रादि के सर्वथा अभाव के कारण, अथवा पुत्रादि के नास्तिक्यादि दोषदूषित होने के कारण, पुत्रकर्तृकपिण्डोदक क्रियायें विलुप्त हो गई हों। यह चतुर्थ युग उपसंहार युग हैं, सद्वंश वृद्धि की अपेक्षा नहीं रखता। श्रीकलियुग महाराज के एकच्छत्र साम्राज्यकाल में अभ्युदय-निश्रेयस सिद्धि के शास्त्रीय साधन विलुप्त होते जा रहे हैं, दिनोंदिन धार्मिक जगत् के कठिन परीक्षण का समय आता जा रहा है। श्री ह्री धी धृति कीर्ति कान्ति प्रभृति सद्गुण खपुष्पायित होते जा रहे हैं। सर्वत्र निर्लज्जता का नग्न नृत्य दृष्टिगोचर होने लगा है। प्रज्ञावान् जनों की दृष्टि में आज के जीवित मानवों की अपेक्षा पूर्व-कालदिवङ्गत पुरुष ही धन्यवादार्ह हैं कि जिन्होंने आज के पापबहुलयुग को अपने नेत्रों से नहीं देखा। "हा कष्टं खलु वर्तते कलियुगे धन्या मृता ये नराः।" अतः अब आत्मकल्याणाभिनिवेशी मानवों का यही कर्तव्य समुचित जान पड़ता है कि वे कलिदेव की एकैकहस्तधृतजिह्वोपस्थ दिगम्बर मूर्ति से अभिव्यक्त धृति (जिह्वोपस्थजय) को ही एकमात्र श्रेयःसाधन समझें तथा समस्त अंगों को समेट कर अविचल स्थित कूर्म की भांति लौकिक विषयवासनाओं से मुक्तसंग होकर पारमार्थिक लाभ प्राप्त करें। यही एकमात्र उपाय अब निवृत्तिपरायण मानव को आचरणीय है। इसके विपरीत अजितेन्द्रिय मानव कलिदेव की तादृशमूर्ति से शिश्नोदरपरायणता की शिक्षा ग्रहण कर अपना लोक-परलोक बिगाड़ बैठते हैं। अस्तु, पुत्रवात्सल्य से प्रेरित होकर आप मेरी लौकिक अभिवृद्धि की कामना करते रहे हैं। ठीक यही लोकदृष्ट भी है कि परिपक्व अवस्था में स्थित पत्र पुष्प फलों को उनके जनक वृक्ष भी मुक्त कर देते हैं किन्तु पुत्र-स्नेह पिता के प्रति ऐसा आचरण करने की अनुमति नहीं देता। "मुच्यते बन्धनात् पुष्पं फलञ्चापि प्रमुच्यते। क्लिश्यन्नपि सदा स्नेहैः पिता पुत्रं न मुञ्चति।" आपने अपने जीवन में अनेक क्लेश सहन करते हुए मेरे पालन-पोषण

संवर्धन, शिक्षण-संरक्षण का जो भार वहन किया है, उससे निष्कृति पाना यद्यपि मेरे लिए अशक्य है, तथापि यथासम्भव रूप से देवार्चन, स्वाध्याय, निवापाञ्जलिदान, सत्कर्मानुष्ठान से ऋणत्रयमोचन, तथा 'जप एव कलौ श्रेयान् शालग्रामार्चनं तथा' इस मेरुतन्त्रीय वचन के आधार पर आजीवन जपयज्ञ के द्वारा सर्वेश्वर भगवान् की आराधना से आत्मकल्याण करने का मेरा अपना शुभ सङ्कल्प है, जिसे सर्वसमर्थ परमेश्वर अवश्य पूरा करेंगे। इस प्रकार शास्त्रजलप्रक्षालन-निर्मलमति श्रीमहाराजपाद के जीवनपर्यन्त निश्चित कार्यक्रम की अपरिवर्तनीय दृढ़निष्ठा से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर उनके श्रीपिताजी लौकिकवासनाजाल को ज्ञानाग्नि से दग्ध कर 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' वेदान्त वाक्य का साधु अनुसरण करते हुए 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्' वाक्यानुरूप आत्मनिष्ठों की स्थिति में आगये। प्रशान्तात्मा पितृपाद की परिचर्या में संलग्न श्रीमहाराजपाद ने 'पिता धर्मः पिता कर्म पिता हि परमं तपः' के अनुसार स्वधर्मकर्म तपश्चर्या का अन्तर्भाव पितृसेवा में कर दिया।

कालचक्र अपनी अबाधगति से चलता गया। 'प्रारब्धक्षयमासाद्य क्षणमेकं न तिष्ठति' नियम के अनुसार श्रीमहाराजपाद के पिताजी एक दिन अपना पाञ्चभौतिक विलय कर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव आत्मा की शाश्वत ज्योति में विलीन हो गये। आत्मज्ञान से शोकावेग को निगृहीत कर श्रीमहाराजपाद ने उनके समस्त और्ध्वदेहिक कृत्य भूरिभोजन, गयाश्राद्धादि मथुरापुरीस्थ वैदिक-मूर्धन्य श्रीअमृतलालजी पण्ड्या के साधु निर्देशन में सविधि सम्पन्न कराये। जब तक इस धराधाम में श्रीमहाराजपाद विराजमान रहे तब तक प्रति सम्वत्सर कन्यागतमहालयश्राद्ध द्वारा पितृतृप्ति सम्पादन करते रहे। यों उन्होंने सत्पुत्रता का पूर्ण निर्वाह कर पितृ-भक्ति का सोदाहरण निदर्शन संसार के समक्ष रखा।

पितृपाद की परिचर्या में जो समय बीता करता था, अब वह तपश्चर्या के समय में जुड़ गया। वे प्रातःकालीन स्नान सन्ध्यार्घ्यदान से निवृत्त होकर दिन के बारह बजे तक वसुजननी के मृदुबालुकामय पवित्र उत्संग में गांगेय वसु के समान शोभित होकर सावित्री शक्ति की आराधना में तत्पर रहने लगे। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' के अनुसार मन्त्रार्थानुसन्धानपूर्वक अविचलचित्त से जप-परायण होने पर अपनी दैनन्दिनी जप-समाधि में उन्हें काल का भो भान न रहता था। मध्याह्न सन्धि वेला में कोई शिष्य वहां पहुँच कर उनके श्रीचरणों में अपना मस्तक रखकर जप-समाधि से उनके व्युत्थान की प्रक्रिया अपनाता था। तदनन्तर वे जाह्नवी जल में मध्याह्नस्नान सन्ध्या पितृतर्पणादि माध्यन्दिन कृत्यों से निवृत्त होकर अपने आश्रम को लौटते थे। अधिक समय तक यही क्रम चलता रहा। यद्यपि इस चर्या से शीतवातातपवर्षा की सहिष्णुता उनमें अपूर्व हो गई थी और वे इस स्थिति में अतिप्रसन्न भी थे, तो भी प्रिय शिष्यों के आग्रह प्रार्थना से अपने कुटीर में ही निर्मित स्थण्डिल पर चैलाजिन कुशोत्तरासनासीन होकर अपना दैनिक जपानुष्ठान करने लगे।

'यदि सन्तिगुणाः पुंसि विकसन्त्येव ते स्वयम्।' श्रीमहाराजपाद के त्याग तपश्चर्या की ख्याति दूर दूर तक फैलने लगो। देश के प्रायः सभी प्रान्तों से साधु-सेवी, सत्संगार्थी, विद्वान्, भक्त, ज्ञानी, दानी, धनपति, विरक्त, गृहस्थ सभी प्रकार के मानव श्रीचरणों के दर्शनार्थ आने लगे। श्रीमहाराज-पाद के केवल दर्शनमात्र से ही आगतजनों को आन्तरिक सुख शान्ति की विलक्षण अनुभूति होती थी। मुखारविन्दनिर्गत सदुपदेश वचनामृत का प्रसाद पाकर तो प्रत्येक जन अपने आपको

कृतार्थ मानता था । उनके आवासकुटीराकाश में सतत विद्यमान शुद्धसात्त्विक तपश्चर्यामिय परमाणु, उपविष्ट मानवों के मन को बलात् समाहित कर देते थे । उनकी आकर्षक-सन्निधि छोड़ देने को किसी का चित्त नहीं चाहता था । जिस भूमि पर, अथवा जिस मानव के समीप कुछ देर तक बैठने वाले मानवों की जैसी मनोवृत्ति हो जाय तो वह भूमि अथवा वह मानव उसी ढंग की मनोवृत्ति का है, यह परिज्ञान सूक्ष्मदर्शीजनों को उनके अन्तःकरण यन्त्र द्वारा हो जाया करता है। श्रीमहाराजपाद के समक्ष उनकी कुटी में बैठे मानवों के मनोभाव, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह की भूमिका में पहुँचकर लोकोपकार की वासना से रञ्जित हो जाया करते थे । क्योंकि 'यमान् सेवेत सततम्' के अनुसार श्रीमहाराजपाद ने आजीवन उक्त सद्गुणों का वहाँ रहकर सतत सेवन किया था । इसी से वहाँ की भूमि शुद्ध सात्त्विक परमाणुमय बन गई थी ।

यद्यपि अधिक संख्या में प्रतिदिन वहाँ दर्शनार्थी जनों का पहुँचना तपश्चर्या में बाधक होने के कारण 'योऽहेरिव जनाद्भीतः सम्मानान्नरकादिव । कुणपादिव यः स्त्रीभ्यस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः' इस औपनिषद ब्राह्मण लक्षण से लक्षित श्रीमहाराजपाद को अरुचिकर प्रतीत होता था, तो भी वे परम दयालु मृदुस्वभाव होने से किसी के चित्त को असन्तुष्ट नहीं करना चाहते थे। येन-केनापिरूपेण जो जन श्रीमहाराजपाद के सम्पर्क में आये वे जानते हैं कि उनकी दिवारात्रिचर्या, स्वभाव एवं प्रतिभा आदि में कितनी विलक्षणता थी । सभी सुन्दर सद्गुणों का समावेश होने पर भी उनमें लोकोपकारव्रत निष्ठा अनुपम थी । प्राणियों के सर्वविध कल्याण की उदात्त भावना, तथा सर्वतोमुखी दया की सरस स्रोतस्विनी उनके हृदयान्तराल में सदा प्रवाहित रहती थीं । नहीं कहा जा सकता कि कितने विद्याहीन, गृहहीन, जीविकाहीन, रोगार्त, दीन दुःखी प्राणियों के सर्वविध रक्षा प्रबन्ध का भार अपने जीवनकाल में प्रसन्नमुद्रा से उन्होंने वहन किया । जीवदया का व्यापक दृष्टिकोण अपनाकर अखिलमानवीय हित में वे वस्तुतः दत्तजीवन ही थे, कि जो संसार में 'श्रीजीवनदत्तजी महाराजपाद' इस अन्वर्थ अविधान से प्रख्यात हुए । हिन्दू, मुसलमान, जैन, बौद्ध, सिख, ईसाई प्रभृति भिन्न-भिन्न जाति तथा सम्प्रदायों के मानव जो भी श्रीमहाराजपाद से उपकृत हुए वे आज भी उन्हें स्मरण कर गद्‌गदकण्ठ हो जाते हैं ।

यद्यपि उनके स्वाध्यायशील स्वभावानुसार उनका चलविद्यालय सदा साथ रहता था और वे इतने मात्र से सन्तुष्ट भी थे, तो भी उन्हें एक विशेष कारणवश संस्कृत-जगत् के अभ्युदय की दिशा का दर्शक श्री सांगवेद महाविद्यालय नामक संस्कृत वाङ्मय शिक्षण संस्थान विक्रम संवत् १९६० चैत्र शुक्ला रामनवमी की पुण्यपर्वतिथि में स्थापित कर देना पड़ा । कारण यह था कि अनेक दर्शनार्थी धनपति जन 'रिक्तहस्तो न पश्येत्तु राजानं देवतां गुरुम् । दैवज्ञं भिषजं मित्रं फलेन फलमादिशेत् ।' धर्मशास्त्रीय नियमानुसार अन्न, फल, द्रव्य, वस्त्र, पात्रादि अनेक वस्तुजात समर्पणार्थ साथ लाकर आने लगे थे । 'आकिञ्चन्यं परं सुखम्' के अभ्यासी, संयतेन्द्रिय, अपरिग्रही, जितरस श्रीमहाराजपाद के लिये वे सभी वस्तु उपयोगार्ह नहीं थीं । साथ ही उन सज्जनों को मानस आघात न पहुँचे, इसलिए उक्त वस्तु साथ लाने का निषेध भी नहीं कर पाते थे । ऐसी स्थिति में स्वयं दैवी माया से बचने के लिए वे 'कुक्षौतिष्ठतियस्यान्नं विद्याभ्यासेन जीर्यति । पितॄँस्तारयते तस्य दशपूर्वान् दशावरान्' धर्मशास्त्रीयवचनोक्त पुण्य, अन्नवस्त्रादि दानदाताओं को मिल जाय तथा उनके द्वारा समर्पित द्रव्य का सदुपयोग हो जाय, इस प्रशस्तधारणा से अपनी कुटी के वामभाग में स्थापित संस्कृत विद्यालय के सभी स्वाध्यायशील छात्रों में उन समस्त वस्तुओं

का तत्काल वितरण करा दिया करते थे। विलम्ब से वितरण करने के लिये रक्षित वस्तुजात दृष्टि सिद्धान्तानुसार छात्रपोषणविभागीय प्रबन्धकों की मनोवृत्तियों को इस युगानुसार असत्पथ पर न ले जाय, इसलिये उन वस्तुओं के तत्काल दाता द्वारा वितरण का आदेश रहता था। यद्यपि उस समय वहाँ के प्रबन्धकों की सुपरीक्षित मनोवृत्तियों में असत्पथ प्रवृत्ति की कोई सम्भावना नहीं रहती थी। कारण, वे सब "अदत्तं नैव गृह्णाति एतद्ब्राह्मणलक्षणम्" के सुदृढ़ अभ्यासी थे। और ब्रह्मस्व तथा परस्वग्रहण से सदा विमुख रहते थे। तो भी-'मनो दुर्निग्रहं चलम्"। संगात्सञ्जायते कामः, कदाचिद्दुर्वियोगेन मनः स्याद्दोषदूषितम्, संग्रहे बहवो दोषाः को ध्यान में रखते हुए दोषोद्भावक कारण का निरास ही समुचित माना जाता था।

"अधिगतपरमार्थ महापुरुषों की दृष्टि में धनसम्पत्ति का मूल्य तृण के मूल्य से अधिक नहीं होता"। श्रीमहाराजपाद के सद्भक्त प्रसिद्ध धनपति सेठ सूर्यमल एवं बाबूलालजी जटिया, (फर्म महालीराम लछमनदास, खुर्जा (बुलन्दशहर) उन दिनों नरवराश्रम के छात्रों को वस्त्रपात्रभोजन पुस्तकादि की सर्वाधिक सहायता प्रदान करते थे तथा वर्ष भर में एक बार नरवराश्रम में कुछ दिन ठहर कर श्रीमहाराजपाद के सत्सङ्ग का लाभ उठाते थे। यह सब देखकर एकबार सेठ श्रीगौरीशंकर गोयनकाजी भी वहाँ सत्सङ्गार्थी जनसमुदाय में उपस्थित हुए। श्रीमहाराजपाद के लोकविश्रुत सद्व्यक्तित्त्व तथा आश्रम की प्राकृतिक आरण्यक सुषमा को देखकर अति प्रभावित हो गये। श्रीगोयनकाजी ने नरवराश्रम का सम्पूर्ण व्यय अकेले स्वयं वहन करने का प्रस्ताव प्रस्तुत करके किसी अन्य धनपति से कभी कुछ भी सहायता स्वीकृत न करने का वचन लेकर श्रीमहाराजपाद की व्यापक भावना को सङ्कीर्णता की रज्जु में बाँधने का प्रयास किया। किन्तु साधुस्वभाव श्रीमहाराजपाद ने अपने सत्य सरलतम वचनों से सामयिक औचित्यपूर्ण समाधान इस प्रकार कर दिया-"मुझे कोई अभिनिवेश इस आश्रम के सम्बन्ध में नहीं है। मैं तो केवल आत्मकल्याणार्थ प्रभु का भजन करने के लक्ष्य से यहाँ गङ्गातट पर निवास करता हूँ। विश्वभरणपोषणकर्ता भगवान् श्रीविश्वम्भर की लीला से ही इस ब्रह्मचर्याश्रम का जन्म हो गया है। उसी विश्वम्भर की आन्तर प्रेरणा से अयाचितरूप में जो भी अन्नवस्त्रादि की सहायता जहाँ कहीं से आ जाती है, उसका छात्रों में उपयोग हो जाता है। अतः विश्वम्भर भगवान् के लीलाकार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं जान पड़ता। अतः जब मैं किसी से कुछ भी सहायता देने की विधि नहीं करता तो निषेध भी क्यों किया जाना चाहिये। यह सदुत्तर सुनकर श्रीगोयनकाजी मौन होगये। सुनते हैं कि श्रीगोयनकाजी ने अपने उसी संकल्पित द्रव्य से काशीपुरी में श्रीगोयनका संस्कृत महाविद्यालय की स्थापना की थी।

"अयोग्यः पुरुषो नास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः" श्रीमहाराजपाद कुशल योजक थे। वे योग्यतानुसार नरवराश्रमवासी सभी मानवों को सत्कर्म में लगाये रखते थे। आश्रम में जहाँ एक ओर स्वाध्यायशील वैदिक छात्रों का वेदघोष होता था तो दूसरी ओर वैयाकरण छात्रों में सामूहिक रूप से सोदाहरण पाणिनीय सूत्रार्थ विचारचर्चा चलती दिखाई देती थी। दण्डमेखला जटाधारी बटुसमुदाय सायं प्रातः सन्ध्योपासनपूर्वक यज्ञशाला में समिधाधान करता हुआ, प्राचीन आर्ष संस्कृति का सुन्दरतम दृश्य उपस्थित करता था। अपने-अपने आवासकुटीरों में योगीजन प्राणसंयमनपूर्वक नाद ब्रह्म का अभ्यास करते दृष्टिगोचर होते थे एवम् प्रणवार्थचिन्तनपरायण यतिजन, ब्रह्मात्मैक्य भावना से ओतप्रोत अवधूत जन, सगर्भागर्भ समाधिनिरत साधक जन, मन्त्रतन्त्रानुष्ठानसंलग्न उपासकजन, "अग्निर्देवोद्विजातीनाम्" परम्परा के निर्वाहक औपासनाग्निमान् द्विजगण, वैश्वदेव बलि कर्म

आतिथ्यधर्म से सद्गृहस्त जन, तथा यत्र तत्र वृक्षमूलावस्थित वनस्थ सन्तजन, नरवराश्रम के भिन्न-भिन्न भागों को स्वसन्निधि से अलंकृत करते हुए धर्मयुगीन दृश्य उपस्थित करते थे। एक ओर 'दर्शनभवन' में विराजमान अद्वैत वेदान्तनिष्ठ, पण्डितप्रकाण्ड, यतिमूर्धन्य, षड्दर्शनाचार्य दण्डीस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराजपाद (जिन्होंने पञ्चाप देश को अपने शुभ जन्म से अलंकृत किया, तथा श्री हरदत्त नामक वाममार्गी विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित कर "हरदत्तवियो रोगे द्वावाद्यौ भिषजौ मतौ। एको विश्वेश्वरो दण्डी द्वितीयो नरकेसरी" एतत्पद्योक्त प्रशस्ति ग्रहण की) अपने दार्शनिक प्रवचन से दार्शनिक जगत् के अभ्युदय में दत्तयोग अवलोकित होते थे।

"सतां सङ्गो हि भेषजम्"

सङ्गः कार्यः सतां येन भवाब्धिर्गोष्पदायते। श्रीमन्महाराजपाद की तपःश्री से विभूषित नरवराश्रम की दर्शनलालसा से समय-समय पर अनेक सन्त महन्त भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यपीठाधीश्वर, उच्चकोटि के विद्वज्जन पधार कर तथा कुछ दिन कृतनिवास होकर नरवराश्रम की शोभा बढ़ाते जिनकी श्रुतिस्मृतिपुराणानुगुण सदुपदेशसुधा का पान कर आश्रमवासी तथा अन्य आगत सत्सङ्गार्थी जन अपनी ज्ञानपिपासा शान्त कर आनन्दानुभूति प्राप्त करते थे। आज भी गोवर्धन पीठाधीश्वर नैकश्रीसमन्वित स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी शङ्कराचार्यभगवत्पाद एवं महामनाः पण्डित श्रीमदनमोहन मालवीयजी संस्थापक–अधिष्ठाता–हिन्दू विश्वविद्यालय काशी आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ महापुरुषों की लेखनी से लिखित, पद्य-गद्यबद्ध प्रशस्तिलेख नरवराश्रम की निरीक्षण पुस्तिका में अतीत की गौरवगाथा का साक्षित्व कर रहे हैं। अनेक महापुरुष समय-समय पर पधार कर अपनी चरणरज से नरवराश्रम को धन्य बनाते रहे हैं। उनमें दार्शनिक-सार्वभौम, धार्मिक तथा राजनैतिक जगत् के कुशल प्रवक्ता, धर्मसंघ तथा रामराज्यपरिषद् के जन्मदाता, यतिप्रवर अनन्तश्रीविभूषित दण्डीस्वामी श्रीहरिहरानन्दजी महाराजपाद (श्रीकरपात्रीजी) का नाम विशेषतः इसलिये भी उल्लेखनीय है कि वे इस आश्रम के ही अधीतविद्य विभूति हैं। नरवराश्रम की छात्र-परम्परा में रहकर उन्होंने मूलव्याकरण तथा दर्शन ग्रन्थों का आमूलचूल अध्ययन सम्पादन किया। पुनः वे "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" के अनुसार तीव्रतम वैराग्य धारण कर त्याग-तपश्चर्यामय जीवन व्यतीत करते हुए संन्यास ग्रहण के पूर्व उत्तरापथ में विचरण करते रहे। बीच-बीच में नरवराश्रमवासियों को दर्शन दे जाया करते थे। नरवराश्रम के अधिष्ठाता श्रीमहाराजपाद ने उस समय उनकी विलक्षण वैराग्यरागरसिकता को देखकर उन्हें श्रीपरमहंसजी, इस नाम से प्रथम सम्बोधन दिया। तदनु वे इसी नाम से सन्न्यासग्रहण के पूर्वकाल तक अभिहित होते रहे। जब वे गृहीत सन्न्यास हुए तो श्रीमहाराजपाद ने उन्हें श्री करपात्रीजी, इस अन्वर्थ नाम से सुसम्मानित किया।

"वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" मनूक्तमान्यतानुसार श्रीमहाराजपाद वैदिक संस्कृति के पूर्ण पक्षपाती थे। वे मन्त्रतन्त्रानुष्ठान कार्यों तथा श्रौतस्मार्त यज्ञपरम्परा में अधिक आस्था रखते थे। देहली-धर्मसङ्घ की ओर से विश्वकल्याणार्थ किये गये 'गायत्री कोटि महायज्ञ' में श्रीकरपात्रीजी महाराज के आग्रह से गायत्रीदेवी के परम उपासक श्रीमहाराजपाद ने यजमानत्व ग्रहण किया तथा वहाँ अपनी ओर से एक अन्नक्षेत्र भी चलाया।

श्रीमहाराजपाद ने अपने आश्रम में अनेक बार रुद्रयज्ञ, विष्णुयज्ञ, गायत्रीयज्ञ, चण्डीयज्ञ

आदि स्मार्त तथा तान्त्रिक यज्ञों से यज्ञेश्वर भगवान् को प्रसन्न किया ही, इसके अतिरिक्त निरन्तर ६ मास तक सप्तर्षिवंशज दाक्षिणात्य वैदिक विद्वानों द्वारा (जिनमें काशीस्थ चारों वेदों के विद्वान् भी सम्मिलित थे) नरवर की पावन भूमि में दर्श पौर्णमास, चातुर्मास, प्रभृति श्रौत इष्टियों का सक्रिय प्रदर्शन कराया कि जिनमें ऋत्विजों द्वारा उच्चरित श्रौषट्-वौषट्-वषट्कार की पवित्र ध्वनियों से अन्तरिक्ष गूंज उठता था। साथ ही शुक्लयजुःपञ्चदश शाखीय शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ का प्रवचन भी कराया। श्रौतयाग के समस्त ऋत्विजों का (जिनमें कतिपय विद्वान् सगृहस्थ पधारे थे) वस्त्र भोजन, दक्षिणादि का व्यय श्रीमहाराजपाद के सद्भक्तों ने वहन किया। सायंकालीन वैदिक सभा में दाक्षिणात्य वैदिक विद्वानों के दश-द्वादशवर्षदेशीय बालकों के द्वारा उच्चरित ऋग्यजुःसामाथर्व मन्त्रों की सामूहिक स्वरलहरी से श्रोताओं के मन आनन्दनिमग्न हो जाते थे। उस वैदिक मण्डली के कतिपय ख्यातिप्राप्त विद्वानों (जिनके शुभनाम मुझे स्मृत रह गये हैं) का नाम कीर्तन पुण्यजनक तो है ही साथ ही प्रासङ्गिक भी है। वैदिक मूर्धन्य दाक्षिणात्य पण्डित श्री गिरिजाशङ्करजी आहिताग्नि श्रौतेष्टियों के यजमान रहे थे। श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त कर्मकाण्डाभिज्ञ दाक्षिणात्य पण्डित श्रीकरुणाशंकरजी वानप्रस्थ (जो कि गृहीत सन्न्यास होकर श्रीसोमाश्रमजी महाराज, प्रभासभिक्षु नाम से अभिहित हुए और दण्डिमण्डलमण्डनमणि अद्वैतनिष्ठ स्वामी श्रीविष्णुआश्रमजी महाराज द्वारा संस्थापित तथा संचालित दण्डिआश्रम, शुकताल में ब्रह्मलीन हो चुके हैं) सम्भवतः सर्वकर्मद्रष्टा थे। शुक्लयजुर्माध्यन्दिन वाजसनेयशाखीय सार्थ सरहस्य मन्त्रभाग के उद्भट विद्वान्, आहिताग्नि पण्डित श्री बालकरामजी महाराज (संस्थापक-सञ्चालक वेदविद्यालय हृषीकेश) शतपथ ब्राह्मण के प्रवाचक थे। वे अब वैश्वानरलोकवासी हो चुके हैं। अन्य तदानीन्तन वैदिक विद्वानों के शुभनाम अब मुझे स्मृत नहीं रहे। इस प्रकार आर्ष जीवन धारण कर लोकवन्द्य श्रीमहाराजपाद ने संस्कृत तथा भारतीय सनातन वैदिक संस्कृति का पूर्ण अभ्युदय किया। भारतदेश की प्रतिष्ठा इन्हीं दोनों पर अवलम्बित रही है। संस्कृति साध्य है और संस्कृत उसका साधन। संस्कृत भाषा के ज्ञान बिना भारतीयसंस्कृति का परिज्ञान सम्भव नहीं है। "भारतस्य प्रतिष्ठे द्वे संस्कृतं संस्कृतिस्तथा। न हि ज्ञानं भवेत्पुसां संस्कृतेः संस्कृतं बिना।"

नरवरस्थ-गोशालाध्यक्ष बालब्रह्मचारी श्री योगानन्दजी महाराज (जिनका परिचय पूर्व दिया जा चुका है) जब गोलोकवासी होगये तब गोशाला का पाठशाला में, गोवृन्द का छात्रवृन्द में, चारे का उत्पादन करने वाली कृषिभूमि का अन्नोत्पादिका भूमि में विलय हो जाने पर संस्कृत विद्यालय का क्षेत्रफल बढ़ गया तथा आंशिक आय का भी साधन होगया। दानदाताओं से नियत तथा अनियत आय में भी वृद्धि होने लगी। तब यह संस्कृत शिक्षण संस्था भी पाठशाला से विद्यालय, विद्यालय से महाविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो गई। छात्रवृद्धि के साथ वैतनिक अध्यापक तथा अन्य कार्यकर्ताओं की भी नियुक्ति कर दी गई। तब श्रीमहाराजपाद अध्यापन भार से मुक्त रहकर तपश्चर्या तथा लोकोपकार कार्यों में ही व्यस्त रहने लगे। श्रीमहाराजपाद के आदिशिष्य वैयाकरणरत्न आवसथ्याग्निमान् पण्डित श्रीनवनिधिजी पाठक छात्रों को मूल व्याकरण का अध्ययन कराते हुए विद्यालय की सामान्य देख-रेख करते तथा तत्कालीन आपतित प्रबन्ध आदि का भार सम्भालते रहते थे। उस समय कृतयुगानुरूप नरवराश्रम की झाँकी एक सुन्दर तपोवन के रूप में होती थी।

भगवती भागीरथी के पावन जल में दैनिक स्नान सन्ध्योपासनादि-सत्कर्मसम्पादनार्थ आश्रम के सभी छात्र तथा अध्यापक विरक्त साधु, ब्रह्मचारी जन अपने अपने आश्रमानुकूल सांस्कृतिक सद्वेश में श्रीमहाराजपाद के पीछे गङ्गामार्ग में श्रुति-स्मृति पुराण सम्बन्धिनी चर्चा करते हुए जब चलते थे

तब लगता था कि अपने-अपने दिव्य आकारों में अवतरित समस्त वेदोपवेदों सहित सनकादिमण्डली-परिवृत, ब्रह्मलोक के श्री ब्रह्माजी त्रैलोक्यपावनी श्रीविष्णुपदी के समर्चनार्थ पधार रहे हैं। तदनुकृत सविधिस्नान सन्ध्योपासन आश्रमवासी जन गङ्गातट पर पंक्तिबद्ध खड़े होकर सूर्योपस्थान मन्त्रोच्चारणपूर्वक मण्डलाष्टक का साधु सुस्वर उच्चारण जब करते थे तब कलकलनिनादिनी श्रीजाह्नवी भी अपने जलतरङ्गवाद्य से सङ्गति करती हुई सी प्रतीत होती थी। कितना सुन्दरतम दृश्य, वशिष्ठ बाल्मीकि महर्षियों के आश्रमों के तुल्य नरवराश्रम में उस समय उपस्थित होता था कि जब दण्डमेखला जटाधारी उपकुर्वाण ब्रह्मचारी बालक सामूहिक रूप से अपना वेदाध्ययन सम्पादन कर मध्याह्नकाल में गुरुवर श्रीमहाराजपाद के 'भैक्ष्यञ्चर' आदेश को पृथक् ग्रहण कर समीपवर्ती नरौरा ग्राम से भिक्षान्न ग्रहण कर लौटते थे और श्रीगुरुचरण सन्निधि में उपस्थित होकर 'भो गुरो ! मया भिक्षा आनीता' वाक्योच्चारणपूर्वक क्रमशः भिक्षान्न समर्पण करते थे, तथा श्रीमहाराजपाद क्रमानुसार सभी बटुजनों के भिक्षापात्रों में भिक्षान्न का निरीक्षण अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टि से करते हुए 'भुंक्ष्व वत्स !' वाक्योच्चारण द्वारा भिक्षान्नसेवन का उन्हें आदेश देते थे। धर्मसूत्र के आधार पर बटुजनों को दैनिक भिक्षाचर्या का यह क्रम आर्ष युग की आरण्यक संस्कृति का भव्य निदर्शन उपस्थित करता था।

श्रीमहाराजपाद महापुरुषीय लक्षणों से युक्त थे और अपनी कल्याणमयी निष्ठा में अति सावधान थे, तो भी उन्होंने श्रेयोमार्गविघातक, आन्तरिक शत्रुवर्ग (काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य) के अनिश्चितकालीन आकस्मिक प्रबल प्रहारों की रोकथाम के लिये दिवारात्रिसम्बद्ध, निर्धारित क्रमिकचर्या को अभेद्य व्यूह रचना का स्थान दे रखा था। वे प्रतिदिन ३ बजे निद्राविसर्जन कर के तात्कालिक शुचिता ग्रहण कर "कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः। कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्" व्यासवचन से प्रेरणा लेकर महाभारतीय विष्णुसहस्रनाम सङ्कीर्तन तथा श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद् के अठारह अध्यायों का कण्ठपाठ करते थे। तदनन्तर शास्त्रीय विधि से शौचस्नानपूर्वक प्रातःकालीन तारकोपेत सान्ध्यविधिसम्पादन द्वारा जपाधिकार प्राप्त कर आमध्याह्न "या तेनोच्यते सा देवता" नैरुक्त वचन के आधार पर मन्त्रार्थमयदेवताभिसम्बद्धमनोभाव से ब्रह्मगायत्रीमन्त्र का जपानुष्ठान करते थे। तदुपरान्त जप समाधि से उत्थान लेकर सूर्य कररूंस्पृष्ट जाह्नवी जल में सविधि मध्याह्नस्नान सन्ध्या पितृतर्पणादि करते। तदनु-दिन के तीन बजे तक आगत दर्शनार्थी जनों से प्रासङ्गिक वार्तालाप तथा डाक द्वारा प्राप्त हुए पत्रों का उत्तरलेखन, स्वसमीपागत दीन-हीन अनाथ अन्यायपीड़ितों की न्यायोचित मांग की सुनवाई के लिये उपकारबुद्धया न्यायाधीशों को ध्यानाकर्षण-पत्र लेखन, जीविकाहीन जनों को यथोचित राजकीय सेवाकार्य दिलाने के पक्ष में उच्चतम तत्तत्पदाधिकारियों को संस्तुतिपत्रलेखन, निर्धन, अनाथ मानवों को उपकारबुद्धया तात्कालिकद्रव्यसहायता दिलाने के पक्ष में स्वभक्त धनिकवर्ग को पत्रलेखन, मातापितृगृहहीन अनाथ छात्रों को वस्त्रपात्र पुस्तकादि दिलाने के पक्ष में दानदाताओं को पत्रलेखन, आदि लोकोपकार कार्यों में व्यस्त रहते थे। इस प्रकार थाना इन्चार्ज से लेकर डी० आई० जी०, तथा आई० जी० तक पुलिस विभाग में, तहसीलदार से लेकर राज्यपाल तक राज्यशासन विभाग में, छोटे न्यायालय से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक न्याय विभाग में, तथा वर्तमान स्वतन्त्र भारत के तत्तद्विभागीय मन्त्रिमहोदयों के कार्यालयों में प्रार्थीजनों के हित में उपकारबुद्धया लिखे गये श्रीमहाराजपाद के पत्र पहुंचकर सफल सिद्ध होते थे। नहीं कहा जा सकता कि उनके अक्षरों में क्या विलक्षण चुम्बकीय प्रभाव था कि सभी पदाधिकारी नतमस्तक होकर उनके पत्रों का आदर करते थे। लोकोपकार बुद्धि से लिखे जाने वाले पत्रों का यह

दैनिक सदावर्त "वसुधैव कुटुम्बकम्" की उदात्तभावना से हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिख आदि सभी को समान रूप से प्राप्त होता था। अनन्तर दिन के तीन बजे सेवक द्वारा यह सूचना मिल जाने पर कि अतिथि अभ्यागतों सहित सभी आश्रमवासी भोजन कर चुके हैं, तब श्रीमहाराजपाद अपनी पाकशाला में पृष्टोदिविविधान से स्थापित अग्निसंयोग से बने पाक (प्रायः मूंग की दाल तथा हाथ चक्की के पिसे आटे का भोजन) से बलिवैश्वदेवविधानपूर्वक चराचरात्मा भगवान् को समर्पित अन्न का प्रसाद केवल एक ही वार चौवीस घण्टों में ग्रहण करते थे। भोजनशाला का प्रबन्ध सद्भक्तों के सदुपार्जित द्रव्य से होता था। अशुचि, अनर्ह, अनधिकृत खाद्यसामग्री उनकी पाकशाला में प्रवेश नहीं पा सकती थी। भोजन में सैन्धव लवण का उपयोग किया जाता था। एक दिन भोजन निर्माण काल में सेवक द्वारा लवण का अभाव सूचित किये जाने पर श्रीमहाराजपाद ने लवणरहित दाल बना लेने का आदेश दे दिया। तदनु समय पर भोजनसूत्रीय दैनिक प्रक्रिया के उपरान्त ज्यों ही श्रीचरणों ने प्रथम कवल ग्रहण किया तो दाल लवणयुक्त थी। आचमन कर तुरन्त सेवक से समाधान मांगा 'आज तो लवण नहीं था, कहाँ से प्राप्त हुआ?' सेवक ने विनम्र भाव से निवेदन किया— 'मैं स्वयं छात्रपोषण विभागीय प्रबन्धक से छात्रों के लिए आये लवण में से थोड़ा सा आज के लिये ले आया था। यह सुनकर श्रीमहाराजपाद ने खिन्न मुद्रा में कहा 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते। विषं हन्ति स्वमत्तारं ब्रह्मस्वं साप्तपूरुषम्। अर्थात् विष वास्तव में विष नहीं होता, ब्राह्मण का धन विष होता है क्योंकि विष तो खाने वाले एक ही प्राणी का मारक होता है, किन्तु ब्राह्मण का धन तो खाने वाले की सात पीढ़ियों को नष्ट कर देता है। अतः तुमने यह लवण ग्रहण कर अभद्र आचरण किया है।' उसी समय उन्होंने चार आने पैसे अपनी ओर से छात्रपोषण खाते में भेजकर शेष भोजन किया। भोजनोत्तरकालीन सूक्त :जाप करके श्रीमहाराजपाद लगभग बीस मिनट तक श्वासानष्टौ समुत्तानस्तान् द्विः पार्श्वे तु दक्षिणे। द्वात्रिंशद्वामपार्श्वे तु ततः स्वप्याद्यथासुखम्' शारीरायुर्वेद वचनानुसार विश्राम करते थे। इसके पश्चात् दिन के पांच बजे तक महाभारताख्यान, वाल्मीकिरामायण अथवा किसी पुराण की कथा स्थानीय कथावाचक द्वारा सामूहिक रूप में श्रवण करते थे। तदनुसार सायंकालीन नित्यकृत्य से निवृत्त होकर अपनी कुटी के प्राङ्गण में विल्ववृक्ष के नीचे प्रस्तरशिला पर आसन लगाकर गायत्री जप करते थे। प्रदोष काल में सन्ध्योपासन, देवनीराजनादि सायन्तन दैनिक कृत्य से निवृत्त होकर आश्रम के सभी छात्र तथा अध्यापकवृन्द श्रीमहाराजपाद के चरणाभिवन्दनार्थ उनकी सन्निधि में उपस्थित होते थे। एक-दो घण्टा तक उनके समीप बैठकर परस्पर दार्शनिक तथा वैदिक चर्चा करते थे। इस प्रकार शब्दब्रह्मरसास्वाद लेकर श्रीमहाराजपाद ग्यारह बजे रात्रि में निद्रासमाधि स्थिति ग्रहण करते थे। मानवजीवन की साधना में निर्धारित नियमित दिवारात्रिचर्या का विशेष महत्त्व होता है। इसके बिना साधक के पथभ्रष्ट होने की पद-पद पर आशङ्का बनी रह सकती है।

एवं रीत्या निरन्तर निरन्तराय साधुजीवन-साधना में निरत अनन्त श्रीमहाराजपाद को तपःश्री से समुद्भासित यह विद्यापीठ जिस 'नरवर' नामक स्थान पर अवस्थित है, उसके नामकरण की ऐतिहासिकता भी प्रासङ्गिक होने से विचारणीय कोटि में आती हैं। अतः उसके सम्बन्ध में आनुमानिक तथ्यान्वेषण इस प्रकार किया जा सकता है—भारतीय मध्यप्रदेश में एक नरवरगढ़ नामक नगर प्रसिद्ध है जो कि पुण्यश्लोक महाराजाधिराज नल की राजधानी माना जाता है। राजा नल वहां से ससैन्य चलकर पर्वतिथियों में जिस गंगाघाट पर स्नान दानादि करते रहे होंगे

वह स्थान 'नलक्षेत्र' नाम से पुकारा जाता था। वही आजकल 'राजघाट' नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान अलीगढ़-बरेली रेलवे लाइन पर अवस्थित 'राजघाट-नरौरा' नामक स्टेशन के समीप गंगा किनारे पर हैं। यहाँ एक मिट्टी का विशाल टीला है। उस पर पुराकाल में सुन्दर धर्मशालायें बनी हुई थीं। वे सब गंगाजी के कटाव के कारण छिन्न-भिन्न हो गईं। उनके भग्नावशेष अब भी दिखाई पड़ते हैं। इसे काले राजा का स्थान कहते हैं। अधिक सम्भव है, कि— कर्कोटक नाग से दष्ट होकर कृष्णवर्ण राज्यभ्रष्ट राजा नल ही वे काले राजा हों, जिनके नाम से यह टीला अभिहित होता है। राजा ऋतुपर्ण की राजधानी अयोध्या पहुँचने के पूर्व कुछ काल तक वे उस दिशा में वहाँ ठहरे हों। राजा नल महाशक्ति श्रीदुर्गाजी के भी अनन्य उपासक सुने जाते हैं। अतः यह भी अनुमान है कि उन्होंने नलक्षेत्र समीपस्थ वृद्धकेशी सिद्धपीठ पर गंगा किनारे अपनी राजधानी-नरवर नाम से सम्बद्ध नरवरेश्वरी देवी के उस मन्दिर का निर्माण कराया हो कि जिसका श्रवण पुरातन वृद्धजन परम्परा से अब तक किया जाता रहा है। बताया जाता है कि यहाँ इमली के एक विशाल बृक्ष के नीचे नरवरदेवी का मन्दिर था और वहाँ नवदुर्गापक्ष में मेला भी लगता था। किसी समय नरवरेश्वरी देवी का वह मन्दिर तथा इमली का वृक्ष, दोनों ही धराशायी होकर अकस्मात् प्रवृद्ध गंगाजी की वर्षाकालीन कूलङ्कष प्रखर गभीर नीरधारा में सदा के लिए समा गये। अवगत होता है कि नरवरदेवी नामक यह स्थान देवी शब्द का सकारण लोप हो जाने पर आजकल केवल 'नरवर' नाम से ही प्रसिद्धि पा रहा है। नरवर भूमि के आस पास ककरीली पथरीली काली मिट्टी से अनुमान होता है कि यहाँ कभी पहले विशाल भवन रहे होंगे। लगभग एक किलोमीटर दूर पर बसा हुआ 'नौदेई' ग्राम भी वहाँ गंगातट पर पुराकालावास्थित नरदेवियों (नवदुर्गाजी) के उन मन्दिरों का अनुमान करने में अपने नाम से सहायक सिद्ध होता है कि जिनका आजकल सर्वापहार अवलोकित है। श्रीमन्महाराजपाद अपने तपश्चर्या क्षेत्र नरवर में पुनः सिद्धेश्वरी महाशक्ति अष्टभुभा सिद्धिदात्री श्रीदुर्गाजी की प्रतिष्ठा चाहते थे। इसीलिए उन्होंने सितप्रस्तरमयी सुन्दर मूर्ति जयपुर से मंगाई जो कि अनेक अन्तरायों के कारण अब तक प्रतिष्ठित नहीं हो पाई। मूर्ति सुरक्षित रखी हुई है। इस दशा में उनके शिष्यों का कर्त्तव्य हो जाता है कि 'शिष्यः शिष्टस्य पूरणात्' के अनुसार वास्तविक शिष्य कहलाने के लिये श्री गुरुदेव महाराजपाद की शिष्टाभीष्टपूर्ति की दिशा में सांमूहिक साहाय्य सम्पादन द्वारा सिद्धेश्वरी देवी की अचल प्रतिष्ठा करावें।

वर्तमान काल में नरवर नाम से अभिहित यह स्थान; पौराणिक युग में 'वृद्धकेशी सिद्धपीठ' नाम से प्रसिद्ध था। इसका ऐतिहासिक उल्लेख, यादव कुलगुरु श्रीगर्गाचार्य-प्रणीत संहिता में मिलता है। कहा जाता है कि एक समय भगवती जगज्जननी उमा ने समस्तपुराण श्रवण करने की अपनी इच्छा श्रीमहेश्वरजी के समक्ष व्यक्त की। प्रसादसुमुख श्रीमहेश्वरजी ने उन्हें उनकी पुराणश्रवणेक्षा की पूर्ति के लिये वृद्धकेशी सिद्धपीठ (नरवर-गंगातट) से दो कोस दूर पर अवस्थित विल्ववृक्षों के वन में 'सर्वमंगलादेवी' के नाम से प्रकट हो जाने का सुझाव देते हुए कहा, 'विल्ववन में स्थित होकर अनेक पौराणिकों से तुम पुराण श्रवण करोगी। जो भी पौराणिक विद्वान् वृद्धकेशी सिद्धपीठ (नरवर) गंगाघाट पर स्नान करके विल्ववन स्थित सर्वमंगला देवी के सम्मुख पुराणवाचन करेंगे, उन्हें सकलाभीष्टसिद्धिपूर्वक समस्त पुराण विद्या की सम्यग्ज्ञानोपलब्धि श्रीभगवती सर्वमंगला देवी की कृपा से हो जाया करेगी। पुराणज्ञान के बिना वैदुष्य अपूर्ण माना गया है। "यो वेद चतुरो

वेदान् सांगोपनिषदान् बुधः । न चेत् पुराणं संविद्यात् नैव स स्याद्विचक्षणः ।।" अति दुरूह पुराणविद्या का साधु अवगम प्राप्त करने के लिये भगवती सर्वमंगला की प्रसन्नता परमावश्यक है ।

श्रीमहेश्वरजी की अनुमति से विल्ववृक्षों के सघन वनं में भगवती उमा सर्वमंगलादेवी को प्रस्तरमूर्ति के रूप में भूमि से उद्‌भूत होकर स्वयं प्रतिष्ठित हुईं । गवालियर नरेश ने स्वप्न में निर्देश पाकर मन्दिर निर्माण कराया । देवीजो की मूर्ति वहां जिस स्थान पर प्रकट हुई थी वहीं पर प्रतिष्ठित है । अब वहां विल्ववृक्षों का वन नहीं है प्रत्युत एक सुन्दर नगर बस गया हैं जिसे "बेलौन" कहते हैं । यह शाक्तजनों का तीर्थस्थल है । प्रत्येक नवरात्र में दूर-दूर से अनेक यात्रीजन वहाँ पहुँचकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक महाशक्ति की आराधना करते हैं । अनेकों प्रान्तों से अनेकों पौराणिक विद्वान् वृद्धकेशी सिद्धपीठ (नरवर) गङ्गाघाट पर स्नान करके सर्वमंगला देवी को पुराणश्रवण कराने बेलौन पहुंचा करते थे । दुर्गा सप्तशती का पाठ सुनाने के लिये नवरात्र पक्ष में दूर-दूर से शाक्त जन उपस्थित होते थे । अब यह परम्परा प्रायः शिथिल सी पड़ गई है । नवरात्रपक्षोय चतुर्दशोतिथि को निशीथवेला में भगवती सर्वमङ्गला का भूरिनैवेद्यादिसम्भार से समर्चन होता है । उस समय जाह्नवीजलपूर्ण कलशों से महा-शक्ति का महाभिषेक, अनन्तर सुन्दर वस्त्राभूषण पुष्पमाला सुगन्धित द्रव्यादि से महाश्रृंगार कराकर राजोपचार अर्पित किये जाते हैं । भूरिनैवेद्यार्पण के अनन्तर महाराजराजेश्वरी श्रीसर्वमङ्गलादेवी के महानीराजन का भव्य दृश्य परमदर्शनीय होता है । अनेकों नर नारियां उस दिन रात्रिजागरण-पूर्वक आराधना पर्व मनाते हैं ।

इस प्रकार वृद्धकेशीसिद्धपीठ (नरवर) एक ऐतिहासिक स्थान है । श्रीमहाराजपाद ने तो इस भूमि को अपने निवास तथा श्री साङ्गवेद महाविद्यालय की स्थापना से और अधिक आकर्षक बना दिया है । यों अपने शुभ सङ्कल्पमात्र से ५८ अठावन वर्षों तक इस महाविद्यालय का संचालन, संरक्षण संवर्धन करके भगवदिच्छा से चैत्र कृष्णा दशमी गुरुवार विक्रमसंवत् २०१२ में दिन के आठ बजे श्रीमहाराजपाद एकाक्ष साधु की सन्निधि में अपने भौतिक शरीर का विलयकर परमतेजोमय सावित्र-लोक को प्रस्थान कर गये । उनके विद्यावंश के द्वारा यथाविधि और्ध्वदैहिकश्राद्ध भूरि भोजन गया-श्राद्धादिकृत्य सम्पन्न किये गये । आज न जाने कितने शिष्यजन उन्हें दैनिक निवापाञ्जलि दान करते हैं । श्रीमहाराजचरणों ने सदैव कर्म-उपासना-ज्ञान का सुन्दर समन्वय अपनाया । अपने लीलासंवरण-काल से कई वर्ष पूर्व वे आवृत्तचक्षु हो चुके थे । अतः विद्यालय की व्यवस्था आदि को ओर उनका कोई भी ध्यान नहीं जाता था । केवल "नमस्तस्मै भगवते येनसर्वमिदं ततम् । तमेवाहं प्रपन्नोऽस्मि मम यो यस्य चाप्यहम् ।" की भावना में सतत डूबे रहते थे । भक्त्यर्थ कल्पित द्वैतभावना, अद्वैतभावना से कहीं अधिक सुन्दर मानी गई हैं कि जिसमें ध्यानयोग की चरमसीमा अखण्ड ध्येयाकारता का उत्थापन कर त्रिपुटी-विलय का अव्यभिचरित सुगम साधन बन जाती है । विग्रहमोचन दिवस से कुछ दिन पूर्व वे अचानक रुग्ण होगये । उनका विद्यावंश उनकी आरोग्यसिद्धि के लिये देवाराधन करने लगा । आयुर्वेदमर्मज्ञ-शिष्यों तथा सद्भक्तों द्वारा सुविचारित औषधसेवन भी कराया गया । किन्तु दैव तथा मानुष चिकित्सा के सभी साधन—"नौषधं न तपो मन्त्रा न मित्राणि न बान्धवाः । शक्नुवन्ति परित्रातुं नरं कालेन पीडितम् ।" नियमानुसार सफल सिद्ध न हो सके । जिस समय सेवकवर्ग ने उनसे पुरानी जीर्ण कौपीन त्यागने तथा नवीन धारण कर लेने का आग्रह किया तो उस समय उनका यह उत्तर, —"अब जीर्ण कौपीन त्यागने का समय नहीं रहा, अब तो जीर्ण शरीर त्यागने का समय आता जा रहा है" सुनकर आश्रमवासियों को उनके धराधाम त्यागने का पूर्वाभास मिल गया था ।

जब वे रोगाधिक्य से अशक्त होकर नित्यकर्मक्षम न रहे तब उन्होंने अपने सङ्कल्प से स्वकर्तव्य त्रिकाल-सन्ध्या, पितृतर्पण, गायत्री जपादि दैनिक कृत्य कराने के लिये वस्त्रपात्र दक्षिणादि से एक ब्राह्मण का वरण किया। वृत ब्राह्मण द्वारा यह कर्म उनके अन्तिम श्वास तक चलता रहा। यह थी उनमें कर्मोपासनामयी दृढ़निष्ठा। देहत्याग से आधा घण्टा पूर्व श्रीमहाराजपाद ने श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय की श्रवणेच्छा प्रकट की। पाठ सुनाया गया। जितसङ्गदोष, विनिवृत्तकाम श्रीमहाराजपाद प्रसन्नमुद्रा से गीतापाठ सुनते रहे। अन्तिम श्लोक 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति। स्थित्वास्यामन्तकाले तु ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥' की समाप्ति के साथ उन्होंने शब्दादि का इन्द्रियों में, इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का प्रकृति में, प्रकृति का परमात्मा में लय भावित कर 'सोऽहमस्मि' इस अखण्ड धारणा को अंगीकृत कर लिया। उनका अस्थिमांसमय नश्वर भौतिक कलेवर, अनन्तकाल तक सुस्थिर रहने वाले कीर्तिकलेवर को अपना स्थान देकर स्वयं शान्त होगया। यह थी उनकी ज्ञानमयी निष्ठा।

उस समय समस्त जनवर्ग शोकसमाधिस्थ होगया। श्रीचरणो की नैरुज्यावाप्ति के लिये उच्चरित स्तोत्र वेदमन्त्रादि सब जहां के तहां शान्त हो गये "वयांसीव दिनात्यये'। शनैः शनैः यह शोकसमाचार पार्श्ववर्ती ग्रामों में तथा अलीगढ़, चन्दौसी, बुलन्दशहर, खुर्जा, डिबाई, अतरौली, अनूपशहर आदि नगरों में जितने शीघ्र पहुँच सकता था, पहुँच गया। जिसने भी जहाँ सुना उसने वहीं से विकलकरण होकर 'नरवर' का मार्ग पकड़ा। मनों की तोल में शुद्ध घृत, सुगन्धित धूप, कपूर, चन्दनकाष्ठादि-अन्त्येष्टिसम्भार एकत्रित होगया। दिन के चार बजे तक उनके अन्तिम चरणदर्शनार्थ अपार जनसमुदाय उपस्थित होगया था कि जिनमें हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई आदि सभी जातियों तथा धर्म सम्प्रदायों के स्त्री-पुरुष बालक वृद्ध सम्मिलित थे। ठीक दिन के चार बजे शुक्लजुयःशाखीय अपेताध्याय की ध्वनि के साथ उठाये गये श्रीमहाराजपाद के पारलौकिक विमान के नीचे असंख्य जनसमुदाय हरिनामोच्चारणपूर्वक श्रद्धा के आँसू बहाता हुआ भगवती भागीरथी के पावन पुलिन पर एकत्र होगया। चन्दनचितिचयन के साथ सविधि अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की गई। श्रीमहाराजपाद का लीलासंवरण सुनकर ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्यपाद श्रीस्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज कहीं दूर से अपनी मोटरकार द्वारा लगभग एक घण्टा विलम्ब से पधारे। तब तक श्रीमहाराजपाद का अन्तिम संस्कार हो चुका था। श्रीआचार्यपाद जगद्गुरुजी महाराज ने चितिपरिक्रमणपूर्वक चिरस्मरणीयचरित दिवंगत महापुरुष के लिये 'स्वे महम्नि महीयताम्,' सामयिक सद्भावना समर्पित की तथा शोकार्तजनों का वेदान्त वाक्यों द्वारा शोकापनोदन किया। श्रीभगवती भागीरथी गंगा जो कि चितिस्थल से गजों दूर थी अपने तरंग हस्तों को भूमि पर पटकती हुई कल-कलध्वनिमय शोकार्तशब्दोच्चारण करती हुई मृतापत्या पुत्रवत्सला जननी की भांति अपनी सुधबुध खोकर समीप आती जा रही थी। विलपन्ती मृतापत्यां को नु सान्त्वयितुं क्षमः विलक्षण करुण दृश्य था। सुना जाता है महाभारतकाल में गांगेय भीष्म के शोक में व्याकुल श्रीगंगाजी ने द्वापर युग के जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णजी महाराज के द्वारा उच्चरित बोध वचनों से सान्त्वना प्राप्त की थी। उन्हीं बोधवचनों की पुनः श्रवणेच्छा लेकर वर्तमानकाल के जगद्गुरु श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी भगवत्पाद की सन्निधि में उपस्थित हुईं श्रीगंगाजी प्रतीत होती थीं।

उन दिनों दो चार दिन के अन्तर से धर्मप्रचार-प्रसारकार्यानुकूल देशव्यापी अभियान में दत्तचित्त पूज्यपाद दण्डीस्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजपाद इस असुखद समाचार को सुनकर कहीं

दूर प्रदेश से अपनी मोटरकार द्वारा एक रात्रि के लिये नरवराश्रम में पधारे। चिरमौन रहकर उन्होंने श्रीमहाराजपाद के सद्व्यक्तित्व का स्मरण कर कहा, "विश्वबन्धुता के प्रतीक परमतपस्वी श्रीमहाराजजी के अभाव की पूर्ति अब इस धर्मविरोधी युग में सम्भव नहीं।"

सामूहिक श्रद्धाञ्जलिपर्वदिवस की वेला में असंख्य जनसमुदाय नरवराश्रम के प्राङ्गण में उपस्थित था। भूरिभोजनोपरान्त अनन्तश्रीशङ्कराचार्य जगद्गुरु स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी भगवत्पाद की अध्यक्षता में आयोजित श्रद्धाञ्जलिसमर्पण सभा में उपस्थित दार्शनिक वैदिक जगत् के कुशल प्रवक्ता, तपस्वो, सन्त महन्त मण्डलाधीश्वर तथा संस्कृत हिन्दी के उच्चतम कवियों ने क्रमशः अपनी अपनी भावपूर्णश्रद्धाञ्जलियां अर्पित कीं। श्रीमहाराजपाद के समवयस्क-सनातनधर्म के अतिकुशल उच्चतम ख्यातिप्राप्त प्रवक्ता पण्डितमूर्धन्य कविरत्न श्रीअखिलानन्दजी पाठक (अनूपशहर) द्वारा पठित "श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तसद्धर्माभिरक्षिता। धर्मोपदेष्टा लोकस्य सन्मित्रं क्वाद्य मे गतः॥ यो मामायान्तमुद्वीक्ष्य प्रसन्नवदनोऽभवत्। विश्वस्य परमोबन्धुः स मित्रं क्वाद्य में गतः॥" प्रभृति श्रद्धाञ्जलि पद्यपाठ से करुणरसतरङ्गिणी उद्वेल हो उठी थी। अन्त में श्रीजगद्गुरुजी महाराज ने दिवंगत महापुरुष के आदर्श सद्व्यक्तित्व की विशद चर्चा करते हुए उन्हें महान् आत्मा बताया। इस प्रकार चैत्र कृष्ण दशमी में प्रतिवर्ष श्रीमहाराजपाद का श्रद्धाञ्जलिपर्व, पादुकार्चन तथा भूरिभोजन के साथ उनके आश्रम में सद्भक्तों द्वारा मनाया जाता है।

श्रीमहाराजपाद के आदर्श व्यक्तित्व में शिष्यहृत्तापहारक सद्गुरुत्व पूर्णरूपेण सुप्रतिष्ठित था जो कि गुरुकुलों में प्रायः दुर्लभदर्शन पाया जाता है। "गुरवो बहवःसन्ति शिष्यवित्तापहारकाः। तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्य हृत्तापहारकम्॥"

इस प्रकार के ईश्वरीय गुणसम्पन्न महापुरुषों के आदर्श जीवनचरित से मानवों को अपने साधुजीवननिर्माण की दिशा में प्रबल प्रेरणा प्राप्त होती है। अतः श्रीमहाराजपाद के विस्तृत जीवनचरित के मुद्रण की प्रतीक्षा में अब तक उनके सद्भक्तजन रहे, किन्तु किसो भी कारण विशेष से मुद्रण शक्यसम्भव नहीं हो सका। न सही उनका यह संस्मरण ग्रन्थ ही उस अभाव की आंशिकपूर्ति में योगदान देगा, ऐसा विश्वास है।

वैसे तो उनका तपश्चर्याक्षेत्र श्रीसांगवेद महाविद्यालय नरवर ही उनके सच्चे स्मारक के रूप में अवस्थित है कि जहां सांगोपांग वेद वेदान्तस्वाध्यायशील आस्तिकजनों द्वारा श्रीमहाराजपाद की प्रतिमा का दर्शन तथा पादपद्मपादुकासमर्चन दैनिक होता रहता है। और भविष्य में भी वे सब उन के शिष्य-प्रशिष्य जन इस गुरुस्थान के संरक्षण संवर्धन कार्य में सदैव योग देते रहेंगे तो भी विद्याव्यसनी श्रीमहाराजपाद के उत्तम स्मारक के रूप में यहाँ बृहदाकार 'विश्वजीवन, सरस्वती पुस्तकालय' की स्थापना भी उनके भक्तों को अभिमत थी, किन्तु भवन निर्माणार्थ द्रव्य की व्यवस्था अब तक नहीं हो पाई।

विश्रुतकीर्ति तपोमूर्ति नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज के पार्थिवविग्रहविलय के अनन्तर उन्हीं के शुभसंकल्पानुसार वर्तमानकाल में उनके सर्वकाल सुस्मारक श्री सांगवेद महाविद्यालय नरवर का सर्वांगीण समुन्नयन, संरक्षण, संवर्धन तथा सञ्चालनकार्य, प्रधानाचार्यपदासीन परम-

तपस्वी, विद्ववरेण्य, सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, महामाहेश्वर, गुरुवर पण्डित श्रीविजयप्रकाशजी महाभाग कर रहे हैं। इनके सर्वशास्त्रीय विलक्षण वैदुष्य का प्रसाद पाकर अनेक स्नातकजन यत्र-तत्र सर्वत्र भूभागों में विविधपद्धतियों द्वारा संस्कृत वाङ्मय का प्रचार प्रसार कर रहे हैं। आप उत्तर भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपकी साम्बसदाशिवोपासनामयी ब्रह्मवर्चसिता, सनातन वैदिकधर्ममार्गपरता, समस्त-शास्त्रीय प्रौढव्युत्पत्ति, परमदयालुता, कष्टतपस्यामयी चर्या आदि से ज्ञात होता है कि पुरातन आर्ष संस्कृति ही आपके रूप में विग्रहिणी हुई है। इस समय आप ही इस संस्था के अन्तर्बहिश्चर प्राण हैं। प्रतिक्षण संस्थाहित की उदात्तभावना से आप और इस संस्था में स्पष्ट एकात्मभाव परिलक्षित होता है। इसमें सन्देह नहीं कि आपकी विद्यासन्तति भविष्य में चतुर्दिक् आपके विद्याक्षेत्रीय विजय का प्रोज्ज्वल प्रकाश फैलाकर संस्कृत जगत् में आपके पवित्र अभिधान की सार्थकता बनाये रखेगी तथा श्रीमहाराजपाद की तपोभूमि नरवराश्रम की सुरक्षा का भार अपने कंधों पर उठाती रहेगी।

यद्यपि श्रीमहाराजपाद के आदर्श जीवन की अनेक चमत्कृत घटनाओं का लघुकाय निबन्ध में उल्लेख किया जाना शक्यसम्भव नहीं, तो भी यथाश्रुत, यथादृष्ट, यथामति, यथास्मृति लिखित संक्षिप्त उनका 'आदर्शजीवनवृत्त' भी हम लोगों की तिमिराच्छन्न बुद्धियों को भारतीय आर्षजीवन के आलोक की नई किरण प्रदान करेगा, एतदर्थ किया गया यह प्रयास भी महापुरुष श्रीमहाराजपाद की सेवा का ही एक प्रकार होकर उनके अकिञ्चन सेवकों की भवबन्धविमुक्ति का साधन बनेगा 'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः'।



जीवनालोक-परिशिष्ट द्वितीय

(नरवरालोक)

(लेखक-श्री भक्त रामशरणदासजी, पिलखुआ, मेरठ)

—०—

दण्डीस्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज

अनन्तश्रीविभूषित दण्डीस्वामी की जन्मभूमि पंजाब में थी और आपका नाम श्री रामफल शास्त्री था। आप जाति से ब्राह्मण थे अतः विद्याध्ययन की ओर आपकी रुचि बाल्यकाल से ही रही। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पंजाब में ही हुई और तत्पश्चात् वाराणसी जाकर आपने वेदान्त एवं न्यायशास्त्र का गम्भीर एवं विशद अध्ययन किया। भारतप्रसिद्ध पूज्यपाद श्रीलक्ष्मण शास्त्री 'द्रविड़' कैलाशचन्द्र भट्टाचार्य गुरुजी थे और श्री त्रिलोकनाथ मित्र आपके आचार्य साथी थे।

वैवाहिक जीवन आपने अध्यापन करते व्यतीत किया। धर्मपत्नी का शरीरांत हो जाने पर आपने सन्यास ग्रहण कर लिया और 'जम्मू' रियासत में चले गये। वहां आपने राज्य के ब्राह्मणों एवं अन्यान्य उच्चपदस्थ कर्मचारियों को शिक्षा दी। जम्मू नरेश आदर एवं भक्ति की दृष्टि से देखते थे लेकिन आप इस सबको त्यागकर अमृतसर चले गये और वहां की संस्कृत पाठशाला में आपने अध्यापन कार्य किया। इधर काफी समय से आपके मन में गंगातट पर रहने की उत्कट अभिलाषा थी। जब आपका परिचय पूज्य महाराजजी से हुआ और आपने श्री साङ्गवेद महाविद्यालय की ख्याति सुनी तो आप उनके अनुरोध पर नरवर आ गये। यहां पर उस समय जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीगोवर्धन पीठाधीश्वर, श्री स्वामी मधुसूदनतीर्थजी, श्री शुद्धबोधतीर्थजी आदि संत भी ठहरे हुए थे अतः नित्य-प्रति सत्संग एवं शास्त्रार्थ होता रहता था और चारों ओर आनन्द छाया रहता था। आप लगभग ८ मास यहाँ रहे और फिर श्रीदौलतरामजी के विशेष आग्रह पर 'भेरिया' नामक स्थान पर चले गये। वहाँ आप अधिक समय तक नहीं टिके और पुनः नरवर वापस आ गये जहाँ निरन्तर १०-११ वर्ष तक रहे।

एक बार काशी में शास्त्रार्थ का आयोजन किया गया, जहाँ आपको महामण्डलेश्वर श्रीजयेन्द्र-पुरीजी ने आमंत्रित किया। आपकी विद्वता से प्रभावित होकर विद्वत्मण्डली ने आपसे काशीवास का आग्रह किया परन्तु आपने नरवर की शान्त तपोभूमि को ही अधिक पसंद किया और काशी में नहीं रहे। आप अन्त तक नरवर में ही रहते रहे और नरवर के विद्यालय को आपने अपने अथक परिश्रम से प्राचीन ऋषिआश्रमों जैसा बना दिया।

श्री स्वामीजी रामभक्त थे। प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्त में प्रातःकाल ३ बजे उठकर शौच इत्यादि से निवृत्त होकर आप ध्यानाभ्यास किया करते थे और सूर्य-उदय होने पर आप स्तोत्रों का पाठ करके वातावरण में मधुर संगीत भर देते थे। गंगाजी के प्रति आपकी बड़ी श्रद्धा थी अतः प्रतिदिन गंगा-स्नान करना एवं गंगापूजन करना आपकी दैनन्दिनी में शामिल था। ध्यान-पूजन के पश्चात्

दोपहर १२ बजे तक आप विद्यार्थियों को बड़े प्रेम से पढ़ाते थे। तदनन्तर भोजन के रूप में मूंग की दाल और रोटी लेते थे। आप बड़े संयमी एवं निःस्पृह व्यक्ति थे। अतः आचार-विचार में शुद्धता तथा सादा जीवन और गहन अध्ययन आपके जीवन का ध्येय बन गया था।

नरवर में रहते हुए स्वामीजी के व्यवितत्त्व की दो बातें सबसे अधिक प्रभावशाली दिखायी पड़ती थीं। वह थीं उनकी कंचन और कामिनी से निस्पृहता। आपने इतने काल तक न तो कभी द्रव्य के लिए किसी से याचना की और न स्त्री की छाया भी अपने ऊपर पड़ने दी। आस्तिक जीवन, अतिथि सत्कार एवं धार्मिक सहिष्णुता जैसे गुण आपके व्यक्तित्त्व को और भी अधिक प्रभावशाली बना देते हैं।

दण्डीस्वामी जैसे तेजस्वी, विद्वान एवं सरल महात्मा भारत की इस पुण्य भूमि के रत्न हैं। आज के युग में ऐसे सत्पुरुष कम ही दिखायी देते हैं।

पूज्यपाद श्री स्वामी पूर्णानन्दतीर्थ (उड़ियाबाबा)

अनंतश्रीविभूषित 'उड़िया बाबा' एक ऐसे महापुरुष थे जो अटक से लेकर कटक तक तथा हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक विख्यात रहे। श्रीस्वामीजी 'राजगुरुओं' के वंश में अवतरित हुए थे अतः स्वभाव से ही सन्तप्रकृति तथा शम, दम, शौच, ज्ञान-विज्ञान एवं आस्तिक्य के संस्कार आपको प्राप्त हुए। आपका बाल्यकाल का नाम आर्तत्राण था जो आपके वास्तविक गुणों से सम्बद्ध सिद्ध हुआ।।

बालक आर्तत्राण का जन्म संयोग से कृष्णजन्माष्टमी संवत् १९३२ में हुआ अतः अवतारपुरुष के गुण उनमें पाये गये। आपके पिता थे पं० श्री वैद्यनाथ मिश्र, जिनका प्यार एवं दुलार उन्हें प्राप्त था परन्तु मातृ-सुख से आप वंचित रहे क्योंकि प्रसूतिकाल में ही आपकी माता का देहावसान होगया और आपका लालन-पालन आपकी 'ताई' ने किया। राजगुरुओं के वंश में उत्पन्न यह बालक बुद्धिमान एवं सजग था, अतः उसकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध किया गया परन्तु अधिक अच्छा प्रबन्ध न हो सका। बालक में साहित्य और व्याकरण की अभिरुचि बाल्यकाल से ही थी अतः आपने बिना बताये हुए गृह त्याग कर दिया और विभिन्न कठिनाइयों का अनुभव इस छोटी सी अवस्था में करके आपने जीवनसंग्राम में प्रवेश किया। 'बाल्यावेड़ा' के राजा कृष्णचन्द परम वैष्णव थे और स्वामीजी से स्नेह करते थे। 'बाल्यावेड़ा' में आपने व्याकरण के ग्रन्थों एवं काव्यशास्त्र का विशद् अध्ययन किया और 'काव्यतीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण की तथा बाद में अध्यापन कार्य करने लगे।

स्वामीजी स्वभाव से ही सरल एवं अक्रोधी थे। सेवा, क्षमा, दया और वैराग्य आदि गुण तो उनके व्यक्तित्त्व को प्रभावशाली बना देते थे। काव्यतीर्थ बनने के बाद आप घर लौट आये जहाँ आपको आचार्यत्त्व का कार्य सौंप दिया गया। उड़ीसा में जब दुर्भिक्ष पड़ा तो आपने अपना नाम आर्तत्राण सार्थक कर दिखाया।

जगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराज से आपने दण्ड ग्रहण किया और सन्यास आश्रम में प्रविष्ट हुए। आप वीतराग तथा निःस्पृह व्यक्ति थे और दूसरों से सेवा नहीं लेते थे। जहाँ जाते, पैदल ही जाते थे और सदैव अपना ध्यान जप-पूजा, सत्संग व कथा कीर्तन में लगाये रखते थे।

आप बहुत दिनों तक रामघाट, कर्णवास आदि जगहों में घोर तपस्या करते रहे थे और आपने माँ अन्नपूर्णा की सिद्धि प्राप्त की थी।

परमपूज्य उड़ियाबाबा का ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी से घनिष्ठ सम्बन्ध था। नरवर में जब भी कोई उत्सव, यज्ञादि होते थे तो पूज्यपाद ब्रह्मचारीजी जब तक उड़ियाबाबा को नहीं बुला लेते थे, तब तक आपको उत्सव फीका लगता था। उड़ियाबाबा भी श्रीमहाराजजी को यज्ञादि होने पर अवश्य निमन्त्रण देकर बुलाते थे। श्री साङ्गवेद महाविद्यालय में जिस समय महान् विभूति श्रीस्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराज ब्रह्मीभूत हुए थे तब श्रीमहाराजजी ने तुरन्त आदमी भेजकर उड़ियाबाबा को बुलाया और वहाँ पहुँचकर उन्होंने कार्यक्रमों में भाग लिया।

आपका बनवाया हुआ श्रीकृष्ण आश्रम वृन्दावन में है जिसमें आज भी कथा-कीर्तन, रासलीला आदि होते रहते हैं। पूज्यपाद उड़िया बाबा सच्चे अर्थों में साधु, वीतराग एवं महान् पुरुष थे। आपने अपनी कर्मठता एवं सेवा से हिन्दू जाति एवं धर्म का जो हित किया है उसके लिए आप सदैव स्मरण किए जायेंगे।

श्री स्वामी सोमनाथाश्रम प्रभासभिक्षुजी महाराज

'भारत भूमि' भगवान् की लीलास्थली रही है, साथ ही साथ धर्मात्मा साधुओं की क्रीड़ास्थली भी यही पवित्र भूमि है। पूज्यपाद स्वामी प्रभासभिक्षु भारत के उन अग्रगण्य साधुओं में से एक हैं जिन्होंने भारत को कर्म और धर्म का संदेश दिया है। आपका जन्मस्थान प्रभासपट्टन क्षेत्र था। आप जाति से ब्राह्मण थे। बाल्यावस्था से ही आपने संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ किया और आगे चलकर आप एक उच्चकोटि के विद्वान् बने। आप वेदों के प्रकाण्ड पण्डित के रूप में विख्यात थे।

आपने विवाह भी किया और उससे आपको तीन पुत्ररत्नों की प्राप्ति भी हुई। बाद में गृहस्थाश्रम त्याग कर आप विश्वनाथपुरी काशी में निवास करने लगे। अपने गूढ़ अध्ययन एवं विद्वत्ता के द्वारा काशी के विद्वत्समाज में आपने बड़ी ख्याति अर्जित की और काशी के बड़े-बड़े विद्वान् आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। काशी से ही आपने भागीरथी के तट के सहारे चलते-चलते राजघाट, कर्णवास, रामघाट, अनूपशहर आदि स्थानों पर विचरण किया। इस देशाटन में ही आपने श्री सांगवेद महाविद्यालय, नरवर तथा पूज्यपाद ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी महाराज एवं श्री १००८ स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी की बड़ी भारी ख्याति सुनी। नरवर में आकर आपको ऋषिकुल का वातावरण बहुत सुन्दर लगा और आप यहीं रह गये। आपने यहाँ पर कई विद्वानों को वेदाध्ययन कराया। यहीं पर आपने पूज्य स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी से दण्ड धारण किया और सन्यास ले लिया। आपका शुभ नाम दण्डीस्वामी सोमनाथाश्रमजी प्रभासभिक्षु होगया। सन्यास के पश्चात् आप बहुत दिनों तक नरवर में ही रहे। उसके पश्चात् आप ऋषिकेश में लगभग २० वर्ष तक रहे। 'कनखल' के संस्कृत महाविद्यालय में भी बहुत दिनों तक रहे और बाद में शुकदेवतीर्थ (शुकताल, जिला-मुजफ्फरनगर) में चले आये और पूज्यस्वामी विष्णुआश्रमजी महाराज तथा श्री स्वामी नारायणाश्रमजी महाराज की प्रार्थना स्वीकार कर जीवन के अन्तिम क्षणों तक वहीं रहे।

आप त्याग और तपस्या की प्रतिमूर्ति थे। आपने उत्तराखण्ड हिमालय में जाकर घोर तपस्या की थी। आपका समस्त जीवन त्याग का जीवन था जो वस्तुतः अनुकरणीय था। वेदों के प्रकाण्ड

पण्डित होने के साथ-साथ आप तन्त्र-शास्त्र के भी ज्ञाता थे। हठयोग के आप प्रकाण्ड पण्डित समझे जाते थे। कर्मकाण्ड में आप अद्वितीय थे। इस प्रकार आप एक साथ ही विद्वान, तन्त्राचार्य, हठयोगी एवं कर्मकाण्डी थे। ६० वर्ष की आयु होने पर भी आप नित्यप्रति लाठी लेकर गंगास्नान करते थे और गंगाजी को आप साक्षात् पाप-तापहारिणी मानते थे।

आप व्रत, पूजा, अनुष्ठान आदि सदैव करते रहते थे। नवदुर्गाओं में व्रत रखते थे और 'दुर्गा सप्तशती' का पाठ करते थे। आप प्रति वर्ष चार उत्सव बड़ी धूम-धाम से मनाते थे—शिवरात्रि, श्रीशङ्कराचार्य जयंती, श्रीविश्वेश्वराश्रमजी की निर्वाण तिथि और नवरात्रि। शिवरात्रि को बड़ी दूर-दूर से सन्त, महात्मा आते थे और जागरण होता। आप सारी रात एक ही आसन से बैठे रहते ओर शिवपूजन में भाग लेते।

आप सच्चे अर्थों में धर्मपरायण, त्यागी एवं निस्पृह व्यक्ति थे और भारत के धर्मावलम्बियों के प्राण थे। ऐसे ही साधु, महात्माओं एवं उपदेशकों के बल पर भारत अपनी धार्मिक अक्षुणता बनाये रखने में समर्थ हो सका है।

पूज्यपाद श्रीमद्जगद्गुरु शंकराचार्य गोवर्धनपीठाधीश्वर श्री स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज

प्रातःस्मरणीय स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज भारत के महान् एवं विख्यात धर्माचार्य थे। आप संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन आदि अनेकों भाषाओं के पूर्णज्ञाता थे। व्याख्यान देने की कला में आप प्रवीण थे। जिस समय आप सनातन धर्म की अद्भुत महत्ता पर भाषण देते थे, तो देखते ही बनता था। ओजपूर्ण भाषा में, तर्कपुष्ट बात प्रस्तुत करने में आप अपना विशेष स्थान रखते थे। आप सनातन धर्म के प्रकाण्ड पण्डित एवं कट्टर समर्थक थे। मूर्तिपूजा, अवतारवाद, वर्णव्यवस्था, श्राद्ध-तीर्थ आदि की महत्ता बताते हुए आप वेद-पुराणों के प्रमाण एवं बाइबिल-कुरान के उद्धरण देकर सनातन धर्म की महत्ता को स्पष्ट करते थे जिसे सुनकर जनता गद्‌गद हो जाती थी। आपकी सभाओं की विशेषता यह थी कि उसमें ईसाई, मुसलमान, हिन्दू, सिख सभी सम्प्रदायों के लोग आते थे और सहिष्णुता का प्रदर्शन करते हुए शांति से आपके व्याख्यानों को सुनते थे। आपने यह सप्रमाण सिद्ध किया कि इस संसार में कोई भी मत, मजहब, पंथ, रिलीजन (Religion) और धर्म ऐसा नहीं है जो मूर्ति-पूजा के बिना जीवित रह सके। किसी न किसी रूप में इन्हें मूर्ति पूजा अवश्य करनी पड़ती है। आपके भाषणों का प्रवाह एवं प्रभाव इतना सजीव एवं मूर्तिमान होता था कि तुरन्त ही सैकड़ों आर्यसमाजी सनातनी बन गये। आपने सनातन धर्म सभा के द्वारा सनातन धर्म का प्रचार और प्रसार किया और बड़े-बड़े नास्तिकों से शास्त्रार्थ करके उनको निरुत्तर किया। आपकी विद्वत्ता का लोहा मानते हुए सारे भारत के विद्वानों ने एक स्वर से यह घोषणा की कि आप अपने समय के सबसे बड़े विद्वान् हैं।

आपका व्यक्तित्व आकर्षक एवं भव्य था। गौर वर्ण, और तेजस्वी मुखमण्डल देखकर सहज ही आपके व्यक्तित्व का प्रभाव प्रतिपक्षी पर पड़ता था। आपकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर बड़े-बड़े

राजा-महाराजा, सेठ-साहूकार एवं विद्वान आपके श्रीचरणों में नतमस्तक होते थे। राष्ट्रपति (डा०)राजेन्द्रप्रसादजी आपको साष्टांग दंडवत् किया करते थे।

आपने स्वतंत्रता संग्राम में भी सक्रिय भाग लिया था और आप कई बार जेल भी गये। आपके इन क्रियाकलापों का असली उद्देश्य भारत को आजादी दिलाना था अतः स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् आप राजनीति से अलग हो गये, आजकल के नेताओं की भांति कुर्सी के लिए लालायित नहीं हुए।

पूज्य स्वामीजी का श्रीजीवनदत्तजी महाराज से बड़ा स्नेह था। जिस समय पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्यजी महाराज के पूज्य गुरुदेव, जो पहले गोवर्धनपीठ के जगद्गुरु थे, श्रीजीवनदत्तजी महाराज की प्रार्थना पर श्री साङ्गवेद महाविद्यालय, नरवर में पधारे थे तो वह अपने शिष्य श्री स्वामी भारती-कृष्णतीर्थजी महाराज को भी अपने साथ ले गये थे और वह नरवर के अपने गुरुदेव के साथ कई महीने तक रहे थे। तब से ही आपस में आप लोगों का बड़ा स्नेह था।

अभी कुछ दिनों पूर्व आप ब्रह्मलीन हो गये हैं और इस प्रकार भारत ने एक महान् सन्त खो दिया है।

पूज्यपाद जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज

स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी भारत के उन महान् संतों में अग्रगण्य हैं जिन्होंने धर्म की ध्वजा को फहराने तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति के प्रचार-प्रसार करने में अपना जीवन होम दिया। आपका जन्म संवत् १९४९ में व्रजक्षेत्र के गाँव 'छाहरी' में हुआ था। आपके पिता का नाम पं० टीकारामजी तिवारी था। आपका परिवार निम्बार्क सम्प्रदाय का अनुयायी था अतः बाल्यकाल से ही आपका जीवन धार्मिक बन चुका था। स्वामीजी का वास्तविक नाम मदनमोहन था।

मथुरा के राजकीय हाईस्कूल से हाईस्कूल की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद आप सेन्टजॉन्स कालेज, आगरा में अध्ययन करने लगे। अंग्रेजी आपने पढ़ी अवश्य थी पर आप अंग्रेजी से घृणा करते थे और संस्कृत एवं हिन्दी के प्रति आपका लगाव था। वैराग्य की भावना जागृत होने पर आपने गृह त्याग दिया और दण्डीस्वामी श्रीचैतन्याश्रमजी से आपने संस्कृत भाषा एवं वेदान्त का गहन अध्ययन किया तथा २१ वर्ष की अल्पायु में ही सन्यास ग्रहण कर लिया। निरंतर १८ वर्षों तक साधना करके आपने वेद, पुराण, शास्त्र, उपनिषदों का गहन अध्ययन किया और आप भारतीय दर्शन में निष्णात हो गये। तत्पश्चात् गढ़मुक्तेश्वर में गंगातट पर आपने घोर तप किया। गंगाजी के प्रति आपके हृदय में श्रद्धा एवं भक्ति भरी हुई थी। आपने कभी गंगा की रेती में मल-मूत्र त्याग नहीं किया। आप गंगाजल एवं गंगारज को परम पवित्र मानकर सदैव अपने पास रखते थे।

देशाटन करते हुए आपकी भेंट पूज्यपाद स्वामी करपात्रीजी से हुई और इन दोनों विभूतियों ने मिलकर भारत के कई बड़े नगरों में यज्ञ करवाये। करपात्रीजी द्वारा चलाये गये गोहत्या आंदोलन, हिन्दूकोड बिल आंदोलन के लिए आपने देश का भ्रमण किया और अपने भाषणों द्वारा जनता को उद्बोधन दिया। आप एक उच्चकोटि के वीतराग संत थे। जिन्होंने अपना पूरा जीवन देश और समाज के हित में लगा दिया।

सन् १९५३ में ज्योतिष्पीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य श्री स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी

महाराज के ब्रह्मलीन होने पर आपको विद्वत् समाज ने शंकराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया। जब आपको गढ़मुक्तेश्वर में यह समाचार मिला तो वहाँ से आप अज्ञातवास को चले गये और बड़ी खोज के बाद आप फीरोजाबाद में मिले। विद्वानों के अनुनय विनय को देखकर आपने लाचारी के साथ यह पद स्वीकार किया।

स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज अपने समय के श्रेष्ठ विद्वान एवं धर्माचार्य थे। आपने देहली, बम्बई, कलकत्ता, अमृतसर, कानपुर, काशी, हैदराबाद में आयोजित सर्ववैदिक शाखा सम्मेलनों की अध्यक्षता की। शंकराचार्य के पद पर प्रतिष्ठित होने के बाद भी आप कभी वैभव-विलास में लिप्त नहीं हुए। सादा जीवन व्यतीत करना और निष्ठापूर्वक धर्मप्रचार करना आपने अपना ध्येय बना लिया था।

इन परमपूज्य स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज को लोगों ने चलता-फिरता पुस्तकालय ही समझ लिया था। इनकी विद्वत्ता की धाक देश की पूरी विद्वन् मण्डली पर थी।

श्रीशंकराचार्य कृष्णबोधाश्रमजी १० सितम्बर १९७३ को ब्रह्मलीन हो गये। इस महान् तपस्वी ने भारत की जो सेवा की, देश और संस्कृति की जो रक्षा की उसके लिए हम सब उनके अनुगृहीत रहेंगे।

श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज

(लेखक— श्री अशोककुमार तिवारी एम० ए०, फीरोजाबाद)

भारतवर्ष संतो और महापुरुषों की जन्मभूमि है। भगवान् ने भी इसे अपनी लीलाभूमि बनाया। महात्माओं ने यहां अवतीर्ण होकर धर्म की ध्वजा को फहराते रखा। ऐसे ही एक संत का जन्म प्रतापगढ़ जिले के 'भटनी' ग्राम में सम्वत् १९६४ की श्रावण-शुक्ला द्वितीया रविवार को हुआ। इसका नाम रखा गया हरनारायण ओझा जो बाद में चलकर स्वामी करपात्रीजी के नाम से प्रसिद्ध हुए।

बालक हरनारायण बाल्यकाल से ही वैरागी था। एकान्त में बैठकर संसार की नश्वरता पर घन्टों चिन्तन करना इसका स्वभाव था। बाल्यकाल में ही विवाह हो जाने पर भी हरनारायण को सांसारिक मोह बांध नहीं सके और अन्ततः १७ वर्ष की अल्पायु में माता-पिता और रोती हुई पत्नी,जिसकी गोद में एक नन्हीं बालिका थी,को त्यागकर उन्होंने अपने वास्तविक जीवन में प्रवेश किया। शंकराचार्य स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीजी ने आपको नरवर में अध्ययन करने का आदेश दिया जहाँ आपने स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी से व्याकरण और दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया। बाद में आप अपने गुरु के साथ भृगुक्षेत्र आये जहाँ उनका नया नामकरण हुआ— हरिहर चेतन। तीन वर्ष तक हिमालय की तलहटी में कठोर साधना एवं तप करने के उपरान्त आप अलौकिक आभा से दीप्त हो उठे। वे अपने हाथ में केवल मात्र एक हांडी रखते थे। भोजन वे 'करों' में ही करते थे अतः उन्हें सब लोग 'करपात्र' करने लगे।

२४ वर्ष की अवस्था में आपने स्वामी ब्रह्मानन्दजी के कर-कमलों द्वारा दण्ड ग्रहण किया। अब आपके अतःकरण में लोककल्याण की आत्मप्रेरणा जाग्रत हुई। स्वामीजी ने सन् १९३७ के कुम्भ मेले में अपने प्रवचन दिये और इस प्रकार जन-जन तक अपने विचारों को पहुँचाया। तत्पश्चात् सन् १९४० में विजयदशमी के शुभ अवसर पर धर्मसंघ की स्थापना की। स्वामीजी ने संगठन को

सुदृढ़ बनाने एवं धर्म के व्यापक प्रचार के लिए पैदल यात्रायें की और स्थान-स्थान पर धर्मसंघ की शाखायें खोलीं। स्वामीजी ने अपने कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए 'काशी' से पहले मासिक पत्र 'सन्मार्ग' का प्रकाशन कराया और फिर 'सिद्धांत' का। बाद में काशी के सन्मार्ग ने दैनिक का रूप लिया तथा कलकत्ते से भी दैनिक सन्मार्ग निकलने लगा।

स्वामीजी को इस 'संघ' के कार्य में सबसे अधिक सहयोग मिला स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज का। आपकी लगन के कारण ही धर्मसंघ को इतनी लोकप्रियता प्राप्त हुई। कालांतर में जब ज्योतिष्पीठ का शंकराचार्य 'करपात्री' जी को बनाना चाहा तो आपने अस्वीकार कर दिया और आपके विशेष आग्रह से स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी ने शंकराचार्य बनना स्वीकार कर लिया। आपने स्थान-स्थान पर यज्ञों का आयोजन करवाया। करपात्रीजो ने 'हिन्दू कोड बिल' का विरोध किया और उनकी माँग के आगे सरकार को झुकना पड़ा। वे उस रूप में पारित न हो सके जिस रूप में सरकार चाहती थी। स्वामीजी ने 'गोहत्या बंद हो' आंदोलन चलाया और असंख्य व्यक्तियों को गोपालन के लिए प्रोत्साहित किया। स्वामीजी ने भारत विभाजन का भी घोर विरोध किया। आपने शिक्षा-जगत् में भी उल्लेखनीय कार्य किया है। दिल्ली, वृन्दावन, हिसार, मेरठ, काशी, बिठूर, मुजफ्फरनगर आदि नगरों में प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रतीक कई शिक्षा संस्थायें खोलीं। उनका स्वतन्त्र पाठ्यक्रम बनाया और परीक्षाओं की व्यवस्था की।

स्वामीजी ने जनता के अनुरोध पर राजनीति में भी सक्रिय भाग लिया और रामराज्य परिषद की स्थापना की, १९५७ के आम चुनाव में इसे शानदार सफलता मिली। आप निर्भीक वक्ता के रूप में भी प्रसिद्ध रहे हैं। १९४८ में गांधीजी की हत्या के बाद आपके भाषण के आधार पर आपको जन-सुरक्षा कानून के अन्तर्गत बंदी बना लिया गया किन्तु कोई आरोप सिद्ध न होने के कारण वे मुक्त कर दिए गये। आप निरन्तर सनातन धर्म का प्रचार करते हुए जनता को धार्मिक भावनाओं की रक्षा करने में तत्पर हैं।

श्री १००८ नरोत्तमाश्रमजी 'मंत्री स्वामी' महाराज

पूज्य मंत्रीस्वामीजी महाराज का जन्म ग्राम सलेमपुर तहसील सादाबाद में हुआ था। आपके पिता पं० रूपरामजी सात्विकवृत्ति के व्यक्ति थे अतः प्रारम्भ से ही आप सत्संग में विशेष रुचि रखते थे। आपने अपनी स्कूली शिक्षा का प्रारम्भ वृन्दावन में किया जहाँ पं० दुर्गादत्त शास्त्री से जो भागवत के पंडित थे, भागवतपुराण का अध्ययन किया एवं अन्य पुराण एवं शास्त्रों का अध्ययन भी उन्हीं के शिष्यत्त्व में किया। तत्पश्चात् कैलाश पर ब्रह्मचर्याश्रम में आप मंत्री रूप से रहे। तभी से आपको मंत्री के नाम से जाना गया।

बीच-बीच में आप नरवर भी जाते रहे। संवत् १९७८ से १९८० तक आप नरवर में अधिक रहे। सं० १९९८ में आपने स्वामी आत्मबोधाश्रमजी 'पंजाबी स्वामी' से जो ऋषिकेश में रहते थे, सन्यास ग्रहण किया। आप कुम्भ भी गये थे जहाँ आपने प्रचार कार्य किया। सम्पूर्ण भारतवर्ष में घूम-घूमकर मंत्री स्वामीजी ने जो धर्म प्रचार किया, उसके लिए वे सदैव स्मरणीय रहेंगे। आप निश्चित रूप से ऐसे धर्मप्राण व्यक्तियों के सिरमौर हैं, जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म और जाति की सेवा में बलिदान कर दिया है। आजकल आप धर्मसंघ दिल्ली में प्रायः रहते हैं। आपमें प्रबन्धपटुता विलक्षण है। नरवर आश्रम का भी प्रबन्ध बहुत दिन तक आपके द्वारा हुआ।

नरवर से सम्बद्ध संत-महात्माओं एवं सन्यासियों में पूज्य दण्डीस्वामीजी, पूज्य उड़ियाबाबा, जगद्गुरु भारतीकृष्णतीर्थ, पूज्य प्रभासभिक्षुजी, पूज्य जगद्गुरु स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी के परिचय तो भक्त रामशरणदासजो पिलखुआ, मेरठ वालों ने बहुत पहले ही हमारे पास भेज दिये थे। पूज्य करपात्र स्वामीजी एवं मंत्री स्वामीजो के संक्षिप्त परिचय उपलब्ध आधिकारिक सामग्री के आधार पर हमारे प्रिय शिष्य श्री अशोककुमार तिवारी एम० ए० ने लिख दिये थे। इनके अतिरिक्त अन्य संत महात्माओं का आधिकारिक संक्षिप्त परिचय हम चेष्टा करने पर भी एकत्र न कर सके फलतः उन विभूतियों के नामोल्लेख कर ही सन्तोष करना पड़ रहा हैं।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में एकबार हम मेरठ में ब्रह्मलीन पूज्य स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी से मिलने गये थे। एकान्त होने पर पूज्यचरण से पूर्व आश्रम के सम्बन्ध में हमने अपनी जिज्ञासा प्रकट की तो उन्होंने बड़ी सरलता से समझाते हुये कहा, 'सन्यासी से उसके पूर्व आश्रम की जानकारी ग्रहण करना न तो उचित है और न आवश्यक, और सन्यास आश्रम के सम्बन्ध में भी उसे अधिक परिचय देने की आवश्यकता नहीं है।' पूज्य स्वामीजी के इन शब्दों के पश्चात् हमें आगे जीवन-परिचय सम्बन्धी और कुछ पूछने का साहस न हुआ। किन्तु नरवर आश्रम एवं महाराजश्री के व्यापक प्रभाव की ओर संकेत करने की अपनी हार्दिक इच्छा के कारण ही नरवर से सम्बद्ध सन्यासियों का नामोल्लेख आगे किया जारहा है। इन विभूतियों के सम्बन्ध में जो एक-एक दो-दो पंक्तियां लिखी हैं उसकी सूचना समिति के अध्यक्ष श्री वैद्य जगन्नाथप्रसाद से मिली है।

पूज्य दण्डी स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी महाराज— यह बेलौन के निवासी थे। इनका पूर्व आश्रम का नाम पं० गंगादत्तजी शास्त्री था। आप ज्वालापुर महाविद्यालय में पढ़ाते थे। पूज्य ब्रह्मचारीजी ने पं० नरदेव शास्त्री के साथ आपसे भाष्य पढ़ा था। व्याकरण के अगाध पाण्डित्य के कारण आप अपने समय में वैयाकरण-केशरी कहलाते थे। सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् शुद्धबोधतीर्थ कहलाये। पूज्य महाराजजी से अत्यन्त स्नेह मानते थे अतः महीनों नरवर आश्रम पर बने रहते थे और महाविद्यालय के छात्रों को व्याकरण पढ़ाया करते थे।

पूज्य दण्डीस्वामी निजबोधाश्रमजी महाराज— यह काशी के अस्सीघाट के आश्रम से सम्बद्ध थे। संवत् १९८० तक प्रतिवर्ष नरवर आया करते थे और पूज्य महाराजजी के स्नेह के कारण यहां महीनों रुक जाया करते थे। स्वभाव के अतिसरल एवं विनोदी थे। पुराणों का विशेष ज्ञान था। जितने समय नरवर पर निवास करते थे उतने दिनों आप यहाँ पर महाभारत की कथा कहा करते थे। आप परमविरक्त साधु थे और भिक्षा करके दिन में एकबार भोजन करते थे।

पूज्य दण्डीस्वामी कृष्णानन्दजी महाराज— यह दक्षिण भारत– कदाचित् महाराष्ट्र के रहने वाले थे। आप दर्शनशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे और संवत् १९७५ तक आपने कई बार नरवर पर चातुर्मास्य किया। पूज्य महाराजजी ने आपसे कुछ समय वेदान्त का अध्ययन किया था। आप स्वभाव के अत्यन्त सरल एवं आचारवान् व्यक्ति थे। अपने अन्तिम दिनों में काश्मीर में निवास करने लगे थे, जहाँ से आप पूज्य महाराजजी के लिये केशर एवं ऊनी वस्त्र आदि भी कभी कभी भेजा करते थे।

पूज्य स्वामी मधुसूदनतीर्थजी— यह भी स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी की भाँति बेलौन के ही निवासी थे। सन्यासी होने के पश्चात् आप जगन्नाथपुरी की गोबर्धनपीठ के शंकराचार्य हुए।

स्वामीजी की हार्दिक इच्छा थी कि उनके पश्चात् या तो स्वामी शुद्धबोधतीर्थ उस पीठ के शंकराचार्य अथवा महाराजश्री ही सन्यास लेकर उस पद को स्वीकार करें। किन्तु उनके विचार को दोनों विभूतियों ने बड़ी आर्जवता एवं विनम्रता के साथ स्वीकार नहीं किया, उस समय स्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज शंकराचार्य बने। पूज्य स्वामीजी महाराजश्री से विशेष स्नेह मानते थे और प्रायः नरवर पर पधार कर निवास करते थे।

पूज्य स्वामी आत्मदेवजी महाराज— ये बदायूँ जिले के रहने वाले अत्यन्त वीतराग एवं तितिक्षु थे। मात्र कौपीन धारण कर रहा करते थे। कलकत्ती के अधिकारियों पर आपका प्रभाव था अतः उनसे नरवर का हित करा दिया करते थे।

हरिओउम बाबा— यह भी एक उच्चकोटि के महात्मा थे। इनके जन्मस्थानादि की विशेष जानकारी नहीं है। बोलचाल की भाषा से व्रज प्रदेश के प्रतीत होते थे। इन्होंने नरवर पर आकर ही सन्यास लिया था। इनका शरीर शतवर्ष तक रहा अन्त में गंगा में समाधिस्थ हुए। यह अत्यन्त विरक्त महात्मा थे। श्वांस की गति देखकर प्रश्न का उत्तर बता दिया करते थे। महाराजश्री भी कभी-कभी उलझनों में स्वामी हरिओउम बाबा से सलाह लिया करते थे।

पूज्य स्वामी बिष्णुआश्रमजी महाराज— इनका पूर्व आश्रम का नाम प्रभुदत्त ब्रह्मचारी था। आप प्रारम्भ में नरवर महाविद्यालय के ही छात्र थे। उसके पश्चात् महाराजश्री के आदेश से आपको विहारघाट पाठशाला में प्रवेश दिला दिया गया। ब्रह्मचर्य अवस्था में ही आप विशेष तितिक्षा का जीवन विताते थे। स्वभाव में सरल एवं विरक्त, आचारनिष्ठ एवं कर्मनिष्ठ हैं। आपकी स्मरण-शक्ति बड़ी अच्छी है। इनकी वक्तृत्त्व शक्ति भी अद्भुत है। भागवती कथा कहने में आप श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देते हैं। सन्यास ग्रहण करने के पश्चात् स्वामी विष्णुआश्रम कहलाये। आपने भगवती भागीरथी के किनारे पवित्र एवं प्रसिद्ध क्षेत्र शुकताल जिला मुजफ्फरनगर में अपना आश्रम स्थापित किया है। आश्रम अत्यन्त ही भव्य एवं आकर्षक है। इस ग्रन्थ के लिए धन-संग्रह में आपका भी उल्लेखनीय योगदान है। महाराजश्री में आपकी अगाध श्रद्धा है।

पूज्य स्वामी दामोदराश्रमजी महाराज— आपका जन्मस्थान भरतपुर जिले में है। अपने ब्रह्मचर्यकाल में विद्याध्ययन के लिए नरवर में ही रहे हैं। आपका उस समय नाम देवदत्त ब्रह्मचारी था। नरवर के निवासकाल में आप महाराजश्री की सेवा में ही अधिक रहते थे अतः महाराजश्री के विरक्त जीवन का आप पर विशेष प्रभाव पड़ा। सन्यास लेने के पश्चात विहारघाट में रह रहे हैं। उच्चकोटि के त्यागी एवं तपस्वी हैं। आपकी भागवती कथा में विशेष श्रद्धा है।

पूज्य स्वामी भगवदाश्रमजी महाराज—यह बेलौन निवासी पं० हरनारायण वैद्य के छोटे भाई हैं। इनका पूर्व नाम श्रीभगवानसहायजी है। महाराजश्री की कृपा एवं आदेश से आपने आयुर्वेद की शिक्षा ऋषिकल्प पं० मुन्शीलाल से पाई थी। जब आप सिद्धहस्त आयुर्वेद चिकित्सक हो गये तो अपने बड़े भाई के सन्तान के योग्य होने तक आयुर्वेद चिकित्सा से वृत्ति करते रहे। बाद में नरवर की सेवा में उपस्थित हो गये। महाराजश्री में आपकी अगाध श्रद्धा थी, उनके बुलावे की सूचना मिलते ही सभी काम काज छोड़ कर महाराजश्री की आज्ञा पालन में तत्पर हो जाते थे। आज कल कलकत्ती के पास बगीचे में निवास करते हैं।

पूज्य स्वामी रामाश्रमजी महाराज—आपका पूर्व नाम श्रीरामाधार था। आप भी पूज्य स्वामी बिष्णुआश्रमजी के सहपाठियों में रहे हैं। आपके स्वभाव में निर्भीकता कूट-कूट कर भरी है। निर्भीक होने के कारण ही आप सदा स्पष्ट वक्ता रहे। सन्यास लेने के पश्चात् आप लुधियाना में रहने लगे हैं। भागवती कथा कहने में आप भी अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। इस ग्रन्थ के लिए अर्थ-संग्रह करते समय हमें आपके दर्शन धर्मसंघ दिल्ली में हुए। अर्थसंग्रह में आपसे भी सहयोग प्राप्त हुआ हैं।

पूज्य स्वामी सुखबोधाश्रमजी महाराज—इनका पूर्व नाम श्री सुदर्शनाचार्य है। आप नरवर महाविद्यालय के प्रथम आचार्य हैं। दर्शन, व्याकरण आदि शास्त्रों के अगाध विद्वान् हैं। लगभग एक वर्ष आपने उस्मानियां विश्वविद्यालय, हैदराबाद के संस्कृत विभाग में अध्यापन कार्य किया। दो-तीन वर्ष पूर्व आपने अनूपशहर स्थित गणेश मन्दिर के स्वामीजो से सन्यास की दीक्षा ली। इस ग्रन्थ का सम्पादन आपने दो महीने यहां रहकर किया है। पूज्य स्वामीजी अत्यन्त सरल एवं वीतराग हैं।

श्रीशंकरानन्दजी श्रीकाशीवासीजी—आप शिव के अनन्य भक्त थे तथा उदारमना थे। विद्यार्थियों को भोजन कराने में बड़े संलग्न रहते थे। जो भक्त आपको द्रव्य देते थे उसको जोड़कर साल में खीर,हलुआ, दालबाटी, चूरमा बनवाया करते थे। उन्होंने महारुद्रयाग भी कराये थे। प्रतिवर्ष ६ माह नरवर रहा करते थे।

ऊपर हमने नरवर आश्रम से सम्बद्ध कतिपय सन्यस्त विभूतियों का संक्षिप्त नामोल्लेख किया है। किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह संख्या केवल इतनी है। इनके अतिरिक्त अन्य कई नाम ग्रहण किये गये, पूज्य स्वामी चन्द्रशेखराश्रम, पूज्य स्वामी रामकृष्णाश्रम परमहंस, पूज्य स्वामी नरसिंहाश्रम आदि कई नाम ऊपर को माला की ही मणियाँ हैं। ये तो सन्यस्त विभूतियों के नाम हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी नाममाला भी अलघु है जो ब्रह्मचारी रहे अथवा जिन्होंने आश्रम की अन्य सेवाओं में ही अपने जीवन को सार्थकता समझी। आश्रम सेवकों में श्रीगंगासेवीजी का नाम अग्रगण्य है। ब्रह्मचारियों में योगानन्दजी, अखण्डानन्दजी, महावीरजी आदि के नाम नरवर के तत्कालीन स्नातकों के हृदय-पटल पर अमिट रूप से अंकित हैं। वस्तुतः महाराजश्री की तपस्या के फलस्वरूप उस समय नरवर आश्रम की शोभा ही अलौकिक थी।

महाराजश्री ने साङ्गवेद महाविद्यालय की स्थापना सम्वत् १९६० में इस भावना से की थी कि यह विद्यालय संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार में अधिकाधिक योगदान कर सकेगा। प्रारम्भ में पूज्यचरण महाराजजी ही अध्यापन-कार्य करते थे, किन्तु थोड़े समय के पश्चात् श्रीनवनिधि पाठकजी भी अध्यापन कार्य में योगदान करने लगे। शनैः शनैः विद्यालय की ख्याति बढ़ी और ज्ञानपिपासुओं के आने का तांता लग गया और विद्यालय के छात्रों आदि की संख्या सैकड़ों तक पहुंच गई। विद्यालय में वेद, वेदान्त, व्याकरण, ज्योतिष, साहित्य आदि अनेक विषयों की आचार्य कोटि तक की शिक्षा होने लगी।

अध्यापन की दृष्टि से इस विद्यालय की विशेष उन्नति आचार्यचरण श्रीविजयप्रकाशजी के प्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् हुई। पूज्य आचार्यजी का पाण्डित्य गम्भीर, उनका

स्वभाव अत्यन्त सरल, उनकी अध्यापन-पद्धति सरल तथा परिमार्जित, छात्रों के प्रति जनका वात्सल्य अगाध एवं जीवन परम सात्विक तथा उदार हैं। पूज्य आचार्यजी के मुख्याचार्य होते ही विद्यालय ज्ञान के क्षेत्र में अग्रणी होने लगा।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, शंकराचार्यों, सन्यासियों, ब्रह्मचारियों एवं आश्रम सेवा के लिए जीवनदानियों के अतिरिक्त आश्रम विद्वन्मण्डली से भी मण्डित रहने लगा। महाराजश्री की हार्दिक इच्छा आश्रम की जिस प्रकार के आचारवान् विद्वन्मण्डल को देखने की थी, वस्तुतः उसी प्रकार के विद्वान् नरवर में इतस्ततः दिखाई पड़ने लगे।

महाराजश्री शास्त्रार्थ में विशेष रुचि लिया करते थे। वस्तुतः शास्त्र एवं शास्त्र के मुहुर्मुहुः मार्जन की आवश्यकता है। जिस प्रकार उपेक्षित पड़ा रहने वाला शास्त्र कुण्ठित होकर व्यर्थ हो जाता है उसी प्रकार बिना विचार किये शास्त्र के अर्थ में शंकायें एवं विप्रतिपत्तियाँ आ खड़ी होती हैं। इसलिए शास्त्र के अर्थ को स्पष्ट करने, उसकी समझ को गहरा बनाने, उसकी विप्रतिपत्तियों को दूर करने आदि के लिए शास्त्रार्थ ही एकमात्र उपाय है। शास्त्र के अर्थ विनिश्चय के लिए इससे अधिक प्रशस्त मार्ग दूसरा कोई नहीं है। इन शास्त्रार्थ के विषय कभी व्याकरण सम्बद्ध, कभी वेद से सम्बद्ध तथा कभी किसी अन्य विषय से सम्बन्धित रहा करते थे। शास्त्रार्थ से जहां शास्त्र के अर्थ विनिश्चय में सहायता मिलती है वहां यह शास्त्रार्थकर्त्ता के ज्ञान में वृद्धि, बोध में स्पष्टता एवं स्वयं में विश्वास जाग्रत करने का भी अचूक साधन है।

समय बीतते देर नहीं लगती। साङ्गवेद महाविद्यालय के छात्र अपनी मातृ-संस्था का नामोज्ज्वल करने के निमित्त विविध विषयों के अध्यापन के लिए तैयार होने लगे। महाराजश्री के पास इन प्रोद्यत विद्वानों को उचित स्थानों पर प्रतिष्ठित करने की योजना भी थी। जैसा कि संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार का उल्लेख करने के अवसर पर कहा जा चुका है कि महाराजश्री के संकेत, प्रेरणा,प्रणोदन अथवा सहयोग से अनेक पाठशालायें तथा संस्कृत विद्यालय प्रारम्भ हुए। साङ्गवेद महाविद्यालय से उत्पन्न विद्वान् इन प्रारम्भ होने वाली पाठशालाओं में बिठाये जाने लगे। वस्तुतः उस समय नरवर विद्वानों का आकर बन गया था। जहां और जिस किसी को जिस विषय के अध्यापक की आवश्यकता पड़ी, उसने महाराजश्री के सम्मुख अपनी कठिनाई रखी। तुरन्त किसी एक स्नातक को उस विद्यालय पर पहुंचने के लिए निदेश महाराजश्री की ओर से हो गया।

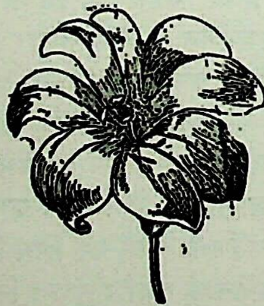
आज पश्चिम उत्तर प्रदेश में ही नहीं अपितु समस्त उत्तर भारत में इस महाविद्यालय के स्नातक अध्यापन कार्य करते हुए अपनी मातृ-संस्था के यशःसौरभ को दिग्दिगन्त में प्रसारित कर रहे हैं। हमारी हार्दिक इच्छा थी कि इस विद्यालय के स्नातकों की सूची प्रस्तुत की जाय, कार्य प्रारम्भ किया भी गया, किन्तु आवश्यक सहयोग के अभाव में इच्छा के अनुसार यह कार्य पूरा न हो सका।

जिस प्रकार मांग उपस्थित होते ही अध्यापक किसी भी पाठशाला के लिए भेज दिये जाते थे, उसी प्रकार सनातन विधि से यज्ञ कराने के लिए, यज्ञोपवीत विधि सम्पन्न कराने के लिए अथवा शास्त्रीय पद्धति से विवाह कराने के लिए आचार्य भी पत्र प्राप्त होते ही नरवर से उपलब्ध होते थे।

विधिज्ञ आचार्य के अभाव में विधिपूर्वक सम्पन्न कराने के इच्छुक व्यक्ति का कार्य पड़ा नहीं रहता था। आज भी नरवर विद्यालय में अच्छे कर्मकाण्डी आचार्य विद्यमान हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ स्नातक ऐसे थे जो आयुर्वेद के प्रति अग्रसर हुए और आज पीयूषपाणि वैद्य होकर महाराजश्री एवं नरवर विद्यालय की कीर्तिकौमुदी अपने अपने क्षेत्र में फैला रहे हैं। विद्वान् अध्यापकों की भांति पश्चिम उत्तर प्रदेश में कोई भी एक नगर, उपनगर ऐसा नहीं मिलेगा जहां पर नरवर का स्नातक वैद्य न हो।

उपर्युक्त क्षेत्रों में इस विद्यालय ने जितनी सेवा की है उतनी कदाचित् किसी एक विद्यालय ने की होगी। यह विद्यालय महाराजश्री की कीर्ति-पताका का समुच्छ्रित पुष्टदण्ड है, उनकी परोपकार तथा सेवाभावना का साकार रूप है।



प्रशस्ति-आलोक



द्रष्टा-मानस में पड़ा जो महत्त्व प्रतिविम्ब ।
बना पूत श्रद्धा वही उमड़े भाव कदम्ब ।।
उनकी ही अभिव्यक्ति यह बनी 'प्रशस्ति' पुनीत ।
अवगाहन से चित्त को विमल करेगी मीत ।।



गायत्री-वन्दनम्

—:*:—

गायन्ति ये त्वां पुरुषा विशुद्धा भवन्ति सद्यो भवभीतिमुक्ताः ।
त्वं वेदमातासि पवित्ररूपा तवाश्रयात्को न लभेत सौख्यम् ॥ १ ॥

यस्या न शोभा वचनैर्निरूप्या गुणा असंख्याश्च जगत्प्रसिद्धाः ।
आजीवनं जीवनदत्तनाम्ना समाश्रिता सा शुभमातनोतु ॥ २ ॥

त्रीनप्यतीतासि गुणैस्तु देवान् समस्तविश्वस्य च मूलभूता ।
शाखाःप्रशाखास्तववेदमन्त्राः सुरास्त्वदीयां स्तुतिमाचरन्ति ॥ ३ ॥

वन्द्यासि लोकस्य चराचरस्य प्रभातवेलेव प्रबुद्धलोका ।
जपन्ति ये त्वां सरलाः सुशीलास्तमस्तदीयं विनिहंसि नूनम् ॥ ४ ॥

ददासि मुक्तिं रुचिरांश्च भोगान् समाश्रितेभ्यो निजमङ्घ्रियुग्मम् ।
दयान्विता भक्तजने सदासि प्रवर्तयन्ती शुभकर्ममार्गे ॥ ५ ॥

नास्त्यस्य बालस्य कदापि शक्तिर्गुणाँस्त्वदीयाननुवर्णयेद्यत् ।
पक्षी यथाशक्ति नभः प्रयाति तथैव मेऽयं वचनप्रयासः ॥ ६ ॥

मनोरथं पूरय देवि ! दिव्ये श्रीजीवनाराधितपादपद्मे ।
पुष्पाञ्जलिः भावमयो जनानां मनस्यजस्रं सुखमातनोतु ॥ ७ ॥

—रामचरण दीक्षितस्य

मधुरं संस्मरणम्

(श्री करपात्रीजी महाराज)

भगवत्यास्तटे दिव्ये गङ्गायाः सुमनोहरे ।
सुरैर्निषेविते रम्ये शुभे परमपावने ॥ १ ॥

अस्ति पुण्यमयः श्रीमान् आश्रमः परमोज्ज्वलः ।
ख्यातः नरवरे साङ्गवेदविद्यालयाभिधः ॥ २ ॥

तत्र जीवनदत्तस्य ऋषिकल्पस्य धीमतः ।
संस्थापकस्य संवासो बभूव वरवर्णिनः ॥ ३ ॥

द्वाचत्वारिंशदब्दानां प्रायो दृष्टवतो जगुः ।
पूर्वं तदाश्रमपदं मम पर्यटतस्तदा ॥ ४ ॥

आश्रमोऽसौ महाभागः सात्त्विकः परमोत्तमः ।
तपोमयः पुण्यकीर्तिस्त्यागवैभवसम्भृतः ॥ ५ ॥

प्रशान्तवातावरणो रमणीयगुणान्वितः ।
श्रद्धाधनश्चरित्रश्रीः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥ ६ ॥

तत्र श्रीवर्णिवर्य्यस्य सात्त्विकस्य विशेषतः ।
तपोमूर्तेः पवित्रस्य विद्यावैभवशालिनः ॥ ७ ॥

अष्टाध्यायीमहाभाष्यं दर्शनान्युपतस्थिरे ।
विविधाश्च तथा विद्या वशमाजग्मुरुत्तमाः ॥ ८ ॥

यद्यप्यासन् विज्ञवर्या अनेकेऽध्यापकोत्तमाः ।
तथापि बहवः शान्ता विरक्ता ब्रह्मचारिणः ॥ ९ ॥

तथापरे महात्मानस्तत एव समध्यगुः ।
मनुस्मृतिभारतञ्च रामायणमनुत्तमम् ॥ १० ॥

वर्णाश्रमव्यवस्थायां तस्य प्रियतमं स्थितम् ।
सनातनस्य धर्मस्य तस्यादर्शत्वमाश्रयन् ॥ ११ ॥

तदीयवदनाम्भोजादादर्शन्ब्रह्मजन्मनाम् ।
तथैव च तपस्याया व्याख्यानानि चकाशिरे ॥ १२ ॥

तानि संश्रृण्वतामासीत्प्रभावः परमाद्भुतः ।
विदुषस्तस्य समभूद्वस्त्रं शुभ्रं विशुद्धिभृत् ॥ १३ ॥

स्थूलं रूक्षं तथा जानुदघ्नं कट्यम्बरोत्तमम् ।
स्वच्छं तथैवोत्तरीयं दन्ताः केशास्तथासिताः ॥ १४ ॥

सर्वं चेदं सात्त्विकश्रि, सुन्दरं, दर्शनप्रियः ।
दिने दिने च प्रत्यूषे मुहूर्ते ब्रह्मणः कविः ॥ १५ ॥

गत्वा सुदूरं शौचादिक्रियां निर्वर्त्य नित्यशः ।
वगाह्य गङ्गां विधिवत्तत्र सूर्योदयावधि ॥ १६ ॥

उपास्यवृहतीं सन्ध्यामर्ध्यं दत्त्वांशुमालिनम् ।
नानोपस्थानसम्मन्त्रैरुपस्थायसमाहितः ॥ १७ ॥

तत्रैकान्तेसुरनदीतटे भास्करसम्मुखः ।
उटजे समुपाविश्य दीर्घकालं समाधिना ॥ १८ ॥

गायत्रीमजपन्नित्यं दिव्यं ब्रह्म सनातनम् ।
तमालोक्य हठाच्छ्लोकःस्मृतिमायाति सत्वरम् ॥ १९ ॥

ऋषयो दीर्घसन्ध्यत्वाद्दीर्घमायुरवाप्नुवन् ।
तत्संन्दर्शनमात्रेणोपदेशाद्यनपेक्षया ॥ २० ॥

सहस्रं व्यक्तयोऽभूवन् सदाचारपरायणाः ।
समये चोपदेशस्य सविनोदं प्रसादयन् ॥ २१ ॥

सरसैः सरलैः शब्दैः पाठयामास वर्णिनः ।
ब्रह्मचर्यं वेदशास्त्रं वेदाङ्गानि जपादिकम् ॥ २२ ॥

सञ्चारिव्यं दर्शनानि शिक्षयामास पूर्णतः ।
अनायासं मनस्येषामवातीतरदद्भुतम् ॥ २३ ॥

महात्मानः परिचिता विद्वांसः सर्व एव च ।
आद्रियन्ते तपोमूर्तिं माननीयं यशस्विनम् ॥ २४ ॥

सद्गृहस्था वीतरागा : सम्मान्या ब्रह्मचारिणः ।
प्रतिष्ठिताश्च विद्वांसस्तस्मिन् श्रद्दधिरे भृशम् ॥ २५ ॥

तत्सन्निधानमापाद्य मन्यन्ते स्वान् कृतार्थिनः ।
भाग्यमुद्घाटितं मत्वा मेनिरे पुण्यसञ्चयम् ॥ २६ ॥

पूज्यवर्या माननीयाः परमा गुरवो मम ।
विश्वेश्वराश्रमा लोके ख्याताः श्रीविदुषां वराः ॥ २७ ॥

नानानवद्यविद्याभिर्द्योतमानाः शुकादिवत् ।
आन्वीक्षिक्यां नूतनायां प्रत्नायां पारदर्शिनः ॥ २८ ॥

मीमांसायां मर्मविदो वेदान्तानां महर्द्धयः ।
दुर्भेदग्रन्थिभेत्तारः सिद्धिखण्डनदुर्गयोः ॥ २९ ॥

महाराजश्रियःशान्ताः पूर्वं दृष्टिपथं गताः ।
अन्योऽन्यं मानयन्तिस्म सममन्योऽन्यदर्शिनः ॥ ३० ॥

तावुभौशान्तसङ्कल्पौ शास्त्रचर्यां मनोहराम् ।
विदधानौ घनानन्दप्रवाहरसपेशलौ ॥ ३१ ॥

शृण्वतो जनजातस्यापुष्यतां परमां मुदम् ।
आस्वादे मज्जयन्तौ हि ददतुः शान्तिमुत्तमाम् ॥ ३२ ॥

महतां विदुषां तत्र व्यवर्धत समागमः ।
समाध्यर्थं च शङ्कानां पठनार्थं समादरात् ॥ ३३ ॥

श्रीस्वामिपादाः सन्तोषामृतदानं व्यधुर्मुदा ।
तदानीमाश्रमः सोऽयं प्राक्तनान् दीव्यतः शुभान् ॥ ३४ ॥

ऋषीणां पुरतश्चक्रे चर्च्यमानाश्रमोत्तमान् ।
कदाचिदुत्कलः पूर्णानन्दतीर्थसमाह्वयः ॥ ३५ ॥

ख्यात्या श्रिया शान्तिमय्या सुसम्पन्न उदारधीः ।
तदाश्रमे श्रीचरणैर्गुरुभिः समगच्छत ॥ ३६ ॥

प्राय आगत्य तत्रैव विविक्त उटजोत्तमे ।
निवसन्तिस्म सत्सङ्गघनानन्दपरीप्सया ॥ ३७ ॥

गोमयेनोपसंलिप्ते स्थण्डिले संन्यविक्षत ।
सोऽपि पण्डितवर्येऽस्मिन् बद्धप्रेमाभवद् भृशम् ॥ ३८ ॥

प्रशान्तवातावरणे कमनीये तदाश्रमे ।
तयोः सत्सङ्गमः श्रीमान् मधुरः समपद्यत ॥ ३९ ॥

एवं हि निर्मलानन्दो बङ्गस्वामी महोदयः ।
लम्बेनारायणमुखा महात्मानः समागमन् ॥ ४० ॥

दवीयसां नागराणां गृहस्थानां महात्मनाम् ।
उपदेशैः पण्डितश्रीजन्यर्लाभो महानभूत् ॥ ४१ ॥

अलीगढ़ो हाथरस आगरा देहली तथा ।
खुरजा च बुलन्दाह्वनगरं मयराष्ट्रकम् ॥ ४२ ॥

बरौली च तथा कर्णपुरप्रभृतयः पुरः ।
तद्वासिनः सर्व एव भक्ता आसन् मनीषिणः ॥ ४३ ॥

आश्रमे वसतां तत्र वर्णिनामग्रजन्मनाम् ।
शताधिकानां छात्राणां भाण्डागारं व्यमुच्यत ॥ ४४ ॥

स्वेच्छया जगृहुः सर्वे मुक्तद्वारमभूत्सदा ।
नियन्ता नाभवत् कश्चित् स्वेच्छया यदपेक्षितम् ॥ ४५ ॥

अगृह्णंस्तावदखिलं सर्वं आश्रमवासिनः ।
ऋद्धयः सिद्धयः सर्वाः समभूवन् मनीषिणः ॥ ४६ ॥

तथापि जातु नैवासीद्विदुषो गमनं क्वचित् ।
पत्रमात्रं तु निष्पत्त्यै सर्वेषां समजायत ॥ ४७ ॥

गङ्गातटेऽथवा विल्वमूले परमपावने ।
गायत्रीं प्रजपन् तस्थौ सर्वसिद्धमनोरथः ॥ ४८ ॥

अन्नवस्त्रादिकं सर्वं समाहार्षुः समन्ततः ।
समाकृष्टाः स्वयं सर्वे पुण्यात्मानो यतस्ततः ॥ ४९ ॥

व्यचीचरत्सदा वेदान् रामायणमतन्द्रितः ।
महाभारतमव्यग्रो मनुस्मृतिमथापि च ॥ ५० ॥

तत्पाठनं तत्पठनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम् ।
सम्पादयन् समैरेतैरैषीद्वेदोपबृंहणम् ॥ ५१ ॥

विधातार्यसमाजस्य दयानन्द इति श्रुतः ।
सहयुग्वाभीमसेनशर्मा पण्डितमण्डितः ॥ ५२ ॥

इटावाभिजनोभूत्वा समाजं चान्ततोऽत्यजत् ।
शुद्धः सनातनी तस्थौ प्रभावेण समन्वितः ॥ ५३ ॥

आरम्भे तस्य संस्कारो न्यपतत्पण्डितोपरि ।
स वैदुष्येण भूष्येण समालोचनमाचरत् ॥ ५४ ॥

मतान्तराणां सर्वेषां कटुतां तु न्यवारयत् ।
विद्वत्ता स्फुटिता तत्र श्रौतयोर्धर्मकर्मणोः ॥ ५५ ॥

निष्ठा पूर्णा भासमाना स्थिता वै वरवर्णिनि ।
योग्यविद्याव्रतस्नातान् सुधियो धर्मतत्परान् ॥ ५६ ॥

निरमास्त ससंरम्भं संलग्नः संयतेन्द्रियः ।
श्रौते स्मार्ते विधौ तावत्प्रियता समवर्धत ॥ ५७ ॥

आहिताग्निषु तस्याभूदनुरागगभीरता ।
हृषीकेशबुधः श्रीमानाहिताग्निः समाहृतः ॥ ५८ ॥

श्रीमान् बालकरामश्च प्रेरणामित आभजत् ।
शुभाशिषः समाकाँक्षीच्छ्रेयसा केन तृप्यते ॥ ५९ ॥

प्रभासस्थः प्रसिद्धः श्रीकरुणाशङ्करः सुधीः ।
वैदिकः कर्मकाण्डी च तस्य मित्रमजायत ॥ ६० ॥

अधिष्ठायाश्रमं धीरो वेदान्ताध्ययनं व्यधात् ।
विश्वेश्वरस्वामिपादाद्विद्वद्वर्गशिरोमणेः ॥ ६१ ॥

अन्ते च तेभ्य एवायं संन्यासं शमिकोऽग्रहीत् ।
हृषीकेशे हरिद्वारे स्थित्वा बहुसमा यतिः ॥ ६२ ॥

सम्प्रत्येव ब्रह्मभावं शुकस्थाने समाश्रयत् ।
श्रीमज्जीवनदत्तस्य पण्डितस्य कृपावशात् ॥ ६३ ॥

अद्यापि श्रौतधर्मस्य प्रोत्साहः सम्प्रवर्तते ।
श्रीमद्भारतराष्ट्रस्य प्रिया तस्य स्वतन्त्रता ॥ ६४ ॥

आन्दोलनं तदर्थं च प्रियमासीन्महात्मनः ।
परन्तु नेतृणां धर्मोल्लङ्घनार्थाः प्रवृत्तयः ॥ ६५ ॥

उद्वेगधायिका आसन् धार्मिकस्य मनीषिणः ।
भीष्मस्य विदुरस्याथ राजनीतिरभूत्प्रिया ॥ ६६ ॥

श्रीकृष्णस्य भगवतो विचारा दर्शनानुगाः ।
राजनीतिमयाश्चासन्नत्यन्तं प्रियतास्पदम् ॥ ६७ ॥

मग्नीरामः काशिकास्थः सिद्धो वर्णिवरोऽभवत् ।
तद्दर्शनप्रभावेण भावितः पण्डितोत्तमः ॥ ६८ ॥

कथासत्सङ्गयोस्तस्य भूयश्चर्या व्यजृम्भयत् ।
अध्यैष्यहं परेभ्यस्तु विद्वद्भ्यो यद्यपि स्थिरः ॥ ६९ ॥

विश्वेश्वरस्वामिपादात्तथाप्यस्य समागमात् ।
सत्सङ्गाच्चैव भूयांसं लाभं सम्प्राप्तवानहम् ॥ ७० ॥

अकृत्रिमा तस्य चर्या निष्ठा सरलता तथा ।
पुरस्तान्मे सदाभाति शुचिः संशान्तिभूषणा ॥ ७१ ॥

ज्वालापुरमहाविद्यालयस्थः पण्डिताग्रणीः ।
प्रशंसकेषुतस्याभूत् नरदेवविदुत्तमः ॥ ७२ ॥

महाविद्वानपि भवन् शास्त्रचर्यारतः सदा ।
एकदा वर्णिवर्योऽसौ मत्तश्चार्वाक-दर्शनम् ॥ ७३ ॥

उपक्रम्य प्रसिद्धान्यप्रसिद्धानि च संयतः ।
दर्शनानि गभीराणि श्रुतवान् सविवेचनम् ॥ ७४ ॥

अन्यदा च महात्मासौ प्रथमस्कन्धतः कथा ।
यावच्चतुर्थं श्रुतवान् श्रीमद्भागवतीर्मम ॥ ७५ ॥

देहल्यां धर्मसङ्घस्य भारतीयस्य याज्ञिके ।
समारम्भे शतमुखे होमे याज्ञिकसत्तमः ॥ ७६ ॥

याजमान्यं स्वयं पूर्वं व्यधत्तायं महामनाः ।
मुम्बय्यां लक्षचण्डीयेऽनुष्ठानेऽपि शुचिव्रतः ॥ ७७ ॥

यजमानोऽभवच्चान्येष्वपि कर्मसु शाश्वतः ।
प्रेरकश्चाभवन्नित्यं शुभकर्मसु सर्वदा ॥ ७८ ॥

श्राद्धकर्मसु चान्येषु ब्राह्मणानां विशेषतः ।
अरोचयद्भोजनानि विविधानि विधानतः ॥ ७९ ॥

पूर्वाश्रमे वर्तमानं मां न्यमन्त्रयतात्मवान् ।
नेदिष्ठोऽहं तदासर्वं पूर्णतोऽन्वभवं रसात् ॥ ८० ॥

वरिवस्या महेशस्य चरणाम्बुजयोर्गुरोः ।
समर्पिता ततो मे स्युरपराधाः क्षमावृताः ॥ ८१ ॥



श्रद्धाञ्जलिः

(श्री शंकराचार्य श्री स्वामी महेश्वरानन्द सरस्वती महाराज)

माद्यन्मोहघटाटवीविघटनप्रोद्दामदावानलो
दृप्यद्दर्पकवर्गसर्गरचनाचातुर्यविद्रावणः ।
उद्वेलत्कलिकालगालदलनप्रोल्लासदीक्षाव्रतः
श्रीश्रीजीवनदत्तवर्णिनिपुणो वर्ण्यग्रणीर्गण्यते ॥ १ ॥

पुण्यारण्यविहारहारिहरिणाः सारल्यलग्नां श्रियम्
बिभ्राणा निजशृङ्गसङ्गघटनाकण्डूतिसम्पण्डिताः ।
चञ्चच्चर्मवृसीप्रदानसुकृतारम्भैः ऋषीणां मुदा
तद्धर्माश्रमवासिनः समभवन् किंचापरे योगिनः ॥ २ ॥

वेदा येन समस्तवैभवभृतः सार्थाः सतात्पर्यतः
स्वभ्यासेन वशीकृताविकृतयः कण्ठे कृताः सक्रमाः ।
होत्रं दर्शमुखा मखाश्च विधिना सम्पादिताः सादरम्
सोयं कीर्तिकुमुद्वतीवलयितः शश्वत्प्रशंसास्पदम् ॥ ३ ॥

गङ्गातुङ्गतरङ्गशीतलमरुत्संवीज्यमानाश्रमे
लोलद्वल्लिमतल्लिशालसरले माधुर्यधुर्ये वरे ।
गीर्वाणैरधिषेविते नरवरे चञ्चच्चरित्राञ्चिते
शास्त्राम्नायमहाध्वनिर्न विरमत्येकान्ततोऽहर्निशम् ॥ ४ ॥

यद्गीर्वाणनदीप्रवाहतरला वीचीचया गुञ्जिता
वेदान्तान् समपीपठन् सहजया मीमांसया सम्भृतान् ।
गौतम्या समलङ्कृतान् विशकलीकृत्यप्रभाभास्वरान्
सम्प्रोद्यत्प्रतिभाप्रभावभरितान् धर्माश्रयं तं स्तुमः ॥ ५ ॥

यत्रान्तेवसतां सतां विनयिनां पारं गतानां परम्
शास्त्राणां महतां महोदधिदृशां संख्येयतां लङ्घताम् ।
श्रीमद्भारतभव्यभूमिवलये प्राध्यापनं कुर्वताम्
गीयन्ते वितता मनोहरतरा लोकैर्लसरकीर्तयः ॥ ६ ॥

स्वेच्छोपात्तसुरालयं न गणयाञ्च विरक्ताग्रणीः
सत्यं लोकमभीष्टमप्यतितरां नारोचयच्छाश्वतम् ।
माकिः सत्यमिदं समं श्रुतिरवैदम्पर्यनिष्ठाञ्चितम्
ब्रह्मैवैकमृतं विचिन्त्य तदभूच्छ्रीन्ब्रह्मचारीस्तुतः ॥ ७ ॥

आर्यः सत्यधुरन्धरः श्रुतिरतः पुण्यात्मनां मानितः
तप्तो घोरतपोभिरर्चिततमः पुण्योपवासप्रियः ।
दान्तः कारुणिकः प्रतापतपनो वैश्वानराराधनः
श्रीमज्जीवनदत्तवर्णितगुणः कीर्त्यात्मना भ्राजते ॥ ८ ॥

वैराग्योत्तरसंयमैरपि परित्यक्तार्थसार्थैरपि
षट्सम्पत्तिभराप्लुतैरपिसदा ब्रह्मैकनिष्ठैरपि ।
यच्छायोपरतैरधीतिकृतिभिर्गङ्गाजलस्नायिभिः
शान्तिःपूर्णमवापि तत्पदमिदं भूयः स्मृतिं गच्छति ॥ ९ ॥

भाव-कुसुमाञ्जलिः

(दण्डी स्वामी श्रीसुखबोधाश्रमजी महाराज)

वाग्देवते ! भव विलासवती चरित्रम्
चित्रं त्वया भवति सम्प्रति वर्णनीयम् ।
सर्वोपकारपरनैष्ठिकवर्णिवर्ग-
मूर्धन्यधन्यजनिजीवनदत्तनाम्नः ॥ १ ॥

हे सरस्वति ! अब आप प्राणिमात्र के उपकारक-नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के मूर्धन्य, धन्यजीवन श्रीजीवनदत्त शर्मा के विचित्र चरित्र का वर्णन करने के लिए सजधज कर तय्यार हों । १ ॥

यस्य स्मृतिः परममङ्गलमाशु सूते,
धुन्वन्ति पापपटलं गुणगायनानि ।
शेफालिकाकुसुमकुङ्कुममालिकेव
यत्कीर्तिरद्य सुरभीकुरुते दिगन्तान् ॥ २ ॥

जिनकी स्मृति मङ्गलमयी है, जिनका गुणगान पाप-पुञ्जों को कम्पित करने वाला है, केसर मिश्रित हारश्रृङ्गार के फूलों की माला के समान जिनकी कीर्ति दिशाओं के ओर-छोर को अपनी भीनी सुगन्ध से भर रही है । २ ॥

स्यान्नाम तत्रभवती गुणगौरवेण,
शक्नोति साहसवती न निबन्धुमेनम् ।
किं श्रूयते न ? वसुदेवसुतं यशोदा
दामोदरं कृतवती न परिश्रमेण ॥ ३ ॥

यह सम्भव है कि आप गुणों (वर्णन करने की योग्यता रस्सियों) के बलपर इन्हें अपने निबन्ध-रचना बन्धन में न ला सकें, क्या नहीं सुना ? कि श्रीयशोदाजी श्रीकृष्ण को बिना परिश्रम से बाँध सकी थीं । ३ ॥

लज्जावशेन हृदयेन निजप्रशस्तीः,
श्रोतुं कदापि नहि वर्णिवरोऽयमैच्छत् ।
तत् केवलं स सदयं हृदयं विधाय,
भूयान्निबन्धमुपलब्धुमहो ? महेच्छः ॥ ४ ॥

यद्यपि संकोच का अनुभव होने से वह कभी भी अपनी प्रशंसा सुनना नहीं चाहते थे, किन्तु प्रार्थना है कि महामना होने के कारण दयावश इस निबन्ध रचना सुनने के बन्धन को स्वीकार करें । ४ ॥

एकोनविंशतिशतोत्तर ईशवीये
त्रिंशत्तमे सदुदयः शुभवत्सरेऽहम् ।
यद् दर्शनेन सुकृतैः समुपार्जितेन,
सौभाग्यभाजनमभूवमदृष्टदृष्ट्या ॥ ५ ॥

सन् १९३० मेरे भाग्योदय का समय था जब अपने पूर्वोपार्जित पुण्यों से मुझे श्रीमहाराज जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ । ५ ॥

दिष्ट्या ? सुधीर्ममदृशोरतिथिः स माया-
दत्तानुजोऽभवदहो ? किमु वर्णयामि ।
प्रासङ्गिकेन विधिनाऽखिलमेव पद्मा-
दत्तो न्यवेदयत नारवरं सुवृत्तम् ॥ ६ ॥

उस समय के लिए वधाई है कि जव श्रीपण्डित मायादत्तजी पर्वतीय के छोटे भाई श्रीपद्मादत्तजी मिले और उन्होंने प्रसङ्गोपात नरवर श्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालय का शुभ वृत्तान्त मुझे सुनाया । ६ ॥

भागीरथीपरिसरादुपरिस्थलेषु
श्रीमानदृश्यतकुटीरकृताधिवासः ।
पीयूषवर्षिणि दृशोर्विषये तदीये
स्नातं मया सफलतासुखसिन्धुभूयम् ॥ ७ ॥

श्रीगङ्गाजी के मैदान के ऊपरी हिस्से में अपनी कुटिया के अन्दर सुशोभित श्रीमहाराज जी का प्रथम वार मैंने दर्शन किया और अमृत वरसाने वाले उनके नेत्रों की सञ्चार-स्थली में स्नान करके अपने आपको सफलता सुख का समुद्र समझा । ७ ॥

आस्वाद्य तन्मुखसरोरुहनाभिनाला-
दभ्युत्थितां मधुझरीं सुखमन्वभूवम् ।
न्यश्च्योति चन्दनरसः श्रवणे सरिद्वा
प्रावर्ततामृतमयीत्यभवद्वितर्कः ॥ ८ ॥

उनके मुखकमल के नाभिनाल (शब्द की पश्यन्ती अवस्था के स्थान) से उत्पन्न हुई मिठास की वर्षा को चाखकर बड़ा ही सुख हुआ और ऐसा प्रतीत हुआ कि कानों में चन्दन का रस निचोड़ा गया है, अथवा अमृत की नदी ही कानों में वह रही है । ८ ॥

दृष्टा बहुत्र विविधाः श्रुतकीर्तयोऽपि-
स्वाध्यायसंयमतपःपरिपूतदेहाः ।
सन्तः परन्तु नहि कुत्रचिदीदृशीं ता-
माकर्षणीं वशकरीं सुषमामपश्यम् ॥ ९ ॥

अव तक मैंने बड़ी-बड़ी प्रशंसाओं के पात्र स्वाध्याय, संयम और तपस्या से पवित्र शरीरवाले अनेक महात्माओं का दर्शन किया, किन्तु इनकी जैसी मन को खींचकर वशमें करनेवाली शोभा कहीं नहीं देखी । ९ ॥

कर्पूरगौरमतिसुन्दरमञ्चितभ्रु
भस्माङ्कितं वपुरविस्मरणीयशोभम् ।
तत्र श्रियं नयनतृप्तिकरीमपुष्यत्
स श्वेतिमा च दशनेषु शिरोरुहेषु ॥ १० ॥

मोती सी चमकती हुई दन्तपंक्ति और शिरपर चमचमाते हुए श्वेतवर्ण के केश जिनकी शोभा में चार चांद लगा रहे थे ऐसे इनके धनुषाकार भौहों और भस्म से विभूषित कपूर के समान अत्यन्त गौर-वर्ण सुन्दर सुडौल शरीर को कैसे भुलाया जा सकता है । १० ॥

यज्ञोपवीतमतिशुभ्रमुदग्ररश्मि,
स्कन्धावलम्बितमभूदुपमादरिद्रम् ।
स्वच्छं च तद्वसनयुग्ममलङ्करिष्णु
प्राकर्षयच्छविममुष्य सुशीलमूर्त्तेः ॥ ११ ॥

कन्धे पर लटके हुए अति स्वच्छ यज्ञोपवीत की चमक को उपमा नहीं मिल रही थी । नीचे और ऊपर के दोनों उजले वस्त्र विनम्रता-सुशीलता से मुखरित इस मधुर मूर्ति को और भी अलंकृत कर रहे थे । ११ ॥

किं भूयसाऽवयवशः शुभलक्षणानि,
शारीरिकाण्यकथयँश्चरितानि तानि ।
हृद्यानि यानि वयमद्य भृशं स्मरामः,
सङ्कीर्त्य कर्हिचन धन्यतमा भवामः ॥ १२ ॥

अधिक क्या कहें ? शुभ लक्षणों से युक्त शरीर का प्रत्येक अवयव ही उनके पवित्र चरित्रों का एक सूची-पत्र था । अब हम सब उन चरित्रों को याद करते रहते हैं और प्रसङ्गवश कभी उनका कथना करके भी धन्य होते हैं । १२ ॥

सोढुं न यद्यपि तदीयवियोगदुःखं
शक्यं कथञ्चन तथापि किमत्र कुर्मः ।
सोढव्यमेव विधिना यदलेखि तस्मा —
दायान्तु तद्गुणगणं परिशीलयामः ॥ १३ ॥

यद्यपि उनका वियोग-दुःख किसी भी प्रकार सहन नहीं हो रहा है, फिर भी क्या करें ? विधाता का लेख सहन ही करना है । इसलिए आओ,अब सबमिलकर उनके गुणों का कुछ चिन्तन करें । १३ ॥

चीर्णं तपोऽत्रभवता कियतादरेण —
त्येतत्स्फुटं नवनिधिः समबूबुधन्नः ।
तानि व्रतानि कठिनानि महत्तपस्तत् —
तत्सौमनस्यमपिचेत्यवदत्स सर्वम् ॥ १४ ॥

नरवर-विद्यालय के इस स्थान पर अपने निवास के प्रारम्भ के दिनों में इन्होंने जैसी कठिन तपस्यायें की और फिर भी जिसप्रकार मुखकमल खिला ही रहता था, उस सबके प्रत्यक्षदर्शी श्री पं० नवनिधिजी सुनाया करते थे । १४ ॥

पापापहारिणि सुरासुरगीतकीर्त्तौ,
गङ्गातटे प्रकृतिदत्तमहिम्नि तावत् ।
गीर्वाणगीरसिकसज्जनसेव्यमानो —
विद्यालयः प्रथमतोऽस्य निरीक्षणीयः ॥ १५ ॥

देवता, दैत्य आदि सभी से प्रशंसनीय प्राकृतिक शोभा-सम्पन्न, पापों को काटनेवाली श्रीगङ्गा माता के तट पर संस्कृत-वाणी के प्रेमियों से सुसेवित इनका विद्यालय सर्वप्रथम देखने योग्य है । १५ ॥

रत्नाकरोऽयमुदितो द्युसदां स्पृहायै,
संस्मारयन् मुनिजनोचितवासतेयीः ।
रत्नानि यानि विलसन्ति विलक्षणानि,
संक्षेपतोऽहमिह संकलयामि तानि ॥ १६ ॥

वनों में रहनेवाले ऋषि-मुनियों के पुराने आश्रमों की याद दिलानेवाला यह विद्यालय देवताओं को उत्कण्ठित करने के लिए एक रत्नाकर ही उदय हुआ है । इसमें से जो विलक्षण रत्न प्रकट हुए हैं, उन्हीं का मैं संक्षेप में सङ्कलन करता हूँ । १६ ॥

एकोनविंशतिशताधिकषष्टिपूर्त्तौ
श्रीमत्यनल्पगुणशालिनिवैक्रमेऽब्दे ।
केनापिपुण्यनिवहेन महीसुराणां
प्राप्तोऽयमत्र विजने महतीं प्रतिष्ठाम् ॥ १७ ॥

शुभ गुणों से युक्त विक्रम-संवत् १९६० में ब्राह्मणों के किसी विशेष पुण्य-फल के रूप में इस एकान्त स्थान में यह विद्यालय प्रतिष्ठित हुआ । १७ ॥

दैवादिहैव वरणीयवरिम्णि वर्षे,
जन्मालभन्त सुधियो विजयप्रकाशाः ।
येषां प्रधानपदमाप्तवतां पवित्र —
माचार्यकं विजयतेऽद्य भुवीदमीयम् ॥ १८ ॥

दैवगति से इसी शुभ सम्वत् में जिला बुलन्दशहर के 'परवाना' ग्राम में श्री पं० विजयप्रकाशजी के रूप में एक विद्या का स्रोत प्रकट हुआ । इन दिनों जिसके कारण इस विद्यालय का प्रधानाचार्य पद अपनी अद्भुत छटा से जगमगा रहा है । १८ ॥

द्वित्रा इतोऽपि पुरतः पदमध्यतिष्ठन्
नेतन्न तद्धुरसहा अभवन् परन्तु ।
संयोग एष रचितो विधिनैव योग्यो,
नारायणं वहतु को गरुडं विनान्यः ॥ १९ ॥

इनके पूर्व दो-तीन महानुभाव इस पद पर प्रतिष्ठित हुए, किन्तु इस भार को वहन करने में समर्थ नहीं हुए। इनके साथ इस विद्यालय का वैध सम्बन्ध है; गरुडजी के अतिरिक्त नारायण को उठाकर लेचलने की सामर्थ्य किसमें है ? । १९ ॥

यच्छेमुषीमुकुरभित्तितलेष्वकस्माच् —
छास्त्राणि सर्वविषयाणि परिस्फुरन्ति ।
यच्छात्रसम्पदधिभारतमुल्लसन्ती,
धत्ते पदं शिरसि कस्य न वेदशत्रोः ॥ २० ॥

उज्ज्वल आदर्श के समान इनकी निर्मल बुद्धि में सभी शास्त्र अपने आप प्रतिविम्बित होते रहे हैं। भारत में चमकती हुई इनकी छात्र-सम्पत्ति वेदों के अर्थों में उलट-पलट करनेवाले किन वेदशत्रुओं के शिरों पर पैर नहीं रखती। २०॥

सत्यव्रतेन गणमुक्तिपदस्थितेने —
न्द्रप्रस्थपण्डितसभे शतकोटियज्ञे।
दृप्तस्य कस्य शततर्कधुरन्धरस्य —
नाम्लीकृता दशनपंक्त्य आदरेण॥ २१ ॥

दिल्ली में शतकोटि-महायज्ञ के अवसर पर सम्पन्न होनेवाली पण्डित-सभा में भागीरथी संस्कृत महाविद्यालय गढमुक्तेश्वर जि० मेरठ के प्रधानाचार्य, इन्हीं के शिष्य पं० सत्यव्रतजी ने किन घमण्डी तार्किकों के दांतों को आदरपूर्वक खट्टा नहीं कर दिया। २०॥

आकारितः सदसि शास्त्रविचारणायै,
स्थानीयवैदिक मतव्र्‌ववावदूकैः।
यत्तच्छिरःस्वयमनृत्यदुपात्ततालम्,
तद्विस्मरिष्यति किमार्यसमाज एनम्॥ २२॥

गढ़मुक्तेश्वर में वैदिक धर्मावलम्वी होने की डींग-हाकने वालों ने जब इन्हें शास्त्रार्थ के लिए बुलाया और इन्होंने उनके शिरों पर तालियाँ बजाते हुए ठुमकियाँ लगाई, क्या वहाँ का आर्य-समाज इन्हें भूल जायेगा। २२॥

सा वैदुषी परिचितैव तथैव 'वांके —
लालस्य' सर्वविदितस्य सभामुखेषु।
यद्भाषणं समुचितो ननु शृण्वतः स्याद्
द्राक्षास्वनादर इमासु सितासु रोषः॥ २३॥

इन्हींके दूसरे शिष्य श्री पं० बांकेलाल जी हैं। सम्पूर्ण भारत की विद्वन्मण्डली इनकी विद्वत्ता का लोहा मानती है। प्रमुख सभाओं में इनका मधुर भाषण सुननेवाला मुनक्का का अनादर करता है और मिश्री पर रोष प्रकट करता है, यह बहुत ही उचित है। २३॥

गम्भीरभावगहनाभिरुदात्तशैली —
लालित्यसंवलितकोमलकोमलाभिः।
स्थानोचिताभिरपि कर्कशकर्कशाभिः
यद्‌गर्जनाभिरभितो रिपवः प्लवन्ते॥ २४॥

अर्थगाम्भीर्य और पदलालित्य से परिपूर्ण देशकालोचित कोमल और कर्कश इनकी वाणी के अनोखे ढंग देखकर विरोधियों के पैर उखड़ जाते हैं। २४॥

ईदृग्विधैर्बहुभिरादरणीयविद्यैः
पारेसहस्रमधिकाधिकलब्धवर्णैः।
शिष्यैर्यदीयचरणाम्बुरुहद्विरेफै-
र्देवादृता भरतभूमिरलंकृतेयम् ॥ २५॥

इस प्रकार और भी प्रतिष्ठाप्राप्त हजारों शिष्य इनके चरणारविन्दों के भ्रमर हैं। संसार में उनकी विद्या का आदर होता है और देवपूजित यह भारत-भूमि उनसे विभूषित है। २५ ॥

न स्याद्गुरुर्मम निबन्ध इतीह नाम —
ग्राहं न यन्निखिलकोविदकीर्तिरुक्ता।
ज्येष्ठानुपूर्व्यमुपलक्ष्यकनिष्ठपंक्ति —
राशास्यते परमहर्षमुपैष्यतीति ॥ २६ ॥

निबन्ध के बड़े होजाने के डरसे मैं उन सब विद्वानों का नाम ले-लेकर वर्णन करने में असमर्थ हूं। आशा है क्रम को लक्ष्य में रखकर अग्रजों का नाम-निर्देश होजाने से अनुजों को हर्ष की प्राप्ति होगी। २६ ॥

देवर्षिपित्रतिथिभूतगणोपकारि —
गार्हस्थ्यमाश्रितवतामियमीरिता दिक्।
शृण्वन्तु तुर्यमधुनाश्रममाश्रितानां —
नामानि नारवरसत्खनिहीरकाणाम् ॥ २७ ॥

यहाँ तक नरवर की खान श्री विजयप्रकाशजी से निकलने वाले देवता, ऋषि, पितर, अतिथि और प्राणिमात्रका उपकार करनेवाले गृहाश्रमी रत्नों का वर्णन हुआ। अब इस खान से प्रकट होने वाले चतुर्थाश्रमी रत्नों के नाम सुनिये। २७ ॥

षड्दर्शनीनिहिततत्पदपारदृश्वा,
विश्वेश्वराश्रमयतिर्विबुधैकवन्द्यः।
व्याख्यानपद्धतिसहस्रकरैश्चकासद् —
विद्यार्थिवर्गहृदयाम्बुजसूर्य आसीत् ॥ २८ ॥

सम्पूर्ण विद्वानों के वन्दनीय, षड् दर्शनों के तत्ववेत्ता श्रीस्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराज ही इन चतुर्थाश्रमी रत्नों की उत्पत्ति के मूल थे। यह सहस्रों प्रकार से की जानेवाली शास्त्रों की व्याख्या-किरणों से विद्यार्थियों के हृदय-कमल को खिलानेवाले सूर्य थे। २८ ॥

नैयायिकस्य हरदत्त इतीरितस्य,
पञ्चाम्बुकामृतसरोवसतेर्बुधस्य।
धीरोगमेष दययैव यथापनिन्ये —
सर्वत्र पण्डितसदस्सु तथा प्रसिद्धम् ॥ २९ ॥

अमृतसर पञ्जाब के रहने वाले नैयायिक-शिरोमणि पं० हरदत्तजी पर दया करके उनकी बुद्धि के विद्याभिमान रोग की जिसप्रकार इन्होंने चिकित्सा की थी, वह सभी विद्वानों के समुदाय में प्रसिद्ध है। २९ ॥

तच्छिष्यतामुपगतो भवदुःखभीतो —
वैराग्यरागरसिकावलिमौलिरत्नम्।
श्रीमान् महामहिमशालिगुणाभिरामः
श्रीविष्णुदत्त इति यः प्रथितः पृथिव्याम् ॥ ३० ॥

परमवैराग्यवान् पुरुषों के श्रेणी के शिरोरत्न, महात्माओं के सम्पूर्ण लक्षणों से परिपूर्ण श्रीविष्णुदत्त जी महाराज संसार से उद्विग्न होकर इनकी शरण में आये और इनके शिष्य बने। ३० ॥

विद्वान् विवर्जितसमस्तमृषाप्रपञ्चो-
मार्गेऽग्रणीः परमहंसशिरोमणीनाम् ।
आशाम्बरः स्वसुखवाञ्छितषट्सपत्नः
तत्त्वैकधीर्न्यवसदुत्तरकाशिकायाम् ।। ३१ ।।

इन्होंने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य इन छः शत्रुओं पर विजय प्राप्त की थी। मिथ्याप्रपञ्चका इस प्रकार परित्याग किया था कि इनकी कुटिया में इनके शरीर के अतिरिक्त कुछ न था और शरीर पर कौपीन भी न थी। यह उत्तरकाशी में रहते थे, तत्वनिष्ठ थे और परमहंसों के मार्गदर्शक थे। ३१ ।।

अन्योऽपिचास्य करपात्र इति प्रसिद्धः
शिष्यःप्रशस्तगुणपात्रमयं स एकः ।
यत्सूक्त्योद्रुतविलम्बितगीतिसौख्य —
सम्पादनेऽमृतरसोज्ज्वलनिर्झरिण्यः ।। ३२ ।।

प्रशंसायोग्य सभी गुणों के एकमात्र पात्र श्रीकरपात्रीजी महाराज भी इन्हीं के प्रिय शिष्य हैं। इनकी अद्वितीय योग्यता विश्वविख्यात है, इनकी सूक्तियाँ द्रुतविलम्बित छन्द के गायन का सुख देने में अमृतरस के प्रवाह की नदियाँ हैं । ३२ ।।

शास्त्रेष्वगाधधिषणस्य च राजनीतौ,
कोऽद्यास्य यः प्रतिभटो भवितुं समर्थः ।
मत्ताः स्वतन्त्रगतयोऽपि गजा अकस्माच् —
छ्रुत्वा स्खलन्ति खलु केसरिणो निनादम् ।। ३३ ।।

अन्य शास्त्रोंके समान राजनीति में भी इनकी प्रतिभा अव्याहतगति है। इनका विरोधी इस प्रकार इनसे डरता है,जैसे अंधाधुधं चाल से चले आरहे मदोन्मत्त हाथी शेर की दहाड़ सुनते ही लड़खड़ा जाते हैं। ३३ ।।

सोमाश्रमोऽप्यभवदस्य च शिष्य एको
दक्षः क्रियासु सकलास्वपि वैदिकीषु ।
तन्त्रान्तरेषु कवितासु च तेषु तेषु,
स्वातन्त्र्यमस्य विषयेषु विशालबुद्धेः ।। ३४ ।।

प्रभासभिक्षु नाम से प्रसिद्ध श्रीसोमाश्रमजी महाराज भी इनके शिष्य थे। यह दाक्षिणात्य थे और वैदिक तथा तान्त्रिक कर्मकाण्ड में पूर्ण कुशल थे। अन्य शास्त्रों के समान ही काव्यकला में इनकी विशाल बुद्धि का स्वातन्त्र्य था। ३४ ।।

शान्तो जितान्तरतया सरलः प्रकृत्या,
तत्त्वं विदन्नपि शनैर्मितभाषणश्च ।
अन्तेवसन्नभवदेष च तस्य राम -
कृष्णाश्रमो यतिवरो भवबन्धमुक्तः ।। ३५ ।।

मूर्तिमती सरलताका दर्शन कराने के लिए इनके एक और शिष्य श्रीरामकृष्णाश्रम जी महाराज की भी मुझे स्मृति हो रही है। बहुत ही थोड़ा बोलते थे ओर उसमें भी बीच-बीच में अन्तर्मुख हो जाया करते थे। वह जीवित अवस्था में ही भव-बन्धन में मुक्त हो गये थे और उनके मुखमण्डलपर शान्ति बरसती थी। ३५ ।।

अन्येऽपि सन्ति यतयो बहवोऽस्य शिष्याः
संसारसागरसुखाचमनेष्वगस्त्याः ।
नामावलिः कथमिवास्तु लघौ निबन्धौ —
तेषामिहेति शिरसा प्रणिपत्य याचे ।। ३६ ।।

संसार-सागर का सुखपूर्वक आचमन करने वाले अगस्त्य के समान और भी अनेक संन्यासी श्रीविश्वेश्वराश्रम जी महाराज के शिष्य हैं। इस छोटे निवन्ध में उन सब के नाम भी नहीं लिखे जा सकते, इसलिए उनके चरणों में शिर झुकाकर प्रणामपूर्वक क्षमा प्रार्थना करता हूं। ३६ ।।

शिष्यक्रमे व्युपरतेऽपि कथं प्रशिष्यः,
श्रीरामकृष्णयतिशिष्य इति प्रसिद्धः ।
विष्णवाश्रमो नरवरस्य स एकरत्नम्,
मल्लेखनीविषयतां न समभ्युपैतु ? ।। ३७ ।।

श्रीविश्वेश्वराश्रम जी महाराज के शिष्यों के नामक्रम का उपसंहार हो जाने पर भी उनके प्रशिष्य श्रीराकृष्णाश्रमजी महाराज के शिष्य श्रीविष्णुआश्रमजी का नाम-निर्देश इस लेख में अत्यावश्यक है। ये भी नरवर के एक अद्वितीय रत्न हैं। ३७ ।।

माधुर्य्यमस्य वचनेसु मुखे च कान्तिः,
शान्तिर्मनस्यतितरां विषये विरक्तिः ।
सद्भावनैर्धनिभिरप्यधनैः श्रितोऽयं,
सर्वेप्सितानि किल कल्पतरुः पिपर्ति ।। ३८ ।।

इनकी वाणी में माधुर्य है, मुखपर कान्ति है, मन में शान्ति है, विषयों के प्रति स्वभाव से ही वैराग्य है। श्रेष्ठ भावना को लेकर आनेवाले धनी और निर्धन सभी की इच्छा पूर्ण करनेवाले निश्चय ही यह कल्पवृक्ष हैं। ३८ ।।

श्रीब्रह्मचारिवरजीवनदत्तशर्मो —
पस्थापिता नरवरे खनिरद्‌भुतेयम् ।
कल्याणहेतुरखिलस्य च साङ्गवेद —
विद्यालयेत्यभिहिता भवतान्नितान्तम् ।। ३९ ।।

नरवर में श्रीजीवनदत्त जी ब्रह्मचारीजी महाराज के द्वारा स्थापति की गई साङ्गवेदमहाविद्यालय नाम वाली रत्नों की यह खान विश्वकल्याण का कारण बने। ३९ ।।

धन्या धरा प्रथमतो भुवनैकधर्त्री,
गङ्गातरङ्गपरिपूततरा ततोऽपि ।
तत्राप्यसौ जयति जह्नुकलिन्दकन्या —
मध्यङ्गता नरवरे पुनरद्‌भुतैव ।। ४० ।।

विश्वको धारण करने वाली प्रथम तो यह पृथ्वी ही धन्य है, श्रीगङ्गा की तरङ्गों से पवित्र होने पर और भी अधिक धन्य है, गङ्गा और यमुना के मध्य में इसकी और भी विशेषता है, सरस्वती के मिलजाने से नरवर में आश्चर्यमयी है। ४० ।।

इत्येवमेषपुरुषार्थचतुष्टयस्य
प्राप्तेर्निमित्तमथ तस्य महाविभूतेः ।
श्रीब्रह्मचारिचरणस्य दिवंगतस्य
संस्मारको भवतु मङ्गलराशये वः ।। ४१ ।।

इस प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का देनेवाला और महामहिमास्पद श्रीब्रह्मचारी जीवनदत्त जी महाराज का संस्मारक यह महाविद्यालय आप सबके कल्याणों की वृद्धि करे ।४१।।

विद्यालयाय सकलेप्सितसाधनाय,
दत्तं समस्तमपि जीवनमेव येन ।
तस्मात्प्रसिद्धमिदमुत्तमपुण्यधाम,
तस्य प्रियं जयति जीवनदत्तनाम ।। ४२ ।।

विश्वकल्याण के साधन इस विद्यालय के लिए अपना जीवन समर्पित करने वाले श्री महाराज जी का पुण्यधाम श्रीजीवनदत्त नाम जय को प्राप्त हो । ४२ ।।

संरोपितः क्षुप इवायमनेकयत्नैः
संवर्धितोऽपि च पुनः सुतनिर्विशेषम् ।
अस्माभिरप्यथ च भक्तजनैस्तदीयैः
संवर्धनीय इति संस्मरणं भवेत्सत् ।। ४३ ।।

छोटे पौधे के समान लगाये गये और पुत्र के समान पालन-पोषण के द्वारा बढ़ाये गये इस विद्यालय की उन्नति में प्रयत्नशील होना ही उनके भक्तों का उन्हें उचित याद करना है । ४३ ।।

येन स्थिरो भवति यत्र यथैष कीर्ति —
स्तम्भोऽस्य तत्प्रयतनीयमुपस्थितं नः ।
कार्याणि यानि पितुरर्धकृतानि तानि
पुत्राः कुलोन्नतिकराः पिपुरत्यवश्यम् ।। ४४ ।।

जहाँ जिसप्रकार उनका यह कीर्ति-स्तभ स्थिर है उसको वहां उसी प्रकार दृढ़मूल करना हमारा परम कर्तव्य है । सत्पुत्र अपने पिता के शेष कार्यों की पूर्ति किया ही करते हैं । ४४ ।।

विद्यालयस्त्वयमतिस्फुट एव साक्षा —
दालोक्यतेऽस्य विपुलं यश एव मूर्तम् ।
अन्यानि यानि शुभसंस्मरणानि तस्य,
गेयानि तानि कथमित्यवलोकनीयम् ।। ४५ ।।

यह विद्यालय तो उनका मूर्तिमान् यश स्पष्ट ही दीख रहा है । अब उनके-असंख्य शुभ संस्मरणों का गायन कठिन होने से दिग्दर्शन मात्र करें । ४५ ।।

स्नात्वा निरन्तरमसौ कुशविष्टरस्थो
रुद्राक्षभूषिततनुर्विहितत्रिपुण्ड्रः ।
यन्मन्त्रचिन्तनपरोऽपि गिरासुराणा —
मावश्यकं तदपिपोऽर्थिजनोपयोगि ।। ४६ ।।

श्रीमहाराज जी प्रतिदिन स्नान करके त्रिपुण्ड् धारण किये रुद्राक्षमाला पहने हुए कुशासन पर बैठकर जप करते समय भी संस्कृत बोल कर कार्यार्थियों की आवश्यकतायें पूरी करते थे । ४६ ॥

लोकोपकाररसिकस्य महाशयस्य,
नैजं न कार्यमभवत् किमपीति सत्यम् ।
नद्यः पिबन्ति न जलं न फलानि वृक्षाः
खादन्ति, साधुपुरुषव्रतमेतदेवम् ॥ ४७ ॥

लोकोपकार के रसिक इन महानुभाव का अपना कोई स्वार्थ न था । नदियाँ स्वयं जल नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते; महापुरुषों का व्रत भी इसी प्रकार है । ४७ ॥

रोगातुराः कति न तेन कृतप्रबन्धा —
मार्गव्ययादिभिरपि प्रतिपालिताश्च ।
व्यासादिवैद्यवरभव्यचिकित्सकेभ्यः
सम्प्राप्य मुक्तगदतामभवन् प्रसन्नाः ॥ ४८ ॥

श्री महाराज जी की कृपा से अनेक रोगी मार्गव्ययादि सुविधायें प्राप्त करते हुए आगरा आदि स्थानों में डा० व्यास आदि की चिकित्सा से रोग मुक्त होकर स्वस्थ होते थे । ४८ ॥

मिथ्याभियोगकलुषीकृतमानसाना —
मुद्धारहेतुमपि कञ्चन पश्यतां न ।
श्रीमन्तमेव शरणं समुपागताना —
मासीत्सहायकगणो व्रजभूषणादिः ॥ ४९ ॥

झूठे मुकदमों से सताये हुए भी अनेक सज्जन महाराज जी के कृपापात्र श्री व्रजभूषशरण जैटली आदि विशिष्ट-अधिकारी राजपुरुषों की सहायता पाकर चिन्ता मुक्त होते थे । ४९ ॥

आजीविकार्थमपि तत्रभवन्तमन्ये
भूयांस एव सततं स्म समाव्रजन्ति ।
तद्योग्यतामनुसरन व्यवहारदक्षः
तत्तत्प्रबन्धमुचितं कुरुतेस्म तेषाम् ॥ ५० ॥

आजीविका प्राप्ति के लिए भी अनेक पुरुष आते थे और व्यवहारकुशल महाराज जी उनकी योग्यता के अनुसार उनका यथोचित प्रवन्ध करते थे । ५० ॥

कन्यार्थिन कतिपये च वरार्थिनोऽपि
स्वां स्वां परिस्थितिमिमे बहु वक्तुकामाः ।
पृष्ठेऽस्य गन्तुरुपवेष्टुरथापि भोक्तुः
पुच्छायिताः समलभन्त मनीषितानि ॥ ५१ ॥

कुछ अपनी कन्याओं अथवा पुत्रों के विवाह के लिए विस्तार से अपनी परिस्थिति सुनाने के लिए खाते-पीते उठते-बैठते महाराज जी के पीछे पड़कर अपनी समस्या सुलझा लिया करते थे । ५१ ॥

एताः कथाः कथयितुं यदि विस्तरेण
वाञ्छेदलं नहि भवेदपि हायनेषु ।

तस्मात्समासत इमा उपवर्ण्य वृत्त —
मग्रेऽपि विस्तृतिभयेन्न न वर्ध्यामि ।। ५२ ।।

भिन्न-भिन्न रूप से इन कथाओं के सुनने में वर्षों का समय चाहिए, इसलिए संक्षेप से इन्हें सुनाकर विस्तार के भय से अगले वर्णन का भी उपसंहार किया जा रहा है । ५२ ।।

देवद्रुमः स जनताहितपूर्तिहेतोः
स्वर्गादिवातरदिहेति न संशयोऽत्र ।
दृष्टो रुदन्नुपगतः प्रहसन् गतः सन्
नासीत्स यस्य हृदयं न सुखाकरोत्सः ।। ५३ ।।

इसमें कोई संशय नहीं कि जनता के कल्याणार्थ इस भू-मण्डल पर श्रीमहाराज जी के रूप में कोई कल्पवृक्ष ही स्वर्ग से उतरा था । इनके पास जो रोता हुआ आया वह हंसता हुआ गया । ऐसा कोई न था जिसको इन्होंने सन्तुष्ट न किया हो । ५३ ।।

अद्याप्यसौ यदि निरावरणं निरीहं
वस्तुव्यवस्थितमनन्तमथाद्वितीयम् ।
वेदान्तवेद्यमखिलागमसाररूपं
प्राप्तस्तदा तु सुखसात्कुरुते पुनर्नः ।। ५४ ।।

यदि इन्होंने निगुर्ण ब्रह्म को प्राप्त किया है तब तो चराचर की आत्मा होकर आज भी हम सब को सुख दे रहे हैं । ५४ ।।

यद्येष निर्मलधिया विमलैस्तपोभिः
स्वच्छैरुदारचरितैः सगुणं जगाहे ।
तत्रापि नः स्मरति वाञ्छति नः सुखं सः
सर्वातिशायि हृदयं मृदु तस्य दृष्टम् ।। ५५ ।।

यदि सगुण ब्रह्म को प्राप्त हुए है तब भी वह हमको याद कर रहे हैं और हमारी सुख-समृद्धि चाह रहे हैं । हमने उनका हृदय सबसे अधिक सुकोमल अनुभव किया है । ५५ ।।

यत्राप्यमुष्य वसतिर्वयमप्यथैनं
तत्रैव भावकुसुमैः परिपूजयामः ।
वन्दामहे नतशिरोभिरुपास्महे तं
सर्वेश्वरं शिवमभीष्टसुखाय तस्य ।। ५६ ।।

अस्तु – वह जहाँ भी हों वहाँ ही हमारी इस श्रद्धा-कुसुमाञ्जलि को स्वीकार करें । हम उन्हें प्रणाम करते हैं और भगवान् शंकर जी से प्रार्थना करते हैं कि वह महाराज जी के मनोरथों को पूर्ण करें । ५६ ।।

—o—

संस्मरणम्

आचार्यप्रवर श्रीविजयप्रकाश शर्मा, नरवर

श्रीमदनन्तगुणगणार्णवानामनल्पकृपाकल्पलताललितान्तःकरणानां विवेकविधूदयवर्द्धमानशमाम्भोनिधीनां शान्तिस्रोतस्वनीपूरप्रशमितक्रोधाद्यनेकदोषहुताशनानां विद्यावधूजीवनानामपि नैष्ठिकब्रह्मचारिणामगृहारणामप्यङ्गीकृतानेकगृहभारणां वीतरागाणामपि प्रदर्शितानुरागाणांमहादानानामपि तिरस्कृतदानानां समेधितद्विजराजश्रीणामप्यपहृतद्विजराजश्रीणां सदासुरभीणामप्यसुरभीणां भवभेदतत्पराणामपि भवभेदरसिकानां श्रीमहाराजपादानाम् कथमिव किमप्याभिनन्दनिकं प्रस्तूयते

श्रीमज्जीवनदत्ताख्यं प्रणम्य परमेश्वरम्
तदीयां स्मृतिमाश्रित्य किञ्चिद्वक्तमुपक्रमे ॥ १ ॥

श्रीमतां पूज्यपादानां प्रयागे कुम्भपर्वणि ,
प्रथमं दर्शनं जातमस्मद्भाग्यविकासकृत् ॥ २ ॥

तदानीमङ्क्तावर्तः सकल्लोलः पदे पदे ,
प्रसन्नः सन्निधेरेषां तीर्थराजोऽप्यदृश्यत ॥ ३ ॥

हर्षकारणसामग्रोष्वग्र्यस्य सुषमानिधेः ,
संस्मरामि प्रदेशस्य तस्याद्यापि पुनः पुनः ॥ ४ ॥

तत्र ब्राह्म्याश्रिया जुष्टा ज्वलन्त इव तेजसा,
आश्वासमादधाना हि वर्णिनस्ते तदाऽभवन् ॥ ५ ॥

धन्या सा मधुरा वाणी धन्या सा मधुराकृतिः ,
धन्यः स वेषविन्यासो धन्यः स दिवसो हि नः ॥ ६ ॥

धन्यास्ते सुहृदोऽस्मांकं मधुसूदनशास्त्रिणः ,
विधित्वमुपगच्छद्भिर्यैरयं योजितो विधिः ॥ ७ ॥

तत्रैवासन् स्वामिवर्या यतिवृन्दाब्जभास्काराः ,
ख्याताः षड्दर्शनाचार्याः श्रीमद्विश्वेश्वराश्रमाः ॥ ८ ॥

समर्च्य चरणैरेतैः शास्त्रोयः प्रश्न उद्धृतः ,
श्रवणेन च नस्तुष्टा जातरूपपरिष्कृतेः ॥ ९ ॥

सपदि स्वीकृतिं दातुमध्यापकपदे मम,
आग्रहीषुर्महाराजपादानाकृष्टचेतसः ॥ १० ॥

धीरोदात्ता महाप्राज्ञा उदासीना इमे तदा,
आगतायां सुवेलायां ससम्मानं समाह्वयन् ॥ ११ ॥

मदनमर्दन! देववर! स्वयम्
मयि कृपां भगवन् सततं कुरु,
गुणविहीनशरीरभृतस्त्विदम्.
अननुकम्पनमाशुतुषोऽवरम् ॥ १२ ॥

कुलपतिमहिमवर्णनम्

श्रीगोविन्द वासुदेव ब्रह्मचारी शान्ति-आश्रम, बिहारघाट।

श्रीकीर्तिस्मृतिधर्म्यवाग्धृतिगुणामेधाक्षमासङ्गताः
जीर्णे यस्य कलेवरेऽप्यविचलागुर्वीं प्रतिष्ठामधुः
वश्या यस्य त एव संयमनिधेः सप्तैवनार्योऽभवन्
नम्रैर्मौलिभिरर्हणां वितनुमस्तस्मै तपोमूर्तये ॥ १ ॥

श्री, कीर्ति, स्मृति, सङ्गतवाणी, मेधा, क्षमा, धृति, ये सातों गुण जिनके जीर्ण शरीर में भी निश्चल तथा भारी प्रतिष्ठा धारण करते थे तथा वेही सातों गुण जिन संयमनिधि महापुरुष की स्त्री अर्थात् स्त्री-स्थानीय बन कर रहे, विभूतियोग में वर्णित ये सातों भगवद् विभूतियां स्त्री लिंग मात्र से ही स्त्रीत्वख्याति रखती हैं इनसे अतिरिक्त कोई भी स्त्रीपरिग्रह जिन महाराजपाद का आजीवन न रहा उन तपोमूर्ति महाराजवर के लिये हम सभी कृतज्ञ शिष्यगण विनम्र मस्तकों से अर्हणा-पूजा-वामङ्मयरूपिणी प्रस्तुत कर रहे हैं ॥ १ ॥

दक्षाद्धर्मविचारणासु परमानन्दोपदेशप्रदा —
त्तस्मादेवगुरोस्तरोरिवफलं प्रेक्षामहे पावनात्
मत्तालिव्रजसंनिभैरतितरामध्येतृभिः स्वादितम्
हार्दस्नेहरसप्लुतं सुरुचिरं श्रीवेदविद्यामृतम् ॥ २ ॥

धर्मविचारणाओं में दक्ष परमानन्द रूप उपदेश देनेवाले उन्हीं गुरुदेव से उत्तम वृक्ष के समान फल हम देखते हैं जिस हार्दिक स्नेहरस से परिप्लुत श्री वेदविद्यामृत फल को मतवाले भौंरो के सदृश विद्यार्थियों ने चखाया ॥ २ ॥

राजन्तेस्म मुखाम्बुजादिह यदुद्गाराः प्रमोदेषु ये
जह्यात् कोऽनुभवी स्थिरान् स्मृतिपथे तान् श्रेयसे प्रेयसे
वर्णी वर्णगुरुः सुवर्णसुषमो योऽवर्ण्यवर्णो बभौ
रम्यं जीवनवृत्तमर्घ्यमजरं तस्यास्तु भव्याय वः ॥ ३ ॥

प्रमोद में भी स्वाभाविक रूपसे जिन मुख से निर्गत उद्गार, स्मृति पथ में जो स्थिर रहे-कौन अनुभवी श्रेय एवं प्रेय के लिए (पारलौकिक एवं ऐहलौकिक) या कहिये लोकोत्तर तथा लौकिक सुख के अर्थ उन्हें अपनी याद से हटायेगा जो वर्णी — ब्रह्मचारी-वर्णगुरू-ब्राह्मण-सुवर्ण के समान सुन्दर अथवा सुन्दर धर्ममय अक्षरों के उद्गार से सुहावने अवर्णनीय कीर्तिवाले भले भाते थे। उनका रमणीय जीवन-चरित्र पूज्य, प्रशस्त, अजर अमर होकर आपको चिरकालतक कल्याण के लिए हो ॥ ३ ॥

कुक्षिर्मातुरपारभाग्यविभवा तस्यैव शस्ता जनिः
लब्धव्याः पदरेणवः स्वनिटिले तस्यैव शुद्ध्यै जनैः
पर्याप्ते विभवेऽपि यो न मलिनस्वार्थेन सङ्कर्षितः
तिष्ठन्नन्दति सच्चिदात्मनि सुखे सर्वोपकारव्रती ॥ ४ ॥

उनकी माता की कुक्षि अपार भाग्यवैभव वाली हैं, उन्हीं का जन्म प्रशंनीय है, अपनी पवित्रता के लिये उन्हीं की चरणरेणुका अपने मस्तक पर लोगों के धारण करने योग्य हैं जो परिपूर्ण, राजों से भी अधिक संमानित वैभव उपस्थित होने पर भी मलिन स्वार्थ से आर्कषित नहीं हुये, जो अपने सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा में ही-सर्वोपकारव्रतको निभाते हुए सदा प्रसन्न रहे हों ॥ ४ ॥

मध्ये संसदि भाषिणां सुविदुषां नाद्याप्यहो न्यूनता
होमे वाङ्मय एष मत्सरवलिर्दत्तोऽत्र नालोक्यते
दक्षं धर्मफलं च यत्प्रवचनं निर्मत्सरं शान्तिदं
यत्कार्यं व्यवहार्यमप्युभयथा तस्मै परस्मै नमः ॥५ ॥

सभा के बीच भाषण देनेवाले उत्तम विद्वानों की आज भी कोई कभी नहीं किन्तु जिसने वाङ्मय यज्ञ में मत्सर दोष को बलि चढ़ाया यहाँ इस काल में नहीं दिखाई पड़ता अर्थात् सुन्दर व्याखान में भी निर्मत्सर भाषण दुर्लभ है। परन्तु हमारे श्रीमहाराज जिनका प्रवचन-दक्ष कुशलता पूर्ण-धर्मरूप फलवाला-निर्मत्सर अन्य सत्पुरुषों को उत्कर्ष देकर स्वयं निरभिमानस्वरूप एवं श्रोतागणों को शान्ति देने वाला रहा और जिनके व्यावहारिक कार्य भी इसी प्रकार जैसा कि भाषण वैसा ही था दोनों समान ही (मनस्येकं के बाद वचस्येकं कर्मण्येकं) थे उन लोकोत्तर गुणवाले महापुरुष के लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

साङ्गत्यं कुरु लोकपावनगिरां पुण्यात्मनां तादृशां
गर्ह्यां संसृतिमुज्झमानसपशो नृत्वं बुधत्वं भज।
वेशे वाचि कृतौ हृदिश्रयशुभामेकां हितां स्वस्थितम्
दग्धं माकुरुलोकमैहपरकं दुर्बोधदावानलैः ॥ ६ ॥

हे मानस पशो ! अर्थात् स्वेच्छाचार में वर्तनेवाले पशुप्रकृति वाले जन मानस ! उन जैसे ही पुण्यात्म-लोकपावनवाणी वाले महापुरुषों की संगति कर, आज की प्रचलित शस्त्रनिन्दित लोकपरिपाटीको छोड़। और सच्चा नर, और बुध — सदसद् विवेको पंडित बन। वेशे वाचि कृतौ हृदि — वेश में वाणी में कर्म में हृदय में एक ही पारमार्थिक सच्चेहितभरी मंगलमयी मर्यादा को अपना। इस लोक एवं परलोक को दुर्बोध दावानलों से मत दग्ध कर डाल ॥ ६ ॥

विश्वासो निगमागमार्थनिकरे निष्ठा तदुत्थाकृतौ
द्यावाभूमिगतासु मृत्सु शुचिधीः स्वात्मैव नान्यः परः
लक्ष्ये ब्रह्मणि दीव्यतामिति गुणैः शक्योऽस्त्यविद्यालयः
यत्रायं स विभाति साङ्गमहितश्रीवेदविद्यालयः ॥ ७ ॥

वेदशास्त्र के अर्थों में विश्वास हो, उससे प्राप्त निष्ठा कर्म में आवे, द्यावाभूमिगत प्राणियों में पवित्र आत्म बुद्धि, सर्वत्र अपना आत्मा ही ओतप्रोत है और कुछ नहीं। लक्ष्य ब्रह्म में ही क्रीड़ा करनी चाहिये, इन्हीं उत्तम गुणों से जिसमें आकर अविद्या का नाश हो सकता है। इसी उद्देश्य से श्रीमहाराज जी का स्थापित सांङ्गवेद विद्यालय बड़ा सुहावना है ॥ ७ ॥

नस्याद् भारतभूररत्नजननी न स्यादवेदज्ञता
रम्येऽर्थे विपरीतधीर्न रुचये वैदेशिकी सभ्यता।
वर्मेदं दृढभावनात्मकमहो धृत्वैव शर्मार्हति
रक्ष्यं ब्रह्मकुलं त्वनेन निहितो विद्यालयो राजताम् ॥ ८ ॥

यह भारत भूमि रत्न प्रसवा हो, अरत्नों को न जने। वेदों के ज्ञान का अभाव नहो। उत्तम कल्याण-कारी अर्थ में विपरीत बुद्धि न हो। विदेश से प्राप्त सभ्यता अशास्त्रीय रूचिकर न होने लगे। इसी सुन्दर दृढ़ भावना रूप कवच को धारण करके ही लोक का कल्याण हो सकता है। इन्हीं भावनाओं सेब्राह्मण कुल की वास्तविकता की रक्षा हो सकती है इस उद्देश्य से इन श्रीमहाराजपाद का स्थापित विद्यालय संसार में शोभाशाली हो ॥ ८ ॥

शुभ्रो भ्राजतु भारते कुलपतेर्भावात्मकोऽयं निधिः
भायान्मत्सररागदोषरहितः कार्यात्मकोऽस्मिन्विधिः।
श्रव्यं दृश्यमपेक्ष्य धर्म्यममलं यस्यास्ति तत्स्मारकं
मत्तेभानिव दुर्ग्रहान् दलयताच्छार्दूलविक्रीडितैः ॥ ९ ॥

हमारे कुलपति महोदय का यह सद्भावों का प्रतीक विद्यालयरूप निधि उज्ज्वल होकर भारत में चमके तथा कार्यात्मक विधि — व्यावहारिक मौलिक कार्य क्रम, मत्सरराग दोषों से रहित हो। सुनने में एवं दर्शन में भी धर्म का हो पथ बतलाने वाला निर्मल जिनका यह विद्यालय रूप स्मारक है वह-लोक में अकल्याणकारी दुर्ग्रहों को दुर्मतवादों के प्रचारों को मतवाले हथियों को जैसे सिंहों की खिलवाड़ मार देती है वैसे ही शार्दूलविक्रीडितछन्द या सिंहों जैसीवीरता धार्मिकप्रचार भरी क्रियाओं से विदलित करें ॥ ९ ॥

श्रीजीवन-विजयः

श्री बांकेलाल त्रिवेदी, नरवर

जयत्यजस्रनैष्ठिकव्रतोदयेन्दुकौमुदी—
द्युतिद्विजो द्विजाग्रगो जिताऽखिलेन्द्रियाशयः।
सदाशयो महान् सुधीः सुधीजनैकजीवनः।
जयत्यशेषलोकशोकहारिदिव्यजीवनः ॥ १ ॥

श्रौताचारपरम्पराप्रतिनिधिः सौजन्यवारान्निधिः
क्लेशक्लान्तजनावनैकनिपुणः कारुण्यपूर्णो विधिः
शास्त्रार्थाधिगमप्रधानसुधियां साधीयसी सिद्धिभूः
कोप्येको जयति प्रकृष्टतपसां राशिर्जगज्जीवनः ॥ २ ॥

यदीयतपसां निधिर्बुधजनैः सुरत्नैर्वृतः
यदीयवचसांततिः सुलभसिद्धिरेवापरा।
जितेन्द्रियजनार्चितं प्रचुरपुण्यपुञ्जोदयम्
अनेकजनजीवनं विबुधजीवनं संश्रये ॥ ३ ॥

सदाश्रीमद्गङ्गाजलविमलमालोकशिवदम्
हरन्नन्तस्तापं श्रमितवपुषां संसृतिजुषाम्।
मुषन्निःशेषांहोविशदतपसामास्पदमिदम्
न केनाराध्यन्नोविमलमनसां जीवनधनम् ॥ ४ ॥

यज्जीवनं जगदघौघहरं पवित्रं
मित्रं द्विजत्वसंरक्षणसक्षणानाम्।
अज्ञानविप्लवनकर्मणि सुप्रसिद्धं
सिद्धं विशुद्धजनजीवनमाश्रयामः ॥ ५ ॥

सुरसरीवरतीरविराजितं
सुरगिरां रमणीयनिकेतनम्।
यदपरं वपुरेव समुज्ज्वलम्
जगदिदं समलङ्कुरुतेऽनिशम् ॥ ६ ॥

यदाल्लोकतो लोककल्याणपण्यम्
प्रशस्तं सदाचारचारुप्रचारम्।
सवेदाङ्गसाहित्यसौहित्यपूर्णम्
सदाजीवनं जीवनं तन्नमामः ॥ ७ ॥

श्रीमज्जीवनवारिधिर्निधिरसौ सत्सूक्तिपंक्तिस्फुरन्—
मुक्तानामनवद्यहृद्यविपुलप्रद्योतिविद्यामणिः।
क्षान्तिः शान्तिधृतीदयेति सरितामेकान्तविश्रान्तिभू—
र्भूयान्नः सततं द्विजेन्द्रमकरश्रेणीश्रयः श्रेयसे ॥ ८ ॥

श्रीजीवनप्रशस्तिः

श्री सत्यव्रत शर्मा, गढ़मुक्तेश्वर, मेरठ

सुरनदीपरिपूतमहावने सकलयज्ञजपादिफलप्रदे ।
सततहिंसकजीवगणैर्वृतो नरवरो रवरोषभयङ्करैः ॥ १ ॥

समजनैर्विदितोऽस्ति महाश्रमः सुपवनैरपनीतमहाश्रमः ।
विविधसाधकसिद्धगणैर्युतः सुसफलैः सफलैस्तरुभिश्चयः ॥ २ ॥

अथ विरोधपरान्परिसान्त्वयन् मृदुदृशैवचतांस्तरुणो मुनिः ।
व्रतधरः किल तत्र समाययौ विचरितुं चरितुं च महत्तपः ॥ ३ ॥

सकलसज्जनजीवनभूतया निजगदेऽभिधया स महाश्रिया ।
शुभदजीवनदत्त इति श्रुतो गुरुवरोरुवलोमहतो महान् ॥ ४ ॥

पठनपाठनशीलजनाय वै बहुलवस्तुचयं खलु दापयन् ।
सदसि तद्गुणवृत्तमहोगृणन् समुदितो मुदितोजनसन्निधौ ॥ ५ ॥

चिरजितेन्द्रियतां परिपालयन् यमितमानसवृत्तितया स्थिरः ।
सवितृमन्त्रनिधिं मनसा स्मरन् जपरतो परतो निरपेक्षकः ॥ ६ ॥

दिनकरे दिनमध्यगते सदा स्वयमुपागतवित्तकृतांन्धसा ।
सुलभगाङ्गजलैश्चमनोहरैरशनवृत्तिपरोऽतिपरोऽभवत् ॥ ७ ॥

महासाङ्गवेदादिविद्यालयेशो यशोमण्डलैर्यस्य संपूरिताभूः ।
चतुर्वेदविन्नैष्ठिको ब्रह्मचारी बभावाश्रमे श्रीमहाराजपादः ॥ ८ ॥

सकलागममर्मपारगान् निजवर्णाश्रमधर्मरक्षिणः ।
विविधान् खलु पण्डितानसौ भुविकृत्वापदमापशाश्वतम् ॥ ९ ॥

चैत्रेऽसितेगुरुदिने च तिथौ दशम्यां नेत्रेन्दु विष्णुपदलोचनवैक्रमेऽब्दे
सर्वान् विधाय रुदतो निजनाथशून्यान् हा हा गुरुर्द्विजवरोऽस्तमुपागतो नः ॥ १० ॥



वन्दना प्रसूनाञ्जलि

वियोगसंतापतप्ताः सहयोगगिनोऽध्यापकाः छात्राश्च

सोऽयं प्रातःस्मरणीयपूज्यपादपद्मानाममितसद्गुणगणगरिमान्वितानां नित्यनैमित्तकाम्यकर्मानुष्ठानपरिनिष्ठितानां महति श्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालये सुचिरमुपाचार्यपदप्रतिष्ठितानामाजन्मश्रीमज्जीवनचरणेषु समुपासनस्वभावानां तदीयतपःप्रसादोपगतवैदुष्यप्रकटानुभावानां यावज्जीवमधीते विप्रइति अन्वर्थं विप्राख्याविख्यातमुख्यानां पुत्रपौत्रदौहित्रप्रभृत्यैहिकाखिलसौख्यकृतसामुख्यानां स्वर्गकामो यजेत इति श्रुतिरिति गृह्याग्निमाधाय सावधानमाजीवमाजीवं तमेव मन्यमानानां तत्सन्निधानसमधिगतधीभिरनेकैः सुधीभिरन्तेवसद्भिरन्तःकरणे निरन्तरमाराध्यमानानां सर्वथाप्यैहिकजातजातानुरागं विगमय्य लोकत्रयतारणपटीयस्याः सुरसरितस्तटे समलंकृतस्य विद्वज्जनाराध्य सुधीरप्रवरनैष्ठिकव्रतधरविप्रवरश्रीमज्जीवनदत्तोपज्ञस्य निःशेषशास्त्रपरिशीलनशेमुषीजुषां महाविदुषां गुरुवर श्रीविजयप्रकाशशर्ममहाभागानां समधिकश्रमेणसमुद्भूतानेकदेशिकप्रवरस्य बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गतनरवरस्थश्रीसाङ्गवेदाश्रमस्य वरिष्ठताप्रतिष्ठितसेवनकर्मणोवात्मानंधन्यविदधानानामस्मत् पितृकल्पानां नश्वरं पार्थिवं शरीरमपहाय नित्यप्रतिष्ठितयशःशरीरेणास्मिन्नाश्रमे सततकृतसन्निधानानामाहिताग्नि स्वर्गस्थश्रीमत्पाठकोपाह्वश्रीपूज्यनवनिधिशर्ममहाभागानां श्रीचरणयोः सादरं सश्रद्धञ्च समर्प्यते ।

श्रीमत्पाठकवंशभूषणमणिः स्वाचारचिन्तामणिर्
मूलव्याकृतिपण्डिताः नरवरश्रीजीवनांघ्रिश्रिताः
श्रौताचारविचारचारुचरितः स्मार्ताग्निनित्यव्रता ।
राजन्ते गुरुकल्पका नवनिधिप्रख्याः स्वलोकस्थिताः ॥ १ ॥

यस्माज्जातमिदं सदंशविशदं देदीप्यमानं जगत
तं सर्वात्मगतं मतं सुकृतिनामग्निश्रिताः कर्मिणाम्
देवं दिव्यगतिप्रदं तदधुना दिव्यां गतिं प्राप्नुवन्
नः सौभाग्यविधानबन्धुरधियः स्वर्गे विराजन्त्वमी ॥ २ ॥

धन्या येऽखिलजीवने सुकृतिनि श्रीजीवनस्याश्रमे
श्रीमज्जीवनसंनिधौ सुरगवीदोग्द्धृत्वमद्धा गताः
ब्राह्मण्यं सफलीकृतं निजजना निर्व्याजमाराधिताः
तेनो मान्यवराविदां गुरुवरा राजन्तु लोके स्वके ॥ ३ ॥

यैरेषा विटपावली निजकरैरारोपिता रक्षिता,
नाना पुष्पफलान्विता च सततं सानन्दमासेविता ।
श्रीमज्जीवनकानने नवनिधीनाधातुमेवागतास्
तान् भूयो निजलोकगान् नवनिधीन् नित्यं नुमः श्रेयसे ॥ ४ ॥

श्रद्धाञ्जलिविधानेन बालचन्द्रस्य सूक्तयः ।
श्रीमत्पाठकपादानां संभूयासुः प्रसत्तये ॥ ५ ॥

जीवन--जीवनम्

श्री छज्जूराम सारस्वत, खुर्जा

गजास्यं स्मेरास्यं सुकृतिजनतातापहरणम्
दधानं भृङ्गालिं मदविलुलिते गण्डपटले।
तमोराशिं शीघ्रं चरणपतितानां हृदयतः
विदूरीकुर्वन्तं तमिह कलये चित्तनिलये ॥ १ ॥

सर्वप्रथम मैं उन गजानन भगवान को हृदयागार में विराजमान करना चाहता हूं जो प्रसन्नमुख हैं। पुण्यात्मा जनता के ताप-त्रय को दूर कर देते हैं, जिनके मदाप्लुत गण्डस्थलों पर भ्रमरावली मंडरा रही है तथा जो शरणागत भक्तों के हृदय से शीघ्र ही अज्ञानान्धकार को दूर कर रहे हैं। १ ॥

हृदा शान्तान् स्वान्तेवसदुदयकामाय सहसा
ह्यगाधं विद्याया उदधिमपि गाधं विदधतः।
चिदानन्देऽद्वन्द्वे विगतविकृतौ ब्रह्मणि परे
प्रकाशान् प्रत्यक्षं विजयसहितांस्ताननुभजे ॥ २ ॥

गणेश-वन्दना के पश्चात् मैं अपने चरम विद्यागुरु पदवाक्यप्रमाणपारावारीण श्री विजयप्रकाश जी गौड़ का हृदय से स्मरण करता हूँ। वे शान्त स्वभाव हैं परन्तु फिर अपने अन्तेवासियों की हित-कामना से उतावले हो जाते हैं। अगाध विद्यावारिधि को भी आसानी से विलोडित कर देते हैं। द्वन्द्वातीत निखिलविकारशून्य चिदानन्दपरब्रह्म के जो साक्षात् प्रकाशक हैं, विजय उभयथा जिनके साथ रहती है। २ ॥

वसन्ती भूलोके सुतयति चिरं स्माभर्कदले
समर्चाचर्चादौ पतिसहचरी फुल्लवदना।
ह्यपर्णा सावित्री जनकतनया वा पतिपरा
सदाचार्यानी सा वसति हृदये कौशलसुता ॥ ३ ॥

आचार्य स्मरण के पश्चात् मैं उनकी धर्म-पत्नी अपनी माता आचार्यानी स्वर्गीया कौशल्यादेवी का स्मरण करता हूं जो मर्त्यलोक में रहती हुई छात्र-वृन्द पर सुतनिर्विशेष स्नेह करती थी। प्रसन्ना मुद्रामें आचार्यजी की सेवा-शुश्रूषा, पूजा-सामग्री आदि चयन में सर्वदा सहयोग देती थी। पतिव्रताओं में साक्षात् पार्वती, सावित्री तथा सीताजी के समान थीं। उनकी स्मृति सतत हृदय में बनी रहती है ॥ ३ ॥

तमोव्रातं शान्तं निजवचनचन्द्रस्य किरणैः
प्रकुर्वन्तं सन्तं करयुगलपात्रं हरिहरम्।
परानन्दं लोके निगमवचसां व्यापकवरम्
नमामो योगीन्द्रं यतिवरगुरुं नूतनहरम् ॥ ४ ॥

इसके पश्चात् मैं करपात्र-स्वामी की वन्दना करता हूँ। वे अपने व्याख्यान के द्वारा अज्ञानान्धकार को शान्त कर देते हैं। करपात्र नाम से प्रसिद्ध हैं, वास्तविक नाम हरिहरानन्द सरस्वती है। वे वेदों के उत्तम व्याख्याता सन्यासी-श्रेष्ठ एवं नूतन शङ्करावतार हैं। ४ ॥

सदा क्षात्रं तेजो दधदपि हृदा ब्राह्मणवरः
सपत्न्या दुर्गायाः पयसि सततं दत्तनयनः।
रमायाः पत्युश्च प्रतिसममनुष्ठापितकथः
स लालोनन्दादिर्विशति सहसा मानस-पथम् ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् मैं उस तेजस्वी ब्राह्मण का स्मरण करता हूं, जिसका नाम चौधरी नन्दलाल था और जो उत्तम ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रियों के समान तेजस्वी थे। अपने निवास से निरन्तर गङ्गाजो के दर्शन करते थे और प्रति वर्ष श्रीमद्भागवत का अनुष्ठान करते थे। ५ ॥

महाराजश्रीणां हृदयमपरं नेत्रपथगम्
अगाधं पाण्डित्यं नरवरधरायास्तनुधरम्।
सदाचाराचार्यं हरिहरगुरुं प्राचिसमये
नुमस्तच्छ्रीविश्वेश्वरचरणपाथोजयुगलम् ॥ ६ ॥

अब मैं दण्डी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज के चरण-कमलों को प्रणाम करता हूं। वे महाराजजी के द्वितीय हृदय थे। नरवर के पाण्डित्य की साक्षात् मूर्ति थे और सदाचारों के आचार्य एवम् ब्रह्मचर्यावस्था के करपात्र स्वामी जी के गुरु थे। ६ ॥

त्वदुत्सङ्गे गङ्गे! नरवरधरायां निवसता
मया नीतः कालो बहुसुखमयः पुण्यबहुलः।
अतोऽहं सम्मन्ये क्षपितकलुषं स्वं भगवति!
यदीदं सत्यं मां नय सुचरणौ स्वौ पुनरपि ॥ ७ ॥

मैं गङ्गा जी की प्रार्थना करता हूँ। हे गङ्गे माता नरवर आश्रम में आपके समीप रहकर मैंने बहुकाल सुखमय तथा पुण्यमय बिताया। अतः मैं स्वयं को निष्कलङ्क समझता हूँ। यदि तू भी माता मेरी बात का समर्थन करती हो तो फिर मुझे अपने चरणों में ले ले ॥ ७ ॥

न मन्ये विद्वांसं प्रथितयशसं स्वं न च तथा
तपस्यन्तं सन्तं विगलितविकर्मैकनिचयम्।
अथाप्यस्मिन्पुण्ये कुलपतिगुणग्रामकथने
वचः पूतीकर्तुं भवति सततं मे शुभरुचिः ॥ ८ ॥

मैं न तो स्वयं को प्रसिद्ध विद्वान् समझता हूं और न निष्पाप तपस्वी महात्मा तथापि कुलपति के पवित्र वर्णन से वाणी को पवित्र करने की अभिलाषा है ॥ ८ ॥

यदाजिलालीगढान्तर्बरौलीनगर्याम्
सपर्यां जनानां हृदा सन्दधानः।
नृपः कर्णसिंहश्शशासात्मवर्गम्
द्विजः प्राणनाथस्तदातं गुरुः सन् ॥ ९ ॥

जिस समय अलीगढ़ जिले के बरौली नगरमें राव कर्णसिंह शासन करते थे उसी समय एक प्राणनाथ नामक ब्राह्मण कर्णसिंह राजा के पुरोहित थे। राव साहब उन्हीं की सत्सम्मति से प्रजा का शासन चलाते थे। और प्रजा के सेवा-व्रत को हृदय से धारण किये हुए थे और प्रजा भी उनका हृदय से सम्मान करती थी ॥ ९ ॥

स रामप्रसादं सुतं पुण्यकर्मा
सुधर्मापतिः स्वौरसं वा जयन्तम् ।
अवाप स्वपत्न्यां चिकित्साप्रधानः
हितं चापि पत्युर्नराणान्दधानः ॥ १० ॥

वे प्राणनाथजी चिकित्सालय के साथ-साथ राव कर्णसिंह का पौरोहित्य भी करते थे । जैसे सुधर्मापति इन्द्र ने अपनी पत्नी में अपने औरस पुत्र जयन्त को प्राप्त किया वैसे ही श्रीप्राणनाथजी ने अपनी धर्मपत्नी में श्री रामप्रसाद नामक पुत्र को प्राप्त किया ॥ १० ॥

स रामो मल्लानां निपुणतरकर्मापि सततम्
शिशिक्षे स्वाद्धेतोर्जनगतसुखाभावहरणम् ।
विपश्यन्तो लोके निजमिव परञ्चापि मनसा
प्रवर्तन्ते स्वार्थान्नच कथमपि द्वन्द्वगहशा ॥ ११ ॥

श्रीरामप्रसादजी यद्यपि अच्छे स्वास्थ्य वाले थे तथापि उन्होंने मनुष्यों के दुःखों को दूर करने का उपाय "आयुर्वेद शास्त्रानुसार चिकित्सा" अपने पूज्य पिताजी से सीख लिया था क्योंकि जो अपने पराये को समान भाव से देखते हैं उनकी प्रवृत्ति कभी भी भेदभाव पूर्ण नहीं होती है ॥ ११ ॥

अथाप्नोत्प्रौढत्वं प्रथमवयसो या परिणतिः
वधूटीं सर्वाङ्गीं रतिमिव वरां स्वात्मसदृशीम् ।
ऋषीणां पूर्वेषामनुतदधुनापि स्थितिमताम्
अयंन्याय्यः पन्था विधिविधिकृतः कश्मलहरः ॥ १२ ॥

शनैः शनैः श्रीरामप्रसादजी ने प्रथमावस्था युवावस्था प्राप्त करली और अपने समान स्वभाव वाली रति के समान सुन्दरी नव-यौवना पत्नी को प्राप्त किया क्योंकि विवाह एक विधि के विधान से बना हुआ है । यह मनुष्य की बुराइयों को दूर करने का उचित मार्ग है जिसको प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी ऋषिजन करते आये हैं ॥ १२ ॥

ततोऽसौ लोकानां विषयजसुखं बन्धनफलम्
गृहस्था यल्लब्धुं धनिकपदधूलिं प्रतिगताः ।
वराकाश्चेष्टन्ते करचरणवागक्षिचलनैः
इतीदं सन्देष्टुं क्षितितलगतिं कोऽपि चकमे ॥ १३ ॥

बेचारे गृहस्थ जिस विषय-सुख को पाने के लिए लालायित रहते हैं और धनिकों की चरण धूलि में पड़कर हाथ, पैर, वाणी तथा नेत्रों के सङ्केतों से नाना प्रकार की चेष्टायें करते हैं वह विषय-सुख बन्धन का कारण है यह शिक्षा देने के लिए किसी देव-विशेष ने पृथ्वी पर आना चाहा ॥ १३ ॥

बरौल्यां श्रीरामो गुरुवरपदे कर्णनृपतेः
समासीनोऽप्यन्तर्ज्वलन इव निन्ये बहुसमाः ।
अथैकस्मिन् वादे नरपतिदृशं वीक्ष्य विषमां
समासेनात्याक्षीद्गृहवसनभाण्डादि सकलम् ॥ १४ ॥

इधर श्रीरामप्रसादजी यद्यपि राव कर्णसिंह के गुरुपद पर आसीन थे, परन्तु भीतर ही भीतर कुछ घटना का अनुभव करते रहे और बहुत सा समय यों ही बीत गया। एक दिन किसी विवाद पर रावसाहब की कुटिलभ्रकुटि देख कर बिना कुछ कहे तथा बिना कुछ लिये ही अपनी धर्मपत्नी के साथ घर तथा उसकी सभी वस्तुओं को छोड़ कर चले आये। ॥ १४ ॥

स्वया सार्धं पत्न्या हरिचरणपद्मे हृदि दधत्
भ्रमन्स श्रीरामोऽलिगढ़ पुरमध्येऽथकटरे।
प्रतोल्यां स्वं वासं कतिपयदिनैरेव कृतवान्।
अवात्सीत्तत्रैवासुररिपुनगया गुरुरिव ॥ १५ ॥

श्रीरामप्रसाद जी भगवान के सहारे अपनी पत्नी के साथ यों ही कुछ दिन घूमते रहे। कुछ दिन बाद अलीगढ़ के कटरा मुहल्ले में अपने निवास की व्यवस्था की और इन्द्र की राजधानी में गुरु के समान वहीं कटरा मुहल्ले में रहने लगे। ॥ १५ ॥

कथाभक्तिश्रद्धाजलविगलिते चित्तगमले
रसानामास्वादाद् वपुषि सति सिद्धे दृढबले।
शुभा सा संयोगात् प्रियतमतनोः पूतसमये
दधारांशं साध्वी जठरपिठरे जीवनकृते ॥ १६ ॥

कथा-भक्ति और श्रद्धा के जल से जब हृदय पूर्ण शुद्ध हो गया, इधर-उधर घूमने आदि से और भोजन एवं औषधियों के सेवन से शरीर जब पुष्ठ हो गया तब उनकी पतिव्रता पत्नी ने अपने प्रियतम के पवित्र संयोग से उनका अंश "जीवन" जन्म देने के लिए अथवा अपने जीवन को सुधारने के लिए उदर में धारण किया। ॥ १६ ॥

प्रसन्नाः सर्वाशाः श्रवणसुखकारी खगरवः
ददौ वायुः सौख्यं त्वचमनुगतो जीवनभृताम्।
पयो वै दोग्ध्रीणां स्तनगमसरन् क्षीरसरितः
शुभेऽच्छे पक्षे खे विमलतनुरिन्दुर्निरगमत् ॥ १७ ॥

महाराजजी जब गर्भ में आगये तो सारा जगत् सुखमय हो गया, दिशाएँ स्वच्छ हो गईं, पक्षी मधुर कलरव करने लगे, जीवधारियों की त्वचा को छूकर वायु सुख देने लगा, दुधारू जीवों के स्तनगत दूध में नदियाँ आगईं और स्वच्छ निर्मल आकाश में चन्द्र निकल आया। ॥ १७ ॥

श्रुतीनां घोषाणां द्विजवरगृहे व्याप्तिरभवत्
निलिम्पेभ्यो लोका हुतवहमुखे हव्यमददुः।
पयोजातं चासीद्विमलमधुरं विश्वसरिताम्
किमेवं संख्यानैः शुभशुभकरं दृश्यमखिलम् ॥ १८ ॥

प्रत्येक विद्वान् ब्राह्मण के घर में वेदों की ध्वनियाँ होने लगीं। देव प्रसन्नतार्थ भक्तों ने अग्नि में हवन किया। सब सरोवरों का जल निर्मल एवं मधुर हो गया। अधिक कहाँ तक गिनाएँ सम्पूर्ण जगत ही उस समय मङ्गलमय हो गया। ॥ १८ ॥

इषेऽन्त्ये दले वाणसंख्यातिथौ वै
क्रमे वत्सरे वेदरामाङ्कचन्द्रे ।
पुरेऽन्तस्सुतं रामजाया शुभास्यम्
अपर्णा यथासोष्ट देवी षडास्यम् ॥ १६ ॥

शुभ तथा पवित्र वातावरण में विक्रम सम्वत् १६३४ को आश्विनमास के शुक्लपक्ष की पञ्चमी तिथि में श्रीरामप्रसादजी की पत्नी ने एक सुन्दर मुख के वालक को जन्म दिया जैसे पार्वती ने अमर सेनानायक कार्तिकेय को उत्पन्न किया था । ॥ १६ ॥

शशाङ्कस्य कान्ति हरन्तं स्वदीप्त्या
गभीरस्वभावं दृढां सन्धिबन्धैः ।
महामोहकूपं गतानां जनानाम्
समुद्धारयोग्यां धरन्तं तनूञ्च ॥ २० ॥

वह वालक अपने प्रकाश से चन्द्रमा की छटा को फीकी कर रहा था । वह गंभीर स्वभाव का था । सन्धिगत वन्धनों से दृढ़मांसल शरींर वाला था मानो वह संसार के अज्ञानकूप में पड़े जीवों के उद्धार के लिए ही दृढ़ शरीर लेकर आया हो । ॥ २० ॥

शरन्मेघाच्छन्ने हिमशिखरिसानौ भगवती
सवाला सा माता गजवदनयुक्तेव रहसि ।
शुभे सूच्चैस्तल्पे कृशतरतनुः शुभ्रवसना
शयानासूतेरादशदिनमयं कालमनयत् ॥ २१ ॥

शरत् काल के स्वच्छ मेघों से आच्छादित हिमालय के शिखर पर गजानन के साथ विराजमान पार्वती के समान वालक जीवनदत्त के साथ स्वच्छ उच्च पर्यङ्क पर विराजमान श्वेत परिधान से सुशोभित कृशशरीर वाली माता ने सूतक के दशदिन का समय बिताया । ॥ २१ ॥

पिता संस्काराणां क्रममविसृजन् जन्मसमये
अकार्षीज्जातादिं तदनुक्रमशो नामकरणम् ।
ततश्शाणोल्लीढो मणिरिव शिशुर्दीप्तदहनः
अकाशिष्ट श्रीमान् विगतमलजालोऽधिसदनम् ॥ २२ ॥

पिता श्रीरामप्रसादजी ने क्रमानुसार जन्म-समय में जातकर्म-संस्कार किया और उसके पश्चात् क्रम-प्राप्त नामकरण संस्कार किया । इन संस्कारों से बालक का जन्मजात प्रकाश और बढ़ गया । वह घर में ऐसे चमकने लगा जैसे शाण पर चढ़ाने से मल-जाल से रहित मणि प्रकाशित होने लगता है । ॥ २२ ॥

यज्जीवनायाद्य पितामहेन
दत्तः सुतो मे जगतां हिताय ।
अतो नृलोके भवतु प्रसिद्धः
नाम्ना स्वयं जीवनदत्तशर्मा ॥ २३ ॥

श्रीरामप्रसादजी ने सोचा कि ब्रह्माजी ने यह पुत्र मुझे मेरे जीवन के लिए और जनता के हित के लिए दिया है । अतः मैं चाहता हूं कि यह संसार ने जीवनदत्त शर्मा नाम से प्रसिद्ध हो । ॥ २३ ॥

यज्जीवनेनाद्य रमावरेण
दत्तः सुतो मे जगतां हिताय ।
अतो नृलोके भवतु प्रसिद्धः
नाम्ना स्वयं जीवनदत्तशर्मा ॥ २४ ॥

श्रीरामप्रसादजी ने सोचा कि संसार के जीवनदाता रमापति विष्णु भगवान ने मुझे यह बालक लोक-कल्याण के लिए दिया है इसलिए मैं चाहता हूं कि यह बालक संसार में जीवनदत्त शर्मा नाम से प्रसिद्ध हो। ॥ २४ ॥

यज्जीवनं स्वं जनताहिताय
दत्तं परस्ताद्भविताह्यनेन ।
अतो नृलोके भवतु प्रसिद्धः
नाम्ना स्वयं जीवनदत्तशर्मा ॥ २५ ॥

श्रीरामप्रसाद जी ने सोचा कि यह बालक भावी काल में अपना जीवन जनता के लिए अर्पित कर देगा, अतः मैं चाहता हूं यह संसार में जीवनदत्त नाम से प्रसिद्ध हो। ॥ २५ ॥

देयादमुं जीवन आर्तिहारी
सद्ब्रह्मचर्यं परिपालयन्तम् ।
मह्यं ततोऽयं भवतु प्रसिद्धः
नाम्ना स्वयं जीवनदत्तशर्मा ॥ २६ ॥

श्रीरामप्रसादजी दीनोद्धारक रमापति भगवान से प्रार्थना करते हैं कि भगवन् नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाले इस बालक को आप मुझे दें तथा शतायु करें जिससे यह संसार में जीवनदत्त शर्मा नाम से विख्यात हो ॥ २६ ॥

पितैवोपानैषीच्छिशुमृजुधियं पञ्चशरदम्
शुभे वारे लग्ने सुरगुरुयुते पापरहिते ।
अकाशिष्टास्मिन् सा श्रुतिसवनदात्री भगवती
यथा वै राकायां शरदि हिमगुः स्वच्छवियति ॥ २७ ॥

पिता श्रीरामप्रसाद जी ने ही शुभ दिन देव-गुरु से युक्त पापग्रहों से रहित शुभलग्न से पञ्चम वर्षीय बालक का उपनयन संस्कार किया। जिस प्रकार शरद् कालीन निर्मल आकाश में चन्द्र प्रकाशित होता है ठीक उसी प्रकार मन्त्र दान के अव्यवहितोत्तर काल में उस पूत हृदय बालक में वेदजननी भगवती गायत्री प्रकाशित हो गईं। ॥ २७ ॥

गृहे वर्णाभिज्ञं प्रतिदिनमहो ! सौरजपने
समासक्तं भक्तं हरिचरणपाथोजयुगले ।
शुभे विद्यागारे कुशलतमशिक्षाप्रदयुते
प्रवेश्यैनं बालं सुखमतुलमाप्नोत्किल पिता ॥ २८ ॥

बालक जीवनदत्त प्रतिदिन गायत्री जपने लगे। भगवद्भक्ति तो जन्म से ही उनके हृदय में थी। घर में ही जब बालक साधारण अक्षरज्ञान कर चुका तो पिता ने बालक जीवन को कुशल अध्यापकों से युक्त उत्तम पाठशाला में प्रविष्ट कराकर बड़ा सुख पाया। ॥ २८ ॥

उदञ्चत्सद्बुद्धिप्रसरणकलाकोविदमुख—
कृपाक्षिप्रक्षेपप्रवणगुरुपादैकशरणः ।
सुखावाप्तप्रारम्भिकनिगमविद्यालघुचयः
दयानन्दार्याणां चरणकमले प्राप शरणम् ॥ २९ ॥

जब बालक जीवनदत्त शर्मा उदीयमान सद्बुद्धि के प्रसार की कला के कोविदों में अग्रणी हो गये तथा दयालु गुरुजनों को देख-रेख में रहने लगे और प्रारम्भिक शिक्षा एवं आर्ष ग्रन्थों का कुछ ज्ञान कर चुके तब कभी आर्य-समाज के जन्मदाता महर्षि दयानन्द सरस्वती के चरणों में पहुँचे ।। २९ ।।

त ईक्षामात्रेण श्रुतिचरणशीलं शिशुममुम्
विजानन्तः प्रोचुः ऋषिनिगमपाठी भव सुत !
तथा वाणाक्ष्यब्दान् वसुमिथुनधर्मान् परिहरन्
विचारैः सत्रोच्चैः ऋजुसरलचर्यामनुसरन् ॥ ३० ॥

ऋषि दयानन्दजी ने प्रथम दर्शन में ही इनको ब्रह्मचर्यव्रतनिष्ठ समझ लिया और बोले वत्स ! तुम वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करो तथा २५ वर्ष तक आठ प्रकार के मैथुन का परिहार करते हुए सादा जीवन उच्च विचार का आदर्श उपस्थित करो ।। ३० ।।

ऋषेरादेशोऽसौ सरलविरले जीवनहृदि
चकार स्वस्थानं घट इव नवे चित्रकरणम् ।
भविष्णौ जीवे च प्रतिफलति वाणी हितकृताम्
समत्येत्यन्यस्मात्सहसुषिरपात्रादिव पयः ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार नवीन घट पर चित्रकारी अमिट हो जाती है उसी प्रकार परमसरल जीवनदत्त शर्मा के हृदय में महर्षि का आदेश अपना घर कर गया । उन्नतिशील प्राणियों में गुरुजनों की वाणी अपना प्रभाव करती है अन्यथा सच्छिद्र घट में से जल के समान सहसा चली जाती है ।। ३१ ।।

तदैवेटावाख्ये भुवि पुरमणावेव वसतः
विरुद्धं वक्तॄणां प्रचुरमदभक्त्या द्विपयताम् ।
प्रकृष्टाभिः स्वाभिर्दिवसकरभाभिः श्रुतिभिदाम्
श्रुतीनां व्याख्याभिर्हृदयपटलं भेदनपटोः ॥ ३२ ॥

उसी समय पृथ्वी के नगरों में शिरोमणि इटावा नामक नगर के निवासी अपार मद एवं अभिमान के कारण हाथियों जैसा उच्छृङ्खल व्यवहार करने वाले श्रुतिनिन्दक विरोधी वक्ताओं के हृदय-पटल को अपनी नवीन-नवीन सूर्य के समान तीक्ष्ण वेदों की व्याख्याओं से भेदन करने में प्रवीण—।। ३२ ।।

वटूनां वृद्धानां युवजनततेश्चापि सततम्
समासेव्याग्र्यस्य प्रथितयशसो नाम दधतः ।
सभीमं सेनान्तं प्रखरेमतिमन्दीकृतकवेः
यशो वागीशस्यातिथिरभवदस्य श्रवणयोः ॥ ३३ ॥

बालक, वृद्ध, युवा सभी के सेवाग्रणी, विख्यात यशस्वी अपनी तीव्रतम बुद्धि के द्वारा पण्डितों को बुद्धि को भी मात देने वाले वागीश के पक्ष में शुक्राचार्य की बुद्धि को मात देने वाले देवगुरु के समान श्री भीमसेनजी वेद-व्याख्याता का यश श्री जीवनदत्त शर्मा के कानों का अतिथि हो गया ।। ३३ ।।

प्रफुल्लं पद्मानां चयमिव सृता षट्पदततिः
सुवीणाझङ्कारं वशमनुगतो वा मृगगणः ।
समाकृष्टस्वान्तः श्रुतिविशदव्याख्यातृयशसा
इटावामाव्राजीत् किमपि पठितुं वैदिकवचः ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार विकसित पद्म–समुदाय पर गन्ध से आकृष्ट होकर भ्रमर मण्डली पहुँच जाती है अथवा जैसे सुन्दर वीणा की झङ्कार का वशीभूत मृग–समुदाय हो जाता है उसी प्रकार वेदों के विशद व्याख्याता पं० भीमसेनजी के यश से आकृष्ट होकर ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्त शर्मा कुछ वैदिक अध्ययन करने के लिए इटावा में आ गये ॥ ३४ ॥

ततः पादोपान्तं विनयभजनाराध्यहृदयः
अवाप्योपाध्यायस्य गुरुवरसंदीपनिमुनेः ।
सुदामा वा वर्णी विविधपरिचर्यादिचरणैः
सुसन्तुष्टादस्मादलभत वरं कामफलकम् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार विनयभक्ति से पूतहृदय सुदामा ने अपने गुरुवर संदीपनि मुनि के चरणों में पहुँचकर सेवाकर उनको सन्तुष्ट करके अभीप्सित वर की प्राप्ति की, उसी प्रकार ब्रह्मचारी जीवनदत्त शर्मा ने भी इटावा में पहुँच कर अपने गुरुवर भीमसेन जी को प्रसन्न कर कामनासिद्धि का आशीर्वाद प्राप्त किया ॥ ३५ ॥

श्रुतौ सत्वंङ्गायां सविधिपठनात्प्राप्यफलिताम्
प्रचारं चाप्यस्या भरतभुविकर्तुं कृतधिया ।
निदेष्टुश्चादेशात्तदभिजनवासं विसृजता
समैषि स्थानन्तद्यदधिकफलं स्यात्तु तपसे ॥ ३६ ॥

ब्रह्मचारी जीवनदत्त शर्मा ने विधिपूर्वक गुरुमुख से पढ़कर षडङ्ग वेदों में सफलता प्राप्त करली तथा भारतवर्ष में उनके प्रचार का विचार किया तथा गुरुजी की आज्ञा से उनके चरणारविन्द से पृथक होकर ऐसे स्थान की खोज करनी प्रारम्भ कर दी जो तपस्या के अधिक उपयुक्त हो ॥ ३६ ॥

समेत्यातः कोलं जनकचरणौ भक्तिसहितः
ववन्दे सस्नेहं कुशलमभिपृष्टश्च शिरसि ।
समाघ्रातस्ताभ्यां श्रुतिचरणशीलः स तु युवा
तदन्ते तुष्टात्मा न्यवसदखिलं कर्म विदधत् ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचारी जीवनदत्त शर्मा इसके पश्चात् अलीगढ़ में आये। पिता को श्रद्धापूर्वक प्रणाम किया। उन्होंने आशीर्वाद के रूप में उनके शिर का आघ्राण किया, कुशल क्षेम पूछा। प्रसन्नतापूर्वक पिता की सेवा करते हुए ब्रह्मचारीजी उन्हीं के चरणों में रहने लगे ॥ ३७ ॥

ततः कालेऽतीते पतिसुखमिताप्यत्र निखिलम्
वसन्ती भूलोकं जननमरणद्वन्द्वबहुलम् ।
सती सा तन्माता परमजनकेनात्मनिकृता
न विद्वान् चेतस्वान् स्मरणविमुखः सन्ततिगुणे ॥ ३८ ॥

इसके पश्चात् कुछ समय बीतने पर सती-साध्वी ब्रह्मचारीजी की माता को परमपिता परमात्माने अपनी गोद में ले लिया। यद्यपि वे अपने जीवन-काल में पूर्ण पतिसुख भोग चुकीं थी परन्तु जिस भू-लोक में रहती थीं वह जनन-मरण द्वन्द से भरा हुआ है। कोई भी मनस्वी विद्वान् सन्तति के गुणों से बहिर्मुख नहीं होता ॥ ३८ ॥

ततो दुखं हातुं निजहृदिभवं मातृविषयम्
वियुक्तत्वात्पत्न्या जनकमनसोऽप्यस्थिरतया ।
जनानामाह्वानाच्छ्रुतिवचनवादे कृतमनाः
स्वयं पित्रा सार्धं वनमभिगतो विल्वसहितम् ॥ ३९ ॥

फिर अपने हृदय में विद्यमान मातृविषयक दुःख को छोड़ने के लिए, पत्नी के वियोग के कारण पिताजी के मन के अस्थिर होने से, वेलौन के निवसियों के विशेष आह्वान से, वेदों के अध्ययन-अध्यापन करने का निश्चय करके अपने पूज्य पिताजी के साथ ही वेलौन चले गये। ॥ ३९ ॥

समाजस्यार्याणां भवनमधिवासं विदधता
तथा दर्शं दर्शं परमजननीं मन्दिरगताम् ।
विना हेतुं धर्मो द्विजजनहितं वेदपठनम्
इति स्मारं स्मारं शिशुजनहितेऽनायि समयः ॥ ४० ॥

वे वेलौन में जाकर आर्यसमाज मन्दिर में रहने लगे तथा प्रतिदिन चण्डी के मन्दिर में देवी के दर्शन करने जाने लगे। बिना स्वार्थ के धार्मिक बुद्धि से वेद पढ़ना ब्राह्मण का कर्तव्य है इस बात का स्मरण करते हुए वालकों के हित में समय विताने लगे ॥ ४० ॥

तथैकाकीप्रातः प्रतिदिनमितः क्रोशतुलिते
प्रसिद्धे सुक्षेत्रे नरवरधरां चापि निकषा ।
जले भागीरथ्या ऋषसपितृदेवान् सुखयितुम्
स्वनिष्ठातो गत्वा द्विजजनविधिं सर्वमकरोत् ॥ ४१ ॥

वहाँ से अकेले ही प्रतिदिन प्रातः वेलौन से लगभग एक कोस दूर नरवर भूमिके निकट प्रसिद्ध क्षेत्र में अपनी निष्ठा से जाकर भागीरथी के जल में देव ऋषिपितरों को तृप्त करने के लिए ब्राह्मणोचित सर्व आह्निक क्रिया करते थे ॥ ४१ ॥

तपो योग्यं सत्यं नरवरवनं सिद्धवसुधम्
महाभीष्माकारं मुनिजनहितं सिद्धिवसुदम् ।
सकामैः कामाक्षिप्रणिहितकटाक्षैः क्षतधियाम्
असेव्यं सेव्यं श्रीहरिचरणपद्मैकमनसाम् ॥ ४२ ॥

गङ्गा स्नान को जाते हुए महाराजजी नरवर वन के दर्शन करते हुए जाते थे और सोचते थे कि यह स्थान वास्तव में तपस्या के योग्य है, सिद्धि-भूमि है, बड़ा भयङ्कर है, मुनि-जनों के योग्य यह स्थल है, अष्टसिद्धियों को देने वाला है। कामिनी के कटाक्षों से जिनका हृदय विदीर्ण हो चुका है उनके योग्य नहीं है केवल उन्हीं के योग्य है जिनका मन श्रीहरिचरणारविन्द का भ्रमर हो चुका है ॥ ४२ ॥

पयोवृक्षैः प्लक्षैर्जघनफलभण्डीरसहितैः
अरिष्टैर्न्यग्रोधैश्चलदलगजाशैश्च ककुभैः ।
बबूलैः सश्यामैः पवनहरशारवोटतिनिशैः
सुवृक्षैश्चाप्यन्यैर्गगनतलशाखैर्विलसितम् ।। ४३ ।।

इस वन में गूलर, पिलखन, शिरीष, रीठे, नीम, वट, पीपल, शल्लकी, अर्जुन, बबूल, शीशम, पलाश, सिहोरा, वञ्जुल आदि अनेक गगनचुम्बी वृक्ष खड़े हैं ।। ४३ ।।

क्वचिच्चैणं रावं हरिणगणभ्रान्तं क्वचिदपि
कुरङ्गाणां पृषतदलकूर्दो क्वचिदपि ।
क्वचित्सेधोत्सेधं क्वचिदपि च गोधाप्रसरणम्
क्वचिन्न्यङ्कोरक्ति शशकशिशुकास्यां क्वचिदपि ।। ४४ ।।

कहीं पर मृगों की ध्वनि होरही है, कहीं दूसरे प्रकार के मृगों का भ्रमण, कहीं पर कुरङ्ग जाति के मृग क्रीड़ा कर रहे हैं, कहीं पर पृषत चितकवरे मृग कूद रहे हैं, कहीं पर सेधा उछल रही, कहीं पर गोधा सरक रही है, कहीं पर वारहसिंहा जा रहा है, और कहीं पर शशकों के शिशु छिपे बैठे हैं ।। ४४ ।।

तथारण्याभ्यन्ता रसमुखपितुर्देमतहतः
सुलिङ्गं सिद्धाख्यं शुभमसृणपाषाणघटितम् ।
विलोक्यायं स्वान्ते श्रुतिसवनदात्रीं भगवतीम्
पुरश्चारैः स्तोतुं मतिमलभतैकान्तवसने ।। ४५ ।।

वहीं पर वन के भीतर षडानन के पिता, देवो में महान् शिवजी का सुन्दर चिकने पाषाण से निर्मित सिद्धेश्वर नाम का शिवलिङ्ग था । इन सब को देखकर महाराजजी ने एकान्त से रहकर वेद-माता गायत्री के पुरश्चरण करने का विचार किया ।। ४५ ।।

पिता ज्ञात्वा पुत्रं तपसि सततं लग्नमनसम्
स्वजीवं शर्माणं सकलजगतो जीवनकरम् ।
तथा स्मृत्वा पत्नीं परमजनककेनात्मनि कृताम्
स्वयं स्वस्मिन् कर्त्तुं परमजनकं सोऽपि गतवान् ।। ४६ ।।

पिता श्रीरामप्रसादजी अपने पुत्र के सत्सङ्कल्प को जानगये कि उनके जीवन के आधार सारे जगत के जीवनसञ्चालक जीवनदत्त शर्मा तपस्या करना चाहते हैं तथा उनको यह भी स्मरण हो आया कि उनकी पत्नी परमपिता की गोद में चली गई हैं । वे भी स्वयं को स्वयं में विलीन करने के लिए परब्रह्म में लीन हो गये ।। ४६ ।। ४६ ।।

गते रामे रामं पितरि पितरं जीवनयुवा
सदैकान्तं शान्तं जनकचरणशून्यं क्षितितलम् ।
तटे भागीरथ्या नरवरवनाभ्यन्तरतमम्
चिरं स्थातुं सिद्धयाद्यचकमतपूर्वं दृशिगतम् ।। ४७ ।।

जब पिता रामप्रसादजी परमपिता राम में लीन हो गये तो महराजजी नें सर्वदा एकान्त और शान्त जनसञ्चार से बिलकुल शून्य नरवर वन के भीतर भागीरथी के किनारे जिस भूतल के पूर्व में दर्शन भी होते रहते थे उस स्थान को सिद्धि के लिए चिरकाल बैठने के निमित्त चाहा ।। ४७ ।।

कदाचिद्वै मत्याद्भवनपतिभिश्चार्यसदसः
वनान्तं तद्विल्वं सुरपुरनिभं सर्वसुखदम् ।
पराधीना वृत्तिः सकलजननिन्द्येति मनसा
परित्यज्याभ्यागात् खरसनवचन्द्रे नरवरे ।। ४८ ।।

उधर कभी आर्य-समाज के अधिकारियों से किसी विषय पर मतभेद हो गया जिससे महाराजजी को कुछ ठेस लगी । बस अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के निमित्त महाराजजी सर्वसुखसम्पन्न स्वर्ग योग्य वेलौन का परित्याग करके सम्वत् १९६० में नरवर के शिव मन्दिर में आ गये ।। ४८ ।।

तथा योगानन्दैर्नरवरशिवस्यान्तिकचरैः
गवां सेवासक्तैः सततमनुरक्तैः शिवपथे
स्वभात्रे काठिन्यं परममृदुतां चेतसि पुनः
दधानैः स्वैर्मित्रैरचकमत सार्धं न वसनम् ।। ४९ ।।

वहीं पर योगानन्द नामक ब्रह्मचारी भी रहते थे । वे नरवरस्थ शिव के भक्त थे और कल्याण-मार्ग के अनुगामी थे, गो-सेवक थे, स्वभाव में कठिन तथा हृदय से कोमल महाराजजी के मित्र थे । परन्तु महाराज जी उनके साथ न रहकर पृथक् ही रहे । ।। ४९ ।।

सशाल द्वारिभ्यां गुरुवरहिताभ्यां स्वमनसा
युवभ्यां शिष्याभ्तां नवविरचिते मात्त सदने ।
वटाभ्यन्तःकुञ्जे कतिपयदिनानान्तु परतः
न्युवासान्तस्तृप्तः श्रुतिचरहितेच्छाविवशगः ।। ५० ।।

कुछ दिनों के पश्चात् महाराजजी दो वटों के बीच में बनी हुई एक कच्ची मिट्टी की कुटिया में रहने लगे और ब्रह्मचारी छात्रों को पढ़ाने लगे । उस कुटिया को महाराजजी के आदि-शिष्य द्वारिकादत्त तथा शालग्राम-नामक छात्रों ने स्वयं बनाया था वे दोनों ही युवा महाराजजी के परम भक्त थे । ।। ५० ।।

मुहूर्ते स ब्राह्मे लघुविगतनिद्रोप्यनलसो
ह्यनासक्तो बाह्ये विषयसुखजाले पतनदे ।
समासक्तः प्रातः स्मरणजपयोग्ये सुवचसि
हरिं स्मारं स्मारं प्रतिदिनविधिं कर्त्तुमुदयात् ।। ५१ ।।

महाराजजी ब्राह्म मुहूर्त में ही सहसा निद्रा का परित्याग कर देते थे, आलस्य का उनमें अंश भी न था । बाह्य विषय-सुख जो पतन का कारण है उसमें उनकी आसक्ति नहीं थी । उनकी आसक्ति तो प्रातःस्मरण करने योग्य जप आदि में थी । अतः "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव" का कीर्तन करते हुए नित्य-आवश्यक कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे । ।। ५१ ।।

मलं त्यक्त्वा दूरे विधिविहितशौचः प्रतिदिनम्
करौ पादावन्धूद्धृतसलिलमृत्स्नागतमलान् ।
विधायास्यं स्वच्छं दशनगणशुद्धया च विधिना
जले स्नातं दध्यौ नरकरिपुनद्यास्तटवरम् ।। ५२ ।।

प्रतिदिन दूर जाकर मल-त्याग करते थे । उसके पश्चात् मृत्तिका आदि से शुद्धि करके कूपोदक तथा शुद्ध मिट्टी से हाथ-पैर शुद्ध करके कुल्ला, दातौन आदि से मुख शुद्ध करने के पश्चात् गङ्गा जी के जल में स्नान करने के लिए गङ्गाजी का ध्यान करते थे । ।। ५२ ।।

ततो गत्वा गङ्गामृषिमुनिगणैः सेविततटाम्
भटां कल्कध्वंसे सगरतनयोद्धारजननीम् ।
हिमाद्रेस्तुङ्गात्सुशिखरतलाच्चुम्बितधराम्
धरन्तीं कल्लोलान् प्रणमति सदा स्मार्द्र हृदयः ।। ५३ ।।

उसके पश्चात् ऋषि-मुनि-गण जिसके तट का सेवन करते हैं, जो पापों का ध्वंस करने में प्रबल समर्थ है, जिसने सगर के पुत्रों का उद्धार किया है, जो हिमालय के उच्च शिखर से उतर कर पृथ्वी पर बहती है तथा जिसमें नित्य नई तरङ्गें उठती हैं उस गङ्गाजी को आर्द्रमना होकर प्रणाम करते थे । ।। ५३ ।।

शुभासङ्गे गङ्गे जननि नरलोकेऽहमवसम्
नृशंसे दुःसङ्गे सदयजनसङ्गे विवशतः ।
सुगर्भे सन्मातुस्तदनुवसुधायाश्च भुतले
इदानीं मामन्तर्गमयपयसः पादपतितम् ।। ५४ ।।

अयि ! सुन्दर संसर्गवाली माता गङ्गे ! मैं इस मृत्युलोक में अनेक स्थानों में रहा, दुष्टों के साथ में, कभी-कभी सज्जनों के साथ में, कभी माता के गर्भ में, और कभी भूतल में परन्तु सर्वत्र विवश ही रहा । अब मैं तेरी शरण में आगया हूं तू अब मुझे अपनी गोद में लेले । ।। ५४ ।।

न बिभ्ये स्वात् कष्टात् बहुजननदुष्कर्मकुफलात्
न चाकांक्षे स्वस्मै सुरपुरसुखं नैव जननि
पुनर्जन्माभावं कथमपि धनं नैव भयदम्,
परं याचे मातः समजनसुखं क्लेशरहितम् ।। ५५ ।।

माता मैं अपने अनेक जन्मार्जित पापों के परिणाम-भूत अपने कष्टों से नहीं डरता और न अपने लिए स्वर्ग का सुख ही चाहता हूं, न मोक्ष ही चाहता हूँ, निरन्तर भय का मूल-धन तो किसी प्रकार भी नहीं चाहता, केवल यही चाहता हूं कि संसार के सभी प्राणियों को क्लेशरहित सुख हो । ।। ५५ ।।

स्तुतेः पश्चादित्थं भसिततिलके नाञ्चितशिराः
प्रवाहस्याभ्यास्यं कटिगतजलाभ्यन्तरतनुः ।
समाङ्गीनं स्नानं विधिवदनुसृत्याद्र वसने
परित्यज्यानार्द्रेन्यभृत स विधिं सान्ध्यमभजत् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार गङ्गाजी की प्रार्थना करके गङ्गा की धूलि को मस्तक पर लगाकर कटि-प्रमाण जल में जाकर प्रवाहाभिमुख खड़े होकर सर्वाङ्गीण स्नान करके गीले वस्त्रों का परित्याग करके शुष्क वस्त्र पहिनकर सन्ध्योपासन करते थे । ।। ५६ ॥

वटाभ्यन्तः कुञ्जे सलिलयुतया गोमयमृदा
सुलिप्ते स्वस्थाने त्रिदिवपतिनद्या अभिमुखः
तरोर्विल्वस्याग्रे सुकुश उपविष्टः स्थिरमनाः
जपञ्श्रीगायत्रीं समयमगमन्मध्यदिवसम् ।। ५७ ॥

तदनन्तर वटों के भीतर बनी अपनी कुटिया में आकर गोबर-मिट्टी से लिपवा कर विल्व-वृक्ष के सामने गङ्गाजी के सम्मुख मुख करके सुन्दर कुशाओं से निर्मित आसन् पर एकाग्र-चित्त बैठकर गायत्री जपते-जपते मध्याह्न समय पर पहुँच जाते थे । ।। ५७ ।।

अथर्ता हेमन्ते तदनुशिशिरे चाम्बरतले
सुखं सुप्तेधर्मे जलचरचये देवकृपया ।
तटे रेणुच्छन्ने मृदुकुसुमशय्यातल इव
विधातुं मध्याह्ने सुरसरिति संध्यां स गतवान् ॥ ५८ ॥

इसके पश्चात् हेमन्त तथा शिशिर ऋतु में मृदुल-कुसुमों से आच्छन्न शय्या के समान कोमल तट पर आकाश के नीचे जब भगवान की कृपा से जलचर समुदाय धूप में सोता था उस समय महाराजजी मध्याह्न में सन्ध्या करने के लिए गङ्गाजी पर जाया करते थे । ॥ ५८ ॥

वसन्ते ग्रीष्मे च प्रखरतमभानुप्रतपनैः
धरायामङ्गारप्रतिमकणतन्वां वियति च ।
प्रगाढं सन्तप्ते पदमपि गतं यत्र कठिनम्
विधातुं मध्याह्ने सुरसरिति सन्ध्यां स गतवान् ॥ ५९ ॥

वसन्त और ग्रीष्म ऋतु में जब पृथ्वी सूर्य की प्रचण्ड किरणों से सन्तप्त-बालु के कणों में अङ्गारों से आच्छन्न-सी हो जाती थी, आकाश भी पर्याप्त तपा सा हो जाता था, जहाँ एक पद भी चलना कठिन था, उस समय मध्याह्न सन्ध्या-करने महाराजजी गङ्गाजी पर जाया करते थे । ॥ ५९ ॥

तथर्तौ वर्षाख्ये त्रिदशतटिनीतीरपुलिने
चिरं व्याप्ते वर्षाप्रभवभवजीवैस्तनुतमैः
इवाच्छन्नेधूल्या पयसि चिति मायाशबलिते
विधातुं सन्ध्यां श्रीद्विजकुलकलावान् स गतवान् ॥ ६० ॥

इसी प्रकार वर्षा-ऋतु में वर्षाकालजन्य जीवों से जब गङ्गाजी का किनारा व्याप्त हो जाता था तथा पानी माया-शबलित ब्रह्म के समान मैला हो जाता था उस समय वे द्विजकुलकुमुदचन्द्र मध्याह्न में सन्ध्या करने गङ्गाजी पर जाया करते थे । ॥ ६० ॥

तथाकाशो मेघैर्जिन इव मुनिः श्वेतवसनैः
सुयुक्तो वर्षाजैर्मनसिजभवैर्दोषपटलैः
वियुक्तो यत्रानेहसिचविमला सर्वककुभः
विधातुं मध्याह्ने सुरसरिति सन्ध्यां स गतवान् ॥ ६१ ॥

जिस समय श्वेतवस्त्रों से जिन-मुनि के समान आकाश स्वच्छ मेघों से आच्छन्न हो जाता था तथा काम-जनित दोषों से रहित जिन-मुनि के समान ही जब आकाश बादलों से रहित हो जाता था और सब दिशाएँ निर्मल हो जाती थीं उस समय महाराजजो मध्याह्न सन्ध्या करने के लिए भागीरथी-तट पर जाया करते थे । ॥ ६१ ॥

अथ प्राणायामं विधिवदनुसृत्याघहननम्
उपस्थायादित्यं श्रुतिविहितमन्त्रैर्जपमनु ।
विधायस्वस्थाने वलिमतिथिपूजां च हवनम्
प्रसादं श्रीविष्णोरशनमभजत्स्नेहसहितम् ॥ ६२ ॥

वहाँ जाकर विधिपूर्वक प्राणायाम तथा अघमर्षण-करके वैदिक मन्त्रों से सूर्य का उपस्थान तथा जप करके, अपनी कुटिया में वैश्वदेव का अङ्गभूत हवन एवं अतिथि-सत्कार करके, काकादि को बलि देकर श्रीनारायण के भोग से प्रसादीभूत भोजन स्नेह सहित करते थे । ॥ ६२ ॥

शुभेरामक्षेत्रे　　नरवरवनात्पूर्वककुभि
स्थितान् पूर्णानन्दानू यतिवरवरान् सिद्धतपसः
उडीयाबाबाख्यान् दृशमभिगतान् नित्यमकरोत्
प्रदोषात् प्राक् सन्ध्यां व्यवसितमनाः शान्तकरणः ॥ ६३ ॥

नरवर भूमि से पूर्व दिशा में स्थित रामघाट स्थान में पूर्णानन्द नामक उड़िया बाबा रहते थे। वे सन्यासी शिरोमणि तथा सिद्ध–तपस्वी महात्मा थे। महाराजजी उनके दर्शन करने जाया करते थे तथा प्रदोष काल से पूर्व ही नित्य शान्त–चित्त होकर सायम् सन्ध्या कर लेते थे।॥ ६३ ॥

तथाच्छात्रान्नैकान् सयमनियमान् शान्तकरणान्
सदासेवालग्नान्　　गुरुचरणध्यानैकमनसः ।
स्वयं　　भिक्षावृत्तीनृजुसरलशीलान् श्रमवतः
निजीयं ब्रह्मत्त्वं सफलयितुमध्यापिपत च ॥ ६४ ॥

तथा अपने ब्रह्मत्व की रक्षा के लिए यम–नियमों का पालन करने वाले, स्वभाव से शान्त सदा सेवा में संलग्न, गुरुचरणों के ध्यान में रत, स्वयं भिक्षा माँग कर निर्वाह करने वाले सीधे और सरल स्वभाव के परिश्रमी अनेक छात्रों को पढ़ाते थे।॥ ६४ ॥

कदाचित्पूर्णायाँ　　गुरुचरणपूजां　　प्रतिगतः
शुभे शुक्रे मासे　　सुरजमलवैश्योस्य सविधे
समस्तौषीद्वावां　　निखिलजनभाषापरिगतैः
नवीनैः स्वैः भावैः सरल हृदयो जीवनयतेः ॥ ६५ ॥

कभी अषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा के दिन सेठ श्रीसूरजमलजटिया महाराजजी को चरण-पूजा करने गये वहीं विराजमान उड़िया बाबा की भी समस्तजनों की भाषा में नवोन-नवीन भावों से वन्दना की क्योंकि वे सरल हृदय थे॥ ६५ ॥

चिदानन्दध्यानान् निगमवचसाँ व्यापकवरान्
वदान्यान् भक्तेभ्यो भजनसरणीं सम्प्रथयतः ।
कषायैः　संरक्तान्　विगलितकषायान्हृदयतः
सदापूर्णानन्दान् भजत मनुजा रे यतिवरान् ॥ ६६ ॥

अयि भक्तो, आप सदा पूर्णानन्द बाबा का भजन करो। ये सदा चिदानन्द के ध्यान में मस्त रहते हैं, वैदिक वचनों के सुन्दर व्याख्याता हैं, बड़े उदार हैं भक्तों को भक्ति–मार्ग का उपदेश देते है यद्यपि ऊपर से काषायाम्बर धारण किये हुए हैं परन्तु इनके हृदय में से वासनाओं का नाश हो चुका हैं।॥ ६६ ॥

महासौम्याकारान् सकलजगताँ भेदनिचयान्
विभस्मीकुर्वाणान् हुतभुज इव स्वात्मपतितान् ।
शुभारम्भैर्दम्भोलिकरसौख्यं　　संप्रददतः
सदापूर्णानन्दान् भजतमनुजा रे यतिवरान् ॥ ६७ ॥

ये स्वभाव के सरल है। यह संसार के भेदभावों को ऐसे भस्म करते है जैसेजैसे अग्नि अपने में पड़े हुए पदार्थों को भस्म कर देता है और इनके यहाँ नित्य नवीन उत्सव होते हैं जिन के दर्शनों से भक्तों को स्वर्ग का सुख का अनुभव होता है।॥ ६७ ॥

क्रियाशान्तिर्ज्ञानं रतिरपि सृता ब्रह्मणि चिति
विहाय स्वत्वंस्वान् विदधति च धर्मक्रमयुताः।
समाधिं तत्त्वंभक्तिमतिसरलं सङ्गमयतः
सदापूर्णानन्दान् भजतमनुजा रे यतिववरान् ॥ ६८ ॥

इनका उपदेश है कि यदि कर्म, शान्ति, ज्ञान, और प्रेम-इन चारों का सम्बन्ध संसार से हट कर ब्रह्म में हो जाता है तो ये चारों अपने को खो बैठते हैं। उस समय कर्म कर्म न रहकर धर्म हो जाता है, शान्ति शान्ति न रहकर समाधि कहलाती है, ज्ञान भी अपना रूपान्तर कर तत्त्व–ब्रह्म बन जाता है और स्नेह का रूप भक्ति में बदल जाता है। ॥ ६८ ॥

इवासीनं तत्रा सुरसरिति जातं वसुवरम्
उवाचैनं वर्णिप्रवनमरहङ्कारसरलः
महाराज श्रीमन् प्रथिततपसस्तेतुपदयोः
निमग्नं चित्तं मेऽशरणमधुना तौहिशरणम् ॥ ६९ ॥

वहीं पर गङ्गात्मज अष्टम वसु के समान विराजमान नैष्ठिक ब्रह्मचारी महाराजजी से सेठ श्रीसूरजमल जटिया अहङ्कार शून्यता से सरल भाव से कहने लगे-महाराजजी, आप सिद्ध तपस्वी हैं आपके चरणों में मेरा अशान्त मन लग गया है, आपके चरण ही उसकी अशान्ति दूर कर सकते हैं ॥ ६९ ॥

नियोगं मे कञ्चिद्ददतु भगवन्नर्थविषयम्
यदीयापूर्तिः स्यात्सुखयितुमलं दासहृदयम्।
अकामोपि स्वार्थे परहितकृतेऽदभ्रकरुणः
प्रसन्नोमादृक्षे वसुसदुपयोगाय भवति ॥ ७० ॥

हे भगवन्, धन–विषयक कोई आज्ञा मुझे दीजिये जिसको पूर्ण करके सेवक को सन्तोष प्राप्त हो। यद्यपि आपकी अपने विषय में कोई कामना नहीं है फिर भी परोपकार के लिए बड़े दयालु हैं, अतः मुझ जैसों पर तो धन का सदुपयोग कराने के लिए प्रसन्न हो ही जाते हैं। ॥ ७० ॥

महाराजोपीत्थं तदनुमनसा तेन महितः
प्रसन्नोभूच्छ्रेष्ठी तदभिमतसिद्ध्यैचभवनम्
अधीत्यैच्छात्राणां प्रथमम्थ वृत्तिञ्च गुरवे
व्यवस्थामापन्ने द्विजवरनियोगात्तु कृतवान् ॥ ७१ ॥

इस प्रकार सरल हृदय से आत्म-निवेदन करने पर महाराज श्रीसेठ सूरजमल जटिया पर प्रसन्न हो गये और सेठजी ने एक अध्यापक की मासिक वृत्ति तथा छात्रों के अध्ययनार्थ एक अध्यापन-कक्ष की व्यवस्था कर दी ॥ ७१ ॥

नरौरावास्तव्यो द्विजकुलपयोजस्यदिनकृत्
अधिष्ठाता चासीत् नरवरमहावेदवसतेः
सलालोनन्दादिः कुलपतिकृपासम्बलवलः
ददौ योगं स्वीयं श्रुति सदननिर्माणहृदयः ॥ ७२ ॥

ब्राह्मण कुल-कमल-दिवाकर महाराज चरणों के सम्बल नरौरा निवासी चौधरी नन्दलालजी ने विद्यालय निर्माण में योग दिया। वे ही विद्यालय के व्यवस्थापक पद पर थे ॥ ७२ ॥

समारब्धेर्वर्षात्खरसनवचन्द्रान्नरवरे
श्रुतेर्विद्यागारे श्रुतिचरहिते पाठनविधौ ।
व्यवस्थामानेतुं सुरजमलप्राप्येण वसुना
समानर्चाचार्यानधिसमयमेतान् यतिवरः ।। ७३ ।।

सम्वत् १९६० से चले आ रहे साङ्गवेद महाविद्यालय में ब्रह्मचारियों के हितार्थ अध्ययन में व्यवस्था लाने के लिए महाराज जी ने वहाँ एक वैतनिक अध्यापक की नियुक्ति कर दी। उस पद पर जो भी आचार्य आया उसका सत्कार सेठ सूरजमल जटिया से मिलने वाले धन से किया। ।। ७३ ।।

क्रमादेतान् यातान् श्रममिव विदन् पण्डिततया
सचन्द्रं श्रीरामं विबुधशिवरत्नं शिवपरम् ।
गुरुं श्रीरामाज्ञां करयुगलपात्रस्य च यतेः
चतुर्थं श्रीरामेश्वरमभजतामन्दधिषणान् ।। ७४ ।।

महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद पर अनेक विशिष्ट-विद्वान् आये। पण्डित होने के कारण महाराजजी ने उन सभी का सत्कार किया। सर्व-प्रथम प्रधानाचार्य थे श्री शिवरत्न जी, उनके पश्चात् श्री रामचन्द्र जो तथा उनके पश्चात् करपात्रस्वामी के परीक्षा दिलाने के गुरु श्री रामाज्ञा जी तत्पश्चात् चौथे नम्बर में आने वाले श्री रामेश्वर जी थे। ।। ७४ ।।

तथा काले काले विविधबुधविद्याप्रणयिनो
यतीन् वानप्रस्थान् श्रुतिचरणशीलांश्च गृहिणः ।
सुवस्त्रैः सद्ग्रन्थैः सदशनधनैश्चापि धनिभिः
समर्चां प्रापय्यालभत परमं स्वान्तरसुखम् ।। ७५ ।।

उन आचार्यों के अतिरिक्त अनेक विद्वान् तथा विद्याप्रेमी यति, वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी, गृहस्थी, समय-समय पर आश्रम में जो भी आते थे श्रीमहाराजजी उन सभी का धनिकों द्वारा सुन्दर वस्त्रों, उत्तमोत्तम ग्रन्थों, मधुर स्वादिष्ट भोजनों तथा द्रव्य से सत्कार कराकर आभ्यन्तर सुख का अनुभव करते थे। ।। ७५ ।।

पदे वाक्ये न्यायेऽप्रतिहतगतैर्लब्धयशसः
कदाचिच्छ्रीविश्वेश्वरयतिवराणां च चरणाः ।
समायातास्तच्छ्रीकुलपतिपदं नेत्रविषयम्
विधातुं सस्नेहं नरवरधरायां भृगुपदात् ।। ७६ ।।

एक बार पंजाब से आकर भृगुक्षेत्र में रहने वाले पण्डित-स्वामी, यति-शिरोमणि श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज जो न्याय-व्याकरण-मीमांसा आदि शास्त्रों में अव्याहत-प्रवेश होने से लब्धप्रतिष्ठ थे श्रीमहाराजजी के स्थान का दर्शन करने के लिए भृगुक्षेत्र से नरवर में आये। ।। ७६ ।।

ससत्कारं तानासनवरमधिष्ठापितपदः
प्रसन्नात्मावोचत् कुलपतिरमून् नम्रवचनः ।
अहो भाग्यं स्वेषां चरणकमलैरङ्कितभुवाम्
इदानीमस्माकं यदिह भवतां स्नेहवसुधाः ।। ७७ ।।

महाराजजी ने उनका बड़ा सत्कार किया। सुन्दर, उत्तम आसन पर बैठाकर नम्र-वचनों से प्रसन्न मुद्रा में महाराजजी कहने लगे कि हम लोगों का अहोभाग्य है जो आपने अपने चरणों से हमारे आश्रम की भूमि को पवित्र किया और हमें स्नेह का पात्र बनाया। ।। ७७ ।।

आगतं स्वागतं श्रीमतां स्वामिनाम्
अत्र विद्यालयप्राङ्गणे तिष्ठताम् ।
स्वान्तरं चान्तरा तुष्यतामीशितुः
भक्तिगङ्गातरङ्गैः शुभैः शोधितम् ॥ ७८ ॥

महाराजजी कहने लगे कि इस विद्यालय के प्राङ्गण में विराजमान भक्ति की गङ्गा की तरङ्गों से शुद्ध, अपने अन्तरात्मा में सदा प्रसन्न रहने वाले श्रीस्वामीजी का स्वागत करते हैं । ॥ ७८ ॥

ब्रह्मविद्यास्रुतस्रोतसां शीतलैः
शीकरैः शीतलं जीवनं कुर्वताम् ।
गत्वरं सत्वरं तप्यमानं सदा
खिद्यतां मानवानां हितं ताम्यताम् ॥ ७९ ॥

दुःखित मानवों के हित की कामना से सन्तत नश्वर सांसारिक तापों से सन्तप्त मानवों के जीवन को ब्रह्म-विद्या के सरोवर से निकले हुए स्रोतों के शीतल शीकरों से शीतल करने वाले स्वामीजी का हम स्वागत करते हैं । ॥ ७९ ॥

उष्यतामाश्रमे पाठ्यताम् वर्णिनः
पूर्यतां दिक्सरित् कीर्तिकल्लीलकैः ।
ध्यायतामात्मनि ब्रह्मचिन्मात्रताम्
प्राप्यतामाश्रमो धन्यतापात्रताम् ॥ ८० ॥

आश्रम में रहिए, ब्रह्मचारी समुदाय को पढ़ाइये; दिशारूपी सरिताओं को कीर्ति की लहरों से भरिये, आत्मा में ब्रह्म की चिन्मात्रता का ध्यान कीजिए, आश्रम को धन्यता का पात्र बनाइये ॥ ८० ॥

प्रसन्नात्मावाक्यैरवितथपदार्थैस्तुसरलैः
तथेत्युक्त्वा दण्डी कतिपयदिनानान्तुपरतः ।
भृगुक्षेत्रं त्यक्त्वा सुत इव भृगोर्दैत्यसदनम्
अवात्सीत्स स्वर्गे नरवरपदे क्षोणितलगे ॥ ८१ ॥

सरल तथा सत्यार्थ वाक्यों को सुनकर बड़ी प्रसन्नता के साथ स्वामीजी ने महाराजजी की बात मान ली और भृगु के पुत्र जैसे दैत्यसदन को छोड़कर स्वर्ग में आकर रहने लगे थे वैसे ही वे भृगुक्षेत्र को छोड़कर पृथ्वी पर विद्यमान अपर स्वर्ग के समान नरवर आश्रम में आकर रहने लगे । ॥ ८१ ॥

सखा सखायं जनकः सुतं वा
सहोदरो वापि सहोदरं वा ।
गुरुं श्रुतेर्विज्ञतमं वटुर्वा
परस्परं तौ भजतः स्म तत्र ॥ ८२ ॥

चिरकाल साथ में रहने से स्वामीजी तथा महाराजजी परस्पर में ऐसा व्यवहार करते थे जैसे मित्र मित्र से, पिता पुत्र से, सहोदर भाई सहोदर भाई से और पिपठिषु छात्र वेद-विद् गुरु से करता है । ॥ ८२ ॥

पिता सुतान्वा भजतो मनस्वी
गुरुप्रियान् शान्तिदमोपयुक्तान् ।
स पात्रमुख्यान् करपात्रमुख्यान्
विश्वेश्वरोऽध्याप्य सुखी बभूव ॥ ८३ ॥

जिस प्रकार मनस्वी पिता सेवा-प्रवीण अपने पुत्रों से वात करने में प्रसन्नता का अनुभव करता है उसी प्रकार श्रीस्वामीजी भी अपने में श्रद्धा रखने वाले, शम-दम से युक्त, सच्छात्र-शिरोमणि करपात्रीस्वामी जो आदि को जो उस समय ब्रह्मचारी वेष में रहते थे- पढ़ा कर सुख का अनुभव करते थे । ।। ८३ ।।

प्रयागे कुम्भे पर्वणि सदसि स्वैरं तु विदुषाम्
प्रवृत्ते शास्त्रार्थे प्रतिभटगजेन्द्रेषु पुरतः ।
मृगेन्द्रान्सत्तर्कप्रखरनखघातं विदधतो
विलोक्यार्यानिकान् मुमुहतुरिवैतौ गुणितया ।। ८४ ।।

एक वार प्रयाग में कुम्भ पर्व था । विद्वानों का किसी विषय पर विवाद चल रहा था । सब पण्डित-मण्डली एक तरफ थी तथा दूसरी तरफ अकेले एक पण्डित । अपनी प्रवल युक्तियों से मृगेन्द्र जैसे अपने विरोधी गजों को नखप्रहार से भगा देता है वैसे ही अकेले ही वे अपने विरोधी विद्वानों को मूक कर रहे थे । यह दृश्य देख कर दोनों मित्र उन पर मुग्ध हो गये । ।। ८४ ।।

जले नौकायद्वत्स्थल इव समे स्यन्दनगतिः
निरालम्बं विष्णोः पदमनुविमानस्य गमनम् ।
पदे न्याये शास्त्रेऽप्रतिहतगतौ वाचि विदुषः
सदाचारान् यूनः वयसि वपुसि ज्ञानमहितान् ।। ८५ ।।

उस विद्वान की व्याकरण-न्याय आदि शास्त्रों में जलमें नौका के समान, सम-भूमि में रथ के समान तथा निरालम्व आकाश में विमान के समान गति थी । सदाचारी तथा अवस्था और शरीर में युवा होते हुए भी ज्ञान में वे वृद्ध थे । ।। ८५ ।।

प्रकाशानाचार्यान् विजयसहितान् विश्रुततमान्
विधाय प्राचार्यानृषिवसुनवेन्दौ तु शरदि ।
श्रुतेः सर्वज्ञाया अधिसदनमेतान् प्रभवतो
लभेतेस्मानन्दं नरवरनिवासे यतिवरौ ।। ८६ ।।

उस विद्वान का नाम था आचार्य श्री विजयप्रकाश शर्मा गौड़ । अतः उनकी प्रसिद्धि और विद्वत्ता देख कर महाराजजी तथा स्वामीजी ने उनको श्रीसाङ्गवेद महाविद्यालय के प्रधानाचार्य पद पर नियुक्त कर दिया तथा आचार्यजी भी अपनी विद्वत्ता से वहाँ अपना प्रभाव स्थिर कर बैठे, इसको देखकर दोनों मित्रों को बड़ा आनन्द हुआ । ।। ८६ ।।

उपाचार्यः शास्त्री नवनिधिरसौ पाठककृती
विधातादेशानां कुलपतिकृतानां स्वमनसा ।
वटूनांशिक्षावित्स्मृतिविहितकर्माग्निहवनः
प्रलभ्यप्राचार्यानधिगतहृदर्थोऽपि मुमुदे ।। ८७ ।।

उस समय उपाचार्य-पद पर शास्त्री नवनिधि पाठकजी थे । वे महाराजजी के आदेशों का अपने हृदय से परिपालन करते थे अथवा अपने मन से ही महाराजजी के आदेशों का आदेश देते थे । वे वालकों को पढ़ने की कला के पण्डित थे । नित्य-प्रति स्मार्त-हवन किया करते थे । वे भी आचार्यजी के आने से सफल मनोरथ हुए ।। ८७ ।।

समागत्य स्वामी शरवसुनवेन्दौ नरवरे
विधायासौ तस्य स्मृतिमिह गुरोः पूतहृदये ।
विधातुं सुस्थानं तदुचितमिव ब्रह्मणिपरे
गतः स्वस्मिन्भूम्नि श्रुतिनवनवेन्दौ तु शरदि ।। ८८ ।।

श्री स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी महाराज विक्रम सम्वत् १९८५ में नरवर आये तथा अपने गुणों से नरवर आश्रम के संस्थापक के पवित्र हृदय में अपना स्मरण छोड़कर विक्रम सम्वत् १९९४ में परब्रह्माभिन्न स्वरूप में लीन हो गये। मानो वे अपने मित्र के उपकार की प्रत्युपकृति के लिए ब्रह्म में उनके स्थान की व्यवस्था करने गये। ।। ८८ ।।

ततो मन्दं मन्दं श्रममगणयन्पाठनविधौ
विवित्सुच्छात्राणां हृदिपरमतोषं समनयत् ।
शतं विद्यावित्तान् स्वसमकृतविज्ञान् बहुपटून्
प्रकाशानाचार्यो विजयमुखरान् सोऽपिकृतवान् ।। ८९ ।।

नरवर आश्रम में आने के पश्चात् आचार्य श्री विजयप्रकाश जी ने शनैः शनैः बड़ा श्रम किया। दिन-रात पढ़ाते-पढ़ाते जिज्ञासु छात्रों को हृदय से सन्तुष्ट किया। सैकड़ों छात्र सामान्य कोटि के, सैकड़ों अपने जैसे सफल विद्वान् तथा सैकड़ों मध्यम कोटि के विद्वान् तैयार किये जो प्रदेश के कोने-कोने में उनका प्रकाश कर रहे हैं। ।। ८९ ।।

मुहूर्ते सन्नाह्मे श्रुतिसुखदगङ्गालहरिका —
सुघोषान् खं व्याप्तान् नरवरधरादेवमुखजान् ।
दिवान्नापूर्णाम्बास्तुतिसततसंन्तानरवगुणान् ।
मुहुः श्रावं श्रावं कुलपतिवरास्ते मुमुदिरे ।। ९० ।।

नरवर में ब्राह्म मुहूर्त में छात्र-वृन्द द्वारा की गई गङ्गा-लहरी की मधुर ध्वनि से आकाश गूंज उठता है। मध्याह्न में भी अन्नपूर्णा-स्तोत्र की सतत् पाठ-परम्परा की भी आकाश में ध्वनि गूंज जाती है। महाराजजी जब इन ध्वनियों को सुनते थे तो प्रसन्न होते थे। ।। ९० ।।

द्विजानाञ्चाप्यन्तर्हितमनुसरन्तः स्वहृदये
निशीथे शास्त्रार्थे श्रुतिगुणनिकायामपि च वा ।
निरुत्साहान् छात्रान् पठनविषये लग्नमनसो
विधातुं सद्वृत्तीः कुलपतिवरास्ते ददिरे ।। ९१ ।।

महाराजजी हृदय से द्विजों के हित-चिन्तक थे इसी से वे रात्रि में छात्रों से शास्त्रार्थ कराते थे और वैदिक मन्त्रों का अभ्यास कराते थे। जो छात्र इन कामों में उत्साह नहीं दिखाते थे उनको भी महाराजजी द्वारा उत्तम छात्र-वृत्तियाँ दी जाती थीं जिससे उनका भी मन अध्ययन में लग जाय। ।। ९१ ।।

अथैकस्मिन् काले श्रुतिसुभगबोधो द्विजवरः
हृषीकेशीरामः शतमुखभृते कोटिहवने ।
दिदृक्षामापन्नः कुलपतिपदाम्भोजयुगले
न्यवेदीत्कर्तुञ्च श्रुतिजविधिना यागममुना ।। ९२ ।।

एक बार वेदों के उद्भट विद्वान् ऋषिकेश निवासी पं० बालकरामजी अग्निहोत्री के मन में शत-मुख कोटि होमात्मक यज्ञ को देखने की इच्छा हुई। उन्होंने महाराजजी के चरणों में निवेदन किया कि आप एक शतमुख कोटि होमात्मक यज्ञ वैदिक विधि से करायें। ।। ९२ ।।

श्रीकृष्णबोधाश्रमदण्डिवर्यैः
तन्मित्रमुख्यैः करपात्रसंज्ञैः।
विद्वद्भिरन्यैः श्रुतितत्त्वविद्भिः
श्रुतान्वमोदि क्षितिदेववाणीम् ॥ ६३ ॥

यह प्रस्ताव श्री महाराजजी द्वारा श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज तथा उनके मुख्य मित्र पण्डित प्रवर करपात्री स्वामीजी महाराज तथा अन्य वेद पारङ्गत विद्वानों के कानों तक पहुँचा। सभी ने अग्निहोत्रीजी की वाणी का समर्थन किया॥ ६३ ॥

सम्प्रार्थितो जीवनदत्तशर्मा
दुष्प्रापमन्यैर्यजमानकृत्यम्।
स्वीकृत्य यागे समुवाह सम्यक्
सन्दर्शयन् द्रव्यवतां सुमार्गम् ॥ ६४ ॥

जिस यजमान-कर्म को अन्य लोग इच्छा करने पर भी नहीं पा सके वही यजमान-कर्म महाराजजी ने विशिष्ट-जनों के आग्रह से स्वीकार किया और धनिक व्यक्तियों को द्रव्य के व्यय का सुमार्ग प्रशस्त करते हुए उस याग में यजमान कृत्य भली प्रकार से पूरा किया॥ ६४ ॥

स इन्द्रप्रस्थे रविजासुकूले
सम्वत्सरे वै खखखाक्षिसंख्ये।
यागे भृतो भारतभूमिपुण्यैः
पूर्वं न दृष्टः परतो न भावी ॥ ६५ ॥

सम्वत् २००० विक्रम में यमुनाजी के किनारे दिल्ली नगर में वह याग सम्पन्न हुआ। वह याग भारत भूमि के पुण्यों के बल पर ही सम्पन्न हुआ क्योंकि इस प्रकार के उत्तम कोटि का याग न पहले कभी हुआ और न भविष्य में होने की सम्भावना है॥ ६५ ॥

गुणाः सर्वे नार्यो दृशमभिगतास्तस्य महतः,
ऋते जायात्वात्स्वात्श्रुतिचरणशीले प्रभवतः।
तथा दृष्टा भूते भवति समये भाविनि न च
विलुप्तिस्त्वेकापि व्रतविषयिका तत्र मनुजैः॥ ६६ ॥

महाराजजी नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। अतः उनको महिलाओं में स्वजायात्व के अतिरिक्त सभी गुण मिले। महाराजजी में भी किसी भी व्यक्ति को भूत, भविष्य और वर्तमान काल में नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के विषय में एक भी त्रुटि नहीं मिली॥ ६६ ॥

शुभैः स्वच्छैः शुभ्रैःसदशपटखण्डैः खरतमैः
स्वदेशे सञ्जातैः खदिरसमसंज्ञैरविहृतैः।
उभे स्वे कौपीने सकटिवसनञ्चोर्ध्ववसनम्
विधायाङ्गे धृत्वा परिभवति स स्मान्तररिपून्॥ ६७ ॥

महाराज जी शुभ, स्वच्छ, शुभ्र और बिना सिले जिनके छोर लटकते हों, मोटे अपने देश में उत्पन्न खद्दर के खण्डो से अपने दोनों कौपीन तथा कटि वस्त्र, ऊर्ध्व वनाकर शरीर पर धारण करके काम क्रोधादि आभ्यन्तर शत्रुओं पर विजय पाते थे ॥६७॥

विपत्यां पत्यौ वा यमसदसि जातेऽतिथिवरे-
निरालम्बाम्वाभ्यो धनवसनभाण्डादिकचयैः।
पिता वा पुत्रो वा सुहृदिव गुरुर्वापिधनिनः,
स साहाय्यं दातुं परजनहितेऽबूबुधत च ।। ९८ ।।

जब किसी महिला के पति पर कोई भारी विपत्ति आजाती थी अथवा वह यमलोक का अतिथि हो जाता था, उस निरालम्ब अवस्था में पुत्र, पिता, मित्र, अथवा गुरु के समान महाराजजी माताओं को सहायता दिलाने को धनिकों को प्रेरित करते थे ।। ९८ ।।

विकल्पः शास्त्राणां कुलपतिकृतानां न वचसाम्
विवृद्धया व्याकृत्यां स्वगुणपररूपे च विहिते।
कणादीये शास्त्रे व्यभिचरणदोषप्रसरणम्
विलुप्तो नैवासीत्स्वजनहृदये प्रत्ययगणः ।। ९९ ।।

महाराजजी के यहाँ स्वाध्याय के लिए शास्त्रों का विकल्प तो था। परन्तु उनके वचनों का विकल्प नहीं होता था। इसी प्रकार व्याकरण-शास्त्र में ही केवल वृद्धि करने वाला सूत्र गुण तथा पररूप करने वाले सूत्र का वाधक था, न तु आश्रम में बलवान् अबल का वाधक था। व्यभिचार दोष भी कणाद प्रोक्त शास्त्र में था परन्तु आश्रम में नहीं था। एवं आत्मीय जनों के हृदय में प्रत्यय का लोप भी व्याकरण शास्त्र के समान नहीं था ।। ९९ ।।

न सत्यं याथार्थ्यं भवति तदिह प्राणिहितदम्
न वस्त्रः काषायैः लसति यतिता कामहननैः।
न शौचं मृद्वाभ्यामपितु वसुतो व्यक्तिशुचिता
उपाशिक्षिष्टेत्थं व्यवहृतिमिषाज्जीवनवरः ।। १०० ।।

महाराजजी अपने व्यवहार से निम्नाङ्कित उपदेशों की शिक्षा देते थे—वस्तु कीर्तन का नाम सत्य नहीं है, जिससे प्राणी का हित हो वह सत्य है, केवल कषाय वस्त्रों से संन्यासी की शोभा नहीं है यदि उसने इच्छाओं का दमन नहीं किया है। इसी प्रकार केवल पानी और मिट्टी से शुद्धि नहीं यदि व्यक्ति में धन की शुद्धि नहीं है ।। १०० ।।

यदीये क्षीणाशः प्रतिभवति गेहेऽतिथिजनः
समादायास्मात्तत्सुकृतमखिलं पूर्वनिचितम्।
ददाति स्वं पापं नरकफलकं स्वात्मनिभृतम्
उपाशिक्षिष्टेत्थं व्यवहृतिमिषाज्जीवनवरः ।। १०१ ।।

जिस व्यक्ति के घर से अतिथि निराश होकर लौट जाते हैं, वे उस घर के रहने वालों के पूर्व पुण्यों को लेजाते हैं तथा नरक के साधन अपने में भरे पापों को उनको दे जाते हैं। अतः कभी भी किसी भिक्षुक को निराश नहीं करना चाहिए ।। १०१ ।।

न याचन्ते दीनाः प्रतिपदमिमे बोधजनकाः
ददध्वं दानन्नोऽशुभगतिमितां हृतुं मनसः।
नचेत्स्याद्युष्माकं परिभवफलास्माकमिवसा
उपाशिक्षिष्टेत्थं व्यवहृतिमिषाज्जीवनवरः ।। १०२ ।।

भिक्षुक केवल माँगने नहीं आते हैं, अपितु वे पद-पद पर उपदेश भी देते हैं, कि अयि धनिको, यदि आप हमारी जैसी दुर्गति नहीं चाहते तो हमें दान दो अन्यथा ऐसा न करने से हमारी जो दुर्दशा आप देख रहे हैं वही आपकी भी होगी ।। १०२ ।।

शतं सच्छात्राणामतिथिसतिथिन्यासिवनिनः
कृतावासांस्तस्मिन् नरवरभुवश्चाश्रमपदे ।
सुवस्त्रैः सद्ग्रन्थैः सदशनचयैः स्नेहसहितै-
रकार्षीत्सन्तुष्टानणुमपि तु नात्मार्थममुतः ।। १०३ ।।

महाराजजी आश्रम में रहने वाले सैकड़ों छात्रों, संन्यासियों, वानप्रस्थियों आदि को सुन्दर वस्त्रों उत्तम पुस्तकों, सुस्वादु घृतप्लुत भोजनों से सन्तुष्ट करते थे परन्तु अपने उपयोग में विद्यालय की किञ्चिन्मात्र वस्तु भी नहीं लेते थे ।। १०३।।

विना तां गायत्रीं पणमपि तु पार्श्वे न धृतवान्
विना तां गायत्रीं पदमपि तु मार्गं न गतवान्
विना तां गायत्रीं कणमपि तु नास्ये स कृतवान्
विना तां गायत्रीं क्षणमपि न कालं स इतवान् ।। १०४ ।।

गायत्री के अतिरिक्त वे एक पैसा भी पास में नहीं रखते थे। गायत्री के विना जप के एक पैर भी मार्ग में नहीं चलते थे। गायत्री के विना जप किये एक दाना भी अन्न का मुख में नहीं रखते थे। विना गायत्री जप किये उनका एक क्षण भी व्यतीत नहीं होता था ।। १०४ ।।

स्तुता सा गायत्री दिनमनुदिनं तेन महता
पुरश्चारैः पूतैर्ऋषिभिरमला वेदजननी ।
कलङ्कैः पङ्कैर्जीवनकमलमेवं विरहितम्
व्यकासीत्पुण्येऽस्मिन् नरवरभवे जीवनजले ।। १०५ ।।

इस प्रकार उस महात्मा ने वेद माता गायत्री की पुरश्चरणों से उपासना की। एक पुरश्चरण २४ लाख बार गायत्री मन्त्र जपने से होता है। इस प्रकार नरवर स्थान के संस्थापक जीवनदत्त शर्मा के आयु के जल में कलङ्क की कीचड़ के विना ही जीवन पङ्कज खिलता रहा ।। १०५ ।।

अथैकस्मिन् वादे क्षितिविषयके केनचिदपि
सतामाचार्याणां मतिमतितमां वीक्ष्यनिपुणाम् ।
श्रुतेर्विद्यागारे विगतभयचिन्तो यतिवरो
महायात्राकांक्षी निभृतनिजकृत्योऽभवदिह ।। १०६ ।।

एक बार विद्यालय की भूमि का विवाद किसी ने चलाया। श्रीआचार्यजी ने विद्यालय का पक्ष लिया और श्री महाराज जी दूसरे पक्ष में गये। विजय आचार्यजी की हुई। इससे महाराज जी समझ गये कि आचार्यजी की विद्यालय में पूर्ण निष्ठा है। वे मेरे विना भी विद्यालय को चला लेंगे अतः अपने कृत्य को पूरा समझ कर परलोक गमन की सोचने लगे ।। १०६ ।।

मघौ कृष्णे पक्षे तदभिमतसिध्यै कृतमतिः
विरूपाक्षो वर्णी धनशशिखनेत्रेऽथ समये ।
समायातो द्रष्टुं कुलपतिमुखं दैववशतो
दशम्यां तं दृष्ट्वा समलभत मौनं द्विजवरः ।। १०७ ।।

एक दिन सम्वत् २०१२ विक्रम में चैत्र मास को कृष्णपक्ष की दशमी तिथि को वर्णी रूपधारी विरूपाक्ष शिवजी दैवयोग से महाराजजी के अभिमत की सिद्धि की सूचना देने के लिए महाराज जी के पास आये। उनको देखकर महाराजजी ने मौन धारण कर लिया। विशेष-इस दिन एक काणा ब्रह्मचारी महाराजजी के दर्शन करने आया था। इसका निर्देश रामस्वरूप त्रिकालदर्शी ने २० बर्ष पूर्व ही कर दिया था ॥ १०७ ॥

अथोदीनान्खिन्नान्विलपत इतान् सर्वमनुजान्
विहायेमं देहं वसनमिव जीर्णं विषयजम्।
कलङ्कैरस्पृश्यो जनजनहितः सर्वसमयम्
गतो भूम्निस्वस्मिन् सरसिरसजे ब्रह्मणिपरे ॥ १०८ ॥

चैत्र मास के कृष्ण-पक्ष की दशमी तिथि को समागत समाज को विलखता छोड़कर नश्वर विषयजन्य देह को जीर्ण वस्त्र के समान त्याग कर सम्पूर्ण जीवन में कलङ्कों से अस्पृश्य प्रत्येक प्राणी का हित करने वाले महाराजजी आनन्दमय सरोवर स्वरूपाभिन्न व्यापक ब्रह्म में विलीन हो गये ॥ १०८ ॥

भृतः शोको लोके गृहिवनियतिव्याकुलकरः
प्रलिप्तानीवाङ्गानिधनतमसावै तनुभृताम्।
मुहुः श्रावं श्रावं कुलपतिकृतं ब्रह्मलयनम्
समाजग्मुर्लोका विशिथिलमनोवागसुभृतः ॥ १०६ ॥

सारे जगत् में शोक छा गया गृही, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी, संन्यासी सभी व्याकुल हो गये, प्राणियों के अङ्ग निविड़ अन्धकार से लिप्त से हो गये। महाराजजी की ब्रह्म में लीनता को सुनकर आश्रम में मन, वाणी और प्राणों में शिथिलता वाले भी सभी लोग सत्यता का अन्वेषण करने के लिये आ गये ॥ १०६ ॥

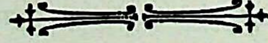
चिताधूमे पूर्णे सुरसदसि पातालरसयो-
र्विखिन्ना भूदेवाः. असुरसुरतामध्यमहिताः।
भ्रमन्तः स्वैर्नेत्रैर्जलकुसुमवृन्दानि सततम्
किरन्तः सम्प्रोचुर्दिवमनुगतोदिव्यमहिमा ॥ ११० ॥

जब चिता का धूम्र स्वर्ग, पाताल और पृथ्वी पर छा गया तब भूदेव, असुरश्रेष्ठ तथा सुर-श्रेष्ठ चिता की परिक्रमा करते हुए अपने नेत्रों से जल के कुसुमों की वर्षा करते हुए कहने लगे कि स्वर्ग की महिमा स्वर्ग को चली गई ॥ ११० ॥

कृष्णबोधाश्रमस्याथ सांयात्रिकम्
जीवनं जीवतां कृष्णबोधाश्रमम्।
कृष्णबोधाश्रमे प्राणिनां प्राणने —
प्रापयत्तं स्वयं कृष्णबोधाश्रमः ॥ १११ ॥

कृष्णबोधाश्रम पद में कर्मधारय तथा षष्ठी तत्पुरुष समास मानकर मैं चला हूँ, कृष्णबोधरूप आश्रम ब्रह्म के यात्री तथा जीवों के लिए कृष्णबोध के आश्रम श्री जीवनदत्तजी महाराज को स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी ने प्राणियों के कृष्णरूप बोधरूप आश्रम में स्वयं पहुँचा दिया ॥ १११ ॥

सारस्वतप्रसूपित्रोः सारस्वतोपनामकः ।
सारस्वतगुरुः शास्ता सारस्वतगुरुद्रुहाम् । १ ।।
सारस्वतसमर्चायै सारस्वतसुकोरकान् । ॥
समर्पयामि सश्रद्धं सारस्वतपदद्वये ॥ २ ॥
समर्पकः साङ्गवेदाख्यविद्यागारस्य विश्रुतः ।
भूदेवैरपि वैदुष्ये विजयादिप्रकाशकैः ॥ ३ ॥
श्रीविजयप्रकाशैश्च विद्वद्भिः पाठितो मुदा ।
अध्यक्षो व्याकृतौ भागे खुर्जास्थे वेदमन्दिरे ।। ४ ।।
लक्ष्मणदासनाम्ना यः सूरजबाबुसूनुभिः ।
चाल्यते पाल्यते प्रेम्णा श्रीरामेश्वरलालकैः ।। ५ ।।



श्रीगुरुगुणगौरवस्मरणम्

लेखक—श्री शिवप्रसाद वासिष्ठ श्री साङ्गवेदमहाविद्यालय (नरवर)

यद्वात्सल्यरसाब्धावासीन्मनुजोऽभिषिक्तसर्वाङ्गः ।
अपितदि्न्दुरिदानींदुर्दैवाद्दुर्लभो जातः ॥ १ ॥

आर्द्रीभवति मदीयं हृदयंस्मृत्वाद्यगद्गदा वाणी ।
हन्त तथापि क्रियते श्रीगुरुगुणगौरवस्मरणम् ॥ २ ॥

हिमाचलसुतासुतोभवतुविघ्नबाधाहरो हरो हरतु चाज्ञतां गिरिजयाजयाभ्यर्चितः ।
जितेन्दुवदनाधुना ध्वनिविशारदा शारदा रदांशुजितचन्द्रिका द्रुतमभीप्सितंयच्छतात् ॥ ३ ॥

गुरुप्रसादेन शिवप्रसादः शिवप्रसादेन गुरुप्रसादः ॥
गुरुःशिवोऽथापि शिवोगुरुर्मे सदैवकल्याणदिशं प्रदिश्यात् ॥ ४ ॥

श्रीरामतीर्थादथ च प्रतीच्यां गव्यूतिगोविल्ववनादुदीच्याम् ।
श्रीजाह्नवीकूलगतो 'नरौरा' ग्रामो नलक्षेत्रसमीपवर्ती ॥ ५ ॥

रम्यः सदा प्राकृतिकैश्च दृश्यैः सेव्योऽस्ति यायावरसज्जनानाम् ।
ग्रीष्मेऽवकाशंप्रतिपद्यदूरा — च्चेतोविनोदायसमागतानाम् ॥ ६ ॥

स्थित्वा क्षणं यत्र समाधिमङ्गी—कुर्वन्ति चित्तानि चलानि पुंसाम् ।
पापौघहृद्देवसरित्सुधाम्भः सम्पर्कशीतानिलसेवितानाम् ॥ ७ ॥

विद्यातपःपूततमा महान्तः सच्चित्सुखब्रह्मविचारपूर्णाः ।
सत्साधवो यत्र समेत्य काले कालेऽनुगृह्णन्तिकृपाकटाक्षैः ॥ ८ ॥

ग्राम्याञ्जनान् वंशपरम्पराप्त — निश्छद्मसद्धर्मरुचीन् विनम्रान् ।
श्रद्धाभरेणानमितोत्तमाङ्गानातिथ्यसेवाव्रतमादधानान् ॥ ९ ॥

तस्योपकण्ठेऽस्तिविराजमानं गोपालसिद्धायतनं प्रसिद्धम् ।
तत्रैवसिद्धेश्वरपीठमेकं श्रीवृद्धकेशीतिपदाभिधानम् ॥ १० ॥

अथमत्तमातङ्गलोलाकरदण्डकेनतद्वर्णनम् ।

तदिहनरवरेतिनाम्नासमाख्यातमेकं महीखण्डमाभाति रम्यं, तदेवोच्यतेवृद्धकेशीतिसंज्ञं पुराविद्भिराकीर्तितं सिद्धपीठस्थलम्, वारिपीयूषमज्जज्जनौघाघहृज्जह्नुकन्यानवद्याम्बुवीचिच्छटाकान्तकूलस्थितम् ।

यत्र संशोभमानावनौ, देवकल्लोलिनीलोलकल्लोलमालामिलन्मन्दानिलाधूतशाखासमुद्भूतशोभालसद्वल्लरीव्रातजातप्रसूनप्रभूताग्र्यसौन्दर्यमाधुर्यसौरस्यसौगन्ध्यलुब्धालिमालासमारब्धसङ्गीत—वीणानिनादानुगं तालदानं प्रकुर्वन्ति मार्दङ्गिकाः प्रीतपारावताः, कोकिलाश्चालपन्तिस्फुटं मरागालामलं लास्यलीलाललामं लता लोभन यं वपुर्दर्शयन्त्यो मनोमोहयन्ति प्रकामं नृणां नृत्य मातत्यमन्दानिलान्दोलिताः ।

तत्र चाविक्रिया निम्बविल्वाम्रजम्बीरजम्बूवटाश्वत्थरम्भामलक्यादिनानावनोद्भूतवृक्षाः समक्षं जनानां वितीर्यात्मसम्पत्तिमेते सदर्थिभ्य आरान्महावातशीतातपक्लेशचिन्तामनादृत्य दिग्वस्त्रसंछन्न-देहाश्चिरं दुश्चरं सत्तपः कुर्वते प्रत्यहं चित्रमेतन्नकिम् ?

तत्र भूतानुकम्पाव्रतं विभ्रतां मानवानां कथाकैव तेषां शुचौ सिद्धपीठस्थले सुस्थितिं कुर्वतां, येऽन्वहं व्यासवाल्मीकिमन्वङ्गिरोऽत्र्यादिनानामुनिव्रातसन्दिष्टसद्धर्मसंसेवनेनात्मकल्याणपूर्वं परेषां समेषां सदा मानुषाणां त्रितापोपशान्तिं परां भावयन्तो वयोऽनैषुरीशानभक्त्या समस्तं नयन्ति प्रशस्त-व्रतेनैव नेष्यन्त्यथो नास्ति संशीतिलेशोमनाक् ॥ ११ ॥

अथ नरवरभुव्यखण्डां मनोवृत्तिमास्थाय कृच्छ्रे तपस्येव सर्वं जगद्रङ्गमञ्चीयदृश्यप्रपञ्चं पराभूय निःशेषमाजीवनं नैष्ठिकब्रह्मचर्यव्रतंवोढुकामैर्निकामं महाशान्तगम्भीरमुद्राङ्कितस्मेरसम्भ्रा-जमानाननान्तः समुद्द्योतिदन्तावलिव्याजराजत्सुधासूतिशीतातप प्रोल्लस द्वाक्सुधावर्षविन्दुप्रमन्दीकृत-श्रान्तपान्थाखिलस्वान्तसन्तापसार्थैः परार्थोद्यमैः ।

ईशनिश्वासभूतश्रुतिप्रोक्तवर्णाश्रमाचारमार्गस्थितैः, सर्वकालं करालं महाकालकालं कृपालुं समाराध्य भक्त्या महेशं मनीषासमुन्मेषकृद्वेदमातुर्मनुञ्च प्रजप्योत्तमां सिद्धिमाप्तैर्महाप्तैर्गिराम् ।

सर्वदिग्भ्रान्तकीर्तिप्रसूतप्रभोपेतलोकोपकारव्रतत्यागसन्तोषशान्तिप्रतीकैः, प्रगेस्मर्यपादाम्बुजैः श्री महाराजपादैः सुसञ्जीवनैः स्वेसमग्रेऽमले जीवने दत्तवद्वीतरागत्वमापद्यघोरे युगे संयतात्मेन्द्रिय—त्वात् प्रशस्तं शुभं तादृशं नाम सम्प्राप्तवद्भिर्महोदारचित्तैश्चतैः ।

देहगेहादिनानाविकल्पासदभ्याससञ्जातविष्वङ्महामोहसंछन्नबोधानबोधानगाधाद्भवाम्भो निधेर्दुस्तरादुत्तितीर्षून् मनुष्यान् सदावेदवेदाङ्गवेदान्तसत्सङ्गनौभिः समुद्धर्तुमद्धासमृद्धो महादेशिकै रेषकः साङ्गवेदाभिधानो महानत्र संस्थापितो ब्रह्मविद्यालयस्तस्य ते वै स्वयं कौलपत्येऽप्यधिष्ठाय यावत्क्षयोनायुषस्तावदेतं चिरञ्चारुसञ्चाल्य च ब्रह्मनिर्वाणभावंगताः ॥ १२ ॥

तदनु च विजयश्रियः प्राप्तवन्तः प्रकाशं समाजे सतां, प्रौढपाण्डित्यसंशोभिसंख्यावदग्रेसराणां मिथः सर्वशास्त्रीयचर्चाप्रसङ्गोत्थवादेषुये, श्रीसमायुक्तपूर्वं तदेवोत्तमं नाम शर्मान्त मन्वर्थकं भूषयन्तो महान्तोऽधुना ते महाराजपादैः समादिष्टमध्वान मालम्ब्य सर्वात्मना सत्प्रयत्नैरिमं साङ्गवेदाश्रमञ्चाल-यन्ति प्रकुर्वन्ति संवर्धनं सुस्थिरामुन्नतिं प्रत्यहं तस्य ते ।

ते च प्राचार्यवर्याः समर्यादमध्यापकैश्छात्रवृन्दैः समासेविता नित्यमत्रस्थिताः स्वानबोधान्ध-कारान्धलोकेषु सद्बोधरश्मीन् किरन्तश्च तेषां समुन्मुद्रय सम्मुद्रितान्याशु हृत्पङ्कजानि स्फुटं सर्वदो दीयमानप्रभापूर्णसूर्या इवाराजमाना महाराजपादाम्बुजातानुरक्ताः समेषां सदाकामयन्ते हितम् ।

ते सदभ्यस्तषड्दर्शन प्रौढपाण्डित्यभाजां समाजात् समालब्धसत्कीर्तिहारावलीमण्डिताः सर्व तन्त्रस्वतन्त्रा महापूर्वमाहेश्वरा भौमदिव्यादिभोगेषु निर्वासनं मानसं साधु सन्धारयन्तः सदा सच्चिदा-नन्द बोधामृतापानपीना अदीनाः पुनः सर्वविद्यासमुद्राद्रिजोपेतवामार्धशोभालसच्छङ्करोपासनावासना वासगेहं स्वदेहं तदाराधनासाधनं मन्यमानाः समर्चन्ति विश्वेश्वरं साम्बमीशं शिवं भक्तिभावेन मृत्यु-ञ्जयं मृण्मयम् ।

साङ्गवेदाश्रमेऽस्मद्गुरूणा मिहैषां दयावारिमन्दाकिनीपूरदूरीकृतानन्तसन्तापशिष्यव्रजानां, तपः

श्रीसमापन्नवैदुष्यभाजांसतामाधिपत्येस्थिता वन्द्यतत्पादपद्मातपत्राद्ध्र तच्छायया निर्वृतास्तद्विधेयाः समेऽध्यापकाः सन्ति सान्तेवसन्तः सदा ॥ १३ ॥

इहखलु गुरुशिष्यभावानुरूपां स्थितिं साधुसम्पालयन्तः समेऽध्यापकाध्येतृलोकाः सदा व्याकृति-न्यायवेदान्तवेदार्थ साहित्य वैशेषिकज्यौतिषप्रौढ योग प्रसंख्यानतन्त्रागम श्रौतमन्त्रार्थसिद्धान्तसारान्वितं सर्व मार्षं महावाङ्मयं सेवमाना नृलोके परां दर्शयन्ति स्फुटं भारतीयां जनैराद्दतां संस्कृतिम् ।

यत्र मन्वङ्गिरोयाज्ञवल्क्यादिनानामुनिप्रोक्तसद्धर्मशास्त्राणि सर्वाणि च व्यासपादप्रणीतानि नित्यं पुराणानि रामायणंभारताख्यानमावाचयन्तः पठन्तस्तथा पाठयन्तो विलोक्या भवन्ति प्रभाभासुरा भूसुराः ।

यत्र वर्णाश्रमाचारधर्मोपदेशैश्चशङ्कासमाधानशैल्या समागत्य नाना प्रदेशा द्विजिज्ञासवो मानुषाः प्राप्नुवन्तीह नैःश्रेयसीं श्रद्धया पद्धतिम् ।

यत्र चामूलचूलं समभ्यस्य शास्त्राणि सर्वाणि वैदुष्यमाप्ताः सदन्तेवसन्तो नितान्तं प्रवाचः सदा वन्द्यवृन्दारकव्रातविद्याविनोदार्णवाविर्भवन्नैकसत्सूक्तिरत्नावलीमण्डिताः पण्डिताग्रेसराः साङ्गवेदा-श्रमात् सश्रमं वेदवेदाङ्गवेदान्तविद्याव्रतस्नातकवंसमासाद्य सर्वत्र देशेविदेशेऽधुनाधीतिबोधप्रचार-प्रसारादिनानाप्रकारैः समस्तं ततं भारतीयं समृद्धं प्रकुर्वन्ति गीर्वाणवाण्या वरं वाङ्मयम् ॥ १४ ॥

कृतयुग इव यत्र कालः श्री महाराजपादारविन्दद्वयस्पर्शसञ्जातपुण्याधिकश्रीसमापन्नभूभाग-भाक्सिद्धपीठस्थले यत्र सर्वे जना धर्मसापेक्षभावं भजन्तः समाद्दत्य नित्यं स्ववर्णाश्रमाचारपूतं सद-ध्वानमू रीकृतं स्वस्वकर्मात्मनीनं समभ्याचरन्तो विलोक्यन्त आधूतकामादिदोषाश्चरे स्थावरे प्राणि-मात्रे च सन्दर्शयन्तो दयाम् ।

यत्र वन्द्या यतिव्रातमूर्धन्यधन्या वनस्था गृहस्थास्तथा ब्रह्मचर्यव्रतोपेतसद्वृत्तनिष्ठाः प्रतिस्ठा-ङ्गताः श्रीमहाराजपादप्रसादान्विता आस्यजा बाहुजाश्चोरुजाः पादजाः स्वस्वसत्कर्मणाराधयन्तीश्वरं वर्णधर्मानुसारं सदा ।

यत्र वैदुष्यपूर्णप्रभोपेतशास्त्रार्थशैल्या निरस्तं महानास्तिकानां श्रुतिप्रातिकूल्यानुकूलं मतं, यत्र दण्ड्योन कश्चिन्न वा दाण्डिकः स्वस्वधर्मेरता वै स्वतःशासिताः सन्ति सन्तो महाराजपादाम्बुजासेवना-दत्तासौभाग्यभाक्पदुकाराधका स्तत्तपःसिद्धसत्यात्मसङ्कल्पशक्तेः प्रभावाज्जना मोदमानाः सदा ।

वन्द्यपादारविन्दद्वयानेकदिग्भ्रान्तकीर्ति प्रभूताग्रयशोभालसद्दण्डिसंन्यासिसन्मण्डलीमण्डिताभ्यर्च्य षड्दर्शनाचार्यविश्वेश्वरस्वामिसत्पादपाथोजनिर्यद्रसास्वादसाक्षित्वभृत्पादुकापीठकाधिष्ठितं सद्म विद्योतते यत्र शोभावहम् ॥ १५ ॥

अगणितगुण गाम्भीर्यसौजन्यधन्यस्वभावाप्तसर्वाधिकख्यातिभाजां, सदभ्यागतातिथ्यसत्कार-सन्तर्पणेनाथ, नानाविपद्ग्रस्त संत्रस्तसम्प्रार्थिलोकोपकारप्रकारागु दूरीकृताशेषसन्तापसत्कर्मणा चापि लोकप्रियत्वं गतानां सताम् ।

वेदवेदान्तचिन्तापनीताखिलाविद्यकातिभ्रमाणां महाराजपादाम्बुजानां निवासस्थले, तत्कुटीरे शुभे यत्र तद्ब्रह्मधामाप्तिपश्चात् तदीया सितप्रस्तरोत्कीर्णसौम्याकृतिर्मूर्तिराराजते, प्रेरणादायिनी शुद्धसद्भावनाभाविता चापि हृन्मन्दिराभ्यन्तरालेसदा श्री महाराजपादाश्रितानां जनानां मनोमोहहृत्ता-न्महाभक्तिभाजां शुभा ।

यत्र सायं स्थिता वेदमातुर्जपं प्रत्यहं कुर्वतेस्माद्य सेयं शिला विल्ववृक्षादधः श्रीमहाराजपादानुस्मारयन्ती वियोगाधिमूढेव संलक्ष्यते ।

यत्र तत्पादपङ्केरुहस्पर्शसञ्जातपुण्याप्तपूज्यत्वमाबालवृद्धैश्चभक्तैः सदाभ्यर्चितं पर्वकाले विशिष्टैश्च सम्भारजातैः समाराधितं पादुकायुग्ममत्रैव रुद्राक्षमाला तदीया तथा भस्ममञ्जूषिका चापि ताम्राघ्यर्पात्रादिकं वस्तु संस्थापितं श्रीमहाराजपादस्मृतिं कारयन्ति प्रणम्यानि तन्नश्चिरम्॥१६॥

आब्रह्मनिर्वाणमिहस्थितानामाजीवनं जीवदयामयानाम् ।
वात्सल्यपीयूषपयोनिधीनां श्रीमन्महाराजपदाम्बुजानाम् ॥ १७ ॥
साकारभावं जगति श्रितानां नित्यं निराकारविवेकभाजाम् ।
नैसर्गिकानन्तगुणैर्युतानां तेषामथो निर्गुणताजुषाञ्च ॥ १८ ॥
ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्य सुनिर्वृतानां सर्वात्मभावं समुपागतानाम् ।
श्रीमद्गुरूणां गुणवर्णनं नो कर्तुं क्षमो यद्यपि बालबुद्धिः ॥ १६ ॥
आपावयाम्येव तथापि वाचं स्वीयां परं तद्गुणकीर्तनेन ।
स्मृत्वाद्यतांस्तत्प्रणतिं विधातुं गीरुद्गता सम्प्रति मे किलैषा ॥ २० ॥
तपसोर्जितान् सुरगिरां समवनदिशि दत्तजीवनान् ।
तद्गुरुसमुदितजीवनदत्तपदाभिधान् गुरुवरान् वयं नुमः ॥ २१ ॥
यदुपासनातुलवलेन भवति भवपाशमोचनम् ।
धर्ममखिलनिगमागमसिद्धसनातनं तमुपसंश्रितान् नुमः ॥ २२ ॥
धृतिमत्स्वभावविनिवारितसकलकरालषड्रिपून् ।
वेदविहितसुकृताचरणेऽनुदिनं गुरूनव्ययितजीवनान् नुमः ॥ २३ ॥
श्रुतिमातरं समुपसेव्य विहितविमलान्तरिन्द्रियान् ।
त्यागशमदमदमादिगुणैः समलङ्कृतान् सफलजीवनान् नुमः ॥ २४ ॥
जनमात्रमानससरोरुहरुचिरविकासभास्करान् ।
संस्कृत मथ निजसंस्कृतिमप्युददीधरन् यइहतान् गुरून् नुमः ॥ २५ ॥
प्रतिसम्प्रदायगतमानवविहितपरादरान् सदा ।
हिन्दुयवनजनतानतमौलिसमर्चितांघ्रियुगलान् गुरून् नुमः ॥ २६ ॥
श्रवणेन्द्रियाभरणतां प्रतिदिवसमुपागतं नृणाम् ।
लौकिकमपि परलोकहितं वचनं यदीयमिहतान् गुरून्नुमः ॥ २७ ॥
अभिवाञ्छितं सपदि सिद्धमभवदखिलं यतोऽर्थिनाम् ।
याचकजनहितकल्पतरूपमविग्रहान् प्रथितजीवनान् नुमः ॥ २८ ॥
व्रत मास्थितानविजितेन्द्रियगणजनदुर्लभं परम् ।
नैष्ठिक ममृतमयाचितमप्यथ वर्तनं भृशमुपाश्रितान् नुमः ॥ २६ ॥
वसुदेवसूनुमुखनिर्गतमुपनिषदां सुधारसम् ।
आलय मनुदिवसं प्रणिपीय सुनिर्वृता नजरजीवनान् नुमः ॥ ३६ ॥
श्रुतिमातृमन्त्रजपकर्मणि परमपरायणान् सदा ।
निर्जरसरिदवगाहसुनिर्मलविग्रहान् महितजीवनान् नुमः ॥ ३१ ॥

परमोपकारपरया निजकुशलधिया समेधितान् ।
तानवनतशिरसा समुपार्जितसद्यशोंऽशुधवलीकृतान्नुमः ॥ ३२ ॥
मनुयाज्ञवल्क्यसमुदीरितसुकृतपथानुयायिनः ।
सुस्मितविमलवलक्षरदावलिभूषितास्यसरसीरुहान् नुमः ॥ ३३ ॥
उपदेशदर्शितदिशावनिसुरभुजजार्यपादजाः ।
स्वस्वचरितरतयोविहिताः किल यैरुदारचरितानमून् नुमः ॥ ३४ ॥
सुविपश्चितः सकलसद्गुणगुरुतरकीर्तिराजितान् ।
बुद्धिविभवजननं श्रुतिमातृमनुं सदैव जपतां वरान् नुमः ॥ ३५ ॥
वृतभूसुरेण सरुजोजपनिजपितृवारिकर्म ये ।
सान्ध्यविधिसुरसमर्चनपूर्वमकार्षुरासुविगमं गुरून् नुमः ॥ ३६ ॥
परमात्मतत्त्वमधिगत्य दुरधिगमशाश्वतं पदम् ।
दुश्चरतपसिरता निरतं य उपागताः सपदितान् गुरून् नुमः ॥ ३७ ॥
वयमावितत्य पदवन्दनममरगिरा कृतार्थताम् ।
सम्प्रति मनसि मुदा बिभृमो गुरुपादपङ्कजपरागनिर्वृताः ॥ ३८ ॥
लोकाः समस्तास्तपसा जितायैः पराजिताः षड्रिपवो बलिष्ठाः ।
निरन्तरायः परलोकमार्गो व्यधायिपूर्णंकृतमात्मकृत्यम् ॥ ३९ ॥
वसन्ति ये मानसमन्दिरेषु दयालवोऽन्तेवसतां जनानाम् ।
विधीयतेतत्पदकञ्जपूजा श्रद्धारसाविप्लुतभावपुष्पैः ॥ ४० ॥
प्रासीसरन् संस्कृतभारतीं ये लोकोपकारव्रतमादधानाः ।
वर्णाश्रमाचारपरम्पराप्तं सनातनं धर्मपथं प्रपन्नाः ॥ ४१ ॥
नित्यं समेषां विपदन्तकामा दयाद्रवीभूतसदाशया ये ।
यशोयदीयं शशिशुभ्रमस्मिन् विराजते भारतभूमिभागे ॥ ४२ ॥
श्री साङ्गवेदाश्रममाध्यमेन येऽकार्षुरत्रामरशारदायाः ।
समुन्नतिं तानभिनन्द्यकीर्तीन् वन्दामहे जीवनदत्तपादान् ॥ ४३ ॥
जीवनदत्ता अपि ते लोकेऽस्मिन् दत्तजीवना आसन् ।
दत्तात्रेयभगवतो जीवनमिव जीवनं येषाम् ॥ ४४ ॥
श्रीमज्जीवनदत्तैरन्वर्थंनामधारितं लोके ।
संस्कृतरक्षायां यैः सम्पूर्णं जीवनं दत्तम् ॥ ४५ ॥
नरवरभुवि संस्था साङ्गवेदाभिधाना गुरुवरचरणानां भौतिकीमूर्तिरेषा ।
मनसि वचसि काये स्नातकानां समेषां प्रयतनमभिवाञ्छत्यालयं स्वाभिवृद्धयै ॥ ४६ ॥
प्रतिदिनमधिकामुपैतु वृद्धिं सुरतटिनीतटवर्तिनी तदीया ।
नरवरभुविसाङ्गवेदसंस्था भवतु चिरं फलितापि पुष्पिताग्रा ॥ ४७ ॥



संस्मरणाञ्जलिः

पाद-प्रमाध्यासमयो मृषाऽपि, प्रभासते सन्निव सुप्रपञ्चः ।
यस्मिन्नधिष्ठानमयेऽद्वितीये, तज्जीवनं तंत्त्वमहम्भजामि ॥ १ ॥

सविलास अज्ञान के विषयीभूत जिस अद्वितीय तत्व में भ्रान्त्याभास-स्वरूप होने से मिथ्या होता हुआ भी यह सुन्दर जागतिक प्रपञ्च वस्तुसत्ता-सा भासित होता है उस जीवन तत्व (अनारोपित स्वरूप) को मैं भजता हूं ॥ १ ॥

श्रीमज्जगन्नाथ-गया-प्रसाद, साकास्-तीर्थद्वय-सम्प्रयुक्तः ।
सारस्वते श्रद्ध-विधौ गुरूणाम्, श्राद्धाञ्जलीन् कल्पयितुं प्रवत्ते ॥ २ ॥

श्रीमती जगन्नाथपुरी तथा श्रीमती गयापुरी (दोनों पवित्र तीर्थ स्थानों) के प्रसाद ही श्रीमान् पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा (स्मृतिग्रन्थ प्रकाशन समिति के अध्यक्ष) तथा श्रीमान् पं० गयाप्रसाद उपाध्याय (स्मृतिग्रन्थ-समिति के मन्त्री) के रूप में साकार हुए दो तोर्थों (विद्वान पुरोहितों) द्वारा अच्छी प्रकार आसप्त मैं गुरूदेव के वाङमय श्राद्ध में श्रद्धा-समन्वित उञ्जलियों की रचना करने के लिए प्रवृत्ति होता हूँ ॥ २ ॥

शब्दास्तिलानक्षत-याव-युक्तान्, अर्थञ्च गङ्गोदक-दिव्य-रूपम् ।
स्वां लेखनीं सत्कुश-मुष्टि कल्पा, मास्थाय कुर्वे गुरवे निवापम् ॥ ३ ॥

यहाँ त्रिविध शब्द ही अक्षत, यव के सहिततिल हैं, अर्थ ही गङ्गोदक के समान दिव्य रूप वाला है तथा मेरी लेखनी ही अच्छे कुशाओं का मूठा है । इतनी मात्र साधन-सामग्री लेकर मैं गुरूदेव के लिए पितृदान कर रहा हूं ॥ ३ ॥

आचम्य संयम्य च चित्तवृत्ती, यथा-यथान्तमुंखता मुपैमि ।
तथा-तथा संस्मृति-पट्टके मे, विचित्र-चित्राणि समुल्लसन्ति ॥ ४ ॥

आचमन-प्राणायाम करके मैं जैसे-जैसे अन्तमुंखता को प्राप्त होता हूं वैसे-वैसे ही मेरे संस्मरण रूप पटल पर अनोखे चित्र उभरते हैं । ४ ॥

कानि तानि चित्राणीत्याह,—

संस्वाप-सम्प्रत्त-महासुखायाः, यामे तुरीये सुभगे निशायाः ।
प्रद्धय यन्नाद् गुरूमासनस्थम् आत्म स्वरूपं कलयन्तकीक्षे ॥ ५ ॥

सम्यक् निद्रा द्वारा दिया है महान् सुख जिसने ऐसी रात्रि के सुन्दर चतुर्थ प्रहर में प्रयत्न-पूर्वक जग कर आसन पर विराज कर आत्म स्वरूप का चिन्तन करते हुए गुरूदेव को देख रहा हूं ॥ ५ ॥

ब्राह्मे मुहूर्ते कृत-बाह्य-शौचम्, प्रातस्स्मृते वैदिक-सूक्तमेकम् ।
गीतान्तथा विष्णुसहसनामान्यावर्तयन्तं गुरूदेवमीक्षे ॥ ६ ॥

ब्राह्म मुहूर्त में बाह्य शुद्धि करने के अनन्तर प्रातः स्मरण के एक वैदिक सूक्त (प्रातरग्निं प्रातरिन्द्र इत्यादि) का, गीता तथा विष्णु सहसनाम का पाठ करते हुए गुरूदेव को में देखता हूँ ॥ ६ ॥

व्युत्पित्समानै रधिशास्त्र-वृदम्, विद्यार्थि-वृन्दैरनुगम्यमानम् ।
शास्त्रार्थ-विज्ञान-दिशं दिशन्तम्, गङ्गा व्रजन्तं गुरुदेवमीक्षे ॥ ७ ॥

विविध शास्त्रों में व्युत्पत्ति की कामना करते हुए विद्यार्थियों की टोलियों से अनुगमन किये जाते हुए एवं उन छात्रों को शास्त्रों के अर्थ जानने का दिग्दर्शन कराते हुए गंगा की ओर जाते गुरुदेव को मैं देखता हूँ।

निर्वर्तित-स्नान-विधिं विधानैजपन्तमन्तह्यं घमर्षणानि।
प्रत्यूष-सन्ध्यामभिवन्दमानम्; गुरुं विलोके निगमागमज्ञम् ॥ ८ ॥

शास्त्रविहित प्रकारों से सम्पादन की है स्नान क्रिया जिन्होंने, जल के भीतर अथवा मन में अघमर्षण मन्त्र का जप करते हुए, प्रातःकालीन सन्ध्या-वन्दन करते हुए, वेद-शास्त्रों के विद्वान् गुरु महाराज को मैं देख रहा हूँ।

भावार्द्र-दृष्ट्याथ विभाव्य साक्षा-दुपस्थितं पितृ-कुलं पुरस्तात्।
सन्तर्पयन्तं सलिलाञ्जलीभिः; पश्यामि तं जीवनदत्तमीड्यम् ॥ ९ ॥

इसके अनन्तर समक्ष उपस्थित हुए पितृकुल को प्रेमार्द्र दृष्टि से साक्षात् देखते हुए, जलाञ्जलियों से सन्तर्पित करते हुए विख्यात श्री जीवनदत्तजी महाराज को मैं देख रहा हूँ।

सावित्र-वर्चो-विभवैकतान— ध्यानेन मन्त्रस्य गतिं मिमानम्।
बिल्वस्य मूले कमलासनस्थम्, साक्षात्करोमीव गुरुं गिरीशम् ॥ १० ॥

भगवान् सविता के तेजःपुञ्ज के एकटक ध्यान से मन्त्र (गायत्री) की उच्चारण गति को नापते हुए, बिल्व वृक्ष के मूल में वेदी पर पद्मासन से बैठे हुए गुरुदेव को मैं भगवान् शंकर की भांति साक्षात् देख रहा हूं।

विधेरनासक्तधिया कृतस्य, रात्रिन्दिवं पुण्य-फलं यथाप्तम्।
शिवाशिवाभ्याम्मनसार्पयन्तं, शिवालये सद्गुरुदेवमीक्षे ॥ ११ ॥

निष्काम बुद्धि से अहोरात्र में किये हुए कर्म के फल को यथा प्राप्त रूप में शिव-पार्वती के लिए मन से समर्पित करते हुए सद्गुरु श्री महाराज जी को मैं शिव-मन्दिर में देखता हूं।

वृन्दागतांश्छात्रबटून्समन्ता— दुपस्थितान्बोध-नद-प्रवाहम्।
वेदांस्तदङ्गानि सभाष्य-वृत्ती,न्यध्यापयन्तं गुरुदेव मीक्षे ॥ १२ ॥

टोली-की-टोली आकर चारों ओर उपस्थित विद्यार्थी-ब्रह्मचारियों को चारों वेद, ६ वेदाङ्गभाष्य तथा वृत्ति सहित—इस प्रकार जिसमें ज्ञान-नदी का प्रवाह चल रहा हो, पढ़ाते हुए गुरुदेव के दर्शन कर रहा हूँ।

मध्याह्न कालेऽभिषवं विधाय, तत्काल-सन्ध्यामभिवन्दमानम्।
वेदत्रयी-सार-मनुं जपन्तं, गुरुं विलोके श्रुति-कर्म-निष्ठम् ॥ १३ ॥

मध्याह्न काल में स्नान करके तत्कालीन सन्ध्या-वन्दन करते हुए, तीनों वेदों के सारभूत गायत्री मन्त्र को जपते हुए, वैदिक कर्म कलाप में निष्ठा वाले गुरु महाराज का मैं दर्शन कर रहा हूं।

स्वयम्प्रकाशंविभुमात्मदेवम्, विश्वेन कामं हविषा यजन्तम्।
भूतेन्द्रियेभ्यो बलिमुत्सृजन्तं, गुरुं विलोके द्विज-कर्म-दक्षम् ॥ १४ ॥

स्वयम्प्रकाश, व्यापक आत्मदेव को जगत्स्वरूप हवि से यजन करते हुए, भौतिक इन्द्रियों के लिए बलि उत्सर्ग करते हुए, ब्राह्मणोचित कर्मों के सम्पादन में निपुण महाराज जी को मैं देखता हूं।

सुस्वागती कृत्य वरैर्वचोभिः, संभोज्य यत्नादतिथीन्समेतान्।
स्वयं मुदा सात्त्विकमाहरन्त, मातृप्ति पथ्यं विधिना प्रणीतम्॥ १५॥

आये हुए अतिथियों का सुन्दर वचनों से स्वागत कर, यत्न-पूर्वक भोजनादि से सन्तुष्ट कर, स्वयम् भी प्रसन्न मन से विधि पूर्वक सम्पादन किये हितकर, सात्त्विक भोजन को तृप्ति पर्यन्त पाते हुए गुरुवर को मैं दृष्टिगत करता हूं।

राज्ञो धनाढ्यान् विदुषो यतीन्द्रान्, नियोक्तुकामं परमार्थ-मार्गे।
पत्रं प्रबध्नन्तमथाभिरामम्, मयाऽथवा साधु निबन्धयन्तम्॥ १६॥

इसके पश्चात् राजाओं को, धन-कुवेरों को, विद्वान् तथा श्रेष्ठ संन्यासियों को जन-हित कार्यों में लगाने की इच्छा वाले, एतदर्थ पत्र का सुन्दर मसौदा स्वयम् बनाते हुए अथवा मुझ (इन पद्यों के निर्माता) से बनवाते हुए गुरुदेव को मैं देख रहा हूँ।

बाल्मीकि-पाराशर-सम्प्रणीताः, कथास्तथा नैगम-धर्म-मुख्याः।
व्यासेन केनापि बुधेन वापि, व्याख्यायमानाः सरसं पिबन्तम्॥ १७॥

समय-समय पर किसी कथा वाचक अथवा विद्वान् प्रवचन कर्ता द्वारा सरस प्रकार से व्याख्या की जाती हुई बाल्मीकीय रामायण, व्यासकृत महाभारत, वेद तथा धर्म-शास्त्र प्रधान कथाओं को सादर श्रवण करते हुए श्री महाराज जी को मैं देख रहा हूँ।

वर्णाश्रमाचार-विचार-नीतौ, सनातने धर्मपथे तथेशे।
शंका-कलङ्कान् सकलान् स्व-वाचाम्, पीयूष-वर्षैः परिमार्जयन्तम्॥ १८॥

ब्राह्मणादि वर्णो, ब्रह्मचर्यादि आश्रमों से सम्बन्धित विचार एवं व्यवहारों के विषय में, सनातन धर्म के सिद्धान्तों पर तथा ईश्वर के सम्बन्ध में उपन्यस्त समस्त शंका रूप कलंकों को अपने तर्कवचनों के अमृतमय प्रवाह से प्रक्षालित करते हुए गुरुदेव को मैं दृष्टिगोचर कर रहा हूँ।

स्नात्वा शुचीभूय दिनावसाने, सायन्तनं सान्ध्य-विधिं विधाय।
शान्तोपविष्टं कुशमुष्टि-हस्तं, सावित्र-मन्त्रं प्रजपन्तमन्तः॥ १९॥

दिनान्त काल में स्नान कर, पवित्र होकर तथा सायंकालीन सन्ध्या विधि को समाप्त कर शान्ति पूर्वक आसन पर बैठे हुए, हाथ में कुश-मुष्टि थामे हुए, गायत्री-मन्त्र का मानस-जप करते हुए गुरुदेव को मैं देख रहा हूँ।

नीराजन-प्रीत-हृदा हरेण, नोनुद्यमानैरिव शिष्य- वृन्दैः।
नन्नम्यमानौ चरणारविन्दौ, ध्याये गुरोः प्रश्रयमादधानैः॥ २०॥

आरती करने से प्रसन्न हृदय शंकरजी से मानों बार-बार अत्यन्त प्रेरित हो रहे हों—ऐसे विनीत शिष्य-समूह से अतिशय वन्दित होते हुए गुरुदेव के सुन्दर चरणों को मैं ध्यान कर रहा हूं।

इत्थं समस्तं दिवसं व्यतीत्य, तपोमयैश्चिन्तन-चारु-कार्यैः।
विशन्तमानन्दमयीं निशायानिद्रां, गुणातीतया प्रकाशाम्॥ २१॥

इस प्रकार विचारपूर्वक सुन्दर तपोमय कार्य कलापों से समस्त दिन को व्यतीत करके रात्रि-काल में गुणातीत होने के कारण प्रकाशपूर्ण आनन्दमयी निद्रा में प्रवेश करते हुए गुरुदेव का मैं दर्शन कर रहा हूँ।

षडङ्ग-वेदाध्ययनेन पूतम्, लोकोत्तरं यस्य महच्चरित्रम् ।
श्रीभीमसेनेन सताम्मतेन, विकासमानीयत तं स्मरामि ।२२॥

जिनका षडंग वेद के अध्ययन से पवित्र, लोकोन्तर, महान् चरित्र विद्वद्वर पं॰ भीमसेनजी वेद-व्याख्याता द्वारा विकास को प्राप्त कराया गया उन श्री जोवनदत्तजी गुरुवर को मैं स्मरण कर रहा हूं।

विद्या-तपस्त्याग-परीत-जातौ, द्विजत्वमूलं निहितं विदित्वा ।
योऽस्थापयन्नार वरे प्रदेश, सदाश्रमं संधमिवाश्रमाणाम् ॥ २३॥

द्विजत्व का मूल विद्या, तप, त्याग से समन्वित जन्म के आधार पर स्थित है—ऐसा जानकर जिन गुरुदेव ने 'नरवर' स्थान पर ब्रह्मचर्यादि आश्रमों का संघ जैसा सुन्दर आश्रम स्थापित किया—मैं उन गुरूजी को स्मरण करता हूँ।

आद्यक्षरं जीवनमेव दिव्यम्, विश्वेश्वरं चैव परं गृहीत्वा ।
प्रत्याहरद्यो विजयप्रकाश–विद्वत्स्वशिष्यैर्गृहि-काननस्थौ ॥ २४॥

जिम गुरुदेव ने दिव्य जीवन (अनासक्त जीवन अथवा तपोमूर्ति ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी महाराज) को ही आदि अक्षर मानकर, प्रकृति से परे अथवा तुर्याश्रमी विश्वेश्वर (परब्रह्म अथवा पण्डित स्वामी अनन्त श्री विश्वेश्वराश्रमजी दण्डी) को अन्तिम अक्षर ग्रहण कर एवं विद्वद्वर आचार्य श्री विजयप्रकाशजी महाराज तथा उनके शिष्यमण्डल को गृहस्थी और वानप्रस्थाश्रमी रूप में अन्तः पाती अक्षर लेकर प्रत्याहार की स्थापना की--मुझे उनका स्मरण हो रहा है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि महावैयाकरण पाणिनि ने प्रत्याहार प्रणाली की अद्भुत स्थापना 'आदि रन्त्येन सहेता'—अष्टाध्यायी १–१-७१ सूत्र द्वारा प्रस्तुत की है। गुरुदेव ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी महाराज ने भी प्रकृत आश्रम (महाविद्यालय नरवर) की स्थापना में इसी प्रणाली का उपयोग किया था। शास्त्रीय गम्भीर सिद्धान्तों को लौकिक उपयोग में लाने की उनमें अद्भुत क्षमता थी।

आवर्जितो यत्तपसा विवस्वान्, विधेयमेकं भुवि सूर्यमल्लम् ।
नाम श्रुतं प्रेषितवान् यदीया - नाजन्म सम्पालयितुं निदेशान् ॥ २५॥

जिनकी तपस्या से वशीभूत हुए सूर्य भगवान् ने जिन गुरुदेव के आदेशों का आजन्म पालन करने के लिए अपने आज्ञावर्ती श्री सूर्यमल्ल (से॰ श्री सूर्यमलजटिया), (खुरजा) को जो इसी अन्वर्थ नाम से विख्यात हुए भेज दिया—उन गुरुदेव को मैं स्मरण करता है।

प्रवर्तनायेव कलौ कृतस्य, महामखान् कोटिमुखान् यजन्तम् ।
यज्ञावसाने च महाधनानि, सद्याजकेभ्यः प्रतिपादयन्तम् ॥ २६॥

मानों कलियुग में सतयुग की अवतारणा करने के लिए ही अनेक शतकोटिमहायज्ञों का यजमानत्व करते हुए और यज्ञों के अन्त में पुष्कलधन विद्वान् याजकों के लिए प्रदान करते हुए गुरुदेव को मैं स्मरण करता हूँ।

विद्यालयोन्नीतिकरानुपायान्, श्रीनन्दलालाय समादिशन्तम् ।
आसञ्जयन्तं विजयप्रकाशे, विद्याव्यवस्था विदुषां वरेण्ये ।। २७ ।।

विद्यालय (महाविद्यालय नरवर) की उन्नति करने वाले उपायों का श्री नन्दलाल शर्मा (उक्त विद्यालय को तत्कालीन प्रबन्धक अथवा कृष्ण भगवान्) के लिए आदेश करते हुए तथा ज्ञानोपलब्धि की समस्त व्यवस्थाएं श्री विजयप्रकाश शर्मा (उक्त विद्यालय के तत्कालीन और वर्तमान में भी प्राचार्य) को सौंपते हुए गुरुदेव को मैं स्मरण करता हूँ ।

नवा नवाः सन्निधयो नवापि, सकाश-विल्वादि-वनादुपेत्य ।
आजीवनं यच्चरणाम्बुजेषु, विशश्रमुस्तं मनसा स्मरामि ।। २८ ।।

नवीन-नवीन नौ भी अच्छी २ निधियां (अनेक प्रकार की समृद्धियां कुवेर के नो कोष अथवा स्व० पं० नवनिधि शास्त्री पाठक, उक्त विद्यालय के तत्कालीन उपाचार्य) समीप की वेलौन आदि वस्तियों से आकर अथवा कास समेत वेलों के वनों से आकर जहां आजीव (अपने जीवन भर अथवा जब तक गुरुदेव रहे तब तक) जिनके चरण कमलों में विश्राम पाते रहे—उनको मैं मन से स्मरण करता हूँ ।

यत्प्रेमतो भोग-सुखं विहाय, नारायणो मन्त्रि पदेस्थितोऽभूत् ।
गृहीत-दण्डोऽपि मुदाश्रमान्ताम्, जहाति नाद्यापि नरोत्तमाख्याम् ।। २९ ।।

जिन गुरुवर के प्रेम के कारण नारायण (श्रीमान् पं० नारायणदत्तजी महाराज अथवा शेषशायी विष्णु भगवान्) भोग (सांसारिक सुख अथवा शेषनाग-शय्या) का सुख त्याग कर मन्त्रिपद पर स्थित हुए (पं० नारायणदत्तजी ने महाविद्यालय के मन्त्रिपद का भार संभाला अथवा शेषशायी विष्णु ने मन्त्रयोगी या जपयोगी ब्र० जीवनदत्तजी महाराज के चरणों में स्थिति प्राप्त की) । केवल अतीत में ही नहीं आज भी पं० नारायणदत्तजी प्रसन्नता से दण्ड ग्रहण कर लेने पर भी दण्डो संन्यासी हो जाने पर भी दण्डनीति का आश्रय करने पर भी) आश्रम-पदान्त नरोत्तम नाम को नहीं त्याग रहे हैं । (नरोत्तम-नरवर, नरोत्तमाश्रम;–नरवराश्रमः) । महाराजजी के अनुराग के कारण ही मन्त्री नारायणदत्त अपना दण्डिनाम भी 'नरोत्तमाश्रम-नरवराश्रम रख रहे हैं । पक्षान्तर में द्रण्ड ग्रहण-मात्रेण नरो नारायणो भवेत्' की फलव्यवस्था की अवहेलना कर नारायण नरोत्तम होने में अपना अधिक गौरव-गर्व अनुभव कर रहे हैं । जिनके प्रेम से यह हुआ है, हो रहा है उन गुरुदेव का मुझे स्मरण आ रहा है ।

हरिहरश्चाद्वयतामुपेतम्; चैतन्य-युग्मं-धृत-वर्णि-वेषम् ।
यदाशिषानन्द-सरस्वदोधम्; सम्प्राप तं जीवन मामनामि ।। ३० ।।

विष्णु और शिव नामक चैतन्य-युगल अद्वयता (एकता) को प्राप्त कर ब्रह्मचारी वेश धारण करके जिनके आशीर्वाद से आनन्द सरस्वती के प्रवाह में मग्न हुआ मैं उस जीवन का ध्यान कर रहा हूं ।

हरि-हर-चैतन्य ब्रह्मचारी वेष में प्रणत हो जिन ब्र० जीवनदत्तजी महाराज के आशीर्वाद से हरिहरानन्द सरस्वती रूप में पहुँचा उनका मुझे मन में स्मरण हो रहा है ।

श्रीकृष्ण-बोधायित-सर्वसृष्टिः; श्रीशंकराचार्य-पदोपगूढः ।
श्रीकृष्ण बोधाश्रम-वीतरागो–ह्यद्यापिनिध्यायति यत्सुनिष्ठाम् ।। ३१ ।।

श्रीकृष्ण ज्ञान रूप में समझा है समस्त प्रपंच को जिन्होंने, श्रीशंकराचार्य के पद ने स्वयम् जिनका आलिंगन किया है—ऐसे वीतराग अनन्त श्रीकृष्ण बोधाश्रमजी महाराज आज भी जिनकी सुन्दर धर्मनिष्ठा का चिन्तन करते रहते हैं उन गुरुवर महाराजजी की स्मृति मन में उठ रही है।

यल्लब्ध-विद्या-विभवैः समृद्धो–विष्णवाश्रमः श्रीशुकताल-तीर्थे।
विश्रान्तिदो भागवत-प्रसंगैः शुकायते दग्ध-परीक्षिदोघे ।। ३२ ।।

जिन गुरुदेव से प्राप्त विद्या-धन से समृद्धिशाली हुए अनन्त श्री विष्णु आश्रम महाराज श्री शुकताल नामक तीर्थ में श्रीमद्भागवत के कथा प्रसंगों अथवा भगवत्प्रसंगों से विश्रान्ति प्रद हो सांसारिक ज्वाला से झुलसे परीक्षितों के समूह में शुकदेव का आचरण करते हैं उन गुरुवर की स्मृति मन में हो रही हैं।

किं चित्रितैस्तैश्चरितै रनन्तै–र्यान्यद्य धैर्यं प्रविलापयन्ति ।
चेतः समाधातुमतो यतेऽहम्; श्राद्धे निषिद्धोहि शुचाश्रुपातः ।। ३३ ।।

उन अनन्त चरितों के चित्रित करने से क्या जो आज (उस छाया के न रहने पर) धैर्य को विलीन करते हैं। अतः मैं चित्त को शान्त करने का प्रयत्न करता हूँ। क्योंकि श्राद्ध में शोक से अश्रु पात शास्त्र-निषिद्ध है।

श्रीमज्जीवनदत्त-सूरि-सुगुरोः; पादारविन्दद्वये
सौभाग्येनं चिरं मयातिगमितं; प्रीते प्रतीते वयः ।
तत्सम्पर्क-मनश्चितैः सुचरितैः; स्मृत्यंजलावर्पितैः;
प्राप्त-ब्रह्म-पदाभितृप्यतु तरां; सा जीवनाख्या चितिः ।। ३४ ।।

विद्वद्वर गुरुदेव अनन्त श्री जीवनदत्तजो महाराज के चरण-कमलों की प्रसन्न और पवित्र छत्र छाया में सौभाग्य से मैंने चिरकाल तक जीवन का भाग व्यतीत किया है। उनके सम्पर्क काल में मन में संजोए हुए सुन्दर चरितों से जो इस समय इस संस्मरणाञ्जलि में निविष्ट किये गये हैं, वह ब्रह्मीभूत, विख्यात, व्यापक जीवन तत्व सन्तृप्त हो।

बहोरिदत्तस्य कवे गुरूणाम्; श्रृंगार-भृङ्गस्य पदाम्बुजेषु।
समर्पिता संस्मृति-पद्यमाला; प्रीणातु नित्यं सुमनोमनांसि ।। ३५ ।।

गुरुजनों के चरण कमलों में भ्रमर रूप से शोभा पाते हुए कवि बहोरिदत्त शर्मा की उन्हीं चरणों में समर्पित यह संस्मरण-पद्यपुष्प-माला सर्वदा विद्वज्जनों के मनों को प्रसन्न करती रहे।

बहोरिदत्त शर्मा, साहित्यायुर्वेद-सांख्ययोग-वेदान्ताचार्य,
काव्य-पुराण तीर्थम्,
एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी)
साहित्य रत्नम् आदि
पीली कोठी, टूण्डला (आगरा)

"जीवन-संस्तुतिः"

(ले० श्री श्यामलाल शर्मा, प्र० आ० श्रीधर्म संघ महावि० देहली)

गाङ्गं वारिपुनाति वीचिनिचयैर्यस्याजिरं सन्ततम्,
सेवन्ते सुधियश्च यत्र मुदिता आम्नायमङ्गैः सह ।।
यू० पी० मध्यगतो बुलन्दशहरस्तस्यास्ति पूर्वाञ्चले,
विद्वत्तल्लजसेव्यमानमनिशं श्री ब्रह्मचर्याश्रमम् ।।१।।

भूदेवा व्रतिनस्तथेह गृहिणोऽरण्यस्थिता भिक्षवः,
शिक्षन्ते, गृहमाश्रयन्त्यपितपस्यन्त्यासते ब्रह्मणि ।।
श्रीमज्जीवनदत्तशर्मसुधियां निष्ठावतां त्यागिनाम्,
सिद्धोऽयत्नफलोदयो 'नरवरे' विद्यालयो राजते ।।२।।

गायत्रीं जपतां बुधश्च जुषतां, गङ्गाजलैस्तृप्यताम्,
तृप्तिं यावदभीप्सिताः, श्रुतवतां गाथाश्च पौराणिकीः ।।
छात्रांश्चौरसपुत्रवत्कृपयतां शिक्षावतः कुर्वताम्,
श्रीमज्जीवनदत्तशर्मविदुषामार्षंपदं मन्महे ।।३।।

यस्योद्यानजपुष्पपुंजरचिते वाते मृदौ शीतले,
घ्रायं घ्रायमतीव सौरभभरं मोदन्त एवाधुना ।।
स्वामि श्री 'करपात्रीजी' हरिहरानन्दादयो योगिनः,
गायन्त्युन्मनसः शिवं परतरं यत्रोदितं सर्वदा ।।४।।

यत्र श्री 'विजयप्रकाश' विवुधा अग्रेसरा ज्ञानिनाम्
प्राचार्या विविध-प्रमाण-पटवोऽन्तेवासिवृन्दार्चिताः ।।
स्वाध्यायादिविधौ निरस्तसकलव्यापार-बद्धस्पृहाः
निस्तन्द्राः समुपासते सुरगिरं विद्यार्थिहृद्वासिनः ।।५।।

यत्रासन् विविधाः कुटीरनिवहा अग्रेभुवां वर्णिनाम्,
वेदान् घोषयतां निषेधविधिवच्छास्त्राणिचाभ्य स्यताम् ।।
सत्ये ब्रह्मणि कल्पितं जगदिदं रज्जौ यथाहिस्तथा,
इत्येवं परमात्म-जीव जगतां चिन्ता जुषां सञ्चयाः ।।६।।

श्रौतस्मार्तविधौ रतानहरहर्गृह्याग्निपूजापरान्,
गार्हस्थ्ये वसतोऽवल्लोकन परः कोऽसौ सुखं नाप्नुयात् ॥
तु ऽप्यत्र युगे कलौकलयति त्रेतायुगस्यच्छटाम्.
चत्वारो युगवर्णवेदविभवाः सन्तीह मन्यामहे ॥७॥

एकस्मिन् लघुकायभूमिविषये पुण्ये कुटीरे वसन्,
यस्याद्याप्यजिरे पतत्त्रिनिवहैः संसेव्यमानस्तरुः ॥
मालूरो निशि यस्य शीतलतले प्रायो जनांस्तर्पयन्,
सावित्रंमनुमाजपन् वितनुते तेजस्वितां कश्चन ॥८॥

हं हो ! कालकरालः ! तेऽस्ति विदिता सर्वेर्गतिर्निन्दिता,
यत्त्वं नैव कदापि कस्यचिदपि क्षन्तासि शुभ्रान् गुणान् ॥
कारुण्यं तव नास्ति येनसुधियामाधारभूतो महान्,
शोचत्यर्थिजने प्रभातसमये क्रोडीकृतो द्राक्त्वया ॥९॥

विप्राणां न च केवलं समभवत् शर्माणि कर्तुं क्षमः,
योह्यागच्छदनीश्वरः स्वविपदां शान्त्यै रुदन्दुर्मनाः ॥
कार्यंतस्यचिकीर्षतो न मनुते भारं यदीयं मनः,
सोऽस्मान विक्लव चेतसः परिहरन, यातो दिवं पुण्यवान् ॥१०॥

किं भूयोऽपि तदेवधाम महसां तस्मिन् कुटीरे वसत्
तत्रत्यान् विबुधानथापि परितोघोषस्थितान् नागरान् ॥
संशासत् मधुरस्मितैरधरजैरानन्दयच्छात्रकान्,
प्रश्नैश्चापि तदुत्तरैः सुरणदी मार्गे चलच्चालयत् ॥११॥

दृष्टिं यास्यति मन्मनोविकलतां जह्याशु धैर्यं धर,
संसारस्य गतिं विचिन्त्य नियमानप्यायुषोहीहशान् ॥
सन्तोषङ्कुरु भौतिकं भवति किं कस्यापि जन्तोरिदम्,
सोऽद्याप्यस्ति कलेवरेण यशसा सर्वत्रकिं ? विष्टपे ॥१२॥



॥ श्रीजीवनाष्टकम् ॥

(रामचरण दीक्षित - फीरोजाबाद)

येषां विद्वन्मणीनां सकलजननुता कीर्तिरत्यन्तरम्या
तेजः शान्तं पवित्रं शमयति नितरां मानसं मोहजालम् ।
मूर्तिः काचिन्मनोज्ञारविकरनिकरस्पर्धिनी चारुहासा
तेषामम्भोजरम्यं चरणयुगमहं सन्ततं संस्मरामि ॥१॥

दिव्यागीर्वाणवाणी विलयमुपगता वीक्षिता भारतेऽस्मिन्-
धर्मश्चैषोऽस्मदीयः प्रतिदिनमधुना क्षीयमाणश्चदृष्टः ।
सन्तः सीदन्ति सत्यं खलजननिवहो मोदयुक्तः सदैव-
येषांचित्तं दयार्द्रं निखिलमिदमहो वीक्ष्य संजातमाशु ॥२॥

सायं प्रातस्त्वभीक्ष्णं सुरसरिति कृतस्नानसन्ध्यादिकृत्याः
दिव्यांरुद्राक्षमालां करकमलगतां धारयन्तः पवित्राम्
शिष्यैः श्रद्धालुभिस्तैः सततमनुगता भस्मनालंकृतास्याः
मन्दं मन्दं हसन्तः स्मृतिविषयगता नोमनः पावयन्तु ॥३॥

येषां दिव्यं चरित्रं गुणगणसहितं गीयते सर्वलोकैः
चर्याधर्मानुकूला मुनिजनसदृशी वन्दनीया यदीया ।
वाचः सारेणयुक्ताः कलिकलुषमहोनाशयन्त्येव नूनम्-
तेषां पूज्येषु पादेष्वयमहमधुना वन्दनामादधामि ॥४॥

वेदान् साङ्गान् समस्तान् भरतभुवि कलौ क्षीयमाणाङ्गकान्तीन्
वीक्ष्यैतैः पूज्यपादै रुपसुरसरितं स्थापितः साङ्गवेदः ।
यत्राधीत्याशुविज्ञाः विविधगुणगणैः पूर्यमाणाः समन्तात्-
शिष्यास्तच्छिष्यशिष्याः सुरगिरमधुना भूतले वर्धयन्ति ॥५॥

आर्तान् वित्तेनहीनान् भवजलधिगतान् पीडितान् भूरि दुःखैः
कुर्वन्तः कल्पवृक्षोपमचरणयुगच्छायया शीतलाँ स्तान् ।
सस्नेहं वीक्षमाणाः सरलसरलया भावमय्या च दृष्ट्या-
वन्द्याः सर्वस्यनित्यं मम हृदय गतां भ्रान्तिमुत्पाटयन्तु ॥६॥

सामान्या तृणनिर्मिता निजकुटी ह्याजीवनं सेविता
भोगा यौवनसम्भवा मुनिजनश्लाघ्यैः समेऽपाकृताः ।
निष्ठापूर्णमखण्डमेव भवतां ब्रह्मत्वमासीदिदम्-
तान् वन्द्याननिशं प्रसन्नवदनान् श्वःश्रेयसायार्थये ॥७॥

विद्योद्योतितदिङ्मुखानविरतं वेदध्वनिं शृण्वतो
गङ्गातीरनिवासदत्तमनसो वेदान्तचर्चामयान् ।
द्रव्यस्पर्शनमप्यपास्य सततं पूर्वाश्रमे दीक्षितान्-
लोकोऽजीवनजीवनाननुदिनं क्षेमाय संप्रार्थये ॥८॥

श्रीकुलपति-प्रशस्तिः

(श्री हरस्वरूप शर्मा, फिरोजाबाद)

विद्यावारिधितां धृतेर्विपुलतां धर्मस्य तत्त्वज्ञताम्
सिद्धान्तदृढतां परेशपरतां सौजन्यशालीनताम् ।
पूर्वाचार्यगुणज्ञतां मतिमतां चर्यासु पारीणताम्
प्राप्तो जीवनदत्त ? देवसमतां स्वर्गे भवान् राजताम् ।।१।।

वेदानां परिपोषणाय सततं विद्याविलासाय च
स्ववार्णीं परिषेवितुं भगवतः श्रोतुं यशः पावनम् ।
धर्मं पालयितुं सतां च भवता विद्यार्थिनः शिक्षितान्
कर्तुं देवसरित्तटे नरवरे विद्यालयः स्थापितः ।।२।।

छात्राणां हितचिन्तकं कृतमतिं वेदान्तविद्याविदम्
गायत्रीजपपारगं सुमनसामातिथ्यसेवापरम् ।
यज्ञानां परिचालकं च विदुषां शास्त्रार्थसंयोजकम्
त्वामानेतुमिहात्र कांक्षति पुनः पद्मासना शारदा ।।३।।

छात्रान् भोजयितुं सुभोज्यविविधैरिच्छा न जागर्ति किम् ?
अन्तेवासिजनस्य पाठनरुचिर्नोत्पद्यते मानसे ।
बद्ध्वा मण्डलमेकतस्तरुतले वेदस्य विद्यार्थिनाम्
श्रोतुं सामऋचः सदास्वरयुताः किं नेहसे त्वं दिवि ।।४।।

स्ववार्ण्याः निजसंस्कृतेरविरतं धर्मस्य देशस्य चाप्यु-
द्धारं यदि साम्प्रतं कलियुगे वांच्छन्ति सर्वे जनाः ।
पेया जीवनदत्तजीवनसुधा निष्पक्षपातं तदा
एवं मे विनिवेदनं हि भवतां भूयात् सदा प्रेयसे ।।५।।

सर्वेषां सुखमेव ते सुखमतो नासीत् सुखाशा तव
स्वान्तं ते परदुःखकातरमतो नोद्विग्नता मानसे ।
एवं ब्रह्मपरायणस्य सततं शान्तं मनो यस्य वै
वन्देऽहं तमनाथपोषणपरं निष्ठावतां जीवनम् ।।६।।

शैथिल्यं दुरिते न वेदवचसां पाठेषु विद्यार्थिनाम्
दैन्यं दानिजने न भोज्यवसने पातस्तरौ नात्मनि ।
लावण्यं लतिकासु नात्रवसतामाप्तुं तदीहा क्वचित्
एवं शिक्षकं साधवोऽनवरतं जाताः कृतार्थाः त्वया ।।७।।

प्रातः शीतलमन्दमन्दमरुतामान्दोलनैः क्षोभिते
केकाकोकिलकाकलीकलरवैः सूर्यस्तुतिं शृण्वति ।
सन्ध्योपासनमग्नछात्रनिकरैरर्घ्याञ्जलिं गृह्णति
सिस्नासुः किल गच्छतिस्म नितरां गङ्गाजले निर्मले ।।८।।

सर्वान्तेवसतां तवाश्रमसुधा शिक्षा समीहावताम्
या या घोरतरा समेति पुरतस्तीव्रा समस्या यदा ।
तस्यास्त्वं विदधासि पावनसमाधानं स्वबुद्धया तदा
एवं तेऽनुभवं विलोक्य परमं के वा न मोदं दधुः ।।९।।

स्ववर्वाक्सुकीर्तिकमलस्य रसं पिवन्तः
सर्वे तवाश्रमजना अपि दीनबन्धो ।
द्रष्टुं भवन्तमधुना पुनराश्रमेऽस्मिन्–
भागीरथीं भगवतीं सततं स्तुवन्ति ।।१०।।

जीवन-वन्दनम्

(आचार्य श्रीवर शास्त्री, मथुरा)

श्रौतस्मार्तपरायणानि समधीत्याशेषशास्त्राण्यहो
येनालोकि महात्मनाऽस्यजगतः स्वल्पे वयस्येवतत् ।
हेयत्वं न कृता प्रविष्टिरपि संमान्ये द्वितीयाश्रमे
तं श्रीजीवनदत्तमेकशरणं वाचः सुराणां नुमः ।।

कुलपति-वन्दनम्

(डा० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी, मथुरा)

ब्रह्मण्यं सुविशारदं यतिवरं गौर्यर्धदेहोपमम्
वंद्विष्टं परमं पवित्रहृदयं शान्तं सुशीलं वरम् ।
ब्रह्मर्षिप्रतिसेवितं कविकुलप्रोद्भासकोज्जीवनम्
श्रीमज्जीवनदत्तकं कुलपतिं वन्दे सदा सादरम् ।।

महाराजश्रीशीलपञ्चकम्

(श्री हरस्वरूप शास्त्री, चांदपुर–बिजनौर)

त्रैकालिकंसान्ध्यविधिं चरन्तः, सावित्रमन्त्रंनियतं जपन्तः ।
श्रीवृक्षमूलेप्रणिधानवन्तः, स्मार्याः सदा जीवनदत्तसन्तः ॥१॥
श्रुतिस्मृतीनित्यमनुस्मरन्तः, सन्नैष्ठिकाचारमुदाहरन्तः ।
देशीयवासःपरिधानवन्तः, स्मार्याः सदा जीवनदत्तसन्तः ॥२॥
विश्वप्रकाशंपरितोलयन्तः, निधोन्नवापि स्ववशानवन्तः ।
भागीरथीतीरनिवासवन्तः, स्मार्याः सदा जीवनदत्तसन्तः ॥३॥
विद्यावृतिच्छात्रगुणान् गृणन्तः, विप्रप्रसादंहृदि भावयन्तः ।
सदातिथेयोंकृपयाचरन्तः, स्मार्याः सदाजीवनदत्तसन्तः ॥४॥
सत्येशिवेस्नेहपथे चरन्तः, निःस्वाननेकान् परिपालयन्तः ।
विद्यालयोत्थानविचारवन्तः, स्मार्याः सदाजीवनदत्तसन्तः ॥५॥

जीवन–स्तोत्रम्

(आचार्य जयनारायण शर्मा, फीरोजाबाद)

अवगत्य विवेकशालिनीं तव मूर्तिं विबुधव्रजाहितः ।
भुवि तावदशाययद्धिताम् ननु शुक्रो निजनीतिगर्वितः ॥१॥
भानुर्भातिदिवैव केवलमहो ? नक्तं तथा चन्द्रमाः
तेजोराशिरथास्ति पूर्वइतरः शीलात्मना शालते ।
तेजःशीलसमन्वितं सुमनसां रात्रिंदिवं भासकम्-
मत्वा त्वां विबुधेश आकुलमनाः स्वर्गे समाकारयेत् ॥२॥
ब्रह्मत्यागतपःसुशास्त्रपरता सौजन्यशालोनताः
छात्राणामवनं चरित्ररचनं विद्याप्रसारादयः ।
येऽपिस्युर्गुणनिर्भराः सुललिताः ख्यातिं चलोके गतः
तेषां त्वामवबुद्धय जीवनमहो ? शक्रः समाहूतवान् ॥३॥
यज्ञानामरणिर्विशिष्टतरणिर्दुःखोदधौमज्जताम्,
दीनानांभरणी तथा सुसरणिः श्रद्धावतां सौख्यदा ।
दृष्टातावददृष्टचूर्णकरणी दृष्टैरदृष्टैर्नरैर्-
नूनं जीवनदत्तदृष्टिरनिशं जाता तु संजीवनी ॥४॥
भिन्नानां शुभयोजनेऽतिपटुता सम्भाषणे वाग्मिता
निष्ठायाः प्रगतिर्यथा सुचरिते शास्त्रे प्रतिष्ठा तथा ।
हित्वा स्वार्थसरः परार्थपरता येषां 'जयः' सेवकः
तेषां त्वं प्रमुखी भवन् नरवरे जातो नरो वै वरः ॥५॥

जीवन-स्तोत्रम्

(श्रीरामदत्त आचार्य, फीरोजाबाद)

यदीयपादाम्बुजरेणवः सदा चक्रुर्न किं दीनजनानदीनान् ।
तं ब्राह्मणाग्र्यं भुवि धर्मरूपम् श्रीजीवनं जीवनदं नमामि ॥१॥
प्रातः समुत्थाय विधाय शौचं वगाह्य गङ्गाञ्च पवित्रतोयाम् ।
मध्याह्नपर्यन्तमसौ जजाप तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥२॥
भूयोऽपि मध्याह्नविधिं विधाय स्वयं च पाकं कृतवान् सदैव ।
अध्यापयामास च शिष्यवर्गम् तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥३॥
सदैव सत्कारपरं समेषां द्वेषाच्च रागाच्च निवृत्तबुद्धिम् ।
परोपकारैकपरायणं तं श्रीजीवनं जीवनदं नमामि ॥४॥
यस्यैव पादाम्बुजसेवया च गता अनेके सुमहापदेषु ।
अयं बराकोऽपि च मोदतेऽत्र तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥५॥
मातृष्वसारं भगिनीं च मां च पितृव्यज्येष्ठं च हरप्रसादम् ।
योऽपालयत् तं प्रवरं द्विजानां श्रीजीवनं जीवनदं नमामि ॥६॥
पित्राविहीनं सदनेनहीनं कुटुम्बहीनं समपालयद् यः ।
विद्याप्रदं स्नेहयुतं च नित्यं तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥७॥
यज्ञा अनेके च बभूवुरत्र स्वल्पा महान्तश्च समेऽपि दिव्याः ।
गत्वा च सर्वत्र ददर्श सर्वान् तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥८॥
य इन्द्रप्रस्थे शतकोटियागे लेभे मनोज्ञं यजमानभावम् ।
अपूजयद् वेदविशारदांश्च तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥९॥
सर्वां विहायाशु निजां दिनक्रियां गङ्गां च मुक्त्वा निजबोधरूपाम् ।
जगाममुम्बानगरीं महात्मा तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१०॥
श्रीस्वामिवर्यस्य महोदयस्य समस्तशास्त्रस्मृतिबन्धुरस्य ।
जगाम यः कर्णपुरे च यागे तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥११॥
काश्यां च यागे शतकोटिनाम्नि श्रीकृष्णबोधाश्रमदत्तचित्तः ।
चकार शोभां निजनामरूपां तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१२॥
धनैर्विहीनं नयनैर्विहीनं वस्त्रैर्विहीनं व्यथितं च नित्यम् ।
सर्वात्मना यः सुखिनं चकार तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१३॥
रात्रौ च शिष्याः सततं समेताः प्रणेमुरत्यन्त-विवृद्धभक्त्या ।
शुश्राव मन्त्रान् परमः प्रसन्नः तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१४॥
समागतान् दुःखमग्नान् जनान् यः सद्यः प्रसन्नानकरोत्कृपाभिः ।
लिलेख पत्रं च विनैव शङ्कां तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१५॥

योऽशिक्षयद्वेदविधिं सदैव ज्ञानं च नित्यं प्रददौ द्विजेभ्यः।
शाला अनेका विहिताश्च येन तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१६॥
येनान्वहं ब्राह्मणबाहुजाश्च वैश्याश्च शूद्रा अपि चान्त्यजाश्च।
समा हि दृष्टाः सदयेन चक्षुषा तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१७॥
यो मां समाकर्ण्य रुजा प्रपीडितं कारुण्यभावेन गतोमदन्तिकम्।
पप्रच्छ सर्वं मम दुःखकारणम् तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१८॥
सर्वांश्च शिष्यानपि वैदिकानहो संपूज्य दुर्गां शुभदामजापयत्।
रोगानशेषानिति मन्त्रमालाम् तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥१९॥
आहूय सर्वान् भिषजोऽग्रगण्यान् अकारयद्रोगविवर्जितं वपुः।
ददर्श गत्वा च ममान्तिकं यस् तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥२०॥
कथं हि तस्याखिलदीनबन्धोर्गुणान् प्रवक्तुं क्षमता मम स्यात्।
तथापि धार्ष्ट्यं विदधानि मूढस् तं जीवनं जीवनदं नमामि ॥२१॥
यस्यानुकम्पालेशेन लब्धं ज्ञानं मया सुखम्।
दत्तान्तं जीवनादिं च तं नमामि गुरोर्गुरुम् ॥२२॥
भोजनाच्छादने नित्यं यो दिदेश फलं विना।
दत्तान्तं जीवनादिं च तं नमामि गुरोर्गुरुम् ॥२३॥
सर्वानन्दसमृद्ध्यर्थं यो मे वृत्तिमकल्पयत्।
दत्तान्तं जीवनादिं च तं नमामि गुरोर्गुरुम् ॥२४॥
कुशासने चोपविश्य मौनभावे च संस्थितः।
जजाप देवीं गायत्रीं साक्षादिव पितामहः ॥२५॥
तत्रैव प्रैरयत् सर्वान् ब्रह्मचर्ये दृढव्रतः।
यथा राजा सुतान् सर्वान् साक्षाद्भीष्मपितामहः ॥२६॥
वेदानां च रहस्यं हि सं सम्यगवबुद्धवान्।
गायत्रीं च जपन्नेव ब्रह्मलोकमथागमत् ॥२७॥
वैदिकीनां क्रियाणां हि कर्ता कारयिता च यः।
द्विजातिभ्यश्च सर्वेभ्यः ददौ शिक्षामहर्निशम् ॥२८॥
मध्याह्नकार्यं च विधाय नित्यम् गीतां हि सर्वां च पपाठ रम्याम्।
सायं च श्रुत्वा शुभभारतीकथां चकार सन्ध्यामपि भानुसंयुताम् ॥२९॥
त्यक्त्वा च देहं निजभौतिकं यो जगाम चासौ परमेष्ठिनः पदम्।
किमत्र हेयं कनकं च कान्ता लक्ष्यं हि चैतत्समपूरयत् यः ॥३०॥

वियोगाञ्जलिः

(श्री सीताराम शास्त्री, फिरोजाबाद)

शुभसङ्कपरायणो मुनिर्जपसन्ध्याव्रतदीक्षितः सदा ।
जननीजनकाधिकः सदा त्वमभूर्नरवरे भुवस्तले ॥१॥
जनताविपदां निवारकः सहितो जीवनदायकः प्रभो !
विदुषां ननु पोषको व्रती तव नामास्ति शुभङ्कसार्थकम् ॥२॥
कविता रुचिकारिका तव रचिता भट्टिमहोदयेन या ।
प्रवरोमुनिपाणिनेस्तथा नियमानां सुतरां प्रशिक्षकः ॥३॥
कियतां न सुलालनं कृतं कति दीना भवता न रक्षिताः ।
अपि यत्र विराजते भवान् नहि तत्रास्ति विपल्लवो मनाक् ॥४॥
गिरिजापतिपूजको भुवि जगदम्बाचरिते विचारकः ।
अतएव सुचण्डिकामखे यजमानत्वमुपागतोभवान् ॥५॥
गिरिजापतियज्ञमन्दिरम् जगदम्बा यजनाय निर्मितम् ।
रमते न मनस्त्वया विना सति विद्यासदने सुशोभिते ॥६॥
बहुपर्णयुता कुटी त्वया पठनायारचितासुखावहा ।
अधुनामम दृष्टिगोचरे शिथिला जीर्णतमा च लक्ष्यते ॥७॥
बहवः परिरक्षितास्त्वया विदुषां तत्र शुभास्थितिः कृता ।
नहि कोऽपि जनोऽधुना क्षमः परिपातुं रुचिराः कुटीरिमाः ॥८॥
न विलोक्य कुटीरसंस्थितं निखिलं ब्रह्ममयं वपुर्नवम् ।
नमनाय समागता जना विलपन्ति स्मरणे कृतेसति ॥९॥

संस्मरणम्

(आयुर्वेदाचार्य श्रीश्यामलालशर्मा, बोझाका, अलीगढ़)

निष्ठावान् श्रुतिबोधिते पथि दयावांश्चापि विप्रान्वये
एकोपायत एककालमुभयोरुद्धारमिच्छन् सुधीः ।
संस्थाप्य श्रुतिपूर्वनामकमिमं वेदाङ्गविद्यालयम्
योगक्षेममकल्पयत्कुलपतिः प्रत्यर्पिता जीवनः ॥१॥
यावज्जीवनमेव नैष्ठिकतया यो ब्रह्मचर्यं चरन्
गायत्र्या बहुशः पुरश्चरणकृत्संकल्पसिद्धिन्वगात् ।
गंगागाधजलेनिमग्नवटुकान् त्रिस्रोतसे स्वं जपं–
प्रत्यर्प्यानयदूर्ध्वमश्रमत एवाहो दयासागरः ॥२॥

श्रीमतां संस्मृतिर्वस्तुतः स्यात्तदा
दर्शितं मार्गमेते गच्छन्ति चेत् ।
वेदनिष्ठाः सदाचारशीला निजं
धर्ममेवाश्रयन्तस्तथाऽमायिनः ॥३॥
ज्ञानविज्ञानयुक्ताः पथि व्युत्पत्था-
दानयन्तः सतां मंगलध्यायिनः ।
कर्मठा निर्भया नीतिमन्तो द्विजाः
संकटे संस्थिते स्वस्थितिस्थायिनः ॥४॥



अस्माकं-विद्यालयः

(श्री रामस्वरूप अग्निहोत्री, जयपुर)

गङ्गायाः पावनेतीरे ख्याते नरवरे स्थले ।
संस्थापितः साङ्गवेदमहाविद्यालयः शिवः ॥१॥
महामान्यमहाराजजीवनदत्तशर्मभिः ।
तपोमूर्तिभिराचार्यैरादित्यब्रह्मचारिभिः ॥२॥
रक्षायै सर्ववेदानां साङ्गानां नष्टवर्त्मनाम् ।
पुराणधर्मशास्त्राणां काव्यानां चित्तहारिणाम् ॥३॥
नव्यव्याकरणच्छन्दोज्योतिषां नयसम्पदाम् ।
गवेषणायै नव्यानां विषयाणां महीयसाम् ॥४॥
भारतस्य विभिन्नेभ्यः प्रान्तेभ्यः समुपागताः ।
अधीयते सदायत्र प्रज्ञावन्तो बहुश्रुताः ॥५॥
वेदान् व्याकरणं न्यायं योगं वेदान्तदर्शनम् ।
अलङ्कारान् रसान् रीतीरायुर्विद्यायशस्करीः ॥६॥
ब्रह्मचर्यं पालयन्तः सेवमानाः सरिद्वराम् ।
गङ्गां भागीरथीं पुण्यां सुजलां सर्वकामदाम् ॥७॥
ख्यातः संस्कृतसंसारे धर्मविद्याविवर्धनः ।
साङ्गवेदमहाविद्यालयः सर्वगुणाकरः ॥८॥
स्वकीयाः सन्ततीरत्र प्रेषयन्तु विपश्चितः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या ग्राम्या नागरिकास्तथा ॥९॥
संकल्पः सफलो भूयाद् येन प्रख्यातकर्मणाम् ।
अनन्तश्रीमहाराजजीवनदत्तशर्म्मणाम् ॥१०॥



गुरुवन्दनम्

(श्रीरामस्वरूप शास्त्री, नरौरा)

अन्तर्बहिः पुरुषकालयुगावभासम् सृष्टिस्थितिप्रलयकारणभूततत्त्वम् ।
या भावयन्ति विभजन्ति यथावकाशम् ता जीवनस्य रुचयो हृदि भावनीयाः ॥१॥

संचेतुकाममलं सुकृतं गरीयः कर्मक्षमं क्षितितलं स्वरिवावतीर्णम् ।
विभ्राजते सुरसरित् शुभदक्षिणाङ्के विश्वश्रुता गुणनिधिर्नगरी नरौरा ॥२॥

भूलोकवासमुचितं परिचिन्तयन्ती वाग्देवता गतवती नगरीं नरौराम् ।
तत्पार्श्ववर्तिनि शुभे विबुधाश्रमेऽस्मिन् सा शारदा कृतवती निजसन्निवासम् ॥३॥

तत्रास्ति सर्वनिगमागमपारगामी दत्तान्तजीवन इति श्रुतनामधेयः ।
लोकोत्तरप्रतिभया निजया विपक्षान् कुर्वन् यथा सुरपतिर्ह्यचलान् विपक्षान् ॥४॥

यद्भारतीरसभरस्य समक्षभावे द्राक्षाविषण्णवदना समजायतालम् ।
कार्कश्यमेवमभजत् सितशर्कराद्राक् भीता सुधा क्षितिनिवाससुखंव्यहासीत् ॥५॥

यद्भारती रसमुदीक्ष्य सलज्जभावात् भृङ्गाः पिकाः समभजन खलु कालिमानम् ।
ते चातकाःभृशमुपेक्षित जीवनाश्च वर्षातिरिक्तसलिलेषु विरक्तिभावम् ॥६॥

लोकोपकारकरणाय विशालचेताः योऽसौ स्वकीयशरणे विनयोपपन्नैः ।
शिष्यप्रशिष्यसहितैर्विविधागमज्ञैः भूमावहो ! वितनुते द्विजराजलोकम् ॥७॥

कीर्तिं विधाय विधिना गुरुजीवनस्य प्रक्षाल्य पाणियुगलं सलिलं न्यपाति ।
यत्रोदिताश्च किल तत्र सुधाकराद्याः तच्छीकरैः समभवन्नखिलाश्चताराः ॥८॥

नरौरानामको ग्रामो जाह्नव्या दक्षिणे तटे ।
तस्यैव पश्चिमे भागे वर्तते चाश्रमो महान् ॥९॥

गायत्रीं वेदमूलां यो जपन्नित्यं समाहितः ।
धृतव्रतः ब्रह्मचर्ये विद्यादाने सदारतः ॥१०॥

द्वारकादत्त शिष्येण शालग्रामेण वै सह ।
पाठकेनस्वशिष्येण शिक्षामार्गं समाश्रितः ॥११॥

अशीतिवर्षपर्यन्तं गायत्रीं जपतोऽनिशम् ।
गुरोर्जीवनदत्तस्य वासोनरवरे ह्यभूत् ॥१२॥

श्रद्धया सर्वशिष्याश्च पूजयन्तिस्म जीविते ।
योऽधुना च महर्लोके पूज्यते मुनिभिः स्थितिः ॥१३॥

चतुर्विंशतिकोटीनां गायत्रीणाञ्च जापकः ।
ध्रुवं याति महर्लोके धर्मोऽयं वै सनातनः ॥१४॥

तमेव मार्गमाश्रित्य गुरुणा जीवनेन च ।
उषित्वा जाह्नवीतीरे गायत्रीसमुपासिता ।।१५।।
असकृद्देवता यज्ञे तर्पिताः स्वेन कर्मणा ।
उत्सृष्टाः जीवने येन सर्वे भोगाश्च भौतिकाः ।।१६।।
तस्य धर्मसमृद्धस्य जीवनस्य गुरोर्मम ।
शास्त्रीयज्ञानप्राप्त्यर्थं कालो यातो महात्मनः ।।१७।।
सन्तुष्टःफलमूलेन विद्यावितरणे रतः ।
यः परां भजते प्रीतिं गायत्रीजपतत्परः ।।१८।।
सर्वान्कामान्परित्यज्य धर्मस्नेहपरायणः ।
अचिन्तयित्वा कष्टानि संस्थितश्चाश्रमे शुभे ।।१९।।
सोऽयं कनकवर्णाङ्गो नित्यं सुस्मितभाषणः ।
सहते सर्वकष्टानि तितिक्षुस्तपसि स्थितः ।।२०।।
इमं तु शीलसम्पन्नं पूर्णविद्याधरं गुरुम् ।
दर्शनाय समायान्ति भक्ताः सफलपाणयः ।।२१।।
कामक्रोधैः परित्यक्तो लोभेनरहितः सदा ।
धारयत्यात्मनो देहं कृच्छ्राय तपसे गुरुः ।।२२।।
नैष पश्यति संभोगान् पक्षपातांश्च लौकिकान् ।
ब्रह्मनिष्ठमनाभूत्वा धर्ममेवानुपश्यति ।।२३।।
चारित्र्यव्यपदेशाढ्यो देवदर्शनलालसः ।
भूषितो वल्कलैर्वस्त्रैः शिष्यवात्सल्यसंयुतः ।।२४।।
शिष्यैः परिवृतं तत्र देवैरिव वृहस्पतिम् ।
गुरुजीवनदत्तञ्च सदा पश्यन्ति मानवाः ।।२५।।
अस्माकं दर्शनेऽप्यासीत् गुरुः सुस्मितलोचनः ।
आसीनः प्राङ्मुखः श्रीमानासने परमे शुभे ।।२६।।
शुक्लमाल्याम्बरधरः शुक्लभस्मानुलेपनः ।
गुरुजीवनदत्तोऽसौ शोभते नैष्ठिको व्रती ।।२७।।
एवं भूतो महातेजा गुरुः कमललोचनः ।
आश्रमाध्यक्षकः श्रीमान् राजते चाश्रमेस्थितः ।।२८।।
अत्रत्यां जनतां शोकैः रुदतीमतिविह्वलाम् ।
भूमिं नारवरीं त्यक्त्वा साम्प्रतं दिवि मोदते ।।२९।।
अधुना देवता धन्या सिद्धगन्धर्वकिन्नराः ।
ये पश्यन्ति महाराजं सद्गुरुं स्वर्गगामिनम् ।।३०।।
रत्नोपरचिते दिव्ये विमाने संस्थितो गुरुः ।
स्तूयमानः सुरगणैः महर्लोके विराजते ।।३१।।

अभिषिक्तो महाराजः सर्वदेवैर्नमस्कृतः ।
ब्रह्मर्षीणां गणैः सर्वैः देवर्षीणां तथैव च ॥३२॥

महर्लोके स्थितिं कृत्वा साम्प्रतं दिव्यतां गतः ।
ततोऽपि वीक्षते शिष्यान् धार्मिकान्दिव्यचक्षुषा ॥३३॥

पुण्यं गरीयो भुवि कर्तुकामः धरातले गीष्पतिरभ्युपेतः ।
अनेकविद्वज्जनमानदाता पायाद्गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥३४॥

यस्यानुकम्पनवशादखिलेर्ष्टसिद्धिः यस्याङ्घ्रिसंस्मरणतो विजयप्रलम्भः ।
दत्तान्तजीवन इति प्रथिताभिधानः पायात्सदा स गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥३५॥

येनोद्धृता वसुमती परिखासु मग्ना भग्ना च मूर्तिरिह शंकरदेवतायाः ।
संमोचितं द्विजकुलं जडतान्धकारात् पायात्सदैव गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥३६॥

बाल्ये गृहीतनिगमो गुरुभीमसेनात् तारुण्यमाप्य परिपाठितवान् शिशूंश्च ।
वेदान्तबोधविभवः स्थविरेण लब्धः पायात्सदैव गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥३७॥

वेदानधीत्य सहितान् खलु षड्भिरङ्गैः वेदान्तशास्त्रमपि सम्यगधीतवांश्च ।
लब्धश्च येन परिपूर्णतयावबोधः पायात्सदा स गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥३८॥

विद्यालयीयं समपास्य भारम् चतुर्धुरीणे नँदलालशर्मणि ।
संलग्न आसीत् जपयोगमार्गे पायाद् गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥३९॥

संसारभोगान् परिहाय सर्वान् आत्मीय वृत्तिं निगमे निधाय ।
संपादितो येन च वेदमार्गः पायाद् गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥४०॥

विद्यालयस्थापनलब्धकीर्तिः विद्यातपोज्ञानपवित्रदेहः ।
परोपकारे सुगृहीतचेताः पायाद् गुरुर्जीवनदत्तशर्मा ॥४१॥



जीवनपरिचयपद्यप्रसूनानि

(आचार्य रामचरण दीक्षित, फिरोजाबाद)

आसीदशेषजनगीतपवित्रकीर्तिः रामप्रसाद इति नामधरो द्विजेन्द्रः ।
राज्ञो वरौलिनगरे वसतो गुरुर्यो मल्लेषु लब्धमहिमा प्रवरश्च वैद्यः ॥१॥

भाष्यं पतञ्जलिकृतं विविधान्निबन्धान् प्राचीनपद्धतिपरम्परया ह्यधीत्य ।
वेदोपवेदनिपुणः कुशलः प्रवक्ता गौरच्छविः सुपरिपुष्टशरीर आसीत् ॥२॥

सम्मानहानिमथ जातु निरीक्ष्य तस्मात् श्रीकर्णसिहनगरात् द्रुतमेव यातः ।
राज्यस्यसीम्नि तव नैव कदापि राजन् वास्यामि सत्यमिदमेव वचश्चकार ॥३॥

तस्मादलीगढनिवासरतात् द्विजाग्र्यात् श्रीजीवनः शिशुरयं समजायतैकः ।
यो बाल्य एव शुभलक्षणलक्षिताङ्गः सर्वस्य चेतसि मुदं जनयन् विरेजे ॥४॥

श्रीमद्दयानन्दमहर्षिवर्यैः सम्प्रेरितः पञ्चमवर्षवर्त्ती ।
भाष्यं तथा पाणिनिसूत्रपाठं प्राचीनरीत्यैव दधार सद्यः ॥५॥

वेदं च साङ्गं निखिलाश्च विद्या अधीत्य सश्रद्धमयं गुरुभ्यः ।
स्वल्पे वयस्येव महानुभावस्तपःपरोऽभूदतिचित्रमेतत् ॥६॥

विप्रोचिते कर्मणि तत्परः सन् त्रिकालसन्ध्यां विदधत् सदैव ।
नारीसुखं तुच्छमयं विचार्य विवाहबुद्धिं शिथिलीचकार ॥७॥

आपातरम्यान् विषयान्विहाय स ब्रह्मचर्यं स्वहिताय मेने ।
देशेष्वनेकेषु पवित्रतीर्थेष्वयं भ्रमन् विल्ववनं जगाम ॥८॥

तत्र स्थितोऽध्यापनकर्म कुर्वन् शिशूननेकान् विदुषश्चकार ।
गङ्गातटे चापि सदावकाशे समागतः स्नानविधिं चकार ॥९॥

भागीरथी या सुरभारतीव पवित्ररूपा विलसत्यजस्रम् ।
यदीयतीरे मुनयः प्रसिद्धाः सिद्धाः सुराश्चापि वसन्ति नित्यम् ॥१०॥

नीरं यदीयं त्रिविधांस्तु तापान् विनाशयत्येव सुसेवितं सत् ।
लोकप्रसिद्धं गुणराशिरूपं विकारमभ्येति न कर्हि चित्तत् ॥११॥

यद्वायुरत्यन्तसुगन्धयुक्तः सुशीतलो मन्दगतिः प्रवाति ।
संसेव्यते तीरगतैर्मनुष्यैर्यैः पुण्यराशिर्बहुसंचितोऽस्ति ॥१२॥

तरङ्गिता शीतलवारियुक्ता चक्रादिभिः पक्षिगणैर्युता या ।
मत्स्यादिभिर्वारिचरैर्भ्रमद्भिः विभूषिता पापविनाशदक्षा ॥१३॥

निरीक्ष्य शोभामतुलां तदीयाम् मनस्ययं मोदमुपाजगाम ।
तत्रैव वासस्य विचारबुद्धया तीरे स्वकीयां वसतिं चकार ॥१४॥

तत्रासीत्तरुषण्डमध्यविलसत्कुञ्जैः समुद्भासितम्
पुष्पव्रातसमन्वितव्रततिभिर्नित्यं तथा चावृतम् ।
वन्यैर्जन्तुभिराश्रितं सुविलसत्प्राकारसंवेष्टितम्
श्रीमच्छङ्करमन्दिरं प्रणमतां सर्वेष्टसिद्धिप्रदम् ॥१५॥

गङ्गातीरसमीपसंस्थितमिदं दिव्याजिरं मन्दिरम्
संवीक्ष्यैव मनो बभूव नितरां तत्र स्थितावुत्सुकम् ।
सर्वंवस्तुविहाय नीरवमिदं स्थानं तपोवृत्तये
योग्यं चेति विचार्य तत्र वसतिं निश्चित्य चिन्तां जहौ ॥१६॥

कौपीनं जलपात्रमेकमधुना तस्याभवत्संग्रहः
भस्मालंकृतभालभूषिततनुर्नित्यं जपे तत्परः ।
गायत्रीं श्रुतिमातरं नियमतः संराधयन्नाश्रमे
तेजः पुञ्जविराजितः स शुशुभे दीव्यन्यथा भास्करः ॥१७॥

कान्तिं तस्य निरीक्ष्य दिव्यमहसा पूर्णां सुशान्तिप्रदाम्
यान्तस्तेन पथाजनाः परिचयं प्राप्तुं समीपं गताः ।
वाचः पेशलतां तथा सुरुचिरां विद्यां तदीयां तदा
विज्ञायैव शिशून् स्वकान् नियमतः शिक्षार्थमानिन्यिरे ॥१८॥

नैवायाचत कुत्रचित् किमपिच द्रव्यं न भोज्यादिकम्
सर्वं वस्तु समन्ततः स्वयमहो नित्यं समभ्यागतम् ।
सिन्धुं यान्ति नदीनदाः परिमलं भृङ्गा यथा सत्वरम्
ब्रह्मज्ञानसमन्वितं जनमियं सम्पत्तिरागच्छति ॥१९॥

शिष्यास्तत्र समागमन् द्विजवरैः संप्रेषिताः श्रद्धया
प्रेम्णा तान् समुपागतान् शिशुजनान् नित्यं समध्यापयत् ।
भक्तैश्चापि विनिर्मिते तृणमये रम्ये कुटीरे तदा
वासं तत्र चकार शिष्यसहितो वेदप्रचारे रतः ॥२०॥

द्रुतचलन्मरुतापरिपोषितस्तृणमयप्रचुरोटजनाशकः ।
हुतभुगाविरभूदतिसत्वरम् निवसतां जनयन् भयमुत्कटम् ॥२१॥

अनिलपुञ्जगतोः शिशवस्तदा करुणया विभुना परिरक्षिताः ।
तदनुवैभवशालिभिरद्भुतम् सुविमलं भवनं विहितं मुदा ॥२२॥

साङ्गंवेदप्रचाराय बद्धादरः स्थापयामास विद्यालयं सुन्दरम् ।
देशदेशेभ्य आनीय विद्वज्जनम् पाठयामास बालान् पितेव स्वयम् ॥२३॥

भूरिशश्छात्रवृन्दाः समभ्यागताः भिन्नदेशेभ्य एते प्रमोदान्विताः ।
वस्त्रभोज्यप्रदानादिना प्रत्यहं पोषयामास विद्वज्जनाभ्यर्चितः ।।२४।।

विविधशास्त्रविचक्षणपण्डितप्रवरमण्डितशिक्षणमन्दिरे ।
मुमुदिरे बहुशः समुपागताः श्रुतिमनोहरगानवशीकृताः ।।२५।।

तदनुकीर्तिरभूदतिविस्तृता जनमनःपरिमोदविधायिनी ।
सुरगिरोऽभ्यसने नितरां रता द्विजजनाः शतशः समुपागताः ।।२६।।

वाराणसीव जगति प्रथितो विशालो विद्यालयः प्रतिदिनं परिवर्धमानः ।
गङ्गेव तत्र विमलः श्रुतिमन्त्रराशिः संश्रूयते स्म निखिलाघविमर्ददक्षः ।।२७।।

विधाय रम्यां निखिलां व्यवस्थां विद्यालयस्यातिसमृद्धिपूर्णाम् ।
स्वयं कुटीरे तृणनिर्मितेऽयं योगीव वासं सततं चकार ।।२८।।

ततो नृपाः श्रेष्ठिवराश्च नित्यं तद्दर्शनार्थं परितः समेताः ।
निरीक्ष्य शोभामतुलं च तेजः कृतार्थतां प्रापुरतीवदिव्याम् ।।२९।।

स दीनबन्धुः सततं महात्मा सहायतां सर्वविधां चकार ।
समागतानां शरणे जनानाम् शिशूननाथान् परिरक्षतिस्म ।।३०।।

वैधव्ययुक्ता महिलाश्च पालिता बालाश्च तासां भृशदुर्गतानाम् ।
रोगैर्महद्भिः परिपीडितानाम् सदा जनानां विहिता च रक्षा ।।३१।।

परोपकारार्थमिदं शरीरं विचारमेनं सफलीचकार ।
नामाप्यसौ जीवनदत्त एतद् दधार चान्वर्थकमेव नित्यम् ।।३२।।

यथा कथंचित् परितोषणं स्यात् कस्यापि जीवस्य विचार एषः ।
सदैव चेतस्य भवन्मनोज्ञो नान्यास्ति पूजा जगदीश्वरस्य ।।३३।।

ब्राह्मेमुहूर्ते उपविश्य कुशासनेऽसौ ध्यायन् विभुं परमहंसविमृग्यपादम् ।
विष्णोः स्तुतिं सुमनसां मनसाप्यचिन्त्याम् सम्पादयन् प्रतिदिनं परिलक्ष्यतेस्म ।।३४।।

गङ्गातटं समुपगम्य ततः पवित्रम् शिष्यव्रजैरनुगतो मृदुहास्ययुक्तः ।
स्नात्वाघमर्षणजपं प्रविधाय नित्यम् सन्ध्यामुपास्य निजपर्णकुटीमुपैति ।।३५।।

तत्रोपविश्य जपतत्परमानसः सन् मध्याह्नकालमवधिं च समाप्य तावत् ।
सन्ध्यामुपास्य दिनमध्यगतां पुनश्च भुक्त्वा विरम्य पठनादिषु युज्यतेस्म ।।३६।।

दिव्याः कथाः समुपविश्य शृणोति सायम् या भारते निगदिताः प्रवरैर्मुनीनाम् ।
गङ्गामुपेत्य समुपास्य ततश्च सन्ध्याम् दीर्घं जपं स्थिरमतिर्विदधाति नित्यम् ।।३७।।

नैकः क्षणोऽपि विफलो व्यतियाति तस्य रम्यं वचो जनमनो विमलं विधत्ते ।
नास्त्यस्य कापि सकलासु कलासु हीना यत्सन्निधौ निवसतां नहि पापलेशः ।।३८।।

धाराप्रवाहसहितां सुरभारतीं यः संसेवते मधुरया धुरया प्रवृत्ताम् ।
दिव्यं स्मितं मनसि यस्य दधाति मोदम् तज्जीवनं जगति कस्य न वन्दनीयम् ।।३९।।

शालोन्नतं वपुरतीवमनोज्ञकान्ति भस्माभिरामतनुरेष शिवः प्रभाति ।
मूर्ध्न्यस्ति कापि विमला ननु जाह्नवीव काशप्रकाशसदृशी शुभकेशराशिः ।।४०।।

शिष्याः पठन्त्यविरतं श्रुतिमन्त्रराशीन् शास्त्रार्थपद्धतिमपि ह्यनुशीलयन्ति ।
व्याख्याविधानकुशलाश्च भवन्ति यस्य सम्पर्कतः सुरगिरोऽभ्यसने च युक्ताः ।।४१।।

यत्कीर्तिरस्ति विशदा जगति प्रसिद्धा चान्द्री प्रभेव कुमुदं विकचीकरोति ।
गायन्ति यद्गुणगणान् मधुपा इवात्र सन्तः प्रसन्नवदनाः नितरां पवित्रान् ।।४२।।

दन्तप्रभाविजितमौक्तिकबीजमालः स्रोतस्त्रयेण समलङ्कृतभव्यभालः ।
रुद्राक्ष षितकरो मृगचर्मसेवी चेतःसु नः स्फुरति यस्य कला तु दैवी ।।४३।।

शुचौ गङ्गादेव्याः पुलिनसविधे कोऽपि रुचिरो-
निवासः शोभाया विलसति महानाश्रमगणः ।
मुनीनां संघातो व्रतजपसमाध्यादिषुरतः
कलावस्मिन् काले कृतयुगकलां सन्निदिशति ।।४४।।

प्रभाते वेदानां ध्वनिरयमघानि प्रणुदति
तथा धूमो यज्ञे तरुशिखरमालिङ्गति बलात् ।
जपन्तो गायत्रीं सुरसरितिभक्तिप्रमुदिता
महात्मानो नित्यं जगदतिपवित्रं विदधति ।।४५।।

प्रभावस्तस्यायं कुलपतिपदं धारयति यः
विभूतिर्लोकेऽस्मिन् विलसति सदा यस्य महिता ।
निजं दत्तं येन स्वमपि निखिलं जीवनमदः
महामान्यः सोऽयं सकलजनतावन्दितपदः ।।४६।।

अनेके विद्वांसो भुवि विविधविद्यासु निपुणाः
पठन्तो ह्यत्रैव श्रुतिमतिमहत्त्वेन सहिताम् ।
तथा साङ्गां सद्यः कलिकलुषसंहारनिपुणाम्
विराजन्ते सर्वे यमनियमसंपालनरताः ।।४७।।

इत्थं वृहद् व्रतधरो मुनिवृन्दवन्द्यो लोकानुकम्पनपरः तपसि प्रवृत्तः ।
मार्गे चलन्नपि सदोपदिदेश सोऽयं वार्धक्यभूषिततनुः शुशुभे शशीव ।।४८।।

उन्मूलयन् गहनमोहमहान्धकारं चेतः सुसंस्थितमतीवचिरोपनद्धम् ।
सम्मानयन् बुधजनान् सततं यशस्वी भास्वानिवातिरुचिरो नितरां दिदीपे ।।४९।।

बहुशो भुवि भारताजिरे सुरवाचः परितः प्रचारकान् ।
जनयन् ननु शिक्षणालयान् रुरुचे दिव्यमहः समन्वितः ।।५०।।

तथैव तत्प्रेरणया सुधीभिः सौभाग्यपुर्यां समलङ्कृतायाम् ।
हनूमतो मन्दिर भूमिभागे विद्यालयः स्थापित एक इद्धः ॥५१॥

एवं ह्यनेके सुरगीःप्रचारका विद्यालयाः सन्ति सहस्रशोऽन्ये ।
येषु प्रसिद्धा विबुधाः प्रबुद्धाः शिक्षाप्रदाने सततं प्रवृत्ताः ॥५२॥

सनातनं धर्ममिमें सदैव समाश्रयन्तः श्रुतिमार्गभक्ताः ।
वक्तृत्वशक्त्या भुवि नास्तिकानाम् मतं स्वयुक्त्या परिमर्दयन्ति ॥५३॥

विश्वप्रसिद्धः करपात्रधारी श्रीस्वामिवर्यः परमश्च हंसः ।
यो धर्मसङ्घं तदनुप्रवृत्तं श्रीरामराज्यं भुवि चातनोति ॥५४॥

एवंविधान्यस्य महात्मनोऽन्यान्यतीवदिव्यानि मनोहराणि ।
कार्याण्यनेकानि न कोऽपि तेषां निरूपणे शक्तिधरो नरः स्यात् ॥५५॥

मनोजजालनिर्गतः सरोजगर्जिसुन्दरः
जयत्यजस्रनैष्ठिको व्रती रविप्रभास्वरः ।
सरस्वती सदैव यस्य वाचि वैभवान्विता
विपक्षपक्षमर्दिनी तथापि मार्दवाञ्चिता ॥५६॥

विचित्रकल्पनाटवीप्रमत्तसिंहविक्रमो
धराधरेन्द्रसुच्छविर्जनावनायसश्रमः ।
प्रभावपुञ्जपोषितः पवित्रकीर्तिमण्डितो
जयत्वयं निरन्तरं समस्तशास्त्रपण्डितः ॥५७॥

यदीयकान्तिसम्मुखे विलज्जितोऽस्त चन्द्रमाः
गभीरतानिरीक्षणेन सागरोऽपि गर्हितः ।
कदापि नैव तुङ्गता महाद्रिमण्डलेऽपि सा
बुधार्चिते महामुनौ सदैव या विलोक्यते ॥५८॥

समस्तभोगभावनाविहीनचित्तमन्दिरो
निरस्तमोहसन्ततिर्विराजतेऽति सुन्दरः ।
दयोदयप्रवर्तितप्रकृष्टवस्तुसंचयो
जनानतीवदुर्गतान् सदैव पालयँश्च यः ॥५९॥

दयान्वितो निरीक्ष्यते समागतैर्जनैर्मुदा
नकोऽपि कोपकारणेऽपि तादृशः क्षमामयः ।
उदारता निरीक्षता न तादृशी क्वचिज्जने
रिपौ समीपमागतेऽपि यादृशी महोदये ॥६०॥

नवीनयज्ञपद्धतिप्रचारचारुचर्चितः
श्रुतिस्मृतीतिहासशास्त्रविज्ञमानवार्चितः ।
निरम्बुमेघमण्डलप्रभावभासिताम्बरो
विराजते द्विजाग्रणीर्भुवि स्थितः पुरन्दरः ॥६१॥

उपस्थितेऽपि वैभवे न तत्र भोगलिप्सुता
पयोजपत्रसम्मिता तदीय संस्थितिः स्मृता ।
गतिर्गजेन्द्रशोभिनी मतिर्वितर्कभेदिनी
विराजतामहर्निशं प्रबुद्धवर्गमोदिनी ॥६२॥

समुन्नतो मदान्विते दयान्वितो मृदौ जने
महर्षिवृन्दवन्दनासु नम्रतामुपागतः ।
विनिद्रपङ्कजाभदिव्यपादयुग्मशोभितः
शिरोमणिर्विराजते प्रबुद्धलोकवन्दितः ॥६३॥

कुशासने पवित्रयुग्मभूषिताङ्गुलिप्रभः
सुमृष्टताम्रपात्रसंस्थवारिपूरिताञ्जलिः ।
दिनोदये विलोक्यते सुनीरतीरसंस्थितो
न शीतकालविक्रमेऽपि वर्तते व्यतिक्रमः ॥६४॥

प्रचण्डकामकोपलोभशत्रुनाशसक्षणः
गभीरधीरधीरबन्धुसान्त्वनाविलक्षणः ।
यमादियोगपद्धतिप्रचारदत्तमानसो
जनस्य मोहसन्ततेर्विनाशने सलालसः ॥६५॥

न कीर्तिकामुको भवान् न कामिनीषु सस्पृहः
करोत्ययं न भावनां सुकाञ्चनेऽपि काञ्चन ।
न कर्ममार्गविच्युतो जनैः कदापि वीक्षितः
प्रतिक्षणं कृतक्षणैः समुत्सुकैः प्रतीक्षितः ॥६६॥

भवाटवीपरिभ्रमन्नरावलीसमाश्रितः
सलज्जतामुपागतः प्रदानशीलशेखरः ।
ददाति नित्यमीश एव मां जना मुधा विदुः
इतीवनेत्रयोर्द्वयी निमीलितेव तिष्ठति ॥६७॥

शरन्निरभ्रमम्बरं तथा स्वकीयमम्बरम्
समानयन् सुमानयन् समागतान् बुधान् सदा ।
निवासवस्त्रभोजनप्रदानसेवया सकृद्
विराजते महामना मनस्विमण्डलाग्रणीः ॥६८॥

विनोपनेत्रधारणं सदैव तेन च स्थितम्
जरातुरेऽपिजीवने न जीवनेन किं नृणाम् ।
न कर्णशक्तिरीक्षिता कदापि तस्य दुर्बला
जितेन्द्रियोऽजितेन्द्रिये न मानवे रुचिं दधौ ॥६९॥

निरक्षरेऽथसाक्षरे चरित्रशीलशोभिते
जने पवित्रमानसे मनोमुदान्वितं दधौ ।
न वेदपाठपण्डितेऽपि सद्गुणैरमण्डिते
चिरन्तनेऽपि संस्तुतेऽपि सन्नतिं ययौ क्वचित् ॥७०॥

शुचित्वमर्थसंस्थितं न वारिणा मृदा शुचिर्
जितेन्द्रियः कृतश्रमो नरो न रोगभाजनम् ।
न दिव्यवस्तुभोजनं विधेयमेककेन वे–
ति तानि तस्य सुन्दराणि नो वचांसि संस्मृतौ ॥७१॥

प्रकाशते न काशिका तदीयदर्शनं विना
न भट्टिकाव्यचातुरी तुरीव कीर्तिकारिणी ।
न वेदपाठिमण्डलीविभूषिते वनस्थले
श्रुतेर्ध्वनिर्मनोहरोऽपि राजते न तं विना ॥७२॥

मनोजमानमर्दनं शिखण्डिपिच्छमण्डनम्
सितासितं प्रभुद्वयं समानमेवतत्प्रियम् ।
शिवे कपालकुत्सिते विभूषिते च केशवे
न भेदबुद्धिरीप्सिता कदापि तस्य वर्णिनः ॥७३॥

कदापि भस्मधारणं न विस्मृतं महर्षिणा
न रुद्रमालिका कदा जपाय न प्रवर्तिता ।
मृगाजिनोपरिस्थितो विभूषितः कुशादिभिः
मदीयचित्तमन्दिरे विराजतामनुक्षणम् ॥७४॥

कुशासने सुशासनो जपादिकर्मतत्परः
शमादिषट्कसंयुतो न संयतोऽपि मुक्तिगः ।
प्रसन्नधीरतीवकान्तिपुञ्जशोभिताननो
निवारयत्यहर्निशं जनस्य दुःखसन्ततिम् ॥७५॥

हिमाद्रिशृङ्गशोभिते सुरैरपिप्रपूजिते
विचित्रपुष्पसौरभे जगद्गुरौ मनोहरे ।
सचाद्यभारताजिरे यशःशरीरमाश्रितो
विराजते विराजिते कलिन्दकन्यकादिभिः ॥७६॥

नवनिधिप्रमुखा बहवो बुधाः समभवन्निह संयतबुद्धयः ।
द्विजजनोचितकर्मरताः सदा नरवरे नरवर्यविभूषिते ॥७७॥

आजन्म येन गुरुवर्यकृतोपदेशाद् यज्ञो व्यधायि विधिवर्धितसाधुभावः ।
संसेविता सुरगवी शुभजाह्नवी च धेनुश्च वेदपठनादृतमानसेन ॥७८॥

आरोपिताश्च तरवः शतशो मनोज्ञाः पुष्पैः फलैश्चमधुरैः परिपूरिता ये ।
तानद्य पश्यति जनो विरहे निमग्नान् पुत्रानिवातिशयशोकविमूढचित्तान् ।।७९।।

मन्त्रध्वनिध्वनिततद्गृहमध्यभागादश्रूयतातिशयदिव्यपवित्रवाणी ।
धूमश्च सौरभभरप्रथिमाभिरामो नित्याग्निहोत्रविधिबोधक एव जातः ।।८०।।

अध्यापने निपुणता निजशिष्यवर्गे पुत्रेष्विवातिमधुरा रुचिरा च दृष्टिः ।
रोगातुरेषु करुणा भृशपीडितेषु दीनेषु दानपरता रुचिरुत्तमेषु ।।८१।।

स्वर्गंगतोऽपि सुकृतैः समुपार्जितैः स्वैरद्यापि जीवति मनोभवनेऽस्मदीये ।
तस्य स्मृतिः स्थिरतरा चिरमस्तुलोके शास्त्रोक्तकर्मनिवहे विनियोजयन्ती ।।८२।।

वेदान्तविद्याधिगतप्रमोदा न्यायादिशास्त्रे प्रथितावबोधाः ।
शाब्दे परेब्रह्मणि सप्रकाशा जयन्ति नित्यं विजयप्रकाशाः ।।८३।।

प्राचार्यतां साधु विभूषयन्ति शिवं प्रदोषे परिपूजयन्ति ।
समाधियुग्मं परिशीलयन्ति मनो बुधानामति हर्षयन्ति ।।८४।।

वन्द्याः प्रसिद्धा गुरवोऽस्मदीया गृहस्थधर्मेऽभिरुचिर्यदीया ।
निष्कामकर्माणि समाचरन्ति भ्रान्तिं जनानां विनिवारयन्ति ।।८५।।

व्युत्पत्तिवादादिदुरूहतायाम् न खेदमभ्येति कदापि बुद्धिः ।
समस्तशास्त्रस्मृतिभिर्मनोज्ञे सरस्वती नृत्यति यन्मुखाब्जे ।।८६।।

त्रिवेदिनः केचिदथद्विवेदिनो यदीयशिष्याः परितो लसन्ति ।
तर्कादिशास्त्रे परमप्रवीणा मतं परेषां परिमर्दयन्ति ।।८७।।

सत्यव्रतेनाथधृतव्रतेन श्रीबालचन्द्रेण मनोहरेण ।
विभूषितं पार्श्वयुगं यदीयं स चित्तभूमौ चिरमाविरस्तु ।।८८।।

द्विपत्रितः पल्लवितः सुपुष्पः फलैर्युतो जीवनवृक्ष एष ।
मधुव्रतव्रातवृतः सदैव दिगन्तभागान् सुरभीकरोति ।।८९।।

स ब्रह्मलोकं गतवान् महात्मा प्रातः समाधाय मनोह्यनन्ते ।
विहाय सर्वान् रुदतो मनुष्यानाजीवनं तं सततं स्मरामः ।।९०।।

चरित्रमेतत् परमं पवित्रम् महर्षिवर्यस्य मनोहरस्य ।
मयासमासेन समीरितं तन् मनस्यनन्तं सुखमातनोतु ।।९१।।

श्रीजीवनस्य गुणराशिरनन्त एव मन्दस्य नास्तिविभवः खलु मादृशस्य ।
दोषब्रजः सततमेव विराजमानः चन्द्रे कलङ्क इव भातु मदीयकाव्ये ।।९२।।

विरलगुणोऽपिमदीयः पद्यप्रसूनबन्धोऽयम् ।
सुखयतु सज्जनहृदयं गुणलेशेप्यवाप्तपरिपोषम् ।।९३।।

श्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालयप्रशस्तिः

(श्रीबांकेलाल त्रिवेदी, साङ्गवेदमहाविद्यालय, नरवर)

सन्मान्यानां नान्यसाधारणतपसां दिगन्तव्यापियशसां येषां श्रीमच्चरणरेणुकणस्पर्शो मादृशस्य प्रमादिनोऽपि प्रचुरपुण्यप्राप्यप्रज्ञावज्जनसन्निधिमादधानो मूकस्येव वाक् पङ्गोरिव गतिः, निःशरणस्येव निरापदं सद्म, निसर्गकरुणैर्गुरुभिरंकुरितस्य संवित्तरोः पल्लवनायेव नववारिदोदयः प्रतिभाति। तेषां सततस्मरणीयचरणानामनुकरणीयसदाचरणानां विद्वज्जनवन्दनीयानां सुमनोभिरभिनन्दनीयानां महामहिमानुभावानां मृदुलतरसुस्वभावानां सरलशुचिसमुदारान्तःकरणानां नियमिताखिलकरणानां सावित्रीमात्रशरणानां सकललोकैकशरणानां सुरसरस्वतीरसास्वादनतत्पराणां सद्धर्माचारप्रचारबद्धपरिकराणां धृतिक्षमादमास्तेयशौचेन्द्रियनिग्रहधीविद्यासत्याक्रोधैर्दशभिः सामान्यधर्मैः स्वाध्याययज्ञदानादिभिर्विशेषधर्मैश्च मूर्तिमद्भिरेकीभूयेव विभाविताकृतीनां सन्मतीनां धवलपरिधानेन भस्मच्छुरितललाटेन रुद्राक्षसंशोभितकण्ठकरेण वामस्कन्धविराजितोपवीतत्रयेण वपुषेव शशिमुक्तापयःशुभ्रेण यशसापि समुपासितानामनन्तश्रीसमलंकृतानां नरवरस्थश्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालयस्य कुलपतिमहाभागानां नैष्ठिकव्रतवतां श्रीमतां श्रीमहाराजचरणानामिदममरभारतीमन्दिरमेवरमणीयं प्रथमं सस्मरणं यत् खलु वेदवेदाङ्गसाहित्यदर्शनादिपरिशीलनशेमुषीजुषां विदुषां नित्यविलासेन यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यष्टाङ्गयोगानुष्ठानप्रतिष्ठितानां वीतरागाणां परिव्रजद्वराणां सततनिवासेन चानुदिनमेधमानोदयं करालेऽपिकलौ कलितव्रतमिवभारतीयार्यमर्यादासंरक्षणे सक्षमं सद्वसुधाभागधेयमधिकमादधाति। नूनं साम्प्रतमपि एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः स्वं स्वंचरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः इतिवस्तुसत्यं प्रत्यक्षमक्षिलक्षीकृत्य श्रेयोर्थिभिरनेकशः सौभाग्यशालिभिर्विप्रक्षत्रविटशूद्रैः समाश्रीयतेऽयमाश्रमः। कः कोऽत्र नाभ्युपेतमुपेतः। कं वा नाश्लिष्यन्नीप्सिताः सम्पदः। केन वा मयाविना नावापि नैरुज्यम्। केन चात्र नाधिगतः परितोषः। कस्माद्वात्र स्थितान्न बिभेतिभवभयम्। कस्यवानात्र सौभाग्यभास्करोदयः। कस्मिंश्चात्र प्रतिवसति न विराजन्ते ब्राह्मणोचिताः सदाचाराः। तदिदम् निखिलश्रीमहाराजचरणानामेवतपसां फलं यद् आचन्द्रतारकमेतदीयसंस्मारकरूपविद्याभवनमिदं सुरभारती प्रचारतत्परतया प्रतिष्ठां स्वनिष्ठयैवप्रतिष्ठास्यति इति शम्।

———

श्रीमहाराजचरणानां तपःवर्णनम्

(श्रीसत्यव्रत शास्त्री, गढमुक्तेश्वर)

श्रीजाह्नवीसलिलसेवनपूतदेहानां कटितटधारितस्वदेशीयसितवस्त्रनिर्मितकौपीनकटिवस्त्राणां वामांसन्यस्तधवलस्थूलसूत्रनिष्पादितयज्ञोपवीतचतुष्काणामष्टोत्तरशतकुशसमूहमुष्टिकाशोभितवामकरतलानां कुशमुद्रिकाधारणसमुल्लसितकरद्वयानामिकाङ्गुलीनां गोमुख्यन्तर्निहितरुद्राक्षमालासततावर्तनसञ्जातकिणाङ्गुलिसमुद्भासितदक्षिणकरकमलानां नित्यानुष्ठितसावित्रीमहामन्त्रोपांशुप्रयोगनिरस्तवाङ्मनसमलानां सम्भाषणकालोपशोभितदेदीप्यमानश्वेतदशनकिरणमिषोद्वान्तहृदयस्थसत्त्वगुणराशीनां सरलस्वान्तानां प्रातःस्मरणीयपूज्यपादपयोजानां नरवरस्थश्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालयसंस्थापकानां वर्णाश्रमपरिपाटीसंरक्षणसक्षणानां सततविधृतनैष्ठिकब्रह्मचर्यमहाव्रतानां श्रीमहाराजजीपदोपलक्षितधर्मावच्छिन्नानां श्री १०८ जीवनदत्तशर्ममहोदयानां चरणकुशेशयरजःस्मारम् स्मारम् श्रीमहाराजपादच्छायसमाश्रयणोपलब्धवैद्यराजोपाधिविभूषितश्रीजगन्नाथप्रसादशर्मशास्त्रिनिर्मित्सिते तेषां जीवनचरिते कानिचिद् वाक्यानि सम्प्रेष्य मयाऽपि पवित्रीक्रियते स्वलेखनी ।

महाराजपादैर्नानादिग्दिगन्तागताज्ञविप्रवटूनुपनीय शौचाचारशिक्षणपूर्वकं सन्ध्योपासनादिवलिवैश्वदेवान्तमावश्यकं नित्यकर्मोपदिश्य यथायोग्यमायुर्वेदवेदव्याकरणतर्कशास्त्राध्ययनाय महाविद्यालयं निर्माय ब्रह्मसत्रव्यवस्थाऽक्रियत ।

अविशेषतः सर्वेषामन्तेवसतां भरणपोषणपूर्वकविद्यादानानन्तरं वृत्तिविवाहादिविषयोऽपि तैरेवाकारिषत ।

अत एव "सपितापितरस्तासां केवलं जन्महेतवः" इति महाकविकालिदासोक्तिमनुसृत्याष्टवर्षदेशीयमर्भकं तेषां चरणेषु समर्प्य तैस्तैरभिभावकैर्निश्चिन्तैः सद्भिः कृतार्थैरभूयत ।

अपूर्णशास्त्राध्ययनानां प्राचीनस्नातकानामपि काले-काले स्मरन्तो यज्ञानुष्ठानादिकर्मसंयोजनया तानपि गृहस्थान् पर्यपालयन् ।

अपरिचितस्यापि शरणागतस्य सतो दीनकथां श्रावं श्रावं जपाकुसुमोपरागेण स्फटिकमणय इव तदीयदुःखदवानलेन संक्रान्तास्तन्निराकरणोपायेन तमुददीधरन् ।

सकृत्समुपगतोऽपि जनो वार्तालापविधानेन संतुष्यन् चिरपरिचित इव सर्वाधिककृपाभाजनं स्वममन्यत ।

इति तेषां सर्वजनवत्सला स्वाभाविको प्रवृत्तिरासीत् ।

जपान्ते स्वैरस्वच्छन्दवार्ताद्वारैर्वैहलौकिकाः पारलौकिकाश्च महर्घा अप्युपदेशाः सरलेनैव पथा शुश्रूषूणां हस्तगताः समपद्यन्त अतएव उपचरितव्याः सन्तो यद्यपि कथयन्ति नैकमुपदेशम् । यास्तेषां स्वैरकथास्ता एव भवन्ति शास्त्राणि । इति सूक्तेः प्रत्यक्षोदाहरणभूताः श्रीमहाराजपादा आसन् ।

तेषाममिततपःप्रभावाकृष्टा अनेकेदुर्लभदर्शनाः साधवो विद्वांसो विविधकलाकोविदाश्च तत्राश्रमे स्वयमेवोपातिष्ठन् येषां दर्शनेन समीपग्रामनगरस्थजनाश्छात्रगणाश्च स्वभाग्यं प्रशंसन्तिस्म ।

एकदा तत्रैव महाविद्यालये सर्वोच्चस्नातका विविधशास्त्रपारदृश्वानो न्यायव्याकरणाचार्याः श्री पं० ज्वालाप्रसादशास्त्रिणश्छात्रदशायामन्यैश्छात्रैः सह राजघट्टोपकण्ठमार्गे गच्छन्तो मार्गरोधकेन

महाविषधरेण विषधरेण दष्टा: समाचारं तं गृहीत्वा छात्रोऽन्यतमोऽहमदनगरवास्तव्यः श्यामलालशर्मा धावनत्वरितः श्रीमहाराजपादान्तिकमुपागमत् ।

पितेव पुत्रस्य दुःखं श्रुत्वा विह्वला इवाभवन् । परन्तु तदैवाकस्मात्तेजःपुञ्जपिञ्जरिताशाचक्र आविरभूदेकोयोगिराट् ।

अब्रवीच्च भो महाराज ! मास्मचिन्तागमः शान्तिमावह । क्षणेनैवाहं विषमपनेष्यामि, नागञ्च भस्मसात् करिष्यामीत्याश्वास्य समागतच्छात्रनिर्दिष्टेनपथा श्रीज्वालाप्रसादशास्त्रिणं साक्षात्कर्तुंसहैव विद्यालयवासिजनैः प्राचलद्योगिराजः । नरौराग्रामयायिनि राजमार्गे विद्यमानप्रपायां वृक्षच्छायानिषण्णं छात्रैः प्रदत्तानि निम्बपत्राणि चर्वन्तं समासादितवान् योगिराजः सर्पदष्टं सर्पमिव चेष्टमानं श्रीज्वालाप्रसादशास्त्रिणम्, तदनु स्वशुष्कवस्त्रं दृढं निष्पीडयता योगिराजेन तेन मम चक्षुषी पश्य इति सोद्घोषं वारत्रयमुच्चार्य निजनेत्ररश्मिसञ्चरणद्वारेण शास्त्रिणो विषविजृम्भणमपाकृतम् ।

अत्रान्तरे समुपस्थितच्छात्रेष्वन्यतमः श्री पं० बहोरीदत्तशास्त्री संमूर्च्छन् पीतवर्णः सन् भूमौ पपात । ततो योगिराजस्तमपि तथैव सम्बोध्य स्वक्रियया सुस्वास्थ्यमानयत् ।

ततः सुस्वास्थ्यलाभपर्यन्तं द्विरात्रमुषित्वाऽन्तर्हित इव क्वापि स्वाभीष्टदेशं जगामापुनर्दर्शनाय योगिराट् । तच्चमत्कृतिचर्चां कुर्वन् सर्वोऽपिजनः श्रीमहाराजपादतपोमाहात्म्यमेव प्राशंसत् । येन हेतुना तादृशः समागमोऽनुभूतः ।

एकदा श्रीजगद्गुरुशङ्कराचार्याः श्रीशुद्धबोधतीर्थमहोदयाः नैष्ठिकब्रह्मचारिणः श्रीमहाराजमहोदयान् योग्यान् विचार्य शङ्कराचार्यपदप्रदित्सया स्वयं नरवराश्रममुपागच्छन् । प्रस्तुतवन्तश्च श्रीशङ्कराचार्यपदं स्वीकर्तुम् ।

श्रीमहाराजमहोदयास्तत्पदं जपतपः प्रत्यूहरूपं बन्धनमिवाकलय्य प्रार्थनया प्रस्तावं तं निराकुर्वन् । अत्रान्तरे तत्पदजिघृक्षया समुपस्थिताः श्रीभारतीकृष्णतीर्थमहोदयाः सुयोग्या इति श्रीमहाराजमहोदयैः समर्थिताः । श्रीमहाराजमहोदयानां समर्थनेन पूर्वोक्तशङ्कराचार्यैस्ते स्वोत्तराधिकारिशिष्यत्वेन स्वीकृताः ।

श्रीमहाराजमहोदयास्तु त्रिकालगङ्गावगाहनगायत्रीजपविधानमहाविद्यालयसञ्चालनातिरिक्तं पौरुहूतं पदमपि नाकाङ्क्षन्तेस्म ।

तस्मिन्नेव शिष्टसमागमकाले जगद्विदितवैदुष्याः षड्दर्शनाचार्याः प्राचीनप्रसिद्धपण्डितेष्वन्यतमाः श्री १०८ श्रीविश्वेश्वराश्रमस्वामिमहोदया गङ्गातटनिवासेच्छया तमाश्रममलङ्कृतवन्तः ।

येषां शिष्येषु दिगन्तलब्धप्रतिष्ठाः विद्वज्जनवन्द्याः श्रीहरिहरानन्दसरस्वतीकरपात्रमहोदयाः प्रधानतया नरवराश्रमस्यैव विभूतिभूताः स्नातकाः सन्ति ।

श्रीषड्दर्शनाचार्यमहोदयेभ्योऽध्ययनात्पूर्वं तैर्नव्यव्याकरणसम्पूर्णमध्यमपरीक्षा तत्रैव महाविद्यालये सपरिश्रममधीत्यसमुत्तीर्णा ।

महाविद्यालयप्रारम्भकालादेव श्रीमहाराजमहोदयैर्नरौराग्रामग्रामण्योऽतिप्रभावशालिनो भूमिधराः श्रीचौधरीनन्दलालशर्ममहोदयाः नरवराश्रममहाविद्यालयस्य कार्यनिरीक्षकत्वेन सर्वोच्चशासकत्वेनाध्यक्षपदे निर्वाचिताः ।

ते च महोदया ब्रह्मचारिवटुभ्योऽन्येभ्यश्चसमागतसंन्यासियतिजनेभ्यो निर्मितभिक्षामामान्नभिक्षां दुग्धदधितक्राणि च सश्रद्धं ददतिस्म ।

तदा तेषां प्रभुत्वमनुशासनञ्च समीपस्थग्रामजनेष्वनतिवर्तनीये अभूताम् ।

तेषां ग्रामवाटिकायां श्रीहरिहरचैतन्यब्रह्मचारिमहोदयोऽन्येऽपि ब्रह्मचारिणश्छात्राः पृथक् पृथक् कालेषु न्यवसन् ।

पूर्वोक्तषड्दर्शनाचार्यास्तान् श्रीमाननीयो महावैयाकरणो दण्डी श्री १०८ अच्युतमुनिमहोदयो भृगुक्षेत्रं निनाय ।

तेऽपि तत्र कञ्चित्कालमुषित्वा कतिचिद्विदुषः पाठयित्वा स्वोत्कण्ठया नरवराश्रममेव श्रीमहाराजमहोदयप्रेमाकर्षिताः समोयान् ।

तत्र चाजीवनं वेदान्तन्यायशास्त्रेऽध्यजीगपन् तेभ्यः श्रीमहाराजमहोदया अपि वेदान्तशास्त्रमध्यैयत ।

एकदा पूर्वोक्ता नौकाविहारिणः श्रीअच्युतमुनिपादाः मस्करिणो नावैव नरवराश्रममुपायुः ।

तत्रत्यं नरवरमहाविद्यालयं गोयनकामहाविद्यालयरूपेण परिवर्तयितुं तेनैव नाम्ना सञ्चालयितुञ्च श्रीमहाराजमहोदयं प्रति प्रस्तुतवन्तः ।

अङ्गीकृतपरिपालनशीलैः श्रीमहाराजचरणैरुदीरितम् यदेतन्महाविद्यालयप्रारम्भकालेऽस्माकं समाज्ञया भिक्षावृत्त्याच यैः श्रीसूर्यमलबाबूलालादिश्रेष्ठिभिरितरैश्च दानशीलैरयमाप्यायितस्तैः क्रियमाणासेवा त्यक्तुमशक्येति व्यक्तिविशेषनाम्ना संस्थेयं भवितुन्न शक्नोति ।

इति श्रीमहाराजचरणानां त्यागमनोवृत्तिसूचकमुत्तरं श्रुत्वा दण्डिनस्ते महोदयाः स्वतरण्या भृगुक्षेत्रं समगच्छन् ।

नरवरमहाविद्यालयेऽनेके प्रधानाचार्यःपण्डितेषु मान्याः समागताः परन्तु कस्माच्चित्कारणात् परिवर्तनशीलैस्तैस्तैरभूयत ।

इत्थम् १९३० ईसवीयसंवत्सरपर्यन्तं परिवर्तनयुते तस्मिन्पदे तस्मिन्नेववत्सरे समुपस्थितैर्न्यायव्याकरणाचार्यैर्गुरुवरैः श्री पं० विजयप्रकाशशर्ममिश्राचार्यप्रवरैः समागम्यत ।

समागतैस्तैः सपरिश्रममध्यापिता अन्तेवसन्तो विद्यापारङ्गताः समभूवन् ।

लेखकोऽसौ पूज्य श्री पं० रामेश्वरदत्तत्रिपाठिचरणैः पूर्वाचार्यैः मध्यमा तृतीयखण्डान्तं यावत् सिद्धान्तकौमुदीमुक्तावल्यादिग्रन्थान्पाठितोऽपिपूज्यपादैर्वर्तमानप्रधानाचार्यैः सरहस्यसपरिश्रमशास्त्रतत्त्वप्रवचनैर्व्याकरणन्यायशास्त्रयोरग्रिमपरीक्षासु च समुन्मीलितनेत्रः समजनि ।

पूज्यश्रीप्रधानाचार्याणां वैदुष्यमहिम्ना महाविद्यालयोऽसावध्यापकसंख्यायां छात्रसंख्यायांचात्युन्नतिं प्राप्तवान् ।

महाविद्यालयस्य प्रवर्धमानव्ययभारयोगक्षेमचिन्तामग्नानां श्रीमहाराजचरणानां जीवनकाल एव पूज्याचार्यचरणैस्तादृशभारवहने स्वकन्धरासंयोजनं कृतम् ।

श्रीमहाराजचरणसम्पादितस्थिरसम्पत्त्या तेषां तपःप्रभावेण विद्यमानपूज्यप्रधानाचार्यमहोदयानांकायिकवाचिकमानसिकत्रिविधपरिश्रमेण पूर्वोक्तविद्यालयाध्यक्षाणां संरक्षणेन च नरवरस्थः श्रीसांगवेदमहाविद्यालयः प्रान्तीयशिक्षाशासनाधिकारिभिः प्रथमश्रेण्यां समुद्घोषितः सर्वाधिकं वार्षिकमनुदानं लभमानो वर्धतेतराम् ।

इत्थमाजीवनं सर्वभूतदयां दर्शयन्तः अश्वगवादिप्राणियाने यात्रात्यागव्रतं पालयन्तः नैष्ठिकब्रह्मचर्यपालनमहाव्रतं धारयन्तः सनातनदिनचर्यया गायत्रीजपमनुतिष्ठन्तः अनध्यासभावेन स्वसंस्थापितमहाविद्यालयसञ्चालनं कुर्वन्तः पूजनीयाः श्रीमहाराजचरणा अन्तकाले श्रीमद्भगवद्गीतास्वाध्यायसमुद्घोषं शृण्वन्तो "ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" इत्यन्तपदश्रवणानन्तरं पार्श्वं परिवर्त्य भौतिकं देहं त्यक्त्वा ब्रह्मलोकमारुरुहुः ।

महाविद्यालयप्रशस्तिः प्राचीनशिक्षापद्धतिश्च

(आचार्य श्रीहरदत्त शास्त्री, खुरजा)

कल्याणनाम्नः शुभया श्रियाश्रितान् पितामहान्नौमि सदार्द्रचित्तान् ।
यत्पुण्यलेशादलभे विशेषान् गुरूंश्च वन्दे विजयप्रकाशान् ॥१॥
नाथाम्यनाथो रघुनाथपादान् श्रीरामदेवीं जननीं तथैव ।
यदीयकुक्षेरहमाविरासं तदीयपादौ परिशीलयामि ॥२॥
श्रीरामं स्वगुरुं नत्वा गणपञ्च सरस्वतीम् ।
प्रस्तौमि जीवनं यत्तत् जगज्जीवातुकारणम् ॥३॥
यज्जीवनं वेदविदां हिताय यज्जीवनं संस्कृतमङ्गलाय ।
यज्जीवनं दीनजनोपकृत्यै प्रणौमि तं जीवनदत्तमेकम् ॥४॥

करालकालकवलितां वेदक्रियां विक्रियामितान् वेदाँश्च पुनर्भुवि प्रवर्तयितुं शिक्षयितुञ्च जनान् वेदविहिताचारान् ब्रह्मलोकादपि उन्नतलोकलिप्सयेव धृतावताराः ब्रह्मचर्यव्रतं श्रिता ब्रह्माण एव श्रीमहाराजपादाः ब्रह्मचर्येणतपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत इति श्रुतिं सत्यापयितुमिवाजायन्त । वेदविद्या प्रचारसाधनं महाविद्यालयं च बुलन्दशहरप्रान्ते राजघट्टतः क्रोशद्वये पूर्वस्यांदिशि कलकत्तीतः पश्चिमायां दिशि अर्धक्रोशमिते ब्रह्मद्रवाया धरातलवासिजनोद्धारपरायाः स्वं सेवितुं समवेतानां जनानां मनः-कल्पितानल्पमनोरथपूरणपरायाः श्रीभगीरथतपःप्रभावात् प्रसन्नतरायाः अतएव तद्वंशजोद्धारे विलम्बभयादिव कृतत्वरायाः भुवं प्रति सत्वराया उत्तारतः पूर्वदिशां प्रति निपतन्त्याः प्रोच्छलत्तारत-रङ्गभङ्गाया गङ्गायाः परिसरे मन्ये ब्रह्मणा कल्पितं ब्रह्मपुरमिव भूसुरपूरं नरवरनाम्निस्थाने प्रत्यस्थापयन् । तत्रलोक्या आभ्यन्तरमपि स्वप्रभावादनाभ्यन्तरम्, स्वकमण्डलुच्युतामपि शर्वशिरोधृतां ब्रह्म-लोकात्पतितामपि पतितपावनीं पर्वतान्निःसृतामपि सरितं प्रयातामपि अयातां यामुमाशङ्करौ शिवाश्रयामप्यशिवाश्रयां ब्रह्मलोकविरहव्याकुलामप्याकुलां मत्स्यादिभिः जलोत्पातनिपातजातघोष-व्याजात् हरहरशब्दमनुकुर्वतीमिलामिमां प्रक्षालयन्तीं लोकयितुमिवैनां स्वाधिष्ठानाय रचितमुच्च चत्वरमिवाश्रमपदमभितः सर्पाकारैः शतशो वर्षाजलसर्पणकृतगह्वरखातैरालिङ्गितं भाति ।

आश्रमश्चायं सर्वथा विद्याकामेभ्यो निर्बाधसामग्रीसहितो दृश्यते । मन्ये सर्वं विचार्यैव श्रीमहाराजपादैरत्रविद्यालयः संस्थापितः । मया तेषां मुखादेवश्रुतमासीत् । यत्संस्कृत-विद्यालयं त्रिषु स्थलेषु न संस्थापयेत् । हट्टे घट्टे राजपथे चेति । एषु विविधविपुलजनसम्पर्कजन्यमनोव्यासङ्गकरेषु एकमप्यत्र नास्ति । अत एकान्तत्वादुपयोगितरमाभाति सहृदयेभ्यः ।

छात्राणां क्रीडनाय, सात्विकमनोरञ्जनाय जलस्थलोभयविधव्यायामाय च दर्शकानां दर्शनादेव किल्विषहरायाः पुण्यसलिलाया भागीरथ्यास्तीरम् ।

यत्रत्यं क्रीडनं, मनोरञ्जनं, जलतरणादिव्यायामश्च न केवलं शारीरिकस्वास्थ्यलाभायैव

अपितुअन्तःसत्त्वशोधकपुण्यार्जनविधया बुद्धिविवृद्धयेऽपि। एवं तथाविधसाधुसमागमायापि येषां दर्शनमपि पुण्याय, प्रदिष्टं शास्त्रेषु—ते पुनन्ति उरुकालेनदर्शनादेवसाधवः इति तीर्थीभूताहि तेस्वयमित्याद्यनेकशोवाक्यदर्शनात्। एतस्मादेव समये समयेऽल्पार्जितपुण्यालभ्यानांलब्धप्रतिष्ठानां महात्मनां दर्शनमुपदेशामृतञ्चाभूताम् सुलभे।

किं बहुना—विद्याविषये काश्यामपिलब्धकीर्तीनां जगद्विख्यातयशस्कानां परमपूज्यानामष्टोत्तरसहस्रश्रीयुतानांत्रि दन्मूर्धन्यानां श्रीविश्वेश्वराश्रमाणां तु वसतिस्तत्रैव ब्रह्मलयावधिकाऽजायत। यैर्भारतेधर्मसंघं संस्थाप्यानेकत्र धर्मसंघविद्यालयानुद्घाट्यधार्मिकेषु तथा राजनीतिवित्सु रामराज्यपरिषदं निर्माय तया च हिन्दू कोडबिलविरोधान्दोलनं गोहिंसाविरोधप्रदर्शनञ्च विधाय सर्वत्रस्वयशांसि व्यतानिषत। तेऽपिपरमादरणीयाः श्रीकरपात्रिमहाभागास्तेषामेव शिक्षया, उदबुद्धपूर्वजन्माभ्यस्तसरस्वतीकतां प्राचख्यिपन्त। एतेऽपि नरवर एवाध्यगीषत। अपरोऽप्येको महात्मा विष्णुदत्ताभिधः करपात्रिमहाभागानां सहाध्यायीतो विद्यालयादेव यः परमविरक्तः सन्नुत्तराखण्डमयात् नाद्यापि प्रत्यावर्तत तत्रैव मौनमाभजमान आस्त। अन्येऽपि शिष्याः श्रीविश्वेश्वराश्रमाणां सन्न्यासदीक्षायामभूवन् येषु श्रीरामकृष्णाश्रमाः प्रधानतराः शिष्याः सिद्धेषु महात्मसु सुगूढतमा आसन्। येषां शिष्येषु श्रीविष्णवाश्रमाः प्रवचनव्याख्यानादिविषयेषु न कस्माच्चिदपि महात्मनो विदुषो वा न्यूनतां विषहन्ते।

अपरे श्रीसोमाश्रमाः प्रभासभिक्षव इतिख्याताः सन्न्यासात्पूर्वमेतेऽधीतसाङ्गोपाङ्गवेदाः स्मार्तकर्मकाण्डनिष्णाताः, तन्त्रागमविषयेतु न केनापि विदुषा तैः सार्धं समता विभराम्बभूवे।

मयापि तन्त्रविषये तत्प्रसादभाजाभावि। येषां चरणाब्जपरागलुब्धाः सहस्रशोधनिका अभ्रमरायन्त। आश्रमादाश्रमं गच्छेदितिस्मृतिमन्वसरन्—"यो जन्मनालङ्कृतवान् प्रभासं गृहाश्रमञ्चाप्युचितक्रियाभिः" "श्रिया समभ्यर्च्य सुतेन साकं प्रियां स गङ्गातटमाससाद॥" तथैव नरवरं समेत्य तपः स्वाध्यायपरायणाः अल्पीयसैव कालेन विश्वेशं प्रसाद्य सर्वं सन्न्यस्तवन्तः। येषां संस्मरणमद्यापि कृतसान्निध्यान् प्रहृष्य रोमोदगमैरञ्चयति। स्थानसन्निवेशः विद्याकामस्तु गिरिशमितिभागवतादेशानुसारं प्राचीनतरं तत्रैकमस्ति परात्परस्य ब्रह्मणः शिवस्य मन्दिरं यस्योपासनया ततस्त्याश्छात्रा बहुत्र महाविद्यालयेषु प्रधानाचार्यपदमधिचकासति।

यन्मन्दिरमभितोऽनेकशो निम्बादिवृक्षैराच्छन्नं विशालं प्राङ्गणम्। यत्राद्यापि प्रत्यहं छात्राः समुपस्थाय लोकशङ्करं शङ्करं समुपासते। अभिप्राङ्गणं छात्राणां निवासाय अध्ययनाध्यापनाय च रचिताः प्रासादाः प्राकारीयन्ते। ततोऽपि बहिर्भागे पृष्ठभागमभिरक्षन्तः पश्चिमायां दिशि अध्यापकानां गृहाः। अग्रतोऽपि पूर्वस्यां दिशि आगन्तुकानां कृते सन्तिकेचिदावासकुटीराः। अस्यामेव दिशायां गङ्गामितस्यमार्गस्य दक्षिणे भागे विद्यते कुलपतिमहाभागानां कुटीरः। यदाभ्यन्तरे, एकपार्श्वे विरचिते स्थण्डिलेकृतशयनाः प्रातः सार्धत्रयवादनवेलायामुत्थाय प्रातःस्मरणपूर्वकं शौचस्नानादितो विनिवृत्य जपन्तिस्म गायत्रीं कुलपतयः।

विद्यालयस्योत्तरपार्श्वे पुष्पवाटिका शोभ्यते। दक्षिणभागेऽपि केषाञ्चिदध्यापकानामावासाः एकपार्श्वे वेदाध्यायिनां दण्डमेखलाधारिणां ब्रह्मचारिणां बद्धपङ्क्तिकुटीरास्तदग्रे श्रीविश्वेश्वराश्रमाणां निवासस्थानं ब्रह्मभवनमिति ततोऽपरत्र विशाला स्वकोणस्थप्रकोष्ठैः कृत्वा भूरिशाला चैकायज्ञशालेति। समेऽप्येते प्रासादाः साम्प्रतं तत्र दर्शनाय कार्यान्तरेण वा समागतानालोक्यागन्तुकान् तद्विरहजन्य

शोकावरुद्धकण्ठा इव मौनं भजन्तोऽपि स्मारयन्ति महाराजपादान् ।

इह प्रातःकाले संन्ध्यामुपास्य यज्ञं विदधतो लघुवटून् विलोकयतां न केषां प्रसीदन्ति चेतांसि इति धर्मप्रसूतिरेष विद्यालयः ।

विद्यालयस्य कुलपतयो लब्धसकलशास्त्रमर्मज्ञसान्निध्या धर्मशास्त्रतत्त्वज्ञास्तन्निर्दिष्टाचारशीलाः अधीतानुकूलवृत्ताः समचित्ता नितान्तं प्रशान्तान्तःकरणा विधेयान् विनेतुं ननु वैधेयान् सद्गुणान् तेष्वानेतुमपनेतुञ्चासद्गुणान् समये समये स्वयमुपदिशन्तिस्म ।

एकदा लोकलोचनरश्मीनेव निजरश्मिव्याजेनादाय पश्चिमाब्धौ निमज्जति भास्करे तद्विरहजशोकस्तोमतमश्छन्नासु दिशासु निष्पन्दीभूतेष्विव वृक्षेषु समाधिमाकलयत्सु मुनिष्विव मौनमासादयत्सु सायन्तनीं संध्यां विधायाश्रममध्यस्थमन्दिरगतंशङ्करमार्तिक्या अनन्तरं सम्प्रार्थ्य कुटीराग्रचत्वरेपाषाणपट्टिकायामास्तीर्णमासनमध्यास्य जपपराणां श्रीमहाराजवराणां पादेषु समेत्य प्रणमत्सु केषुचित् छात्रेषु, प्रणम्योपविशत्सु गच्छत्सु च केषुचित् परम्परया प्रणामाय समागच्छत्सु चापरेष्वाश्रमवासिषु समुद्भवन्वटूनां वेदसमुद्घोषः मन्ये जायमानविचारगोष्ठीमङ्गलपरम्परामपूरयत् । समनीनशच्च श्रृण्वतामन्तश्चरं कश्मलम् । समीपस्थेभ्यो नगरेभ्यः स्नानार्थमागतेष्वपि महाराजयशसैव कर्णग्राहंगृहीत्वैतत्स्थानमानीतेषु विनीतेषु कश्चिदेवमवोचद्भक्तः—

भगवन् !

क्व साम्प्रतं भवादृशां तपःसारभृतामपरिचितेष्वपिनिःस्वार्थकरुणापराणां दानेषु दयावतामनाथनाथानां शरण्यानां ब्रह्मण्यानामागतस्वागतपराणां स्वपक्षविपक्षरहितसर्वहितकराणां तत्तन्मनोधृतमनोरथपूरकाणां भारतीयसंस्कृतिसभ्यतासंस्थापकानां यथाधीताचरणपराणां जगद्धितानां महात्मनां दर्शनानि ।

अधुनाभारते वञ्चका लुण्टाकास्तस्कराश्च मस्करिवेशं कलङ्कयन्ति । ब्राह्मणाश्च छद्मवेशधराः सर्वेयाचकवृत्तिपराः धरायेषांधारणादपि अधरीभवति । सर्वत्र पितापुत्रयोः गुरुशिष्ययोः पतिपत्न्योः श्वश्रूवध्वोः स्वामिभृत्ययोः किं बहुना सहोदरभ्रातृषु कुलपरम्परागतमित्रेष्वपि च परस्परं विद्वेषो नगरे नगरे ग्रामे ग्रामे गेहे गेहे च प्रसृतो दृश्यते । न्यायतोऽन्यायतो वार्थार्जनपराः कर्तव्यशून्या जनादरीदृश्यन्ते ।

न्यायालयेष्वपि न न्याय उत्कोचमन्तरालभ्यते । नेतारोऽपिस्वपदलिप्सया बहुमतार्जनाय सद्योऽवद्यानप्युपायानातिष्ठन्ति ।

तदस्य देशस्यहितायोपदिशन्तुभगवन्तो यतो नावसीदेरन् देशवासिन इति प्रस्तुतं विचारयान्नेव क्षणं मौनमाधाय तदनन्तरमित्थमवोचन् कुलपतयः—नास्यदोषस्य कालो, देशो, वातावरणं वा कारणं कालदेशयोर्निष्क्रियत्वात्, वातावरणस्य च तदानीतनजनसमुदायक्रियाप्रभवत्वात् । जनसमुदायस्य व्यक्तिभ्योऽपृथग्भावात् । व्यक्तिश्च यत् यादृशं च शिक्षते मनुते विचारयति तदेव कुरुते तस्य पुरुषस्यक्रियायाः प्रभावश्च वायौ सङ्क्रामति वायोर्मण्डलमेव वातावरणमितिनिगद्यते यस्मिन् काले देशे जना बाहुल्येन नियताचारा अलुब्धा याथातथ्यवेदिनो यथार्थभाषिणश्च भवन्ति ।

तदानीन्तनं वातावरणं जनजीवनहितकरं समीचीनञ्चोच्यते अतोऽस्यदोषस्य आधुनिकशिक्षाप्रणाल्येवमूलमिति अस्याः सुधारे यत्नो विधेयो देशवासिभिः ।

प्रियाः !

परै विंजितोऽपि परस्यकरैर्व्यथितोऽपि न तावन्मृतो भवति देशो यावत् स्वसभ्यतां संस्कारांश्च बिभर्ति। किन्तु स्वसभ्यतासंस्कृतिभ्यां हीनस्तु स्वतन्त्रोऽपि नष्ट एवेतिनिर्विवादम्।

तयोः संरक्षणमितिहासरक्षणाद् भवति। इतिहासरक्षणञ्च स्वदेशीयभाषाया रक्षणात्-शिक्षणाच्च जायते।

अतोऽत्र राजनीतिविद्भिस्तादृशमेव विधानंविधेयमिति। यावत्त्वस्माकं देशवासिनां दौर्भाग्यात्-परभाषापुष्टैः नास्य देशस्यभाषा सर्वव्यवहारसाधनसमर्थेत्युक्त्वा प्रतार्यन्ते देशवासिनस्तावत् भाषा विवादमपहाय शिक्षाप्रणाल्येव संशोधनीयेति।

प्रचलितायाः शिक्षापद्धतेर्दोषाः प्रतिपदमनुभूयन्त एव इत्युपेक्ष्य पुराकल्पे प्रसिद्धां पद्धतिं तद्-गुणाँश्च प्रदर्शयितुमीहे—भाष्यकृताहि महाभाष्ये लिखितम् पुराकल्प एतदासीत् यत्संस्कारोत्तरं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते इत्यादि—ततः प्रतीयते यत् यज्ञोपवीतसंस्कारः शिक्षाया अङ्गमासीत् ये विद्याग्रहणेऽसमर्थाः अन्धा वाक्‌विकला रोगविशेषयुक्तावा तेषामयं द्विजातीनामपि न भवतिस्म। संस्कारवन्त एवाध्येतुं प्रभवोऽभवन्। संस्कारोत्तरं छात्रा गुरुसन्निधान एव निवसन्तिस्म। सायं प्रातः संध्योपासनविधिना सूर्यं समिधाधानेनाग्निं, ब्रह्मचर्यपालनेन शास्त्रप्रणेतृन् ऋषीन् संध्याङ्गतर्पणेन स्ववंशपितृन्।

भिक्षाचर्यया गुरुशुश्रूषया च गुरून् सन्तर्प्य विद्यामलभन्त इति। भिक्षाचर्याया लाभाः सन्त्यनेके।

यदा भिक्षाचर्यया शिक्षामशिक्षन्त छात्रास्तदा नाभिभावकानां नापिराजकीयस्य द्रव्यस्य एतावान् व्ययोऽजायत।

यथाऽद्यत्वे कतिपयकोटिमुद्राणां शिक्षाविभागे व्ययो जायते। जायते च व्यर्थतामेव देशमधो निपातयन्।

अस्यां पद्धतौ निर्धनानां सधनानाञ्च बालाः विद्यायां समानलाभा अभूवन्।

निर्धनानां बालाः खेदं नावहन्त। यथाऽद्यत्वे धनिकानां बाला वारत्रयमनुभूयापि-अनुत्तीर्णतामुच्चशिक्षां लभन्ते। कुशाग्रबुद्धिरपि निर्धनस्य बालो न तामाप्नोति धनाभावात् महान्तं खेदञ्च समश्नुते। अयं भेदः पूर्वकाले नासीत्।

पुरा-अधीयानाः परस्परमेकगुरौ निवासात् समानचर्यया समानव्रतात्, समानव्यवहारात् च धनिकाधनिकयोरुत्तमाधमयोर्भेदमपहाय सौहार्दयुतभ्रातृभावमनुभवन्तिस्म श्रीकृष्णसुदाम्नोरिव।

तदानीमधीयानानां जनतया सह सम्बन्धोऽपि जायतेस्म। तेऽन्वभूवन्-अध्ययनकालेऽस्माकमेभि-रेवान्नवस्त्रादिना सहायता व्यधायि। अतोऽधुना शासकपदमुपलभ्यापि अस्माभिरेषां सेवया प्रत्युपकृतिर्विधेयेति विचारयन्तिस्म। इदानीन्तनानामिव जनतारक्तशोषणात्मिकां शासनपद्धतिन्नाददतेस्म। न वा, उत्कोचलिप्सवोऽजायन्त अपितु स्वपरभावमपहाय सर्वान् स्वपितृनिव उपासतेस्म। न च सम्भाव्यते कदापि यत् येषांगृहात् यः प्रत्यहं भिक्षामादत्ते स तेषां भार्याः बालिका वा कुदृष्ट्या विलोकयेत्। यथाऽद्यत्वेऽधीयानेषु सर्वत्रोपलभ्यते।

तदानीं गृहस्थाः प्रतिगृहं भोजनसमये समेताय छात्राय श्रद्धया सादरं सुन्दरञ्चभोजनमयच्छन्। स्वस्वमनस्येवमचिन्तयन् यदेवमेवास्माकमपि बालाः कुत्रचिद् केषाञ्चिद् गृहे याचमाना भविष्यन्ति। एतस्मादेव कारणात् पुरा राजानोऽपितदानीन्तनान् छात्रान् दयया श्रद्धया च प्रह्वीभूताः प्रणमन्ति

स्म । तेषां गुरूणामादरभावस्यतु कथैव का ।

प्रतिग्रहादिदोषोऽपि न लगतिस्मतेभ्यः । यतो लिखितं मनुना कदन्नं वा सदन्नं वा भिक्षा नैव प्रतिग्रहः इत्यादि—

पुराशिक्षायामाचारस्य प्रधान्यम् आसीत्

इदमप्यवगच्छन्तु यत्तदानीं शिक्षाया लक्ष्यं नाक्षरमात्रशिक्षणपर्यवसाय्यासात् ।

अपितु शिक्षकैः स्वजीवने शास्त्रनिचयमवलोक्य यदेव हितकरमनुभूतं तत् स्वशिष्याणामाचारेऽवतार्यआचार्यसंज्ञाऽलम्भि । आचारः परमोधर्म इत्यादि श्रुतिमनुसृत्य आचारप्रधानैव शिक्षाऽऽसीत् । प्रातरुत्थानादारभ्यशयनान्तो यावान् वार्तालापादिको व्यवहारः मूत्रपुरीषयोरपि त्यागः शास्त्रोक्तविधिनैव छात्रैः विधीयतेस्म । आधुनिकास्तु मूत्रयन्तः कुक्कुरानप्यतिशेरते आपणेऽटन्त एव भुञ्जाना दरीदृश्यन्ते ।

योगाङ्गानुष्ठानशिक्षणमपि शिक्षया सहैव प्राचलत् । पुरा छात्राः हितमितसत्यवादिनो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारध्यानधारणासमाधिरूपाष्टयोगाङ्गाभ्यासपराः सन्तो विद्याशिक्षणकाल एव योगविचक्षणा जायन्तेस्म । हास्यादिकालेऽपि नातथ्यवादिनोऽभूवन् ।

अत एव तेषां मुखात् रभसादपि निःसृता वाक् नासत्यत्वमयात् यथाभवभूतिनोक्तम्–ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति । योगसूत्रेऽपि सत्यप्रतिष्ठायां वाक्सिद्धिरिति पतञ्जलिनावाचि ।

अद्यत्वे त्वस्माकं छात्राणां द्वादशवार्षिकः कालः शिक्षायां नियतो व्यर्थतां याति । योगाङ्गानामनुपासनात् यदिसत्यस्याप्येकस्य क्रियेताभ्यासस्तर्हि वाक् वज्रप्रयोगकुशलाः कथमन्यस्यतिरस्कारभाजः स्युः । अपितु स्वचमत्कारेण जनान् चमत्कुर्युः ।

अण्वस्त्रनिर्माणायाधुनिकावैज्ञानिकाः प्रयतन्ते बहुधनं च व्ययीकुर्वन्ति । वाक्वज्रनिर्माणे तु नैकस्यापि पणस्य व्ययोभवति । केवलमुभयलोकसुखावहं सत्यस्य पालनमेवापेक्ष्यते । एवमहिंसाधर्मो गीयत एवाहिंसावादिभिराधुनिकै बौद्धादिभिः परमद्यावधि नैकस्यापि परमा प्रतिष्ठा अहिंसायामभूत् । यतोहि योगसूत्रे अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ सर्वभूतवैरत्याग इत्युक्तमस्ति । न चेदानीमवलोक्यते क्वापि कश्चिद् यस्य सन्निधौ तथा दृश्येत ।

पुरा आसन् ऋषीणामाश्रमा यत्र हिंसाविहारिणः सिंहा मृदुतृणादिनोमृगाश्च एकत्रैवावसन् । कविकुलगुरुकालिदासेन शाकुन्तलाभिज्ञाने कश्यपाश्रमे सिंहशावकदन्तान् बलात् गणयन् भरतो नाम बालः प्रादर्शि एतादृशानि बहुशो निदर्शनानि पुराणग्रन्थेषु वर्णितानि सन्ति ।

प्राचीनशिक्षापद्धत्यामासन् बहवः गुणाः येषामुल्लेखः कस्मिंश्चिदन्यावसरे भविष्यति ।

अतोलोकहिताय सर्वहिताय, आत्महिताय च शिक्षाप्रणाली गुरुजनसेवाद्याचारप्रधाना स्यात् । यावदेषा भारतीभाषा न सर्वत्र प्रासरिष्यत् तावत्भारतं भारतं नाभविष्यत् भारते श्रवणकुमार सदृशाः पितृभक्ताः, एकलव्यतुल्याः गुरुभक्ता अभूवन् । व्याकरणशास्त्रप्रणेता पाणिनिरपि गुरुशुश्रूषयैव पारङ्गतः सन् व्याकरणशास्त्रं प्रणीतवान् । इत्याद्यनेकशोदृष्टान्ता मदक्षिसमक्षंलक्ष्यतयावतरन्ति । श्रद्धालवः !

महर्षिदयानन्दप्रभृतीनां लोकहितायप्रवृत्तानां समेषामेतादृगेव विचारः आसीत् ।

अत एवानेकत्र गुरुकुलानि संस्थापितानि नेदानीं तानि योगाचारनिरताध्यापकानामभावात् स्वलक्ष्यं पूरयन्ति ।

अधुनाकर्तव्यतायै यशसे च भवतां निर्दिश्यते अधस्तात् परिपालनाय स एष एवोपदेशः आदेशश्च यन्मयापि एतानेवविचारानादायायं विद्यालयः संस्थापितः यस्याभिरक्षणंभवादृशामेव धर्मधुर्याणामधीनमिति आशीर्वचसासहप्रस्तौमि—

मयापिसंस्थापित आश्रमोऽसौ भवादृशामेवविभूतये स्तात् ।
पुष्ट्यै भवन्त्वस्य कृतप्रयत्नाः नतृप्तयेकस्ययशः स्वकीयम् ॥१॥
नकेनयत्नो यशसे व्यधायि नकेन चिह्नान्यवशेषितानि ।
अस्यैव पोषे तु ममाभितोषो यतो मम्मैतत्प्रियतामुपैति ॥२॥

इत्येवोक्त्वा व्यरमन् ।

अन्ते श्रीसंस्थापकचरणकमलयोः सादरं श्रद्धाञ्जलिमेवार्पयामि—

यस्य वह्नौ जगद्भास्करे भास्करे विष्णुपद्या जले विष्णुमूर्तावपि ॥
लोककल्याणकृच्छक्तिसम्पूजने साम्बमूर्तौ तथा चिद्घनेशङ्करे ॥१॥
रामदूतेऽञ्जनानन्दनेमारुतौ एकदन्ते बृहच्छुण्डलम्बोदरे ॥
शूर्पकर्णे गणेशेह्युमानन्दने भक्तिरासीद्दृढा सूत्रसूक्तेविधौ ॥२॥
वेदसम्प्रोक्तसन्ध्यादिके कर्मणि श्रद्दधातिस्म स श्राद्धसन्तर्पणे ॥
नास्ति मन्त्रः परो वेदमातुर्ऋते ह्युक्तिरेषा निजाचारतः सत्कृता ॥३॥
यस्य वश्येव कण्ठं गता भारती शास्त्रसर्वस्वसारंपुरस्कुर्वतो ॥
चञ्चला यत्र मा निश्चलात्वं गता तं शरण्यं श्रये जीवनोज्जीवनम् ॥४॥

इतः प्रयाते परमप्रभावे जगन्नुते जीवनदत्तनाम्नि ।
नशर्मनामापि विलोक्यतेऽस्मिन्ननेकशः शर्मभिरावृतेऽपि ॥
समुह्यरूपंकरविग्रहाणां गते रवौ किं जगतिप्रकाशः ।
तथा गते श्रीमहनीयपादे नशोभतेश्रीविजयप्रकाशः ॥
जीवेगते पूर्णमिदं शरीरंप्रेमास्पदंनाभिमतंयथैव ।
तथैवसोपस्करमेतदद्य स्थानंसमंरिक्तमिवानुभूतम् ॥

न ब्राह्मणानां न च पार्थिवानां नचास्तिमध्येऽपिविशां त्विदानीम् ।
असंस्तुतानामपि दुःखहारी योऽनेनपुंसातुलनामुपेयात् ॥
यदीयमाहात्म्यकथाप्रसङ्गं विहाय नान्यल्लभतेऽवलम्बम् ।
मनोमदीयं पुरुषाय तस्मै नमोऽञ्जलिं सादरमर्पयामि ॥



नरवराश्रमम्

(श्रीहरिस्वरूप शर्मा, फिरोजाबाद)

सप्तत्रिंशदुत्तरैकोनविंशतिशततमे ईशवीयवर्षे चिरकालरुग्णस्य स्वानुजस्य स्वास्थ्यलाभार्थमितस्ततः प्रयतमानस्य मम हृदये नरवरे शोभमानमाश्रमं गन्तुमीहा प्रादुरभूत् । बुलन्दशहर नामकप्रान्ते बहुमुखविद्याप्रचारस्य केन्द्रभूते, गीर्वाण-विद्याविनोदिभिः तस्याः प्रचाराय प्रसाराय च सततं प्रयतमानैः श्रेष्ठिभिरधिष्ठिते खुर्जानाम्निनगरे श्रीगोयनकामहोदयैः निर्मापिते श्रीराधाकृष्णमहाविद्यालये अधीयानस्य मम भगवत्याः भागीरथ्यास्तटे स्थितस्य महाराजश्रीविभूषितस्य श्रीजीवनदत्त ब्रह्मचारिणः प्रशस्तिः यद्यपि बहुशः श्रुतिपथमगात् किन्तु इदानीम् बलवती तद्दर्शनोत्कण्ठामाम् एतावत् परवशमकरोत् यत् तद्दिने रात्रौ निद्रामहं न लब्धवान् ।

अन्येद्यु: उदिते भगवति गभस्तिमालिनि सानुजोऽहम् तम् द्रष्टुम् प्रस्थानमकरवम्, अल्पीयसा एव समयेन तत्र गत्वा प्रथमम् अहम् सदासन्निहितकुसुमफलैः पादपैरुपगूढम् तरुशिखरनिर्मितकुलायेषु नानादेशसमागतशुकशकुनिकुलैः अनवरतघुष्यमाणजयशब्दम्, विविधफलशालिवृक्षाधिष्ठितपक्षिसमुदायेन पात्यमानामृतस्वादुसरसफलसमुदायम्, पर्णशालाप्राङ्गणमभितः प्ररूढहरितदूर्वादलम् । वेदाध्ययनमुखरवटुजनम् इतस्ततः विचार्यमाणविविधसमस्याजातम् सकलेन्द्रियनियमननियमव्यापृतान्तेवासिजनम्, सायंकाले बहुधा व्युत्पन्नछात्रैः मण्डलानि आवध्यालोच्यमानसकलशास्त्रार्थम् अनवरत श्रुतपूतपदावलिपुनरावृत्तिपरायणशुकसारिकाकुलम् सनियमम् सायं प्रातः हुतहोमहुताशनेन देदीप्यमानम् अहरहः सन्ध्योपासनव्यापृतसकलछात्रसमुदायम् ततः वाच्यमानंत्रिविधपुस्तकम् कुत्रचित् सम्मार्जितोऽजाभ्यन्तरभूतलम प्रक्षाल्यमानमलिनवसनम् उपचीयमानतपोविघ्नम् संचीयमानसमिधम्, अदृष्टपूर्वम् कलिकालस्य अपरिचितं कामदेवस्य, सदासन्निहिततरुलतागहनान्धकारम् अतिरमणीयम् जीवनदानपरायणेन जीवनदत्तमहोदयेन स्थापितमेकमत्यायतं विद्यामन्दिरमपश्यम् ।

तदालोकनमात्रेणैवापगत श्रमश्च विहाय सर्वान् कामान् श्रीब्रह्मचारिणः दिव्यमंगलविग्रहं साक्षात्कर्तुमगच्छम् । तत्र च विद्यामन्दिरस्य बहिर्द्वारि उच्चभूमिस्थिताम् पादपस्यैकस्य घनीभूतशीतल च्छायायां विनिर्मितां परमशान्तेः साम्राज्यमनुभवन्तीम् अग्निगर्भाशिमीमिव स्वस्वामिनः तेजोराशि दधानाम् अन्तःस्थापितपुराणेतिहासोपनिषद्विविधदर्शनशास्त्राम् शयनाय पवित्रकाष्ठपीठिकासनाथैकदेशामन्तर्निहितभगवदर्चनानेकविधसामग्रीभिरुपेतामेकां दिव्यां पर्णकुटीम् व्यलोकयम् ।

तत्र च साक्षात् सदाचार तपोमूर्तिम् गीर्वाणवाणीवाक्यानि एव समुच्चारयन्तम् स्वज्ञानालोकेनाज्ञानतिमिरं दूरीकुर्वन्तम् कादचित् आश्रमस्थानाम् अन्तेवसतां शिक्षकाणाञ्चदैनिकसमस्यानाम् अभूतपूर्वसमाधानदानोद्यतम् उन्नतललाटे त्रिपुण्ड्रम् दधानम् साक्षात् त्र्यम्बकमिव उपलक्ष्यमाणम् सर्वशास्त्रनिष्णातम् स्वब्रह्मचर्यप्रभावेणस्वस्मै सुदूरसमागतान्तेवसद्भ्यः शिक्षकेभ्यश्चप्रभूतबलमर्पयन्तम् समुद्भासितयज्ञोपवीतम्, श्वेतोत्तरीयम् अलंकुर्वन्तम् आश्रमस्वामिनम् श्रीब्रह्मचारिणम् विलोक्य स्वकीयलोचनसाफल्यमकरवम् ।

दृष्ट्वा च तम् महाभागम् दूरादवनतेनमौलिना महीम् अगच्छम् । श्रीचरणानां शुभाशिषाऽनुगृ-

हीतः केनचित् सेवकेन आनीते आसने उपविश्य अहम् यदा स्वागमनकारणं विनिवेदयितुमभिहितः तदा स्वात्मानं धन्यं मन्यमानोऽवदम् यत् आर्तत्राणपरायणस्य भवतः साक्षात्कारः एव प्रेरितवान् श्रीमच्चरणारविन्दवन्दनानन्दानुभवं कर्तुम् नान्यत् किञ्चित्, भवतां यशसा तृप्तौ मम कर्णौ तु स्वसार्थकताम् दधानौ स्वसमीपवर्तिनी चक्षुषी अपि स्वसाफल्यमाप्तुम् प्रेरितवन्तौ ते त्विदानीम् श्रीमद्दर्शनं प्राप्य कृतकृत्ये अभूताम्। एतदुदन्तजातम् सर्वम् श्रुत्वा अतिप्रसन्नो जातः महानुभावः।

तत्र चिरम् स्थित्वा चित्रमिदम् आलोकितम् मया यदनुपजातपरिचयोऽप्यहम् तेन महानुभावेन प्रदर्शितव्यवहारेण सौजन्येन च चिरपरिचितः इव आत्मानम् अन्वभवम्। शनैः शनैः श्रीमतां तत्र भवताम् अनुग्रहेण सर्वेऽप्यन्ते वासिनः शिक्षकाश्च परिचयं कारिताः सौहार्द्रभावं प्रकटयन्तः सहवासिनः एवं सहपाठिनः इव संजाताः। अल्पीयसा एव कालेन तैः सह निवसन् विहारशय्यासनभोजनेषु अन्यास्वपि दैनिकचर्यासु अशान्तिविरहितम् सुखमपारम्प्राप्नवम्। तेषाम् निष्कारणैकपक्षपातिना स्नेहेन बन्धुबान्धवाः अपि तत्र वसतः मम विस्मृतिपथमगच्छन्।

एवंविधम् जीवनं यापयन् अहमेकदामनसि अचिन्तयम् यत् सर्वेऽपि मानवाः क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य मर्यादापुरुषोत्तमस्य श्रीरामभद्रस्यादरपूर्वकम् उच्चब्राह्मणवंशोत्पन्नस्य वेदविद्याविशारदस्य रावणस्य-चानादरपूर्वकम् नाम ग्रहणं कुर्वन्ति। किमत्र कारणम्? "आचारहीनं नपुनन्ति वेदाः" इति धर्मनीते र्वचनमेव कारणमत्रविषये नान्यत् किञ्चित्। अतः एव मानवजीवने आचारस्यमहन्महत्त्वं समेषां सद्गुणानाम् मूर्ध्नि वर्तते। एवं भूतस्याचारस्याचरणे गौरवशिखरमासीनाः अतीतस्यैव केवलं प्रकाशं प्रसारयन्तश्च यद्यपि सन्त्यनेके साधवो ब्रह्मचारिणः उदाहर्तुम् परन्तु विंशतितमशताब्द्यामस्याम् सदाचारशीलेषु ब्रह्मचारिषु यदि कस्यचित् महापुरुषस्य प्रथमगणनायाम् नामाङ्कनं कर्तुम् शक्यते तदा महाराजश्रीविभूषितस्य जीवनदत्तस्य जीवितमेव मार्गमनुसरतां जनानाम् जीवनोद्धाराय अलंभविष्यतीति नास्त्यत्र सन्देहावकाशः।

तत्रैव वसता मया एतदवगतम् यत एष हि महानुभावः सर्वप्रथमं भारतवर्षे विख्याते भगवत्याः दुर्गायाः अधिष्ठानकारणादतिमहत्त्वपूर्णे बेलोननामके स्थाने एकस्यां पाठशालामध्यापनकार्यमकरोत् ततः षठ्युत्तरैकोनविंशतिशततमे विक्रमाब्दे स्थानमेतत् उचितमवगत्य सप्तविंशति वर्ष देशीयः एव तपस्विजनोचितं मार्गमनुसर्तुम्एकान्तवासमभिलषन् मन्दं मन्दं प्रवहन्त्या गङ्गायाः वीचिविक्षोभशीतले विविधफलपुष्पविभूषिते तरुषण्डमण्डिते प्रकृतेः साम्राज्यमादधति नरवर नाम्नि भूभागे पर्णकुटीमेकां निर्माय वस्तुमारब्धवान्।

शनैः शनैः तत्रैवोपचीयमानख्यातिः ब्रह्मतेजसः कीर्तिकौमुदीकलामितस्ततो विक्षिपन् भारत व्यापिन्याः स्वसंस्कृतिपोषिकायाः देववाण्याः प्रचाराय साङ्गवेदमहाविद्यालयाख्यंमेकं विद्यामन्दिरं निर्मापितवान्। तस्मिन् विद्यामन्दिरे वेदविहितमार्गानुसारं समस्तशास्त्रपारङ्गतैः सर्वगुणसम्पन्नैः गुरुभिरध्यापितच्छात्रः स्वयमपि तेभ्यः सदाचारदीक्षादातुं प्रायतत उपादिशच्च। विद्यार्थिनांकृते तस्यैतादृशः प्रेमप्रचारः आसीत् यत् ते स्वपित्रोर्वियोगमपि सहमानाः अविद्यान्धकारं दूरीकर्तुम् इतस्ततः दूरतश्च समागच्छन्तिस्म। अयमेव महानुभावः स्वतपः प्रभावेण जनक इव तेषां भोजनाच्छादनादिकस्यैतादृशं सुप्रबन्धमकरोत् यत् ते तम् महाभागं ब्रह्मचारिणं स्वपितरं विद्यालयञ्च स्वगृहम् एवामन्यन्त। सदाचारशीलस्य आजन्म ब्रह्मचारिणस्तस्य तपस उत्कटगन्धेन योग्याध्यापकानाम् सर्वोत्तमाध्यापनविधिना, ब्रह्मचर्यव्रतधारिणामन्तेवसताभनवरतम् अध्ययने परिश्रमेण अत्युत्तमपरीक्षा-

परिणामेन च पूर्वोक्तमहाविद्यालयस्योन्नतिपरिमलः भारतस्योत्तरप्रदेशे एतावान् व्याप्त आसीत् यत् शिक्षामन्त्रिणः शिक्षानिरीक्षकाणाञ्च हृदयाकर्षणं जातम्। परिणामतश्चास्य विद्यालयस्य प्रथमश्रेण्याम् गणना जाता। वार्षिकी अनुदानवृद्धिश्चाभवत्। एवम् अयम् विद्यालयः तस्य महानुभावस्य संरक्षणे एवोन्नतिशीलो नासीत् दिवंगतेऽपि तस्मिन् तस्य तपसा तेनैव पथा प्रगतिपरायणो वर्तते।

सर्वत उपरि अयम्महानुभावः स्वसहवासे समागतां जनानां कृते कल्पवृक्ष इवासीत् ये यत् यदिच्छन्तिस्म तेभ्य स्तदेव दातुमुत्सुकः समभवत्। पाणिग्रहणाभिलाषिणाम् पाणिग्रहणंकारितवान् मोक्षमभिलषतः सन्यासं ग्रहीतुम् प्रैरयत्। ब्रह्मचर्यव्रतं पालयितुमुत्सुकानां कृते तदर्थम्साहाय्यञ्चाकरोत्।

एवं भूताखिलजनहितपरायणः विजितेन्द्रियग्रामः स्वतपसादेदीप्यमानः स्वर्गेऽपि स्वसदाचारपूर्णकृतिभि र्गृहीतप्रधानपदस्ततः एवास्माकम् समेषां कल्याणं कुरुताम् इति पूज्यचरणेषु मेऽभ्यर्थना।

ब्रह्मचारि प्रशस्तिः

(श्रीभगवद्दत्त शर्मा, भिरावटी, बदायूँ)

तत्र तत्र श्रीमतां भवतां मानवकदम्बवन्दनीयानामनवरतगायत्रीपुरश्चरणपरायणानां विप्रवंशावतंसानां सनाढ्यकुलभूषणानां महर्षिमूर्धन्यानां श्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालयकुलपति महोदयानां नैष्ठिकब्रह्मचारिणां जीवनचरितोल्लेखनविषये प्रेर्यमाणः सर्वतः प्राक् संसारसागरसन्तरणसेतूयमानं वन्दारुजनमन्दारकल्पं तच्चरणारविन्दमेव वन्दे।

तदनुतेषां जीवनगतं तच्चरित्रंमजानन्नपिचतुर्दिक्षुतद्यशः पताकायशोवितानमेव यथा कथञ्चन लेखनीविषयं कुर्वाणः स्वकीय कर्तव्यपरायणतां मन्ये।

यद् यद् विभूति मत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश सम्भवम्॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां प्रतिपादयता श्रीमताभगवता श्रीवेदव्यासेन महर्षिणा यल्लिपोकृतम्-तद्वचनानुसारमेव—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

धर्मध्वंसकानाम् अनेकानाचारपरायणानामनाचारै र्यदा धराकलुषीभूतासती भारवती संजा-

वते तदैवानेकविभूतिस्वरूपे भगवत्प्रादुर्भावः संजायते।

इदानीमपि एकोनविंशतिशताब्द्यां वैदिक धर्मस्य परमो ह्रासः समजनि तदैवार्यधर्मविवृद्धये-श्रीमतां श्रीजीवनदत्तमहोदयानां अलीगढप्रान्तेबरौली ग्रामे जन्माभूत्।

एते महोदयाः शैशवादेव नैष्ठिकब्रह्मचारिणः सनातनवैदिकधर्मपरायणाः वेदशास्त्राभ्यास-निरतास्तत्प्रचारपरायणाः विप्रकुलमूलसम्वर्धनरताः वर्णाश्रमाचाराचरणशीलाः निरन्तरसावित्रीव्रता-नुपूतान्तःकरणाः भारतीयसंस्कृतिसमुन्नयनदक्षाः सद्विद्याप्रचारपरायणाः साङ्गवेदविद्यालयप्रतिष्ठा-पनेन ऋषिकल्पाः निजोपदेशैः संसारानलसन्तप्तानां गृहदारपुत्रादिप्रेमवन्धनसन्दानितानां मानवानां हृत्सरोजे परमभक्तिज्ञानवैराग्यसुधाधारां वर्षयन्त एव स्वकीय जीवनचर्यां यापयन्तोमोक्षधर्मपरायणा चैत्र कृष्ण १० गुरौ २०१२ वैक्रमेऽब्दे मुक्तस्वरूपा अभूवन्।

एतेषां यशोविभूतिमुल्लेखितुं लेखनी सर्वथा अपूर्णा असमर्था च तथापि स्वकीयवचोविन्यासा-नुसारं यत्किमपि मयोदलेखि तदेव श्रीचरणयोः समर्पणेन स्वात्मानं कृतार्थम्मन्ये।

वदति वेदपथं मनुजान्प्रति चरति धर्मपथे खलु सर्वदा।
जपति मन्त्रमलं प्रभुलब्धये ललति जीवनदत्तमहोदयः ॥१॥

कीर्तिं दिक्षु विधाय सज्जनमनः संमोदसंवर्द्धनम्-
कृत्याकृत्यविधानहाननिपुण पापापनोदक्षमम्।
आदर्शं परलोकपान्थसरणौ तापत्रयोन्मूलनम्-
श्रीमज्जीवनदत्तमात्मसुहृदं वन्दे मुदा सर्वदा ॥२॥

ध्यात्वा श्रीशपदाम्बुजं जनिमतामानन्द मुत्पाद्य च-
ध्वान्तंदूरितवान्नितान्तममलं संस्थाप्य विद्यालयम्।
उद्धृत्याखिलवेदमग्नजनिषुन्यस्यप्रबोधं बुधः-
श्रीमज्जीवनदत्त उन्नतमना लीनः परब्रह्मणि ॥३॥

पुण्यश्लोकाः महाराजाः

श्रीस्वामी रामाश्रमः, लुधियाना (पंजाब)

महाराजश्रीजीवनदत्तमहाभागाः स्वनामधेयमन्वर्थीचक्रुस्तेषां जीवनं ब्राह्मणार्थे चासीदिति सर्वेषामुत्तरभारतीयानां सतां विदुषां गीर्वाणवाग्देवतासमुपासकानामतिरोहितं यत्तैर्मन्वर्थानुसारिणी प्रवरा वागपरा भागीरथी प्रवाहिता।

सूर्यवत् स्वाचारपावनवारिणाऽतीर्थानपि तीर्थीचक्रुः मादृशान् बहुशो जनान्। किं बहुना अद्यत्वे पुण्यश्लोका अभूवन्, यतोहि सर्वैः पुण्यवद्भिः तेऽद्यापि श्लोक्यन्ते।

तेभ्य उत्तमश्लोकत्वमपि नातिरिच्यते यद्धि, उद्गतंनिर्गतं तमोऽविद्यापटलं येषां ते करपात्र-सदृशा अपि यान् श्लोकन्ते, तत्र मादृशाः किं लिखेयुः। तन्महिमानं गायं गायं स्ववाणी पाविता।

जीवनोल्लेख्यचमत्काराः

श्री आशाराम उपाध्याय, काशीपुर, नैनीताल

श्रीप्रातःस्मरणीयानां महामहिमशालिनां, विद्वज्जनमूर्धन्यानां, श्रीसाङ्गवेदमहाविद्यालय-संस्थापकानां विद्वद्वरेण्यधर्माचार्यपदविभूषितानां ब्रह्मनिष्ठकर्मठपुरुषाणां विहितानेकगायत्रीपुरश्चरणा-नामनवरतगाङ्गाम्बुपरिषेवणशीलानां महाराजाधिराजगुरुवर्य्याणां विषये किमपि विज्ञपनीयं तच्च-रणारविन्दसेवनपटुना विप्रबटुना।

चतुर्विंशत्युत्तरैकोनविंशति शततमेईशवीये वत्सरे यदाहं संस्कृतं साहित्यमध्येतुं प्रागाम् तदा परमकृपालुतया सकृन्मामवलोक्यातीवकरुणाभरेण हृदयेनागादीत् यद्विकलाङ्गोऽयं विप्रबटुरवश्यमेव संस्कृतमध्येष्यते विद्यालये प्रवेशार्हः प्रवेष्टव्य इति प्रवेशयितारमवादीत्। मदीयो ज्यायान् बन्धुस्तत्रैव मातृपितृहीनं मां विहाय गृहं प्रत्यावर्तत। यथातथा सौख्यतर्ति विदधानोऽनन्यमनस्को भूत्वाध्ययने प्रावर्ते। भूयसा परिश्रमेण साहित्यव्याकरणादिकमध्यगीषि। धर्मधौरेया इमे महानुभावाः प्रकृत्या स्वभावेन चातीवदयालव आसन्। सावित्रीपुरश्चरणतपोभ्यां प्रख्यातमूर्तयः समभूवन्। इतस्ततो यदाकदागम्यजनाः स्वाभिलषितं ययाचिरे। एकदा वर्षतौ विद्यालयाध्यापनकालेपयोदाः धारासम्पात-मवर्षिषुः। खाद्यसामग्रीजातमानेतुं गता शकटिर्नैवप्रत्यावृत्ता। तदा समेऽपिअध्येतारोऽध्यापयिता-रश्चोद्विग्नामहाराजाधिराजमभ्येत्यावोचन् मध्याह्नकाले कथंकारं विजनेवनस्थे विद्यालये खाद्यसाम-ग्रयभावाद् भोजनं सम्पत्स्यते? तेषां वचांसि श्रावं श्रावं दयालवो महात्मानः प्रावोचन् जगन्नियन्ता परेशो गंगामाता च सर्वं कार्यं साधयिष्यतः नात्र काचन विचारणा। धारासम्पातंवर्षति गगने द्वादश-वादनावसरे तुरंगमे एकस्मिन् शष्कुलीर्मोदकांश्च समारोप्य सलकुटीकः कम्बलवानेकः षोडशवर्षवयस्कः समागम्यावोचत् एकेनमहापुरुषेणेयं भोजनसामग्रीप्रहिता, स्वीकृत्य मामनुगृहणातु भवान्। इति वक्ता-रमपश्यद्भिर्महोदयैरभाणि कुत्र गत आनेता। अभितो गवेषणां कुर्वद्भिर्महानुभावैः निरचायि यद्भग-वानानन्दकन्दलोभूतभावनोजगतीपरिपालक एव आसीत्। इत्यादि वचनानिसमाकर्ण्य सर्वेऽपि यथे-प्सितमभुञ्जत।

परमपूज्य पं० जीवनदत्तजी महाराज की पुनीत स्मृति में विनीत श्रद्धांजलि

(श्री गणेशलाल शर्मा 'प्राणेश', फीरोजाबाद)

दिग्-दिगन्त में फैल रहा यह यश-सौरभ किसका है,
स्मृति-ग्रन्थ जीवनधर का है यह सौरभ उसका है।
अतः सुगन्धित वात मनों में भाव उर्मियां भरती है,
स्वर लहरी से गुंजित झंकृत हृद्तंत्री को करती।

जीवनदत्त अनाथों को तुम जीवन देने वाले,
बटु को संत महन्त और आचार्य बनाने वाले।
विधवाओं को ज्ञान-दान दे उनका मान बढ़ाया,
सात्विक जीवन सत्य कर्म का उनको पाठ पढ़ाया।

हे आचार्यप्रवर तुम सेवा करते थे निष्कामी,
दीनों दुखियों के विनीत हो बनते थे तुम हामी।
तपःपूत जीवन जीवन की क्या महिमा बतलावें,
हे दधीचि ! हम विनत प्रणत् हो अपना शीश झुकावें।

तुमने नंगे भूखे रहकर ज्ञान-दान फैलाया,
संस्कृति, संस्कृत, सरस्वती का अनुपम रस बरसाया।
अध्वर यूप बने हैं यश के मुनो यती सन्यासी,
हे शिव ! नरवर बना दिया था तुमने सुन्दर काशी।

जीवन ने जीवन त्यागा उस यश की यह झंडी है,
ऋषे ! आपकी पद-रज पाकर पूत बने दण्डी हैं।
करपात्री सुपात्र बना थे बोध दिया आश्रम को,
विज्ञ अनेक बनाये तुमने हर कर अन्धःतम को।

तुम स्थितप्रज्ञ समत्व भाव से देते थे नवजीवन,
हे जीवन धन ! हम तो करते केवल अर्चन वन्दन।
'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'-पथ पर चलने वाले,
ज्ञान कर्म औ भक्ति-शक्ति से दुर्गुण दलने वाले।

मुने ! आपकी सेवा से कृतकृत्य हुए हम सारे,
भावांजलि भर विनत आपके पावन चरण पखारे ।
तुम थे रवि अध्यात्म जगत् के लगते हमको प्यारे,
एक आपके तप-प्रभाव से चमक रहे हम तारे ।

तुम गुरुदेव ! वरेण्य ! देश के गौरव थे गोस्वामी !
प्रेयः तज कर श्रेयः पंथ के थे निश्चल अनुगामी ।
राजभवन-सी सब सुख निधियाँ तुमने तृण सम त्यागीं,
तुम थे मधुकर चम्पक वन के वीतराग अनुरागी ।

ऐश्वर्यों के मोह-कुंज में कभी न फँसने वाले,
तुम थे धर्मधुरीण धर्म की ध्वजा उठाने वाले ।
मनन मनस्वी तरुण तपस्वी आर्य वीर सेनानी,
ज्वलित जवानी बलिदानों की बन गई अमर कहानी ।

यशेच्छा औ धनेप्सा भी तुम्हें मोह नहिं पाये,
कविर्मनीषी, शुभ व्रतचारी इसीलिए कहलाये ।
गंगा गीता गायत्री के थे तुम परम पुजारी,
मज्जन करते गंगा में नित पावन कल्मषहारी ।

नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के पालक संयम शुचि व्रत धारी,
भीष्म-लखन-हनुमान आप पर जाते थे बलिहारी ।
जीवनमुक्त हो गये जीवन ! जीवन दे जनता को,
उपमा किसकी देवें कोई मिला नहीं समता को ।

परहित निज सर्वस्व त्याग का सब को पाठ पढ़ाया,
अहो कामनाजयी ! तुम्हें कोपीन श्वेत मन भाया ।
हिन्दी-हिन्दू-हिन्द पुत्र जब इस पथ पर विचरेगा,
मानवता-सुख-शांति द्वार तब सत्वर सहज खुलेगा ।

सेवा के जिस राजमार्ग को तुमने नित्य संवारा,
हे प्राणेश ! चलें हम उस पर पा आशीष तुम्हारा ।
तुम हो गुणातीत जीवन धन, हम कैसे गुण गावें,
हो विभोर तव भक्ति-भाव में श्रद्धा-सुमन चढ़ावें ।

विश्वेश्वर–वन्दन

आचार्य श्री शिवदत्त शर्मा, नरवर

कोऊ कहै बोधचन्द्र चन्द्र में समायो जाय, कोऊ कहै देव देवधाम को पठानों है ।
कोऊ कहै विद्यापपी बिले हैं पपी में जाय, देव गुरु अस्त देव वाणी में वखानों है ।
कोऊ तप सत्य मह जन को वतावें गये, स्वामीगण कहें ब्रह्म, ब्रह्म में समानों है ।
'सारस्वत' सार मुनि मध्य सोच अद्य कहें, विद्या ही को सार आज विद्या में विलानों है ॥१॥

कोऊ कहे गंगातीर आश्रम अनाथ भयो, विद्या ही के पुंज को ठिकानों जो उठानों है ।
कोऊ कहे जीवन को जीवन विलानो आज, ब्रह्मीभूत स्वामी को वियोग दर्शानों है ।
युद्ध कर बुद्धिन ते हार कवि लोग गये, तत्त्व भूत हेतु उन्हें हाथ नहीं आनों है ।
'सारस्वत' सार कहे सवके समझ सोच, दर्शन के साथ सार दर्शन विलानों है ॥२॥

कुलपति वन्दना

गंगोत्री से सागर के संगम लौं गंगाकूल, तीरथ अनेक देखने में हमें आते हैं ।
जहां जहां सुपथ प्रचारक प्रसिद्ध हुए, तहाँ तहाँ आश्रमों के नाम सुने जाते हैं ।
गर्ग संहिता में वृद्ध केशी सिद्ध पीठ लिखा, कर्णवास रामघाट मध्य इसे पाते हैं ।
'नरवर' पुकारा उसे आजके विपश्चितों ने, कश्चिद् उसीकी थोड़ी भूमिका सुनाते हैं ॥१॥

उन्नीस सौ साठ के ही विक्रम से पूर्व यहां, प्रतिपल प्रेतन के झुंड मड़राते थे ।
आस पास वासी न निकासी करें इत ओर, गिद्ध जैसे ढीठ नहीं पर मार पाते थे ।
कहां लौं कहूं इस वीहड़ की गाथन कूँ, लोखड़ या भीखड़ के शब्द सुने जाते थे ।
ताही समय वैलोन ते गंगा के अन्हायवे को, ब्रह्मचारी वेशधारी जीवनजी आते थे ॥२॥

सिद्ध पीठ जान इस भूमि में लगाया मन, लोक से हटाके प्रीति गंग में वढ़ायी है ।
करत करत जाप त्रिपदा को मूर्तिमान, वैदिक मर्याद जाके अङ्ग में समायी है ।
उठी जो लहर एक भारती उधारन की, फलरूप पाठशाला देखने में आयी है ।
पाणिनि, कणाद और गौतम की कश्चिद् ने, जीवन के आश्रम में विजय देख पायी है ॥३॥

झंझट को झटक पटक पाश्चात्य सभ्यता को बाँध के लंगोटी देश गौरव वढ़ाया है ।
पन्था से भूले असहाय विप्रवालों को वैदिक सभ्यता में पटु सर्वथा वनाया है ।
कश्चित् प्रशान्त भाल भूति से विभूषित जाको, विल्व वृक्ष नीचे शिला आसन जमाया है ।
धन्य है सहस्र कोटि जननी जन्म भू को, जीवन सा लाल जाने गोद में खिलाया है ॥४॥

प्रभु शुद्ध बुद्ध अनन्त परमानन्द करुणागार हो,
रहते रहित हो विश्व से सुने विश्वपालन हार हो।
हे नन्दवालक दुष्टघालक भक्तपालक हो तुम्हीं,
निज धर्म रक्षा के लिए अवतार लेते हो तुम्हीं॥

कानन निकुञ्जों से मधुर मुरली वजाने का तुम्हें,
अभ्यास है भक्तों के हित सर्वत्र आने का तुम्हें।
अतएव नत मस्तक तुम्हें मैं वार वार पुकारता,
ऋषिराज पूजा के लिए कुछ पद्म पुष्प सम्हारता॥

झूंठो प्रशंसा से रिझाना पामरों का कर्म है,
कह सत्य डंडा ठोक कर मानव का सच्चा धर्म है।
द्विज वृन्द सभ्य समक्ष जो पद्यों का मेरा गान है,
इस तुच्छ वालक ने किया महाराज का सम्मान है॥

ब्राह्मणशिरोमणि कुलतिलक जो सामने हैं दीखते,
द्विज मात्र आश्रम में इन्हीं के सत्य शिक्षा सीखते।
भूसुर सभी आचार पथ से शून्य जब रहने लगे,
पाश्चात्य शिक्षा में दिनों-दिन आपही बहने लगे॥

द्विज गण अविद्या युक्त हो पहुंचा रसातल देश को,
वेदाङ्ग पढ़ना वन्द कर धारा निशाचर वेश को।
निज देश की ऐसी दशा विश्वेश ने देखी जभी,
आचार रक्षा के लिए शंकर स्वयं आये तभी॥

हैं यही जो सौम्य से चौको पै सबको दीखते,
इनके यहाँ से हम सभी आचार शिक्षा सीखते।
यजु, साम, ऋक् व अथर्व का वटु घोष करते प्रेम से,
जप होम सन्ध्या तर्पणादि कृत्य होते नेम से॥

वर्णाश्रम उद्धार हित, महाराज का उपदेश हैं,
वैदिक प्रथा निज देश में गूंजे यही उद्देश्य है।
आश्रम में आये अतिथियों का, मान अरु सत्कार से,
आतिथ्य कर देते भुला पथ कष्ट अपने प्यार से॥

याचक मनोरथ के लिए, तरु कल्प सम श्रीमान् हैं,
बहु दीन दुखियों के यही विगड़े बनाते काम हैं।
यद्यपि लँगोटी है कटि अरु अङ्गप्रोक्षण गात में,
पर वस्त्र का बहु दान देते बात ही की बात में॥

पढ़ने में है शिशु दक्ष जो पण हीन मांगे छुट्टियाँ,
तब आप प्रोत्साहित करें समुचित उन्हें दे वृत्तियाँ।
ये वीतराग शिरोमणि मतलव न कुछ संसार में,
हैं आज भिक्षुक बन रहे निज भारती उपकार में॥

उत्थान में जिनके श्री भारत विजय है सारथी,
अत एव ही निश्चय हुआ जागेगी भारत भारतो।
गुरु शिष्य मण्डल लौकिकों का लोक हित हैं सोचते,
आनन्द मर्यादित सदा देते जो उनको रोचते॥

हाँ ध्यान आया अव मुझे गुरु पूर्णिमा है आज की,
वक्तव्य में मेरे कभी ना वात रहती व्याज की।
प्रति वर्ष में दिन आज के शिष्यों का होता कर्म है,
वहु द्रव्य दे गुरु वृन्द को सन्तुष्ट करना धर्म है॥

किन्तु यहाँ पर द्रव्य की वातें चलाना व्यर्थ है,
तप और विद्या ही जहाँ जीवन का सच्चा अर्थ है।
अत एव भाव प्रसून कोरक की चढ़ाऊँ माल मैं,
शव्देन्दु किरणों से गुँथी भूति विभूषित भाल में॥

श्रीपाद पद्म पराग में मम मन भ्रमर निवछार है,
इस दीन कश्चित् का विभो यह आपको उपहार है।

जीवन–छवि

श्री दीक्षित भिरावटी, वदायूँ

सनाढ्यवंश भूषण तेहि पालन को विष्णु पूषण,
दूषण हरण गुण जिनके अपार थे।
विप्रकुलपालक खलसालक धर्मचालक थे,
दीन-द्विज-कंजवन विकाश को तमारि थे॥
विरतिभक्तिज्ञाननिष्ठ तपयोगते वरिष्ठ,
दानिन में महादानि परम उदार थे।
धीर कर्मवीर गम्भीर श्रीजीवनदत्त,
छवि तेज युक्त शव्द मन सुधासार॥



जीवन-ज्योति

(आद्याक्षरी चित्रकाव्य)

श्री कविवर प्रणव शास्त्री, फीरोजाबाद

आदर्शों के भानु ज्ञान की किरण पसारे,
दर्शन की अनुभूति अलौकिक मनमें धारे।
बाह्याडम्बर शून्य पूत अन्तस् के हामी,
लक्षण लक्ष्य ललाम तर्क के सुन्दर स्वामी ॥१॥
ब्रह्म सूत्र सौन्दर्य शिखा के शिखर समुज्ज्वल,
चारु चरित्रों के चन्दन से चर्चित प्रतिपल।
रीति नीति ऋषि मुनियों की प्रभु-प्रीति पगाये,
पंचम स्वर में गान कीर्तिकोकिल ने गाये ॥२॥
डिगे न श्रुति पथ निर्णय से जो ध्यानी ज्ञानी,
तत्त्व ज्ञाता उद्गाता मन्त्रों के मानी।
प्रबल प्रचारक देवगिरा-गायत्री-गायक,
वर्णी वन्द्य विचारगङ्ग-तट 'नरवर' नायक ॥३॥
रहते थे निष्काम कमलजल उपमा धारे,
श्रीपति श्रेष्ठी चञ्चरीक चरणों में प्यारे।
जीवन जीवनदत्त दिया जनता को प्यारा,
वरदानी ने वरदानों का प्रेम-पिटारा ॥४॥
नव निर्मिति को धर्म धैर्य सम्बल थे पाये,
दयासिन्धु ने उन्नति पथ जन को दिखलाये।
"तस्य वाचकः प्रणवः" के थे दीप जलाये,
महाप्राण, गुण, सन्धि, वृद्धि की संज्ञा लाये ॥५॥
हानि लाभ सुख दुःख दशा में समतल योगी,
रात्रिन्दिव अति दीन हीन के शुचि सहयोगी।
जप, तप, ध्यान, समाधि, सिद्धि, संयम के साँचे,
जीवन शुभ्र मराल सत्व गुण रँग में राँचे ॥६॥
कीर्ति कुमारी-जनक, देव द्विज मुनी मनोहर,
जनता में संस्मरण आपकी धवल धरोहर।
यतिवर, जीवन नित्य धरा में ज्योति जगावे,
होवे प्रणव-परायण जन-मन मङ्गल गावे ॥७॥



अभिवन्दन

श्री विश्वनाथ शर्मा 'विश्वेश', फीरोजावाद

पितु ऋण का परिहार कहीं कर देता पथ से विचलित ।
तो क्यों जीवन चरित सुनाकर होती कीर्ति प्रफुल्लित ।।
बाँध अगर लेती माया भी तुममें निज गुण वन्धन ।
तो फिर शरद् जुन्हाई सा तन रहता क्यों शुभ दर्शन ।।

यदि विरक्ति का कहीं न करता वरण तुम्हारा यौवन ।
कौन रुद्र कर पाता तो फिर रति पति का अभिमर्दन ।।
वढ़ा न होता स्वर्ण भोर सा यदि तेरा तन स्यन्दन ।
तो कव नर हो पाता नरवर होता कहाँ तपोवन ।।

रोपा होता अगर न तुमने निर्जन में हरिचन्दन ।
तो बुलन्द काशी सा होता क्यों नरवर-यश हर क्षण ।।
चला न होता पथ यदि तुमने सुर वाणी का अनुपम ।
तो कैसे नवजीवन धारण कर पाते निगमागम ।।

किया न होता यदि जीवन धन तुमने स्वयं समर्पित ।
तो गङ्गा जमुना के आँगन रहती शेप न संस्कृत ।।
पाया होता कहीं न तेरे कर का शुचि संस्पर्शण ।
तो घर घर करपात्र न होते करते संध्या तर्पण ।।

हुई न होतीं अक्षय वट सी भुज लतिकायें व्यापक ।
तो फिर द्विज भी हुए न होते विद्या के आराधक ।।
इतनी क्षमता कहाँ कि ऋषिवर कर पायें गुण-ग्रन्थन ।
मेरे बस का तो है द्विजवर ! पुनः पुनः अभिवन्दन ।।



संस्मरण–आलोक



एक घड़ी भी जो रहे कुलपति के संग लोग।
धन्य घड़ी वे धन्य हैं दूर हुए भव रोग॥
उन्हीं क्षणों के संस्मरण हुए यहाँ एकत्र।
जिनका दिव्यालोक पा, पाठक बनें पवित्र॥

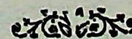


आशीर्वाद्

जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्रीकृष्णबोधाश्रमजी महाराज
ज्योतिर्मठ, बदरिकाश्रम।



श्रीसाङ्गवेद महाविद्यालय, नरवर पो० नरौरा, बुलन्दशहर के संस्थापक ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्तजी महाराज ब्रह्मण्य थे। उनके साथ हमारा बहुत प्राचीन सम्बन्ध था। अपनी कई वार की यात्रा में नरवर जाने का अवसर मिला। उनको आदि से अन्त तक एक स्थिति और समान रूप में देखा। एकबार बम्बई से रामेश्वर की यात्रा कार द्वारा उन्होंने हमारे साथ की। उस यात्रा में कई दिन साथ रहने का अवसर आया। उनकी दैनिकचर्या वास्तव में प्राचीन नैतिक ब्रह्मचारियों की थी। वे नित्य प्रातः ४ बजे उठते और १२ बजे तक गायत्री जप करते थे। धर्म के प्रति उनकी अटूट आस्था थी। उन्होंने अपने सङ्कल्पमात्र से ऐसी संस्था को जन्म दिया जो उनकी वास्तविक स्मृति है। "कृते च प्रतिकर्तव्यमेष धर्मः सनातनः" के अनुसार उनके जीवनवृत्त को प्रकाशित कराना उनकी पूजा है। आप लोग इस कार्य में सफल हों यह हमारा आशीर्वाद है।



प्रेरणा

जगद्गुरु शंकराचार्य स्वामी श्री निरंजनदेवतीर्थजी महाराज
गोवर्धनपीठ, पुरी ।

सुडौल, हृष्टपुष्ट, साढ़े छः हाथ का लम्बा शरीर, जिसने श्री ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी को देखा होगा उसके हृदय में अनायास ही नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की मूर्तिमती प्रतिमा का भाव जाग्रत हुए बिना न रहा होगा। इसके साथ ही भस्मचर्चित विशाल भाल, उनकी आजन्म गायत्र्युपासना के तेज को मुखरित किये बिना नहं रहता था। सनातन धर्म के सर्वप्रथम, आर्यसमाज से लोहा लेनेवाले श्री पं० भीमसेन शर्मा के शिष्य होने के नाते वैदिक कर्मकांड पर अटल विश्वास और सात्त्विक श्रद्धा उन्हें उत्तराधिकार में मिली हुई थी। सम्पूर्ण जीवन गङ्गातट के नरवर ग्राम स्थित संस्कृत महाविद्यालय की सेवा में उन्होंने बिताया और अन्त में अपना नश्वर शरीर उसी पतित-पावनी भगवती सरस्वती भागीरथी के तट पर संस्कृत की सेवा में समर्पित कर दिया। दर्जनों लक्षाधीश तथा कोटिपति उनके आगे हाथ जोड़े खड़े रहते थे, फिर भी अपने लिए कभी किसी वस्तु की याचना उन्होंने नहीं की। पर साथ ही विद्यालय के लिए इस सङ्कोच को त्यागने में भी नहीं हिचके। नरवर का महाविद्यालय गंगा तट पर उनकी चिरस्मृति लिये हुए खड़ा है। उसकी तन-मन-धन से सेवा और मनसा, वाचा, कर्मणा उसे उन्नत करने की चेष्टा ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। भगवान् से उनकी शाश्वत शान्ति की प्रार्थना तथा उनके सेवकों से विद्यालय को चिरस्थायी बनाने की प्रेरणा का अनुरोध करता हूं।

॥ श्रीहरिः ॥

श्री जीवनदत्त ब्रह्मचारी

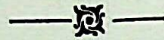
जगदाचार्य श्री नारदानन्दजी सरस्वती महाराज
नैमिषारण्य, सीतापुर।

परमादरणीय ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्त जी एक महापुरुष थे। हमें दो तीन बार उनसे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। विद्यादान में अग्रणी, और स्वभाव में भीष्म-पितामह की भाँति नीतिमान् थे।। उनके मुख पर सदैव प्रसन्नता, गंभीरता व्यक्त होती थी। उनकी आज्ञा टालने में कोई समर्थ नहीं था। उनका आदर्श विद्यालय व्यवस्था में अनुकरणीय है, जिसमें उच्चकोटि के धर्मशील, सद्गृहस्थ एवं विरक्तों का निर्माण हो रहा था। कर्मकाण्ड, अनुष्ठान, तपस्या के कार्यों में समाज को प्रेरणा देते थे। विवादग्रस्त समस्याओं का हल करना उनका स्वाभाविक कार्य था। वे समाज को परिवार के भाव से देखते थे। उनके अगणित उपकार लेखनी के द्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते। धार्मिक समुदाय उनकी दयालुता का सदा ऋणी रहेगा।

ऐसी विभूतियाँ समाज को ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती हैं। जनता को महापुरुषों के गुणों का चिन्तन करके गुणवान् बनना चाहिये।

श्री महाराजजी की महिमा

स्वामी श्री विष्णुआश्रमजी महाराज, शुकताल।



श्री महाराजजी अपने समय में महापुरुष माने जाते थे। महापुरुषों का स्थूल शरीर न रहने पर भी उनकी विद्यमानता में कोई बाधा नहीं पड़ती। वे कीर्तिमय शरीर से भक्तों के हृदय में सदा विद्यमान रहते हैं। उनका नाम लेते हुए तो हमने किसी-किसी को देखा; प्रायः सभी लोग महाराजजी कहकर संबोधित करते थे। हमको यदि किसी कारणवश उनका नाम लेना भी पड़े तो अभी तक बड़ा ही संकोच होता है। श्री गायत्रीजी के जप में तो उनकी अपूर्व निष्ठा थी। वह कहा करते थे कि ब्राह्मण करोड़पति अथवा लक्षपति करोड़ अथवा लक्ष गायत्री के जप करने से माना जाता है, करोड़ अथवा लक्ष रुपये का अधिकारी होने से नहीं। गायत्री जप करने वाला कभी भी दरिद्री नहीं होता है। वह यह भी कहा करते थे कि दरिद्रता ब्राह्मणेतर लोगों के लिए दूषण है किन्तु तपस्वी ब्राह्मण का तो वह भूषण है। उनका विश्वास था :—

योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।

"कोई भी मिट्टी अथवा पानी से शुद्ध नहीं होता है। दूसरे के रुपये-पैसे की ओर दृष्टि न डालना ही वास्तविक शुद्धि है।

वे कहा करते थे—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

"धर्म का सार सुनो और सुनकर धारण करलो। अपने को जो प्रतिकूल है उसको दूसरों के साथ व्यवहार में न लाओ।" वे प्रायः इस श्लोक को बोला करते थेः—

येन केन प्रकारेण यस्य कस्यापि देहिनः।
संतोषं जनयेत् प्राज्ञः तदेवेश्वरपूजनम्॥

किसी भी प्रकार से किसी प्राणी का संतोष कर देना ही ईश्वर का पूजन है। यदि तुम हाथी को खिला पिलाकर संतुष्ट नहीं कर सकते, चींटी को थोड़ी चीनी खिलाकर तो संतुष्ट कर सकते हो। मधुरवाणी से तो सब प्रसन्न हो जाते हैं, कुछ व्यय भी नहीं होता।

'मधुरैर्वचनैः श्लक्ष्णैः सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः ।'

श्री महाराजजी के जीवन में साङ्गोपाङ्ग ब्रह्मचर्य का पालन हमने जैसा देखा वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिल सका। एक श्लोक हमको मिला :—

अन्यत्र भीष्मात् गांगेयात् अन्यत्र च हनूमतः ।
कुरुङ्गखुरमात्रेण चर्मणा मोहितं जगत् ॥

पवनतनय श्री हनुमत्‌लाल को छोड़कर तथा गंगानन्दन श्री भीष्म पितामह को छोड़कर स्त्री ने सारे जगत को मोहित किया है। श्री भीष्म एवं हनुमान् की कोटि के ही महाराजजी थे।

द्वेधा वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च ।
तासु तेष्वप्यनासक्तो साक्षात् भर्गो नराकृतिः ॥

वेधा—ब्रह्मा ने जीवों को भ्रम में डालने के लिये दो स्थल बनाये हैं—एक स्त्री और दूसरा स्वर्णादि। एक चेतन और दूसरा जड़। इन दोनों में जिसकी ममता नहीं, आसक्ति नहीं वह तो मनुष्य की आकृति में साक्षात् भगवत्तेज ही है। यह लक्षण महाराजजी में पूरा घटता था।

श्रीमहाराजजी की स्वर्ण, चांदी और पैसा-रुपया में बिल्कुल आसक्ति नहीं थी। कभी उन्होंने पैसा अपने पास नहीं रक्खा, न कभी किसी स्त्री को अपने पास फटकने तक दिया। बाहर से उनका वेष ब्रह्मचारी का था किन्तु भीतर से वे पूर्ण सन्यासी थे। शरीर परित्याग के समय उन्होंने किसी का स्मरण नहीं किया, किसी को न पास बुलाया। अन्त समय में वे श्री गीताजी का बड़े ध्यान से श्रवण कर रहे थे। जब द्वितीय अध्याय का अन्तिम श्लोक आया—

"एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।"
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥

इसको श्रवण करके उन्होंने अपने लोकोपकारी शरीर का परित्याग कर दिया।

वस्तुतः महाराजजी की महिमा और उनके सद्गुणों को वर्णन करने के लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं, इसलिये हम उनके विषय में क्या लिख सकते हैं ?



गुणागार महाराजजी

स्वामी श्री नरोत्तमाश्रमजी महाराज, दिल्ली ।

अनन्त श्री विभूषित तपोमूर्ति ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज के जीवन-चरित्र के प्रसङ्ग में अपने मन एवं वाणी को पवित्र करने के लिए कुछ संस्मरण उपस्थित करने की उत्कण्ठा होती है। जिस समय महाराज के व्यवहार की ओर दृष्टिपात होता है, तो यह स्मरण आता है कि "आसुप्तेरामृतेः काले", देह, इन्द्रियों, मन और बुद्धि की प्रवृत्ति धर्म से ओत-प्रोत थी। यदि उन्हें मूर्तिमान् धर्म कहा जाय तो कुछ अत्युक्ति न होगी। मैंने लगभग ४० वर्ष तक उनका निरन्तर सहयोग प्राप्त किया और उन्हें देखा कि वे किसी का अहित नहीं चाहते थे। यहां तक कि जो उनके पास दुष्ट-बुद्धि लेकर आया, वह भी अनुकूल बनकर ही गया। संस्कृत भाषा के सर्वतोमुखी विकास की उनको बड़ी लगन थी। वे सदैव संस्कृत और संस्कृत के विद्वानों के उत्थान के लिए प्रयत्नशील रहते थे। साधु, महात्माओं, विद्वानों का संग्रह करना आपका जन्म-सिद्ध अधिकार था। वैदिक यज्ञ-यागादि के लिये सदैव सोत्साह रहते थे। अपने आश्रम के अध्यापकों से श्रौत, स्मार्त, अग्न्याधान उन्होंने कराया। उनके सुयत्न का ही यह फल था कि ऋषिकेश में पं० बालकराम अग्निहोत्रीजी का ३५ वर्ष अविच्छिन्न अखण्ड अग्निहोत्र चलता रहा। उनका संकल्प था कि एक ऐसा आदर्शनगर बसाया जाये जिसमें वर्णाश्रम व्यवस्था का पूर्णरूपेण पालन हो। आदर्श ब्राह्मण, आदर्श क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बसाये जायें। चारों आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास का पालन करने वाले व्यक्ति उस नगर में निवास करें, पर यह उनका विचार मूर्त रूप धारण न कर सका और वे इसे साकार रूप देने से पूर्व ही दिवङ्गत हो गये।

श्री पं० चन्डीप्रसाद शुक्ल, जो सेठ नत्थोमल कालेज खुर्जा और गोयनका संस्कृत महाविद्यालय वाराणसी में अध्यक्ष पद को अलंकृत कर चुके हैं, जिनके वैदुष्य से उत्तर प्रदेश में संस्कृत का पादप हराभरा हुआ, की सतत प्रेरणा से साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर की स्थापना हुयी। महाराजजी से उनकी घनिष्ठ मैत्री थी। दोनों जब कभी मिलते, बड़े आमोद-प्रमोद में शास्त्रीय उपहास और मनोविनोद किया करते थे।

वेद-व्याख्याता श्री पं० भीमसेनजी से महाराजश्री ने अध्ययन किया था। उन्हीं के नाम से नरवर महाविद्यालय में वेद-भवन की स्थापना की। यहाँ पर महारुद्रयाग वेदव्याख्याताजी के द्रव्य से हुआ था। उस समय जो यज्ञशाला बनायी गयी थी वह आज तक भी विद्यमान है। महाराजजी के गुणों से आकृष्ट होकर परमहंस परिव्राजकाचार्य सर्वतन्त्र-स्वतंत्र नव्य-न्याय के अद्वितीय विद्वान् श्री स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी (पण्डित स्वामी) इसी विद्यालय की पवित्र भूमि में निवास करते थे। इनके मुखारविन्द से भागीरथी के सतत-प्रवाह के सदृश दर्शन-ग्रन्थों का सतत प्रवाह चलता था। श्रीमहाराजजी की पण्डित स्वामीजी के चरणों में अटूट श्रद्धा थी। पण्डित स्वामी अमृतसर में किसी संस्कृत विद्यालय में अध्यापन कराया करते थे। इनकी गङ्गा-तट पर रहने की बड़ी आकांक्षा थी। महाराज को किसी प्रकार ज्ञात हुआ। उन्होंने तुरन्त ही प्रयत्न कर उन्हें नरवर बुला लिया। उन्हें बड़े सम्मानपूर्वक स्थान पर सुशोभित किया तथा उनकी प्रखर बुद्धि और प्रगाढ़ पांडित्य का लाभ महाविद्यालय के विद्वानों और छात्रों को प्राप्त हुआ। लगभग १२ वर्ष तक पण्डित स्वामीजी द्वारा न्याय-वेदान्त का अध्यापन और प्रवचन चलता रहा। यह कहते नहीं बनता कि महाराजजी सरस्वती के बड़े समुपासक और गुणग्राहक थे।

उनकी ही प्रेरणा से पूर्व आश्रम में विद्यालय की सेवा करने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ। श्री यज्ञदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज की सेवा में रहते थे और जिनका शरीर महाराजजी से भी पूर्व दिवङ्गत हो गया था, मेरे सहयोगी रहे। वह समय बड़े ही आनन्द का था, पुण्य सलिला भागीरथी के तट पर बड़ा पवित्र जीवन बीतता था। वेद-ध्वनि, शास्त्रों के विचार सदैव कानों में पड़ते थे। आज भी महाराज की स्मृति उनके साकार रूप को दिखाने में समर्थ हो रही है। वे सच्चे महापुरुष थे, संग्रही नहीं थे। मानव-मात्र के हितैषी और निस्पृह थे। उदारता उनके स्वभाव में कूट-कूट कर भरी थी।



प्रातःस्मरणीय गुरुजी की स्मृति में

(श्री दामोदराश्रमजी महाराज, वृन्दावन)

जब मैं महाराजजी के समक्ष पहुँचा तब मैं बिल्कुल अज्ञान और अनाथ था। महाराजजी मुझे ब्रह्मचारी देवदत्त के नाम से बहुत समय तक पुकारते रहे। उनका जीवन जगत् को कल्याण देने वाला था।

वे प्रातः ४ बजे उठकर कुल्ला करके एक घन्टे तक समाधिस्थ रूप में भगवान् का स्मरण करते थे। उसके बाद "दूराद्‌दूरतरं गच्छेत्" इस नियम का पालन करते हुए, विष्णुसहस्रनाम का पाठ करते हुए आधमील दूर जंगल में शौच जाते थे। फिर कूप-जल से हस्त-मुख प्रक्षालन कर शिष्यों के साथ गंगा स्नान को जाते थे। स्नानादि करके दोपहर तक गायत्री मंत्र का जाप करते थे। फिर विद्यालय लौटकर सब समाचार पूछते। यदि कोई चिट्ठी पत्री आई हो तो उसे पढ़ना, अतिथि आये हों तो उनके भोजनादि की व्यवस्था करना और उनके आने का कारण पूछते थे। स्वयं भोजन करने से पहले पूछ लेते थे कि कोई आये-गये भोजनार्थ शेष तो नहीं हैं।

उनका भोजन साधारण होता था। वे पाठशाला का भोजन नहीं करते थे। हम ब्रह्मचारी भिक्षा मांग कर आटा-दाल लाते थे उसी में से अपने लिए थोड़ा सा लेते थे। विद्यालय से नमक तक नहीं लेकर खाते थे। प्रतिदिन भोजन में बलिवैश्वदेव करने का नियम था।

भोजन करने के बाद आध घंटा विश्राम, विश्राम के बाद बाहर से आये पत्रों का उत्तर देते थे और छात्रों को अष्टाध्यायी आदि पढ़ाते थे। सायं पुनः गंगास्नान करके जप, संध्या आदि करते थे। नियम के बड़े पक्के थे। एक दिन माघ मास में ओले पड़ते समय कड़ाके की सर्दी में भी गंगाजी के शीतल जल में स्नान कर आये।

मैं जब सन्यासी हो गया, तो जब मैं उनके पास जाता, वे तख्त पर बैठे होते तो 'ओं नमो नारायण' कह कर खड़े हो जाते थे। उस समय मुझे बड़ी लज्जा आती थी। उनके नियम कभी शास्त्र-विरुद्ध नहीं थे। वे सब की प्रतिष्ठा की रक्षा किया करते थे। उनके जीवन के संस्मरण आज मुझ सन्यासी को भी गद्-गद् कर देते हैं।

संस्मरण

श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी, झूसी

पं० जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता ।
मुखे सत्यावाणी विजयिभुजयोर्वीर्यमतुलम् ॥
हृदि स्वस्था वृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलम् ।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृतिमहतां मण्डनमिदम् ॥*
(भर्तृहरि नी० श० ६५ श्लोक)

छप्पय

कर को शोभा दान कही शोभा प्रताप सिर ।
मुख की शोभा सत्य भुजनि शोभा है रन अरि ॥
हिय की शोभा कही स्वच्छता मुनिनि बताई ।
शास्त्र श्रवन नित कही सुशोभा काननि भाई ॥
सज्जन ढिग धन है नहीं, धनो बिना धन के भये ।
उनको है ऐश्वर्य यह, अति अमोल भूषन कहे ॥

सहजा वृत्ति को सर्वोत्तम बताया है। संसार से कोई सम्बन्ध न रखकर सर्वदा चित्त की वृत्ति भगवदाकार ही बनी रहे। संसार के किसी विषय का मन में स्फुरण ही न हो, यही सर्वोत्तम वृत्ति है। भागवत के महात्म्य में गोकर्णजी ने अपने पिता को उपदेश करते हुए कहा है—"अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु त्यक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्।" दूसरों के दोषों का और गुणों का भी चिन्तन तुम त्यागकर निरन्तर भगवत् सेवा तथा कथा के रस को पीते रहो। यदि ऐसा हो जाय तो कहना ही क्या? तब तो वृन्दावन ही बन जाय। इसीलिए श्रीमद्भागवत में परमार्थ निरूपण करते हुए बताया है कि साधक को कभी भी दूसरों के स्वभावों की तथा कर्मों की न तो प्रशंसा ही करनी चाहिये और न निन्दा ही करनी चाहिये। क्योंकि परमार्थ दृष्टि से विश्व एकात्मक है। वैसे प्रकृति और पुरुष दो हैं। दो होते हुए भी भगवान तो एक ही हैं, वे ही अनेक रूपों में क्रीड़ा कर रहे। उनमें यह अच्छा है, यह बुरा है ऐसा भेद करना भी तो उचित नहीं।

---

* हाथों की प्रशंसा त्याग से है, शिर की प्रशंसा इसी में है कि वह गुरुओं के पादपद्मों में प्रणत हो, मुख की प्रशंसा सत्य भाषण से है, विजयी भुजों की प्रशंसा अतुल बल से है, मन की प्रशंसा स्वच्छ वृत्ति से है, कान वे ही प्रशंसनीय हैं जो शास्त्र श्रवण करें। धन सम्पत्ति के बिना भी ये गुण महत् पुरुषों में स्वाभाविक होते हैं, उन्हें बाहरी लौकिक भूषणों की आवश्यकता नहीं होती।

यह तो सर्वोत्तम स्थिति है, इसीलिये प्राचीन ऋषि महर्षि न तो अपने ही सम्बन्ध में कुछ बताते थे, और न दूसरों के ही सम्बन्ध में। वे सदा परमार्थ चिंतन में ही लगे रहते थे। यह सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है।

यदि ऐसा न हो सके, सदा-सर्वदा रात्रि-दिन ब्रह्माकार वृत्ति न रह सके तो जो लोग वीतराग महापुरुष हों-जिनका राग-द्वेष नष्ट हो चुका है उनका ध्यान करने से, उनके पुण्य कर्मों का चिन्तन करने से, चित्त स्थिर हो जाता है,..ऐसा योग-दर्शन में बताया गया है।

सर्वसाधारण मनुष्य निन्दाप्रिय हैं, दोषदर्शी हैं, उन्हें दूसरों के दोष देखने में बड़ा आनन्द आता है। परचर्चा, परनिन्दा करने और सुनने में उन्हें अत्यधिक रस आता है। किन्तु जो साधक हैं वे जहाँ तक होता है परचर्चा और परनिन्दा से बचते रहते हैं। दूसरों के परमाणु सदृश भी गुण होते हैं तो उनका बखान करते हैं, उन्हें विशद करके अपने हृदय में धारण करते हैं। (परगुण परमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्। निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः)। बात यह है कि सदाचारी, वीतराग* पुरुषों के संस्मरण से भी चित्त की शुद्धि होती है। इसीलिये पुण्यश्लोक पुरुषों का प्रातःकाल उठकर सबसे पहिले स्मरण किया जाता है। (पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि) ऐसा सभी शास्त्रकारों ने किया है। महाभारत में पुण्यश्लोक परम भागवतों का ही चरित्र तो है।

हमारे यहाँ सबसे अधिक शब्दकृपण वैयाकरण माने जाते हैं। उनके यहाँ वैयाकरण की परिभाषा ही यह की है, जिसे आधी मात्रा की बचत पर पुत्रोत्सव के सदृश सुख हो वही सच्चा वैयाकरण है। (अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः)। परन्तु उन व्याकरण के आचार्यों को भी जब अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों का स्मरण करना होता है, तब वे इस परिभाषा की उपेक्षा कर देते हैं। अन्य शास्त्रों में तो मूल लेखक या मूल रचयिता सबसे अधिक प्रामाणिक माना जाता है, उससे कम व्याख्याता और उससे भी कम टीका-टिप्पणीकर्ता। किन्तु हमारे व्याकरण शास्त्र में ठीक इससे उल्टा ही है। सूत्रकार पाणिनि की अपेक्षा वार्तिककार, उनकी अपेक्षा भाष्यकार पतंजलि अधिक प्रामाणिक माने जायेंगे। तो बहुत से अष्टाध्यायी के सूत्रों में कुछ प्राचीन व्याकरण के आचार्यों के नाम का उल्लेख कर दिया है। तब वादी कहता है— "तुम तो आधी मात्रा के लाघव को ही पुत्रोत्सव के सदृश हर्ष का विषय मानते थे, फिर तुमने इस सूत्र में इन प्राचीन वैयाकरण का नाम क्यों रखा? इसे न भी रखते तो भी सूत्र के अर्थ में तो कोई व्यवधान न पड़ता। "इसका उत्तर देते हैं—"उनका नाम हमने पूजार्थ रखा है। † काम तो चल ही जाता, किन्तु जो पुराने आचार्य हैं, उनकी पूजा तो नहीं होती। उनका नामोल्लेख करके हमने श्रेष्ठ

---

* वीतरागविषयं वा चित्तम् (योगदर्शन)

† जैसे "वा सुप्यापिशलेः" इसमें आपिशलि कोई प्राचीन वैयाकरण हैं। वादी कहता है— यहाँ वा शब्द से ही विकल्प कार्य हो सकता है इसमें आपिशलि ग्रहण क्यों किया। कहते हैं पूजार्थ ग्रहण किया। "ओतो गार्ग्यस्य" यहाँ ओत शब्द से ही नित्य लोप हो सकता है फिर गार्ग्यस्य ग्रहण क्यों किया? पूजार्थ! ऐसे बहुत से सूत्र हैं।

पुरुषों को पूजा की है अतः प्राचीन पुरुषों के गुणों की प्रशंसा करना हमारा प्राचीन सदाचार है। जिनके सत्सङ्ग से, जिनके सहवास से हमें सुख मिला हो, सत्कर्मों की प्रेरणा प्राप्त हुई हो, उनका गौरव के साथ स्मरण करना हमारी प्राचीन संस्कृति है। सहस्रों मनुष्यों में से कोई एक विरले ही ऐसे होते हैं जिनके सदाचार से लोगों को प्रेरणा प्राप्त होती है, जिनके गुण अनुकरणीय होते हैं। हमारे पंडित जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी ऐसे ही सदाचारसम्पन्न अनुकरणीय गुणों वाले महामानव थे। हमारे साथ उनका आत्मीय सम्बन्ध था। वे अपने निजी जन थे। उनके संस्मरणों से परमार्थ पथ के पथिकों को सत् प्रेरणा प्राप्त होगी।

जिस समय हमारे ब्रह्मचारीजी पैदा हुए उस समय अलीगढ़, बुलंदशहर के जिलों में आर्य-समाज का बड़ा जोर था। कारण कि स्वामी दयानन्दजी गंगाजी के अत्यन्त ही प्रेमी थे। वे प्रायः गंगा किनारे हीं विचरा करते थे। वे इधर गङ्गा किनारे कर्णवास आदि स्थानों में बहुत दिनों तक रहे। इसलिये इन जिलों में आर्य-समाज का बड़ा प्रचार रहा। कहना चाहिये यहीं से आर्य-समाज का सर्वत्र प्रचार हुआ। नया-नया ही प्रचार था। वेदों का ही आधार था। उत्साह, त्याग, उन्नति का आवेश था, इससे उत्साही नवयुवकों का उस ओर झुकाव अधिक हो गया था।

रामघाट से लेकर नरौरा, नरवर, विहारघाट, राजघाट, कर्णवास, भेरिया, अनूपशहर, अवन्तिका, भगवानपुर और उधर पेटपाल की कुटिया तक के सभी गंगा किनारे के स्थान बड़े ही रमणीक हैं। राजघाट के ही समीप गंगाजी से थोड़े ही दूर बेलौन नाम का एक गाँव है। बेलौन की भवानी उस प्रान्त में बहुत ही विख्यात हैं। सैकड़ों कोश के यात्री वहाँ भगवती के दर्शनार्थ आते हैं। अब तो पता नहीं वह ग्राम कितना बड़ा हो गया है, जब मैं भगवती के दर्शनार्थ गया था तब तो वह बहुत ही छोटा-सा ग्राम था। भवानीदेवी के कारण ही वह इतना विख्यात था। उसमें एक पं० हेमराजजो नाम के वैद्य थे। उन्हीं के पुत्र हुए एक पं० गंगादत्तजी शास्त्री। वे व्याकरण के उद्भट् विद्वान थे। काशी में पं० काशीनाथजी से उन्होंने व्याकरण पढ़ा और अन्त में कांगड़ी गुरुकुल में व्याकरण के अध्यापक हो गये। स्वामी श्रद्धानन्दजी से मतभेद होने के कारण, स्वामी दर्शनानन्दजी ने जो ज्वालापुर में गुरुकुल महाविद्यालय स्थापित किया था, उसमें आ गये और अन्त तक इसी में रहे। पीछे वही दण्डी सन्यासी होकर स्वामी शुद्धवोधतीर्थ के नाम से विख्यात हुए। ज्वालापुर महाविद्यालय में जब वे सन्यास ले चुके थे, मैंने तभी उनके दर्शन किये थे। उन्हीं के द्वारा मुझे कनखल के पुल के पास मुक्तिपीठ नामक स्थान गायत्री पुरश्चरण के निमित्त मिला था और उन्हीं की प्रेरणा से मैं घंटे भर को नित्य महाविद्यालय में ब्रह्मचारियों को पढ़ाने के लिये जाया करता था। हमारे पं० जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी उन्हीं के शिष्य थे। ब्रह्मचारीजी का जन्म अलीगढ़ जिले के एक गाँव में ही हुआ था। उन्होंने अष्टाध्यायी महाभाष्य की प्रणाली से ही व्याकरण पढ़ा था। पं० गंगादत्तजी शास्त्री से ५-६ वर्ष तक नवाह्निक भाष्य पढ़ा था। पीछे इटावा के पं० भीमसेनजी शर्मा से भी उन्होंने अनेक विषयों का अध्ययन किया। पं० भीमसेनजी स्वामी दयानन्दजी के शिष्य हो गये थे। पं० गंगादत्तजी, भीमसेनजी, ये सब के सब आर्य-समाज के प्रवाह में थे किन्तु उनमें आजकल के आर्य समाजियों की तरह कट्टरता नहीं थी। स्वामी शुद्धवोधजी तीर्थ को मैंने देखा था वे सूर्य को अर्घ्य देते थे। पहिले सनातनी आर्यसमाजी पंडितों में कोई भेदभाव नहीं था। पीछे पं० भीमसेनजी, पं० अखिलानन्दजी, पं० जीवनदत्तजी तथा और भी

बहुत से लोग आर्य-समाज को छोड़कर शुद्ध सनातनधर्मी हो गये थे। ब्रह्मचारीजी ने राजघाट नरौरा के समीप साङ्गवेद विद्यालय नाम की एक छोटीसी पाठशाला खोली थी। जिसमें विद्यार्थी दंड धारण करके, गाँवों से भिक्षा लाकर नित्य हवन करते और ब्रह्मचारी-जीवन विताते। पीछे ब्रह्मचारी के नियमों का पालन करने वाले तो नाममात्र को ही विद्यार्थी रह गये। अन्य संस्कृत पाठशालाओं की भाँति वह भी एक काशी की परीक्षा दिलाने वाली पाठशाला बन गई। पं० भीमसेनजी संस्कृत के दिग्गज विद्वान् थे। प्राचीन ढंग के संस्कृत के विद्वान् थे। अँग्रेजी कुछ भी नहीं जानते थे। फिर सर आशुतोष मुकर्जी ने उनकी विद्वत्ता के ही कारण उन्हें कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत तथा वेदों का प्राध्यापक बनाकर बुला लिया था। अन्त में वे श्री ब्रह्मचारीजी के ही यहां आकर गंगातट पर नरवर पाठशाला में ही रहने लगे और वहीं उन्होंने अपने जीवन के शेष दिन व्यतीत किये।

स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी (पं० गंगादत्तजी शास्त्री) जिनसे हमारे ब्रह्मचारीजी ने महाभाष्य पढ़ा था नरवर के पास बेलौन के थे, उन्हीं के कुल में पूज्य श्री स्वामी मधुसूदनतीर्थजी महाराज हुए जो अन्त में जगन्नाथपुरी में गोवर्धनपीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य हुए। स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी मुझसे कहते थे—मुझे जगद्गुरु श्री शंकराचार्य की गद्दी पर बैठने को, अपना उत्तराधिकारी बनाने को बहुत कहा। मुझसे कहते थे—"तुम पुरी में आओ तो सही। कैसा सुन्दर समुद्र के तट पर स्थान है, नारियल का बगीचा है वहीं रहो।" किन्तु मैंने वहाँ जाना उचित नहीं समझा। मैंने उनसे मना कर दिया। तदनन्तर एक पंडित स्वामीजी को श्री शंकराचार्यजी ने अपना उत्तराधिकारी बनाया, किन्तु मतभेद हो जाने के कारण वे चले आये। तभी तक शारदापीठ की किसी उप-पीठ के शंकराचार्य श्रीस्वामी भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज आगये। उन्होंने स्वामीजी को प्रभावित कर लिया और फिर स्वामीजी महाराज ने उन्हें ही अपना उत्तराधिकारी बना दिया। जगद्गुरुजी तथा श्री स्वामी भारती-कृष्णतीर्थजी महाराज महीनों श्रीब्रह्मचारीजी की नरवर पाठशाला में रहे थे। बड़े महाराजजी श्री ब्रह्मचारीजी से अत्यन्त ही स्नेह रखते थे। श्रीब्रह्मचारीजी का स्वभाव था, वे विद्वानों का, सदाचारसम्पन्न कर्मकांडी ब्राह्मणों का, विरक्त साधु-सन्तों का बहुत अधिक आदर करते थे। जब मैं खुर्जा में पढ़ता था, तब हमारे आचार्यचरण पूज्य पाद चण्डीप्रसादजी शुक्ल प्रायः नरवर पाठशाला में जाया करते थे तब तक स्यात् नरवर में मध्यमा तक की ही पढ़ाई होती थी। आचार्य के विद्यार्थियों को वे खुर्जा की पाठशाला में ही भेज देते थे। वहाँ के पढ़े दो भाई सत्यदेव और ब्रह्मदेव हमारे साथ पढ़ते थे। उनसे नरवर पाठशाला को, ब्रह्मचारी महाराज की सब बातें हम सुनते रहते थे। सन् २१ के असहयोग आन्दोलन में मैं बुलन्दशहर जिले के गाँव-गाँव में जाकर प्रचार करता था। नरवर भी बुलन्दशहर जिले में ही है। वहाँ मैं जा नहीं सका तभी तक पकड़ लिया गया। उस समय हमारा श्रीब्रह्मचारीजी से साक्षात्कार नहीं हुआ था। मैं तो उनकी कीर्ति बाल्यकाल से ही सुनता रहता था और बुलन्दशहर का कार्यकर्ता होने के कारण वे भी मेरे नाम से परिचित थे। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष परिचय तो तब हुआ जब मैं वैराग्य की झोंक में काशी से साहित्यिक जीवन परित्याग करके विरक्त का वेष बनाकर पैदल गंगा किनारे-किनारे विचरने लगा था।

अहा! वे कैसे मधुमय दिवस थे, कैसा क्रान्तिमय जीवन था। हृदय में वैराग्य की कैसी-कैसी हिलोरें उठती थीं। क्या-क्या सोचते थे? संसारी विषयों से कितनी उपरति थी। किसी साधु के पास

गद्दा, तकिया देखते उसी से लड़ पड़ते। अपने त्याग वैराग्य का बड़ा भारी अभिमान था। काशी में ५-७ उत्साही नवयुवक मेरे साथ रहते थे। जब सबको छोड़-छाड़कर चला तो दो साथी मेरे साथ-साथ आये। इन्द्र ब्रह्मचारी और गोविन्द ब्रह्मचारी। इन दोनों ही ने अपना जीवन मेरे लिये अर्पित कर दिया था। ये दोनों गंगा किनारे के गाँवों में से भिक्षा माँग लाते थे। हम तीनों मिलकर भिक्षा करके चल देते थे। उन दिनों चलते रहना ही हमारे जीवन का एकमात्र व्यापार था। हमने "चरैवेति चरैवेति" सूक्ति की मानो दीक्षा ले रखी थी।

हमसे कुछ ही आगे-आगे स्वामी रामदेवजी भी चलते थे। उन दिनों उनकी अवस्था बहुत ही छोटी थी, रेख भी नहीं निकलीं थीं, १७-१८ वर्ष के रहे होंगे। परन्तु इस अल्पावस्था में भी उनके जीवन में अपूर्व त्याग था। वे सर्दी, गर्मी तथा वर्षा सभी ऋतुओं में नंगे ही रहते थे। केवल एक ही लंगोटी रखते थे, उसी से नहाते थे, उसी को पहिन लेते थे। दूसरी लंगोटी भी नहीं रखते थे।

हमारे ब्रह्मचारीजी महाराज उनके इस अल्पावस्था के त्याग, वैराग्य से अत्यन्त ही प्रभावित हुए। उन्हें कई दिनों तक आग्रहपूर्वक रोक रखा।

हम जब नरवर पहुँचे, उसके एक-दो दिन पहिले ही स्वामी रामदेवजी वहाँ से चल चुके थे। हमारे सम्बन्ध में वे सुनते तो बहुत दिनों से थे ही, जब मिले तो परम आत्मीय बन्धु की भाँति मिले। स्वामी रामदेवजी के त्याग, वैराग्य की बड़ी प्रशंसा करते रहे। खुरजा की पाठशाला के गुरुजी के सम्बन्ध की बातें करते रहे।

मैंने देखा उनमें बड़प्पन का तनिक भी अभिमान नहीं था। जहाँ तहाँ बिना आसन के ही भूमि पर बैठ जाते। दूसरे लोगों को ये बातें बुरी लगती थीं किन्तु उन्हें मान-अपमान का ध्यान ही नहीं था। मैंने उन्हें बिना आसन के ही इधर-उधर बैठे पाया। खुरजा के बाबूलाल सूरजमल जटिया तथा और सेठ-साहूकार, सभी सेवक विद्यालय की सहायता करते थे, फिर भी संस्कृत विद्यालयों की जैसी शोचनीय अवस्था होती है वैसी ही अवस्था नरवर पाठशाला की थी। उन दिनों संस्कृत पाठशालाओं के निरीक्षक कह लो, प्रधान निरीक्षक कह लो, (क्योंकि उन दिनों संयुक्त प्रदेश भर में संस्कृत पाठशालाओं के एक ही निरीक्षक होते थे) वे पंडित काशीनाथजी थे। वे ब्रह्मचारीजी के सात्विक जीवन से नरवर के गंगातट के ऋषि-आश्रम तुल्य स्थान से बड़े प्रभावित थे और उन्होंने विद्यालय को यथाशक्ति अधिक से अधिक सहायता दिलाने की चेष्टा की थी। फिर भी इतने लोगों के नित्य के भोजन का व्यय, एक न एक अभाव सदा बना ही रहता था। कलकतिया नहर (राजघाट नरौरा गंगापुल) का कार्यालय पाठशाला के समीप ही था। पहिले पाठशाला वाले जंगलों से, नहर के किनारे से ईंधन काट लाते थे। पीछे नहर के अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की। उन दिनों पाठशाला के सम्मुख ईंधन का बड़ा संकट था। ब्रह्मचारीजी ने कहा—"भैया, देखो! नहर वाले हमें ईंधन काटने से मना करते हैं, अधिकारियों से कहकर हमारे ईंधन की सुविधा करादो।"

उन दिनों वहाँ का अभियंता अधिशासी (इन्जीनियर) कोई जैनी थे। मैं उनके समीप गया। उन्होंने बड़ी सभ्यता से बातें कीं। मैंने बार-बार धर्म और पुण्य की दुहाई दी तो उन्होंने कहा—

"देखिये ! मैं तो जैनी हूं। फिर भी आप आये हैं तो हम पाठशाला के लिये ईंधन का प्रवन्ध कर देंगे।" और उन्होंने सुना प्रबन्ध करा भी दिया।

इस प्रकार ब्रह्मचारीजी का समस्त कार्य ईश्वर के भरोसे पर चलता था। कोई चन्दा नहीं, उत्सव नहीं, विज्ञापन नहीं, भगवान् सब निर्वाह करते ही थे।

श्री ब्रह्मचारीजी की दिनचर्या प्राचीन ऋषि मुनियों की भाँति आदर्श थी। वे स्वतः विद्यार्थियों को पढ़ाते नहीं थे। पढ़ाने के लिये तो उन्होंने कई अध्यापक रख रखे थे। वे तो केवल विद्यालय की देख रेख करते थे। प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उठकर नित्य कर्मों से निवृत्त होकर गंगातट पर चले जाते; जो पाठशाला से उन दिनों आधा मील से कम ही थो। वहाँ एक फूँस की झोंपड़ी बना रखी थी, उसमें बैठकर मध्याह्न पर्यन्त गायत्री मंत्र का जप करते। फिर मध्याह्न कृत्य करके आश्रम में आते। उनका भोजन एक विद्यार्थी बनाता। प्रसाद पाकर फिर आश्रम को देख रेख करते। कुछ सत्संग आदि करते, फिर सायंकाल गंगातट चले जाते। ऐसे उनका सम्पूर्ण समय स्वाध्याय, प्रवचन में ही बीतता। उनकी पाठशाला के द्वार पर यह उपनिषद् का आदर्श वाक्य अंकित था "स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्" स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करो।

तैत्तिरीय उपनिषद के नवम अनुवाक में स्वाध्याय और प्रवचन की महिमा बताई गयी है। वहाँ ऋत-सत्य, सदाचार, सत्य यथार्थ भाषण तप, दम, शम, अग्निचय, अग्निहोत्र, अतिथि सत्कार, मनुष्यता, संतान, धर्माविरुद्ध काम और कुटुम्ब वृद्धि इन सबको कर्तव्य बताकर अन्त में कहा है इनके साथ ही साथ स्वाध्याय-प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन प्रधान कर्तव्य है। स्वाध्याय-प्रवचन के साथ ये धर्म-कार्य करने चाहिये। इस पर सत्यवचा ऋषि ने कहा—"नहीं भाई, एक सत्य का ही आश्रय ग्रहण करो। सत्य से बढ़कर कोई परमधर्म नहीं।" इस पर तपोनित्य नाम के ऋषि बोले—"हम तो तप को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। "तपसा किं न लभ्यते—तपस्या से ऐसी कौन-सी वस्तु है जो प्राप्त न हो सके।" इस पर मुद्गल ऋषि के पुत्र महर्षि नाक ने कहा— "हमारे मत में तो स्वाध्याय-प्रवचन-शास्त्रों का पठन-पाठन ही सर्वश्रेष्ठ है। इससे श्रेष्ठ कोई कार्य नहीं, क्योंकि सबसे बड़ा तप स्वाध्याय और प्रवचन ही है।*

वास्तव में प्राचीन ऋषि महर्षियों का समस्त काल स्वाध्याय और प्रवचन में ही बीतता था। मंत्रों का जप यह भी स्वाध्याय में ही है। हमारे ब्रह्मचारीजी एक प्रकार से आधुनिक समय के ऋषिकल्प ही महामानव थे।

इसके अनन्तर तो उनसे अनेकों बार मिलना हुआ। वे हमसे अपने परम आत्मीय बन्धु की भाँति स्नेह रखते थे। तब तक दंडी स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज नरवर नहीं आये थे।

---

* सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः, स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद् हि तपस्तद्धि तपः ॥ (तैत्तिरीयोपनिषद)

उस समय पहिले ही पहल पूज्य स्वामी अच्युतमुनिजी ने उन्हें भेरिया में साधुओं को पढ़ाने के लिये बुलाया था। वे भेरिया में एक वेदान्त का विद्यालय खोलना चाहते थे। ब्रह्मचारीजी चाहते थे वह नरवर में ही खुले। श्रीअच्युतमुनिजी और ब्रह्मचारीजी में किसी विषय पर मतभेद हो गया। वह लम्बी बात है, अन्त में स्वामीजी नरवर में ही आकर पढ़ाने लगे। वे स्वामीजी पंजाबी थे कुछ अक्खड़ स्वभाव के। भगवन्नाम संकीर्तन आदि का बहुत खंडन करते थे। उन दिनों मैं हर समय "श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।" इस मंत्र का सदा-सर्वदा उच्चारण करता रहता था। लिखते समय भी मुख से यह मन्त्र उच्चरित होता रहता था। चैतन्य चरितावली आदि उस समय के ग्रन्थ ऐसे ही उच्चारण करते-करते लिखे हैं। जिस समय वे पढ़ा रहे थे, उस समय मैं भी उनके यहाँ बैठकर सुन रहा था। उन्होंने तुरन्त कहा—"तुम्हारे बोलने से हमारे पढ़ाने में विघ्न होता है। या तो बोलना बन्द करो नहीं चले जाओ।" मैं उठकर चला आया।

इसी प्रकार एक दिन पूज्य उड़िया बाबाजी भी गये और उनको भी बहुत फटकारा। सन्यासी होकर कीर्तन कराते हो आदि-आदि। और कह दिया— "यहाँ से चले जाओ।" वे प्रणाम करके चले आये। पीछे ब्रह्मचारीजी महाराज बाबा के पास गये और क्षमा याचना की। श्रीब्रह्मचारीजी बड़े व्यवहार पटु थे। वे अपने व्यवहार से सभी को प्रसन्न रखने की चेष्टा करते थे। उनके समीप गरीब, अमीर, पंडित, मूर्ख, सनातनी, आर्य समाजी, योगी, भोगी सभी प्रकार के लोग आते थे और सभी से उन्हीं के अनुरूप बात किया करते थे।

देश में भारतीयता का प्रचार हो, फिर से धर्म की स्थापना हो, वैदिक आर्य संस्कृति का प्रसार हो, ब्राह्मणों में फिर से षोडश संस्कार होने लगें। उनकी बड़ी-बड़ी योजनाएँ होती थीं। एकबार मुझसे भी बहुत-सी बातें हुई। उनको आशा थी यह उत्साही है, नव-युवक है, यह जिस काम में जुट जायगा तो काम हो जायगा। मुझसे कहा—"ब्राह्मणों का संगठन करो। एक सम्मेलन करो, सबको सन्ध्या का, गायत्री का उपदेश दिया जाय। सब बच्चे कम से कम सन्ध्या गायत्री करें।" उन्होंने बड़ी-बड़ी योजनायें बनाईं। मैं उसके लिये खुर्जा आदि गया भी। किन्तु खुरजा में पं० नारायणदत्तजी वैद्य ने मेरा उत्साह शिथिल कर दिया। उन्होंने कहा— "ब्रह्मचारीजी तो बहुत बड़े आदर्शवादी हैं। वे ऐसी ही योजना बनाते हैं। तुम अपना जो कार्य कर रहे हो वही करो।" अतः फिर मैं आगे न बढ़ा, उत्तराखण्ड की ओर चला गया। उन दिनों मैं इसी संकल्प से निकला था कि अब कभी उत्तराखण्ड से लौटकर नहीं आऊँगा। या तो अपने लक्ष्य को पूरा करूँगा नहीं तो वहीं पहाड़ों में गल मरूँगा।

किन्तु मैं रुग्ण होने से अपनी प्रतिज्ञा को निभा नहीं सका। फिर लौटकर नीचे आगया और इधर-उधर घूम-घामकर यहाँ झूसी में हंसतीर्थ की वट की कुटिया के नीचे रहकर अपना अनुष्ठानादि करने लगा।

उन दिनों महामना मालवीयजी इस बात का प्रचार कर रहे थे कि सभी ब्राह्मणों में परस्पर विवाह सम्बन्ध होने चाहिये। हमारे एक परमस्नेही बन्धु पं० भूदेवजी शर्मा हैं। उनके भतीजे श्रीनिवास शर्मा उन दिनों काशी विश्वविद्यालय में पढ़ते थे। मालवीयजी ने अपनी पोती का विवाह

उन्हीं के साथ किया था। ब्रह्मचारीजी उसकी वरात में प्रयाग आये थे। वे जानते थे मैं भूसी में हूँ। उन दिनों मेरा ऐसा नियम था कि मैं न तो किसी से बोलता था, न किसी की ओर देखता ही था। चुपचाप अपनी कोठरी में बैठा रहता था। ब्रह्मचारीजी आये, घंटों मेरी कोठरी के बाहर बैठे रहे। मैंने उन्हें देखा फिर भी मैं बोला नहीं। अन्त में वे चुपचाप कुटिया को प्रणाम करके चले गये। ऐसे ही वेदतीर्थ पं० नरदेवजी शास्त्रीजी जो श्रीब्रह्मचारीजी के सहाध्यायी थे, बैठकर चले गये। अब मुझे पश्चाताप हो रहा है। मैंने ऐसे नियम का दुराग्रह क्यों किया? ऐसे महापुरुषों का मुझे नियम छोड़कर स्वागत सत्कार करना चाहिये था किन्तु ब्रह्मचारीजी ने इसका तनिक भी बुरा नहीं माना, न इसके लिये कभी उन्होंने मुझे ताना ही दिया। वे स्वयं भी तो अपने नियमों में दृढ़ रहने वाले थे।

जब हमारे करपात्रीजी महाराज ने देहली में शतकोटि महायज्ञ कराया तो उसके प्रधान यजमान उन्होंने ब्रह्मचारीजी को ही बनाया। वह यज्ञ अभूतपूर्व था। एक प्रकार से प्रयाग के कुम्भ का-सा ही दृश्य था। उसके संयोजकों में हमारे पं० ज्योतिप्रसादजी आदि अनेकों हमारे पुराने भक्त थे। उन दिनों मेरा प्रयाग छोड़कर कहीं अन्यत्र न जाने का नियम था। मेरे स्नेही बन्धुओं ने अत्यन्त ही आग्रह पूर्वक कहा कि चाहे घन्टे ही भर को सही, आप इसमें अवश्य आवें।

मैं कैसे जा सकता था, उन दिनों वायुयान सर्व-साधारण जनता को सुलभ नहीं थे। केवल सैनिक अधिकारी ही वायुयान से सरकारी कार्य से आ-जा सकते थे। आज जैसे नेतागण वायुयान से जहाँ तहाँ जाते हैं, वैसे उन दिनों जनता के किसी व्यक्ति को वायुयान नहीं मिल सकता था। हमने मिलावली के कुँवर कायमसिंह को सेना के उच्चाधिकारियों के पास भेजा। वह अँगरेज अधिकारी कोई भला मानुष रहा होगा। वह अत्यन्त ही प्रभावित हुआ। उसने चार सीट वाला एक वायुयान देहली जाने को हमें दे दिया। हमने यज्ञ के व्यवस्थापकों को सूचना दे दी, हम वायुयान से आरहे हैं। सर्वदा नई बात थी, अत्यन्त कुतूहलमय समस्त यज्ञ मेला में हल्ला मच गया। लोग भाँति-भाँति की बातें फैलाने लगे, जितनी मुख उतनी ही बातें। समाचार पत्रों में भी बड़े-बड़े शीर्षक देकर यह समाचार छापा गया, किसी ने हँसी उड़ाई, किसी ने व्यंग्यपूर्वक चुटकियाँ लीं, किसी ने हमारे वायुयान से जाने का औचित्य दिखाया। लोगों ने समझा एक वायुयान करने में लाखों रुपये व्यय हुए होंगे। किसी समाचार पत्र ने छापा भी कि एक साधु को इतना भारी व्यय करके यज्ञ में जाने की क्या आवश्यकता थी। किन्तु यह सब नई बात होने से लोगों का भ्रम मात्र ही था, सैनिक अधिकारी ने केवल चार सीट का जो नियमित भाड़ा था उससे एक पाई भी अधिक नहीं लिया। अब मुझे ठीक-ठीक तो याद नहीं स्यात् २५०) या ३००) के लगभग ही रुपये लगे होंगे। इस पर इतना भारी तूफान।

गाँवों के लोग भाँति-भाँति की कहानियाँ गढ़ने लगे। कुछ लोग कहने लगे—"प्रयागराज के एक मौनीजी हैं। करपात्रीजी ने कहा है तुम नहीं आओगे तो यज्ञ पूरा ही न होगा। अतः वे भारी व्यय करके विमान से आरहे हैं।" ये सब चण्डूखाने की गप्पें थी। मेरे बन्धुओं ने बताया कि जो भी वायुयान आता, सब लोग चिल्लाने लगते "इसी में ब्रह्मचारीजी आरहे हैं, यहीं यज्ञमण्डप में उतरेंगे।"

उन दिनों श्री आनन्दमयी माँ भी मेरे ही यहाँ आश्रम में ठहरी हुई थीं। मैंने बड़े संकोच के साथ कहा—"माँ! यज्ञादि में तो विना बुलाये भी जाना चाहिये। आप भी करपात्रीजी के यज्ञ में चलो तो कैसा रहे?" उन्होंने बड़े उत्साह के साथ कहा—"हाँ, पिताजी! आप जहाँ भी कहेंगे, वहीं चलूँगी। जहाँ भी ले चलेंगे, वहीं जाऊँगी।" मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसमें चार ही सीटें थीं। चलने को तो और भी वहुत से उत्सुक थे, किन्तु श्री आनन्दमयी माँ, श्री गुरुप्रिया दीदी, कुँवर कायमसिंह और मैं चार ही गये। हमको भी अत्यन्त कुतूहल हो रहा था, आकाश में वायुयान कैसे उड़ेगा। लोग कहते हैं वहाँ जी मिचलाता है, उलटी होती है, आदमी को कसकर बाँधकर डाल दिया जाता है, किन्तु हमने देखा ये सब गप्पें थीं। न कसकर बाँधकर डाला जाता है, न सबको कै और उलटी ही होती है। एक पेटी होती है आपकी इच्छा हो उसे कमर में बाँध लो चाहे न बाँधो। मैंने तो बाँधी नहीं पहिला ही जीवन में अवसर था। उस समय जितना आनन्द आया, जितना नीचे का दृश्य मनोरम, सुहावना, अद्भुत, अवर्णनीय लगा, इसके अनन्तर अनेकों बार वायुयानों में गये वैसा आनन्द फिर कभी नहीं आया। केवल दीदी को बेहोशी हुई, कै हुई। माँ तो आँख बंद किये बैठी ही रहीं। मैं तो चलते वायुयान में सर्वत्र उछलता-कूदता रहा। नीचे का अद्भुत दृश्य देखता रहा। दीदी का उपचार करता रहा। घंटा भर भी न लगा होगा, हमारी तनिक आँख झपीं कि देहली के शतकोटि यज्ञ का विशाल पंडाल, सहस्रों तम्बू, डेरे दिखायी देने लगे। उतरने के स्थान पर यज्ञ के प्रबन्धक गाड़ी लेकर आये ही हुए थे, हम यज्ञस्थली में पहुँच गये। श्रीब्रह्मचारीजी महाराज हमारी प्रतीच्छा ही कर रहे थे। वड़े ही स्नेह से मिले, वायुयान की सब बातें पूछते रहे। यहाँ की नाना प्रकार की किंवदन्तियों को भी बताते रहे। कहने लगे—"मेरी तो यजमान बनने की इच्छा नहीं थी किन्तु श्रीकरपात्रीजी के अत्यन्त आग्रह को मैं टाल नहीं सका। यज्ञ का यजमान सपत्नीक होना चाहिये। वे ठहरे ब्रह्मचारी। इसलिये कुशा की पत्नी बनाकर कार्य चलाया गया। इस पर भी लोगों ने भाँति-भाँति की टीका टिप्पणियाँ कीं। लोग तो बहिर्मुख होते ही हैं।

श्री ब्रह्मचारी जी की अनन्त स्मृतियाँ हैं, किन्हें-किन्हें लिखें, किन्हें-किन्हें छोड़ें। एक बार आपने क्षत्रिय ब्रह्मचर्याश्रम या क्षत्रिय ऋषिकुल नाम की एक नवीन संस्था वहीं नरवर पाठशाला में क्षत्रिय ब्रह्मचारियों के लिये खोली। वे धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये कुछ न कुछ सोचते ही रहते थे। अपने यहाँ ही क्षत्रियों का एक महासम्मेलन कराया। उसी में प्रस्ताव पारित करके यह संस्था चालू की। ठाकुर लोग तो प्रस्ताव पारित करके चले गये। २-४ लड़के भी आ गये। किसी ने कुछ लिया दिया। पाठशाला का बहुत-सा रुपया भी उसमें व्यय हो गया, ऋण हो गया। तब आपने मुझसे कहा—"ब्रह्मचारी जी! क्या बतावें, ये क्षत्रिय तो मदान्ध हो गये हैं। यहाँ सम्मेलन में आये। अपने-अपने डेराओं में खाट पर बैठे हुक्का पीते रहते थे, जब हम जाते थे तो उठकर खड़े भी नहीं होते थे।" समिति बनी, पदाधिकारी चुने गये। कार्तिकी के मेले के पश्चात् कोई फिर यहाँ फटका भी नहीं। उलटा हमारे ऊपर ऋण करा गये। जब मैंने यह बात खुरजे के सेठ बाबूलाल जटिया से कही तो उन्होंने हँसकर कहा—"महाराज जी! यदि आप वैश्यों के लिये ऐसा ब्रह्मचर्य-आश्रम खोलते तो आपके ऊपर ऋण न होता।"

तब मैंने कहा—सेठ जी! इच्छा तो मेरी यही थी कि ब्राह्मण बालकों के लिये तो यह पाठशाला

है ही, क्षत्रियों की पाठशाला चल जाय तो फिर वैश्य बालकों के लिये भी खोली जाय। सो, इसी से शिक्षा मिल गयी। ऐसी थी उनकी धर्म की उन्नति के लिये भावना।

जब मैंने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के सम्मुख हिन्दू कोड बिल के विरोध में उनका प्रत्युपरोध किया तो वे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए। उन्होंने बाल्मीकि रामायण के एक अनुष्ठान के लिए आग्रह किया और स्यात् वह अनुष्ठान आश्रम में किया भी गया।

वे बड़े दयालु थे, कोई भी उनके पास हाईकोर्ट के मुकदमें की बात लेकर जाय, या प्रयाग का कोई और काम लेकर जाय तो तुरन्त कह देते—"हाँ, वहाँ तो हमारे ब्रह्मचारी जी हैं, उनका वहाँ बहुत प्रभाव है, वे तुम्हारा सब काम करा देंगे। और तुरन्त उसके हाथों मुझे पत्र लिख देते। इनका काम अवश्य करा देना। अपना ही काम समझना। मानो करने कराने वाला न्यायाधीश मैं ही हूँ। वे दूसरों के दुखों को देखकर दयार्द्र हो जाते। सहस्रों छात्रों को पढ़ाकर उन्हें योग्य बनाया। बहुतों को पढ़ाकर उनका योग्य स्थानों में विवाह कराया। बहुतों की आजीविका का प्रबन्ध कराया। किसी का काम हो जाय इसके लिये किसी को भी पत्र लिखने में उन्हें संकोच नहीं था। ऐसे थे वे हमारे ब्रह्मचारी जी महाराज। अब वे न जाने किस लोक में चले गये। हमें भी अब जाना ही है। विस्तर बाँधे तैयार बैठे हैं, जब भी बुलावा आ जाय। ब्रह्मचारीजी तो चले गये, अब उनकी मधुर-मधुर स्मृतियाँ ही शेष रह गयी हैं। जब कुछ प्रेमी-बन्धुओं ने उनका श्रद्धाञ्जलि स्मृति-ग्रन्थ निकालने का प्रस्ताव किया तो मैंने उसका हार्दिक स्वागत किया और उसी प्रेरणा से ये संस्मरण लिख गये हैं। लिखने की बातें तो बहुत-सी हैं किन्तु स्थानाभाव से इतना ही कहकर श्रीभर्तृहरिजी का श्लोक उद्धृत करके इस संस्मरण को समाप्त करता हूँ।

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा–
स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यम्
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

छप्पय—
जिनके तन मन पुन्य प्रेम अम्मृत तैं पूरित।
बानी अति ही मधुर हिये कूँ हरषि हिलोरत ॥
मुदित करत जग फिरत न पर अवगुन कूँ निरखत।
परगुन अनु के सरिस ताहि गिरि करि हिय विकसत ॥
सदा मुदित मन त्यागि मद, सबके नित गुन गहत हैं।
कितने ऐसे संत है, जो परहित दुख सहत हैं ॥

पुनीत संस्मरण

(श्रीरमन टाट वावा द्वारा प्रदत्त)

एक बार मैं पतितपावनी पुण्यसलिला जाह्नवी के तट पर विचरण करता हुआ विहारघाट से रामघाट की ओर जा रहा था। नरवर विहारघाट से तीन मील की दूरी पर है। गर्मी के दिन थे। विहारघाट से नरवर पहुँचते-पहुँचते धूप बहुत तेज हो गई थी। ग्रीष्मकाल की तीव्र धूप से थोड़ी शान्ति लाभ की इच्छा से मैं एक सुन्दर कुए के पास एक वट-वृक्ष के नीचे बाघम्बर विछा कर बैठ गया। मुझे वहां बैठे कुछ ही समय व्यतीत हुआ कि मैंने देखा दिव्य तेज से युक्त एक व्यक्ति हाथ में गंगाजल से भरा एक बहुत बड़ा लोटा लिए, बगल में एक सुन्दर आसन दबाये गंगा की ओर से गंगास्नान करके आये और मेरे पास आकर बैठ गये। यही महाराज श्रीजीवनदत्त जी ब्रह्मचारी थे।

बैठने के पश्चात् बड़ी विनम्र वाणी में उन्होंने मुझसे पूछा, 'प्रभो! कहाँ से पधार रहे हैं और कहाँ पहुँचने का विचार है? ऊपर चलकर विश्राम करने की कृपा कीजिये।'

जब मैंने उनके आग्रह को उसी शालीनता के साथ टालने की चेष्टा की तो बिना कुछ कहे वहाँ से ऊपर विद्यालय भवनों की ओर बनी अपनी कुटिया की ओर चले गये। वहाँ से उन्होंने अपने विद्यालय के प्रधानाचार्य को कुछ ब्रह्मचारियों के साथ मेरे पास भेजा। विद्यालय के आचार्यजी ने महाराजश्री जीवनदत्तजी का परिचय देकर उनकी ओर से ऊपर विद्यालय में पधारने का विशेष आग्रह किया, जिसको मैं टाल न सका, और रामघाट से लौटकर विद्यालय आने की प्रतिज्ञा कर आगे बढ़ पाया।

रामघाट से लौटती बार मैं अपनी प्रतिज्ञानुसार स्वतः ही विद्यालय पर पहुँचा। पहुँचने पर शिष्यों के साथ शास्त्र-चर्चा में संलग्न उन ऋषिकल्प दिव्य मूर्ति को देखा। मुझे अकस्मात् विद्यालय में उपस्थित देखकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए और मुझसे भोजनादि का आग्रह करने लगे। जब मैंने पुनः वहाँ से जाने की इच्छा प्रकट की तो उन्होंने बड़ी ही मधुर वाणी में कहा, "महाराज जी, आपको यहाँ पर किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं होगा। आपको अपने व्रत के अनुसार सभी सुविधायें मिलेंगी। कृपया यहाँ पर कुछ काल निवास किया करें। यह भी आपका ही स्थान है।"

महाराजश्री की वाणी में जो मधुरता, स्निग्धता एवं आत्मीयता थी वह अत्यन्त दुर्लभ है। मुझे उनके प्रेम वाक्य एवं मधुर मुस्कान का अभी तक स्मरण है। अज्ञात मनुष्य का भी ऐसा अतिथि-सत्कार करने वाले मनुष्य विरले हैं।

* श्रीहरिः *

भारत की महान् विभूति

(पूज्यपाद वीतराग ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी परमहंस रामदेव जी महाराज)

भगवती भागीरथी श्री गङ्गाजी के परम पवित्र तट पर स्थित नरवर ग्राम में श्री साङ्गवेद महाविद्यालय में एक बार हम श्री हरिद्वार से भ्रमण करते हुए पहुँचे तो हमें सर्वप्रथम उस विद्यालय के संस्थापक ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज का दर्शन हुआ था। ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज सनातन धर्म में विश्वास करने वाले और अपने धर्म में निष्ठा रखने वाले अपने नित्य कर्म को समय पर करते थे। गायत्री मन्त्र जप में उनकी अत्यधिक निष्ठा थी। तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए उन्होंने जो वहाँ पर पर्णकुटी बनवाई थी उसी में निवास करते थे। जैसे कि प्राचीन समय में ऋषियों का निवास होता था उसी प्रकार का वहाँ का निवास था। उस शान्त वातावरण में विद्यार्थी लोग विद्याध्ययन करते थे। अतएव वहाँ के विद्यार्थी भी आधुनिक सभ्यता से बचे हुए थे और वह संध्या, गायत्री, जप आदि नित्य करते थे। उन्हीं के तप के कारण यह विद्यालय आज भी सुचारु रूप से चल रहा है। उनके शरीर त्याग के पश्चात् मैं वहाँ पर गया नहीं। उनके समय में तो मैं कई बार गया था। उनके स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन होना आवश्यक है। मैंने संक्षेप में शीघ्रता से कुछ लिख दिया है। उनके जीवन से लोगों को कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहिये।

मधुर स्मृति

(स्वामी श्री हीरानन्दजी महाराज धनौरा मण्डो)

श्री भगवती भागीरथी के पवित्र तट पर विचरण करते जब कभी नरवर पहुँचते थे उनकी तपोनिष्ठ तथा उत्कृष्ठ जीवनचर्या हृदय को गद्गद् करा देती थी। उनका सरल सद्व्यवहार, उनका प्रेम भरा आतिथ्य, विनम्र भाव से किया गया संवाद सभी आकर्षक होते थे। उनकी जब याद आती है हृदय गद्गद् हो जाता है, उनकी उज्ज्वल पताका के रूप में सांगवेद महाविद्यालय नरवर पवित्र विद्या प्रदान करते हुए फहरा रही है। उन्होंने अपनी कीर्तिपताका रूप जिस विद्यालय की स्थापना की उसकी रक्षा संवर्धन का भार भी अपने अनुरूप तपोमूर्ति आचार्यजी के हाथ में सुसंस्थापित करके और भी समुज्ज्वलता प्रदान करदी है। ऐसे प्रातःस्मरणीय श्रीजीवनदत्त महाराज का स्मृति ग्रन्थ प्रकाशन के लिए आप लोगों का प्रयास स्तुत्य है। यह कार्य सुसंपन्न हो यही हमारी शुभकामना है।

तपोमूर्ति ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज

(शास्त्रार्थ-महारथी श्री पं० माधवाचार्य शास्त्री, दिल्ली)



स्वर्गीय ब्रह्मचारी जी महाराज इस युग के एक महान् तपस्वी और जपयज्ञ-परायण महात्मा थे। प्रथम जब मुझे उनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ तब वे चन्दौसी की सनातन धर्म-सभा के वार्षिकोत्सव के सभाध्यक्ष बनकर आये थे। मैं उन दिनों 'पुराण दिग्दर्शन' ग्रन्थ लिखने में अधिक बैठने के कारण यकृत् रोग से पीड़ित था। लगातार चार वर्ष तक अनेक चिकित्सा होने पर भी कुछ लाभ नहीं हो रहा था। मेरे शरीर का भार सत्ताइस सेर कम हो गया था, तथापि मैं धर्म-प्रचार-संचार में बराबर यात्रा करता था। श्रीमहाराज जी ने प्रथम बार ही वहाँ मेरा व्याख्यान श्रवण किया। बड़े प्रसन्न हुए। अगले दिन अपने साथ ताम्रघट में सुरक्षित गंगोदक जिसका वह नित्य सेवन करते थे. अपने करकमल द्वारा बिना किसी प्रार्थना और याचना के मुझे पीने के लिए प्रदान किया। मैं समझता हूँ उस गङ्गोदक के साथ उनका कृपामय आशीर्वाद भी मुझे मिल रहा था। भगवान की ऐसी कृपा हुई कि उस गङ्गोदक पान से क्रमशः मेरा रोग दूर होने लगा। उन्होंने मुझे दूध पीने वाली बछिया का दो तोले मूत्र छानकर नित्य पीने का परामर्श भी दिया जिसको मैंने शिरोधार्य किया। इस साधारण उपचार से चार वर्ष पुराना बद्धमूल रोग एक मास में शान्त हो गया। फिर तो आपके दर्शन का कई बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। विशेषकर दिल्ली के प्रसिद्ध शतकुण्डी कोटि होमात्मक महायज्ञ के जब आप यजमान बने थे तब तो निकट से उनके पवित्र जीवन के अध्ययन का अवसर मिला। उनको गौड़ ब्राह्मण अपनी जाति का भूषण मानते थे तो सनाढ्य अपना वंशावतंस जानते थे। आज भी यह कोई नहीं जानता कि वास्तव में गौड़ थे या सनाढ्य। वस्तुतः वे सर्वप्रिय महात्मा थे।

किसी कारणवश बरौली के महाराजा उनकी कृपा से वंचित थे इसलिए राजा श्रीकुँवरसिंहजी ने बड़ी ही अनुनय-विनय पूर्वक उनको किसी तरह प्रसन्न किया। अपने ग्राम में सनातन-धर्म का महोत्सव किया जिसमें महाराजश्री की आज्ञा से मुझे भी निमन्त्रित किया। पूज्य करपात्रीजी महाराज आपके द्वारा संचालित नरवर ब्रह्मचर्याश्रम के ही अधीतविद्य हैं। आज भी यह आश्रम उत्तर प्रदेश का एक मात्र तादृश विद्या केन्द्र है। मैं स्वर्गीय ब्रह्मचारी जी महाराज के पवित्र चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जली अर्पण करता हुआ गौरव का अनुभव करता हूँ।

———

आदर्श सन्त

(श्री चक्रपाणिजी महाराज, वृन्दावन)

वैसे तो प्रातःस्मरणीय श्रीजीवनदत्तजी महाराज के साथ कभी चाक्षुष साक्षात् होने का मुझे शुभ अवसर प्राप्त नहीं हुआ तो भी उनके पावन यश की सुधाधारा मेरे श्रवणगत यदाकदा होती थी। उन महापुरुष के महाविद्यालय के छात्र, प्रमुख गन्यमान्य विद्वान् एवं त्यागतपपूरित संतसमागम द्वारा श्रीब्रह्मचारी जो का यशसागर उमड़कर मेरे कानों को सिञ्चित करता ही था।

मेरे ही आदरणीय, प्रातःस्मरणीय श्री प्रभुदत्त जी महाराज झूसो, प्रयाग तथा परमादरणीय सदैव स्मरणीय संतशिरोमणि श्रीहरिबाबाजी महाराज बाँध सतत आदरपूर्वक श्रीमहाराज जी का स्मरण कराया करते थे।

सन् १९३५ में गुरुकुल मार्ग श्री वृन्दावन में श्रीनारायण आश्रम की स्थापना हुई थी। ऐसे अवसर पर धार्मिक भावना की पूर्ति के विशेष कार्यक्रमों का होना स्वाभाविक था। हमारे पास बुद्धसिंह मोहनलाल गोटे वाले फर्म के मालिक।आगरा वाले आया करते थे। वह प्रायः श्रीमहाराजजी की कीर्तिकथा एवं महाविद्यालय की यशोगाथा मुझे सुनाया करते थे। अतः अनेक स्रोतों से मुझे पूज्य ब्रह्मचारीजी की कीर्तिकथा सुनने को मिलती थी।

श्रीमहाराज जीवनदत्तजी आदर्श तपस्वी महापुरुष थे। उन्होंने अपना जीवन विद्यादान, अन्नदानं एवं ज्ञान-ध्यान-जप-तप, साधु-ब्राह्मण और भगवद् सेवा में लगाया था आज भारतवासियों के लिए ऐसे वीतराग, परोपकारी, त्यागी, तपस्वी श्रीजीवनदत्तजी जैसे आदर्श संत की बड़ी आवश्यकता है। ऐसे संत के सत्संग से देव, दानव, और मानव सभी अपने कर्तव्य पर आरूढ़ होकर वैदिक सनातन धर्म की सेवा द्वारा शाश्वत सुख शाँति के अधिकारी बन सकें।

ऋषि–दर्शन

श्रीशिवरत्नजी माहेश्वरी खुर्जा, सदस्य प्रबन्ध समिति सांगवेद महाविद्यालय, नरवर।

श्रीयुक्त मंत्री जी,

महाराज श्रीजीवनदत्तजी स्मृतिग्रंथ समिति, फिरोजाबाद।

सादर अभिवादन ! आपके शिष्ट मंडल ने कल यहाँ पधार कर मुझे अनुगृहीत किया। उसके लिये धन्यवाद।

आपने बहुत ही उत्तम ग्रंथ लिखने का प्रयास किया है। ऐसे तपोनिष्ट त्यागी महात्मा श्री पं० जीवनदत्तजी की जो भी स्मृतियाँ आपको प्राप्त होंगी और आप उन्हें यथास्थान पुस्तक में रखेंगे उससे पढ़ने वालों को प्रकाश और उत्साह मिलेगा। श्रीमहाराजजी पं० जीवनदत्तजी के दर्शन करने का अवसर मुझे भी आया है। मैं तो साक्षात् ऋषि के दर्शन करके कृतार्थ होता था और उनकी सन्निधि में जब भी कभी किंचित् समय बैठने का अवसर आता तो अच्छे उपदेश प्राप्त होते। श्री सांगवेद महाविद्यालय की स्थापना और उसका अभ्युदय एकमात्र श्रीमहाराजजी ही का आशीर्वाद है। मैं उनके तपोमय और विद्या प्रचार के जीवन से नतमस्तक हूँ।

श्रीमहाराजजी का वेदानुराग

(श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री स्वामी पुरुषोत्तमाश्रम 'शतपथ महाराज', शिकोहाबाद)

—❋—

सन् १९३४ में मेरे हृदय में यह भावना उत्पन्न हुई कि वेद का ब्राह्मण भाग शतपथ जो केवल जर्मनी में ही छपा है और जिसका मूल्य अस्सी रुपये है जो सर्वसाधारण की क्रयशक्ति से बहुत अधिक है, को यदि प्रयत्न कर यहाँ छपवा दिया जाय तो उस तक सर्वसाधारण जिज्ञासु की पहुँच हो जाय। कोई भी वेदानुरागी उसका लाभ प्राप्त कर सके। किन्तु ऐसा उदारमना कहाँ मिले जिसकी सहायता से यह कार्य सम्भव हो सके।

श्री महाराजश्री के सम्मुख इस इच्छा को प्रकट किया गया। उन्होंने प्रथम अवसर पर ही उसका अनुमोदन कर दिया और आश्वासन दिया कि वह ऐसा प्रयत्न अवश्य करेंगे जिससे शतपथ ब्राह्मण का मुद्रण हो जाय। मुझे इस बात की विशेष चिन्ता थी। अतः मैंने कई बार श्री महाराजजी से अपनी बात कही। महाराजश्री मेरे आग्रह को देखकर मुझे शतपथ स्वामी नाम से पुकारने लगे।

खुर्जा निवासी सेठ श्री गौरीशंकर गोइनका संस्थापक 'गोइनका संस्कृत-विद्यालय' काशी बड़े ही उदारमना और संस्कृत-प्रेमी व्यक्ति थे। वह उस समय काशी में ही रह रहे थे। महाराजश्री ने उन्हें ही पत्र लिखकर अनुरोध किया कि "शतपथ ब्राह्मण को आप अच्युत कार्यालय प्रेस काशी में छपवा दें जिससे वह प्रत्येक वेदानुरागी को सुलभ हो जाय।"

मैं यह पत्र लेकर नरवर से पैदल ही चल दिया और शिकोहाबाद के समीप वासुदेवमई निवासी पं० जंगजीतजी गर्ग से मिला और उनसे अपनी काशी यात्रा की चर्चा की। श्री गर्गजी ने काशी का रेल का टिकट दिलवा दिया और मैं पत्र लेकर काशी में सेठ गौरीशंकरजी से मिला। वह पत्र पाकर बड़े प्रसन्न हुए और पूज्य श्री महाराजजो के आदेशानुसार अपने अच्युत प्रेस में उस ग्रन्थ को छपवा दिया। उस शतपथ ब्राह्मण का मूल्य केवल आठ रुपये है जो सबको सुलभ है।

उस समय के प्रायः बहुत से धनीमानी महाराजश्री के आदेश के पालन में होड़ सी लगाये रहते थे।

〰〰〰

भारतीय संस्कृति की साकार प्रतिमा

(श्री प्रकाशवीर शास्त्री, भू० पू० सदस्य लोकसभा)



संस्कृत के तपस्वी विद्वानों को ही यह श्रेय है कि भारतीय संस्कृति पर सैकड़ों वर्षों से होने वाले आघातों के बावजूद भी वह आज विश्व की सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के रूप में विद्यमान है। जिस समय मुसलमानी शासन काल एवं बाद में अंग्रेजी शासनकाल में भारतीय संस्कृति को समूल नष्ट करने के प्रयास किये गये उस समय संस्कृत के विद्वानों ने संस्कृत के प्राचीन ग्रन्थों एवं धर्मशास्त्रों की रक्षा कर, भारतीय संस्कृति के भण्डार को अक्षुण्य बनाये रखा।

काशी, जहाँ संस्कृत भाषा का केन्द्र माना जाता था वहाँ बुलन्दशहर जिले का एक विशेष क्षेत्र भी संस्कृत के विद्वानों का गढ़ रहा है। अनूपशहर, खुर्जा, डिबाई, राजघाट आदि क्षेत्रों में अनेक विख्यात संस्कृत विद्वानों एवं मनीषियों ने जन्म लेकर संस्कृत भाषा के प्रचार तथा प्रसार में भारी योगदान किया है।

प्रख्यात् विद्वान् ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी, कविरत्न पं० अखिलानन्दजी, स्वामी शुद्धबोधतीर्थजी, पं० दिलीपदत्त उपाध्याय आदि विद्वान इसी क्षेत्र में हुये। पं० अखिलानन्द कविरत्न तो संस्कृत के जन्मजात महान् विद्वानों में से थे।

ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी महाराज के दर्शनों का मुझे एक बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। वे वस्तुतः संस्कृत के महान् विद्वान के साथ-साथ अत्यन्त तपस्वी, पंडित थे। प्राचीन भारतीय संस्कृति के तो मानों वे साक्षात् प्रतीक ही थे। उनके विद्यालय को अनेक प्रख्यात् विद्वान एवं धार्मिक नेता देश को देने का श्रेय प्राप्त है।

ब्रह्मचारीजी महाराज ने संस्कृत का सेवा-कार्य उसे ईश्वरीय कृत्य समझ कर किया तभी तो उनके शिष्यों ने भारतीय संस्कृति एवं प्राचीन शास्त्रों की रक्षा में आगे चलकर भारी योगदान किया। संस्कृत प्रचारकों तथा सेवियों में उनका स्थान सदैव अग्रणी रहेगा।

संस्कृत विश्व को समस्त भाषाओं की जननी है। यह आज हमारा दुर्भाग्य है कि उस महान् विश्वभाषा की अवहेलना कर, उसकी घोर उपेक्षा कर हम विदेशी भाषा अंग्रेजी के मानसिक दास बने हुये हैं। जब तक हम संस्कृत भाषा के विकास एवं प्रचार के लिये ठोस कदम नहीं उठायेंगे तथा संस्कृत विद्वानों को सम्मान प्रदान नहीं करेंगे तब तक भारतीय संस्कृति की रक्षा और प्रचार असम्भव है।

———

तपोमूर्ति, ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज

(शास्त्रार्थ-पंचानन श्री प्रेमाचार्य शास्त्री साहित्याचार्य, एम० ए०)

—*—

श्री जीवनदत्त जी ब्रह्मचारी एक साधारण धर्मभीरु पुरुष नहीं थे, अपितु एक ऐसे विलक्षण युग-पुरुष थे जिन्होंने 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः' महर्षि कणाद द्वारा प्रतिपादित इस धर्म लक्षण की सत्यता अपने आचार और व्यवहार द्वारा प्रकट कर दिखाने का गौरवमय कार्य किया था। इहलोक एवं परलोक में शाश्वत सुख वेदोक्त धर्म के आश्रय से ही प्राप्त किया जा सकता है ब्रह्मचारीजी के जीवन का यही मूलमन्त्र था। शास्त्रीय आज्ञाओं में अटूट विश्वास, तथा अपने विश्वास में व्यवहार का समन्वय, संक्षेप में इतना ही उनके जीवनदर्शन का सार है।

वेदों और वेदों द्वारा प्रतिपादित सनातन धर्म पर उनकी निष्ठा अप्रतिम थी। हिन्दू-सभ्यता का मूलाधार और राष्ट्र सुरक्षा का एकमात्र साधन वे वर्णाश्रम-मर्यादा को मानते थे। हिन्दू-जाति संसार की आदिम जाति है। उसका इतिहास आज का नहीं, अरबों वर्ष पुराना है। कालचक्र की वक्र गतियाँ, दुर्दान्त कही जाने वाली अनेकों आक्रामक जातियों के आक्रमण एवं सैकड़ों वर्षों की ग्लानिमय पराधीनता भी हिन्दू-जाति को समाप्त न कर पाई। आज भी विद्या, बुद्धि, बल, शौर्य तथा कलाकौशल के क्षेत्र में हिन्दू-जाति अद्वितीय मानी जाती है। इसका एकमात्र कारण है वर्णाश्रम मर्यादा का निष्ठापूर्वक पालन। श्रीब्रह्मचारीजी ने वर्णाश्रम परम्परा के प्रचार को अपने जीवन का उद्देश्य बना लिया था। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने नरवर (जि० बुलन्दशहर) में श्री सांगवेद महाविद्यालय की स्थापना की जिसमें द्विज बालकों के लिये षडंग सहित वेदों के पठन-पाठन की उत्तम व्यवस्था की। यह विद्यालय आज भी वैदिक स्वाध्याय के लिये उत्तम केन्द्र माना जाता है। इस विद्यालय ने वेदों के पारंगत विद्वान होने के साथ साथ सनातन धर्म के कट्टर अनुयायो अनेकों महापुरुषों को जन्म दिया है। यतिचक्र-चूड़ामणि, भारतहृदयसम्राट, अनन्तश्री स्वामी करपात्रीजी महाराज इसी विद्यालय के शिरोमणि स्नातक हैं।

श्रीब्रह्मचारी जी ने अपने किसी भी कार्य के लिये कभी कुछ नहीं मांगा। उनका तपोमय जीवन इतना आदर्श एवं प्रभावशाली था कि बड़े-बड़े धनपति स्वतः उनके सम्मुख विनत हो जाते थे। वे सच्चे मन से गायत्री के उपासक थे। और कहा करते थे कि गायत्री मन्त्र के होते हुए भी द्विज दरिद्र रहें तो इससे बड़ा आश्चर्य और क्या हो सकता है? 'गायत्री' का तात्पर्य ही यह है कि जो अपने उपासक की रक्षा करे-गायन्तं त्रायते, तस्मात्-गायत्री। और सचमुच गायत्री उपासना का वरदान उन्हें जीवन भर प्राप्त होता रहा। अपनी दिनचर्या का अधिकांश समय वे गायत्री जप में ही व्यतीत किया करते थे।

श्री ब्रह्मचारी जी तपस्वी अधिक थे या पण्डित अधिक थे इसका निर्णय सहसा नहीं किया जा सकता। शास्त्रों में भी उनकी अनुपम गति थी। वेदांग और कर्मकाण्ड में उनकी विशेष अभिरुचि

थी। दर्शनों में मीमांसा दर्शन को उन्होंने जिस अपूर्व कौशल के साथ हृदयंगम किया था, वह कौशल आज के युग में मृगमरीचिका ही है। कर्मकाण्ड के दुरूह स्थलों की शास्त्रीय व्याख्या कर सकने की योग्यता रखने वाले पण्डित-धुरीणों को यद्यपि आज कल भी कमी नहीं है। विवादास्पद स्थलों पर घन्टों शास्त्रार्थ करने को कला जानने वाले पण्डितपुंगव भी दुष्प्राप्य नहीं हैं किन्तु पाण्डित्य को अपने व्यवहार में उतार कर विचार और व्यवहार का सामञ्जस्य बिठाने वाले श्रीजीवनदत्तजी ब्रह्मचारी ही थे।

पुत्रैषणा और धनैषणा का परित्याग करने में समर्थ महापुरुष भी, इतिहास साक्षी है, लोकैषणा अर्थात् जनता द्वारा सम्मानित होने को लालसा को नहीं छोड़ पाये थे। परन्तु श्रीब्रह्मचारीजी तीनों एषणाओं के मोह से परे वीतराग कोटि के परमहंस व्यक्ति थे। उनका जीवन दणर्प के समान इतना निर्मल तथा उज्ज्वल था कि उसमें से उनके गुण स्पष्ट परिलक्षित होते थे।

श्रीब्रह्मचारी जी वास्तव में अजातशत्रु थे। उनका किसी से वैर-विरोध नहीं था और नहीं अन्य कोई उनसे मन-मुटाव रखता था। उन्होंने जीवन में देना ही सीखा था। दीन होकर किसी के आगे हाथ फैलाने को वे मृत्यु के बराबर मानते थे। संयम, ब्रह्मचर्य, त्याग, तपस्या एवं सदाचारमय सात्विक जीवन यही उनके अनुचर परिचर थे।

धार्मिक क्षेत्र में ऐसा कौन अभागा होगा जिसने श्रीब्रह्मचारीजी की यशोगाथा न सुनी होगी। तपस्या की आँच में निखरा हुआ उनका जीवन सुवर्ण के समान कमनीय और महनीय था। उनका जीवन धर्मानुरागियों के लिये एक अपूर्व प्रेरणा स्रोत है। आस्तिकता और शास्त्रनिष्ठा के लिये आलोक स्तम्भ के समान है। विद्या और विवेक के समन्वय के लिये मार्गदर्शक है। आत्मोत्थान से राष्ट्रोत्थान तक की यात्रा को प्रशस्त करने वाला है। उनके प्रशंसनीय गुणों की सुगन्ध युगों तक आने वाली पीढ़ियों को सुवासित बनाती रहेगी।

यद्यपि आजकल धर्मनिरपेक्षता की आड़ में सनातन धर्म के समूलोन्मूलन के लिये सरकारी और गैर-सरकारी षड़यन्त्र गतिशील हैं। त्याग, तपस्या और सहिष्णुता का अवमूल्यन हो रहा है। आस्तिकता और शास्त्रनिष्ठा को दकियानूसीपन कह कर उपेक्षित किया जा रहा है। किन्तु इससे विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। समय की आँधी शाश्वत सिद्धान्तों को कुछ भी अपरूप नहीं कर सकती। दृढ़ शास्त्रनिष्ठा एवं अटूट मनोवल मनुष्य की सब बाधाओं को परास्त कर देते हैं। श्री जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी का जीवन इस तथ्य का मूर्तिमान् प्रमाण रहा है। उनकी जीवन-व्याख्या आस्तिकों के लिये सर्वदा संवल बनी रहेगी तथा उन्हें धर्माचरण के लिये प्रतिपल प्रेरणा देती रहेगी।



श्री साम्बसदाशिवः शरणम्

नैष्ठिक ब्रह्मचारीजी के संस्मरण

रामचैतन्य मिश्र वेदान्ताचार्य, नरवर

नत्वेशं करुणापूर्णं कृष्णं ब्रह्मेति विश्रुतम्
यज्ज्ञात्वा नेहते किञ्चिज्जीवः पूर्णमनोरथः ।।
श्री साङ्गवेद संस्थायाः संस्थापक महोदयान्
प्रेरणादायिचरितान् सतां वन्दे सुनिर्वृतान् ।।

श्री श्री १००८ परम पूजनीय प्रातःस्मरणीय नैष्ठिक ब्रह्मचारी श्रीजीवनदत्तजी महाराज पाद, कुलपति–श्री साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर, के लोकप्रिय व्यावहारिक तथा धर्म शास्त्रानुकूल पारमार्थिक जीवन में निसर्गतः समाविष्ट उदारता, तितिक्षा, करुणा, स्वभावसरलता, प्राणिमात्र के प्रति समत्व दृष्टि आदि गुणों के विषय में मैंने जो उनकी सन्निधि में रहकर अनुभव किया वह केवल हृदय ही जानता है, वाणी नहीं कह सकती है। जैसे—सागर सीपी से नहीं उलीचा जा सकता, उसी प्रकार उन महानुभावों के अनन्त गुणों का वर्णन करने में मेरी वाणी असमर्थ है। तथापि मैंने जो प्रत्यक्ष अनुभव किया है उसमें से उनकी वाक्सिद्धि का एक उदाहरण उपस्थित करता हूँ। पुरानी बात है, वार्षिक परीक्षा देने के लिये संख्या में लगभग १०० परीक्षार्थी छात्र काशी यात्रा करने वाले थे, मुहूर्त यात्रा का निश्चित कर दिया गया था, किन्तु द्रव्याभाव के कारण उस मुहूर्त में यात्रा करना शक्यसम्भव नहीं जान पड़ता था। श्री प्रधानाचार्यजी महाराज ने मुहूर्त परिवर्तन का प्रस्ताव रख दिया। श्रीमहाराजपाद ने मुझे बुला कर कहा कि देखो इसी मुहूर्त में यात्रा करनी चाहिये, यह उत्तम मुहूर्त है। विश्वम्भर पर भरोसा करो "सर्वं भविष्यति" सभी व्यवस्था विश्वम्भर के अधीन है। रात्रि बीती, प्रातःकाल हुआ, एक वृद्ध ब्राह्मण ने आकर श्रीमहाराज पाद का अभिवन्दन किया तथा उनके चरणों में उतना द्रव्य समर्पित कर दिया कि जितना भलीभांति परीक्षार्थी छात्रों की व्यवस्था के लिये अपेक्षित था। तत्काल उसी समय श्रीमहाराजजी के आदेश से काशी की यात्रा आरम्भ कर दी गई।

यह संस्मरण वार्ता आज पुरानी है किन्तु मुझे अब भी यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि जब कभी कोई समस्या जटिल हो उठती है अथवा कोई कामना उत्थित होती है तो श्रीमहाराजपाद के ध्यान कर लेने मात्र से पूर्ण हो जाती है। मुझे ठीक स्मरण है कि श्रीमहाराजजी के जीवनकाल में श्री गङ्गा भागीरथी कभी घाट से दूर नहीं गईं। अब उनके स्थूल शरीर के न रहने से श्री गङ्गाजी घाट से दूर चली गईं। उनमें तपश्चर्या, ब्रह्मण्यभाव आदि अनेक आकर्षक शक्तियाँ थीं, जिसके कारण उनकी सन्निधि छोड़ने की इच्छा ही नहीं होती थी।

A Great Rishi

During my northern Indian piligrimage I had the opportunity to visit Sri Sangaveda Mahavidyalaya situated on the bank of Holy Ganges about three miles from the Railway station Narora on the Aligarh Bareilly line. The Mahavidyalaya was started by Brahmasri Jiwan Datt Brahmachariji welknown throughout Uttar-Pradesh as a great Brahmanista parayana under the inspiration of his great guru who was welknown all over India as an authority on Vedas and whose name was Brahmasri Bhimsen Misra Veda-Vyakhyata. Pt. Bhimsen Misra was contemporary of Sri Swami Dayananda of Arya Samaj. But latter on Pt. Bhimsen Misra had written several commentaries on books pertaining to Sanathan Dharma specially his book on Shodasa Sanskaras is considered as an authority by almost all scholars of India. Pt. Jiwan Dutt Bhramachariji dedicated all his life for the cause of the above mentioned Vidyalaya and had earned for him the name of a great Rishi of Modern India. Several scholars of repute in Uttarpradesh graduated from this Vidyalaya, the most notable among them being Jagadguru Sri Sankaracharya Maharaj Sri Krishna Bodhashramji of Jyotir Math and the most Reverend Sri Karapatriji Maharaj and Sri Jwala Dutt Brahmachariji who spent nearly twenty years in thick forests on the bank of Narmada and performed austerities. Sri Jwala Dutt Brahmachariji was welknown all over India as Gayatri Brahmachariji and to my little knowledge there is none alse in India today who had done the upasana of Gayatri and attained Siddi as this Brahmachariji in lifetime, this is the desciple of Jiwandattji. All credit goes to Sri Jiwan Dutt Brahmachariji of Narawar Mahavidyalaya. It is not too much to suggest therefore to all gentlemen of Sanathan Sampradaya to take special interest in such an institution and help its growth to its prestive glory of Brahmachariji's time. Verily this Vidyalaya is known as second Kashi for learning. All most all Sankaracharyas of India visited this Vidyalaya and were full of praise for Jiwan Dutt Brahmachariji and this institution.

Venkateswara Sharma
Sringeri, Shimoga (Mysore)



महान् ऋषि

(अंग्रेजी का हिन्दी रूपान्तर)



अपनी उत्तरी भारत की तीर्थयात्रा के मध्य मुझे श्री सांगवेद महाविद्यालय जो पवित्र गंगा के किनारे अलीगढ़-बरेली लाइन के नरौरा स्टेशन से तीन मील की दूरी पर स्थित है, को देखने का सुअवसर प्राप्त हुआ। यह महाविद्यालय ब्रह्मश्री श्रीजीवनदत्तजी ब्रह्मचारीजी जो ब्रह्मनिष्ठ के रूप में समस्त उत्तर प्रदेश में प्रतिष्ठित हैं, अपने गुरुदेव की प्रेरणा का पीयूष पान करके, जो समस्त भारत में वेदों के मूर्धन्य विद्वान थे और जिनका नाम श्रीभीमसेन मिश्र वेदव्याख्याता था, के द्वारा प्रारम्भ किया गया था। श्रीभीमसेन मिश्र श्री स्वामी दयानन्दजी के समकालीन थे। लेकिन समयोपरान्त पंडित श्रीभीमसेन मिश्र ने सनातन धर्म से सम्बन्धित बहुत सी पुस्तकों पर विशद् टीकायें लिखीं, जिनमें मुख्य रूप से उनकी पुस्तक "षोडस संस्कार" भारत के लगभग सभी विद्वानों के द्वारा प्रतिष्ठित मानी जाती है। पं० जीवनदत्तजी महाराज ने अपना समस्त जीवन उपर्युक्त वर्णित महाविद्यालय को समर्पित कर दिया था और आधुनिक भारत के महान ऋषि के रूप में ख्याति अर्जित की थी। उत्तर प्रदेश के बहुत से प्रसिद्ध विद्वानों ने इस महाविद्यालय से स्नातकीय उपाधि अर्जित की, जिनमें से विशेष प्रसिद्ध श्री जगद्गुरू शंकराचार्य श्रीकृष्णवोधाश्रमजी जोर्तिमठ, श्रीकरपात्रीजी महाराज और श्रीज्वालादत्त ब्रह्मचारीजी थे जिन्होंने (ज्वालादत्तजी ने) २० वर्ष के लगभग नर्मदा के किनारे सघन वनों में सतत् साधना करते हुये यज्ञादि क्रियायें सम्पन्न की थीं। श्री ज्वालादत्त ब्रह्मचारीजी गायत्री ब्रह्मचारीजी के रूप में समस्त भारतवर्ष में प्रसिद्ध थे और मेरे अल्प ज्ञान की परिधि में भारतवर्ष में आज भी कोई ऐसा नहीं है जिसने गायत्री की उपासना में इतनी कुशलता प्राप्त की हो जितनी इन्होंने की थी और जो श्री जीवनदत्ताजी के शिष्य थे। इस समस्त कुशलता के पात्र थे श्रीजीवनदत्ताजी अधिष्ठाता नरवर महाविद्यालय। इसलिए यह अतिशयोक्ति न होगी यदि मैं सभी सनातनधर्मी पोषकों से अनुनय करूँ कि वे इस महाविद्यालय के उत्तरोत्तर उन्नयन में विशेष अभिरुचि लेकर इसे इसके विशेष रूप में प्रतिष्ठित कराकर (जो जीवनदत्ताजी के समय में प्राप्त था) गौरवान्वित होवें। वास्तव में यह विद्यालय द्वितीय काशी के रूप में ज्ञान के लिए विख्यात है। भारतवर्ष के लगभग समस्त शंकराचार्यों ने इस महाविद्यालय में पदार्पण किया और इस विद्यालय की तथा जीवनदत्ताजी ब्रह्मचारीजी की प्रशंसा करते न अघाये।

(बेंकटेश्वर शर्मा,)



जैसा मैं उन्हें देख पाया

(डॉ० गोवर्धननाथ शुक्ल, रीडर–अलीगढ़ विश्वविद्यालय)



पूज्यपाद ब्रह्मलीन श्रद्धेय जीवनदत्तजी महाराज का पुण्य स्मरण करते हुए आज हृदय पुलकित हो उठता है। स्मृति ग्रन्थ-समिति उन पुन्य श्लोक महात्मा के प्रति अपना ऋण-भार चुकाने को चेष्टा भर कर रही है यह प्रसन्नता की बात है। यह पीढ़ी उन पुण्यात्मा का पावन तर्पण करके कृत-कृत्य होना चाहती है, यह अवश्य ही शुभ लक्षण है। उस तीर्थपाद के चरणों में मैं भी अपनी वाङ्‌मयी अर्चा के कतिपय श्रद्धा-सुमन समर्पित कर कृतकृत्य होना चाहता हूँ।

साङ्गवेद-विद्यालय नरवर का अकिंचन छात्र होने का दुर्लभ अवसर मुझे अपने जीवन में कभी नहीं मिला। यद्यपि मेरी वंश परम्परा में संस्कृत पठन-पाठन अनिवार्य रहा है और कर्मकाण्ड मेरे पूर्वजों का सम्मान्य जीविका स्रोत रहा है, परन्तु मेरा संस्कृत अध्ययन पाठशाला-पद्धति (पौरस्त्य परिपाटी) से नहीं हुआ। स्कूल-कॉलिजों की कथाओं के अतिरिक्त मुझे संस्कृत-काव्य-व्याकरण का जो कुछ भी अल्पज्ञान उपलब्ध हुआ वह अपने पिता पूज्यपाद श्रीयुत यादवनाथजी शुक्ल के चरणों में ही बैठकर मिला। वे पूज्यपाद जीवनदत्तजीं के निकट मित्रों में से थे और उनके परम कृपा-भाजन थे। उसका एक रहस्य था—पूज्यपाद जीवनदत्तजी अलीगढ़ के निवासी थे और उनका उपनयन संस्कार मेरे पितामह पण्डित वैकुण्ठनाथ शुक्ल ने कराया था। इस घर से वेदमाता गायत्री का उपदेश ग्रहण करने के कारण वे इसे अपना 'गुरुघराना' मानते थे। उसी नाते वे पिताजी से अनुजवत् व्यवहार करते और हार्दिक स्नेह मानते थे। पूज्य जीवनदत्ताजी के जीवन काल में नरवर में जितने यज्ञ-यागादि समारोह हुए, जितने वार्षिक उत्सव हुए मेरे पिताजी साग्रह आमंत्रित किये जाते और पाण्डित्य के उनका कभी आचार्यत्व के रूप में, कभी ब्रह्मा और कभी वेदपाठी ऋत्विक् के रूप में वरण किया जाता था। मेरे पिताजी पूज्य जीवनदत्ताजी के प्रति इतने श्रद्धामय थे कि उनका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक वाक्य उनके लिए वेद तुल्य पालनीय होता था। उन्हीं की आज्ञानुसार मेरे अग्रज पंडित मथुरानाथ शुक्ल काव्यतीर्थ पंडित जीवनदत्ताजी के निकट सम्पर्क में रहे। मेरे अनुज पंडित त्रिलोकीनाथ शुक्ल तो वहाँ के स्नातक ही हैं। अग्रज अनुज अपने दोनों बन्धुओं के सन्दर्भ से मुझे अपने पिताजी के साथ नरवर की अनेक यात्राएँ करने का सुअवसर मिला और उन दुर्लभ क्षणों में पण्डित जीवनदत्ताजी के साक्षात् दर्शन एवं निकट से उनके वचनामृत पान करने का अवसर प्राप्त हुआ था। हम लोग उन्हें घण्टों घेरे रहते थे और अनेक प्रकार के प्रसंगों को सुनते-सुनाते रहते थे। भारतीय संस्कृति के वे मूर्तिमान् प्रतीक थे। मैं अँग्रेजी स्कूल में पढ़ता हूँ तब भी शिखा-सूत्र की मर्यादाओं का पालन करता हूँ'—यह सुनकर ही उनकी कृपा का भाजन बन गया था। संध्या समय टहलने और शौचादि कृत्य के लिये जाने पर वे हम लोगों को अपने साथ ले लेते थे और उस समय ब्रह्मचर्य पालन, व्यायाम, भारतीय वेशभूषा, संध्योपासन, गायत्री जाप, भगवदाराधन

जैसी अनेक जीवनोपयोगी बातों की चर्चा होती और वे जीवन–निर्माण की दिशा में अनेक प्रेरणाप्रद उपदेश देते। शुभ्रदन्तपंक्तियुक्त अखण्ड ब्रह्मचर्य से दमदमाता उनका मुखमण्डल अपनी दिव्यता में अभूतपूर्व था। वे हम लोगों से बाल-सुलभ माधुर्यपूर्ण छेड़छाड़ करते हुए हंसते-हंसाते थे। उनके सौशील्य, मार्दव में एक ऐसा मोहक आकर्षण था जो कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके व्यंग्य में लेशमात्र कटुता नहीं थी। उनके उपदेश रुक्ष अथवा बोझिल नहीं थे। उनकी उपदिष्ट जीवनचर्या अव्यवहार्य नहीं थी। उनका विद्या का संग अनुकरणीय और प्रेरणा स्फूर्तिप्रद थी। वे जगत् के लिए स्वयं 'जीवन-दत्त' थे, जगत् को भी जीवन देते थे। संस्कृत-साहित्य, भारतीय संस्कृत के कट्टर पोषक होकर भी देश-काल के अपूर्व ज्ञाता थे। उन्होंने अंग्रेजी भाषा-साहित्य के पठन-पाठन की व्यवस्था भी नरवर में की थी और तत्कालीन देश की सभी राजनीतिक गतिविधियों का गम्भीर ज्ञान रखते थे। परन्तु छात्रों के लिए उनका दृढ़ आदेश था कि "सभी प्रकार के आन्दोलनों से अछूते रहकर पहले विद्याभ्यास करलो, लक्ष्य की पूर्ति के बाद ही अपना कार्य क्षेत्र निर्धारित करो।' विद्यार्थी जीवन के लिए उनका यह उपदेश कितना तथ्यपूर्ण, सारमय और त्रैकालिक सत्य से भरा हुआ था इसकी सहज कल्पना आज भी भली भाँति की जा सकती है। उनका स्वयं का जीवन पावन गंगा की भाँति निर्बाध प्रवाहमान अखण्डतपोमय एवं शान्तिमय था। तपस्या और वैदुष्य के दुर्लभ मणि-काञ्चन संयोग के वे ज्वलंत उदाहरण थे। पवित्रता और साधना की अलौकिक दिव्य-भूमि पर रहते हुए भी वे अत्यन्त व्यावहारिक थे। विद्यालय में आये हुए अतिथि की भोजनाच्छादन की चिंता बराबर रखते थे। विद्यालय के छात्रों की छोटी से छोटी समस्या को सावधानी से सुनकर उसका संतोषप्रद हल तत्काल प्रस्तुत कर देते थे। अकिंचनता में दृढ़ आस्था रखते हुए भी वे किसी प्रकार के अभाव को निकट फटकने नही देते थे।

सिद्धियाँ उनकी गृहदासियाँ थीं। उनके जीवन काल में ही नरवर का सांगवेद विद्यालय उन्नति के शिखर पर पहुँच गया था। विद्यालय न केवल ब्रह्मचर्याश्रम ही था अपितु पुरातन गुरुकुल पद्धति का एकान्त आदर्श था। वहाँ के गृहस्थी आचार्यगण भी प्रसन्नता और सुख पाते थे तथा सेवा निवृत्त वीतराग भी वहाँ वानप्रस्थी जीवन बिताते थे। सन्यासियों का तो वह आश्रम स्थल ही था। इस प्रकार श्रद्धेय जीवनदत्तजी के जीवन काल का नरवर महाभारतकालीन गुरुकुलों का स्मरण करा देता था। सांगवेद विद्यालय आज उनकी अक्षय कीर्ति का मूर्तिमान प्रकाशस्तम्भ बना हुआ है। आवश्यकता है कि एक पुण्यश्लोक की यह पावन संस्था अनुदिन उन्नति पथ पर अग्रसर होती जाय तभी राष्ट्र सच्चे रूप में उनके प्रति अपना ऋण शोधन कर सकेगा। वही सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।



आचार्य प्रवर ! मेरी विनम्र श्रद्धांजलि

(श्री वृन्दावनदासजी मथुरा)

श्रद्धेय पं० बनारसीदासजी चतुर्वेदी कई वर्षों से निरन्तर अपने पत्रों में साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर और उसके संस्थापक स्व० आचार्य जीवनदत्तजी शर्मा के विषय में हमको लिखा करते थे। एक ही बात को बार बार दुहराने की प्रवृत्ति से कुछ लोग भले ही ऊब जाते हों हमारी तो भावना यह है कि व्यस्तता के इस युग में निरन्तर पुनरावृत्ति से ही मनःपटल पर किसी प्रकार संस्कार जमने की सम्भावना होती है अन्यथा लोग सुझावों को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देने के अभ्यस्त हो गये हैं। चतुर्वेदीजी की सतत् प्रेरणा का असर हुआ और हमने आचार्यजी के स्मृति-ग्रन्थ के निर्माण एवं प्रकाशन की दिशा में अपने विनम्र प्रयास का श्रीगणेश कर दिया। हमने ब्रजभारती में चतुर्वेदीजी के 'आचार्य जीवनदत्त शर्मा स्मृति ग्रन्थ' शीर्षक लेख को उद्धृत कर उसके साथ अपना नम्र निवेदन और संलग्न कर दिया। हमने इस लेख और नम्र निवेदन को दो पृष्ठों के एक पत्रक के रूप में छाप कर लगभग १०० विद्वानों की सेवा में भेजा तथा उनको व्यक्तिगत पत्र भी लिखे। हमारे पास पं० जगन्नाथप्रसादजी आयुर्वेदाचार्य, फीरोजाबाद, डा० हरिदत्त शर्मा कायमगंज, डा० गयाप्रसादजी उपाध्याय, आचार्य रामदत्तजी, वैद्य रामजीलालजी आदि कई सज्जनों ने सहानुभूतिपूर्ण और आश्वासनजनक पत्र भी भेजे। हम फीरोजाबाद जाकर आयुर्वेदाचार्य पं० जगन्नाथप्रसादजी एवं पंडित बनारसीदासजी चतुर्वेदी से इस सम्वन्ध में मिले भी। अभीष्ट स्मृति ग्रन्थ की आवश्यकता पर बल देते हुए कई लेख भी समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए। सारांश यह कि ग्रन्थ-निर्माण की दिशा में बहुत शीघ्र एक वातावरण बन गया।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥

आचार्य जीवनदत्तजी प्रकाण्ड विद्वान् और धुरन्धर वेदज्ञ थे। उन्होंने निःस्वार्थ भाव से देववाणी की सेवा की। उन्होंने गंगा के तीर स्थित उस सुरम्य भूमि में अनेक छात्रों को दीक्षित किया। उनके बहुत-से छात्रों में आज कोई मठाधीश, कोई प्राचार्य, कोई धर्माचार्य और कोई उच्च सन्त और धर्माध्यक्ष हैं, सामान्य शिक्षकों और पण्डितों की बात तो जाने दीजिये। स्मृति ग्रन्थ का प्रकाशन तो आचार्यजी की श्रद्धा में अर्पित एक पुष्प ही है। आचार्यजी को सच्ची श्रद्धांजलि तो उस दिन अर्पित समझी जायगी जिस दिन वर्तमान विद्यालय के स्थान पर एक संस्कृत महाविद्यालय, संस्कृत साहित्य शोध केन्द्र और एक महान् सांस्कृतिक स्थल दृष्टिगोचर होंगे। आचार्यजी के पुण्यश्लोक जीवन की स्मृति प्रस्तावित नवीन संस्थाओं को सदैव प्रेरित करती रहेगी।

आचार्यजी की जीवन-चर्या, इच्छिता-क्रिया, उनका विशिष्ट व्यक्तित्व, उनकी सारस्वत साधना, उनका विलक्षण कृतित्व, उनके सहयोगी समकालीन विद्वानों की चर्चा, उनका 'शिष्य-

चिन्तापहारक गुरुः' का दिव्य स्वरूप, उनकी अनुभूतियाँ और प्रभाव आदि विषय ऐसे हैं जिन पर अध्ययन, मनन और चिन्तन करने से समाज को और विशेषकर तरुण विद्यार्थी वर्ग को असीम प्रेरणा प्राप्त होगी। आचार्यजी से सम्वन्धित वर्तमान विद्वत्समाज में अनेक किम्वदन्तियाँ प्रचलित हैं। उनके प्रिय शिष्य गुरुदेव के प्रति श्रद्धावनत होकर अनेक मधुर संस्मरण सुनाते हैं। आचार्यजी अपने शिष्यों के मध्य किसी प्रकार का भेद-भाव न रखते थे। विद्यालय का प्रत्येक शिष्य समान भाव से आचार्यजी की कृपा का अधिकारी होता था। कवि की उक्ति,

"अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानाम् तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

आचार्यजी की प्रकृति पर बावन तोले पाव रत्ती खरी उतरती थी। आचार्यजी के गौरव गान की महिमा से मण्डित होकर आज हम सव स्वयं गौरवान्वित हो रहे हैं।

---

* श्रीहरिः *

तपः पूत व्यक्तित्व।

(श्रीभगवान गुवरेले, फीरोजावाद)

सन् १९५१ की वात है। मैं शिकोहावाद पढ़ता था। एक दिन श्री गंगेश्वर संस्कृत पाठशाला के सामने से निकलता हुआ कालेज जा रहा था कि अचानक मेरी दृष्टि पाठशाला की ओर गई। मैंने वहाँ बरामदे में एक नई अवस्था के ब्रह्मचारी को सूर्य के सम्मुख खड़े होकर हाथ में माला लिए जप करते देखा। उनके दर्शन से स्वाभाविक ही उनका परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा हुई। पाठशाला से थोड़ा आगे चलकर मेरी भेंट अपने कालेज के एक अध्यापक महोदय से हुई जो उस दिन अपने कालेज की ओर न जाकर उपरोक्त पाठशाला की ओर चले जा रहे थे। मैंने उनसे पूछा कि आप इधर कहाँ जा रहे हैं? उन्होंने बताया कि परमपूज्य जीवनदत्तजी महाराज कुछ समय के लिए संस्कृत पाठशाला पर ठहरे हैं। मैं उनके दर्शनार्थ वहाँ जा रहा हूँ। मैं भी उनके साथ चलने की अनुमति लेकर उनके साथ हो लिया और ऊपर की मंजिल में खुली छत पर जहाँ श्रीमहाराजजी विराज रहे थे हम दोनों पहुँच गये।

श्री महाराजजी जप कर रहे थे। उस समय और भी भक्त जो श्रीमहाराजजी के साथ ही आये थे, बड़ी तन्मयता से पूजा-पाठ और भगवान की सेवा कर रहे थे। वहीं एक सिंहासन में ठाकुरजी विराजमान थे और भक्त बड़े प्रेम से ठाकुरजी को स्नानादि कराकर फल-फूलों से पूजा कर रहे थे। श्री महाराजजो प्रश्न करने वालों को उस समय भी जबकि वह जप कर रहे थे संस्कृत भाषा में उत्तर दे रहे थे। वैसे तो संस्कृत भाषा में स्वाभाविक ही मिठास है किन्तु श्री महाराजजी के मुख से निकली हुई वाणी तो और भी अधिक कर्ण-सुखद तथा मनोमुग्धकारी थी। उस दिन श्री महाराजजी की उपस्थिति में मैंने वहाँ जो सुन्दर सुखद और पवित्र करने वाला वातावरण देखा वह आजीवन विस्मृत नहीं हो सकता।

इस प्रकार हमें श्रीजीवनदत्तजी महाराज के दर्शन का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ और कुछ समय पश्चात हम अपने कालेज को चले आये।

* श्रीहरिः *

कलिकाल के महर्षि

(श्यामलाल शर्मा, प्रधानाचार्य धर्मसंघ महाविद्यालय, दिल्ली)

यद्यपि मैं पूज्यपाद श्रीमहाराज के यशोगान को सन् १९३३ से जब कि मेरा प्रवेश संस्कृताध्ययन के लिए योगेश्वर संस्कृत विद्यालय डिबाई में हुआ, सुना करता था। एक दो बार उसी समय डिबाई नगर में भी महाराजश्री का शुभागमन परमपूज्य परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीविश्वेश्वराश्रम पण्डित स्वामीजी महाराज के साथ हुआ था। मैं केवल चौदह वर्ष का उस समय था। बाल सुलभ सङ्कोचवश प्रणाममात्र शिष्टाचार से उनके चरण स्पर्श कर बैठ जाया करता था। सन् १९३७ में जब पण्डित स्वामीजी का निर्वाण महोत्सव बड़े धूमधाम के साथ मनाया जारहा था, उस समय मैं मध्यमा चतुर्थ वर्ष में उक्त विद्यालय में अध्ययन कर रहा था। आसपास के ही नहीं प्रत्युत सुदीर्घ देश के महात्मा, विद्वान, साधु, संन्त और भक्त मण्डली इस पवित्र निर्वाण महोत्सव में भाग लेने उपस्थित हुई थीं। मैं भी उत्सुक हृदय से इस समारोह के दर्शनार्थ श्री साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर पहुंचा। वास्तव में जहां भागीरथी गंगा का अविच्छिन्न प्रवाह अपनी कल-कल ध्वनि से पश्चिम से पूर्व तक दिग्-दिगन्त को झङ्कृत कर रहा था वहां निर्वाण-महोत्सव की ज्ञान-गङ्गा अध्यात्म पिपासुओं की पिपासा शान्त करने में कुछ कम न थी।

यति चक्रचूड़ामणी धर्मसम्राट स्वामी करपात्रीजी महाराज वर्तमान में ज्योतिष्पीठाधीश्वर श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज, पूज्यपाद श्री उडिया स्वामीजी महाराज प्रभृति अनेक चोटी के संन्त निर्मल गङ्गा की लहरों के समान अपने परम पवित्र और उपादेय उपदेशों से जनता का आह्लाद कर रहे थे। साथ ही पण्डितप्रवर श्रीहारायणचन्द्र भट्टाचार्य (कलकत्ता) विद्वन्मूर्धन्य श्री पं० परमानन्दजी (खुर्जा), श्रीपण्डित कुबेरदत्त शास्त्री खुर्जा, श्री पण्डित विजयप्रकाश शर्मा प्रधानाचार्य सांगवेद महाविद्यालय नरवर, श्री पं० मायाराम शास्त्री, कविरत्न शास्त्रार्थ पञ्चानन श्री पं० अखिलानन्द शर्मा आदि अनेक उद्भट विद्वान् इस महायज्ञ में पधारे थे। धर्म-सम्राट स्वामी करपात्रीजी का उस समय उदीयमान सूर्य सर्वत्र प्रकाश दे रहा था। स्वामीजी महाराज उस समय पद-यात्रा करते थे। एक लंगोटी और एक धौत-वस्त्र के अतिरिक्त और परिधान आदि नहीं रखते थें। स्वामीजी महाराज की प्रखर बुद्धि से बड़े बड़े विद्वान चकित होते थे। निरन्तर चार चार घन्टे तक अविच्छिन्न धारा-प्रवाह से अर्द्ध संस्कृतनिष्ठ हिन्दी में भाषण करते थे। साधारण जनता की तो बात ही क्या है अच्छे पढ़े लिखे भी दांतों के नीचे अंगुली दबाते थे। उस समय मैंने श्रीमहाराज स्वनामधन्य जीवनदत्तजी को और निकट से देखा। उनकी मुसकाती भोली-भाली मुख-मुद्रा आज भी भुलाई नहीं जाती। एक खद्दर का कटि वस्त्र कन्धे पर श्वेत खद्दर का अङ्ग-प्रोक्षण मात्र ही उनका पहनावा था। सभा के मध्य में बैठे हुए भीष्मपितामह की भांति सुशोभित

रहते थे। त्रिकाल सन्ध्योपासन एवं मध्याह्नपर्यन्त गायत्री जप से कभी भी च्युत नहीं हुये। इतने बड़े महोत्सव में व्यस्त रहते हुए भी नित्य नियम निर्वाह में उनकी अबाध निष्ठा को देखकर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। सत्युग के सन्त, ऋषियों की भांति वे इस कलिकाल के महर्षि थे। उनके पास जो व्यक्ति आगया, भले ही वह किसी भी धर्म में दीक्षित क्यों न हो श्रीमहाराज से बात करने पर प्रसन्न मुद्रा में ही जाता था। उनके निकट धनीमानी, सेठ साहूकार, राजकीय अधिकारी आदि सब प्रकार के व्यक्ति आते थे। आश्रम की कुटी में बैठकर ही उन्होंने बड़े बड़े प्रतापी पुरुषों की भांति अपने यशस्वो जीवन का चमत्कार दिखाया।

इसके पश्चात् मैं सन् १९३९ में शास्त्री द्वितीय वर्ष में अध्ययन करने गया। इस समय से लेकर सन् १९४३ पर्यन्त जब कि मैंने व्याकरणाचार्य उत्तीर्ण किया श्रीमहाराज को चरण-सन्निधि में निरन्तर रहने और उनको अत्यन्त समीप से देखने का अवसर प्राप्त किया। वे परिनिष्ठित-स्वरूप वाले तपे-तपाये तपस्वी, विद्वान और कर्मण्य थे। यदि उनके जीवन का अनुकरण प्रत्येक ब्राह्मण कर सके तो निश्चित ही विश्व का विप्लव समाप्त हो जाये।

वैसे तो वे ब्राह्मणों के क्या प्राणीमात्र के हितैषी थे। किसी भी धर्म का कोई व्यक्ति वहां आजाये उनसे बिना प्रभावित हुये नहीं रहता था। अधिकांश में वे अपनी प्रखर मनोषा एवं समभाव से प्रत्येक आगन्तुक को प्रभावित कर देते थे। उनमें एक विशेष गुण था, जो प्रायः देखने में नहीं आता। जो भी गुणी व्यक्ति उनकी निगाह में जँच जाता था वे उसे बिना आश्रम में लाये नहीं रहते थे। महामहोपाध्याय श्री हारायणचन्द्र भट्टाचार्य (कलकत्ता), म० म० पं० गिरधर शर्मा चतुर्वेदी पण्डितप्रवर श्रीभीमसेनजी प्रभृति अनेक विद्वान् इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। शास्त्रार्थमहारथी पं श्रीमाधवाचार्यजी को भी वे अपने आश्रम में ले गये थे। बड़े से बड़े सन्त, महात्मा, तपस्वी उनकी इच्छा से वहां पहुंचते रहे।

सांगवेद महाविद्यालय जो उनके जीवन में अंकुरित हुआ, उनकी देख-रेख में पुष्पित, पल्लवित और फलित हुआ। बड़े बड़े सुमना मनीषी वहां से निकले जो दिग्दिगन्त में महाराजश्री के नाम की सुगन्धि पहुंचा रहे हैं। उनके सम्बन्ध में तुच्छ लेखनी क्या लिख सकती है। वे वर्तमान काल के ऋषि थें। बिल्ववृक्ष के नीचे सायंकाल को बैठते। वेदों का सस्वर पारायण होता। व्याकरण, न्याय, वेदान्तादि पर शास्त्रार्थ होते। वे सुनते तो प्रसन्न होते और छात्रों को प्रोत्साहित करते थे।

उन्होंने विद्यालय संचालन के लिये किसी से चन्दा नहीं मांगा, याचना नहीं की, उनकी तपस्या का बल और परम पुनीता श्री भागीरथी की महिमा जो कि अरण्य में बैठकर वे कुलपति कहलाये।

उस निर्जन प्रान्त की विविक्त कुटीर में कौन तपस्वी बैठा अतीत और अनागत का सन्तुलन कर रहा है। उनका स्वप्न था, ब्राह्मण कैसे उन्नत हों। वे अपना कलेवर देकर भी उसका हित चाहते थे। उनकी लेखनी में यह जादू था, यदि शत्रु को भी पत्र लिख दिया तो वह उसे अन्यथा

नहीं कर सकता। वे एकान्तप्रिय थे। बड़े-बड़े नगरों के वातावरण से उद्विग्न और भयभीत रहते थे। अतएव वे अधिकांश में सभाओं, यज्ञों, अधिवेशनों में जाना पसन्द नहीं करते थे।

परमपूज्य धर्मसम्राट श्रीस्वामी करपात्रीजी महाराज का तपोबल जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच रहा था तब महाराजजी को भी उन्होंने अपनी ओर खींच लिया। उन्हें बड़े-बड़े नगरों के चाकचक्य से अछूता न छोड़ा। दिल्ली का शतमुख कोटिहोमात्मक महायज्ञ इसका परिचायक है। महाराजजी ही इस महायज्ञ के यजमान थे। पं० श्रीधरवीर शास्त्री नासिक इस महायज्ञ के आचार्य थे। इसके पश्चात् बम्बई में होने वाले महायज्ञ में भी महाराजश्री पधारे। वहाँ से ज्योतिष्पीठाधीश्वर अनन्त श्री स्वामी कृष्णबोधाश्रमजी महाराज के साथ-साथ रामेश्वरजी की यात्रा में गये। सन् १९४७ में जब भारत का विभाजन हो रहा था दिल्ली में परमपूज्य स्वामी करपात्रीजी द्वारा देश की अखण्डता के लिये लक्ष-चण्डी महायज्ञ का आयोजन किया गया। महाराजश्री उस यज्ञ के भी यजमान रहे। वेद के प्रकाण्ड विद्वान् घनान्त अध्येता श्री पं० रामनाथजी इस महायज्ञ के आचार्य रहे। यह लक्षचण्डी महायज्ञ लगभग ३ मास निरन्तर चला।

इस प्रकार महाराजजी के जीवन में जीवन की ज्योति झलकती है। उनके संस्मरण अनन्त हैं। कहाँ तक लिखे जा सकते हैं। उनके संस्मरणों से वाणी एवं लेखनी को पवित्र करना ही सार है। उनके प्रत्येक आचरण में अलौकिकता के दर्शन होते हैं। जब वे गंगास्नान जाया करते थे साथ में पण्डित और छात्र भी पीछे पीछे चलते थे, मार्ग में शास्त्रीय प्रसंगों को हँसते हुये छेड़ा करते थे। मुझे स्मरण है एकबार वे कालिज शब्द की व्याख्या करते हुये कहने लगे कि कल्कौ जातः कलिजः, कालेज एवं कालिजः" बहुत आकर्षक उनकी यह व्युत्पत्ति है। अर्थ भी वैसा ही है जैसा कि आजकल के कालेजों में सर्वात्मना घटित होता है। इस प्रकार उनकी विलक्षणता को सर्वात्मना सर्वरूपेण लिखना सम्भव नहीं।

महाराजश्री के सम्बन्ध में एक संस्मरण

(डा० कैलाशचन्द्र भाटिया, नन्दन मैरिस रोड, अलीगढ़)

महाराजश्री जीवनदत्तजी एक ज्ञानवान् तथा निष्ठावान् और आदर्शवान् विशिष्ट पुरुष थे। उनका जीवन त्यागमय था। भारतीय संस्कृति और संस्कृत वाङ्मय का अगाध भण्डार उनके पास था। उनको वेदों का यथार्थ ज्ञान था। वे भारतीय संस्कृति और ज्ञानधारा के महान् प्रचारक थे। ज्ञान के प्रसारण हेतु उन्होंने भागीरथी के किनारे कलकत्ते के समीप नरवर ब्रह्मचर्याश्रम एवं सांगवेद विद्यालय की स्थापना की थी। महाराजश्री ही इसके संस्थापक, व्यवस्थापक और कुलपति थे।

महाराजजी को भारतीय संस्कृति एवं वाङ्मय के प्रति असीम लगाव था। वे ज्ञान के प्रसारण के लिए यज्ञ, सभाएँ और समारोह करते थे, जिसमें दूर-दूर से संस्कृत के पण्डित, बड़े आचार्य

और कई मेधावी विद्याधरों को आमन्त्रित करते थे। उनकी लगन, परिश्रम तथा प्रयास से सभी समारोह सफलतापूर्वक सम्पन्न होते थे।

सन् १९३२ की वह असाधारण घटना याद आती है। बैसाख मास में सांगवेद विद्यालय में महाराजजी के प्रयास से यज्ञ समारोह सम्पन्न हुआ। इस यज्ञ में अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने भाग लिया। काशी के महान् पण्डित तथा न्यायमीमांसा के ज्ञाता स्वामी विश्वेश्वरानन्दजी, वृन्दावन के ज्ञान-शिरोमणि उड़िया बाबा, खुर्जा के आयुर्वेदाचार्य नारायणदत्तजी तथा अलीगढ़ विश्वविद्यालय के आचार्य श्री रामस्वरूप शास्त्रीजी भी वहाँ यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। यज्ञ के उपरान्त सभी प्रतिष्ठित विद्वान् अपने-अपने आसन पर सुशोभित हो रहे थे, महाराजजी ने वहीं पर विद्वानों में शास्त्रार्थ करने का विचार प्रस्तुत किया। विषय रखा गया कि यह सिद्ध किया जाय कि वेद पौरुषेय हैं अथवा अपौरुषेय।

आचार्य रामस्वरूप शास्त्रीजी ने कहा कि आप लोग इसका एक पक्ष निश्चय करलें। सभी विद्वानों ने 'अपौरुषेय' पक्ष ग्रहण किया। शास्त्रीजी ने इस प्रकार प्रमाणित किया कि "न्यायदर्शनकार का सिद्धान्त है कि वेद पौरुषेय हैं अपौरुषेय नहीं हैं। अपौरुषेय मान्य में वेदों की प्रामाणिकता नहीं हो सकेगी, क्योंकि प्रमा बुद्धि मानी जाती है। बुद्धि किसी पुरुष की होनी चाहिए। प्रमा नाम यथार्थ ज्ञान। जहाँ प्रमा है वहाँ प्रमेय, प्रमाण और प्रमाता होते हैं, इसलिए प्रमा का आधार आत्मा अर्थात् कोई पुरुष होना चाहिए। प्रमाण द्वारा ज्ञान होने पर वेद प्रमाण हैं। अतः वेद पौरुषेय हैं।

अपौरुषेयवादियों की ओर से फिर प्रश्न हुआ—"वेदों को पौरुषेय मानने पर प्रामाणिकता नहीं हो सकती, क्योंकि पुरुष को मद, मोह और लिप्सा होना स्वाभाविक है। इस कारण वेदों को पौरुषेय नहीं मानना चाहिए।

शास्त्रीजी ने पुनः उत्तर दिया, नहीं, आप्त पुरुष का वाक्य शब्द प्रमाण है। आप्त वाक्य वह कहा जा सकता है जो आप्त पुरुष का वाक्य है। आप्त का अर्थ है—यथार्थ ज्ञाता। यथार्थ ज्ञानवान् वह है जो रागादि दोषों के वशीभूत होकर अन्यथा कथन नहीं करता। इस कारण यथार्थ वक्ता आप्त है' उसका वाक्य शब्द है और शब्द प्रमाण द्वारा वेद प्रामाणित हैं। नवीन रूप से वेदों का कथन नहीं किया गया। वे अनादि हैं, अनित्य हैं।

वेदों का अनित्य वाक्य रूप में कथन नहीं किया गया, किन्तु वेदों का ब्रह्मा द्वारा आविर्भाव हुआ है उसी प्रकार जैसे मृत्तिका द्वारा घट बनाया जाता है और सूत द्वारा कपड़ा निर्मित होता है; मृत्तिका में घट और सूत में कपड़ा निहित है। अतः वेद पौरुषेय सिद्ध होते हैं। यह न्यायशास्त्र का सिद्धान्त युक्तियुक्त है। वेदः प्रमाणं–यह उपनिषद का वाक्य प्रसिद्ध है।

इस प्रकार आचार्यजी ने युक्तियुक्त यह सिद्ध किया कि वेद पौरुषेय हैं। तदुपरान्त व्याकरण सम्बन्धी अन्य चर्चा भी सम्पन्न हुई। तत्पश्चात् यह शास्त्रार्थ करने वाली तथा सबको लाभ पहुँचाने वाली सभा सफलतापूर्वक समाप्त हुई।



दुष्प्राप्य और दुस्त्याज्य नरवर

[रेखाचित्र और संस्मरण]

डा० शंकरदेव अवतरे आचार्य, एम.ए., पीएच.डी., डी. लिट्
प्रधानाचार्य, यूनिवर्सिटी कालिज मोतीबाग, नई दिल्ली–२३



संवत् १९६७ की गुरु-पूर्णिमा का दिनमान अपने यौवन-बिन्दु पर था जिस समय पं वंशीधर शास्त्री (रामपुर वाले) मुझे और मेरे बड़े सहोदर भ्राता श्री रघुवरदयालु को साथ लेकर सांगवेद महाविद्यालय नरवर के प्राचीर में प्रवेश कर रहे थे। मेरे सामने एक ओर तो नरवर का वह चित्र था जो आचार्य वंशीधरजी ने अनूपशहर से नरवर तक की पद-यात्रा के बीच खींचा था और दूसरी ओर नरवर की वह हुलिया थी जो प्रत्यक्ष मेरी आँखों में उभर रही थी। साध्वस कुतूहल के साथ मैंने दोनों में सामंजस्य बिठाना चाहा पर सफलता न मिली। मतलब यह कि जिसे वंशीधरजी ने आध्यात्मिक अर्थ में बड़ा कहा था उसे मैंने बाह्यार्थ प्रतिपत्तियों में बड़ा समझने की भूल की थी और इसीलिए मेरे माथे में एक प्रश्न चुभने लगा। मैंने जिज्ञासा प्रकट की थी, 'गुरुजी, आप हमें अनूपशहर की पाठशाला से क्यों निकाल लाये हैं?' उन्होंने एक कुशल वैद्य की भाँति दृढ़ता के स्वर समाधान किया था—'इसलिए कि वहाँ की पाठशाला दम तोड़ रही थी।'

इस बात से मुझे कुछ बेचेनी सी हुई थी। एक वर्ष जिसकी गोदी में पले थे उसे मृत्यु-शय्या पर लम्बी साँस लेते हुए छोड़ आना कृतज्ञता तो नहीं थी, और चाहे जो हो। मुझे ध्यान आया कि इसी प्रकार चन्दा कुंवर संस्कृत पाठशाला (शिकारपुर) ने भी मुझे एक संस्कृत छात्र के रूप में जन्म देकर इस संसार से आँख मीच ली थीं। और तब हमारे प्रथमा के गुरुदेव पं० श्यामलाल शास्त्री (महमूदपुर वाले) ने हमें अनूपशहर पहुँचा दिया था। मुझे लगा जैसे इतिहास अपने आप को दुहरा रहा है। फलतः दूध से जले हुए मैंने मट्ठा को फूंक मारनी प्रारम्भ की थी। अर्थात् पं० वंशीधरजी से मैंने डरते-डरते पूछा था :—

'गुरुदेव, क्या सांगवेद महाविद्यालय आपकी मातृ-संस्था है?'

'हाँ, मेरी पूरी शिक्षा-दीक्षा यहीं पर हुई है।'

'तब तो मुझे डर है कि इस संस्था से आपकी गहरी ममता होगी'

'तो इसमें डर किस बात का है?'

'यही कि हम दोनों भाई जिस पाठशाला में जाते हैं उसके अन्तिम दर्शन ही हमारे भाग्य में बदे होते हैं। हमारे इस नक्षत्र को समझकर ही आप हमें अपनी मातृ-संस्था में लाते तो अच्छा था।'

यह सुनकर पंडितजी हँसते-हँसते विखर गये थे। फिर किंचित् गम्भीर होकर उन्होंने सांगवेद महाविद्यालय नरवर की अचल प्रतिष्ठा का आख्यान किया था। इसी प्रसंग में उन्होंने इस संस्था के कुलपति महाराजश्री जीवनदत्त ब्रह्मचारी के अनेकानेक लोकातीत अचम्भों का विवरण दिया था। मतलब यह कि पण्डितजी ने यात्रा के प्रसंग में ही महाराजश्री के व्यक्तित्त्व के प्रति श्रद्धा के अंकुर हमारे हृदय में पैदा कर दिये थे और जिस समय हम नरवर के बगीचे में पहुँचे तो हमने देखा कि वे श्रद्धा के अंकुर बड़े-बड़े वृक्ष बनकर खड़े हुए हैं।

यहीं महाविद्यालय की जड़ में पहुँचकर पं० वंशीधरजी ने आग्नेय कोण में स्थित चट्टान जैसी ऊँचाई की ओर हाथ उठाकर कहा था–'देखिए, यही सांगवेद महाविद्यालय नरवर हैं।' महाविद्यालय की जड़ में पहुँचने का मतलब है कि हम नीचे वाले अर्थात् विहारघाट के रास्ते से नरवर पहुँचे थे। यह रास्ता युग-युग से बहती हुई गंगा की उन उद्दाम लहरों का स्मारक है जो आज लगभग तीस फुट तक की ऊँची कटानों में अपने गतिमय जीवन का रेखा-चित्र छोड़ गई हैं। इन कटानों की भ्रकुटी पर उगने वाले पेड़ों के पैरों की मिट्टी प्रत्येक बरसात में निकल जाती है और वे गंगा को ओर उलट कर शीर्षासन करने लगते हैं। दर्शन की भाषा में वे 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' का निगमन कराते हैं। इन्हीं कटानों की उत्तरी करवट में सहारे सहारे चलने वाली पगडंडी अपने साथी डगर के साथ झाड़-झंकाड़ों में आँख-मिचौनी खेलती हुई आगे बढ़ती है। मुझे पहली-पहली बार पता चला था कि साधना का मार्ग कितना वक्र और बन्धुर है।

नीचे वाला रास्ता विहारघाट वाला कहलाता है तो ऊपर वाला रास्ता राजघाट वाला कहलाता है। राजघाट स्टेशन से कलकत्ती-नरौरा के लिए पक्की सड़क जाती है जिसके एक सिरे पर 'स्टेशन-बैगन' की पतली लोह-पटरी अनुशयाना नायिका की तरह शान्त पड़ी हुई है। ढकनगरा के पास यह सड़क एक कच्ची डगर को अपनी प्रिय दूती की तरह नरवर की ओर भेजती है। नीचे वाला मार्ग यदि महाविद्यालय के उत्तर में गंगा के बांध पर लम्ब की तरह पड़ता है तो ऊपर वाला मार्ग महाविद्यालय के 'गृहस्थाबाद' (जहाँ अधिकांश अध्यापकों के घर हैं) की करवट से जा मिलता है। इन दोनों मार्गों के मिलने पर जो अधिक-कोण बनता है उसके भीतर 'फकीराबाद' के कुटीर आकाश के सप्तर्षियों की भाँति चमकते हैं। कोण-बिन्दु पर गंगा-बाँध को महाविद्यालय से मिलाने वाली पक्की सीढ़ियां हैं जिनके पूर्व में स्व० शिकारपुर वाले बाबा की कुटी के ऊपर से महाराजश्री की कुटिया, पुष्प पर किंजल्क की तरह विराजमान है। पूर्वीय भाग में यज्ञशाला और गोशाला दो सगी बहनों की भाँति मिली हुई हैं। इस भाग के आवास, अध्यापक, ब्रह्मचारी, छात्र, वेदपाठी, कर्मकाण्डी, गृहस्थी, प्रबन्धक, संयोजक, संघटक आदि-आदि की तिल-तण्डुलमयी स्थिति के कारण संसृष्टि अलंकार के नमूने हैं। एक बार महाराजश्री ने संस्था के इस भाग को ऋचा के प्रणव (ओंकार) के समान सर्वोत्तम कहा था।

और कलकत्ती-नरौरा के रूप में नरवर ने अपने दोनों हाथ मानो प्रातःकालीन सन्ध्योपासना में सूर्य की ओर जोड़ रखे हैं। यहाँ गंगा से निकलती हुई नहर-नरौरा किसी आर्ष काव्य के प्रेमोपाख्यान की तरह सुशोभित है। सुनते हैं, इस नहर के ठेकेदार को एक निराश प्रेमी की तरह आत्म-

हत्या करनी पड़ी थी क्यों कि वह इसकी (नीची खुदाई के रूप में) अधिक गहराई में चला गया था। यहाँ लगे हुए एक नल का तुषार-शीतल जल आज भी उस शाश्वत विरह के ठंडे उच्छ्वास की तरह निकलता है।

हाँ तो, बात यहाँ से विट्ट गई थी कि नरवर को अमराइयों में पहुँचकर वंशीधरजी शास्त्री ने पूर्व-दक्षिण की अधित्यका जैसी उठान की ओर हाथ उठाकर कहा था कि 'यही सांगवेद महाविद्यालय नरवर है।' कुछ पूर्व में गंगा-बांध दिखायी दिया जो गंगा के साक्षात् अनुग्रह की भाँति महाविद्यालय की सीढ़ियों को छूता है। 'धर्मस्य त्वरितागतिः' का अनुसरण करते हुए हम लोग सीढ़ियों के ऊपर पहुँच गये। साहित्य-भवन के आगे से महाविद्यालय का प्रधान द्वार मूर्तिमान् विवेक की तरह खुला हुआ था। सामने ही 'अथातो धर्म-जिज्ञासा' का प्रतीक वेद-भवन दिखाई दिया और साथ ही महाप्रांगण में आस्था का प्रतीक देवालय। गुरु-पूजा का दिन था अतः सभी प्राध्यापकों और छात्रों के ऊपर हँसमुख हरियाली थी। पं० वंशीधर शास्त्री का हमें पहले से ही निर्देश था कि केवल संस्कृत में ही वार्तालाप किया जाय और उनकी इस सूझ-बूझ का पता हमें उस समय चला जब हमारी सहज संस्कृतज्ञता पर प्रधानाचार्य श्री विजयप्रकाशजी 'फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र' हो गये और हम पहले ही दिन चित्रपट के सितारों की तरह प्रकाश में आ गये।

मनुष्य सर्वोत्तम पशु है

उसी दिन सायंकालीन विधि के उपरान्त पं० वंशोधर शास्त्री हम दोनों भाइयों को महाराजश्री से मिलाने ले गये। हमने अभिवादन किया और शास्त्रीजी ने हमारा परिचय संक्षिप्त दिया। महाराजश्री ने बैठने का संकेत किया और हम लोगों ने आसन ग्रहण किया। यह समय वह था जब भक्त लोग महाराजश्री के चरण दबाया करते थे। पंडितजी ने निर्देश किया और हम दोनों भाई महाराजश्री के चरणों के पास पहुँच गये। पर मेरे मन में चोर था। श्रद्धा की अपेक्षा परीक्षा की भावना अधिक प्रबल थी। बात यह थी कि दिन में पंडितजी ने एक अचम्भे की बात कह डाली थी। उन्होंने बताया था कि महाराजश्री की पिंडलो इतनी कठिन और ससार हैं कि उनमें उंगलियां नहीं गढ़तीं एवं अच्छे-अच्छे मल्ल सेवक उनके पैर दबाने में झक‌मार कर रह जाते हैं। मैंने इसे अतिरंजित समझा था और इसीलिए काकभुशुण्डि की भाँति तर्काकुल और शंका-शूलित हो उठा था। मैं चाहता था कि एकबार महाराजश्री यह कह दें कि थोड़ा धीरे से मसको और पं० वंशीधर शास्त्री यह समझ लें कि मेरी भुजाओं की शक्ति कितनी प्रचण्ड है। पर कहाँ, मैंने अखाड़े की पूरी ताकत लगा दी और फिर भी महाराजश्री आराम से लेटे हुए दूसरों से बातें करते रहे। पं० वंशीधरजी बीच-बीच में मेरे माथे के पसीने को देखकर मुस्करा लेते थे। उनके चौंक के दांतों की विरलता जो मुस्कराहट के समय बड़ो भव्य दिखाई दिया करती थी, आज मेरे लिए अरुन्तुद बन गई थो। पण्डितजी ने कदाचित् मेरे चेहरे को पढ़ लिया और इसीलिए जब अन्त में सभा विसर्जित हुई तो उन्होंने मेरी दिलजोई करते हुए महाराजश्री से कहा—महाराजजी, ये दोनों भाई व्युत्पन्न होने के साथ-साथ बहुत अच्छे मल्ल हैं; शौर्य और बुद्धि का मणि-कांचन संयोग इनके व्यक्तित्व में है।

यह सुनकर महाराजश्री ने एक बार फिर से हम दोनों भाइयों की ओर देखा और हँसते हुए

पलकों के साथ केवल यह वाक्य कहा—शौर्य के साथ बुद्धि आ मिली, तभी तो मनुष्य सर्वोत्तम पशु का नमूना है।

तप का दान

दूसरे दिन प्रातः गंगा की ओर गये जहाँ बाँध पर पक्का स्नान-घाट बना हुआ है। वह स्थान देखा जहाँ महाराजश्री ने अपने तपोबल से दो डूबते हुए छात्रों की प्राण-रक्षा की थी। सुनते हैं, गंगा बरसाती बाढ़ से उद्वेल्लित थीं। दो छात्र तैरते हुए कुछ आगे बढ़ गये और भंवर-जाल में पड़ गये। समस्त अध्यापक और विद्यार्थी समुदाय निरुपाय खड़ा देख रहा था। महाराजश्री सूर्य की ओर ध्यानस्थ खड़े हुए थे। पं० नवनिधि पाठक ने चिल्लाकर कहा—दो छात्र डूब रहे हैं। महाराजश्री का ध्यान भंग हुआ। उन्होंने सूर्य की ओर से दृष्टि हटाई और डूबते हुए छात्रों की ओर देखा। उनके चेहरे पर अनन्त करुणा का प्रकाश और ओठों पर कुछ फुसफुसाहट का स्पन्दन भी दिखाई पड़ा। कुछ ही क्षणों में जो छात्र आँखों से ओझल हो चुके थे, गङ्गा के गड़गड़ाते हुए प्रवाह में लगभग आध मील पर फिर से लहरों पर लुढ़कते हुए से दिखाई दिये। एक मील बहने के बाद वे किनारे पर आकर लगे। उन्हें मूर्च्छित अवस्था में ही महाराजश्री की कुटी पर लाया गया। होश में आये तो महाराजश्री ने पूछा—क्या बात थी? उन्होंने कहा—हम लहरों की लपेट में आगये थे और डूब ही जाते यदि आप हमें खींच कर किनारे पर न लाते। हमें तो आज पता चला है कि आप इतने बड़े तैराक हैं। यह कहते-कहते उन्होंने महाराजश्री के चरणों में मस्तक रख दिया।

'पर महाराजश्री तो स्नान-घाट पर खड़े थे; वे तो तुम्हें बचाने के लिए गङ्गा में नहीं कूदे?' पं० नवनिधि पाठक ने विस्फारित नेत्रों से कुतूहल प्रकट किया।

छात्रों ने दृढ़ता के स्वर में कहा—'नहीं साहब, हमने अपनी आँखों से देखा है कि महाराजश्री हमें लहरों में से खींचकर किनारे पर लाये हैं। इसके बाद ही तो हम बेहोश हुए हैं।'

महाराजजी ने समर्थन करते हुए कहा—'हाँ, तुम्हारा ही कहना ठीक है।' और इसके बाद लोगों ने देखा कि महाराजश्री के पलकों में सात्त्विक जल भरा हुआ है।

क्या रहस्य था, किसी की समझ में नहीं आया। पूरे दर्शक-समाज ने हाथ जोड़कर महाराजश्री से इस दिव्य चमत्कार की व्याख्या करने का अनुरोध किया। पर उन्होंने केवल इतना ही बतलाया—"मैंने डूबते हुए छात्रों की प्राण-रक्षा के लिए अपने जीवन की पूरी तपस्या भागीरथी को अर्पित कर दी थी, इससे आगे मैं भी कुछ नहीं जानता।'

और यह, रहस्य के समाधान में एक दूसरा रहस्य था जो आज भी उनकी मूर्ति के समान यहाँ प्रतिष्ठित है।

महाराजश्री की कुटी की परिक्रमा

महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए दस-पांच दिन ही हुए थे कि एक अपराध मैंने कर डाला। इतना तो मुझे पता था कि प्रधानाचार्य श्री विजयप्रकाशजी चौबीस घण्टों में से दस घण्टे पूजा-पाठ करते हैं, पर यह पता नहीं था कि रात को ९ बजे से ११ बजे तक मन्दिर के भीतर नित्यशः ध्यान भी करते

हैं। एक दिन रात के लगभग १० बजे मैं अपने कुछ सतीर्थ्यों के साथ मन्दिर के बाहर वृत्ताकार चबूतरे पर बैठा हुआ गप-शप कर रहा था। अखाड़िया होने के नाते मुझे बात-बात में अकस्मात् 'बजरंग बली' का घन-घोर नारा लगाने की लत पड़ी हुई थी जिससे सुनने वाले लोग एकदम उछल पड़ते थे। मतलब यह कि मैंने बिना सोचे-समझे एक दहाड़ लगा दी। पर यह क्या ? सुनते ही सभी सहपाठियों के मुँह पर भय की मुरदई छा गई। 'गजब हो गया, आचार्यजी मन्दिर के भीतर हैं, हसने से पूजा खण्डित हो गई होगी' श्रीदेवदत्त ने धीरे से कहा। मैं भी सुनकर साकते में आ गया। क्षण भर में आचार्यजी तडित् वेग से मन्दिर के बाहर आये और दड़-दड़ाते हुए स्वर में बोले—कौन था ?

सबकी बोलती बन्द थी। पर आचार्यजी के लिए विलम्ब असह्य था। उन्होंने दुगुने वेग से फिर दुहराया—कौन था ?

मैं उत्तर देने का साहस बटोर रहा था कि श्री निरंजनदेव के मुँह से निकल गया—महाराज, हमको पता नहीं है। इस झूठ ने आचार्यजी की क्रोधाग्नि में लपट पैदा कर दीं। उन्होंने बढ़कर श्री निरंजनदेव को दोनों भुजा पकड़कर अधर उठा लिया और कहा—'तुमको पता नहीं है, कौन था ?'

क्षणभर का विलम्ब भी घातक हो सकता था। मैंने तत्काल हाथ जोड़कर कहा—'महाराज मुझे पता है। एक जंगली ने आपके महाविद्यालय में प्रवेश पा लिया है जिसकी भुजाओं में यमराज का प्रवेश है।'

आचार्यजी इस भाषा पर कुछ चौंके। उन्होंने श्री निरंजनदेव को छोड़कर मेरी ओर देखा—'कौन है वह ?' पर अब उनके शब्दों में क्रोध की अपेक्षा जिज्ञासा का भाव अधिक था।

मैंने झुककर कहा—'आचार्यजी, वह मैं ही हूँ।' वे कुछ देर चुपचाप खड़े रहे और मेरी ओर देखते रहे—पर कालिदास के शब्दों में 'ज्वलन्निव ब्रह्ममयेन तेजसा।' सम्भवतः वे पहचान रहे थे कि मैं वही छात्र हूँ जिसने गुरु-पूर्णिमा के दिन प्रवेश लेते हुए अपनी धारावाही संस्कृत से उन्हें अत्यधिक प्रसन्न किया था। फ़िर सस्मित ओठों से बोले—'सरस्वती की उपासना करनी है तो भुजाओं से यमराज को निकाल फेंकों।'

इन शब्दों के साथ वे मन्दिर के द्वार की ओर मुड़ने लगे। तभी मैंने विनम्र शब्दों में कहा—'पर आचार्यजी मैं अपने अपराध के लिए कुछ दण्ड की अभ्यर्थना करता हूँ।'

उन्होंने घूमकर कहा—"कोई बात नहीं। 'तत्त्वार्थेन च पण्डितः' के अनुसार मैं तुमसे प्रसन्न हूँ। इतने पर भी यदि तुम्हें आत्म-ग्लानि है तो महाराजश्री की कुटी की सात परिक्रमा कर लो।"

आप तो बेख़रबार हैं

महाराजश्री में 'क्षिप्रं विजानाति' का पाण्डित्य-विज्ञान पराकाष्ठा का था। कभी-कभी वे वक्ता का वाक्य पूरा होने से पहले ही उसका उत्तर दे देते थे। कोई वक्ता यदि चतुराई से पेश आता था तो महाराजश्री वक्रोक्ति से उसकी ऐसी खबर लेते थे कि न हँसते बनता था, न रोते बनता था;

साथ ही उसे गांठ वांधनी पड़ जाती थी। एक बार बरसात में श्री सत्यव्रत शास्त्री और श्री वांकेलाल त्रिवेदी के घर गिर गये। दोनों प्राध्यापकों के बाल-बच्चे परेशान थे। महाराजश्री को जब इसकी सूचना पहुँची तो वे बड़े दुःखी हुए। सावन के झर में और वह भी इतनी दूर जंगल में मजदूर कहाँ से आते। महापाजश्री की कुटिया पर इसी समस्या का विचार हो रहा था। अन्त में हम दोनों भाइयों ने महाराजश्री को आश्वासन दिया कि हम अपने सहपाठियों को साथ लेकर इन दोनों प्राध्यापकों के घर एक महीने के भीतर खड़ा कर देंगे। सुनकर महाराजश्री की चिन्ता दूर हुई और दोनों प्राध्यापकों ने सन्तोष की सांस ली। वातावरण प्रसन्नता में बदल गया। इसी बीच श्रीमदन ब्रह्मचारी और श्रीराम ब्रह्मचारी ने एक साथ कुटी में प्रवेश किया; और यह बिना समझे कि जिस समस्या का संकेत वे करना चाहते हैं उसका समाधान हो चुका है, उन्होंने दोनों प्राध्यापकों को इंगित करते हुए साकूत शब्दों में महाराजश्री से कहा—'महाराजजी, ये दोनों ही बेचारे बेघर हो गये हैं।'

महाराजश्री ने तत्काल उत्तर दिया–'ये बेचारे बेघर जरूर हैं, पर आप दोनों तो बेघरबार हैं।'

लोगों ने खूब ठहाके लगाये। सुनते हैं, इसके बाद ये दोनों ब्रह्मचारी गृहस्थाश्रम में प्रवेश कर गये।

नल-नील को बुलाओ

श्री सत्यव्रत शास्त्री और श्री बांकेलाल त्रिवेदी के मकान चिन देने के बाद हम दोनों भाइयों को महाराजश्री ने नल-नील की उपाधि से विभूषित किया और हम इसी नाम से ख्यात-विख्यात हो गये। हर समस्या के समाधान के लिए हम दोनों भाइयों को याद किया जाने लगा। और इसे मैं तीर न कहकर तुक्का ही कहूँगा कि कुछ अवसर ऐसे भी उपस्थित हुए जब इस उपाधि में बट्टा लगते-लगते रह गया। एक घटना का उल्लेख करना चाहूँगा। प्रधानाचार्य श्री विजयप्रकाशजी के यहाँ सदैव दूध के ढोर पलते थे (स्यात्, अब भी पलते होंगे)। एक दिन जब उनकी भैंस जंगल में चरने गई हुई थी, तो नीम की जड़ में पड़ी रहने वाली उसकी लोहे की सांकल को न जाने किसने और कैसे, बुरी तरह उलझा दिया। सायंकाल को जब भैंस लौटी तो सांकल सुलझ ही नहीं पा रही थी। अनेक छात्र और अध्यापक महाविद्यालय के प्रांगण में आचार्यजी के घर के सामने इकठ्ठे थे। कुछ ब्रह्मचारी लोग वार-वार से हथौड़ा बजा रहे थे पर सांकल अजगर की तरह लिबड़ी पड़ी थी और खुलने का नाम नहीं ले रही थी। सहसा महाविद्यालय के पूर्वीय द्वार से खड़ाऊँ पहने हुए महाराजश्री आ निकले। आचार्यजी ने मुस्कराते हुए उलझी हुई लोहश्रृंखला के बारे में बताया। महाराजश्री ने पहले लोहश्रृंखला को देखा और फिर भीड़ पर निगाह डालते हुए सवाल किया—'और नल-नील कहां है? उन्हें बुलाओ।'

तत्काल एक छात्र दौड़ा हुआ हमारे कमरे में आया। उसने उलझी हुई सांकल की कथा सुनाई और कहा कि महाराजश्री आपको बुला रहे हैं। हम दोनों भाई द्रुत-विलम्बित चाल से घटना-स्थल पर पहुँचे और महाराजश्री को नियमानुसार अभिवादन किया। उन्होंने स्निग्ध स्वर में कहा—'अरे तुम कहाँ थे? यह सांकल उलझी पड़ी है और हथोड़ों से भी नहीं खुल रही है।'

मैं बिना कुछ कहे ही सांकल की ओर बढ़ा। मैंने देखा कि हथौड़े मार-मार कर उसे बुरी तरह उलझा दिया गया है। मैंने नीम की जड़ की तरफ से सांकल का छोर पकड़ा और उसे धीरे-धीरे हिलाते हुए हल्के-हल्के झटके देना प्रारम्भ किया। सांकल का एक-एक कुन्दा निकलना शुरू हुआ और दो-चार क्षणों में ही सांकल सीधी हो गई।

अद्भुत रस के रोमांच की तरह दर्शक-समाज खड़ा था। महाराजश्री ने कल-कल स्वर में कहा—'देखा न, मैंने तभी कहा था कि नल-नील को बुलाओ।'

अन्यथासिद्ध समझ लीजिए

दूसरों के क्रोध का पारा गिराने में महाराजश्री की कलाबाजी बड़ी प्रसिद्ध थी। एक बार श्री यज्ञदत्त ब्रह्मचारी प्रबन्ध के सिलसिले में कुछ लोगों से बिगड़ गये और उसी विक्षुब्ध मुद्रा में बड़बड़ाते हुए महाराजश्री की कुटी के सामने से निकले। महाराजश्री ने पूछा 'क्या बात है?'

सुनते ही यज्ञदत्तजी सन्तुलित हो गये पर शिकायत के तौर पर कहने लगे—'महाराजजी, परेशानी ऐसे लोगों से है जो न तो छात्र हैं, न अध्यापक हैं, न ब्रह्मचारी हैं, न गृहस्थी हैं, न साधु हैं और न सन्यासी हैं। ऐसे लोगों की स्थिति का यहाँ औचित्य ही सिद्ध नहीं होता?

इससे आगे यज्ञदत्तजी कुछ कहें, बीच में ही महाराजश्री ने टोककर कहा—'तो इन लोगों को आप अन्यथासिद्ध समझ लीजिये।'

हाल ठीक है : चाल खराब है

महाराजश्री सूनृत भाषण के दुर्लभ उदाहरण थे। पर कभी-कभी सुधार के नाम पर जब वे किसी व्यक्ति को कसते थे तो व्यावहारिक सत्य की गहरी चोट करते थे। एक घटना उल्लेखनीय है। मन्दिर के सामने सायंकालीन प्रार्थना के उपरान्त सभी छात्र पंक्ति-क्रम से महाराजश्री को अभिवादन करने जाते थे। अन्य लोग भी सन्ध्या-विधि के उपरान्त नियमतः महाराजश्री के दर्शनार्थ पहुँचा करते थे। एक ब्रह्मचारी किसी कारण-वश कुछ क्षत-व्रत हो गये। उनकी इस अवकीर्णिता की चर्चा महाराजश्री तक पहुँच चुकी थी। सायंकाल के समय जब वे महाराजश्री के दर्शन करने गये तो श्रीनारायण मन्त्री ने साकूत शब्दों में तथाकथित ब्रह्मचारी से पूछा—कहिए, क्या हाल-चाल हैं?'

महाराजश्री ने छूटते ही कहा—'इनका हाल ठीक है, पर चाल खराब है।'

सुनते हैं, वही ब्रह्मचारी आजकल एक पहुंचा हुआ सन्यासी माना जाता है।

हाथ दिखा दीजिए

महाराजश्री की शब्द-क्रीडा बड़ी विचित्र थी जिसमें सटीक वक्रता का आलंकारिक योग रहता था। कभी-कभी पात्र-भेदी व्यंजना से वे 'एक पंथ दो काज' का मुहाविरा चरितार्थ कर देते

थे। एक बार एक हस्तरेखा-विशेषज्ञ नरवर पर पधारे। महाराजश्री के सामने वे अपनी विद्या का प्रदर्शन करना चाहते थे; पर महाराजश्री के रहते हुए प्रत्येक व्यक्ति को हस्त-रेखा दिखाने में संकोच हो रहा था। उधर जब भाग्य-वक्ता की आत्मश्लाघा सीमा का अतिक्रमण करने लगी तो महाराजश्री से नहीं रहा गया। उन्होंने पं० नवनिधि की ओर उन्मुख होकर कहा—'पाठकजी, आपने तो अच्छे-अच्छों को हाथ दिखा दिये हैं, आज इन्हें भी अपना हाथ दिखा दीजिए।'

और इसके बाद एक मीठा सा ठहाका लगा जिसमें सम्पूर्ण विद्वद्-गोष्ठी का साधारणीकरण था।

नरवर में ही धरवर है

महाराजश्री में वक्ता, बोद्धव्य, विषय आदि का शाब्दिक औचित्य व्यवहार की दृष्टि से अत्यन्त सार्थक था। प्रश्न के अनुरूप उत्तर और उत्तर के अनुरूप प्रत्युत्तर देने में वे बड़े ही प्रत्युत्पन्नमति थे। नरवर पर एक ब्रह्मचारी कृष्णवर्ण होने के कारण 'काला ब्रह्मचारी' के नाम से प्रसिद्ध था। संस्कृत की पद्य-रचना के साथ-साथ शब्दों की तुकबंदी करने में वह सदभ्यस्त था। एक बार वह लम्बे समय तक अस्वस्थ रहा। महाराजश्री ने उसको स्थायी चिकित्सा के लिए सेठ बाबूलाल (खुरजा वाले) को पत्र लिखा। पत्र लेकर काला ब्रह्मचारी जब खुरजा के लिए प्रस्थान करने लगा तो महाराजश्री को अभिवादन करके बोला—'महाराजजी, खुरजा में जाकर भी यदि मेरे शरीर का पुरजा न सुरजा (सुलझा) तो मैं मुरझा जाऊँगा।'

महाराजश्री ने उसी लहजे में उत्तर दिया—'यदि पहले से ही डर कर मर रहे हो तो तुम्हारे लिए नरवर में ही धरवर है।'

अच्छे-अच्छों को पानी पिला दिया

एक बार चतुर्भुज मन्त्री महाराजश्री की कुटी पर ढकनगरा के किसी ग्वाले को डांट रहे थे कि वह दूध में पानी क्यों मिलाता है। महाराजश्री भी ग्वाले की धूर्तता से परिचित थे। दूध न लेने की धमकी दी गई तो ग्वाला पैरों पड़ गया और भविष्य में अच्छा दूध पिलाने का आश्वासन देने लगा। महाराजश्री ने दया करके एक बार और उसकी प्रार्थना मान ली, पर इन शब्दों के साथ—दूध तो तुम खैर क्या पिलाओगे, तुमने अच्छे-अच्छों को पानी पिलाया है।'

इन शब्दों के साथ एक कल्लोलित हँसी सुनाई पड़ी जिसमें एक ऐसी विशाल आत्मा का दर्शन था जो अपनी दया को अपनी पराजय के रूप में स्वीकार करती है

अज्ञान भी सत्य है

महाराजश्री की वक्तृता का एक असाधारण गुण यह भी था कि शिक्षा और उपहास, इन दोनों ही प्रसंगों में उनकी बातें हृदय की गहराई और मस्तिष्क की ऊँचाई को छूती थीं। एक बार नरवर पर कई दिन तक शास्त्रार्थ महोत्सव चला। अनेक गरिष्ठ और वरिष्ठ विद्वानों के बीच कविरत्न पं० अखिलानन्द भी अतिथि बने थे। ये बड़े भयंकर शास्त्रार्थी थे। भयंकर इस अर्थ में कि वे प्रतिवादी को परास्त करने के लिए ऊँचे से ऊँचा और नीचे से नींचा पैंतरा मार सकते थे। कहना कठिन था कि उनकी खोपड़ी न जाने किस समय क्या बात उछाल दे।

पर अखिलानन्दजी की प्रतिभा की दुलत्ती विद्वत्समाज का खिलौना भी थी। इसी गुण के वशीभूत होकर भीड़ उन्हें सदा घेरती थी। उस दिन वे वेदभवन में दोपहर तक लेटे रहे और गंगा-स्नान के लिए भी नहीं गये। पूरा विद्वत्समाज उनके साथ वार्तालाप का आनन्द ले रहा था। इसी बीच, सम्भवतः मुख्य अतिथि की आव-भगत के विचार से महाराजश्री भी उधर आ निकले। उनके खड़ाऊँ की ध्वनि से वातावरण और भी अधिक विद्वत्ता-पूर्ण बन गया। तभी भीड़ में से किसी छात्र ने आक्षेप कर दिया—'अखिलानन्दजी, आप गंगा-स्नान के लिए भी नहीं गये और महाराजश्री सौस्नातिक बनकर आपके पास आये हैं।'

धार्मिक वातावरण में यह व्यंग्य करारा था जिसका उत्तर अखिलानन्दजी ने शीर्षासन-पद्धति से दिया और यह सिद्ध कर दिया कि वे गङ्गा से अधिक पवित्र हैं।

भीड़ में से फिर एक प्रश्न आया—'आपकी इस सर्वज्ञता का दावा कैसे स्वीकार किया जाय ?'

'इसलिए कि मेरी सर्वज्ञता का ज्ञान सत्य है' अखिलानन्दजी का उत्तर था।

महाराजश्री ने तत्काल व्याजस्तुति का सहारा लिया और कहा—'अखिलानन्दजी, मैं तो यहाँ तक कहूंगा कि आपकी सर्वज्ञता का ज्ञान ही सत्य नहीं है, आपकी सर्वज्ञता का अज्ञान भी सत्य है। जो हम जानते हैं, वही सत्य नहीं है—वह भी सत्य है जिसे हम नहीं जानते।'

इसके वाद अखिलानन्दजी के मुँह से केवल इतना ही निकला—'यथा आज्ञापयति देवः।'

डुबान पानी में

महाराजश्री में 'कुलपति' शब्द पूरी तरह चरितार्थ था। उन्हें संस्था के प्रत्येक सदस्य के योग-क्षेम का पता था। प्रत्येक की गति-विधि से उनका परिचय रहता था। इसी सन्दर्भ में उनकी निर्देश-पद्धति बड़ी गूढ़ और अमोघ थी। इसके लिए एक आपबीती घटना का संकेत करना चाहूंगा। नरवर-निवास के उत्तरार्द्ध में हम दोनों भाइयों के जीवन में एक नया मोड़ उपस्थित हुआ। श्री रघुवरदयालु अध्ययन-कर्म की अपेक्षा व्यवस्था और प्रवन्ध की वाहवाही में खो गये और 'मुकद्दम' नाम से ख्यात-विख्यात हुए। दूसरी ओर मैं शारीरिक व्यायाम से विरत होता हुआ साहित्यिक उपलब्धियों में भाव-योगी बन गया। फलतः बहुत दिनों तक महाराजश्री की ओर नहीं जा सका। एक दिन मुनि मार्कण्डेयजी (आजकल करपात्रीजी के पी० ए०) के द्वारा महाराजश्री का उपालम्भ मिला तो दौड़ा हुआ पहुँचा। अभिवादन करते हुए मैंने सुना—'बहुत दिनों से तुम्हारी प्रवृत्तियों के बारे में नहीं सुना गया; क्या वात है ?'

मैं उत्तर बना ही रहा था कि इतने में कश्चित्जी (श्री शिवदत्त शास्त्री) मेरी रक्षा में बोल उठे—'महाराजजी, आजकल ये 'साहित्यपाथोदधि' का मन्थन कर रहे हैं और वहुत गहरे पानी में हैं।'

महाराजश्री ने आशंका प्रकट की—'कहीं डुबान पानी में तो नहीं है ?'

मैंने तिलमिलाकर कहा—'महाराजजी, मेरे पल्ले कुछ नहीं पड़ा है।'

उन्होंने मेरे मुँह की ओर देखा और सम्भवतः समझ लिया कि चोट कारगर हुई है। धीरे से बोले—'मेरा आशय है कि साहित्य के उदाहरणों का ही अध्ययन करना, स्वयं साहित्य के उदाहरण मत बन जाना।'

इतने पर भी उस समय महाराजश्री की बात मेरी समझ में पूरी तरह नहीं आई थी। पर आज अच्छी तरह समझ में आ गई है। मैं देखता हूँ कि विश्वविद्यालय और महाविद्यालयों के कितने ही छात्र एवं छात्राएँ और अध्यापक एवं अध्यापिकाएँ काव्य-नाटक पढ़ने-पढ़ाने में ही कक्षाओं के भीतर नायक-नायिका बनकर हास्यास्पद हो जाते हैं और हो जाती हैं।

नरवर से विदा

और अन्त में संवत् २००२ की गुरु-पूर्णिमा का दिन आया जब हमने नरवर से विदा ली। कारण था एक प्रकार की मानसिक क्रान्ति। नरवर जैसे एकान्त साधना के क्षेत्रों में सांसारिक बौद्धिकता और सामाजिकता का किंचित् अभाव है। ऐसा यहां के स्वरूप के अनुगुण ही है, अननुगुण नहीं। लोक-यात्रा की विवशता की बात दूसरी है, अन्यथा प्रवृत्ति-लक्षण जीवन-निष्ठा की अपेक्षा यहां निवृत्ति-मूलक धर्म ही स्पृहणीय है। लोकैषणा की खुली क्रान्ति के विरुद्ध यहाँ अन्तर्मुखी वृत्ति ही सर्वथा औपयिक है। जीवन-संघर्ष का उत्तर यहाँ वितृष्णा है और व्यावहारिकता का समाधान यहाँ आध्यात्मिक उदासीनता है। यही कारण था कि जब मैंने तत्कालीन राजभाषा अंग्रेजी के अध्ययन के लिए खुर्जा जाने की प्रार्थना की तो प्रधानाचार्यजी की लिखित अनुमति के भीतर शिवमहिम्नस्तोत्र की यह पंक्ति उद्धृत थी :

'अथावाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधिगृणन्'

और इसके विरुद्ध महाराजश्री ने विदा की प्रणाम का क्या उत्तर दिया, वह भी उल्लेखनीय है। उन्होंने पूछा—कहाँ जा रहे हो ?'

'खुर्जा जाने का विचार है' मैंने विनम्रता के साथ कहा। 'मैं अंग्रेजी पढ़कर भारतीय संस्कृति के सम्बन्ध में लिखने वाले पाश्चात्य विद्वानों का विचार जानना चाहता हूँ और उनके हीन-चिन्तन का उत्तर देना चाहता हूँ।'

वे इतने मात्र से मेरा मूल मन्तव्य समझ गये। कहने लगे—'नरवर में भारतीय संस्कृति का सिद्ध पक्ष या भोगपक्ष ही है जहां निवृत्ति-मार्ग से शाश्वत निर्वाण भी व्यक्तिगत अभ्युदय की ही पराकाष्ठा है। पर भारतीय संस्कृति का साधना-पक्ष भी है जो अनादि काल से जन-पद्धति का निर्माण करता आ रहा है और जिसमें व्यक्तिगत उपलब्धियां भी विश्व-कर्म का रूप धारण करके जन-सेवा में समर्पित हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति के सिद्ध-पक्ष में आत्म-विभोर नरवर के स्नातक के लिए भारतीय संस्कृति का साधना-पक्ष इसीलिए एक चुनौती है। क्या तुम इस चुनौती को स्वीकार करना चाहते हो जो नरवर छोड़ रहे हो ?' महाराजश्री ने किंचित् भ्रकुटी उठाते हुए मेरी ओर देखा।

मैं कांप गया, सम्हलकर बोला—'महाराजजी यहां तक तो मैंने नहीं सोचा था।'

'कोई बात नहीं है' उन्होंने गोमुखी में माला को झटकते हुए कहा,—'यदि अभी तक नहीं सोचा है तो आगे सोचने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। जाओ, पर ध्यान रहे, दूसरों के करुणा-जल में स्वयं मत डूब जाना।'

उत्तर में टप्...टप्....टप्। मुँह के शब्दों की पूर्ति अश्रुबिन्दुओं ने की। पर महाराजश्री की स्मृति की पूर्ति इतने वर्षों के बाद भी नहीं हुई है। कारण, आज भी उनके संदेश का मेरे पास कोई उत्तर नहीं है!



पूज्यश्री महाराजजी की छाया में

(त्रिलोकीनाथ शुक्ल, रा० इ० का०, अलीगढ़)

बात आज से लगभग ३१–३२ वर्ष पूर्व की है, जब मैं १३–१४ वर्ष का किशोर था। मेरे पूज्य पिताश्री स्व० पं० यादवनाथजी शुक्ल वेदाध्ययन के लिये मुझे सांगवेद विद्यालय नरवर छोड़ने गये थे। मेरे पिताजी, आचार्य पं० जीवनदत्तजी के लिये गुरुपुत्र थे। दोनों में पारस्परिक स्नेह एवं श्रद्धामय विश्वास था। महाराजजी के चरणों में मुझे सौंप कर अलीगढ़ लौटते हुये उन्होंने दो आदेश दिये थे; "गंगा स्नान के लिये अकेले मत जाना, और महाराजजी की सेवा करते रहना।" मैंने दोनों आज्ञाएँ वेद वाक्य की भांति स्वीकार कर ली थीं।

महाराजजी ने मुझे बुलाकर बड़े स्नेह से मेरा नाम पूछा, और रहने के लिये अपने ही पास वाली कोठरी दे दी। बोले "तुम मेरे गुरु घराने के बालक हो, अतः जब भी कोई कष्ट हो, निःसंकोच बता देना। और विद्यालय के वेदाध्यापक श्रीरमेशदत्त शर्मा वेदपाठी को बुलाकर कहा "इस शुकुल को वेद की कक्षा में स्थान देदो, यह मेरा अपना बालक है।"

गङ्गा की धारा के साथ साथ समय अबाधरूप से बहता रहा और मैं विद्यालय के नियमों के साथ वातावरण से भी परिचित हो चला था। ब्राह्म मुहूर्त में उठना अनिवार्य था। महाराजजी के निकटवर्ती कोठरी में रहने के नाते आलस्य से नाता टूट चुका था, शौचादि की निवृत्ति के लिये महाराज का विशालकाय लोटा भरकर उनका अनुगमन करना, और बाद में उसे निर्दिष्ट स्थान पर रखकर निबटने के लिये चला जाना मेरा नित्य का कार्य हो गया था। लगभग यही कार्यक्रम संध्या-समय का भी था। इस प्रकार उभय सन्ध्याओं में अनुगमन करते हुए महाराजजी के श्रीमुख से अनेक सूक्तियां सुभाषित सुनने को मिलती थीं, और वे अधिकारभरी वाणी में कहते थे "त्रिलोका' तू भी इनको कण्ठस्थ करले।" कभी-कभी धर्म, आचार, व्यवहार और समाज-सभी से सम्बन्धित शिक्षाएँ इस समय मिलती थीं। जीवन के अरुणोदय में प्राप्त उन रत्नों को मैं यथाशक्ति हृदयंगम कर लेता था। गङ्गा-स्नान के लिए भी उनके साथ जाना होता था, और अपने जीवन के अनुभव वे इन्हीं एकान्त क्षणों में सुनाते और हमें अपने जीवन निर्माण की प्रेरणा देते। गङ्गा-तट पर ही महाराजजी का समय संध्यावंदन एवं जपादि में बीतता था। अपने प्रातः कृत्य से वे मध्याह्न तक निवृत्त हो पाते थे। उनका भोजन अत्यन्त सात्विक था। गोघृत ही उनका पौष्टिक आहार था। गुर्जर ब्राह्मणोचित संस्कार होने के कारण मुझे अपना भोजन स्वयं बनाना होता था, और संध्या के लिये रखे भोजन को छात्रों द्वारा छू लेने पर जब मैं महाराजजी से शिकायत करता और कहता कि मुझे भी सबके साथ भोजन करने की अनुमति दीजिए तो वह कहते—"तू औदीच्य बालक है, तुझे अपने हाथ से बना कर खाना चाहिए" और उनकी ऐसी आचारनिष्ठा से पराजित होकर मैंने सदैव आत्म-तोष का ही अनुभव किया है। बाद में अध्ययन का भार बढ़ जाने पर मेरे पास समयाभाव का अनुभव

कर उन्होंने मुझे सामूहिक पाकशाला में सम्मिलित भोजन करने की अनुमति दे दी थी। और तब वे कभी-कभी अपनी रसोई में भी शामिल करने लगे थे।

विद्यालय की परम्परानुसार प्रातः सायं सभी छात्रों के लिए आचार्यपादाभिवंदन अनिवार्य था। परन्तु वे विशिष्ट छात्रों को ही चरणस्पर्श की अनुमति देते थे। आज में यह स्पष्ट कहने की स्थिति में हूँ कि मैं उन्हीं विशिष्ट भाग्यशाली छात्रों में से था। शयन से पूर्व गोदुग्ध पान कर लेने पर अपने तख्त पर कुशा की चटाई पर जब वे लेटते थे पादसंवाहन के लिए उनकी सेवा में उपस्थित होता था। अखण्ड ब्रह्मचर्य और नियमित जीवन के परिणामस्वरूप मैं उनकी कठोरपिण्डली को दबा नहीं पाता था, और वे हंसते हुए कहते "त्रिलोका यह तुझसे नहीं दबेगी, यह तेरे बस की नहीं है।"

उस समय का नरवर का सांगवेद विद्यालय महाभारतकालीन ऋषिकुल अथवा ब्रह्मचर्याश्रम का स्मरण दिलाते हुए भी संपूर्ण आधुनिकताओं से सजग था। स्वयं महाराजजी नित्यप्रति समाचार पत्र देखते थे। राष्ट्रीय आन्दोलन और सत्याग्रह संग्राम एवं जन-नायकों की गतिविधियों से पूर्णतः परिचित थे। विद्यालय के वातावरण में कहीं भी, कैसा भी विदेशीपन नहीं था। महाराजजी स्वयं खद्दर का ही प्रयोग करते थे। गोपालन उनका प्रिय व्यसन था। कृशकाय ब्रह्मचारी योगानन्दजी, महाराजजी की ७०-८० गौओं के रखवाले थे। इतना सब कुछ होते हुए भी महाराजजी की यह धारणा अवश्य थी कि विद्यालय में अंग्रेजी का अध्ययन-अध्यापन अवश्य हो। जिससे कि उनकी पाठशाला का विद्यार्थी आधुनिकता की दौड़ में पिछड़ न जाय। जब कभी आवश्यक कार्यवश उन्हें कहीं किसी को भेजना होता, तो प्रथम मुझे ही वह सेवा सौंपते थे। खुर्जा के सेठ बाबूलालजी के पास अनेक समस्याओं के लिए कई बार भेजा था। वे सच्चे अर्थों में कुलपति थे। विद्यालय के दातव्य खाते में जितना भी द्रव्य आता था, वे उसको स्पर्श भी नहीं करते थे, और वे अपने तपःपूत अर्जित द्रव्य से अनेक छात्रों को अन्न, वस्त्र, पुस्तकें आदि देकर अपना कुलपतित्त्व चरितार्थ करते थे। महाराजजी में सांसारिकता अथवा ममता का सर्वथा अभाव था। पिताजी का जब कभी मेरे पास बुलावे का पत्र आता तो वे हँसकर कहते "त्रिलोका तेरा बाप बड़ा रागी है।"

महाराजजी के साथ अनेक यज्ञों में जाने के मुझे सुअवसर मिले थे, उन अवसरों पर महाराजजी के निजी सचिव के रूप में रहकर उन्हें निकट से देखने के अनेक दुर्लभ अवसर प्राप्त हुए थे। संवत् १९९५ के हरिद्वार के कुम्भ के मेले में मैं उनके साथ था। ऐसे अवसरों पर वे मुझे अलीगढ़ से बुलवा लेते थे। भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान रूप थे। संस्कृत भाषा और साहित्य की जो दुर्लभ सेवा उन्होंने की उससे आज समूचा राष्ट्र परिचित हैं। यद्यपि आज वे हमारे बीच में नहीं परन्तु उनकी स्मृति मेरे हृदय में चिरस्थायिनी है। और उनका आशीर्वाद मेरे जीवन का पाथेय है।

पूज्य महाराजजीः कतिपय मधुर संस्मरण

(मथुरानाथ शुक्ल, अलीगढ़)

प्रातःस्मरणीय, परमादरणीयपादपद्म नैष्ठिक ब्रह्मचारी नरवरवाले पूज्य महाराज श्रीजीवनदत्तजी उन विभूतियों में से थे, जो वशिष्ठ, विश्वामित्र, याज्ञवल्क्यादि महर्षियों की पावन परम्परा जागृत कर देते हैं।

गंगातटवर्ती नरवराश्रम, सांगवेद विद्यालय, चतुर्दिक सुरम्य नीरव वनप्रान्त, पुण्यतोया भगवती भागीरथी का निरन्तर दर्शन, आश्रम की स्वस्थ सुन्दर गायें, यत्र-तत्र कलरव, किलोलरत मृगपक्षी, शीतल मन्द सुगन्ध पवन, वेदाध्ययनरत ब्रह्मचारीवटुगण, नैकशास्त्रनिष्णात सद्गृहस्थ आचार्य, वानप्रस्थोचितधर्मनिरतसपत्नीक तपस्वीगण, षड्दर्शनाचार्य स्वामी विश्वेश्वराश्रम सदृश अनेक वीतराग सन्यासिगण, गोशाला, वेदशाला, यज्ञशाला, अतिथिशाला शोभित यह संस्था बरबस हमें महाभारत में वर्णित ऋषि आश्रमों की पुण्य स्मृति दिला देती है।

पूज्य महाराजजी का जीवन आदर्श था, वे सजलजलद की भांति यावज्जीवन जग - जीवनार्थ अपना सम्पूर्ण जीवन (जल) प्रदत्त करते रहे और इस अर्थ में महाराजजी अन्वर्थनामा "जीवनदत्त" रहे।

श्रीमहाराजजी के पुनीत सम्पर्क में आप चाहे कुछ ही क्षण आये हों आपको कोई दिशा, प्रेरणा, शिक्षा, अनुभव, उपदेश, सुभाषित सद्चर्चा और हित-मन्त्रणा अवश्य मिलेगी। मानों आप प्रत्यक्ष शिवसंकल्पमय भगवान् शिव के सान्निध्य में ही उपस्थित हों।

इन पंक्तियों के लेखक को कुछ काल तो नियमित विद्यार्थी रूप से एवं बाद में पचीसों बार एक-दो दिन से लेकर कुछ घंटों के अल्पकाल तक हमेशा पूज्य महाराजजी के पुनीत पाद्पद्मों के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता रहा है। पूज्य महाराजजी का इस परिवार पर विशिष्ट रूप से असीम स्नेह था। हम बच्चों पर तो उनका पुत्रनिर्विशेष वात्सल्य था। उसका कारण था, श्रीमहाराजजी ने ही अनेक बार इस तथ्य का संकेत दिया था। वे कहा करते थे कि हमारे मोहल्ले (खाईडोरा, अलीगढ़) के औगढ़वाले ब्राह्मण परिवार से उनका पारिवारिक (शायद दौहित्र) सम्बन्ध था। और इस नाते महाराजश्री का शुभ उपनयन संस्कार हमारे स्वनामधन्य स्व० प्रपितामह श्री पं० जगन्नाथजी शुक्ल ने कराकर गायत्री मन्त्रोपदेश किया था। उस सम्बन्ध से श्रीमहाराजजी हमारे परिवार पर श्रद्धामयी पूज्य बुद्धि रखते थे। और यह तो आँखों देखी बात है कि पूज्य महाराजजी हमारे स्व० पू० पिताश्री पं० यादवनाथजी शुक्ल का अत्यधिक स्नेहमय आदर करते थे, यद्यपि पू० महाराजश्री पू० पिताश्री से अवस्था में बड़े थे। उनकी इच्छा थी कि हमारे पू० पिताश्री अपनी पश्चिमावस्था में उनके सत्संग में गंगातट वास करें और नरवर में रहकर तपोमय जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मचारियों को वेद और कर्मकाण्ड की शिक्षा दें परन्तु बहुकुटुम्बी पिताजी को अपने गुरुतर दायित्व के कारण यह सुयोग प्राप्त न हो सका।

इसलिए जब कभी हम नरवर जाते और पूज्य महाराजश्री के दर्शन करते तो कुशलक्षेम पूछने के अनन्तर प्रसंगवश कभी-कभी कहते कि "अरे तेरा पिता तो बड़ा रागी है।" अस्तु ! महाराजश्री बहुत उत्तम धारावाहिक रूप से संस्कृत भाषण करते थे, सन्ध्या और जप के समय मौन रहते थे, अत्यन्त आवश्यकता हो जाने पर सन्ध्या करते हुए संस्कृत भाषण में प्रत्युत्तर देते थे। स्मृति ऐसी अच्छी थी कि सैकड़ों सुभाषित श्लोक उन्हें कण्ठाग्र थे। प्रायः समस्त शास्त्रों का गंभीर ज्ञान था। भगवती गंगाजी के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा लिए हुये उन्हीं के मुख से सुना हुआ एक श्लोक प्रस्तुत है—

नराकारं भजन्त्येके निराकारमथापरे ।
वयं संसारसंतप्ताः नीराकारमुपास्महे ।।

श्रीमहाराज ने वेदमाता गायत्री के शतशः पुरश्चरण किए थे। यावज्जीवन किसी से कभी एक पैसे की याचना नहीं की, अपने तपोबल एवं अयाचित वृत्ति से ही लाखों रुपया पाठशाला में आता रहता था। सैकड़ों वर्षों में अभूतपूर्व दिल्ली के शतकोटि यज्ञ में प्रधान यजमान के रूप में पूज्य महाराजश्री का धवलयश दिग्दिगन्तव्यापी होगया था। पूज्य महाराजजी न केवल भारत-प्रसिद्ध ही थे, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त महापुरुष थे। खान-पान में आचार विचार में बड़े ही दृढ़प्रतिज्ञ थे। यह सब प्रत्यक्ष देखा और स्वयं विद्यार्थी जीवन में उनके पादपद्मों में रहकर अनुभव किया था। उन दिनों स्व० पं० श्री नवनिधिजी हमें पढ़ाते थे। गुजराती होने से शैशव में हाथ से भोजन बनाना, बर्तन मांजना बड़ा कठिन लगता था। पूज्य महाराजजी की आज्ञा थी—तुम औदीच्य ब्राह्मण हो तुम्हारे यहाँ अन्य किसी के हाथ का भोजन नहीं चलता यह हमें पता है। अतः अपने हाथ से ही भोजन बनाओ। इस प्रतिबन्ध के कारण इस शरीर को छात्रजीवन के समाप्ति से पूर्व ही सांगवेद विद्यालय नरवर से विदा लेनी पड़ी, परन्तु महाराजजी की आचारनिष्ठा को अमिट छाप जीवन पर पड़ चुकी थी, वे कहते थे कि "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इस प्रकार—

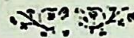
'तुलयाम लवेनापि नस्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः' ।

की उक्ति के अनुसार महापुरुष की क्षणिक संगति भी हृदय के मालिन्य को धो डालती है। वर्षों उपरान्त गांधर्व विद्यालय ग्वालियर के संगीत का स्नातक होकर जब अलीगढ़ पुनः आया तो इच्छा हुई कि अपनी संगीत की उपलब्धि गुरुचरणों में निवेदन करके हो सामाजिक मंच पर उपस्थित होऊंगा। अतः अपनी देवदत्तावीणा लेकर महाराजश्री के चरणों में जा पहुंचा। मुझे आश्चर्यमिश्रित आनन्द के वे क्षण आज भी याद हैं, जबकि तपोनिष्ठ महाराजजी के समक्ष मैंने अपना संगीत समर्पित किया था, और वे मन्त्रमुग्ध को भांति सुनते रहे और बाद में उन्होंने मुझे आशीर्वाद प्रदान किया था।

इन स्मृतियों के साथ उन दिवंगत नैष्ठिक बालब्रह्मचारी ब्रह्मर्षिकल्प पूज्यपाद महाराजश्री के पादपद्मों में मनसा साष्टांग प्रणाम करता हूं, जिनसे सहस्रशः व्यक्तियों ने सन्मार्ग प्राप्त किया है। इतिशम्।

नरवर के प्राण

(रमेशचन्द्र शर्मा अध्यक्ष, पुरातत्व संग्रालय, मथुरा)



चमत्कार में स्वाभाविक आकर्षण होता है। पिताजी के मुख से महाराजजी के जीवन से सम्बन्धित कुछ चमत्कारिक व्याख्यानों को सुनकर उनके दर्शन के लिए अनेक बार उत्कण्ठित हो उठा था। ये घटनायें उनकी साधना शक्ति की परिचायिका थीं जिनका उद्देश्य या तो विद्यालय की उन्नति था अथवा लोक-कल्याण। यह आवश्यक नहीं कि चमत्कार सभी के समक्ष मुखरित हो जाय क्योंकि दैवी अनुभूति कहीं स्पष्ट है और कहीं तिरोहित (क्वचिद्विभातं क्वचित्तिरोहितम्)। पिताजी श्री पं० भगवत्सहाय शर्मा आयुर्वेदाचार्य (अब स्वर्गीय) उनके संस्मरणों को बड़ी तमन्यता से सुनाते और ऐसा प्रतीत होता कि किसी ऋषि मुनि के आश्रम तथा उसकी ऋद्धि सिद्धि का वर्णन हो रहा है।

अब से २० वर्ष पूर्व उन्होंने मुझे उसी आश्रम में उपवीत दीक्षा के हेतु भेज दिया। मनोरथ के वेग से कल्पना एवं भाव सागर में गोते लगाता और वहाँ के कठोर अनुशासन की आशंका से संत्रस्त-सा हुआ मैं नरवर पहुंच गया। भगवती भागीरथी के दक्षिण तट पर स्थित यह विद्यालय आधुनिक सभ्यता से नितान्त अस्पृश्य वस्तुतः कादम्बरी के जाबालि आश्रम का-सा दृश्य प्रस्तुत करता था। उस समय वहाँ अनेक आश्रम कच्चे बने थे व फ़ूस के छप्पर से ढके स्वच्छता से लिपे पुते थे। पक्का निर्माण कार्य भी बहुत कुछ हो चुका था। किन्तु सबसे बड़ी विशेषता थी कि यहाँ का वायु श्रद्धा तथा भावना के सौरभ से संयुक्त था। भौतिक सुख से पराङ्मुख छात्र तथा अध्यापक आत्मविश्वास तथा कर्तव्य दृष्टि से लक्ष्यपूर्ति में दत्तचित्त थे और वह लक्ष्य था महाराजजी के स्वप्न को साकार करना। कलियुग की धरती पर सतयुग झलक।

मुझे विद्यालय के एक प्रतिष्ठित अध्यापक श्री पं० नवनिधि शर्मा पाठक (अब स्वर्गीय) के स्थान पर रुकना था क्योंकि पिताजी की उनसे कुछ अधिक घनिष्ठता थी। कुछ देर पश्चात् सूर्यास्त से पूर्व गंगास्नान के लिए चला और वहाँ अनेक बटुकों को ध्यान भाव में अथवा भगवती की गोद में क्रीड़ारत देखा। सूर्यास्त के अनन्तर लौटते समय महाराजजी की कुटिया की ओर मुझे ले जाया गया। वह उस समय जप में लीन थे। प्रतीक्षा की और पिताजी के नाम के साथ मेरा परिचय दिया गया। वह स्नेह से विभोर हो उठे और पिताजी की छात्रावस्था की चर्चा बड़े प्रशंसात्मक शब्दों में की। उनका संस्कृत अध्ययन, आशुकवित्व और धर्म एवं दान की प्रवृत्ति महाराजजी की सराहना की भाजन थी। अतः उन्हें (पिताजी को) अपने उन प्रिय शिष्यों में मानते थे जिन्हें पुत्र वात्सल्य प्राप्त था। समीपस्थ आसीन आचार्यों ने भी पिताजी को उसी स्नेह से स्मरण किया जैसे वह अभी तक विद्यालय से सम्बन्धित हों।

पिताजी के इस नियम की चर्चा वहां प्रायः होती कि वह प्रतिमास नरवर के लिए कुछ न कुछ भेजते हैं और वर्ग विशेष से चिकित्सा के द्वारा धन विद्यालय के लिए सुरक्षित रहता था। दूसरे दिन यज्ञोपवीत के उपरान्त महाराजजी से मन्त्र लेने के लिए हमें (मेरे साथ पाठकजी के पौत्र श्रीयज्ञदत्त का भी संस्कार हुआ था) उनके दर्शनार्थ भेजा गया यद्यपि यह पूर्वाभास था कि वह मंत्र किसी को देते नहीं। हम उनके चरणों में पड़कर हठ करने लगे तो उन्होंने श्रीपाठकजी को संस्कृत में समझाया कि यह गृहस्थियों का कार्य है न कि ब्रह्मचारियों का और तब हमें उनका उपदेश सुनने को मिला जिसमें व्यक्ति की नैतिकता और निष्ठा का मूल्यांकन किया गया था।

मैं कुछ दिन वहाँ रहा और यज्ञोपवीत संस्कार के माध्यम से भारतीय संस्कृत के प्राण-वायु का संचार मेरे शरीर में होता रहा। महाराजजी को गंगाजी के प्रति अगाध श्रद्धा थी और वह अपनी कुटी से उस पुण्यतोया का दर्शन करते हुए जप अथवा धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्रियाओं में लीन रहते। विद्यालय के मुख्य द्वार के प्रवेश के पूर्व दाहिनी ओर कुछ दूर कछार की उच्च भूमि अनेक महात्माओं के संचरण से पवित्रीभूत हो चुकी है और उन ध्वस्त कुटिओं से आज भी भारत-प्रसिद्ध सन्तों का आध्यात्मिक सम्बन्ध बना है। प्रातःकाल वालार्क के उदित होने पर उस विशाल तेज पुंज की स्तुति में ब्रह्मचारियों द्वारा संध्या करते समय गीत 'यन्मण्डल दीप्तिकरं विशालम्................' मण्डलाष्टक बड़ा मधुर लगता था। देववाणी का लालित्य उसके सुन्दर व स्पष्ट उच्चारण में है और यदि उसमें गीतलहरी का पुट लग जाय तो वह आत्मा के स्वर की भांति प्रभावशालिनी होती है। मैं वहाँ प्रचलित अनेक स्तोत्रों को कण्ठाग्र कर गया। सायं नित्य स्नान आदि से निवृत्त हो छात्र गण महाराजजी की कुटिया में एकत्र होते और समस्त वार्तालाप संस्कृत में ही चलता। अन्ताक्षरी और बड़े उत्साह से समस्यापूर्ति भी चलती रहती। मैं अपनी अल्पज्ञता के कारण उस दृश्य का दर्शक व श्रोता के रूप में ही लाभ उठा पाता था। कभी कुछ कहने की रुचि होती किन्तु उन धाराप्रवाह संस्कृत-भाषियों के समक्ष अशुद्ध उच्चारण के भय से मैं प्रायः मौनव्रती ही बना रहा। किन्तु तीर्थ में किया पुण्य कभी न कभी उदित अवश्य होता है। मेरी उस आस्था का फल प्रत्यक्षीभूत होने को उद्यत है। विदेशों में भी सात्विक भावना से प्रवास, संस्कृति के प्रति अभिरुचि, यथावसर अध्ययन, मथुरा में व्यास-जयन्ती व संस्कृत-दिवस का आरम्भ व वार्षिक आयोजन नरवर की दीक्षा की ही देन है।

लगभग एक दशक उपरान्त मैं पुनः उस समय नरवर गया जब महाराजजी ब्रह्मलीन हो गये थे। वहाँ एकत्र विद्वानों, अधिकारियों, नेताओं, शिष्यों तथा स्नेही व्यक्तिओं ने बड़े मार्मिक शब्दों में उनका स्मरण कर अपनी श्रद्धांञ्जलियां अर्पित कीं। वह नरवर के सर्वस्व थे और उनकी विद्यमानता का सात्विक प्रभाव जनपद के सुदूर क्षेत्रों में भी व्याप्त था। इस वर्ष जेष्ठ पूर्णिमा के अवसर पर ब्रज-साहित्य मण्डल के अध्यक्ष बाबू बृन्दावनदास जी 'साहित्य वारिधि' के साथ मुझे पुनः वहाँ जाने का अवसर मिला और बीस वर्ष पुरानी स्मृतियां हृदयपटल पर चित्र खींचने लगीं। नरवर लगभग यथा-पूर्व है। तथाकथित विकसित सभ्यता का अन्धकार वहां तक नहीं पहुँच पाया है, हाँ उसका आलोक पहुंचने के लिए तत्पर है (उस समय विद्युत की व्यवस्था की जा रही थी)। नरवर का आकर्षण उसकी वनस्थली, नीरवता ऊहापोह से रति शान्ति ही तो है। आचार्य विजयप्रकाशजी के नेतृत्व

में जो प्रगति हुई है वह सराहनीय है। वह अनेक प्रकार से उन्हों के चरणचिन्हों पर चल रहे हैं। वेद-वेदांग, साहित्य, व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों का चिन्तन अनुशीलन अबाध गति से संचलित है।

मुझे गंगा की क्रोड में खेलते देख तटस्थ पण्डितजी ने प्रशंसाभरे शब्दों में पुकार दी 'भैया अच्छा तैरते हो कहां के हो ?' मेरे उत्तर 'मथुरा से आया हूं' पर पुनः उन्होंने उसी शैली में संलाप आगे बढ़ाया 'अच्छा यमुना तटवासी हो तभी तो' और जब मैंने उन्हें बताया कि इसका श्रीगणेश बीस वर्ष पूर्व गंगा मां की गोद में यहीं हुआ तो उन्होंने जिज्ञासा भरे शब्दों में परिचय की आकांक्षा प्रकट की। पिताजी का नाम उल्लेख करते ही उन्होंने मुझे तट पर बुलाकार स्नेह का प्रगाढ़ आलिंगन कर रहस्योद्घाटन किया कि पिताजी ने उनके लिए नरवर में एक सुन्दर कमरा बनवाया है। यही महाराजजी के सेवक शिष्य श्रीमुरारीलाल शर्मा थे, और मैं सपरिवार उनका अथिति बन गया। उन्हें मैंने देखा था और नाम से परिचित था किन्तु बीस वर्ष की लम्बी अवधि ने परिचिति के बीच पर्दा डाल दिया था। महाराजजी की रुद्राक्ष की माला का एक दाना मुझे उपहार में मिला।

प्रधानाचार्यजी श्री पं० विजयप्रकाशजी ने प्रथम तो मेरी अंग्रेजी वेषभूषा के प्रति स्वाभाविक वितृष्णा प्रकट की किन्तु पिताजी के नाम से वह कल्मष धुल गया और तब उस मधुर द्वन्द्व की स्थिति आ पहुंची कि हमारे आथितेय कौन हो ? दोनों महानुभावों तथा अन्य अध्यापकवृन्द ने हमें स्नेह से विभोर कर दिया। दूसरे दिन श्री पं० जगन्नाथप्रसादजी शर्मा आयुर्वेदाचार्य, श्री पं० रामजीलाल शर्मा आयुर्वेदाचार्य, डा० गयाप्रसाद उपाध्याय आदि फीरोजाबाद से स्मृतिग्रन्थ को रूपरेखा पर विचार करने के लिए आये थे, मथुरा से बाबू वृन्दावनदासजी थे। उस समय ग्रन्थ पर विचार के साथ आचार्यजी का जो सारगर्भित तथा विद्वतापूर्ण प्रवचन सुनने को मिला उससे आभास हुआ कि महाराजजी नरवर में सूक्ष्म रूप से आज भी विराजमान हैं भले ही कलाकार उन्हें मूर्तरूप देने में असफल रहा हो (महाराजजी की कुटिया में लगी संगमरमर की उनकी प्रतिमा उनका उचित प्रतिनिधित्व नहीं करती)।

स्मृति-ग्रन्थ का प्रकाशन उनके प्रति उपयुत श्रद्धाप्रसून है जिसके समर्पण में अतिकाल हो गया है। इसके साथ ही आवश्यक है उनकी अमरकृति नरवर विद्यालय का पोषण तथा पल्लवन जिससे कि यह संस्था आधुनिक भौतिकवाद के युग में ज्ञान के साथ आस्तिकता, धैर्य, संतोष, तितिक्षा, सरलता आदि सद्गुणों के विकास में भी सुन्दर भूमिका का निर्वाह करता रहे, यही महाराजजी का आदर्श था।

महाराजजी के प्रति श्रद्धांजलि

डा० रामकृष्ण आचार्य एम०ए०, पी-एच०डी०, डी०लिट्

परमपदप्राप्त आचार्य श्रीजीवनदत्तजी महाराज संस्कृत जगत् और धार्मिक जगत् की एक महान् विभूति थे। उनके संस्थान ने हजारों विद्वानों एवं धार्मिक नेताओं को प्रकट किया है, जो उनकी कीर्ति को समग्र भारतव्यापिनी बनाये हुये हैं। धार्मिक जगत् के पूज्य श्रीकरपात्रीजी जैसे देदीप्यमान रत्न भी उन्हीं की देन हैं। जो व्यक्ति महाराजजी के सम्पर्क में आये, वे धन्य हैं। अपने को यद्यपि महाराजजी के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका, किन्तु उनके प्रति हृदय सदैव श्रद्धावनत रहा है। जब मैं बचपन में वृन्दावन में संस्कृत का अध्ययन करता था, तब प्रायः श्री महाराजजी की तपोमयी साधना की चर्चा सुना करता था और मन ही मन उनके प्रति श्रद्धा से अवनत हो जाता था। बाद में जब पूज्य श्रीकरपात्रीजी ने दिल्ली में सर्वप्रथम शतकुण्डी महायज्ञ का आयोजन कर सनातन धर्म का पुनर्जागरण किया, और हमारे विद्यालय के अध्यक्ष और मेरे गुरु पूज्यश्री श्रीधराचार्यजी से भी उस यज्ञ के लिए दो होता मांगे तो गुरुदेव ने जो दो होता भेजे उनमें मैं भी एक था। वहां दिल्ली के यज्ञ में मैंने अपूर्व यज्ञीय वातावरण में श्रीमहाराजजी के प्रथम दर्शन किये। उस यज्ञ में श्रीमहाराजजी को ही प्रधान यजमान बनाकर पूज्य श्रीकरपात्रीजी एवं धार्मिक जगत् ने उनके प्रति उनके स्वरूप के अनुरूप ही सम्मान समर्पित किया था। इतने बड़े यज्ञ के प्रधान यजमान के पद पर प्रतिष्ठित श्रीमहाराजजी के दर्शन कर चित्त गद्गद हो गया और मैंने अपना दिल्ली जाना सफल माना।

इसके बाद एक ऐसा भी अवसर आया जब अपना साक्षात् सम्पर्क तो नहीं, किन्तु पत्राचारीय सम्पर्क श्रीमहाराजजी से हुआ। वह इस प्रकार हुआ। इस स्मृति-ग्रन्थ के निर्माण में सूत्रधार श्री जगन्नाथप्रसाद जी वैद्य आयुर्वेदाचार्य तब टूण्डला रहते थे। ये अपने कार्यक्षेत्र में पूर्ण सम्मानित और वर्षों वहां पर रह चुके थे, किन्तु फिर भी तब तक इस क्षेत्र में वैवाहिक सम्बन्ध करने का कोई अवसर आपके समक्ष नहीं आया था। यह अवसर आपके समक्ष सर्वप्रथम तब आया, जब आपको अपनी बड़ी कन्या शान्ति का विवाह करना था, आपने इसके लिए मेरे लघु भ्राता चि० मथुराप्रसाद शर्मा के विषय में मुझसे चर्चा की। मैंने तब कहा कि आपके कुल के विषय में कैसे प्रामाणिक जानकारी प्राप्त हो। आपने श्रीमहाराजजी का नाम प्रस्तावित किया कि उनसे पूछ लिया जावे। मैं श्रीमहाराजजी के प्रति श्रद्धा रखता था और साथ ही उन्हें ब्राह्मण जगत्, संस्कृत जगत् और धार्मिक जगत् में प्रामाणिक मानता था, अतः मैंने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। तदनुसार मैंने श्रीमहाराजजी को उनके द्वारा अपरिचित होने पर भी पत्र लिखा कि श्री वैद्यजी कुलीन ब्राह्मण हैं या नहीं। श्रीमहाराजजी का जो पत्र आया वह संस्कृत में था। वह पत्र इस समय तो मेरे पास नहीं है, किन्तु उसका भाव और कुछ वाक्यांश स्मृत हैं जो कुछ-कुछ इस प्रकार हैं—

"अहं जगन्नाथप्रसादम् पूर्णतया जाने। स कुलीनो ब्राह्मणोऽस्ति। तस्य पिता श्रीनारायणदत्तो मदीयः सहपाठी आसीत्। जगन्नाथप्रसादस्तु मम पुत्रकल्पोऽस्ति। विवाहसम्बन्धः स्वीकार्यो वर्तते।"

श्रीमहाराजजी का यह पत्र पाकर चित्त प्रसन्न हुआ, और सम्बन्ध हो गया। श्रीमहाराजजी ने मेरे पत्र का उत्तर देने की जो कृपा की उसके लिए मैं अबतक कृतज्ञ हूं। आज जब उनकी स्मृति-ज्योति जगाई जा रही है, तब मैं भी इन शब्दों में उनके श्रीचरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करना चाहता हूं।

एक पुनीत संस्मरण

(उमेश जोशी, फीरोजाबाद)

वह दिन मेरे जीवन का स्वर्णिम दिन था, जबकि मैंने 'नरवर' में महाराजजी के दिव्य-दर्शन किये थे। महाराजजी को जब मैंने प्रथम देखा तो मैं उनके तेजस्वी चेहरे को देखकर आत्मविभोर होगया। उनके मुख-मण्डल पर आत्मिक उल्लास, हृदय की पवित्रता एवं अखण्ड-सत्य की दिव्य-चारुता प्रस्फुटित हो रही थी और होरही थी आत्मिक-शान्ति की अमर पावनता। उनके इर्द-गिर्द का वातावरण बड़ा ही सजीव था। उस वातावरण के गर्भ से जीवन की स्वाभाविक गति का प्रवाह पूर्ण प्रस्फुटन होरहा था—उस पवित्र वातावरण में कुछ क्षणों के लिये मैं आत्मविस्मृत होगया। विश्व-विख्यात महान् दार्शनिक प्लेटो ने एक स्थान पर लिखा है—"वह मनुष्य सौभाग्यशालो है जिसको किसी दिव्य-आत्मा का साक्षात्कार करने का सुअवसर प्राप्त हुआ हो। वास्तव में जो क्षण दिव्य आत्मा के संसर्ग में बीतते हैं—उन अलभ्य क्षणों का क्या कहना, वे अलभ्य क्षण मानव-जीवनमें अपना विशिष्ट सौन्दर्य रखते हैं—ऐसा विशिष्ट सौन्दर्य ही मानव जोवन को कायापलट कर देता है और उसे एक नूतन शक्ति भी प्रदान करता है।"

इसी बात को विश्वविख्यात अमेरिकन दार्शनिक इमरसन ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है:—"मेरे जीवन में जो दार्शनिक सौन्दर्य का मोड़ आया उसका बहुत कुछ श्रेय सन्त 'पेफो' को है। वह एक आश्रम में रहते थे—मैं उनसे मिला—उस दिव्य मिलन के क्षणों को मैं जीवनभर नहीं भूल पाऊँगा। उन क्षणों ने मेरे जीवनपटल पर अपनी एक अमिट कहानी अंकित करदी है। में उस महान् सन्त एवं आचार्य के महान् तथा पावन व्यक्तित्व को स्वर्णिमा से इतना प्रभावित हुआ कि मैंने दार्शनिक जीवन अपनाने का संकल्प कर लिया। यथार्थ में नैतिक सौन्दर्य ही मानव जीवन को धुन्ध को विनष्ट करता है।"

बस, इसी प्रकार मेरे ऊपर भी महाराजजी के दार्शनिक व्यक्तित्व की उज्ज्वलता का अमिट प्रभाव पड़ा। महाराजजी के दिव्य व्यक्तित्व ने मुझे नैतिक सौन्दर्य को अपनाने की एक शक्तिशाली प्रेरणा दी, ऐसी प्रेरणा कि जिसने मेरे जीवन के पर्त-पर्त को नैतिक सौन्दर्य को ज्योत्स्ना से समलंकृत कर दिया। वैसे मैंने महाराजजी से जीवन को कैसे विकास की देदीप्यमान मंजिल पर अग्रसर करें, इस पर प्रमुख वार्ता की और उन्होंने बड़े सुन्दर ढंग से अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया—उन्होंने कहा—"जीवन का विकास मुख्य रूप से नैतिक सौन्दर्य की पावन पृष्ठभूमि पर आधारित है। जब तक हमारा जीवन वासना की नाना प्रकार की रंगीनी में आवद्ध रहेगा तब तक हम सही माने में मानव-जीवन के यथार्थ सत्य को पहिचान न पायेंगे। हमारे जीवन का यथार्थ सत्य तो चरित्र की उज्ज्वलता, हृदय की पवित्रता तथा आत्मा की शाश्वत दिव्यता पर मुखरित है। जब तक मानव जीवन छोटे छोटे संकीर्ण घरोंदों से नहीं निकलेगा तब तक उसे जीवन के 'अखण्ड सत्य' के दर्शन न हो पायेंगे। जीवन को हमें गतिपूर्ण रखना चाहिए—जो जीवन जितना ही प्रवाहपूर्ण होगा वह उतना

ही अक्षुण्ण रहेगा। उसमें उतनी ही प्रदीप्तता आविर्भूत होगी। और वह जीवन उतना ही विकसित होकर जीवन को सम्पूर्ण कुण्ठाओं पर विजय प्राप्त करेगा। आज जो विश्व में उस 'अखण्ड सत्य' को नाना रूपों, नाना नामों, नाना धर्मों में वर्गीकृत कर दिया है—इससे मानव संशय के असीम कुहरे से आच्छन्न हो गया है। तुम्हें अपनी उज्ज्वल दृष्टि से उस 'अखण्ड सत्य' को नानात्व के झमेले से ऊपर निकालना है—ताकि तुम उस महान् 'सर्व शक्तिमान' के अखण्ड सौन्दर्य की विराटता अनुभव कर सको, ताकि तुम महसूस कर सको कि बिना उस 'अखण्ड सत्य' के हमारा जीवन ठीक वैसा ही जैसे बिना दिनकर के दिन। तुम्हें अपने जीवन को स्वार्थ के छोटे छोटे घेरों में परिवेष्टित नहीं कर देना है—इन घेरों की कैद से अपने जीवन को उन्मुक्त बनाओ। जब तक तुम स्वार्थ के अन्धकार में भटकते रहोगे तव तक तुम्हारा जीवन घिनौना रहेगा—तुम्हारा जीवन नैतिकता के पादन विश्व में आगे नहीं बढ़ सकता। आज जो तुम मानव जीवन में अशान्ति एक प्रकार की हड़बड़ी देखे रहे हो—वह सब इसलिए है कि मानव व्यक्तिगत स्वार्थ में इतना डूब गया है कि उसने अपनी सम्पूर्ण मानवीयता की अलौकिक सुगन्ध को ही खत्म कर दिया, उसने 'मनुष्यता', 'आदमियत' के जाज्वल्यमान सौन्दर्य का मूल्यांकन नहीं किया, और वह अपने ही 'अहं' की संकीर्ण परिधियों में आबद्ध रहा, जिससे उसके जीवन में घोर निराशा, मायूसी का घटाटोप आच्छादित हो गया—उसको सारी सक्रियता ही विनष्ट हो गई। उसका जीवन क्रम का प्रवाह अस्त-व्यस्त हो गया है।"

महाराजजी के उपर्युक्त विचारों को सुनकर मुझे तत्काल विश्वविख्यात रोमारोलाँ के उन शब्दों का स्मरण हो आया, जो उन्होंने "नेशनल वीइंग" नामक ग्रन्थ में प्रगट किये थे—उस ग्रन्थ में एक स्थान पर उन्होंने लिखा है—"मानव उम्र की कैद से तभी उन्मुक्त हो सकता है जब कि वह जीवन की समस्त प्रकार की वासनाओं के छोटे-छोटे दायरों से ऊपर उठ जाएगा जबकि वह जीवन के ऊपर सत्य के शाश्वत सौन्दर्य को अखण्ड रूप में उपलब्ध करेगा तभी उसका जीवन 'अखण्ड दिव्यता' के महान् पुञ्ज का क्रम बनेगा—उससे पूर्व नहीं—और मानव का यही आध्यात्मिक विकास उसका सत्य यथार्थ विकास होगा। ऐसा आध्यात्मिक विकास ही उसके मानवोय सौन्दर्य में चार चाँद लगा देगा।" महाराजजो ने मानव जीवन के जो आध्यात्मिक सत्य का मूल्यांकन किया वही वास्तव में विश्व-शान्ति का महान् प्रेरणा-स्रोत भी हो सकेगा। महाराजजी के विचारों में मुझे भारतीय दर्शन का यथार्थ सत्य मिला—ऐसा यथार्थ सत्य जो मानव के खण्ड-खण्ड रूपों की दिव्यता के महान सूत्र में रूपायित कर दे। महाराजजी की अमर वाणी बड़ी शक्तिशाली थी-वह आडम्बर शून्य थी—उसमें एक ऐसा प्रवाह था जो मानव को मानवीय दुर्बलताओं से ऊपर उठाता था-वास्तव में महाराजजी बड़े ही सरल, उदार एवं व्यापक दृष्टिकोण के 'महा-मानव' थे—वह नरवर के संस्कृत विद्यापीठ के महा केन्द्र थे। मैं आज तक उनके मिलन के वे अलभ्य क्षण भूल नहीं पाया हूँ। वास्तव में वे अलभ्य क्षण मेरे जीवन को पुनीत निधि हैं, अलौकिक थाती हैं।

स्व० महाराजजी, जैसा मैंने उन्हें देखा

(जगन्नाथप्रसाद वैद्य आयुर्वेदाचार्य)

प्रातःस्मरणीय महाराजजी से मेरे परिवार के पारिवारिक सम्बन्ध पितृ-पितामह के समय से थे। समय की कसौटी पर कसा जाय तो अवश्य ही इन सम्बन्धों को एक शताब्दी व्यतीत हो चुकी होगी। मेरे ताऊजी ब्रह्मचारी फतहचन्दजी अलीगढ़ में खैर वाली सड़क पर स्थित बगीची में हो रहा करते थे। पूज्य महाराजजी अपनी बाल्यावस्था से ही अपने पिताजी स्व० पं० रामप्रसादजी शास्त्री वैद्यराज के साथ वहाँ निरन्तर आया-जाया करते थे। ताऊजी पहलवानी और गायत्री के बड़े भक्त थे। प्रातः ३ बजे उठकर स्नानादि से निवृत होकर संध्या, गायत्री जप और फिर १० बजे तक खूब कुश्ती लड़ना उनका दैनिक कार्यक्रम था। ताऊजी वर्ष भर में जो पैसा इकट्ठा करते थे उसे पितृपक्ष में श्राद्धकर्म में व्यय कर डालते थे।

पूज्य महाराजजी पर ताऊजी के साहचर्य का अमिट प्रभाव पड़ा था। ताऊजी के आचार-विचार और उनका स्वभाव उनमें साकार हो गया था यदि यह कहा जाय तो मिथ्या नहीं। स्वयं महाराजजी ताऊजी के साथ के अपने संस्मरण सुनाते समय बार-बार कहा करते थे कि कुश्ती, जप और श्राद्ध करना तो मैंने भाई फतहचन्द से ही सीखा है। महाराजजी भी अपने पिताजी का श्राद्ध बड़ी निष्ठापूर्वक किया करते थे। विद्यालय में पढ़ने वाले सभी छात्रों से पूछ-पूछ कर उनकी रुचि का भोजन कराते थे। इस प्रकार वर्ष भर में जो भी धन उनके पास एकत्रित होता था उसे वे ताऊजी की तरह सबकासब पित.जी के श्राद्ध में खर्च कर डालते थे। जप तो इतना करते थे कि गायत्री सिद्ध हो गई थी, अनेक अप्रत्याशित घटनाएँ इस बात की प्रमाण हैं।

मेरे पिता स्व० पं० नारायणदत्तजी वैद्य महाराजजी से ५ वर्ष छोटे थे। मेरे ताऊजी ने उन्हें महाराजजी के साथ ही पढ़ने को भेज दिया था। दोनों ही अलीगढ़, खुर्जा और काशी आदि स्थानों पर साथ-साथ पढ़ते रहे थे। काशी से लौटने पर महाराजजी भारतविख्यात पं० भीमसेनजी से महाभाष्य, अष्टाध्यायी और वेदों का अध्ययन करने के लिए इटावा रुक गये। पिताजी को घर जाकर पिताजी (मेरे बाबा) से वैद्यक पढ़कर विवाह करने की आज्ञा दी।

पिताजी के घर चले आने के कई वर्ष बाद महाराजजी नरवर से विद्यार्थियों को प्रथमा परीक्षा दिलाने अलीगढ़ आये और ताऊजी के साथ ही बगीची पर ठहरे। उस समय तक मेरा जन्म हो चुका था। पिताजी और मुझे घर (भाँखरी) से बुला भेजा था। सर्वथा अवोध होने के कारण उस प्रथम साक्षात्कार का मुझे कोई स्मरण नहीं। जैसा महाराजजी ने मुझे बताया पिताजी से उनकी यह अन्तिम भेंट थी। पिताजी के स्वर्गवास के कुछ वर्ष बाद ही महाराजजी मुझे नरवर ले आये थे। सदैव अपना दत्तक पुत्र मानकर मेरा पालन करते रहे।

आयुर्वेद पढ़ने की लालसा से जब मैं बाहर काशी चला गया तो सदैव यही लिखते रहे "घर में विद्यालय होते हुए परदेश में कष्ट उठाना उचित तो नहीं किन्तु तेरी हठ। जिस वस्तु की भी आवश्यकता हो लिखते रहना, सब प्रबन्ध होगा कोई चिन्ता नहीं, नारायणदत्त नहीं है मैं जीवित हूँ।"

जो भी उनके साथी थे या उनके शिष्य थे अथवा जिनसे उनका किसी भी प्रकार कोई सम्पर्क था उन सबकी सन्तानों के प्रति महाराजजी का अनन्य वात्सल्य भाव था। जो भी एक बार उनके सम्पर्क में आजाता। वह यही कहा करता था कि महाराजजी उसी से सर्वाधिकस्नेह रखते हैं। अपरिचित और अनजान व्यक्ति भी जो उनके पास किसी काम से चला गया वे सब काम छोड़कर उसके कार्य में संलग्न हो जाया करते थे। यही नहीं अनेक हिंसक, चोर और डाकू उनकी शरण में पहुँचकर सभ्य नागरिक बन गये थे तथा अधिकारियों को स्पष्ट लिखकर उन्हें बड़े-बड़े अपराधों से क्षमा प्रदान करा दी थी। एकबार तो तत्कालीन आई० जी० पुलिस श्री जैटली ने एक अपराधी से सम्बन्धित महाराजजी के पत्र को ही न्यायालय के समक्ष यह कहते हुए प्रस्तुत कर दिया था कि यह पत्र तो उस महात्मा का है जो स्वप्न में भी झूँठ नहीं बोल सकता। अपराधी उनकी शरण में सच्चरित्रतापूर्वक रह रहा है और रहेगा अतः मुक्त किया जाय। संक्षेप में वे 'अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति' के साकार रूप थे।

उनकी लेखन एवं भाषण शक्ति तो भारतप्रसिद्ध थी। सुन्दर हस्तलिपि के साथ-साथ बुद्धि और चातुर्य तो उन्हें जन्म से ही प्राप्त हुआ था। एक बार ही उन्होंने प्रथमा परीक्षा दी थी और उसमें वे भारतवर्ष में सर्वप्रथम आये थे। धार्मिक, सामाजिक और जातिउद्धार के कार्यों में तथा सभाओं और व्याख्यानों में उन्हें विशेष रुचि थी। अनेक बार वे अखिल भारतवर्षीय ब्राह्मण सभा, सनाढ्य सभा, विद्वत्परिषद्, धर्मसंघ; महारुद्र याग आदि के सभापति रहे थे। अनेक बार उन्होंने नरवर में ही बड़े-बड़े यज्ञादि कराके जंगल में मंगल किये थे। जब जब उनके प्रधान शिष्य श्री करपात्रीजी द्वारा धर्मसंघ-यज्ञ देहली, बनारस, बम्बई और कलकत्ता में कराये गये तब तब महाराजजी ही उसके यजमान बनाये गये। उनसे अधिक चरित्रवान् ब्रह्मचारी, गायत्री का पुजारी और तपस्वी कहीं अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं था।

उनके आश्रम में अनेक सेठ, साहूकार, साधु-सन्यासी, शंकराचार्य और मठाधीशादि से लेकर बड़े-बड़े अफसर और नेता तथा मिनिस्टर आया जाया करते थे। सबका यथोचित सत्कार उनका दैनिक कार्य था। जब भी कोई चलने को होता तो मानों ये शब्द उनके अधरों पर रखे ही रहते थे "रुकिये, चले जाइये, क्या शीघ्रता है, गंगा स्नान कीजिये।"

विद्यार्थियों से तो अपार प्रेम करते थे। सबों को लिखा करते थे, तू बहुत दिन से नहीं आया, शीघ्र आ, बहुत से आवश्यक कार्यों पर परामर्श करना है। उनका अन्तिम पत्र मेरे पास आया, "मैं बहुत रुग्ण हूँ, तू देखने नहीं आया, क्या भण्डारे में ही आयेगा।" मैं तुरन्त गया, देखा जप आदि कार्यक्रम पूर्ववत् चल रहा है, बातचीत पत्र लेखनादि सब यथावत् संचालित है। मेरे साथी सब चले गये, मैं रुक गया तो बोले तू भी जा। सम्भवतः उनका मोह अब समाप्त हो रहा था। सबों को शायद एकबार देखना भर चाहते थे। मैंने अपने साथियों से कहा शायद महाराजजी अब अधिक दर्शन नहीं देंगे। पूर्व तो वे जाने की बार बार प्रार्थना करने पर भी आज्ञा नहीं देते थे आज स्वतः ही जाने को कह रहे हैं, बड़ी विचित्रता है।

पाँचवे छठे दिन सुना महाराजजी नहीं रहे। मुझे अनाथ छोड़कर चले गये। मैं अनाथ बार बार भगवान राम के शब्द 'अनाथोऽस्मि महाबाहो को माम्.......... ....' का स्मरण करता हूँ।

जीवन-ज्योति

(बाबू ज्योतिप्रसाद, रईस, टुण्डला)

उत्तर प्रदेश में इटावा जिले के अन्तर्गत जसवन्तनगर निवासी रायबहादुर श्रीमान् लाला दुर्गाप्रसादजी बड़े प्रभावशाली, लोकप्रिय एवं कर्मठ व्यक्ति थे। सनातन धर्म में उनकी अनुपम निष्ठा थी। अपने जीवन में अनेक वर्षों तक वे अखिल भारतीय भारतधर्म महामण्डल के महामन्त्रिपद पर पुनः पुनः निर्वाचित हुए और अनन्यनिष्ठा से, महती योग्यता से इस कार्य-भार का निर्वाह करते रहे। उस समय जसवन्तनगर धर्म-चर्चा के साथ साथ सनातन धर्म तथा आर्यसमाज के मध्य आये दिन होने वाली शास्त्रार्थ-प्रतियोगिताओं का अतिव्यस्त रंगमञ्च बना हुआ था। दोनों पक्षों के उच्च-से-उच्च कोटि के गम्भीर विद्वान्, शास्त्रार्थ-महारथी वहाँ पधारते थे और उनके वाद-संघर्ष के दृश्य अतिमनोमोहक होते थे। इन समारोहों के आयोजन का समस्त श्रेय लाला दुर्गाप्रसादजी को ही था। वे मेरे सम्बन्धी थे। पारिवारिक सम्बन्ध के कारण ही यदा-कदा मैं वहां उपस्थित होता था और प्रसंगात् उस धर्म-चर्चा का आनन्द लेता था। आज धुंधली स्मृति के आलोक में मैं अनुमान करता हूँ कि सम्भवतः यह सन् १९०० ई० के आस-पास की बात है।

मुझे भलीभांति स्मरण है और मैं इसे अपना परम सौभाग्य ही मानता हूँ कि लगभग मेरी अवस्था के १५-१६ वें वर्ष से ही मेरा आकर्षण ब्र० श्रीजीवनदत्तजी महाराज की ओर सविशेष हो गया था जब वे उत्तर भारत के अद्वितीय विद्वान् वेद-व्याख्याता पं० भीमसेनजी इटावा निवासी के साथ शास्त्रार्थ-प्रतियोगिताओं में सनातनधर्म-पक्ष की सहायता करने के सिलसिले में इटावा से जसवन्तनगर आया करते थे। उनका सुसंघटित व्यक्तित्व, हँसमुख स्वभाव, मधुर-मित-भाषण, उज्ज्वल-मनोरम वेष मुझे बरबस अपनी ओर आकर्षित करते थे। मैं शास्त्रार्थ-मञ्च के पार्श्व में खड़े होकर बड़ी उत्सुकता से श्री ब्रह्मचारीजी के योग्यता-पूर्ण, आकर्षक क्रिया-कलाप को घण्टों देखा करता था और उनकी उस अदम्य प्रतिभा पर मुग्ध हुआ करता था जिसकी सराहना में सनातनी विद्वद्वर्ग "साधु-साधु" की झड़ी लगा देता था और प्रतिपक्षी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगती थीं, वह अप्रतिम हो बगलें झांकने लगता था।

सन् १९३४-३५ में मेरे बच्चों का उपनयन-संस्कार सम्पन्न हुआ। तत्कालीन साधनों और प्रवृत्तियों के अनुरूप वह कुछ अच्छा समारोह था। काशी से वैदिक क्रियाकलाप के मर्मज्ञ, यशस्वी विद्वान् स्वर्गीय पं० प्रभुदत्तजी अग्निहोत्री उपर्युक्त संस्कार का आचार्यत्व करने कृपया पधारे थे। ब्र० श्रीजीवनदत्तजी महाराज को भी सादर निमन्त्रण दिया गया था किन्तु महाविद्यालयीय समस्याओं में व्यस्त होने के कारण वे न आ सके। कुछ काल के उपरान्त उपनीत बच्चों के लिए उनका मंगलमय आशीर्वाद एक पत्र द्वारा प्राप्त हुआ। इसके तीन वर्ष पश्चात् सन् १९३८ से ब्रह्मचारी श्री जीवनदत्तजी महाराज की ओर मेरा अनुराग और अधिक बढ़ा और फिर सदा-सर्वदा बढ़ता ही गया। मैं बहुधा आश्रम पर जाता और उन दिव्य दर्शनों से कृतार्थ होता रहता था। यदा-कदा परहित के लिए उनकी प्रेरणा प्राप्त होती थी जिसे पालन करने के लिए अपना अहोभाग्य मानकर मैं चेष्टा किया करता था।

सन् १९४७-४८ की महालय अमा का पावन पर्व आया। दो दिन पूर्व हृदय में इच्छा जगी कि कहीं गंगातट पर स्नान-श्राद्ध कर पितृ-विसर्जन मनाया जाय। एतदर्थ कानपुर की यात्रा का विचार उठा। दूसरे दिन स्थानीय ठाकुर बीरीसिंह कालेज के अध्यापक श्री बहोरीदत्त शास्त्री से मैंने इसकी चर्चा की और सहजभाव से अपने संकल्प पर उनकी अनुमति चाही। उन्होंने इस संकल्प की सराहना की और एतदर्थ कानपुर के बजाय महाविद्यालय नरवर अधिक सुविधा का स्थान बताया। विचार-विमर्श के पश्चात् स्नान-श्राद्ध पूर्वक पितृविसर्जन महाविद्यालय नरवर पर ही करना स्थिर हुआ। चतुर्दशी की रात्रि को आगरा-बरेली पैंसेञ्जर से हम (मैं तथा श्री बहोरीदत्त शास्त्री) नरवर को रवाना हुए। राजघाट नरौरा पहुँचकर कुछ घण्टे विश्राम किया।

अमा के प्रातः हम दोनों राजघाट नरौरा रेलवे स्टेशन से गंगातट के सुरम्य मार्ग से महाविद्यालय नरवर को चले। मार्ग आश्रम और श्रीमहाराजजी के गुणानुवाद करते-करते बड़े आनन्द में पूरा हुआ। प्रातः की प्राणप्रद, शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु से थकान का लेश भी भान न हुआ। महाविद्यालय पर पहुँचकर वाटिका से कुछ पुष्पों का चयन कर हम महाराजश्री की कुटी पर पहुँचे। धीरे से किवाड़ खोलकर जैसे ही हम कुटी में प्रविष्ट हुए, श्रीमहाराज के भव्य दर्शनों से मुग्ध हो मन-ही-मन अपने भाग्य की सराहना की, प्रभु को शतशः धन्यवाद दिये कि उनकी असीम कृपा से हम उस दिन महापुरुष के दर्शनों से कृतार्थ हो रहे थे। शनैः शनैः महर्षि की पलकें ऊपर उठीं, मुखमण्ठल पर आह्लाद की आभा छिटकी और छलकते स्नेह का सौरभ बिखेरती हुई सुर-सरस्वती की प्रशान्त गम्भीर धारा प्रवाहित होने लगी :—

"अरे बहोरीदत्त ! कदाऽगतोऽसि ? अपि च बाबूजी, कुशलम्भवताम् सपरिवाराणाम् ? क्रियतामासन-परिग्रहः।"

(अर्थात् अरे बहोरीदत्त ! कब आया ? और बाबूजी ! आप सकुटुम्ब कुशल पूर्वक हैं ? बैठिये।)

ऋषिप्रवर के जप-साधन में अधिक विक्षेप को बचाते हुए मेरे साथी श्री शास्त्री ने संक्षेप में निवेदन किया :—

"साम्प्रतमपि अकृत-स्नानावावाम्। अन्यच्च बाबूजीमहोदयाः अद्य पार्वणं श्राद्धं चिकीर्षन्ति। तत्कृते कथं व्यवस्था भविष्यतीति कृपयाऽऽदिश्यताम्।"

(अर्थात् हम दोनों ने अभी तक स्नान नहीं किया है। और फिर बाबूजी आज पार्वण श्राद्ध करना चाहते हैं। उसके लिए किस प्रकार व्यवस्था होगी—कृपाकर आदेश दें।)

श्रीमुख से उत्तर मिला—

"अधुनैव ममादेशात् वेदपाठी भीष्मस्तदर्थं नियोज्यः तदनन्तरं युवां स्नात्वाऽऽगच्छतम्। भीष्मः सर्वं साधु सम्पादयिष्यति।"

(अर्थात् अभी मेरे आदेश से वेदपाठी भीष्मदत्तजी को नियुक्त कर दिया जाय। पश्चात् तुम दोनों स्नान करके आजाओ। भीष्मदत्तजो सब ठीक करा देंगे।)

प्रणाम कर कुटिया से निकलकर हमने वेदशाला में वेदाध्यापन-तत्पर पं० भीष्मदत्तजी वेदाचार्य को श्रीमहाराजजी का आदेश बताया और स्नानार्थ गंगाजी को चल दिये।

आध-पौन घण्टे में हम स्नान से लौटे। दर्शन-भवन के बराण्डे में आचार्य भीष्मदत्तजी ने श्राद्ध

का आयोजन कर रखा था। लगभग ६॥ बजे श्राद्ध-विधि आरम्भ हुई और १२॥ बजे तक अविराम चलती रही। अपने गायत्री-जप से निवृत्त होकर श्रीमहाराजजी श्राद्धस्थल पर पधारे और हमारे कर्म-कलाप का निरीक्षण कर प्रोत्साहन देते रहे। इस प्रकार श्रीमहाराजजी श्राद्ध-विधान के बीच में तीन बार उस विधि-सम्पन्नता को देखने आये। श्राद्ध विधि सम्पूर्ण हो जाने के पश्चात् ब्राह्मण-भोजन-काल में भी एक बार वे आये। उनका कर्मानुराग और प्रोत्साहन प्रणाली अत्यन्त प्रेरक भासित हुए। मैं अति प्रभावित हुआ। उनकी तत्परता और हार्दिक स्नेह से मैं गद्‌गद हो उठा।

मध्याह्नोत्तर भोजनादि से निवृत्त हो जैसे ही हम फिर श्रीमहाराजजी की कुटी पर पहुँचे, एक अन्य ही अतिभव्य दृश्य देखने को मिला—कुटी के बराण्डे में श्रीमहाराजजी विराजमान थे और उनके सम्मुख बैठे हुए कतिपय जिज्ञासु भक्त श्राद्ध विषय पर अपनी शंकाओं का समाधान पा रहे थे। हम लोग भी सुनने का लाभ लेने बैठे। जिज्ञासु जनों में से एक आर्यसमाजी भाई ने जो वेश-भूषा और भाषण-शैली से अच्छे संस्कृतज्ञ प्रतीत होते थे, प्रश्न किया—

"महाराज जी! श्राद्ध वैदिक कर्म है अथवा पौराणिक?"

"पूर्णतया वैदिक।" श्रीमहाराजजी मुस्कुराये और बोले—"पुराण तो, भैया, भक्ति के माहात्म्य तथा पद्धति को ही सर्वोपरि महत्त्व देते हैं, कर्म या ज्ञान के माहात्म्य एवं पद्धति को नहीं। हां, गरुड़पुराण आदि ग्रन्थों में कुछ श्राद्धीय वर्णन अवश्य उपलब्ध होते हैं, परन्तु वे अर्थवाद मात्र हैं विधि नहीं। श्राद्ध तो शुद्ध वैदिक कर्म हैं। कल्पसूत्र, अनेक वैदिक सूक्त एवं शतशः श्रुतियां श्राद्ध की विधेयता उद्‌घोषित करती हैं। इतने श्रुतिप्रमाणों के रहते श्राद्ध को पौराणिक कहकर उपेक्ष्य बतलाना वेद की प्रत्यक्ष अवहेलना है।"

इसी सन्दर्भ में उन्होंने अनेक श्रुति वचन उद्धृत किये जिन्हें उस आर्यसमाजी भाई ने भी बिना ननु-नच किये स्वीकार किया। मैंने उस समय समझा कि उनका शास्त्रीय ज्ञान अगाध था। वे विद्या के अपार सागर थे।

इसके उपरान्त मैं बहुधा सावकाश होते ही, जब इच्छा होती, आश्रम पर पहुँचता था और उनके दर्शनों से कृतार्थ होता था। मेरा यह नियम सा बन गया था—न मालूम क्यों उनके चरणों में पहुँचते ही मुझे उस आन्तरिक शान्ति का अनुभव होता था जो अन्यत्र दुर्लभ ही थी। उनके भव्य दर्शनों से हृदय में वह मस्ती छाजाती थी जिससे सांसारिक बाधाएं पास फटकने का साहस न करती थीं। जब तक वे रहे, मैं लौकिक-पारलौकिक चिन्ताओं से सर्वथा मुक्त रहा।

आवागमन का नाम ही संसार है। कौन ऐसा है जो आया तो हो, पर गया न हो। आज श्रीमहाराजजी इस संसार में नहीं हैं। उनके वात्सल्य से प्लावित शिष्य-प्रशिष्य एवं भक्त लोग उनके अभाव से शोकित हैं। वे महापुरुष आये और अपने जीवन भर अपनी विद्या, आचार, पुरुषार्थ और तपोमय जीवन से भारत को आलोकित कर पांचभौतिक शरीर से चले गये। रह गयी है उनकी जलायी ज्योति-विद्या का प्रकाश जो–आशा है, अनन्तकाल तक धूमिल न होगी। इस व्यापक विद्या-ज्योति रूप वे में अमर हैं और रहेंगे।

उनका महाविद्यालय उनका अचल स्मारक है और उनके सुयोग्य शिष्य-प्रशिष्यों की अविच्छिन्न परम्परा उनको चलती-फिरती संकल्पों की प्रतिमूर्तियां हैं। मैं आश्रम-परिवार के साथ संवेदना-सहानुभूति प्रकट करता हुआ इस संस्मरण-यज्ञ में ब्रह्मीभूत ब्रह्मचारीजी की दिवगत आत्मा को हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

महान् विभूति

(भक्त रामशरणदासजी, पिलखुवा)

हमें एक बार नहीं अपितु अनेकों बार भारत की महान् विभूति परमपूज्य प्रातःस्मरणीय बालब्रह्मचारी तपोमूर्ति पं० श्री जीवनदत्तजी महाराज नरवर वालों के श्रीचरणों के दर्शन करने और उनके शुभाशीर्वाद प्राप्त करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक समय कर्णवास में पूज्यपाद प्रातःस्मरणीय श्री स्वामी पूर्णानन्दतीर्थ उड़ियाबाबा ने बहुत बड़ा यज्ञ कराया। उस यज्ञ में आपको भी विशेष आग्रह करके बुलाया। भगवान् श्रीआशुतोष शंकरजी की असीमानुकम्पा से हमें भी उस यज्ञ में जाने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ। उसी समय हमने श्रीमहाराजजी के चरणों में बैठकर कुछ प्रश्न किये जिनका उत्तर उन्होंने उपदेशरूपेण दिया। हमने उस काल उनके उपदेश रूप उत्तर को लिख लिया था जिसको हम नीचे लिख रहे हैं।

हमने कहा महाराजजी हमारा कल्याण कैसे हो सकता है? श्रीमहाराजजी ने कहा, "यदि अपना कल्याण चाहते हो तो तुम्हें वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार चलना होगा और मानना होगा कि बिना वर्णाश्रम के माने हुए कल्याण नहीं हो सकता। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यही हमारे शास्त्रों का मत है।"

हमने कहा, "महाराजजी! श्री गांधीजी का तो यह कहना है कि जब तक इस देश से वर्णाश्रम-धर्म जात-पांत, छुआ-छूत दूर नहीं होगा तब तक देश का उत्थान होना कठिन है और न अपना ही कल्याण हो सकता है। अतः वे सम्पूर्ण भेद-भावों को तोड़कर एक करने का प्रयत्न कर रहे हैं।"

महाराजजी ने कहा हम सनातनधर्मी हिन्दुओं के लिए शास्त्र प्रमाण है, शास्त्रानुसार चलना ही कल्याण का मार्ग है और धर्म है। लिखा है; "शास्त्रविहितकर्मजन्यो धर्मः"

शास्त्र ने वर्णाश्रम-धर्म का प्रतिपादन किया है। वर्णाश्रम-धर्म के अनुसार चलने में ही प्राणि-मात्र का कल्याण है। वर्णाश्रम व्यवस्था हिन्दू जाति की रीढ़ है, किला है। पौने दो अरब वर्षों से हिन्दू जाति की रक्षा का एकमात्र कारण हमारी प्राचीन वर्णाश्रम व्यवस्था है। वर्णाश्रम-व्यवस्था मनुष्य कृत नहीं है अनादिकाल से चली आ रही है। ईश्वर कृत है। कहा भी है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारव्ययम्॥

गुण और कर्मों के विभाग से ब्राह्मण; क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र मेरे द्वारा रचे गये हैं उनके कर्ता को भी मुझ अविनाशी परमेश्वर को तू अकर्ता ही जान।

भगवान् की बनाई हुई वर्ण-व्यवस्था को मिटाना बड़ा घोर पाप है, महान् अधर्म है। इसी प्रकार इस भयङ्कर कलिकाल में श्रीहरिनाम-कीर्तन करना, श्रीहरिनामजप करना, श्रीहरिनाम स्मरण करना कल्याण का सरल सुगम मार्ग है। लिखा भी है:—

यत्कीर्तनं यत्स्मरणं यदीक्षणम् यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम्।
लोकस्य सद्यो विधुनोति कल्मषं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

जिनका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन जीवों के पापों को तत्काल नष्ट कर देता है उन पुण्यकीर्ति भगवान् श्रीकृष्ण को बार-बार नमस्कार है।

विचक्षणा यच्चरणोपसादनात् सङ्गं व्युदस्योभयतोऽन्तरात्मनः।
विदन्ति हि ब्रह्मगतिं गतक्लमास्तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः॥

विवेकी पुरुष जिनके चरण कमलों की शरण लेकर अपने हृदय से इस लोक और परलोक की आसक्ति निकाल डालते हैं और बिना किसी परिश्रम के ही ब्रह्मपद को प्राप्त कर लेते हैं उन मङ्गलमय कीर्ति वाले भगवान् श्रीकृष्ण को अनेक बार नमस्कार है। कीर्तन का महत्व बतलाकर महाराजजी ने कहा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को यज्ञोपवीत संस्कार अवश्य कराना चाहिए तथा नियमित संध्यावन्दन अवश्य करना चाहिए क्योंकि लिखा है—

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलञ्च सन्ध्या, वेदाः शाखा धर्मकर्माणि पत्रम्।
तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं, छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखाः॥

विप्र रूपी वृक्ष का मूल संध्या और डालियां चार वेद हैं तथा धर्म-कर्म आदि उस वृक्ष के पत्ते हैं अतः मूल की बड़े यत्न से रक्षा करनी चाहिए क्योंकि जड़ के नष्ट होने से न पत्ते रहते हैं न डालो, अर्थात् संध्या नित्यप्रति किया करें।

इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का पालन करना भी परमाश्यक है क्योंकि—

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्य्येणाऽनुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां ꣳ सर्व्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।

ब्रह्मचर्य्य द्वारा ही ब्रह्मलोक प्राप्त होता है और उस लोक में सिद्ध पुरुष कामचारी होते हैं। यह सब ब्रह्मचर्य के द्वारा दैवीशक्ति-लाभ का फल है। इसी शक्ति को प्राप्त होने से ही भीष्म-पितामह को इच्छा-मृत्यु लाभ हुआ था। शरशय्या पर शयन करके भी उन्होंने पवित्र ब्रह्म-ज्ञान और धर्मोपदेश किया था। इसीलिए गीता में लिखा है कि—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

जीते ही जिसने शरीर और मन को शान्त कर लिया है। किसी प्रकार काम-क्रोध से इन्द्रियाँ चञ्चल न हों वही योगी है, वही सुखी है। इसीलिए "प्राणायामः परं बलम्" प्राणायाम परम वल है। योग-शास्त्र में कहा है "मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात्।" वीर्य-नाश से मनुष्य की मृत्यु और वीर्य-धारण से मनुष्य का जीवन है।

महाराजजी ने माताओं को भी कल्याण का मार्ग निर्देश इस प्रकार किया :—स्कन्द पुराण में लिखा है—

तपनस्तप्यतेऽत्यन्तं दहनोऽपि च दह्यते।
कम्पन्ते सर्व्वतेजांसि दृष्ट्वा पातिव्रतं महः॥

पति-व्रता के तेज से सूर्य्य एवं अग्नि आदि ज्योतिष्मान् पदार्थों की ज्योति संसार को आलोकित करती है। याज्ञवल्क्यजी ने लिखा है कि—

मृते जीवति वा पत्यौ या नाऽन्यमुपगच्छति ।
सेह कीर्तिमवाप्नोति मोदते चोमया सह ॥

पति की जीवितावस्था में या मृत्यु के बाद भी जो स्त्री अन्य पुरुष की कभी इच्छा नहीं करती है उसको इस लोक में यश मिलता है और परलोक में उमा के साथ सतोलोक में आनन्द से रहतो है । दक्ष–संहिता में लिखा है कि—

अनुकूला न वाग्दुष्टा दक्षा साध्वी प्रियंवदा ।
आत्मगुप्ता स्वामिभक्ता देवता सा न मानुषी ॥

जो स्त्री पति के अनुकूल आचरण करती है, कटुवचन नहीं कहती है, गृहकार्य्यों में दक्षा, सतो, मिष्टभाषिणी, धर्म की रक्षा करने वाली पतिभक्ति परायण है वह मानवी नहीं है देवी है ।

एक दृष्टिरेकमना भर्तुर्वचनकारिणी
तस्या बिभीमहे सर्वे ये तथाऽन्ये तपोधनाः ॥

एकदृष्टि तथा एकचित्त होकर जो स्त्री पति के वाक्यानुसार कार्य करती है उससे महर्षि यम जैसे तपस्वी लोग भी डरते रहते हैं ।

पतिव्रतात्परं नाऽस्ति स्त्रीणां श्रेयस्करं व्रतम् ।
धर्मं कामं च मोक्षञ्च सर्वमाप्नोत्यतों यतः ॥

स्त्रियों के लिए पतिव्रत से अधिक कल्याणकारी व्रत और कोई भी नहीं है क्योंकि इसी से स्त्री-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभी को प्राप्त करती है ।

मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य च दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥
भर्ता देवो गुरुर्भर्त्ता भर्त्ता तीर्थव्रतानि च ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य पतिमेकं समर्चयेत् ॥

पिता, भ्राता, पुत्र परिमित देने वाले हैं परन्तु पति ही स्त्री को अपरिमित देने वाला है इसलिए कौन स्त्री पति की पूजा न करेगी ? पति ही देवता, गुरु, तीर्थ, व्रत है इसलिये समस्त को त्याग कर पति की ही सेवा पूजा करनी चाहिए और कहा भी है—

पत्युः पादं दक्षिणं तु प्रयागं द्विजसत्तम ।
वामञ्च पुष्करं तस्य या नारी परिपालयेत् ॥

स्त्री के लिए पति का दक्षिण पद प्रयाग है और वामपाद पुष्कर तीर्थ स्वरूप है । मर्यादा-पुरुषोत्तम श्री भगवान् रामचन्द्रजो ने आदर्श सीता के विषय में कहा है कि—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी, धर्मेषु पत्नी क्षमया धरित्री
स्नेहेषु माता शयनेषु रम्भा, रङ्गे सखी लक्ष्मण ! सा प्रिया मे ॥

हे लक्ष्मण ! सीता सती कर्तव्य के विषय में मन्त्री के सदृशी और कार्य करने में दासी के सदृशी है, धर्म के विषय में अर्द्धाङ्गिनी है, पृथिवी के समान क्षमाशालिनी है, माता के समान स्नेह-शीला है, सहवास में दिव्य स्त्री है और कौतुक के समय सखी की तरह आचरण करने वाली हैं, ऐसा कहकर महाराजजी ने गद्‌गद् होकर कहा माताओं की महिमा वर्णनातीतहै ।

महाराजजी का आतिथ्य

(श्री राजाराम बंसल, भूतपूर्व चैयरमैन टाउन एरिया कमेटी, टूण्डला)

मुझे भी एकबार सन् १९५२ में कुछ मित्रों के साथ महाराजजी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उनकी सौम्य मूर्ति देखकर एकदम गद्गद् हो गये। महाराजश्री की आत्मीयता तथा आतिथ्य संस्कार सराहनीय था। ऐसा मालूम पड़ता था कि घर का ही कोई बुजुर्ग हम लोगों के सम्मुख खड़ा होकर हमारी कुशल क्षेम पूछ रहा है। इससे पहिले महाराजश्री का नाम तो हम लोगों ने सुन रक्खा था परन्तु साक्षात्कार उसी दिन हुआ। हालाँकि कई बार प्रयास किया कि महाराजश्रीं के दर्शन करें परन्तु व्यवस्था नहीं बन उकी। मेरे परममित्र स्वर्गीय पं० गयाप्रसादजी शर्मा भूतपूर्व, अध्यक्ष जिला परिषद् आगरा के विशेष आग्रह पर ही नरवर जाने का आयोजन हुआ था। वह भी आश्रम की प्रगति वहाँ की व्यवस्था देखकर चकित रह गये। हमारे साथ श्री गिर्राजप्रसाद मित्तल रिटायर्ड तहसीलदार, चौबे भवानीशंकरजी तथा पं० जगन्नाथप्रसाद शर्मा वैद्य भी थे। महाराजजी की वह बात अभी तक याद है कि चाय के लिये प्रश्न हुआ था कि स्नान के बाद होगी या अभी। हम लोगों ने कहा कि चाह तो स्नान के बाद ही होगी। उस पर महाराजजी कहने लगे आज-कल तो स्नान से पहिले भी चलती है। एकबार तो अब ले लो और स्नान के बाद फिर ले लेना। यहाँ तक कि हमारी तरफ से कोई संकेत न होते हुये भी महाराजजी ने हमारी कार के ड्राइवर को नाश्ता चाय पहिले ही पहुँचा दी थी। कितनी आत्मीयता, आतिथ्य था उनमें कुछ कहा नहीं जा सकता। चाय के साथ मेवा तथा खाने के अन्य पदार्थ सभी मौजूद थे। चाय भी हम लोगों को लोटा भर भरके दी गई थी। महाराजजी स्वयं कभी भी चाय सेवन नहीं करते थे। वह हमारा परम सौभाग्य था।



पुनीत संस्मरण

(श्री गंगादत्त शर्मा आयुर्वेदाचार्य, आगरा)

जीवन की कोई विशेष घटना परिस्थितिवश यदा-कदा स्मृति-पटल पर आती रहती है। इसी सन्दर्भ में मेरे लिये प्रथम घटना पिताजी का स्वर्गवास और दूसरी घटना मेरा विवाह था। असमय में होने के कारण दोनों अवसरों पर मुझे महान् कठिनाई का सामना करना पड़ा। यह संलग्नपत्र उसी से सम्बन्धित है (यह पत्र इसी ग्रन्थ में अन्यत्र छपा है)। यदि मैं इसे सामान्य प्रक्रिया समझता तब इस पत्र को अद्यावधि संजोये नहीं रख सकता था। पत्र और भी थे किन्तु मेरे लिये सामान्य होने के कारण उनको मैं सुरक्षित न रख सका। असमय में होने के कारण उक्त दोनों कार्यों को घटना की संज्ञा दी है।

प्रथम घटना के समय मेरी आयु १२–१३ वर्ष के लगभग थी। सबसे बड़ा होने के कारण परिवार का भार मेरे ऊपर आ पड़ा।

द्वितीय के समय, मैं श्रीललितहरि आयुर्वेद महाविद्यालय, पीलीभीत में (सन् १९५२) आयुर्वेदाचार्य (B. I. M. S.) के द्वितीय वर्ष में अध्ययन कर रहा था। श्री १००८ महाराजजी का पत्र मिला कि शारदावकाश में आओ तब चावल लेते आना। चावल उनका प्रिय एवं आवश्यक भोजन था।

आश्रम से मेरा चला जाना उन्हें अच्छा नहीं लगा था। वे संस्कृत भाषा के विद्वान् के रूप में मुझे देखना चाहते थे। इधर संस्कृत भाषा के विद्वानों की मनःस्थिति एवं आर्थिक स्तर को निरन्तर गिरते हुए देखकर इधर से मैं उत्साह रहित हो गया था। अतः मैं उनको आज्ञा के बिना ही चला गया था। इसके बाद दूसरा पत्र मिला जिसमें उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में लिखा था। इसका मैंने ११ पृष्ठों में प्रत्येक दृष्टिकोण से उत्तर दिया कि मैं अभी इस योग्य नहीं हूं। मैंने इस छोटे से कार्य को छोड़कर तन-मन से सभी सेवायें अर्पित करने को लिखा था। किन्तु उन्होंने, "शास्त्री, आचार्य कामना करते-करते रह जाते हैं, अब तो पंडित हो गये हो, आखिर—चतुर्भुज भगवान् के पुत्र हो, नहीं तो हमारी हंसी है" ऐसा लिखकर सभी युक्तियों से मेरे पत्र पर पानी फेर दिया। अतः मुझे उनके पास जाने के लिये बाध्य होना पड़ा। पहुँचने पर विवाह की तैयारी होने लगी, कार्यक्रम बनने लगे। कुछ पहले से ही सुनियोजित था। लग्न आ चुकी थी।

इस कार्यक्रम को देखकर मेरी चिन्ता और अधिक बढ़ गई और मैंने इसे अपने स्वाध्याय तप में विघ्न समझा। अतः किसी भी तरह टालने की इच्छा से एकान्त में वार्तालाप करने के लिये सायंकाल का समय, जब वे शौच क्रिया को जाते थे, उचित समझा। मैंने पहले से ही लोटा भर लिया था कि जब यह चलेंगे तभी मैं भी पीछे-पीछे चल दूंगा। जब कुटी से उतरकर जंगल की ओर चल दिये, मैं भी पीछे पीछे चल दिया। कुछ दूर चलकर मैंने निवेदन किया—"अभी अध्ययन के ही साढ़े तीन वर्ष शेष हैं, परिस्थिति आपसे छिपी नहीं है।

उत्तर :—चुप रह, सब ठीक हो जायगा। सब चलता रहेगा। 'शुभस्य शीघ्रम्' ये शब्द उन्होंने बड़ो प्रसन्नता और आत्मीयता के साथ कहे।

निवेदनः—मैंने कब मना किया है। इस शुभ कार्य को अध्ययन की समाप्ति पर कर लीजियेगा।

उत्तर :—बात ऐसी है कि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता है। शरीर की अधिक आशा नहीं है। मैं चाहता हूँ कि मेरे सामने ही तेरी चांई मांई हो जाय। फिर गहरी श्वास लेते हुए कहा कि "तेरे बाबा गंगासेवीजी (मूलनाम खमानीराम शर्मा, शरीरान्त नरवर पर हुआ) के बाद तेरे पिता का विवाह किया। अब तेरे पिता की मृत्यु के उपरान्त (शरीरान्त नरवर पर हुआ था) तेरा विवाह भी मुझे करना है। यह सब उन्होंने पीछे को घूमकर मुझसे कहा। और मेरे हाथ से लोटा लेकर गहरे खार की ओर चले गये।

किन्तु मृत्यु शब्द ने मुझे फिर वहीं खींच कर रख दिया। जब इस घटना के कुछ दिन बाद मैं उनके दरबार में पहुँचा। (यह संज्ञा इसलिये दी है कि सायं नीराजन के पश्चात् सभी वर्ग विचार-विमर्श, वेद-पाठ एवं अभिवादन के लिये एकत्रित हो जाते थे। अतः दरबार जैसा लग जाता था)। तभी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने कहा था कि "महाराजजी ये बच्चे अनाथ हो गये हैं। आपकी छत्रछाया की आवश्यकता है।" तब उन्होंने गम्भीर होकर कहा "ये बच्चे ऐसे बाबा एवं पिता की सन्तान हैं जो कभी दुखी नहीं रह सकते। इसके बाबा गंगासेवीजी गया में श्राद्ध करके घर पर धर्मशाला एवं कुआ बनवाकर तथा बगीचा लगवाकर आये थे। प्रातः शौच स्नानादि से निवृत्त होकर ११-१२ बजे तक गायत्री मन्त्र का जप करना, फिर भिक्षा मांगकर लाना, छात्रों एवं अतिथियों के लिये, आये हुए अन्नादिक की व्यवस्था करना और स्वयं उसे सम्हालकर रखना। तदुपरान्त भोजन बनाना और यह देखना कि कोई बिना भोजन किये तो नहीं रह गया है। उसके बाद स्वयं भोजन करना। मध्याह्नोपरान्त गीता का पाठ करना। इस प्रकार उन्होंने कई पुरश्चरण किये। और चतुर्भुज ने तो जिस लगन से विद्यालय की सेवा की है सभी को ज्ञात है। अतः ऐसे पूर्वजों की सन्तान दुखी नहीं रह सकती। उनकी भी बहुत तपस्या है।" चित्रपट की भाँति मेरे मस्तिष्क में यह सब घूम गया। मैं नीचे को मुख किये इसी चिन्ता में लीन था और आँखें आँसुओं से भर गई थीं। आहट सी पाकर देखा, शीघ्र आंसू पोंछ लिये। मैंने अपने कष्ट को (रोकर) शायद ही किसी के सामने प्रकट किया हो। इसीलिये वह मुझसे "मन्त्रिपुत्रो मनस्वी" कह देते थे। व्यवस्थित होकर उनके पीछे-पीछे चलने लगा। उन्होंने कहा था "चुप रह सब ठीक हो जायगा" मैं चुप रहा और सब ठीक होता गया। वे स्वयं कष्ट उठाकर बारात में गये थे। आत्मीयता यह थी कि उन्हें लिवा ले जाने के स्थान पर वे मुझे लिवा ले जा रहे थे। मैं अपने में गौरव तथा उनकी वात्सल्य कृपा का अनुभव कर रहा था "सब चलता रहेगा" यह उनकी शब्दावलि अमर वाणी की तरह है। मैं अद्यावधि उनके कथनानुसार चुप रहा और जो मैंने उनकी आत्मा में झांककर देखा था वह वैसा ही दिखाई दे रहा है। अतः उनके स्मृति ग्रन्थ के पुनीत अवसर पर चुप न रह कर अवश्य कुछ कहूँगा।

प्रारम्भ में उनकी धारणा ब्रह्मचर्य उपदेश एवं उसके क्रियान्वयन की रही। उन्होंने एक या दो शिष्य (गुरुमन्त्र द्वारा) बनाये। परीक्षण असफल होने पर उन्होंने "क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया" ऐसा कहना प्रारम्भ कर दिया और सम्भवतः उनकी कुटिया पर यह वाक्य लिखा रहा।

अपने जैसा एक भी शिष्य वनाने में अपने को असमर्थ पाने के कारण उभयभ्रष्ट होने वाले शिष्यों को गुरुमन्त्र देना वन्द कर दिया। यही कारण था कि अयोग्य समझकर फिर किसी को भी गुरुमन्त्र नहीं दिया। इसीलिये अध्ययनोपरान्त या युवावस्था में प्रवेश करते व्यक्तियों को वैवाहिक जोवन व्यतीत करने को बाध्य करते थे। और कभी-कभी "पुत्रोत्पादने दक्षाः अदक्षाः कर्मसाधने" ऐसा तक कह देते थे।

एकबार उनसे वार्तालाप करते हुए श्री १००८ उड़ियाबावाजी ने कहा था कि "भक्ति का प्रचार करते हुए एक भी भक्त नहीं बन पाया" यह सन्तों का वार्तालाप था। उत्तर में खेद व्यवत करते हुए कहा कि "एक भी आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने वाला न बन पाया।" बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के विषय में कहा करते थे कि मालवीयजी की भी इच्छा पूर्ण नहीं हुई, क्योंकि वाराणसी में गंगातट पर कम से कम एक सहस्र संख्या वाले वटु समुदाय को प्रातः सायम् सामूहिक रूप से सूर्योपस्थान करते हुए देखना चाहते थे। "लिखना विधि था लिखि गया राहू" वाली बात हो गई। अतः श्री १०८ श्रीमहाराज दुःखी एवं निराश हो शायद संसार को हेय समझकर छोड़ गये।

यदि हम सभी परिवारीजन उनके आदर्शों पर चलकर उनको अब भी तृप्त कर सकें तब वे एकबार फिर आनन्दित होंगे। अन्यथा यह स्मृति ग्रन्थ उनको कहीं और अधिक पीड़ा न पहुंचा दे।

ब्रह्मर्षि जीवन की प्रतिमूर्ति

(श्री राधाकृष्णाचार्य, वृन्दावन)

कलिमलप्रध्वंसिनी, पतितपावनी, पुण्यसलिला, विष्णुपादाब्जसंभूता भगवती भागीरथी के पावन तट पर अनेक ब्रह्मर्षि, राजर्षियों ने अपने जीवन को चिरकाल तक अखण्डतप में संलग्न कर ईश्वर का वह कृपाप्रसाद प्राप्त किया है जिससे वे प्रबुद्ध हो बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, बहुजनज्ञानार्जनाय के उदात्त कार्य में तत्पर हो अनेक प्राणियों को प्रकाश प्रदान द्वारा तार कर स्वयं भी अमृतत्त्व प्राप्त कर गये। ऐसे ही प्राणियों में श्री नरवर पाठशाला के संस्थापक श्री पं० जीवनदत्तजी महाराज थे।

आप प्रारम्भ से ही सौम्य स्वभाव, सरल प्रकृति एवं तीक्ष्णबुद्धि के ब्रह्मचर्यव्रती महात्मा थे। आपने महापुरुषों के चरणों में निवास कर उनके द्वारा उन गुणों का अर्जन किया था जो वास्तव में एक मुमुक्षु चेतन को प्राप्तव्य हैं। शास्त्र की शरण ग्रहण कर जीवन को उसके लक्ष्य की ओर मोड़ दिया था, अतः उसकी इस आज्ञा को कि "तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरं परम्। तपसा किल्विषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते" तप और विद्या विप्र के लिये परम कल्याणकर हैं; तपस्या से पाप नष्ट होते हैं और विद्या से प्राणी अमर हो जाता है। ठीक इसी के अनुसार श्रीजीवनदत्तजी ने अपने जीवन को तप और विद्या के लिये समर्पित कर दिया। थोड़े ही दिनों में प्रभु ने आपको वह जीवन प्रदान कर दिया जिससे वे अब जन कल्याण में तत्पर हो गये। आपने सोचा कि जब तक व्यक्ति भारतीय संस्कृति के आधारभूत संस्कृत वाङ्मय का अध्ययन नहीं करेंगे तब तक जन-जीवन शुद्ध सात्विक नहीं हो सकता। इसी उद्देश्य को लेकर आपने नरवर पाठशाला की नींव डाली। उसके द्वारा संस्कृत

एवं संस्कृति का जन-जन में प्रचार करने लगे। आप इस पाठशाला के संरक्षक, संवर्धक एवं सर्वस्व थे।

श्रीनरवर महाविद्यालय राजघाट के निकट ब्रह्मद्रवस्वरूपा जाह्नवी के पवित्र तट पर परमरम्य आरामों से वेष्टित सुस्थल में स्थित है। इसकी शान्ति एवं रमणीकता अति मनोहर है। आश्रम में बैठे ही भगवती भागीरथी के दर्शन का सुयोग प्राप्त होता है। इस विद्यालय में सुयोग्य तपस्वी विद्वानों के द्वारा प्राचीन ऋषिप्रणाली से वेद, व्याकरणादि विद्याओं का दान किया जाता है। निकट तथा सुदूर देश के विद्यार्थी वहाँ अपना वास्तविक जीवन प्राप्त कर धन्य बन जाते हैं। उन्हें भोजन, आवास के साथ उत्तम विद्या तथा उच्च चरित्र यहीं से प्राप्त होता है। गंगाजल से भोजन का निर्माण तथा उसी को पानकर उसी में अवगाहन स्नान से शारीरिक शुद्धि कर गायत्री के जप से आत्मिक शुद्धि का सुगम सुयोग यहीं पर प्राप्त है।

यहां से इस प्रकार के पवित्र वातावरण में अनेक ऐसी नर-वर प्रतिभाएँ निकलीं जिनसे देश, धर्म का स्तर ऊँचा उठा और उसकी पुनः प्रतिष्ठा हुई। एक ही उदाहरण के द्वारा 'सर्वेपदाः हस्तिपदे निमग्नाः' सब पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं। मात्र दिशा प्रदर्शन पर्याप्त होगा कि तपोमूर्ति श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज इसी यशोमयी पाठशाला के प्रतिभाशाली विद्यार्थी और स्व० श्री ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी शास्त्री के कृपापात्र रहे हैं। अब यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि विद्यालय का वातावरण कितना शुद्ध, सात्विक और उच्चस्तरीय होगा। इस प्रकार उत्तर भारत के अनेक व्यक्ति इस आश्रम के चिरऋणी हैं।

नरौरा ग्राम एवं निकटवर्ती गांवों तथा बुलन्दशहर के प्रायः अनेक धनोमानी सज्जनों की इस विद्यालय पर उक्त कारणों से महती श्रद्धा रही है। वे प्रतिक्षण तन, मन, धन से इसके संरक्षण हेतु तत्पर रहते चले आये हैं। वास्तव में संस्कृत वाङ्मय व संस्कृति के सच्चे सेवक हैं।

आज से लगभग १७–१८ वर्ष पूर्व श्री ब्रह्मचारी जीवनदत्तजी का भौतिक शरीर यद्यपि काल के द्वारा छीन लिया गया, लेकिन उनका 'श्री नरवर महाविद्यालय' रूपी यशःशरीर आचन्द्रार्क उनके शुभ पुण्य अभिधेय को अभिहित करता रहेगा। निश्चय ही आज ऐसे महानुभावों की आवश्यकता है। हम उनकी कीर्ति का कहाँ तक वर्णन करें वे तो स्वयं ब्रह्मनिष्ठ महात्मा थे। केवल यही शुभकामना प्रभु के पदपद्मों में करते हैं कि उनका यह विद्यालय सतत उन्नति के पथ पर अग्रसर हो जिससे देश शुद्ध रत्न प्राप्त कर सके।

पूज्य महाराजजी की महिमा

(लाला भगवानदास, शिकोहाबाद)

पूज्यपाद महाराजजी के दर्शन का सौभाग्य मुझे सन् १९३९ में हुआ। मैंने आपके नैष्ठिक ब्रह्मचर्य की और गायत्री जाप की बात सुनी तो मुझे आपके दर्शनों की इच्छा प्रबल हुई। मैंने गुरुजी से प्रार्थना की कि आप गायत्री यज्ञ कराने के लिए शिकोहाबाद पधारें। महाराजजी पधारे और वह यज्ञ कई विद्वानों के सहयोग से, सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ।

दूसरा यज्ञ भी महाराजजी की अध्यक्षता में हुआ। यह महारुद्र यज्ञ संवत् २००४ के माघ महीने में हुआ था। इसमें एक ऐसा विघ्न आ उपस्थित हुआ जिसका निराकरण गुरुजी ने बड़ी शीघ्रता और शान्ति से कर दिया। यज्ञ में भाग लेने के लिए सैकड़ों स्त्री-पुरुष एकत्र हुए थे। उनकी रक्षा के लिए महाराजजी ने बुलन्दशहर से पी० ए० सी० के कुछ सिपाही बुला लिए थे। एक रात को जब पी० ए० सी० वाले अपनी बन्दूकें एक कोठरी में बन्द करके सो रहे थे, एक आदमी ने बन्दूकें एवं कारतूस चुरा लिए, वह पकड़ा गया और पुलिस ने उसे भयंकर शारीरिक दण्ड दिया, परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। फिर उसे महाराजजी के पास ले जाया गया। उसने गुरुजी के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। गुरुजी ने कहा कि यदि तू कारतूस और बन्दूकें ला देगा तो मैं तुझे छुड़ा दूँगा। उसने सब चीजें लाकर दे दीं। गुरुजी ने उसे छुड़ा दिया। थानेदार आदि ने कहा कि इसको छोड़ने से हमारे अफ़सर हम पर नाराज होंगे। इस पर गुरुजी ने उन्हें आश्वस्त कर दिया कि मैं आई० जी० को लिख दूँगा, तुम्हारा कुछ भी न बिगड़ेगा। इस प्रकार यज्ञ सम्पन्न हुआ।

पूज्य ब्रह्मचारीजी की महिमा का एक उदाहरण और दूँगा। एकबार नवरात्र के दिनों में मैं सपरिवार नरवर विद्यालय में ही ठहरा। वहाँ बड़े-बड़े विद्वान्, वेदपाठी, शास्त्री, आचार्य, अग्निहोत्री उपस्थित थे। मैंने गुरुजी से प्रार्थना की कि मैं यहाँ ब्राह्म-भोज करना चाहता हूँ। ब्राह्मणों को भोजन कराने की गुरुजी ने आज्ञा दे दी। पूर्णमासी का दिन था। बारह बजे श्री अग्निहोत्रीजी ने मुझसे कहा कि तुम गंगाजी को भोग लगा आओ। गुरुजी ने कहा कि ब्राह्मण भूखे हैं, देर बहुत हो चुकी है, तुम पंडितों के पैर धोकर उन्हें भोजन के लिए बिठाओ और अपनी पौत्री गायत्री को एक आदमी के साथ भोग लगाने के लिए भेज दो। मैंने पूजा की थाली मटरूमल को दे दी और गायत्री को साथ में भेज दिया। गंगाजी के किनारे मटरूमल को लघु शंका लगी। वह पूजा की थाली गायत्री को देकर बोला—तुम चलो, भोग लगाओ, मैं आता हूँ। वह लघु शंका करने एक खेत में बैठ गया। गंगा में प्रवेश करके जब गायत्री पूजा करने लगी तो वहाँ करीब ७-८ वर्ष की कन्या प्रकट हो गई। उसने गायत्री के हाथ को पूजा ग्रहण की, खीर-पूड़ी खाई। वह लड़की सफेद कपड़े और नाक में नथ पहने थी। गायत्री ने चिल्लाकर कहा कि मटरूमल जल्दी आकर देखो यह लड़की खीर-पूड़ी कैसे खा रही है। मटरूमल दौड़कर गया, मगर उसे कुछ भी नजर नहीं आया। सारी घटना गायत्री ने पाठशाला पर जाकर गुरुजी से कही। गुरुजी ने कहा कि बेटी, किसी से कहना मत।



श्रद्धाञ्जलिः

(पटवर्धन पचौरी 'देवदूत' श्रीनरवराश्रम)

श्रीविप्रान्वयसम्भवं सुकुलजं तन्नः सतां सम्मतं
दीनानामुपकारकं परहितञ्चान्वेषिण सद्धियम् ।
इत्थं गेययशोयुतं ह्यधिगतं विद्यावयोवृद्धतां
वन्देऽहं मनसा गिरा च शिरसा जीवं परेच्छापरम् ॥

मानव की मूर्ति को गढ़ते हुए निर्माता को न जाने कितने युग बीत गये, किन्तु अभी तक कृतकार्य होने का चरम सुख उसे नहीं मिला है। जो मूर्तियां वह गढ़ता आरहा है, उसमें वे सब गुण कहां हैं, जो जीवन में काम्य हैं ? किसी में आकृति की, किसी में सौष्ठव की, किसी में संरचना की एवं किसी में कला की दृष्टि से कोई न कोई त्रुटि अवश्य रह जाती है। यदि कोई मूर्ति नियति के विधान से सुन्दर निकल भी आती है तो अकस्मात् उसके टूटने में देर नहीं लगती है। ऐसी ही एक माटी में कला की मूर्ति थी, जिसमें रचयिता ने मानवता की आत्मा का रस उँडेल दिया था। पारिजात के सौरभ से, कल्पवृक्ष के औदार्य से, कुसुमचय के सौन्दर्य से एवं प्रेम के माधुर्य से इस प्रतिमा को गढ़ा गया था। इसलिये स्रष्टा की उस कला में एक ऐसी दीप्ति, एक ऐसी कान्ति, एक ऐसी चमत्कृति विद्यमान थी कि जिसको कहने के लिए शब्द नहीं। इसकी अद्भुत कहानी है।

हमारे संस्थापक महाराज श्री १००८ जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी के व्यक्तित्व का निर्माण कुछ विचित्र तत्वों के मिश्रण से हुआ था। मूलतः इनका हृदय भारतीय संस्कृति के संस्कारों से रंगा हुआ था। महामना मालवीय, स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय, लोकमान्य तिलक एवं गोपालकृष्ण गोखले सदृश तेजस्विता एवं सामञ्जस्य भावना इन्हें ईशप्रदत्त थी जिसे गुरुचरणों में रहकर इन्होंने पल्लवित करके लोकोपयोगी बनाया था। नये युग की नई मान्यताओं के साथ तालमेल बिठाकर चलने में महाराजजी की दक्षता अनुकरणीय रही। इनके हृदय में ब्राह्मणत्व का अभिमान हिलोरें मारता था, किन्तु अपनी स्वाभाविक उदारता के कारण वे सभी वर्ण, जाति एवं सम्प्रदाय के लोगों के साथ एकता कर लेते थे। इनके रचनात्मक पवित्र विचारों में अलकनन्दा का सा वेग था तथा समस्त विवादी स्वरों के बीच अपना संवादी राग अलापते रहना उनकी निजी कला थी। वस्तुतः इनकी मधुरता कही जावे अथवा शालीनता—उनमें एक ऐसा विलक्षण गुण था जो विपक्षियों के हृदय पर भी जादू का सा प्रभाव डालता था। दूसरों का हित करना और प्रिय बोलना, यही उनका वशीकरण मन्त्र था।

प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक जीवन दर्शन होता है। जो लोग पूज्यपाद महाराजजी के निकट सम्पर्क में थे, वे अच्छी तरह मान गये थे कि उनके चरित्र में आचरण एवं व्यवहार में शिक्षा का दर्शन उद्भासित हो रहा था। उनके प्रत्येक कार्य में, प्रत्येक चेष्टा में शिक्षक का आदर्श झलकता था। उनका अपना एक व्यावहारिक दर्शन भी था, जिसको उन्होंने अपने जीवन की मुक्त-अमुक्त अनुभूतियों के सार से रचा था। वे सफल जीवन के लिए श्रम और क्रियाशीलता को बड़ा आवश्यक बतलाते थे और 'कथनी' की अपेक्षा 'करनी' को कहीं अधिक प्रभावी मानते थे। 'जानने' और 'मानने' की अपेक्षा 'करने' में अधिक रुचि दिखलाते थे। इस 'करने' में ही उनके जीवनदर्शन का विकास हुआ था, जो हम सबके लिये प्रेरणाप्रद स्रोत एवं प्रकाशस्तम्भ बना।

वे उग्रता एवं क्षोभ से कोसों दूर थे। उन्हे मनुष्य की दुर्बलताओं पर सहानुभूति थी। अपराध करने के बाद विद्यार्थी एवं भूल कर लेने पर अध्यापक उनके कृपापात्र ही बने। सदा वे हलके और प्रसन्न होकर जपाराधन एव विद्यालयीय हितसाधन करते रहे। दिग्दिगन्त से इन्हें इतनी श्रद्धा मिली कि प्रत्येक शिक्षाशास्त्री एवं सन्त के लिये असूया का विषय है। मानवीयता उनके कर्मशिल्प का मन्त्र था। अधिकार का प्रयोग कर विभीषिका खड़ा कर देने की नौबत वे आने ही नहीं देते थे। सहस्रों युवक उनसे चरित्र और ज्ञान को दीक्षा ग्रहण करके सफलतापूर्वक जी रहे हैं।

अध्यवसाय, परिश्रम, कर्त्तव्यपरायणता, बलिदान-भावना, त्याग, तपस्या, लगन, उत्साह, सहयोग और सहानुभूति के सद्‌गुण श्रीमहाराजजी में प्रचुर मात्रा में विद्यमान थे एवं जनजीवन की दौड़ में इन गुणों से ही वे सबके आश्रय एवं वरेण्य बने। महाराजजी के प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि इन सद्‌गुणों को विकसित करने में ही हो सकती है। मेरे ज्ञान और कार्य दोनों के वे प्रखर पथ प्रदर्शक रहे। आज वे पार्थिव शरीर से भले ही हमारे मध्य न हों, पर उनके गुण और कार्यविधि की स्मृति और भी अधिक जागरूक होकर हमारे साथ है। श्री नरवराश्रम के साथ उनका स्नेह और आशीर्वाद सदा सदा के लिये सम्बद्ध है। हम सब मिलकर उन्हें श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

सज्जन सुकृत सिन्धु सम कोई।
देखि पूर विधु बाढ़इ जोई॥

एक संस्मरण

(बनवारीलाल मिश्र, फिरोजाबाद)

प्रभु अलग-अलग क्षेत्रों के निर्माणार्थ विशेष आत्माओं को इस पृथ्वीतल पर भेजते हैं। माता, पिता, गुरु अनेक प्रकार से उस महापुरुष का विकास करते हैं। अतः परिवार के साथ गुरुकुल का सामंजस्य होता है और प्रभु का निश्चित कार्य सम्पन्न होने के साथ शेष कार्य साथी, शिष्य एवं जनता पर छोड़कर उसे तुरन्त वापस बुला लिया जाता है ऐसे ही प्रभुलीला क्रम में श्रीजीवनदत्त ब्रह्मचारी का जन्म एवं कार्य क्षेत्र रहा। एक बार मुझे भी उन महाराजजी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। मैं श्रीहनुमान् संस्कृत विद्यालय फिरोजाबाद का व्यवस्थापक था। दर्शन करने में वह तपे हुए कंचन को सी सौम्य मूर्ति। संध्या का समय था। मैं संस्कृत शिक्षा पर विचार-विमर्श करने गया था साथ में अनेक लिखित प्रश्न ले गया था जो अन्त तक मेरी जेब में ही पड़े रह गये। मैं तो पास जाते ही मंत्रमुग्ध सा हो गया तथा महाराजजी से प्रश्न करने की भावना ही लुप्त हो गई। महाराजजी बोले, 'संस्कृत शिक्षा के विकास एवं प्रचार के लिए प्रयत्न करना तो स्वर्ण का दान देना है किन्तु सफल होना कठिन ही है। मैंने चकित होकर मुखमंडल पर तेज तथा व्याकुलता का विचित्र भाव देखा था मानों वह सारे देश को अपना जैसा ही देखना चाहते थे। प्रत्यक्ष ही है उनकी जीवन संस्था 'श्री साँगवेद विद्यालय' अनेक विद्वान तो पैदा कर चुका है किन्तु उन जैसा जीवन बलिदानी, त्यागी-तपस्वी विद्वान् बनकर उनके उस दिव्य संकल्प को आगे बढ़ाने वाला वीर पैदा नहीं कर सका है। ऐसे थे परमवीर श्रीजीवनदत्त ब्रह्मचारीजी महाराज स्वर्ग निर्माता।

श्रीगुरुजी के संस्मरण

(आयुर्वेदाचार्य पुरुषोत्तमदेव शर्मा, इगलास, अलीगढ़)

प्रातःस्मरणीय परमवीतराग तपोनिधि स्वनामधन्य ब्रह्मर्षि, परम श्रद्धास्पद श्रीमहाराज जीवनदत्तजी के परमोच्च जीवनचरित्र को लिखने की शक्ति तो इस अल्पबुद्धि में नहीं। मैं तो श्रीमहाराज के पादपद्मों में रहकर मन को आकर्षित करने वाली जीवन की कुछ विशेष घटनाओं को जिनका जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ा लिखने का साहस कर रहा हूँ। श्रीमहाराजजी ने अपनी कुशाग्र बुद्धि से आश्रम के स्थान का चयन— पतितपावनी पुण्यसलिला जगदम्बा भगवती भागीरथी के पावन तट पर भगवान् चन्द्रमौलि आशुतोष शिवशंकर की प्रेरणा से ही किया, ऐसा प्रतीत होता है। इतना विशाल कार्य भविष्य में भगवान् की महती अनुकम्पा के विना होना शक्य नहीं था। श्रीमहाराजजी परम आस्तिक महापुरुष थे। आपका जीवन-चरित मुझ जैसे अनेकानेक मन्दबुद्धि वालों का पथप्रदर्शक हुआ। उनकी कृपादृष्टि जिसपर पड़ गई वह धन्य होगया।

आपकी वाणी से प्रायः यह श्लोक सुना गया। 'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम् परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्।' आपने जीवनपर्यन्त इसका पालन भी किया। 'पापाय परपीडनम्' का एक विशेष उदाहरण मेरे हृदयपटल पर आज भी अंकित है। प्रातः लगभग १० बजे के समय श्रीमहाराजजी अपनी कुटिया में जप कर रहे थे उसी समय बाहर का एक अपरिचित व्यक्ति आश्रम पर कुटिया के समीप हारा थका अपनी आदत के अनुसार बीड़ी पीने लगा। इसके थोड़ी देर बाद विद्यालय का एक छात्र जो महाराजजी की सेवा में रहता था बीड़ी पीने वाले अनजान व्यक्ति को अशिष्टता के साथ फटकारने लगा। इस क्रोधातुर तीव्र वाणी का निनाद श्रीमहाराजजी के कर्णरन्ध्रों में पहुँचा। इस अनुचित व्यवहार से उनको अत्यन्त वेदना हुई। अपने नियम से निवृत्त होने के बाद आपने उस छात्र को बुलवाया और समझाकर कहा कि तुम्हारा यह अशिष्ट एवं अनुचित व्यवहार बहुत निन्दनीय है। अपरिचित व्यक्ति को क्या पता है कि तुम्हारे आश्रम के क्या नियम हैं। इसका प्रायश्चित यह है कि तुम्हें मध्याह्न का भोजन नहीं मिलेगा। मध्याह्नोत्तर स्नान संध्या के बाद बलिवैश्वदेव हो चुकने पर आप भोजन के लिए प्रस्तुत हुये। रौप्य पात्र में गंगाजल लेकर जैसे ही भोजनालय में प्रवेश कर रहे थे कि आपका ध्यान उस दंडित छात्र की ओर गया जिसका मध्याह्न भोजन बंद कर दिया था। बस फिर क्या था, आप वापिस लौट आये। जब भोजन बनाने वाले श्रीब्रह्मचारी यज्ञदत्तजी को यह पता चला कि श्रीमहाराजजी आकर लौट गये हैं तो वह उनके समीप पहुंचे और भोजन न करने का कारण पूछने लगे। आपने कोई कारण न बताकर यह कहकर टाल दिया कि आज भोजन की इच्छा नहीं है। सायंकाल भोजन के पश्चात् उस विद्यार्थी को बुलाया और अपने दूध में से दूध देकर कहा कि मुझे दुःख है कि तुम दोपहर का भोजन न करने के कारण भूखे रहे। जबकि आपने दूसरे दिन २४ घन्टे बाद ही भोजन किया और कहा कि 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत्'। जब तुम्हारी इस कटु वाणी से मुझे इतना दुःख हुआ तो जिसके प्रति तुमने अप्रिय वाणी का प्रयोग किया उसे कितनी वेदना हुई होगी इसे उसी का हृदय जानता है। किसी

कार्य को करने से पहिले अपने प्रति सोच ले कि जब मुझे दूसरे की मीठी बात अच्छी लगती है और गाली एवं बुरी बात बुरी लगती है, इसी बात को दूसरों के प्रति समझना चाहिये। एक दिन मैं श्रीमहाराजजी के साथ सायंकाल शौच के बाद विद्यालय के बगीचे में हस्त प्रक्षालन के बाद कुटिया की ओर जा रहा था। मार्ग में आम्रवृक्ष के नीचे पड़ा हुआ एक आम्रफल उठा लिया। श्रीमहाराजजी ने दृष्टि पड़ते ही कहा कि इसे तत्काल डाल दो, तुम्हें पता नहीं कि इस बगीचे को दूसरे को दे रक्खा है उसकी अनुपस्थिति में कोई भी चीज उठानी चोरी है, 'अदत्तं नैव गृह्णाति एष धर्मसनातनः' इस बात का इतना प्रभाव आज भी मेरे हृदय पर है कि रसोई में रक्खी चीज को बिना दिये लेने का साहस नहीं होता और श्रीमहाराजजी का आदेश स्मरण हो जाता है।

पूर्ण ब्रह्मचर्य के कारण आपका शरीर नीरोग एवं बहुत हृष्टपुष्ट था। तख्त पर लेटे हुये आपके के पैर दबाने पर आप कहा करते थे कि आज के लोगों में अन्न खाने का-सा बल नहीं है। केवल जीवन में रामगोपाल जो कि उत्तर प्रदेश का बड़ा भारी पहलवान था, उसका विचार था कि मैं पैर दबाने पर श्रीमहाराजजी को रुला दूँगा के पूरी शक्ति लगाने पर केवल यह कहा कि इसके अंदर अन्न खाने का-सा बल है। अपने पंजे से लोहे के पंजे को लड़ाने वाला वह पहलवान दातों तले अंगुली दबा गया। वह सब ब्रह्मचर्य का ही प्रताप था। आपकी लेखनी में बड़ी अद्भुत शक्ति थी जिस कार्य को लिखा उसका कार्य अवश्य हो ही जाता था। दीन दुखियों के लिये १-२ पत्र आपको लिखने ही पड़ते थे। किसी व्यक्ति को टालने का आपका स्वभाव नहीं था। जिस समय मेरी आयुर्वेद पढ़ने की इच्छा हुई आपने मेरठ निवासी श्रीवैद्य रामसहाय जो कि विद्यालय के ही स्नातक और श्रीमहाराजजी के परम भक्त थे, आपकी प्रेरणा व अनुकम्पा से ही मेरठ के ही नहीं बल्कि उत्तर प्रदेश के लब्धप्रतिष्ठ धनकुबेर पीयूषपाणि व यशस्वी चिकित्सक थे, को पत्र लिखा। आप बहुत गंभीर व अल्प शब्द लिखते थे, उन शब्दों का मुझे स्मरण है वह इस प्रकार थे 'श्रीवैद्य रामसहाय शर्मणे, सप्रत्यभिवादनम्। यह पुरुषोत्तमदेव छात्र आयुर्वेद पढ़ने के निमित्त तुम्हारी संरक्षकता में आरहा है। इसे अपना तृतीय पुत्र समझना।' पत्र पर नीचे आपके हस्ताक्षर थे। पत्र के पढ़ते ही उन्होंने मुझे अपनी शरण देकर वास्तव में पुत्र के समान ही व्यवहार किया।

श्रीमहाराज पाद के आशीर्वाद व अनुकम्पा से उन्हीं के नाम पर संजीवन चिकित्सालय लगभग ३२ वर्ष से चल रहा है और आपकी ही भूरि भूरि कृपा से सर्व प्रकार का आनन्द है।



निर्माण-प्रेरणा का मूलस्रोत

(श्री चन्द्रमणि शास्त्री, दनकौर)

स्व० पं० भगवत्सहायजी अपने लघु भ्राता विशम्भरदत्तजी को भी अपने साथ संस्कृताध्ययन के लिये स्व० ब्रह्मचारीजी की शरण में नरवर लिवा ले गये । ब्रह्मचारीजी की तपोनिष्ठा का प्रभाव इस बालक पर अमिट रहा । यही बालक आगे चलकर आयुर्वेदाचार्य श्री पं० विश्वम्भरदत्त वैद्यराज नाम से भारत के कोने कोने में विख्यात हुये । जिसने सारे जीवन विश्वविख्यात सुख संचारक कम्पनी मथुरा को ही अपना क्रियाक्षेत्र निर्वाचित किया । भगवान् कृष्ण की लीलाधाम ब्रजभूमि को अन्त तक नहीं छोड़ा । भारत के गण्यमान्य सन्त महात्मा आपका आतिथ्य ग्रहण करते थे । कुल परम्परया मुझे भी सन् २२ ई० में संस्कृताध्ययन के लिये नरवर पाठशाला भिजवा दिया गया । उन दिनों स्व० नवनिधिजी पाठक महाराजजी के प्रमुख शिष्य पाठशाला के सर्वेसर्वा थे । उन दिनों पाठशाला में सभी छात्र स्वयंपाकी होते थे । मैं पाककला में सर्वथा अनभिज्ञ था । अतः आधा भूखा रहकर भी यदि कुछ सीख पाया तो वह था महाराजजी का महामन्त्र "यदिच्छति तद्भवति" जो चाहो बन जाओ-यह उपनिषद् महावाक्य मेरे हृदय में स्थान बना गया । किन्तु मुझ जैसे अबोध बालक को भूख घर की याद दिलाती रहती थी । यद्यपि इसी बीच पूज्यपाद शालिग्रामजी अग्निहोत्री की धर्मपत्नी मुझ पर भोजनाच्छादनादि से बड़ा दुलार करती थीं । किन्तु मैं सब कुछ भुलाकर बार-बार घर चला आया करता था । वस्तुतः इसी कारण मैं अधिक दिन नरवर महाविद्यालय में न ठहर सका और खुर्जा चला आया ।

खुर्जा में ही मेरा प्रारम्भिक अध्ययन-काल व्यतीत हुआ किन्तु पूज्य महाराजजी के वे शब्द 'यदिच्छति तद्भवति' सदा मेरे कान में गूँजते रहे और मैं जो कुछ भी बन सका उसका मूल प्रेरणा स्रोत वे शब्द ही हैं ।

खुर्जे के क्लिन्न वातावरण में प्रायः मैं अस्वस्थ रहता था । मेरे ज्येष्ठ भ्राता ने मुझे व्यायाम करने का उपदेश दिया, तुरन्त ही मुझे स्व० महाराजजी का महामन्त्र भी स्मरण हो आया--मैंने सोचा पहलवान बन जाऊँ । शनैः शनैः तदनुकूल प्रयत्न करने पर अच्छा खासा मल्ल बन गया । सन् ३१ ई० की घटना है कि हमारे यहाँ के स्थानीय पहलवानों को मल्लयुद्ध की चुनौती दी । निराश जनता के सामने मेरे अतिरिक्त उस चुनौती का सामना करने वाला कोई नहीं था । मैंने भगवत्कृपा से उस मल्ल का गर्व चूर्ण किया । इन दिनों मेरे मन में अध्यापक बनने की इच्छा जाग्रत हुई । तदनुकूल दनकौर अपने निवास स्थान पर ही संस्कृताध्यापक बन गया । तीन वर्ष तक बड़े उत्साह से संस्था की सेवा की ।

उसके बाद वैद्य बनने की धुन सवार हुई और आज महाराजश्री के मन्त्र के प्रभाव से मुझे वैद्य बनने में भी अधिक कठिनाई नहीं हुई । वस्तुतः आज जो कुछ हूँ वह उसी मन्त्र के प्रभाव के कारण हूँ ।

महामानव

(श्री हरिदत्त पालीवाल, 'निर्भय', कायमगंज)

मैंने अपनी शैशवावस्था के केवल ढाई वर्ष ही व्यतीत कर पाये थे कि मेरे पूज्यपाद पिता वैयाकरणकेशरी महामहोपाध्याय श्री पं० मथुराप्रसादजी शर्मा गोलोकवासी बन गये। परिवार में माता और मेरे अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी न होने के कारण मेरी पूज्या माता चन्द्रवती पालीवाल शास्त्री ने ही मेरा लालन-पालन किया था।

जब मैं कुछ बड़ा हो गया तो उन्होंने यत्र तत्र से येनकेनप्रकारेण तीस रुपया जुटाकर अपने एक पत्र के साथ अनन्तश्री महाराजजी (पू० पा० श्री पं० जीवनदत्तजी शर्मा) के समीप श्री सांगवेद महाविद्यालय नरवर उच्च शिक्षा प्राप्त्यर्थं भेज दिया। यह वात सन् १९३९ की है जब मैं नरवर पहुँचा था, और उस समय मेरा यज्ञोपवीत न होने के कारण वेद-मन्त्रों के उच्चारण का अधिकार न माताजी से ही प्राप्त कर सका और न उस समय वहाँ विद्यालय से ही मिला। इसी कारण से वहां के तत्कालीन सहपाठी छात्र मुझे तिरस्कृत दृष्टि से देखा करते थे, और वेदाचार्य किया करते थे मेरी उपेक्षा। इस उपेक्षणीय भावना से मेरा मन विचलित हो उठा। यहाँ तक कि पढ़ने में भी मन नहीं लगता था और पलायनवादी नीति का पालन करने की सोचने भी लगा था। परन्तु पूज्यपाद महाराजजी का सायंकालीन शास्त्रीय प्रवचन, शास्त्र विवेचन एवं वहां का सात्त्विक वातावरण, स्वयं उनका तपोमय जीवन एवं छात्रों के प्रति ममता, आत्मीयतामय भाव मुझे भागने से रोक भी देता था।

मुझे वे क्षण सुप्रकार स्मरण हो रहे हैं कि मेरी आर्थिक दशा सुनकर उनके नेत्रों में अश्रु विन्दु छलक आये थे। और कहा था—"गीर्वाणवाणी के सेवकों की यह दशा ?" कुछ समय मुनिवत् मौन रहकर मुझे आदेश दिया कि अब किसी से याचना करने की आवश्यकता नहीं है। सभी कुछ प्रबन्ध कर दिया जायगा। फिर अचानक रुक कर बोले कि "यज्ञोपवीत होना परमावश्यक है।" महाराजजी ने श्री चौधरी साहब से (जो कि नरौरा निवासी थे और विद्यालय के प्रवन्धक भी) मेरी सभी कहानी कही और बताया कि यज्ञोपवीत स्वयं दूँगा। वस्तुतः यह (हरिदत्त) अधिकारी है। हुआ भी यही कि सन् १९४० में बिना किसी आडम्बर के शुद्ध सनातन पद्धति से मुझे यज्ञोपवीत दे दिया गया और मुझे वे सभी अधिकार भी प्राप्त हो गये जिनसे कि मैं वंचित रखा जाता था। हां, इसी प्रसंग में यह भी लिखना अनुचित न होगा कि उस समय मेरा समावर्तन संस्कार नहीं किया गया था। अतः कोपीन, कटिवस्त्र धारण किये रहना पड़ता था। उदरपूर्ति के लिये कभी नरौरा, आचार्य पाठकजी, वेदाचार्य श्रीभीष्मजी, प्रधानाध्यापक आचार्य श्रीविजयप्रकाशजी अथवा महाराजजी की कुटिया में जाकर श्रीयज्ञदत्तजी से रोटी, दाल, भात मांग लिया करता था। यद्यपि कुछ संकोच सर्वदा ही किया करता था। परन्तु शनैः शनैः संकोच भी दूर हो गया और विद्यालय को ही घर समझने लगा। हृदय से वस्तुतः श्रीमहाराजजी को मैं अपना बहुत बड़ा संरक्षक मानने लगा। यद्यपि उनके लिये समस्त छात्र समान थे, भले ही वे किसी वर्ण के हों किंवा सम्प्रदाय विशेष के अवलम्बी। उनकी भावना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' पर आधारित थी। वे स्वयं महामानव थे।

कलि के कल्पवृक्ष : श्रीमहाराजजी

(श्री मुरारिदत्त शर्मा, नरवर)

पूज्यपाद श्रीमहाराजजी वास्तव में अपने काल के कल्पवृक्ष थे। मुझे उनको सेवा में उपस्थित होने का सौभाग्य १९४२ ई० में प्राप्त हुआ। यह अनुपम अवसर मुझे उनके शेष जीवन-काल तक एक-रस प्राप्त रहा। इसे मैं उन्हीं की महती अनुकम्पा स्वीकार करता हूं। मैं उस समय ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा था।

थोड़े दिनों के पश्चात् मेरी भगिनी ने महाराजश्री से प्रार्थना की, "महाराजजी मेरा भाई अब विवाह के योग्य है उसका विवाह संस्कार हो जाना चाहिए।" उसकी प्रार्थना को स्वीकार करके श्रीमहाराजजी ने रामघाट के एक पवित्र ब्राह्मण कुल से मेरा विवाह सम्पन्न कराया एवं रहने के लिए एक उत्तम गृह भी बनवा दिया।

पूज्य महाराजजी प्रायः मुझसे कहा करते थे कि मेरे पिताजी वैद्य थे और वह मुझे मरते समय इमामदस्ता छोड़ गये थे। मैं तुम्हारे लिए रुद्राक्ष की माला छोड़ जाऊँगा। शरीर त्यागते समय उन्होंने रूद्राक्ष की माला और चरण पादुकायें मेरे लिए छोड़ी हैं जिनका मैं आज भी नियमित रूप से दैनिक पूजन करता हूं। मेरी निष्ठा आज भी इस माध्यम के कारण उसी तरह से अविछिन्न एवं पुष्ट है। मेरा यह अविचल विश्वास है कि मेरी सब व्यवस्था महाराजजी की कृपा के कारण यथावत् चल रही है। मेरे विवाह संस्कार में श्रीमहाराजजी एवं महाविद्यालय के आचार्यजन रामघाट पधारे थे।

पूज्यपाद महाराजजी की सेवा में कुछ ब्रह्मचारी समय-समय की सेवा के लिए नियुक्त थे। एक दिन उन्होंने प्रातः पाँच बजे शौच जाने के लिए हरी ब्रह्मचारी को आवाज दी। जब कई आवाज देने पर भी कुछ उत्तर नहीं आया तो दूसरे ब्रह्मचारी को आवाज दी। संयोग से वह दूसरा ब्रह्मचारी भी नहीं आया तब स्वयं ही जलपात्र तथा लालटेन लेकर शौच चले गये। उस दिन वायु कुछ अधिक था इसलिए नवीन स्थान पर शौचार्थ जब उपानत् उतारे तब पैरों में गोखुरू चुभ गये। पुनः हाथ टेककर वहाँ से निकलने का प्रयत्न किया तो हाथों में भी गोखुरू चुभ गये। विचित्र संकट था। किसी प्रकार वहां से निकलकर स्थान पर लौटकर आये।

हाथ मुँह धोने के बाद महाराजश्री ने समस्त अध्यापक एवं विद्यार्थियों के सामने प्रातः-कालीन घटना का वर्णन किया और कहा "कि परलोक तो कोई साथ जाता ही नहीं पर हमारा तो कोई यहां भी साथी नहीं है।" इतना कहकर महाराजजी मौन हो गये।

महाराजश्री की हार्दिक वेदना का मेरे बाल हृदय पर प्रभाव पड़ा और मैं अन्य व्यक्तियों की तरह शान्त न रह सका। मैंने अपने स्थान से उठकर महाराजजी के चरणस्पर्श करते हुए प्रतिज्ञा की कि जब तक मेरा शरीर रहेगा तब तक मैं आपकी समस्त सेवा का भार स्वयं वहन करूँगा। आज से मैं सर्वदा आपके पास रहूंगा। आप मुझे आशीर्वाद प्रदान करें।

उस समय से मैं महाराजजी के सोने के स्थान के नीचे ही चटाई पर सोता था। शीतकाल में भी वह चार बजे उठते थे तो अपने चरण स्पर्श से मुझे जगाते हुए कहते थे—"मुरारे"। मैं उसी समय उठकर उनके हाथ धुलाने आदि का कार्य करता था और अन्य आवश्यक सेवाकार्य करने के लिए सजग हो जाता था। हाथ पैर धोकर और कुल्ला करके वह दो घंटे में १८ अध्याय गीता का पाठ करते और उसके बाद श्रीविष्णुसहस्रनाम का पाठ करते इस सबके बाद शौच जाते। इस सबसे पूर्व अपने कटिवस्त्र, कोपीन आदि ऊनी आसन में लपेट कर रख देते थे। शौचादि के बाद वे गंगा स्नान को जाते थे और मैं कुटिया इत्यादि को जल से धोता, पूजा की पटिया को पोंछ कर उस पर कुशासन, मृगचर्म तथा ऊनी आसन बिछाकर पूजा के कार्य से निवृत्त हो जाता था। जब महाराजश्री पूजा और गायत्री जब करते थे तब मैं तांबे का कलश लेकर गंगास्नान के लिए जाता। वहाँ से आकर समिदाधान करके संहिता का पाठ करता था। नित्यकर्म के पश्चात् पूज्य महाराजजी के लिये रसोई बनाने का कार्य प्रारम्भ कर देता था।

महाराजश्री के आशीर्वाद से उनकी यह सेवा मुझे उनके अन्त समय तक मिलती रही।

इस समय मेरा निवास नरवर विद्यालय में ही है, चार प्राणी का छोटा परिवार है, पूज्य महाराजजी की चरणपादुकाओं का आश्रय लेकर भगवती भागीरथी का सेवन कर रहा हूं। पूज्य महाराजजी की कृपा मेरे लिए सर्वदा मंगलविधायिनी है यह मेरा अडिग विश्वास है।

अयाचक याचक

(विजयपाल शर्मा, फिरोजाबाद)

महाराजश्री नरवर पर विद्यालय प्रारम्भ की इच्छा लेकर जब आये थे उस समय उनके सम्मुख पं० जीवारामजी का कर्णवास का विद्यालय आदर्श रूप में था। पं० जीवारामजी ने कर्णवास में अपना विद्यालय अयाचक वृत्ति से चलाया था। वह कभी किसी से कुछ मांगने नहीं गये। पूज्य श्रीमहाराजजी ने भी अपने मन में यही व्रत ले लिया और उसका जीवनपर्यन्त निर्वाह भी किया।

जब महाराज बेलोन छोड़कर आये तब उन्होंने नरवर को ही अपना कार्यक्षेत्र निश्चित किया। वह अपने योग-क्षेम के लिए भी अयाचक हो चुके थे। उन्होंने कभी भी किसी धनी के सामने अपनी मांग नहीं रखी न कभी अपने अभाव की बात ही कही।

धनीमानी महाराज से मिलने आया करते थे, महाराजश्री के पास इस आशा से आकर बैठते थे कि महाराजश्री उनसे दान देने के लिए कहें किन्तु कभी किसी ने भी महाराजजी से मांगने की बात नहीं सुनी। महाराजजी यदि किसी से कुछ दान लेना भी चाहते थे तो उसे पत्र लिखकर के ही आदेश देते थे। महाराजजी के पत्र निश्चित प्रभाव और फल प्रदान करते थे।

कुछ धनी लोग उनके आदेश से धन देते थे और अन्न देते थे। प्रायः फसल पर अन्न सस्ता रहता है और बाद में तेज हो जाता है इसलिए विचार किया गया कि विद्यालय के लिए अन्न फसल पर ही क्रय कर लिया जाय। गेहूं और बेझर के भाव में पर्याप्त अन्तर रहने के कारण दानदाताओं के द्वारा पूछा गया कि कौनसा अन्न क्रय किया जाय। इसमें उनका आशय यह था कि महाराजजी सस्ते अन्न के लिए आदेश देदें किन्तु वह दान की सर्वांगीण महत्ता को जानते हुए मुस्कराकर उत्तर देते थे आप "अगले जन्म में जो अन्न खाना चाहते हो वही खरीद लें।" अन्न देने वाले सिर झुकाकर महाराजजी का अभिप्राय समझ लेते और अच्छे से अच्छा अन्न खरीद कर नरवर को भेजते थे।

सिद्धलेख महात्मा

(श्री छज्जूराम शास्त्री, खुर्जा)

मैं व्याकरणशास्त्री के प्रथम दो खण्ड उत्तीर्ण करने के पश्चात् सन् १९३८ ई० में अपने मित्र तथा वंशज श्रीपातीरामजी शास्त्री की सत्प्रेरणा से पतितपावनी भागीरथी के दक्षिणतट पर सुशोभित, महाराजश्री जीवनदत्त ब्रह्मचारी के द्वारा स्थापित तथा सम्पोषित नरवर महाविद्यालय में श्रीविजयप्रकाशजी शर्मा के पादपद्मों में अपनी मानसिक तृषा के शमनार्थ पहुँचा। उस समय नरवर के महाविद्यालय की यशःपताका देश में सर्वत्र दोधूयमान थी। निकटभूत में ही सम्पन्न हरिद्वारस्थ कुम्भ मेले के अवसर पर नरवर के भविष्णु छात्र मित्रवर गुरुकल्प श्रीसत्यव्रतजी आचार्य भागीरथी संस्कृत विद्यालय गढ़मुक्तेश्वर, मेरठ तथा श्रीपातीरामजी शास्त्री के शास्त्रार्थ के कला-कौशल ने तत्काल ही वर्तमान विद्वन्मण्डली को मन्त्रमुग्ध सा कर दिया था। मैं भी जो उस समय निकृष्ट कोटि का छात्र था, तत्सम भविष्णुता की भावना का सम्वरण न कर सका। मित्रप्रेरणा मिल ही गई थी, तुरन्त नरवराश्रम पहुँच गया और सन् १९४२ तक निरन्तर स्वाध्याय करता रहा।

सन् १९४२ के पश्चात् यद्यपि अध्ययन की दृष्टि से नरवर महाविद्यालय से मेरा सम्बन्ध छूट गया। किन्तु उसके बाद भी मैं उससे स्वार्थवश अथवा सद्भाव से सम्बन्ध बनाये रहा। इस सम्बन्ध में मुख्य आकर्षण महाराजश्री के व्यक्तित्व का ही था। उनके देहावसान के पश्चात् सन् १९६४-६९ तक इस विद्यामन्दिर में अध्यापन करने का भी सुअवसर प्राप्त किया। इस बीच में ऐसा एक भी वर्ष व्यतीत नहीं हुआ जब मैं एक अथवा एक से अधिक बार नरवर पर नहीं गया। नरवर की उस भूमि में मुझे कुछ आतमीयता-सी जान पड़ती है।

पूज्य ब्रह्मचारीजी में मैंने अलौकिक गुणों का समावेश देखा। उनमें आस्तिकता जिस कोटि को थी उसको मैं अलौकिक ही मानता हूँ। उन्हें विश्वम्भर की विश्वम्भरता में अगाध, अविचल एवं अनन्य विश्वास था। इसके अनेक उदाहरण हैं। वह 'सर्वभूतहितेरताः' की तो साक्षात् प्रतिमा थे। शास्त्रों में श्रद्धा भी अथाह थी। वेदों के उद्धार की उनमें सच्ची लगन थी। उनमें जितने अलौकिक गुणों का समावेश था उन सबका एकत्र आकलन सम्भव नहीं है।

यहां मैं महाराजश्री के उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त एक अन्य गुण का उल्लेख करना चाहता हूँ। उन्होंने विद्यालय की स्थापना से पूर्व ही अयाचित व्रत ले लिया था। उन्होंने अपने शरीर की आवश्यकता पूर्ति के लिए तो कभी किसी से कुछ मांगा ही नहीं। यदि उन्हें विद्यालय की आवश्यकया के कारण किसी धनीमानी को दान देने के लिए प्रेरणा देने का अवसर भी आया तो भी उन्होंने मुख से प्रायः कुछ नहीं कहा। उनको पत्र लिखकर अपनी वस्तुस्थिति की बात कह दी और अभाव की पूर्ति का संकेत कर दिया।

महाराजश्री को प्रतिदिन अनेक पत्र लिखने पड़ते थे। उनके पत्रों का अचूक प्रभाव होता था।

वह सिद्धलेख महात्मा थे। उन्होंने जिसको जो लिख दिया वह प्रायः पूरा हो गया, जिसकी संस्तुति कर दी वह बड़े से बड़े आरोप से मुक्त हो गया। उनकी लेखनी से लिखे जाने वाले शब्द पत्र पर उतर मन्त्र का प्रभाव ग्रहण कर लेते थे।

सन् १९३९ की घटना है। मैं बङ्गाल संस्कृत एशोसियन की परीक्षा देने ग्वालियर गया। उस समय बंगाल की तीर्थ आदि सभी परीक्षायें इस ओर ग्वालियर के विक्टोरिया कालेज में होती थीं। वह कालेज आजकल महारानी लक्ष्मीवाई के नाम से प्रसिद्ध है।

नरवर में विद्याध्ययन करने वाले अधिकतर छात्र निर्धन थे। साथ ही पूज्य ब्रह्मचारीजी ही सभी छात्रों के योग-क्षेम तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबन्ध करते थे। मैं भी अत्यन्त निर्धन था। ग्वालियर पहुँचने और वहाँ से आने के लिए आवश्यक किराया तथा परीक्षा के दिनों में ग्वालियर रहकर भोजनादि की व्यवस्था आदि के लिए मेरे पास पर्याप्त धन नहीं था। पूज्य महाराजजी मेरी इस स्थिति से भलीभांति परिचित थे। उन्होंने दयालुतावश ग्वालियर निवासी किसी सज्जन को पत्र लिखकर संकेत दिया कि नरवर के महाविद्यालय के कुछ छात्र परीक्षा देने की इच्छा से ग्वालियर पहुंच रहे हैं। इन्हें आप यथाशक्ति सुविधा प्रदान करें।

मैं निर्धन के साथ संकोचशील भी था। उस पत्र को गन्तव्य स्थान तक पहुँचा भी न सका। मैं उस पत्र को उन छात्रों को दे आया जो मेरे पीछे ग्वालियर पहुँचने वाले थे। पूज्यचरण महाराजश्री का पत्र यथास्थान पहुँचा दिया गया। पत्र में जैसा मुझे स्मरण है दो ही तीन वाक्य थे जिनका भाव था कि नरवर महाविद्यालय के छात्र परीक्षा देने आ रहे हैं। इनकी सुख-सुविधा की व्यवस्था करने का प्रयत्न करें।

जिन सज्जन को यह पत्र लिखा गया था, उन पुण्यश्लोक का नाम मुझे स्मरण नहीं है, किन्तु उसके प्रभाव का फल मुझे मिला। नरवर आश्रम के जितने भी छात्र परीक्षा देने गये थे उन सभी के भोजन एवं निवास को व्यवस्था पुत्र-वात्सल्य के साथ हुई। ग्वालियर-निवास में अपने महाविद्यालय के किसी भी छात्र के सम्मुख कोई किसी प्रकार को असुविधा नहीं आई।

वस्तुतः महाराजश्री सिद्धलेख महात्मा थे। अयाचक वृत्ति की सिद्धि के कारण उनकी लेखनी में आवश्यक प्रभाव देने की क्षमता थी। इस लेखसिद्धि के सहस्रों उदाहरण हैं जिनमें से प्रमुख का भी स्थानाभाव से यहां उल्लेख करना सम्भव नहीं है।



प्रेमावतार महाराजजी

(शान्तीदेवी शर्मा, आगरा)

मैं महाराजजी से वाल्यावस्था से ही परिचित हूं। कारण, मेरे पिताजी महाराजजी के कृपा-पात्र रहे हैं। वे पूजा करते समय अपने पूजागृह में महाराजजी का चित्र रखते हैं और बार-बार उनकी पूजा आरती करते हैं, जहां भी जाते हैं वहां उनकी आज्ञा लेकर ही जाते हैं। इसी तरह से हमारी माताजी हमको बाल्यकाल से ही स्नानादि पश्चात् अपने साथ उन्हें प्रणाम करवातीं थीं। मेरे मामाजी पं० बाबूरामजी उपाध्याय उस समय नरवर ही रहते थे एवं पठन-पाठन करते थे। हम लोग प्रति-वर्ष मामाजी के यहाँ जाया करते थे। मामाजी मुझे साथ लेकर महाराजजी के दर्शनों के लिए जाया करते थे, उस समय मैं छोटी ही थी। उस समय का विशेष स्मरण नहीं है किन्तु एक समय को अद्भुत घटना है।........

एक बार मेरा अनुज चि० विश्वेश मोतीझला एवं निमोनिया से भंयकर पोड़ित हो गया। स्थानींय वैद्य, डाक्टर पिताजी के प्रेम से अनेक बार उसकी देख-रेख कर रहे थे। किन्तु रोग बढ़ता ही गया और एक दिन भंयकर अवस्थां आ गई। इस काल वहाँ पर पिताजी के घनिष्ठ मित्र पं० रामजी-लालजी एवं श्रीधनप्रसादजी उपस्थित थे। पं० रामजीलालजी दौड़कर डाक्टर को बुलाकर लाये। डाक्टर साहब ने देखा कि तापमान १०६ है और इस अवस्था को देखकर श्रीधनप्रसादजी से कुछ कहने लगे। पिताजी भी यह देखकर व्याकुल हो उठे और श्रीमहाराजजी के चित्र के समक्ष बड़े विह्वल होकर रोने लगे और प्रार्थना करने लगे। क्षण भर में ही तापमान १०१ रह गया तथा वह स्वस्थ प्रतीत होने लगा। इस दशा को देखकर सब चकित हो गये।

इसी प्रकार की एक अन्य अद्भुत घटना और है कि 'चि० विश्वेश' दुमंजिला मकान से नीचे गिर गया, तत्काल ही श्रीभगवानस्वरूपजी चेयरमैन जो दुकान के नीचे थे, उसे रेलवे अस्पताल के डाक्टर के पास ले पहुँचे। जब पिताजी को पता लगा तब वे तथा अन्य परिचितगण अस्पताल पहुँचे। वह विल्कुल अचेतावस्था में था। जब मेरी माताजी को यह पता लगा तो महाराजजी के चित्र के सामने पछाड़ खाकर गिर पड़ीं और विलाप करने लगीं। डाक्टर साहब ने निरीक्षण करने के पश्चात् भरती करने, एक्सरे करने का विचार किया। आश्चर्य! उसी समय एकदम वह उठ करके खड़ा हो गया। सब लोग इस चमत्कार को देखकर चकित हो गये तथा डाक्टर साहब ने भी घर लेजाने की अनुमति दे दी और उसे घर ले आये।

इसी प्रकार एक बार मेरे पूज्य पिताजी पं० जगन्नाथप्रसादजी वैद्य अत्यन्त ही बीमार हुए। छै-सात महीने हो गये और किसी प्रकार स्वस्थ न हो पाये तब हमारे मामाजी नरवर से देखने आये और जाकर इसको महाराजजी को बताया। महाराजजी ने पिताजी को पत्र लिखा कि "तुम तुरंत नरवर चले आओ।" मैं उस समय कक्षा चार में पढ़ती थी। मैं, विश्वेश एवं शिवनाथ, सब लोग नरवर आ गये। महाराजजी ने प्रत्येक प्रकार की चिकित्सा का प्रबन्ध, दुग्ध-प्रबन्ध एवं कर्णवास से

प्रतिदिन आमों का प्रबन्ध किया, क्योंकि पिताजी के लिए आम और दुग्धाहार का ही सेवन निश्चय किया गया था। इसी बीच मेरा अनुजानुज चि० शिवनाथ अकस्मात् ही विशेष बीमार पड़ गया। मामाजी ने महाराजजी से कहा, महाराजजी ने तुरन्त ही डाक्टर, वैद्यों को बुलाया और चि० शिवनाथ को अपने पास बुलाकर दिखाया और पिताजी से बोले, "घबड़ाओ नहीं, यह तुरन्त ठीक हो जायेगा।" और फिर थोड़ी देर बाद बोले, "बच्चा ठीक है।"

उस समय मैंने महाराजजी का स्नेह एवं प्रेम देखा था। मुझे से भी जब मैं नरवर जाया करती थी तो कहते, "तू जगना की लड़की होते भी शान्ती कैसी, वह तो बड़ा चंचल है और लड़ाकू है" और यह कहकर हँस जाते। पुनः कहते, "विश्वनाथ कहाँ है यह लेजा" और मीठा, फल तथा पेड़ादि दिया करते थे। महाराजजी के समीप बहुत छोटे-छोटे बच्चे रहते थे वे सबसे समान प्रेम करते थे और उनकी हरेक प्रकार की सुविधा का ध्यान रखते थे। वे बड़ी ही स्नेह-मूर्ति थे। वे बच्चों को माता पिता से भी अधिक प्यार करते थे। मैं महाराजजी के पास से पिताजी को आये हुए पत्रों को पढ़ा करती थी। वे बड़े स्नेह एवं प्रेम के पत्र लिखा करते थे। माताजी के स्वर्गवास हो जाने पर उन्हें बड़ा दुख हुआ और उन्होंने प्रत्येक प्रकार सांत्वना पिताजी को दी। जब पिताजी एक अभियोग में फँस गये तब उन्होंने अधिकारियों को लिखा "यह मेरे मित्र का पुत्र है, मैंने इसे पुत्रवत् पाला है, इसकी मानहानि मेरी मानहानि है अतः इसे झूठा न फँसाया जाय।" यह महाराजजी का प्रेम था। वह प्रेम एवं स्नेह की तेजोमयी मूर्ति थे।

आज उनका स्मरण करती हुई यह श्रद्धाञ्जलि उन्हें सादर समर्पित करती हूँ तथा आशा करती हूं कि उनका प्रेम एवं स्नेह हमारे अन्तःकरण में बना रहे।



मेरी नरवर यात्रा

(श्रीमथुराप्रसाद शर्मा, आगरा)

अब से ३५ वर्ष पूर्व सन् १९३८ में जब मैं उर्दू मिडिल फिरोजाबाद में अध्ययन कर रहा था। मेरे अग्रज श्रीरामकृष्ण शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट् जो आजकल राजा बलवन्तसिंह कालेज आगरा के संस्कृत विभागाध्यक्ष हैं, वृन्दावन धाम के श्रीनिवास विद्यालय में संस्कृत भाषा का अध्ययन कर रहे थे। मेरा यज्ञोपवीत संस्कार कराने के लिए उन्होंने मुझे वृन्दावन बुलाया तथा विधि-पूर्वक पं० सीताराम आचार्य द्वारा मेरा यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कराया। अन्त में गुरुजी ने कहा कि "तुम्हें गायत्री मन्त्र का एक लक्ष जप करके हवन के पश्चात् गंगा स्नान करना है, यही मेरी दक्षिणा है।"

अपने गुरुजी एवं अग्रज के निर्देशानुसार एक लक्ष पाठ 'गायत्री' जप करके तथा हवन करा करके, गंगा स्नान को राजघाट की यात्रा पर निकल पड़ा।

मैं राजघाट से विहारघाट होता हुआ पगडंडी पर चल पड़ा। मार्ग अत्यन्त शोभायमान था। आगे चलकर कच्चे मकान तथा फ़ूस की झोपड़ियों का एक गांव मिला, पूछने पर लोगों ने बताया कि यही नरवर है। निकट ही एक बहुत बड़ा उद्यान देखा जिसमें पंक्तिबद्ध आम्रवृक्ष लगे थे, कुछ वृक्ष अमरूद, नींबू एवं करोंदों के भी थे। नालियों में केले लगे थे। यह बड़ा उद्यान एक गज चौड़ी और एक गज ऊँची मेंड़ों द्वारा चकों में बँटा हुआ था। मैंने देखा इन मेड़ों के ऊपर गेरूआ वस्त्र धारण किये बहुत से व्यक्ति अपने कुशासनों पर ध्यानमग्न थे। उनमें कुछ जटिल हैं तथा कुछ मुण्डित। इसी उद्यान में कुछ साधु-सन्यासी तथा विद्यार्थी जो अपने को स्वयंपाको बता रहे थे, अपना भोजन बना रहे थे उनकी अग्नि उद्यान की नमी के कारण उन्हें धुँये से कष्ट पहुंचा रही थी। मैंने उन सभी के दर्शन मात्र ही किये, उनसे कोई जिज्ञासा नहीं की। मैं उस स्थल की बाह्य रमणीयता का अवलोकन कर अवाक् रह गया था। मैंने विचारा कि यह मानव आत्मा-परमात्मा, ब्रह्म-जीव और माया के भेद-विभेद को समझने एवं यथार्थ की खोज के लिए इस शान्त वातावरण में आ डटे हैं। इन्होंने सांसारिक बन्धनों को तोड़ दिया है और यह अपना सर्वस्व त्याग चुके हैं। इन्हें यश, वैभव, मान-अपमान, ईर्ष्याद्वेष, जीवन-मृत्यु किसी की भी लेशमात्र वासना तथा भय नहीं है। मुझे उनके दर्शन से ऐसा लगा कि वह अपने लिये कम तथा मानव जाति के कल्याण के लिये ही अधिक कर रहे हैं। उन साधुओं में से एक सन्यासी श्री स्वामी करपात्रीजी को मैं निकट से जानता हूँ। वह नरवर की पाठशाला के छात्र भी रहे हैं। वे वर्तमान में हिन्दू धर्म के अग्रणी नेता हैं। उन्होंने बहुत से यज्ञ कराये हैं।

उद्यान के निकट ही एक स्थान जो पक्का था तथा सफेद पुता था, वह सतह से लगभग २–३ गज ऊँचा है जिस पर चढ़ने के लिए चार-पांच सीढ़ियां चढ़ना पड़ता है, पास ही एक पक्का कुँआ है, जिसमें पानी बिल्कुल ऊपर है। कुँये के पास संस्कृत विद्यालय के छात्र अपने भोजन के

बर्तनों को धो रहे थे। छात्रावास में रहने वाले छात्रों को भोजन क्षेत्र से मिलता है। जो अत्यन्त पवित्रता से ब्राह्मणों द्वारा बनाया जाता है।

मैं ऊपर बड़े चबूतरे पर पहुँचा जहाँ एक यज्ञमण्डप, बड़ी चौड़ी सफेद छतरी का बना था। समीप ही एक बड़ा कुण्ड था जहाँ नित्यप्रति यज्ञ होता है। मैंने उस कुण्ड से विभूति निकालकर अपने मस्तक पर लगाली और अपने को कृतकृत्य समझा। दूसरी ओर जो छात्र भोजन पा चुके थे वे विद्यालय में वेदपाठ कर रहे थे। जिनकी संख्या अधिक थो फिर भी शान्ति थी। एक ओर एक कमरा-सा बना था जिसकी लम्बाई तो मैं जान न सका लेकिन चौड़ाई एवं ऊँचाई अधिक न थी, जिसमें लकड़ी का एक ऊँचा तख्त पड़ा था जिसपर बिना सिले श्वेतवस्त्र धारण किये एक महात्मा दिखाई दिये। मुझसे पूर्व आने वाले यात्री कुण्ड से विभूति लगाने के पश्चात् उन्हीं महात्मा के दर्शन कर रहे थे। एक-दो वहां बैठे भी थे। मैं भी उनके दर्शन को इच्छा से उनकी ओर चला, मेरे मस्तक पर रामानुज सम्प्रदाय के अन्तर्गत श्री वैष्णवता के तिलक लगे थे और पार्श्व में नरवर पाठशाला के कुण्ड की विभूति। मेरी बच्चा बुद्धि को वहां के निवासी कुछ शैव मालूम पड़े, क्योंकि सभी के मस्तक पर विभूति की रेखायें अंकित थीं। उस कमरे के तख्त पर बैठे महात्मा भी मस्तक पर विभूति लगाये थे। मैंने एक साथ ही अपने दोनों हाथों से उनके दोनों चरण पकड़े, और मुख से प्रणाम कहा, मुझे ज्ञात नहीं कि वह सभी दर्शनार्थियों से क्या कह कर अभिवादन स्वीकार करते थे लेकिन उन्होंने मेरे सिर पर अपना हाथ रखकर कुछ संस्कृत में बहुत धीरे से संक्षिप्त सूत्र सा कहा जिसे मैंने आशीर्वाद समझा। उन्हीं की आज्ञा से मैं उस कमरे की देहली में बैठ गया और वह मेरे व्यक्तिगत जोवन तथा परिवार के व्यक्तियों तथा पते-ठिकाने की बात पूछते रहे। बिल्कुल ऐसा प्रतीत होता था मानों वे मुझसे पूर्व परिचित हों और मैं ऐसे उत्तर दे रहा था मानों मेरी यह भेंट उनसे प्रथम न हो बल्कि मैं उन्हें जन्म-जन्मान्तर से जानता हूँ। मुझे उनके दर्शन में अपार आनन्द हुआ। दाढ़ी, सिर, मूँछ पर अधपके बाल थे। देखने से न वह पण्डित लगते न सन्यासी और न ही गृहस्थ, बल्कि एक निर्लिप्त महात्मा जान पड़ते थे। वह ऐसे लगते मानों हमारे परिवार के ही सदस्य हैं और मेरे बाबा हैं। उनकी बोलचाल बिल्कुल ग्रामीण और जीवन पूर्णतया सादा एवं सदाचारयुक्त था। उनके अस्थि-समूह पर माँस का पतला पर्त था लेकिन उनका मुखारविन्द अत्यन्त ओजपूर्ण था। उनके नेत्रों में अपूर्व ज्योति थी। देखने में वे सीधे, बोलने में मृदु। उनके व्यवहार तथा मुखमण्डल से दृष्टिगोचर होता था कि वह एक बहुत बड़े महात्मा हैं। उनके हृदय में ज्ञान का असीम भण्डार भरा है, वह भगवान् की भक्ति में दत्तचित्त हैं। साधु होते हुये भी वह गृहस्थ जैसे प्रतीत होते हैं। उनकी वाणी में भोलापन है।

वह निरभिमान निरहंकारी हैं। उन्हें सांसरिक कामनायें सता नहीं रही हैं। इन्द्रियां उनके नियन्त्रण में हैं। वह किसी के वशीभूत नहीं हैं किन्तु उनके दर्शन प्राणी को प्रेरणादायक हैं। वह न तो संस्कृत पाठशाला नरवर के पदाधिकारी हैं और न वहाँ के व्यवस्थापक। लेकिन उनके व्यवहार तथा अन्य द्वारा किये गये उनके सम्मान को देखने से प्रतीत होता था मानों इस पाठशाला के वही सर्वेसर्वा हों, उनका वहां पर पूर्ण नियन्त्रण है। जो व्यवस्था वहाँ है उसके व्यवस्थापक वही हैं। उन्होंने मुझसे भोजन करने के लिए कहा लेकिन चूँकि मैं अपने 'गायत्री मन्त्र' की जप को पूर्ति की यात्रा पर था, अतः भूखा होते हुए भी भूखे न होने का बहाना बना दिया। अन्त में उन्होंने मेरे

मस्तक पर अलंकृत तिलकों के विषय में पूछा, मैंने उन्हें बताया कि मेरे बड़े भाई श्रीरामकृष्ण शास्त्री वृन्दावन में संस्कृत भाषा तथा वेदान्त पढ़ते हैं। उन्हीं की प्रेरणा से श्री स्वामी राघवाचार्यजी महाराज से शंख-चक्र ग्रहण कर श्री वैष्णवता को अपनाया है।

इसी बीच बिना किसी प्रदर्शन के शुद्ध रूप में उन्होंने केवल यही कहा कि रामकृष्ण को तो मैं जानता हूँ। इससे आगे न उन्होंने कोई बात की और न मैंने, तथा मैं पुनः उनके चरण छूकर वापस लौटा। इस बार उन्होंने न तो सिर पर हाथ रखा और न कुछ आशीर्वाद ही दिया, केवल मूक दृष्टिपात ही किया सो भी भूली-विसरी दशा में। मेरी बाल बुद्धि ने इसे कोई पूर्व जन्म का संस्कार समझा। यही थे महाराजश्री जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी। कुछ समय के पश्चात् इन्हीं महाराजश्री की अनुकम्पा से मेरा विवाह हुआ। महाराजश्री की वह शान्त एवं तपःपूत प्रतिमा मेरे हृदयस्थल पर आज भी अंकित है।

पूज्य महाराजजी : मेरे अभिभावक

(श्री रामदत्त आचार्य, फिरोजाबाद)

मेरे पूज्य पिताजी पं० गोकुलचन्द्रजी भरतपुर जनपद के गण्यमान्य विद्वान् थे। वह सम्वत् १९७०–७५ के बीच नरवर में होने वाले किसी यज्ञ में सम्मिलित हुए थे अतः पूज्य महाराजश्री से परिचित थे। उनके दिवंगत होते ही जब घर, सम्पत्ति आदि होनेवाले अग्निकाण्ड में स्वाहा हो गये तो हमारी विपत्ति की सूचना पाकर महाराजश्री ने हमको सपरिवार नरवर बुला भेजा। प्रारम्भ में ताऊजी, मौसी, मेरी छोटी बहन तथा मैं महाराजश्री की शरण में पहुँचे।

यहां आकर नरौरा, विहारघाट आदि कई स्थानों में रहे। विहारघाट में हमें कई स्थान बदलने पड़े। उस समय मैं अबोध बालक था। पीछे मेरी पूज्या माताजी गांव से यहां आगई थीं। मेरे ताऊ एवं मेरी माताजी का स्वर्गवास यहीं हुआ। इनकी अन्त्येष्टि भर यथावत् श्रीमहाराजजी के आदेश से ही हुई। हमारे आगमन से लेकर अपने अन्तिम समय तक पूज्य महाराजजी का मेरे ऊपर अत्यधिक ममता रही। इतनी अगाध एवं अविचल ममता ममतारत ग्रहस्थ भी कदाचित् ही दे पाते।

मेरी छोटी बहन का पाणिग्रहण भी महाराजश्री के आदेश, स्वीकृति एवं सहयोग से ही हुआ था। वर निर्वाचन में उनकी सम्मति सर्वोपरि थी। विवाह के तीनों दिनों में वे नरवर से विहारघाट में आकर रहे थे। बहन के विवाह को सभी भांति अपने सामने पूर्ण किया था। मेरा विवाह भी उनकी कृपा एवं आशीर्वाद से ही हुआ। मैंने अपने विवाह में भी उनसे बारात में चलने का आग्रह किया था। उस समय उन्होंने मुझसे कहा था कि कोई भी काम तन, मन, धन से होता है। मेरा मन धन तो तुम्हारे साथ है, तन की अधिक चिन्ता मत करो।

मैं प्रायः बीमार रहा करता था। पूज्य श्रीमहाराजजी मेरे स्वास्थ्य के लिए मेरी अपेक्षा भी अधिक चिन्तित रहते थे। फिर भी मैं दो बार विशेष बीमार हुआ : एक सन् १९३४ में दूसरे सन् १९४० में। दोनों बार पूज्यचरण ने ऐसा प्रबन्ध किया जैसा पूज्य पिताजी भी जीवित होते तो न कर पाते।

महाराजजी की कृपा, ममता, आशिष आदि की अनेक घटनायें इस जीवन में घटी हैं, किन्तु स्थानाभाव के कारण कुछ का उल्लेख यहां सम्भव नहीं है। मेरा और मेरे परिवार के योग-क्षेम का भार पूज्य महाराजजी पर ही उनके अन्तिम समय तक रहा।

श्रद्धाञ्जलिः एक संस्मरण

(डा० हरिदत्त शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी०, आगरा)

श्रद्धेय पितृचरण पं० भीमसेनजी शर्मा का तपोमूर्ति श्री पं० जीवनदत्तजी से प्रगाढ़ स्नेह एवं परिचय था। अतएव वे मुझ पर भी बड़ी कृपा करते थे। सम्भवतः सन् १९२७ की बात है कि पुरी के शङ्कराचार्य श्रीमधुसूदनतीर्थजी महाराज ने श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी को अपना उत्तराधिकारी बनाने के प्रसङ्ग से नरवर यात्रा की। जगद्गुरु शङ्कराचार्य श्रीमधुसूदनतीर्थजी महाराज चाहते थे कोई एतद्देशीय ही उनकी गद्दी को सम्हाले पर जब यहाँ श्री स्वा० शुद्धबोधतीर्थ आदि किसी ने स्वीकार न किया तब दाक्षिणात्य श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी को नरवर में ही यह गद्दी सौंपी गई, उन दिनों नरवर संस्कृत महाविद्यालय को बड़ी ख्याति थी तब श्री विद्वद्वर श्रीविश्वेश्वराश्रमजी दण्डी वहीं रहते थे, उनका अलग स्थान था। एक पर्णकुटी में श्रीकरपात्रीजी भी वहीं विद्याभ्यास करते थे। मेरे पहुंचने में वहां संस्कृत सभा का आयोजन हुआ तथा विशेषतया श्री पूज्य पं० जीवनदत्तजी ने मुझे ही 'संस्कृताभ्युदयोपाय' विषय पर बोलने को कहा। मेरे बाद भी एक दो भाषण हुए। श्रीब्रह्मचारीजी के कारण खुरजा के श्रीगौरीशंकरजी गोयनका तथा प्रसिद्ध जटिया एवं बम्बई के अनेक सेठ पाठशाला की आर्थिक सहायता करने में अपना सौभाग्य समझते थे। वहाँ से कुछ दूर पर गङ्गा में नाव डालकर उसी नाव में श्री पं० दौलतरामजी महाराज बाद में श्री अच्युतमुनिजी महाराज राजघाट तथा नरवर के बीच रहते थे। इन महात्माओं के कारण यह सारा ही गङ्गातट तीर्थ स्थान बना हुआ था। यह महान् तपस्वी श्रीजीवनदत्तजी ब्रह्मचारीजी की कठोर साधना का फल था। उनका विद्यादान सत्र आज भी निर्बाध रूप में चल रहा है। इस प्रकार से यह विद्यालय उनका कीर्तिस्तम्भ है, तब वहाँ पक्का मकान एक-दो ही था। छात्र फूँस की ही कुटियाओं में निवास करते थे। उस समय को स्मरण कर कहना पड़ता है कि-"तेहि नो दिवसाः गताः।"



महाराजजीः एक अलौकिक प्रतिभा

(श्री धनप्रसाद शर्मा, बसई-टूण्डला)

मैं महाराज की अलौकिक प्रतिभा से पूर्वपरिचित था, किन्तु दर्शनलाभ का अवसर मुझे तब प्राप्त हुआ, जबकि महाराजजी का एक पत्र मेरे मित्र पं० जगन्नाथप्रसाद वैद्य के पास आया।

"स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी महाराज दण्डी सन्यासी सम्मेलन का सभापतित्त्व ग्रहण करके काशी से लौटते समय टूण्डला पधारेंगे तथा वहाँ से जयपुर विद्यावाचस्पति पंडितराज मधुसूदनजी के पास वेदविज्ञान विषय पर वार्ता करने जायेंगे, साथ में मैं भी जाऊँगा। अतः तुम स्वामीजी के रहन-सहन का समुचित प्रवन्ध कर मुझे शीघ्र सूचित करदो जिससे मैं पहुंच जाऊँ।"

हम सबने अतिशीघ्र श्रीभगवानस्वरूपजी, चेयरमैन की बगीची में प्रबन्ध कर दिया। स्वामीजी तूफान से आगये। महाराजजी को भी सूचना दे दी गई। वे भी रात्रि में ही टूण्डला आगये।

प्रातः जब मैं महाराजजी के दर्शनार्थ पहुँचा तो श्रीमहाराज स्नान संध्या से निवृत हो जप करने के लिए तत्पर थे। मैंने जाकर चरणस्पर्श किया। वैद्यजी ने मेरा परिचय कराया कि यही पं० धनप्रसाद हैं। हँसमुख महाराजजी मुस्कराकर वोले, "ब्राह्मण के साथ-साथ इनकी भी आवश्यकता है।" मैं महाराजजी की भव्य, प्रभावशाली एवं कान्तिमयी मुखाकृति को देखकर भावविभोर होगया और मन में कहा, "जैसा सुना, वैसा ही पाया।" महाराजजी की आज्ञानुसार हम लोग वहाँ से चले आये। मैंने महाराजजी के भोजन के विषय में वैद्यजी से पूछा। वैद्यजी वोले, "महाराजजी स्वयं पाक करेंगे, उनके लिये गोघृत और घर की चक्की के पिसे आटे का प्रवन्ध डा० जगमोहनलाल के यहाँ हो गया है। अन्य का प्रवन्ध तुम अपने यहां करलो।"

महाराजजी के आगमन की सूचना टूण्डला के सभी नागरिकों एवं अध्यापकों को मिल गई। सभी प्रतिष्ठित जन मध्याह्न वाद एकत्र हो गये। महाराजजी ने धर्म सम्वन्धी वहुत सी वातें वतलायीं। रात्रि को एक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें रात्रि के वारह वजे तक भजन, कीर्तन एवं पूजन आदि होता रहा। अन्त में महाराजजी के सारगर्भित उपदेश ने सभी श्रोतागणों को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। जी चाहता था कि महाराजजी कहते रहें और हम सुनते रहें।

प्रातः महाराजजी आगरा निवासियों के साथ जयपुर चले गये। उस समय से लेकर, मैं अपने निजी कार्यों में भी महाराजजी की आज्ञा लेता रहा और समय-समय पर नरवर जाता रहा। इसी मध्य मैं महाराजजी से अपनी पुत्री के विवाह के विषय में विचार करने हेतु नरवर गया। उसका विवाह पेंतीखेड़ा निवासी पं० लक्ष्मणसिंह रईस के सुपुत्र चि० राजकुमार से होना निश्चित हो चुका था।

विवाह का कार्यक्रम महाराजजी ने वनाकर वतला दिया कि निमन्त्रण पत्र बनाकर भेज देंगे, मण्डप रचना के लिये पं० यज्ञदत्तजी 'चपल' को पत्र लिख देंगे एवं संस्कार हेतु आचार्यगणों को भेज देंगे। जब मैंने महाराजजी से पधारने की प्रार्थना की तो वे वोले, "अच्छा देखा जायेगा, समय आने दो।" विवाह से आठ दिन पूर्व सामग्री का पर्चा तथा महाराजजी का पत्र वैद्यजी के पास आया,

"तेरे मित्र, यदि वैदिक विधि से विवाह संस्कार करने के लिये तैयार हों तो मैं एक दिन के लिये आ सकता हूँ, वैसे मुझे शीत में यात्रा करने में कष्ट होता है तथा गंगात्याड्य भी सहन नहीं होता।" मैंने अपने ज्येष्ठ भ्राता पंडित ज्वालाप्रसादजी को पत्र दिखलाया। सबने निश्चय कर महाराजजी को पत्र लिख दिया कि सभी कार्य आपका आज्ञानुसार ही होंगे।

विवाह से दो दिन पूर्व श्री आचार्य भीष्मजी के द्वारा नान्दीश्राद्धादि मंगल कार्य सम्पन्न किये गये। मण्डप पं० यज्ञदत्तजी, जो आगरा में आर्यमित्र के सम्पादक थे तथा नरवर के प्राथमिक विद्यार्थी थे, द्वारा मन्त्रों से शुद्ध एवं सुशोभित, कलापूर्ण ढंग में बनाया गया जो सबको अद्वितीय लगा। विवाह की तैयारी में, मंडप के नीचे पूजनादि के पश्चात् वरपक्ष के लोगों तथा आ० भीष्मजी में विवाद चलने लगा। भीष्मजी का कथन था कि वर स्वतः कन्या को कन्यागृह से लावे, ऐसा शास्त्रमत है यथा, "कौतुकागारात् वरः स्वयं कन्यामानीय।" वर पक्ष वाले कहते थे कि नाई जो कन्या लाता है वही लावे। इसी मध्य प्रातः ३ बजे के लगभग वैद्यजी ने कहा, "श्रीमहाराज" आ गये। सब लोग खड़े हो गये और चरणस्पर्श करने लगे। महाराजजी ने बड़े प्रेम से चौकी पर बैठते हुए पूछा, "क्या हो रहा है।" भीष्मजी ने उत्तर दिया, "कन्या को लाने का विषय चल रहा है।" मैंने कहा, "क्या आज्ञा है।" "भीष्मजी का मत ही शास्त्र से सम्बन्धित है" वे बोले। और वही हुआ। थोड़ी देर बाद वे अपने नित्यकर्म के लिये चले गये।

तभी एक समस्या उपस्थित हुई कि महाराजजी का विस्तर जिस कार में था, वह आगरा चली गई। ऐसी परिस्थिति में, शीत में, वे जो कपड़े पहने हुये थे उन सबको धोकर एवं केवल गीला अँगोछा बाँधकर ही जप करते रहे। हम सबको असह्य दुःख हुआ किन्तु वे मुस्कराते हुये बोले, "कोई बात नहीं, भोग है।" जप के बाद पुनः स्नान कर मिट्टी की हड़िया में खिचड़ी बनाकर केले के पत्ते पर भोजन किया।

महाराजजी के आने की सूचना जब वरपक्ष वालों को मिल गई तो वे भी दर्शनार्थ आने लगे। निमन्त्रणी की सूचना लेकर मेरे ज्येष्ठ भ्राता तथा मैं महाराजजी के समक्ष गये। महाराजजी ने कहा, "निमन्त्रणी आवश्यक है। दोनों पक्षों के मिलाप का यही एक माध्यम है।" मैंने प्रश्न किया, "महाराजजी आप निमन्त्रणी से पूर्व संध्या करेंगे अथवा निमन्त्रणी के पश्चात् करेंगे।" महाराजजी बोले, "कार्य तो दोनों ही हो सकते हैं, किन्तु मेरे वहाँ जाने में बाधायें हैं। वे लोग अपने सम्मान में हुक्का, सुपाड़ी, पान आदि रखेंगे और मैं ऐसी जगह नहीं जाता जहाँ ये मादक वस्तुयें प्रयोग होती हैं। मैं चौधरी नन्दलाल के यहां नरौरा में देख चुका हूं, जिनके पुत्र चि० रमाशंकर यहाँ आये हुये हैं। वहाँ चौधरीजी ने सभी मादक वस्तुयें बाहर कर दी थीं।"

भाई साहब ने पंडितजी को जनमासे भेजा तथा महाराज के पधारने तथा उनके कथनानुसार वस्तुयें न रखने के बारे में कहलवाया। पंडितजी ने बताया कि कुछ वस्तुयें त्यागने को तैयार हैं और कुछ नहीं। भाईसाहब ने पुनः पंडितजी भेजते हुये कहलवाया कि "यदि महाराजजी नहीं आयेंगे तो केवल पंडितजी और नाई ही निमन्त्रणी पर आयेंगे।" बाद में निश्चय हुआ कि महाराजजी अवश्य आवें ये चीजें न रखीं जायेंगी। महाराजजी से प्रार्थना की गई तथा सभी पंडित लोग महाराजजी के साथ जनमासे को गये। महाराजजी को उच्चासन पर बैठाया गया। आचार्य भीष्मजी द्वारा चारों वेदों के स्वस्तिवाचन से पूजन आदि, श्रीबहोरीदत्त शास्त्री द्वारा मधुर काव्यपाठ एवं पं० सुदर्शनाचार्यजी

द्वारा व्याखान किया गया। तत्पश्चात् महाराजजी का उपदेश प्रारम्भ हुआ।

महाराजजी ने कहा, "उभय पक्ष के लिये यह बड़ा मंगलमय अवसर है। सनाढ्यों, धनाढ्यों का वैभव देखकर चित्त प्रसन्न होता है। यदि इस धनाढ्यता के साथ सनाढ्यता अर्थात् ब्रह्मत्व भी हो तो स्वर्ग में सुगन्ध के तुल्य है। वैभव राजा-महाराजाओं के यहाँ भी ऊँचे से ऊँचा देखा गया है। वैभव में कोई, किसी की बराबरी नहीं कर सकता, किन्तु दुःख है कि हमारे धनाढ्यों, जमीन्दारों एवं रईसों को ब्राह्मण होते हुये भी ब्राह्मण कहलाने में लज्जा होती है, जो एक भ्रमपूर्ण धारणा है तथा लज्जास्पद तथ्य है।"

"जिस ब्राह्मणत्त्व के लिए वशिष्ठ, परशुराम महान ने कष्ट सहे और उसकी रक्षा की, उसी 'शब्द' को कहलवाने में हमें लज्जा आती है तथा उसके स्थान पर ठाकुर आदि शब्द प्रयोग में लाते सुन असीम आनन्द प्राप्त होता है। यह हमारा बड़प्पन नहीं है कि हम अपने को निम्न श्रेणी में उतारें। जिस ब्रह्मत्त्व की प्राप्ति के लिये विश्वामित्र ने दस हजार वर्ष तप किया और बाद में हार मानकर ब्राह्मण की शरण में ही पहुँचकर मनोरथ सफल हुआ, उसे हम ठुकरा रहे हैं। मैंने यही बात बेलोन में राजा मानसिंहजी के सुपुत्र के विवाह में कही थी, उन्होंने नरवर जाकर स्वीकार किया और कुछ उद्योग भी किया किन्तु दुःख हैं कि वह न रहे, उनके सुपुत्र यहाँ पर मौजूद हैं और सभी ब्राह्मण जातीय प्रमुख उपस्थित हैं। मैं चाहता था भी कि एक समय सबसे यह कहूँ कि जाति की उन्नति के लिये कुछ सोचें और करें। यह दिखावा, यह प्रदर्शन अधिक समय तक चलने वाला नहीं है। यह सब अल्पकालीन है। अतः जाति की उन्नति के लिये कुछ करिये, मेरा सहयोग साथ है। आप लोग नरवर पधारें, आपको कोई कष्ट नहीं होगा।"

तब से मैं बार-बार नरवर जाता रहा हूं। महाराजजी की धर्म के प्रति आस्था, उनकी प्रगाढ़ बुद्धि, उनका दृढ़ संकल्प उस अलौकिक प्रतिभा की स्मृति दिलाता रहता है। वे नहीं रहे परन्तु उनकी स्मृति में मेरे ये श्रद्धा सुमन सादर समर्पित हैं—

"हे अगोचर कर रहा,
श्रृद्धा सुमन तुम्हें अर्पित।
प्रभु ने कर ले लिये
यह देख हो रहा हर्षित॥"



पूज्य महाराजजी : कलिकाल के सत्यनारायण

(पं० विश्वनाथ शर्मा वैदिक, कर्णवास)

पुण्यतोया भगवती भागीरथी के पावन तट पर अवस्थित श्री साङ्गवेद महाविद्यालय, नरवर, नरौरा (बुलन्दशहर) उ० प्र० के संस्थापक तथा सञ्चालक नैष्ठिक ब्रह्मचारी सर्वश्रीविभूषित श्रीजीवनदत्तजी महाराजपाद, एक विलक्षणप्रतिभासम्पन्न परमोदारमनोभावनाभावित, लोकोपकारव्रती, त्यागी, विद्याव्यसनी तथा भारतीय सनातन वैदिक संस्कृति के सुदृढ़ आधारस्तम्भ थे। उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन तथा तपश्चर्या लोकहित में लगाते हुए व्यापकरूप से नरवरस्थ अपनी संस्कृत शिक्षा संस्था तथा दैनिक सत्सङ्ग के माध्यम से देशवासियों में संस्कृत-वाङ्मय और धार्मिक संस्कृति की परम आस्था उत्पन्न कर दी थी। उन दिनों उनके नरवराश्रम में जहाँ एक ओर कलिमलनाशिनी जाह्नवी की निर्मल धारा अपनी अबाधगति से प्रवाहित होती थी, वहाँ दूसरी ओर मनोमलनाशिनी भारतीय निगमागमज्ञानप्रसूत सुन्दर विचारधारा निरन्तर बहा करती थी। आश्रमवासी नैष्ठिक तथा उपकुर्वाण ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी, अवधूत आदि सभी जन स्व-स्व कर्तव्यों में अद्भुत निष्ठा रखते थे तथा यथासमय श्रीमहाराजपाद की सन्निधि में होने वाली शास्त्रीय विचारसभा में भाग लेते थे। यद्यपि मैं उस समय एक अबोध बालक के रूप में प्रारम्भिक वेदाध्ययन करता था, किन्तु उस समय के उस सुन्दरतम धार्मिक वातावरण को मैं अपने जीवन में भुला नहीं सकता। श्री महाराजपाद के अनुपमसुधामय वात्सल्य रस का सदावर्त पाकर मेरा ही नहीं न जाने कितने आश्रितजनों का जीवन धन्य बन गया। लगभग दो सौ आश्रमवासी जनों के सार्वविध निर्वाह का भार उठाते हुए वे कितनी प्रसन्न-मुद्रा में दिखाई देते थे, यह वे ही जान सकते हैं कि जिन्होंने उस वातावरण का तदानीन्तन साक्षित्व किया है। आज वे केवल अपने पाञ्चभौतिक शरीर से हम लोगों के समक्ष नहीं हैं, किन्तु वे अपने व्यापक दिव्य शरीर से आज भी हम लोगों के सभी प्रकारों से पूर्ण निर्वाह तथा सुरक्षा का भार उठाये हुए हैं, और भविष्य में उठाते रहेंगे। नहीं तो मुझ जैसे अकिञ्चन, साधन-सम्पत्तिहीन पुरुष का आधुनिक महर्घता के युग में जीवन निर्वाह अशक्य ही नहीं असम्भव भी था। सच तो यह है कि मैं उन्हें वृद्धब्राह्मण रूपधारी साक्षात् भगवान् श्री सत्यनारायण ही मानता हूँ, और शतानन्द ब्राह्मण ने जिस भक्तिभावना से उन्हें भिक्षान्न अर्पित किया होगा, तादृश अन्यूनभावना से मैं जब अपना यदृच्छालब्ध आहार नैवेद्य के रूप में उनके चित्र के समक्ष उपस्थित करता हूँ तब जो मुझे विलक्षण अनुभूति होती है, मैं उसका वर्णन नहीं कर सकता। जो भी हो मेरी अपनी यह दृढ़ मान्यता है कि वे कलित्रस्त जीवों के उद्धार के लिये अवतीर्ण भगवान् श्री सत्यनारायण ही थे। वे पूर्णरूप से कलिसुलभ दोषों से रहित थे। वर्तमान युग में जबकि अनेक सन्त महन्त महापुरुषों को दुर्मानवों ने अनेक दूषणों से लाञ्छित करने का कुप्रयास किया, वहाँ श्री महाराजपाद की ओर किसी ने उंगली तक भी नहीं उठाई। उठाता भी कैसे ? परदूषक असत्पथगामी दुर्जनों के समस्त अवगुण श्रीमहाराजपाद के दर्शनमात्र से दूर हो जाते थे। उनकी दृष्टि पड़ते ही अनेक दुर्जन सज्जन बन जाते थे। ऐसे कलिविजयी श्रीमहाराजपाद के चित्र की यथालब्धोपचार

पूजा दैनिक रूप से, तथा व्यासपूर्णिमा और उनकी निर्वाणतिथि में विशेष रूप से करके हम अपना जीवन सार्थक मानते हैं। कलिदोषों को पराभूत करने के लिये उनके पास प्रबलतम साधन थे, यही कारण था कि उन पर लेशमात्र भी कलि-प्रभाव नहीं पड़ा। उन्हीं को पवित्र वाणी से सुना गया यह श्लोक-"सुसंयतं मनः शुद्धं वचनं सत्यभूषितम्। कायः परहितो यस्य कलिस्तस्य करोति किम्॥" आज भी मुझे स्मृत है! मन-वचन-कर्म से उन्होंने आजीवन आर्त, दरिद्र, भयत्रस्त जनों का भलीभांति उपकार किया, तथा अन्य असंख्य धनी-मानी जनों से कराया। उन दिनों उनकी तपश्चर्या की अनोखी शोभा से अत्यन्त चमत्कृत उनका नरवराश्रम असंख्य भक्तजनों का पावन तीर्थ बन गया था। देश के कोने कोने से आने वाले दर्शनार्थी भक्तों की भीड़ सी लग जाया करती थी। वर्ष भर के पर्व दिवसों पर शास्त्रीय विधि से देवाराधन दृश्य के दर्शनार्थी जन वहाँ एकत्र होकर भारतीय संस्कृति के उच्चतम आदर्श कार्यों में सक्रिय भाग लेते थे। व्यास पूर्णिमा के पावन पर्व की वेला में आगत तथा स्थायी मनुष्य सामूहिक रूप से उनका पत्रपुष्पादि से पूजन करके प्रबलतम् मनोमोहनाशक सुन्दरतम सदुपदेश सुनकर कृतार्थ हो जाया करते थे। ह्री श्री धी धृति कीर्ति आदि समस्त दैवी गुण उन में विराजमान थे। ऐसे लोककल्याणकारी महापुरुष के सम्बन्ध में कितना कोई कह सकता या लिख सकता हैं। उनकी सद्गुणगणरत्नमालिका का गुम्फन, जीवनभर लिखते रहने पर भी सम्भव नहीं। मेरे तो वे पितृपरम्परा से ही आराध्यदेव रहे हैं। मेरी वृद्धा पितामही तथा ज्येष्ठ कनिष्ठ पितृव्य स्वमुख से उनकी अकारणवत्सलता का वर्णन करते थे, तो मेरे तन में यह निश्चित धारणा उत्पन्न होती थी कि जिस प्रकार मेरे पू० पा० श्रीपिताजी (स्वर्गीय-पं० तुलारामजी वेदपाठी) ने श्रीमहाराजपाद की सेवा में अपना सम्पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया, ठीक उसी प्रकार मुझे भी अपना जीवन उनकी सेवा में ही लगा देना चाहिये, किन्तु दुर्भाग्यवश वैसा सुअवसर मुझे नहीं मिल पाया। इस सुयोग के लिये मेरे तदानीन्तन शैशवकाल ने मुझे धोखा दिया, और जब मैंने अपने आपको उनकी सेवा के लिये कुछ समर्थ समझ पाया तभी वे अपने पाञ्चभौतिक शरीर को त्याग कर अखण्ड ज्योति में समा गये, और मैं हतभाग्य उनकी पवित्र सेवा का कुछ भी अवसर न ले पाया। श्रीमहाराजपाद की अहैतुकी कृपा से मुझे उनका एक चित्र प्राप्त हो गया है। उसमें वे अपने पास वैदिक ग्रन्थ रखकर सिद्धासन से ध्यानमग्न बैठे हैं। मुझे उनके चित्र से मानस संकेत मिला कि जिस प्रकार मेरे पिताजी ने अपना जीवन उनकी अहर्निश सेवा से धन्य बना लिया, उसी प्रकार मैं भी धन का अभाव रहते हुए भी स्वायत्त केवल तन, मन से ही चित्रावस्थित प्रसन्न मुद्रा में विराजमान श्रीचरणों की दैनिक समर्चन प्रक्रिया को अपने जीवन का लक्ष्य बना लूँ। तदनुसार मेरा अब वैसा कार्यक्रम बन गया है। मैं अपने लोकव्यवहार सम्बन्धी सभी कार्यों की अनुमति श्रीचरणों से ग्रहण करता हूँ। यथाशक्ति यथालब्ध पूजोपचार द्वारा समर्चनपूर्वक मैं उन्हें नित्य वेदस्वाध्याय सुनाया करता हूँ, क्योंकि उन्हें अपने जीवनकाल में वेदस्वाध्याय अतिप्रिय था। वे जिस प्रकार वैश्वदेवबलिहरणान्त क्रिया के उपरान्त भगवान् श्रीनर्मदेश्वर शालग्राम शिलारूप में विराजमान हरिहरात्मक श्रीभगवद्विग्रह को अर्पित किये नैवेद्य को प्रसादरूप में ग्रहण करते थे, उसी प्रकार चित्रस्थित श्रीमहाराजपाद के दैनिक आहार-समर्पण की विधि अपनाता हूँ। पादसंवाहनादि सेवा को भावना से समर्पित करता हूँ। आजीवन वेदमाता गायत्री के सिद्ध उपासक, संयतात्मा श्रीमहाराजपाद, मेरे समस्त परिवार के परमाराध्य देव हैं। बालक अनुकरणशील होते हैं। अतः मेरे सभी छोटे बड़े बालक श्रीमहाराजपाद की सेवा-पूजा में सम्मिलित होकर श्रीचरणों में नतमस्तक होते हैं। इस प्रकार मुझे प्रसन्नता है कि इन बच्चों

के भी श्रीमहाराजपाद के प्रति भक्तिभावना के प्रवलतम संस्कार वन सकेंगे।

लोकोत्तरचरित, विश्ववन्द्य, महनीयकीर्ति, सिद्ध महापुरुष के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होना, जन्मान्तरीय प्रवल पुण्यों का ही सर्वोत्कृष्ट फल माना जाता है। भगवान् सर्वेश्वर श्रीहरि की अनुकम्पा के विना उत्तम सन्तजन के दर्शन तक दुर्लभ होते हैं, उनकी सेवा का अवसर तथा उनके सदुपदेशामृतवचनों का श्रवण एवं शुभाशीर्वाद का लाभ तो प्रवलतम सुकृतपरिपाकानुकूल हरिकृपा के विना कदापि सुलभ नहीं होता। "बिन हरिकृपा मिलें नहीं सन्ता"। अवश्य ही मेरे पितृपाद का अनेकजन्मार्जित कोई सुकृतसमूह रहा होगा, जिससे कि उन्हें अपने वाल्यकाल से ही अनुपमब्रह्मवर्चसी, शान्त, दान्त, तपस्वी, अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रह के प्रतीक, मूर्तिमान धर्म, अनेक श्रीविभूषित श्रीजीवनदत्तजी महाराजपाद, कुलपति श्री साङ्गवेद महाविद्यालय नरवर की निर्हेतुक सर्वकाल सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ।

मेरे पूर्वजों की जन्मभूमि ग्राम वैम (वीरपुर) जि० अलीगढ़ थी। मेरे पिताजी को अपने वाल्यकाल से ही सन्तसेवा, हरिनाम जप, गोसेवा तथा "मैं सेवक सचराचररूपराशि भगवन्त" की भावना से यथाशक्ति जनताजनार्दनसेवा की अभिरुचि स्वभावसिद्ध थी। "तुलसी जस भवितव्यता तैसी मिलै सहाय। आपु न पहुँचै ताहि पै ताहि तहाँ लै जाय॥" के अनुसार एक दिन अकस्मात् श्रीमहाराजपाद का भव्य दर्शन, उन्हें अपने ग्राम बैम (वीरपुर) के निकट एक वगीची पर हुआ। श्रीमहाराजपाद वहाँ के जागीरदार भक्तों के आग्रह से किसी धार्मिक समारोह की अध्यक्षता करने को वहाँ पधारे थे। सायंकालीन प्रातःकालीन दैनिक नित्यकर्मानुष्ठानादि कार्यों के लिये श्री महाराजपाद ने उसी बगीची को अनुकूल समझा था कि जिस पर मेरे श्रीपिताजी सायं प्रातः एकान्तसेवन, हरिनामजप, तथा आगन्तुक साधु सन्तों के दर्शन और पथिकजनों के जलपान की व्यवस्था के लिये पहुँचा करते थे। प्रतिदिन पक्षियों को चुगाने वाले को एक दिन हंस के भी दर्शन हो ही जाते हैं। श्रीमहाराजपाद के प्रथमदर्शन से ही उनके मन में तत्कालीन सेवा का भाव उदय होगया जो उनका उस समय तक स्वभाव वन गया था।

श्रीमहाराजपाद के साथ यद्यपि अनेक सेवकजन थे तो भी श्री पिताजी ने उस स्थान पर सन्तसेवा का स्वाधिकार घोषित कर अपने से अतिरिक्त किसी भी व्यक्ति द्वारा सेवा न होने देने की सफल हठ की। "राम सदा सेवक रुचि राखी"—श्री महाराजपाद ने अपने सेवकों को हटाकर एक नवीन, निःस्वार्थ सेवक बालक की वालहठ को रक्षा के लिए सेवा स्वीकार कर लो। तब तो श्री महाराजपाद जितने दिन वहां ठहरे, प्रतिदिन उन्हें स्नान करांना, वस्त्र प्रक्षालन करना, पूजा के पात्र धोना, आसन बिछाना सभी उचित सेवायें निरालस्य भाव से करते हुए श्री पिताजी अपने आपको अरहरभिवृद्धश्रेयोभागी समझते रहे। प्रतिदिन अपनी गाय का दूध अपने हाथों निकाल कर स्वयं गरम करके श्रीमहाराजपाद को अर्पित करते रहे। यद्यपि—"सब ते सेवक धर्म कठोरा" कहा गया है तो भी मेरे श्रीपिताजी के लिए वह स्वभावसुलभ मृदु था। उतने काल में श्रीमहाराजपाद ने मेरे पिताजी की अन्तर्वहि वृत्तियों का साधु परीक्षण कर लिया। उनकी सेवा से श्रीमहाराजपाद की अन्तरात्मा को अतितुष्टि का अनुभव हुआ। यहां तक कि उन्होंने अपने उस उत्तम सेवक वालक को विद्याध्ययन कराने के उद्देश्य से अपने साथ नरवराश्रम ले जाने का प्रस्ताव, उनके घर वालों के पिता के समक्ष रख दिया। मेरे श्रीपिताजी की वृद्धा माता तथा अग्रज (श्री पं० ताराचन्दजी) अनुज (श्री पं० रोशनलालजी) कुल मिलाकर चार प्राणी उस समय परिवार में थे। चौदह-पन्द्रह वर्ष के अपने आत्मज

(मेरे पिताजी) को उन की वृद्धा माता अपनी आंखों से ओझल होने की अनुमति कैसे दे ? ममताभरी वृद्धा के सजल नेत्रों से उक्त सङ्केत पाकर श्रीमहाराजपाद ने सभी जनों को नरवर चलने को कहा, और वे सबके सब एक महान सन्त के वचन टाल न सके। नरवर पहुंच कर श्रीमहाराजपाद ने नरवर के निकटवर्ती 'नरौरा' ग्राम में उस परिवार को, नरवर महाविद्यालय के आजीवन प्रबन्धक चौधरी श्रीनन्दलालजी रईस के संरक्षण में बसा दिया। मेरे श्रीपिताजी गङ्गातटवर्ती नरवराश्रम की पावन भूमि में उपनीत होकर श्रीमहाराजपाद की सर्वकाल सेवा के साथ यथाशक्ति वेद, व्याकरण का अध्ययन करने लगे। बहुकालसाध्य सेवाकार्य से समय अधिक न मिल सकने के कारण अधिक अध्ययन तो वे नहीं कर पाये किन्तु उनको निर्मल बुद्धि में आगन्तुक पर्यटक साधुसन्त, विद्वज्जनों तथा स्थायी अध्यापकों के सम्पर्क से जो भी विद्या संक्रान्त हुई वह सुस्थिर बनी रही।

धीरे धीरे उन्हें कर्मकाण्ड तथा आयुर्वेद का विशेष ज्ञान हो गया। जिस समय वे सामगान करते थे तो श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। वे निरालस्य सुदृढ़ शरीर थे। श्रीमहाराजपाद के सेवा-सम्पर्क से उनकी सहज परोपकारभावना अधिक समृद्ध होकर सक्रिय हो उठी। वे नरवराश्रम में धर्मार्थ औषधालय के माध्यम से आतुर जनसाधारण की निःशुल्क सेवा भी करने लगे। एक दिन नरौरा ग्रामवासी एक बूढ़ा श्वपच घबराया हुआ माघ मास की अतिशीत रात्रि में १२ बजे आकर उनका द्वार खटखटाने लगा। इस वृद्ध श्वपच का युवा पुत्र त्रिदोषग्रस्त होकर मुमूर्षु दशा में अचेत पड़ा था। वे अपने शयन से तत्काल उठकर उसे सान्त्वना देते हुए वस्त्र उतार कर केवल कौपीन पर एक अंगोछा लपेट कर काला कम्बल ओढ़कर श्वपच के घर पहुँच गये। वहाँ जाकर उन्होंने रोग-शामक औषधियाँ और अनुपान द्रव्य (जो अपने साथ ले गये थे) मिलाकर अपने हाथों से रोगी की दांती खोली तथा सावधानी से उसे औषध सेवन करा दिया। रोगी के घर वाले कई दिन से रोगी की परिचर्या में दिन-रात जगे हुए थे उन्हे सान्त्वना देकर सो जाने को कहा और स्वयं रात भर रोगी की परिचर्या करते रहे। जब रोगी ब्राह्म मुहूर्त में कुछ सावधान हो गया तब घर वालों को जगाया और उन्हें औषध देकर सेवन विधान समझाकर सीधे गङ्गा स्नान करने चले गये। कम्बल सहित सचैल स्नान कर घर लौटे। यज्ञोपवीतपरिवर्तन, पञ्चगव्यपान से विहित शुद्धि कर पुनः अपनी दैनिक प्रक्रिया के अनुसार श्रीमहाराजपाद के सेवाकार्य में जुट गये। इस प्रकार कीगई अनाथ सेवा से श्रीमहाराजपाद अतिप्रसन्न हुए।

दैवकृत संयोगवश, एक पुत्रवत्सल पिता की सर्वाङ्गीण भूमिका निभाते हुए श्रीमहाराजपाद ने मेरे श्रीपिताजी का चन्दौसी नगरीवास्तव्य एक सिद्ध ब्राह्मणकुल कन्या से विवाह करा दिया था। यद्यपि श्रीपिताजी अपने गार्हस्थ्य-बन्धन के पक्ष में नहीं थे तो भी वे अपनी वृद्धा माता की उत्कट अभिलाषा तथा श्रीमहाराजपाद की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सके थे।

मेरी अवस्था उस समय केवल चौदह वर्ष की ही थी जब मेरे पूज्यपाद पिताजी ने नरवराश्रम पर अपनी इहलीला संवरण की। पूज्य श्रीमहाराजजी को अपने सेवक के वियोग से महान् कष्ट हुआ।

संस्कृति - आलोक



धर्म उतर व्यवहार में संस्कृति वनी पुनीत।
आलोकित जिससे हुआ आर्यावर्त अतीत॥
प्रस्तुत है झाँकी तनिक उस अतीत की दिव्य।
पाठकगण के हो सकें जिससे चरित सुभव्य॥



प्रभु के चरणों में

(डा० मुंशीराम शर्मा 'सोम', कानपुर)

अग्निर्मूर्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति ।

गतियों के तुम गन्तव्य देव, ज्ञानों के ज्ञेय तुम्हीं प्रभुवर ।
ज्योतिष्कों के ज्योतिष्क तुम्हीं, द्यावा के उन्नत शुभ्र शिखर ।।
वह दूर-दूर द्यावा हमसे, पर पृथिवी माता तो समीप ।
वह द्यावा का, यह पृथिवी का, वह-यह तुम दोनों के प्रदीप ।।१।।

तुम हो प्रतीप, तुम हो प्रत्यक्, तुम हो सधस्थ तुम साथ-साथ ।
यह मही तुम्हीं से है महान्, द्यावा भी तुमसे ही सनाथ ।।
द्यौ से रवि किरणें निकल-निकल अग-जग को सत्ता दान करें ।
आकुञ्चन और प्रसारण से अणु-अणु में जीवन-प्राण भरें ।।२।।

ये व्योम विहारी विहग उड़े, ये चले सरीसृप, चींट-कीट ।
ये द्विपद चतुष्पद भी निकले, क्या सुस्थिर प्रस्तर-कंकरीट ?
इनके भीतर भी परिवर्तन, सब में गति, सब में रूप भेद।
सम-विषम दशाओं के भाजन, सब पर फैला श्रम-जनित स्वेद ।।३।।

छा रहा सभी पर क्षोभ-कम्प, हो रहे सभी प्रेरित पीड़ित ।
ऊपर आतप नीचे ज्वाला, सब द्वेष दाह से आतंकित ।।
क्षण भर क्षणदा की क्रोड मिले, उसमें भी स्वप्नों की माया ।
मन की तरंग मय दौड़-धूप, निश्चेष्ट हो सकी कब काया ।।४।।

फिर वही जागरण, वही ताप, वैसा ही अशना-तृषा-वेग ।
है हृदय-हृदय में वही राग, धमनी-धमनी चाहती नेग ।।
निज में, जन-जन में संघर्षण, प्राणी-प्राणी में उत्पीड़न ।
अस्तित्त्वसुरक्षा-समर मध्य है जूझ रहा जीवन-जीवन ।।५।।

इस गति में, कम्पन में तुमने भर दी है कैसी क्रूर कथा ।
सुख कहाँ चतुर्दिक् धाड़ रही, पीड़ा की पापीयसी प्रथा ।।
क्या यही तुम्हारा गति विधान, क्या यही तुम्हारा कर्मचक्र ?
या पृथिवी का नारीत्व अबल जिस पर है सब की दृष्टि वक्र ? ।।६।।

क्या यही प्रभंजन द्यावा में, जिसमें नरत्व का स्वत्व प्रबल ?
क्या सूर्य समिन्धन कालायस खारहा सलिल के कण अविरल ?
घन-घन-भीषण- रण से मर्दित यह तडित प्रताडित अन्तरिक्ष ।
झंझा- प्रवाह, दिग्दाह, टूट गिर रहे अनेकों ऋक्ष-वृक्ष ।।७।।

ये अग्नि, इन्द्र, आदित्य सतत संतप्त तुम्हारा लिये ताप ।
ये पितर, देव, वसु, मरुत, साध्य ढो रहे किसी का घृणित शाप ।।
है इन्हें दिदृक्षा, श्रवणेच्छा, बन जाते चक्षु-श्रोत्र तत्क्षण ।
है इन्हें जिघृक्षा, मिले मोद, मुद-प्रमुद करें मधुमय वर्षण ।।८।।
कामना अरे है कहां मरी ? कर रही पंथ कण्टकाकीर्ण ।
दे रही व्यथा-व्याधियाँ बहुत प्राणी चिन्ता से ज़राजीर्ण ।।
तुम कह सकते, सिद्धार्थ सिद्ध, है सतत दिवा उनके समक्ष ।
वे यथाकाम विचरण करते उनका न कहीं कोई विपक्ष ।।९।।
पर पुण्य भोग क्या भोग नहीं ? क्या शक्ति भोग से क्षीण नहीं ?
जो शक्तिहीन, असमर्थ सदा, होता सम्राट स्वराट् कहीं ?
उसके सुख में भी बाधा है, आनन्द कहाँ ? वह निरानन्द ।
इन्द्रियाँ तृप्ति आकांक्षा में कर देती हैं आह्लाद मन्द ।।१०।।
इस वृहत् विश्व का बीज काम, फल रहीं भोग वृत्तियाँ विपुल ।
यह जन्म-मरण, उत्थान-पतन, उदयास्त वीथियों से संकुल ।।
द्यावा पृथिवी युग कोटि मध्य चंचला ऊर्मियाँ नृत्य-निरत ।
जड़ जंगम विभ्रम मुग्ध देख अपनेपन से हो रहा विरत ।।११।।
सुख-दुख क्रीड़ा इन्द्रिय गण की, यह स्वस्ति-स्वभाव-विहीन सदा ।
यह बिन्दु नहीं, है बिन्दु परिधि, वहुरूप, विविध संसृति दुखदा ।।
नीचे भू, ऊपर सत्यलोक सब पञ्चभूत भैरव-महिमा ।
कुछ स्थूल-सूक्ष्म-वायवीरूप, तप-जनित शुभ्र गौरव-गरिमा ।।१२।।
तामसी, राजसो, सत्त्वसृष्टि पर अपर लोक-आवास रम्य ।
सब घूम रहे गिरते-उठते सबकी कृतियों में तारतम्य ।।
छू ऊर्ध्व शिखर को केन्द्र-बिना पुनरावर्तन-भव जालग्रसित ।
होते रहते ज्ञानो, ध्यानी, तप-रत भी काल-व्याल-भासित ।।१३।।
तुम संचालक, तुम प्रक्षालक, तुम कर्म शुभाशुभ फलदायक ।
तुम वाम, साम, परिपूर्णकाम, अभिराम-शिवा शोभाधायक ।।
तुमसे ही काम-कला चलती, तुम हो उसके विश्राम-धाम ।
हे देव ! छीन लो तुम मुझसे इस कौतुकिनी के नाम-ग्राम ।।१४।।
चंडाल चपल छल-वल-चतुरा शुक-ऋषिमुनि इसके पञ्जरस्थ ।
मैं वटुक अपटु दयनीय दीन यह सिद्ध-समृद्धों के शिरःस्थ ।।
तुम तो इसके भी प्रभव-विभव, आवर्जन-तर्जन में सशक्त ।
क्यों देख रहे मेरी पीड़ा क्यों मुझसे ऐसे अनासक्त ।।१५।।
मेरी गति, मेरी ज्ञान ज्योति, मेरी सर्वोपरि शक्ति तुम्हीं ।
ध्यातव्य तुम्हीं, गन्तव्य तुम्हीं, अद्वय परमा अनुरक्ति तुम्हीं ।।
हे देव ! शरण में पड़ा हुआ, चरणाश्रय दो निज किंकर को ।
इस काम-जाल से मुक्त करो, औढरदानी ढरको, ढरको ।।१६।।

भारतस्य सांस्कृतिकी अखण्डता

(डॉ० रामजी उपाध्यायः, एम० ए०, डी० फिल्०, डो० लिट्०, सागर)

उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तद्भारतं नाम भारती तत्र सन्ततिः ।
कर्मभूमिरियं स्वर्गमपवर्गं च गच्छताम् ।।

भारतस्य उपर्युक्तः परिधिः विष्णुपुराणप्रतिपादित एव शाश्वतं समादरणीयो वर्त्तते। मार्कण्डेयपुराणे तदेव समर्थितम्—

दक्षिणापरतो ह्यस्य पूर्वेण च महोदधिः ।
हिमवानुत्तरेणास्य कार्मुकस्य यथा गुणः ।।

तदेतद् भारतं वर्षम् ...

भारतस्येदमैक्यं सांस्कृतिकसंविधानुरूपं सुघटितम्। बहुषु राज्येषु भूतेष्वपि मनुना निर्दिष्टो जीवनविधिः वर्णाश्रमव्यवस्था, राजधर्मः, श्राद्धादिपद्धतिः सर्वस्मिन् भारते समाना एव।

भारतस्य संस्कृतिप्रकृत्योर्विभूतीनां गणनाप्रसङ्गे प्रायशोऽस्य सर्वभागेष्ववस्थितानां नदीनां गङ्गा- यमुना- गोदावरी- सरस्वती- नर्मदा- सिन्धु- कावेरीणाम्, नगरीणामयोध्या- मथुरा- माया- काशी- काञ्च्यवन्तिका- द्वारावतीनाम्, पर्वतानां महेन्द्रमलयसह्यशुक्तिमदृक्षविन्ध्यपारियात्राणां चांकलनं क्रियते। शङ्कराचार्यस्तु भारतस्य सीमान्तप्रदेशे विश्वविद्यालयरूपान् मठान् बदरी- द्वारका- काञ्ची- पुरीषु स्थापयामास। चक्रवर्त्तिराजस्यः समग्रं भारतमर्थशास्त्रानुसारं चक्रवर्त्तिक्षेत्रम्। यथा- तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्रपरिमाणं तिर्यक्चक्रवर्तिक्षेत्रम्।

पुरा भारतस्य सर्वेषु भागेषु संस्कृतं राष्ट्रभाषारूपेणाविद्यत। इत्थमेव सर्वभागेषु सर्वेषां विज्ञान-दर्शन-धर्माणां वेदोपनिषद्रामायणमहाभारतनाट्यशास्त्रमहाकाव्यादीनां तेषां रचयितॄणां च प्रभावोऽभवत्। रामकृष्णमहावीरगौतमशङ्कराचार्यादीनां परिभ्रमणोपदेशभूमिः प्रायः भारते सर्वत्रैवासीत्।

राजनैतिकदृष्टया भारतस्यैकत्वमसन्दिग्धं वर्तते। समग्रं भारतं सदैवैकच्छत्राधीनं नाभवदिति सत्यमेव। तथापि बहवस्तत्र महाराजा बभूवुर्येषां दिग्विजयप्रवृत्तिर्भारतस्यैक्यमेव राजनैतिकदृष्ट्यापि प्रमाणयति। प्राचीनभारते राजा तु मनोः प्रतीकमात्रमेवासीत्। कस्मिंश्चिदपि काले भारतस्य विभिन्नभागेषु राजमाना बहवो राजानः एकस्य मनोरनेकरूपाण्येवासन्। अस्मिन् प्रसङ्गे राज्ञो महत्त्वं न वर्त्तते। महत्त्वपूर्णा तु आसीन्मनुमार्गेण प्रणिहिता राजनीतिः, या समस्ते भारते एकैवाभवत्।

अपरं च भारते न काप्यासीत् तादृशी राज्यानां शाश्वती सीमा ध्रुवं वा क्षेत्रं यादृशी योरोपीयराज्येष्वधुना वर्त्तते। यः कश्चिदधिकतरः शक्तिशाली राजा बभूव स यथेष्टं क्षेत्रमधिकृत्य स्वराज्यसीमां निर्मितवान्। अस्यां स्थितौ बहूनां राज्यानामस्तित्वे भूतेऽपि देशस्यास्य साकल्यं न विलुप्तम्। ततो न कदाप्यस्य देशस्य छिन्नाङ्गत्वं समर्थनीयम्।

विदुषामाचरितैर्भारतस्यैक्यं भृशं प्रतिष्ठापितं दृश्यते । सकला भारतभूमिस्तेषां ज्ञानचयन-क्षेत्रमभवत् । तथा हि- कोङ्कणदेशोद्भवः प्रतिहारेन्दुराजः काश्मीरदेशेऽध्ययनार्थं समागतः । काश्मीरस्य महाकविः बिल्हणः काश्मीरं परित्यज्य कर्णाटकदेशस्य भूपतेः परमार्दीति नाम्न आश्रयं जग्राह । तत्र स विद्यापतिः नियुक्तः । राजशेखरो महाराष्ट्रे जातोऽपि कान्यकुब्जप्रदेशं स्वीचकार । काव्यमीमांसायां भारतस्य विविधभूभागानां यद्वर्णनं तेनाकारि तदखिल भारतस्यैव नागरिकतां तस्य प्रमाणयति । भारतस्य सर्वान् भागान् प्रति पूर्णा प्रतिपत्तिस्तस्य परिलक्ष्यते ।

अपरञ्च रूपकेषु भारतदेशस्य विविधभागोत्थितानां भाषाणां प्रयोगं कृत्वैव सुसंस्कृतनागरिकाणां सर्वभाषावैशारद्यमपेक्षमाणा नाट्यकारा विविधप्रान्तानां भाषात्मकमेकीकरणमुपजह्रुः । अलङ्कारा-दीनां प्रयोगार्थमखिलभारतमेव तेषां कल्पनोद्भूतानामुपमादीनामुदाहरणायोर्वरमासीत् । तथा हि— वर्णनप्रसङ्गे काश्मीरेषु मातृगुप्तस्याभिषेकः सम्पद्यते । कल्हणस्य लेखन्या रेवास्रोतः प्रवहति राजतरङ्गिण्याः श्लोकेन—

तस्य विन्ध्यतटव्यूढवक्षसः परिनिलुंठत् ।
सशब्दमभिषेकाम्बुरेवास्रोत इवाबभौ ॥

कश्मीर- विन्ध्य- रेवाणामेकस्मिन् श्लोके सन्निवेशो देशस्यैकत्वं व्यञ्जयति ।

स्वकाव्येषूदात्तभावान् व्यञ्जयद्भिः कविभिरस्य देशस्य सांस्कतिकी अखण्डता सदैव संरक्षिता । ऋग्वेदस्य कविरगायत—

सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ॥ ऋ० १-१९१-२

उपनिषत्स्वपीयमेव भावना दृढीभूता-
ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । यजु० ४०.१

वैदिकसाहित्ये कर्मयोगस्य बीजारोपणं सञ्जातं, वाल्मीकिना आदिकाव्ये तस्यांकुरः संवर्धितः । आदिकविना आदर्शनायकस्य जीवनं सम्यङ् निदर्शितम् । तदनु रामस्योदात्तसात्त्विकभावः कालि-दासेनेत्थं परिलक्षितः—

पित्रा दत्तां रुदन् रामः प्राङ् महीं प्रत्यपद्यत ।
पश्चाद् वनाय गच्छेति तदाज्ञां मुदितोऽग्रहीत् ॥ रघु० १२.७

कालिदासेन यत्किमपि वस्तु स्वकविचक्षुषा समवलोकितं, तदेव तम् उदारं सर्वस्वं समर्पयदिव प्रतीयाय । अस्माकं संस्कृतेः सर्वाण्यप्युदात्ततत्त्वानि कालिदासीयकाव्ये प्रतिबिम्बितानि । कालिदासात् प्राग्भवो भासोऽपि स्वनाटकचक्रे भारतीयसंस्कृतेरादर्शान्निरूपयामास । प्रत्येकस्मिन् रूपके भासस्य कश्चित् सन्देशविशेषो विलसति । बालचरिते पराक्रमस्य, मध्यमव्यायोगे दीनानां परित्राणस्य, दूतवाक्ये क्षुद्रतायाः परित्यागस्य, कर्णभारे यशःशरीररक्षणस्य, चादर्शस्तेन प्रतिष्ठापितः । पञ्चरात्रे भीष्मद्रोणयोरौदार्यम् उत्तरदायित्वस्य गरिमा च हृदयमावर्जयतः । ऊरुभंगदूतघटोत्कचयोर्युद्धस्य भीषणतां प्रदर्श्य कविर्मानवेभ्यः शान्तिसन्देशं प्रददाति । दरिद्रचारुदत्तो चारुदत्तस्य तत्पत्न्याश्चोदारता सर्वस्पृहणीया ।

राष्ट्रियसंस्कृतेर्निमाणे संरक्षणे च भागवतपुराणस्य योगदानं सातिशयं वर्त्तते । अस्मिन् पुराणे लोकसेवाया आदर्शः सम्यङ् निरूपितः —

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्धि पुरुषस्याखिलात्मनः ।। ८.७.४४

आदर्शोऽयं रन्तिदेवस्य चरित्रे सम्यक् चरितार्थतां गतः । तस्येयमुक्तिरत्र निदर्शनम्—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परा-
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा ।
आर्तिं प्रपद्येऽखिलदेहभाजाम्-
अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ।। ९.२१.१२

समाजस्य ह्रासोन्मुखप्रवृत्तीः पर्यालोच्य भारवि- भर्तृहरि- भवभूति-प्रभृतयः कविवराः उदात्तानादर्शान् स्वकृतिषु प्रतिष्ठाप्य भारतीयसंस्कृतेः सनातनतां समरक्षन् । भारविराह—

आपातरम्या विषयाः पर्यन्ततापिनः ।

भर्तृहरिरप्येतदेव विवृणोति—

'न हि गणयति क्षुद्रो जन्तुः परिग्रहफल्गुताम् ।'

भर्तृहरिस्तपस्तृष्णात्यागं च श्लाघयामास । तथा हि—

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः,
सम इह परिणामो निर्विशेषो विशेषः ।
स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ।।

उत्तररामचरिते भवभूतिना लोकाराधनव्रतम् प्रतिष्ठापितम् । रामस्तत्र कथयति—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि ।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ।।

इत्थं भारतीयसंस्कृतेः सनातनता अखण्डता च संस्कृतकविभिः सम्यक् संरक्षिता । ते प्रायश इतिहासपुराणादीनामुपजीव्यत्वेन काव्यानि रचयन्ति स्म । अत एव पुरातना उदात्तादर्शा न कदापि तेषां विस्मृतिपथमुपयाताः ।



संस्कृति का संस्कार

(डा० रामानन्द तिवारी, महारानी श्रीजया कालिज, भरतपुर)

संस्कृति जीवन का संस्कार है, किन्तु संस्कृति को भी निरन्तर संस्कार की आवश्यकता है। संस्कार एक सौन्दर्यवर्धक परम्परा है। प्रभाव के समन्वित क्रम से संस्कार परम्परा बनती है। आभूषणों और धातुपात्रों को चमकीला रखने के लिये उनका निरन्तर परिमार्जन अपेक्षित है। इसी प्रकार संस्कृति के द्वारा जीवन में सौन्दर्य और आनन्द की जो कान्ति निखरती है उसको बनाये रखने के लिये संस्कृति का निरन्तर संस्कार समाज का कर्तव्य है। भौतिक प्रकृति का मल जिस प्रकार आभूषणों और धातुपात्रों को मलिन करता है उसी प्रकार मानसिक प्रकृति का मल संस्कृति को मलिन करता है। दोनों को स्वच्छ और सुन्दर रखने के लिये उनका निरन्तर परिमार्जन और प्रक्षालन उनके सदुपयोग तथा उनके संरक्षण का एक आवश्यक अंग है।

जल को एक संज्ञा जीवन भी है। जल जीवन का आधार है। इसके अतिरिक्त जल के स्वरूप और स्वभाव के कुछ लक्षण जीवन के मर्म को लक्षित करते हैं। जल प्रवाह की धारा में स्वच्छ रहता है। स्थिर होने पर वह अनेक प्रकार से विकृत होने लगता है और निर्गन्ध जल में दुर्गन्ध आने लगती है। इसी प्रकार संस्कृति को गति में शिथिलता आने पर सुन्दर संस्कृति भी मलिन हो जाती है। प्रकृति के काई-सिवार उसे आच्छादित कर लेते हैं तथा उसमें विकृतियों की दुर्गन्ध आने लगती है। इसलिए संस्कृति का प्रवाहपूर्ण परिष्कार ही संस्कृति की धारा को स्वच्छ और सुन्दर बनाये रखता है। इस प्रवाहपूर्ण परिष्कार से संस्कृति की धारा सत्व को पवित्र गंगा एवं प्रेम की मधुर यमुना बनी रहती है तथा कला की सरस्वती के संगम से वह समाज का तीर्थराज बनी रहती है जिसमें कल्पवास करके श्रद्धालु जन स्वर्गिक पुण्य एवं आध्यात्मिक मोक्ष के अधिकारी बनते हैं। संस्कृति की इसी त्रिधारा के तट पर परम्परा और पर्वों के अनेक तीर्थ स्थापित हुये हैं। इन तीर्थों को सांस्कृतिक साधना के पुण्य स्थल बनाये रखने के लिये धारा, तट, पीठ आदि सभी को स्वच्छ एवं शुद्ध बनाये रखना आवश्यक है, जो संस्कृति की परम्परा के निरन्तर परिष्कार के द्वारा ही संभव है। इस परिष्करण के लिये संस्कृति के नेताओं, अधिकारियों और आराधकों को संस्कर्ता का कार्य करना होगा।

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन एवं समृद्ध है। प्राचीनता के प्रमाण मातृभाव की मान्यता एवं महिमा और होली के पर्व के वृक्ष-निपातन एवं दाहन तथा शिव के अलंकारभूत बाघम्बर, त्रिशूल, शृंगी आदि में मिलते हैं। प्राचीनता के कारण कुछ आदिम संस्कारों के प्रभाव भी होली जैसे पर्वों में मिलते हैं। होली की उच्छृंखलता, अनर्गलता, अश्लीलता आदि इन प्रभावों के उदाहरण हैं। इन आदिम प्रभावों में सभ्यता के विकास के साथ परिष्कार की अपेक्षा थी जो अध्यवसाय के अभाव के कारण संभव न हो सका। दूसरे प्राचीनता के कारण संस्कृति की परम्परा और समाज के इतिहास में अन्धकार बढ़ता है। काल का वर्तमान ही उज्ज्वल और आलोकमय है। काल का भविष्य आशा की दृष्टि से भव्य (सुन्दर) माना जाता है किन्तु अनिश्चय की दृष्टि से वह भी अन्धकारमय होता है। इसीलिए उसे 'अदृष्ट' कहते हैं। भविष्य की भांति अतीत भी अन्धकार के गर्त में छिपता जाता है।

उस पर व्यवधान को धुन्ध छाती जाती है और वह धुँधला होता जाता है। ज्यों-ज्यों भविष्य वर्तमान बनता है, वर्तमान अतीत बनता जाता है तथा अतीत का काल व्यवधान और अन्धकार बढ़ता जाता है।

बढ़ते हुये अतीत का यह अन्धकार विस्मृति के रूप में सघन होता है। संस्कृति के सूत्र विस्मृति के अन्धकार में अन्तर्हित हो जाते हैं। सांस्कृतिक अनुष्ठानों के अनेक रूप इस प्रक्रिया में लुप्त हो जाते हैं। जो रूप शेष रहते हैं उनकी विधियों को बारीकियां, उनके सन्दर्भ तथा उनके अर्थ विस्मृत हो जाते हैं। व्यक्ति की स्मृति भी आयु के साथ क्षीण होती है किन्तु समाज को स्मृति अत्यन्त दुर्बल होती है। भारतीय समाज कितने ऐतिहासिक अत्याचारों और कितने महापुरुषों के उपकारों को भूल गया। संस्कृति सामाजिक है। वह किसी की व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं है। वह सामाजिक व्यक्तित्व की विभूति है। किसी समाज का सामूहिक और सामाजिक व्यक्तित्व जितना स्वस्थ, समर्थ, सजग, सचेष्ट, प्रबुद्ध, प्रौढ़, संगठित और प्रवल होता है वह संस्कृति के रूपों, विशेषताओं, विधियों और अर्थों को उतने ही अधिक स्पष्ट रूप में स्मरण करता तथा अक्षुण्ण रूप में सुरक्षित रखता है। मुसलमानी समाज में इस सांस्कृतिक समर्थता का अच्छा उदाहरण मिलता है, यद्यपि इस्लामी संस्कृति इतनी प्राचीन एवं समृद्ध नहीं है।

भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्राचीन, सम्पन्न एवं समृद्ध है। यह भारतीय संस्कृति के विधायकों का चमत्कार है कि वे इतने प्राचीनकाल में इतनो सम्पन्न एवं समृद्ध संस्कृति की रचना कर सके। किन्तु दूसरो ओर भारतीय समाज और समाज के नेताओं की यह अद्भुत असफलता है कि वे एक समृद्ध और समर्थ सामाजिक व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सके। इसी कारण इतनी समृद्ध और सुन्दर संस्कृति विकृत एवं क्षीण होती गई। भारतीय संस्कृति जिस परिमाण और रूप में अब तक सुरक्षित है उसका सम्पूर्ण श्रेय भारतीय समाज को नहीं दिया जा सकता। समाज के नेताओं और जनता ने भी धर्म, रीति आदि के संरक्षण का प्रयास किया। विद्वानों, आचार्यों आदि ने उसके वाङ्मय एवं अर्थतत्त्व को सुरक्षित रखने का अध्यवसाय किया। किन्तु ये प्रयास बहुत सीमित और बिखरे हुये रहे। ये संगठित नहीं बन सके। संगठन ही शक्ति है। वही समाज के व्यक्तित्व का प्राण है। उसके अभाव अथवा उसकी दुर्बलता के कारण हमारी संस्कृति की अपार विभूतियाँ शत्रुओं के हाथों नष्ट हुईं। इसी कारण जो शेष हैं उसकी रक्षा में भी भीषण संकटों का सामना करना पड़ा, जो कुछ शेष है वह बड़े तप, त्याग, संघर्ष और बलिदान से सुरक्षित रह सका है। यह शोचनीय है कि जो शेष है उससे कहीं अधिक नष्ट हो चुका है, यद्यपि वह अन्य समाजों की सांस्कृतिक निधि से कहीं अधिक है। फिर भी जो शेष है वह सन्तोष के लिये पर्याप्त है।

संस्कृति की इस शेष निधि का संरक्षण एक संगठित और समर्थ सामाजिक व्यक्तित्व के अभाव में भी संस्कृति के विधाताओं की जीवन्त तत्वदृष्टि के कारण हो सका। उन्होंने संस्कृति के अनेक रूपों को साक्षात् लोक-जीवन के साथ समवेत कर दिया। अभिजात संस्कृति के साथ साथ जीवन्त लोक-संस्कृति की जैसी समृद्ध एवं सम्पन्न परम्परा भारतवर्ष में मिलती है वैसी किसी भी अन्य देश में मिलना कठिन है। कृषि, भोजन, काम, सम्बन्ध, पुत्र, जन्म, यात्रा, आतिथ्य, धन,, स्वास्थ्य आदि लोक-जीवन के मूल तत्वों में सौन्दर्य और उत्सव का समन्वय करके संस्कृति के विधायकों ने लगभग सम्पूर्ण जीवन को सांस्कृतिक बना दिया। जीवन और संस्कृति एक दूसरे के पर्याय बन गये। दूसरी ओर साहित्य, कला, धर्म, दर्शन आदि संस्कृति के अभिजात रूपों का भी पर्याप्त विकास हुआ।

अभिजात संस्कृति का संरक्षण तो प्रतिभा और साधना की दृष्टि से अभिजात साधक ही मुख्यतः करते रहे हैं। सम्पन्न वर्ग का कुछ आर्थिक तथा लोक-समाज के प्रबुद्ध वर्ग का कुछ अभिरुचि का सहयोग इसके संरक्षण में अवश्य रहा है। किन्तु साक्षात् और सम्पूर्ण जीवन में समवेत रहने के कारण लोक-संस्कृति का पालन और संरक्षण सम्पूर्ण लोक समाज के सहयोग से होता रहा। लोक-संस्कृति के रूप और भाव लोक-जीवन को पद-पद पर सौन्दर्य एवं आनन्द से अंचित करते हैं। अतः वह लोक-रुचि को अभिरंजित करती रही। उसके पालन में ही उसका संरक्षण होता रहा। पराजित भारतीय समाज की सम्पूर्ण जीवनी-शक्ति संस्कृति के दोनों रूपों के संरक्षण में ही लगी रही। पराजय और पराधीनता के बीच संस्कृति ही उनकी रक्षणीय निधि रही। कुछ जीवन की सहज शक्ति, कुछ सांस्कृतिक गर्व तथा कुछ इनसे प्रेरित उद्योग से संस्कृति के दोनों रूप बहुत कुछ सुरक्षित रहे।

फिर भी अनेक कारणों से संस्कृति के दोनों रूपों में ही कुछ विकार उत्पन्न हुये। आज इन विकारों का संस्कार अपेक्षित है। जीवन में विकारों के बीज प्रायः अन्तर्निहित रहते हैं। प्राचीनता के कारण लोक-संस्कृति में विस्मरण के विकार की संभावना सदा ही रहती है। हमारी अभिजात संस्कृति में कुछ असन्तुलन का दोष आरम्भ से ही रहा। वैदिक धर्म में सन्तुलन से अधिक आध्यात्मिक और लौकिक तत्वों का संकर था। इसी कारण आगे चलकर उपनिषदों तथा जैन एवं बौद्ध धर्मों में एक ओर एकांगी अध्यात्म का विकास हुआ जिसमें जीवन के लौकिक और भौतिक तत्वों के साथ न्याय नहीं हुआ। दूसरी ओर धार्मिक आचार में इन तत्वों का प्रभाव अधिक रहा। धर्म-कर्म में पुरोहित-वर्ग की माध्यमिकता जो मूलतः अल्प-अर्थ के सूत्र से सांस्कृतिक जीवन में अधिक आध्यात्मिक योग देने के लिए थी, उत्तरोत्तर अर्थ-मोह से आक्रान्त होती गई। इसी मोह के परिणाम-स्वरूप धर्म-पीठों और मन्दिरों में भी अर्थ के मोह ने धर्म को आक्रान्त कर दिया। काम अर्थ का बन्धु है, इस विमोह में अर्थ के सहयोग से काम ने धर्म के शील को संकुल कर दिया। धर्म संस्कृति का उदात्त एवं महत्वपूर्ण अंग है। वह अभिजात संस्कृति और जीवन्त लोक-संस्कृति का सेतु है। अतः धर्म के क्षेत्र में उत्पन्न अर्थ, काम, आचार, उपचार, अज्ञान आदि सम्बन्धी विकारों का उन्मूलन कर धर्म को परिष्कार के द्वारा मानव-जीवन का स्वर्गिक सेतु बनाये रखना मानव जाति के कल्याण के लिये आवश्यक है।

धर्म में आर्थिक और भौतिक भोग के विचार आगये तथा उन्होंने धर्म को अधर्म बना दिया। दूसरी ओर दर्शन और साधना में अर्थ, काम, परिवार आदि लौकिक एवं भौतिक मूल्यों की अत्यन्त उपेक्षा हुई। साधना में संन्यासवाद उग्र रूप में प्रतिपादित हुआ यद्यपि व्यवहार में भोग की विकृतियों में इसकी प्रतिक्रिया प्रायः प्रकट होती रही। फिर दर्शन में अध्यात्म का एकांगी अनुरोध बना रहा। दर्शन का यह संन्यासवाद लोक की जीवन्त संस्कृति के सन्तुलित एव समन्वित दृष्टिकोण के विपरीत रहा। दर्शन और लोक-जीवन दो विरुद्ध ध्रुव बने रहे। दर्शन, अध्यात्म और धर्म में आध्यात्मिक एवं लौकिक मूल्यों के समुचित समन्वय के द्वारा इन्हें अधिक सन्तुलित एवं जीवन्त बनाने की आवश्यकता है। दर्शन, अध्यात्म और साधना के क्षेत्र में यह सुधार तथा संस्कार अपेक्षित है। इसके द्वारा ही दर्शन, अध्यात्म और साधना साक्षात् जीवन के निकट आकर उसकी प्रेरणा तथा उसके परिष्कार एवं उन्नयन के सूत्र बन सकते हैं।

धर्म और दर्शन की द्विविधा, एकांगिता तथा असंगति का प्रभाव साहित्य एवं कला पर भी पड़ा। साहित्य और कला में शृंगार की प्रधानता उसी प्रतिक्रिया से आई जिस प्रतिक्रिया ने धर्म को विकृत बनाया। भक्ति के सहयोग ने शृंगारमुखी कला को अध्यात्म की दिशाओं में भी प्रेरित किया। इस प्रेरणा का प्रतिफलन देवमूर्तियों तथा आध्यात्मिक गीतों में मिलता है। साहित्य में अध्यात्म का प्रभाव सन्तपरम्परा के काव्य में मिलता है। किन्तु यह अध्यात्म दर्शन के अध्यात्म की भांति ही एकांगी संन्यासवाद से प्रेरित है तथा इसमें जीवन के लौकिक एवं भौतिक मूल्यों की भर्त्सना की गई है। एकांगिता की जिस प्रतिक्रिया ने धर्म-पीठों में भोग को उत्साहित किया तथा कला में शृंगार को संजीवित किया उसी ने साहित्य में शृंगार को प्रधानता दी। तुलसी और सूर के जैसे भक्तिकाव्य में उदात्त अध्यात्म की आभा मिलती है। किन्तु जयदेव और विद्यापति के प्रभाव से जो शृंगारकाव्य पल्लवित हुआ उसमें भक्ति पर विकृत शृंगार की छाया है। हिन्दी रीतिकाव्य में शृंगार के प्रभाव से विकृत भक्ति का अधम उदाहरण मिलता है।

साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में एकांगी एवं असन्तुलित अध्यात्म की प्रतिक्रिया ने भारतीय प्रतिभा को कितना प्रभावित किया इसका प्रमाण दर्शन-ग्रन्थों के उन शृंगारी उदाहरणों में तथा काव्य के उन सिद्धान्तों के विवेचन में मिलता है जिनमें शृंगार का प्रसंग और उदाहरण आवश्यक नहीं है। वामाचार, वैष्णव पीठों के वैभव-विलास, संस्कृत काव्य-शास्त्र, हिन्दी रीति-काव्य, खजुराहो की जैसी कला आदि में असन्तुलन की जो विकृत प्रतिक्रियायें प्रकट हुईं उनका परिशोधन कर धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि अभिजात संस्कृति के सभी रूपों को परिष्कृत बनाने की आवश्यकता है, जिससे वे एक संस्कृत जाति के अभ्युदय के साथ संगत बने रहें।

अभिजात संस्कृति के रूपों के उक्त विकारों की भांति अनेक कारणों से लोक में प्रचलित जीवन्त संस्कृति के सुन्दर रूपों में भी अनेक कुरूपतायें आ गईं। इन कुरूपताओं को मिटाकर लोक-संस्कृति को भी उन्नतिशील समाज का उज्ज्वल अलंकार बनाये रखना आवश्यक है। अभिजात संस्कृति के रूप ऐतिहासिक बनकर ऐतिहासिक परम्परा में स्थायी बन जाते हैं। उनमें कोई परिवर्त्तन या परिष्कार नहीं हो सकता। भविष्य में निर्मित होने वाले अभिजात संस्कृति के रूपों को अतीत से भिन्न बनाने के अर्थ में परिवर्तन और परिष्कार संभव है। इसी क्रम में अभिजात संस्कृति के रूपों की परम्परायें बदलती हैं। शिक्षा के पाठ्यक्रम और सामाजिक प्रचलन में नवीन समाज की मान्यताओं के अनुरूप इन्हें स्थान एवं महत्व दिया जा सकता है। अतीत में किसी रूप में रचित होने के कारण प्रत्येक रचना का समान महत्त्व मानना तथा उसे पाठ्यक्रम आदि में स्थान देना एक भ्रान्त समानतावाद है जो इतिहास की दासता पर आश्रित है। शिक्षा और समाज में यह दासता ही धर्म बन गई है। नवीन समाज के हितकारी आदर्शों के अनुरूप अभिजात संस्कृति के रूपों की हेयता-उपादेयता निश्चित कर उनका विवेकपूर्ण उपयोग ही, अभिजात संस्कृति के संस्कार का मार्ग है।

किन्तु जीवन्त संस्कृति के रूप अतीत में रचित होते हुये भी ऐतिहासिक स्थिरता में आवद्ध नहीं होते। निरन्तर आवृत्ति के क्रम में वे जीवन्त और वर्तमान बने रहते हैं। प्राचीनता के सूत्र और मान से उनमें रूढ़ता आती है तथा समाज में उनके निश्चित रूपों की आवृत्ति के क्रम में भी तथा आवृत्ति के द्वारा सुरक्षित बनाये रखने का प्रयत्न किया जाता है, फिर भी स्मृति और आवृत्ति

की सीमाओं के कारण उन रूपों में कालक्रम से कुछ परिवर्तन आजाते हैं। जीवन और समाज की बदलती हुई परिस्थितियाँ भी इन रूपों में परिवर्तन लाती हैं। ये परिवर्तन अच्छे अथवा बुरे दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। कालक्रम से आने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त कुछ मौलिक दोष भी जीवन्त संस्कृति के रूपों में समाविष्ट हो सकते हैं। इन दोनों का कारण वे परिस्थितियां और उनके प्रभाव हैं जिनकी सीमा में इन रूपों की आरम्भिक रचना होती है। होली के पर्व की उच्छृंखलता, अश्लीलता आदि इसके उदाहरण हैं। शत्रुता, अतिचार, अत्याचार आदि के कुछ अप्रिय दोष होली के पर्व में कदाचित् समय के साथ बढ़ गये हैं। विवाह के संस्कार में भी कुछ दोष आ गये हैं। कुछ प्रथायें समय के साथ दोष न होते हुये भी दोष बन गईं। क्योंकि परिवर्तित परिस्थितियों में उनकी न उतनी उपयोगिता है और न उनमें उतना आनन्द है। इन प्रथाओं में परिवर्तन की आवश्यकता है। जीवन्त संस्कृति के मौलिक रूपों में जो दोष आरम्भ से आ गये हैं उनका भी परिशोधन अपेक्षित है। धर्म के क्षेत्र में पूजा, व्रत, दान आदि में भी कुछ भ्रान्तिजन्य दोष आगये हैं, उनका भी संशोधन उचित है। जीवन्त संस्कृति में नवीन रूपों की रचना अत्यन्त कठिन है। उसकी मौलिक रचना ही कठिन है। इसी कारण किसी भी अन्य समाज में भारत के समान समृद्ध जीवन्त संस्कृति का निर्माण नहीं हो सका। जहाँ अभिजात संस्कृति एक निरन्तर विकासशील परम्परा है, वहां जीवन्त संस्कृति की गति सामान्यतः ह्रासमुखी होती है। उसकी रचना की भांति उसका निर्वाह और संरक्षण भी कठिन है। मूल्यवान रूपों का संरक्षण आवश्यक है। इसके लिये काल के विकास और विस्मरण से उत्पन्न अन्धकार का निवारण करके संस्कृति के उदात्त एवं सुन्दर को उज्ज्वल बनाये रखना एक संस्कृति-प्रेमी जाति का गौरवपूर्ण धर्म है। लोकमान्य तिलक ने जिस प्रकार महाराष्ट्र में गणेशपूजन की परम्परा का समारम्भ अथवा पुनरुद्धार किया उसी प्रकार सुन्दर नवीन रूपों का समायोजन जीवन्त संस्कृति को समृद्ध बना सकता है। देश के विभिन्न प्रान्तों में प्रचलित रूपों के व्यापक प्रचार, अल्प-प्रचलित रूपों के प्रसार, अस्तंगत रूपों के उद्धार आदि अनेक रूपों में जीवन्त संस्कृति का संस्कार अपेक्षित है। कुछ नवीन रूपों का निर्माण और प्रचलन जितना कठिन है उतना ही वह संस्कृति को समृद्ध पूर्णतः बनाने की दृष्टि से अभिनन्दनीय है।

जीवन्त संस्कृति के संस्कार की दिशायें, उसके क्षेत्र और प्रसंग अनेक हैं। उनमें से कुछ मुख्य अपेक्षाओं की ही चर्चा हो सकती है। शिक्षा, जागरण, बौद्धिकता और वैज्ञानिकता के इस युग में सबसे पहले संस्कृति के बौद्धिक संस्कार की आवश्यकता है। जीवन्त संस्कृति एक जीवन्त परम्परा है। वह जीवन की सहज गति के समान प्रवाहित होती है। वह अन्ध और अचेतन नहीं होती। फिर भी बौद्धिक और विवेचनात्मक चेतना उसका आधार नहीं होती। संस्कृति का स्वरूप संश्लेषणात्मक है। जीवन का रूप भी यही है। वृक्ष, पशु आदि जीवन के संश्लिष्ट तथ्य हैं। मानव-जीवन का आत्मिक सत्य भी संश्लिष्ट है। वह जीवन्त संस्कृति में साकार होता है। बुद्धि, विचार, विवेचन की जाग्रत चेतना इस संश्लेष को भंग कर देती है। इसी कारण संस्कृति के विधाताओं ने इस चेतना को वर्जित कर एक सहज परम्परा के रूप में जीवन्त संस्कृति की प्रतिष्ठा की। जाग्रत चेतना के अभाव के कारण यह सांस्कृतिक परम्परा एक अन्धी रूढ़ि बन जाती है। आज के बौद्धिक, वैज्ञानिक, शिक्षा-प्रधान युग में रूढ़ि के रूप में संस्कृति का पालन और प्रचलन कठिन है। बुद्धि और चेतना से संस्कृति के आन्तरिक विश्लेष की आशंका है। यह आधुनिक युग का एक सूक्ष्म सांस्कृतिक संकट है। फिर

भी युग की वढ़ती हुई बौद्धिक चेतना को उपेक्षा करना न संभव है और न उचित। इस चेतना के साथ जोवन्त संस्कृति की सहजता और संश्लिष्टता को सुरक्षित रखना युग की महान् साँस्कृतिक उपलब्धि होगी।

भारत की जीवन्त संस्कृति रूपों की वहुलता से सम्पन्न है। किन्तु यह जितनी समृद्ध है, उतनी ही अन्धकारमय है। प्रतीक, पर्व, संस्कार, देवता आदि अनेक रूपों का सांस्कृतिक अर्थ और तात्पर्य अज्ञात है। शास्त्रों अथवा लोक-परम्परा में इन रूपों के तात्पर्य की अल्प भी व्याख्या नहीं की गई है। इन रूपों के रहस्य का प्रकाशन आधुनिक भारतीय प्रज्ञा का एक महान् राष्ट्रीय कर्तव्य है, यद्यपि इस कर्तव्य के साथ संस्कृति की सहजता और संश्लिष्टता को सुरक्षित रखने का कोमल कर्तव्य भी निभाना है। यह व्याख्या इस प्रकार करनी है कि एक ओर यह जीवन्त संस्कृति की परम्परा को एक सचेतन बौद्धिक आधार का बल देसके तथा दूसरी ओर साँस्कृतिक सहजता एवं संश्लिष्टता की अखण्डता को विश्लेष के आघात से भंग न करें।

बौद्धिक आधार की स्थापना के साथ-साथ तथा इसकी सहायता से संस्कृति के रूपों और उनके पक्षों का हेयोपादेयता की दृष्टि से चयन करना है। जोवन और संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में ही मूल्यांकन के द्वारा यह चयन हो सकेगा। इस चयन के द्वारा संस्कृति के रूपों के मूल्यवान् एवं महत्त्वपूर्ण पक्षों को उजागर करके उन्हें परम्परा में सुरक्षित रखने की सामाजिक प्रेरणा को आयोजित करना है। दूसरी ओर इन रूपों में आरम्भ से ही अथवा कालक्रम में आगत दोषों का प्रक्षालन करना है। सामान्यतः हमारी जीवन्त संस्कृति के सभी रूप उत्तम, उपादेय, सुन्दर, मंगलमय एवं मूल्यवान् हैं। वर्षारम्भ के नवरात्र से लेकर रक्षाबन्धन, दीपावली, होली तक के अनेक पर्व, गर्भाधान से लेकर नामकरण, उपनयन, विवाह तक के सभी संस्कार, स्वस्तिक, श्रीयन्त्र, श्री, ॐ, तिलक, बिन्दी आदि अनेक प्रतीक; देवताओं की प्रतिमायें तथा उनको पूजा-चर्या की विधियां आदि इन सुन्दर एवं मंगलमय रूपों के उदाहरण हैं।

किन्तु इन रूपों के कुछ पक्षों में कालक्रम, मनुष्य-स्वभाव, समाज की परिस्थितियां आदि के प्रभाव से अनेक दोष आगये हैं। इन दोषों के प्रक्षालन द्वारा संस्कृति का निरन्तर संस्कार युग-युग का कर्तव्य है। इन दोषों में होली को उच्छृंखलता, अश्लीलता, शत्रुता आदि उल्लेखनीय हैं। सामाजिक चेतना, संगठन, प्रेरणा आदि के द्वारा इन दोषों को दूर करना इस प्रयोजन से आवश्यक है कि इन दोषों के कोटों के कारण जोवन्त संस्कृति का यह सुन्दर पुष्प समाज की अरुचि का पात्र बनकर नष्ट न हो जाये। दीपावली का पर्व मूलतः पारिवारिक और शान्तिमय है। अतः उसमें अधिक दोषागम की संभावना नहीं थी। किन्तु लक्ष्मीपूजन और आर्थिक दम्भ एवं प्रलोभन के प्रसंग में कुछ दोष उसमें भी आगये हैं। लक्ष्मी को केवल धन की प्रतीक समझ लेना इन दोषों का मूल है। लक्ष्मो (महालक्ष्मी) भगवान की शक्ति है जो लौकिक वैभव, ऐश्वर्य, धन आदि में साकार होती है। किन्तु शिव-शक्ति की अभिन्नता के आधार पर शिव अर्थात् लोक के आत्मिक कल्याण से संगत वैभव ही लक्ष्मी का रूप है। इसके विपरीत शोषण, अन्याय, असमानता, दम्भ आदि से युक्त धन, वैभव लक्ष्मी का रूप नहीं है। यह वैभव देवी का नहीं राक्षसी का कुत्सित रूप है। समाज में लोक-मंगल से संगत अर्थ की आराधना ही दिव्य शक्ति के रूप में लक्ष्मो की आराधना है। लक्ष्मो की यह आराधना आलोक और शान्ति में होती है। किन्तु यह आलोक अपने घर में ही सीमित रखना उचित नहीं है।

आलोक भगवान की विस्तारशील प्राकृतिक विभूति है। समाज में प्रसारित होकर ही यह आलोक लक्ष्मी की आरती बन सकता है। अतः देवमन्दिर, घूरा, दूसरों के घर आदि में दीपक रखने की प्रथा को उज्जीवित रखना है। कल्याणी लक्ष्मी की आराधना शान्ति में होती है। अमावस्या की नीरव अर्धरात्रि में लक्ष्मी स्वर्ग से भूतल पर अवतरित होती है। दीपावली के अवसर पर दिनरात पटाखों का वीभत्स निर्घोष करने की जो प्रथा प्रमाद के कारण चल पड़ी है उसे बन्द करना चाहिए।

संस्कारों के सन्दर्भ में नारी और बालक के महत्त्व की प्रतिष्ठा करनी है। सभी संस्कार मनुष्य के जन्म और जीवन नें सम्बद्ध हैं। काम को ब्रह्मचर्य और दाम्पत्य की अनन्यता के द्वारा पवित्र बनाकर ही इन संस्कारों के सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। उपनयन के आधुनिक अभिनय की व्यर्थता और विडम्बना के स्थान पर उसे एक नवीन रूप देना है जो युग के अनुरूप हो तथा जिसमें उपनयन का पुरातन सत्य भी सुरक्षित रह सके। विवाह के संस्कार में बारात की प्राचीन प्रथा तथा उसके आतिथ्य-भार को युग की सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति के साथ संगत बनाना है। विवाह के कार्य में सेवा-सद्भाव का उत्थापन करना है। दहेज का दानव तथा कन्या की परीक्षा का कीट जो इस मांगलिक सम्बन्ध के मूल को खा रहे हैं, उनका विनाश करके ही यह सम्बन्ध सुन्दर एवं श्रेयोमय बनाया जासकता है। अन्त्येष्टि के संस्कार में मृत्युभोज और सामाजिक असहयोग के दोष आ गये हैं। मृत्युभोज में भोजन करना अमानवीय है। अन्त्येष्टि संस्कार, बारह ब्राह्मण आदि से मनःशोधन होता है। उनको सुरक्षित रखना चाहिये। सभी संस्कारों में पुरोहितों को दक्षिणा के लोभ का दोष रहा है। इस दोष के परिहार के लिये ऐसे पुरोहितों का वर्ग बनाना चाहिए जो दक्षिणा-जीवी न होकर विद्या-जीवी हों तथा दक्षिणा को अल्पतम बनाकर सांस्कृतिक आचारों में अर्थ के प्रभाव को कम करने में सहयोग दे सके।

धर्म, पूजा, व्रत आदि में अर्थ, आडम्बर, अहंकार, अन्धकार, अतिचार, अनाचार आदि के दोष आगये हैं। धर्माचार मूलतः आध्यात्मिक है। वे परमात्मा की उपासना अर्चना के रूप हैं। विष्णु-सहस्रनाम का माहात्म्य यह घोषित करता है कि—'धर्मस्य प्रभुरच्युतः' परमात्मा ही धर्म के स्वामी अथवा आराध्य हैं। किन्तु धर्माचार्यों और धर्माधिकारियों के अर्थ-लोभ के कारण धर्म-मन्दिर वैभव के पीठ बन गये। वैभव के साथ विलास, व्यभिचार आदि भी अनजाने धर्मपीठों में आ गये। धर्म का बाहरी रूप बनाये रखने के लिए आडम्बर का आश्रय लिया गया। पूजा, पाठ, कथा, कीर्तन, भजन, उत्सव आदि के बाहरी रूपों में जनता धर्म का तत्त्व देखती रही। किन्तु इन रूपों में प्रायः अधर्म का कीट छिपा रहा। यही कीट हिन्दू धर्म के कल्पकुसुम का शत्रु और उसके पतन का कारण रहा है। आडम्बर के कारण धर्म में अहंकार और अतिचार भी दम्भ का अवलम्ब बना। हिन्दूधर्म की व्यक्तिमत्ता भी इन सबका कारण है। धर्म को सामाजिक बनाकर तथा उसके पालन-रक्षण के लिए विकार-रहित सामाजिक व्यवस्था बनाकर तत्वज्ञान की शिक्षा के सहयोग से सांस्कृतिक हिन्दू-धर्म को भारत के लिये ही नहीं विश्व के लिये मंगलकारी बनाया जा सकता है।

इस प्रकार अनेक प्रकार से संस्कृति का परिष्कार, परिमार्जन और संस्कार हिन्दू संस्कृति के आधुनिक उत्तराधिकारियों का कर्तव्य है। उनके इस कर्तव्यपालन में ही उनका तथा विश्व का हित निहित है। परिष्कृत भारतीय संस्कृति ही मानवता की मंगलसरणि बन सकती है।

भारतीय संस्कृति के प्रमुख मूलतत्त्व

(डा० गयाप्रसाद उपाध्याय, फीरोजाबाद)

संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय जोड़ने से बना है। 'सम्' उपसर्ग काल-व्यापृति प्रकट करता है। इसका तात्पर्य यह कि लम्बे समय तक अभ्यस्त आचार-विचार अन्तःप्रकृति पर जो छाप छोड़ता है उसे संक्षेप में संस्कृति कहते हैं। संस्कृति ऐसी वस्तु नहीं जिसकी रचना दस-बीस अथवा सौ-पचास वर्षों में की जा सकती हो। शताब्दियों तक एक विशिष्ट समाज के लोग जिस तरह खाते-पीते, रहते-सहते, पढ़ते-लिखते, सोचते-समझते और राज-काज चलाते अथवा धर्म-कर्म करते हैं, उन सभी कार्यों से उस समाज की संस्कृति उत्पन्न होती है। 'असल में संस्कृति जिन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं।"

"स्पष्ट है कि खाना-पीना, रहना-सहना, पढ़ना-लिखना, सोचना-समझना और राज-काज चलाना अथवा धर्म-कर्म करना आचार के अन्तर्गत ही आते हैं। मनुष्य का प्रत्येक कार्य आचार ही है। अतएव, अभ्यस्त आचार ही संस्कृति का जनक है और आचार ही संस्कृति का परिचायक। व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसमें उसकी संस्कृति की झलक होती है; यहाँ तक कि उसके उठने-बैठने, पहनने-ओढ़ने, घूमने-फिरने और रोते-हँसने में भी उसकी संस्कृति की पहचान होती है।"

डा० वासुदेवशरण अग्रवाल भी संस्कृति को आचारपरक ही स्वीकारते हैं। उनके अनुसार 'संस्कृति मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार है। हमारे जीवन का ढंग हमारी संस्कृति है।' वह उसका जीवन में उपयोग सिद्ध करते हुए लिखते हैं, 'मानव जीवन की प्रेरक शक्ति है वह जीवन को प्राणवायु है जो उसके चैतन्य भाव की साक्षी देती है।'

ध्यान रहे कि हमने आचार पद का प्रयोग किसी विशेषण के साथ नहीं किया है अतएव यह आचार सदाचार तथा कदाचार की समष्टि का द्योतक माना जा सकता है। यद्यपि बहुत काल तक अभ्यस्त कदाचार भी विचार और प्रकृति पर अपनी कुत्सिती अवश्य छोड़ेगा, किन्तु जीवन-यात्रा की सरलता एवं सुकरता के लिए कुत्सित प्रभाव अवाञ्छनीय है। जीवन-यापन में सदाचार से ही सुकरता रहती है। फलतः आचार सदाचार के अर्थ में ही प्रयुक्त है। 'आचाराल्लभते आयुः' में मनु ने भी आचार पद का प्रयोग सदाचार ही के अर्थ में किया है। प्राचीन वाङ्मय में विशेषतः सामाजिक सन्दर्भों में इसका प्रयोग सदाचार अर्थ में ही किया है। अतएव आचार से कदाचार का ग्रहण वाञ्छनीय नहीं है।

सदाचार का भी अविरोधी होना आवश्यक है। विश्व की एक जाति ऐसा कार्य करती है जो दूसरी जाति के विश्वास एवं आचार के विरुद्ध पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दू मन्दिरों एवं मूर्तियों के निर्माण में ही अपनी कृतार्थता समझते हैं और मुसलमान उनको तोड़ डालने तथा ध्वस्त करने में ही अपनी चरम सार्थकता समझते हैं। ये दोनों आचरण एक दूसरे के विरोधी हैं। परन्तु सत्य अविरोधी होता है। महाभारतकार का यह कथन 'धर्मो यो बाधते धर्मं न स धर्मः कुधर्मतत्'

पूर्ण समीचीन है। अतएव आचार को सदाचार एवं कदाचार के पचड़े से निकालकर अविरोधी आचार माननाही उचित है। यह अविरोधी आचार ही मानव-संस्कृति का जनक है। वस्तुतः मनुष्य की श्रेष्ठ साधनायें ही संस्कृति हैं।

यह सत्य है कि मनुष्य को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जिन आवश्यकताओं की अनुभूति होती है उनमें से अधिकांश का संस्कृति के साथ अधिक गहरा सम्बन्ध नहीं है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति तो पशुओं को भी हो ही जाती हैं। यह एक अत्यन्त प्रचलित कथन है कि 'मनुष्य केवल एक रोटी से ही नहीं जीता'। जब तक उसकी भौतिक आवश्यकतायें पूर्ण नहीं हो जाती हैं वह उनकी पूर्ति का सोद्वेग प्रयास करता है और तब तक इस अभाव की पूर्ति के अतिरिक्त उसका मन और उसकी बुद्धि अन्यत्र संलग्न नहीं हो पाते। परन्तु विवेकशील मनुष्य का इतने पर भी असन्तोष बना रहता है। तब वह अपने जीवन को अधिक सरल और सौन्दर्यमय बनाने का यत्न करता है। इसके लिए वह संगीत, साहित्य और कला का अनुसरण करता है।' साहित्य-सङ्गीत-कला के इस अनुसरण में ही संस्कृति अवतरित होती है। सत्यकेतु विद्यालंकार के अनुसार "मनुष्य अपनी बुद्धि का प्रयोग कर विचार और कर्म के क्षेत्र में जो सृजन करता हैं, उसी को संस्कृति कहते हैं। अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य प्रकृति के साधनों का जिस ढंग से प्रयोग करता है, उससे उसकी सभ्यता का निर्माण होता है। पर चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरल, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में होता है। मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शन-शास्त्र के रूप में जो चिन्तन किया; साहित्य-सङ्गीत कला के क्षेत्र में जो सृजन किया; सामूहिक जीवन को हितकर और सुखी बनाने के लिए जिन प्रथाओं एवं संस्थाओं को विकसित किया—उन सबका समावेश हम संस्कृति में करते हैं।"

यहाँ तक 'संस्कृति' शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर उसका स्वरूप निश्चित करने की हमने चेष्टा की। परन्तु इतने से ही उसका पूर्ण स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है, क्योंकि संस्कृति ऐसी चीज है जिसे लक्षणों से तो हम जान सकते हैं, किन्तु उसकी परिभाषा नहीं दे सकते। यद्यपि संस्कृति शब्द बहुत अधिक प्रचलित है, तथापि अस्पष्ट रूप में ही समझा जाता है। इसकी सर्व-सम्पन्न कोई परिभाषा नहीं बन सकती। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संस्कृति सर्वथा अज्ञात है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि एवं संस्कारों के अनुसार इसका अर्थ समझ लेता है, तब भला इसको अज्ञात किस प्रकार माना जा सकता है। वास्तव में यह कायदा है कि चीज जितनी सरल होती है, उसकी परिभाषा उतनी ही मुश्किल होती है। कुछ अंशों में यह कठिनाई संस्कृति के साथ 'सभ्यता' शब्द के अभिन्न प्रयोग से भी उत्पन्न हुई है।

संस्कृति और सभ्यता दोनों एक दूसरों के पर्याय नहीं है। परन्तु आजकल सभ्यता शब्द का प्रयोग अधिक चल पड़ा है; अत एव संस्कृति के स्थान पर भी प्रायः सभ्यता शब्द का ही प्रयोग कर दिया जाता है। फल स्वरूप 'संस्कृति' के लक्षण में अस्पष्टता आ गई है। इसलिए दोनों शब्दों की अभिधेय तथा स्वरूप भिन्नता भी स्पष्ट करना आवश्यक है।

"मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, वह ज्यों-ज्यों सङ्घबद्ध होकर रहने का अभ्यस्त होता गया त्यों-त्यों उसे सामाजिक संगठन के लिए नाना प्रकार के नियम कानून बनाने पड़े। इस संगठन को

दोषहीन और गतिशील वनाने के लिए उसने दण्ड-पुरस्कार की व्यवस्था भी की, इन बातों को एक शब्द में सभ्यता कहते हैं। आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक संगठन, नैतिक परम्परा और सौन्दर्यबोध को तीव्रतर करने की योजना, ये सभ्यता के चार स्तम्भ हैं। इन सबके सम्मिलित प्रभाव से संस्कृति बनती है। सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहज लभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत आन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति।" डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन शब्दों में संस्कृति को आन्तर एवं सभ्यता को बाह्य स्वीकारा है। सत्यकेतु विद्यालंकार की स्वीकृति भी कुछ इसी प्रकार की है। उन्होंने प्राकृतिक पदार्थों से भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के सुन्दर तथा कलापूर्ण ढंग को सभ्यता एवं साहित्य-कला-सङ्गीत आदि के विकास को संस्कृति माना है। संस्कृति और सभ्यता में यह महत्वपूर्ण भेद है।

दिनकरजी ने इसी बात को इन शब्दों में प्रकट किया है, "सभ्यता की पहचान सुख-सुविधा और ठाठ-बाट से होती है, मोटर, महल, सड़क, हवाई-जहाज, सिनेमा, पोशाक और अच्छा भोजन ये तथा इनके समान सारी अन्य स्थूल वस्तुएँ सभ्यता के सामान हैं। अर्थात् सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है और संस्कृति वह गुण है जो हममें व्याप्त है।" इस दृष्टि से सभ्यता स्थूल और संस्कृति सूक्ष्म है।

यद्यपि सभ्यता और संस्कृति का सहज सम्वन्ध है। दोनों की प्रगति भी प्रायः एक होती है। फिर भी दोनों में अविच्छेद्य सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। एक सभ्यताभिमानी संस्कृति से कभी-कभी अछूता भी रह सकता है। आज का नवयुवक पाश्चात्य सभ्यता की वढ़ती चका-चौंध में इतना प्रकाशान्ध हो रहा है कि मशीन का रूप धारण करता जा रहा है, और करुणा, प्रेम, संवेदना आदि हृदय की उदात्त वृत्तियों से वह नितान्त अपरिचित प्रतीत होता है। साथ ही पर्णपुटों में कन्द-मूल का भोजन करने वाला, वृक्षों की छाल और भोजपत्र के वस्त्र पहनने वाला तथा वृक्षों के नीचे अथवा पर्वतों की कन्दराओं में पशुवत् निवास करने वाला, सभ्यता को आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से पूर्ण असभ्य, ठाठ-बाट, और सुख-सुविधा की दुनियाँ से पूर्ण अपरिचित भारत का मनीषी संस्कृति का निर्माण करता रहा है। संस्कृति और सभ्यता का यह दूसरा मौलिक भेद है। इस भेद को हृदयङ्गम किये बिना हमें कहीं-कहीं और कभी-कभी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है।

सभ्यता के उपकरण-सामग्री—जल्दी एकत्र किये जा सकते हैं; परन्तु उनके उपयोग के लिए संस्कृत-रुचि सहसा उत्पन्न नहीं की जा सकती हैं। संस्कृत-रुचि का अवतरण समय-साध्य है। मनुष्य अचानक धनी हो सकता है और उच्चपद भी सहसा प्राप्त कर सकता है, परन्तु धनी एवं उच्च पदस्थों की जैसी संस्कृति सहसा कहीं से बटोरी नहीं जा सकती है। निष्कर्ष यह कि संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा सूक्ष्म एवं समय सापेक्ष्य होती है। यह सभ्यता के उपकरणों के भीतर उसी तरह व्याप्त रहती है जिस तरह दूध में मक्खन अथवा पुष्पों में गन्ध।

संस्कृति सभ्यता की अपेक्षा सूक्ष्म होने के कारण टिकाऊ भी अधिक होती है। सभ्यता के उपकरण बाह्य एवं स्थूल होने के कारण टूट-फूट कर विनष्ट हो सकते हैं। लेकिन मानव के मन-बुद्धि के संस्कारों में विद्यमान संस्कृति अपर जन्म में भी जाती है। स्वच्छ निर्मल लोटे में भरा पवित्र दुग्ध फैल सकता है, किन्तु दुग्धपान से प्राप्त शक्ति मानव का अभिन्न अंग बन जाने के कारण अपेक्षाकृत स्थायी रहती है। यह संस्कृति और सभ्यता का अन्य महत्वपूर्ण भेद है।

सभ्यता का उदय समाज में प्रतिष्ठा-लाभ की वाञ्छा से होता है और संस्कृति का समाज-रक्षा की भावना से। सभ्यता में उपभोग के ऊपर दृष्टि अधिक रहती है परन्तु संस्कृति में मन-बुद्धि के संस्कार द्वारा उपयोग पर। फलतः संस्कृति का मानव-मन से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। मानव और समाज की रक्षा एवं समाज में शान्ति की स्थापना मात्र संस्कृति से ही सम्भव है। भारतीय विश्वास के अनुसार संस्कृति–संस्कार–जन्म-जन्मान्तर तक एक साथ जाती है। वस्तुतः संस्कार वासना रूप से अन्तःकरण में स्थिर रहते हैं और पुनर्जन्म में अन्तःकरण सूक्ष्म-शरीर के साथ जाता है। सूक्ष्म शरीर पर पड़ी संस्कार-वासना आमुक्ति पीछा नहीं छोड़ती। इसीलिए तो हम किसी को अप्रतिम प्रतिभा-सम्पन्न अथवा उद्भूत सत्व पाते हैं तो झट कह उठते हैं, 'यह पूर्व जन्म का संस्कार है।' ऐसे उदाहरण हमें जीवन में पद-पद पर उपलव्ध होते रहते हैं। अतएव सभ्यता की अपेक्षा मानव का संस्कृति से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

सभ्यता का सम्बन्ध समाज से अधिक है और संस्कृति का व्यक्ति से। समाज सभ्यता की उच्च से उच्च कोटि तक पहुँच सकता है; किन्तु संस्कृति की अतिशयिता कुछ व्यक्तियों में प्रतिफलित हो सकती है समाज में नहीं। परिणामतः संस्कृति में वैयक्तिकता अधिक रहती है। हमने यह समाज शब्द का प्रयोग मानव-समाज के अर्थ में किया है, न कि किसी समूह अथवा जाति के अर्थ में। उच्च संस्कृति के गुण न्यूनाधिक मात्रा में किसी समूह अथवा जाति तक में तो पहुँच सकते हैं, इस बात की ओर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इन शब्दों में संकेत किया है—'जिस प्रकार विश्व की सभी स्त्रियों एवं पुरुषों के गुणों का समावेश हममें नहीं होता है, किन्तु केवल माता-पिता के गुण ही हममें आते हैं और उन्हीं को हम अपनाते भी हैं, उसी प्रकार विभिन्न जातियों एवं जन समुदायों की संस्कृति हमारी अपनी नहीं हो सकती और न उसके अस्तित्व से हमारा कल्याण ही सम्भव है। देश और काल की सीमा से बँधे हुए हमारा घनिष्ठ परिचय अथवा सम्बन्ध किसी एक संस्कृति से ही सम्भव है। वही हमारी आत्मा और मन में रमी हुई होती है और उनका संस्कार करती है। भारत-वर्ष में ही ब्राह्मण-संस्कृति चातुर्वर्ण्य की सम्पत्ति न बन सकी। अतएव उसको चार स्तरों में बांटना पड़ा।'

प्रेम, करुणा, उत्साह, सहानुभूति, कृपा आदि हृदय की उदात्तवृत्तियों के साथ-साथ मानव-प्रकृति में काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनुदार वृत्तियों का भी संव्यूहन है। उदात्त वृत्तियों से प्रेरित कर्म में आश्रय कभी भी आलम्बन का अप्रिय अथवा द्वेष्य नहीं बन सकता है; इसके विपरीत अनुदार के अनुरूप कार्य करने में वह प्रीतिपात्र भी नहीं बन सकता है। समाज के रथ में प्रीति के ही पहिये लगे हैं। वह प्रीति के सहारे ही चलता है। जिस समाज में प्रीति का व्यवहार जितना ही अधिक होगा वह समाज उतना ही सुदृढ़, शान्त एवं समृद्ध होगा। ईर्ष्या, द्वेष के अनुसारी व्यवहारों से समाज शीघ्र छिन्न-भिन्न हो जाता है। मनुष्य के इन्हीं अनुदार वृत्तियों के परिमार्जन एवं परिस्कार का कार्य संस्कृति ही करती आई है, अथवा यों कहें कि मानव को अनुदार प्रकृति का उदात्तीकरण ही तो संस्कृति है। संस्कृत मनुष्य अपने इन आवेगों पर विजय प्राप्ति की सतत् चेष्टा करता है।

"गुस्सा करना मनुष्य की प्रकृति है, लोभ में पड़ना उसका स्वभाव है। ईर्ष्या, मोह, राग, द्वेष और काम-वासना, ये सबके सब प्रकृति प्रदत्त गुण हैं। मगर प्रकृति के ये गुण अगर बेरोक-टोक छोड़ दिये जायें तो आदमी और जानवर–पशु–में कोई भेद नहीं रह जाय। पशु का व्युत्पत्तिपरक

अर्थ है, 'निर्विशेषेण पश्यतीति पशुः' अर्थात् जो सबको समान रूप से देखता है, वह पशु है। इसीलिए, मनुष्य प्रकृति के इन आवेगों पर रोक लगाता है और कोशिश करता है कि गुस्से के बस में नहीं, बल्कि, गुस्सा ही उसके वश में रहे; वह लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष और काम-वासना का गुलाम नहीं, बल्कि, ये दुर्गुण ही उसके गुलाम रहें। इन दुर्गुणों पर आदमी जितना विजयी होता है, उसकी संस्कृति भी उतनी ही ऊँची समझी जाती है।" इसीलिए भर्तृहरि ने लिखा था :—

साहित्यसंगीतकलाविहीनः

साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

साहित्य, संगीत और कलाओं से अनभिज्ञ पुरुष पुच्छ एवं शृंगहीन पशु है। संस्कृति ही पुरुष को पशु दृष्टि से भिन्न दृष्टि प्रदान करती है। भर्तृहरि के विचार को गणित की भाषा में इस प्रकार रखा जा सकता है— पुरुष–संस्कृति = पशु। मनुष्य का संस्कृत मन ही उसको पशु से भिन्न तथा उच्च सिद्ध करता है।

वस्तुतः संस्कृति ही मनुष्यता अथवा मानवता है। संस्कृति ही पशुत्व को ऊँचा उठाकर मनुष्यत्व में परिणत करती है।

संस्कृत जीवन शान्त एवं दान्त होने के कारण चमक उठता है। जीवन के प्रत्येक कर्म में संस्कृति फूटने लगती है। यद्यपि जीवन का कोई भी अंग संस्कृति से अछूता नहीं रह पाता फिर भी संस्कृति कलाओं में विशेषतया अभिव्यक्ति पाती है। अपनी प्रातिभिक कुशलता द्वारा मानव अपनी वृत्ति में जब सौन्दर्य का सन्निधान करता है तब कला जन्म लेती है। अतएव कला का सम्बन्ध मानव-कृति में सन्निहित सौन्दर्य से है। मानव हृदय का प्रसादन और संस्कार कला का उपयोग है। कला कदापि स्वार्थिनी नहीं होती। मानव कल्याण ही कला का परमस्वार्थ है।

आदिमकाल से ही भारतीय मनीषी संस्कृति के श्रेष्ठ तत्वों के साक्षात्कार का प्रयत्न करते रहे हैं। फलतः भारतीय संस्कृति में अनेक ऐसे मूल्यवान् तत्व हैं जो अखण्ड मानव-संस्कृति के भी शिरोमणि तत्व सिद्ध होंगे। ऐसे ही कतिपय तत्वों का उल्लेख आगे किया जायगा।

भारतीय संस्कृति की सर्वप्रथम विशेषता यह कि वह धर्म प्रधान है। धर्म की इस प्रधानता के कारण धर्म के अर्थ में भी विस्तार हुआ और धर्म के अतिबाह्य अर्थ को लेकर उसके सम्बन्ध में विचित्र धारणाओं का जन्म भी। वस्तुतः धर्म अपने मूल अर्थ में व्यक्ति अथवा समाज का उपकारक ही है।

महाभारत में श्रीभगवान् ने अपने श्रीमुख से धर्म के सम्बन्ध में कहा है :—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः।

यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।

धारण करने के कारण धर्म नाम दिया गया है। धर्म ही प्रजाओं को धारण करता है। जिस तत्व में भी यह धारणशक्ति निहित है वह निश्चित धर्म ही है। धर्म के तत्वों का भी मनुष्य के अभ्यन्तर से अधिक सम्बन्ध है, बाह्य जीवन में उन्हीं सूक्ष्म तत्वों की स्थूल अभिव्यक्ति होती है। धर्म मानव को लौकिक अभ्युदय एवं पारलौकिक निःश्रेयस प्रदान करता है। भारतीय संस्कृति का

द्वितीय प्रमुख तत्व आस्तिकता है। आस्तिकता के सम्बन्ध में कई मत हैं। कुछ विद्वान् ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने को ही आस्तिकता मानते हैं, कुछ स्वर्ग-नरक की सत्ता में विश्वास को आस्तिकता समझते हैं, कुछ पुनर्जन्म के विश्वास को यह नाम देते हैं। वस्तुतः आस्तिकता का शाब्दिक अर्थ तो सत्ता-विश्वास से ही सम्बद्ध है। यह सत्ता अथवा अस्तित्व ईश्वर का भी हो सकता है और स्वर्ग-नरक का भी।

मानव परमितदिक्कालावच्छिन्न है, वह सीमित काल एवं देश में रह सकता है। दिक्काल मनुष्य की सत्ता की दृष्टि से अपरिमित एवं निरवधि है। साथ ही सब कुछ दिक्कालावच्छिन्न भी तो नहीं है। दिक्काल की सीमाओं से परे भी बहुत कुछ है। भारतीय दृष्टि से वास्तविकता तो देश-काल की सीमाओं से परे ही है। 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेउ भाई।' फलतः सच्चाई अपनी पूर्णता में न तो चर्मचक्षुओं से देखी जा सकती है और न तर्क के उत्प्लवन से। उस 'मम्बये नूर' (प्रकाश स्तम्भ) तक पहुँचने की हिम्मत तो 'जिब्रईल' (बुद्धि) में भी नहीं है। वह तो अनुभूति का ही विषय है। यह अनुभूति भी सर्वसाधारण की पहुँच में नहीं है। यहाँ तो विरले ही पहुँच पाते हैं। इन विरलों के सम्बन्ध में गीता में कहा है —

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।

'सहस्रों मनुष्यों में कोई एक मेरी प्राप्ति के लिए यत्न करता है और यत्न करने वालों में भी कोई-कोई मुझे जानता है।'

जब वास्तविकता का पारमार्थिक ज्ञान इने-गिने व्यक्तियों को ही होगा तो शेष को इन आप्तों के शब्द का विश्वास ही करना पड़ेगा और मनोविज्ञान की दृष्टि से विश्वास ही फलदायक रहता है, तर्क नहीं। कारण, विश्वास प्रेरक मन को शक्तिशाली बनाता है और तर्क चंचल मन को अधिक चंचल बनाकर क्षीणशक्ति कर देता है और कर्म के अयोग्य कर देता है।

अतः आस्तिकता व्यापार काल में प्रेरणादायिका, असफलता में सन्तोषप्रदायिका एवं स्वभाव में धैर्य तथा निरपेक्षता की संस्थापिका है। यदि यह कहा जाय कि भारतीय संस्कृति को अमर एवं चिरस्थायिनी बनाने वाली यही आस्तिकता है तो अत्युक्ति न होगी।

भारतीय संस्कृति का तृतीय प्रमुख तत्त्व पुनर्जन्म विषयक विश्वास है। आत्मा अजर-अमर है। स्थूल शरीर का नाश होता रहता है, देही (आत्मा) विभिन्न शरीरों को पुराने जीर्णशीर्ण वस्त्रों की भाँति बदलता रहता है। सांख्य के अनुसार तो लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर भी स्थूल शरीर की अपेक्षा अधिक चिरस्थायी है। यह लिङ्ग शरीर जब तक वासनायुक्त रहता है तब तक आता-जाता रहता है। वासनाओं से मुक्ति पाने पर ही उसको मुक्ति होती है।

पुनर्जन्म विषयक उदाहरण आज भी यदा-कदा मिल जाते हैं। जिस प्रकार आस्तिकता की धारणा जीवन में जब प्रतिफलित होती है तो जीवन-गति ही बदल जाती है उसी प्रकार पुनर्जन्म-मान्यता भी मानव-जीवन में अनेक संतापकारी असन्तोषों का उन्मूलन करती है। मनुष्य में उत्तेजना एवं क्षिप्रकारिता को समाप्त करती है, सन्तोष का समावेश करती है, वैरकारक क्रोध का शमन करती है, ईर्ष्यादिक अस्वास्थ्यकर भावों को निरवकाश करती है आदि-आदि।

किन्तु क्या पुनर्जन्म विषयक विश्वास सत्य पर अवलम्बित है अथवा केवल कल्पना पर ? जैसा पीछे स्वीकारा गया है कि साधना-पारंगत सिद्ध महात्माओं ने जिन-जिन दर्शनों का उपस्थापन किया है उन सभी में प्रायः पुनर्जन्म सिद्ध है। यदि आत्मा अजर-अमर, नित्य आदि विशेषताविशिष्ट है तो पुनर्जन्म स्वतः सिद्ध है। मृत्यु अन्तिम स्थिति न होकर मात्र विश्राम स्थल है। मृत्यु के सम्बन्ध में श्री रामनरेश त्रिपाठी की ये पंक्तियाँ सुन्दर प्रतीत होती हैं :—

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का मृत्यु एक है विश्रामस्थल।
जीव जहां से फिर चलता है धारण कर नवजीवन संवल ॥
मृत्यु एक सरिता है जिसमें श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर नूतन धारण करता है कायारूपी वस्त्र बहाकर ॥

सूक्ष्म शरीर में अंकित वासनाओं—सांख्यशास्त्र के भाव की तृप्ति स्थूल शरीर से ही सम्भव है अतः जन्म की आवश्यकता है।

भारतीय संस्कृति साधनात्मक जीवन पर विशेष बल प्रदान करती है। मानव जीवन कर्मयोनि है शेष मानवेतर योनियाँ भोग-योनियां हैं। भोगयोनियों में स्वभाव अथवा प्रकृति की निश्चल स्थिति है। वहाँ प्रकृति ही मात्र नियंत्रिका है। किन्तु मानव जीवन के सम्बन्ध में ऐसी स्थिति नहीं है। मानवजन्म मोक्ष का द्वार है अन्य योनिजन्म नहीं। अतः उन्हें कुछ सिद्धियाँ प्रकृतिप्रदत्त हैं जब कि मानव को छोटी सी अपने पैरों के बल खड़े होने की सिद्धि भी साधना एवं समय से प्राप्त होती है। मानव विवेक का केन्द्र अवश्य है किन्तु उसे सभी उपलब्धियाँ साधना अथवा श्रम से मिलती हैं। यह साधना मानव को बन्धनमुक्त तक कर देती है। साधनाहीन मानवजीवन पतनोन्मुख माना जाना चाहिए।

श्रद्धा एवं विश्वास का भी इस संस्कृति में उच्च स्थान है। इन गुणों के साधना का मार्ग सरल होता है, सफलता के द्वार का उद्घाटन होता है और मनोवाञ्छित फल की प्राप्ति होती है।

भारतीय संस्कृति में और भी अनेक तत्व हैं, किन्तु सभी का उल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। फिर भी ऊपर जिन प्रमुख तत्वों का उल्लेख हुआ है वे ऐसे आवश्यक तत्व हैं जो पूर्णमानव संस्कृति अथवा अखण्ड विश्व-संस्कृति के अविरोधी तत्व सिद्ध होंगे। जब इन तत्वों को जीवन में उतारने का प्रयास सर्वत्र होगा तभी शाश्वत शान्ति का अवतार सम्भव होगा।

भारतीय संस्कृति और गांधीजी

(प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, सागर विश्वविद्यालय, सागर)

संस्कृति के दो पक्ष होते हैं—बाह्य या भौतिक और आंतरिक या वैचारिक। पहले के अंतर्गत रहन-सहन, आवास, परिधान, खान-पान, आमोद-प्रमोद आदि आते हैं। दूसरा विचार-पक्ष है, जो किसी जन या राष्ट्र के जीवन-दर्शन का निर्माण करता है। प्राचीन भारतीय संस्कृति के मूल में चार सिद्धांत थे—सत्य, अहिंसा, परोपकार और त्याग। इन शाश्वत सिद्धांतों की नींव पर हमारी संस्कृति का निर्माण हुआ, जिसके आधार-स्तंभ चार थे—वर्ण, आश्रम, संस्कार तथा मानवत्त्व। हमारे जीवन के लक्ष्य भी चार थे, जो 'पुरुषार्थ चतुष्टय' कहे जाते हैं। ये थे—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के चार 'लक्षण' कहे गए हैं—श्रुति, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि।

भारतीय संस्कृति में क्रमशः चार गुणों का विकास हुआ, जिनके कारण यह देश विश्व-सभ्यता का केन्द्र बन गया। ये गुण थे—साहिष्णुता, समन्वय, विश्वबंधुत्व तथा स्वतंत्र चिंतन। दूसरों के आचार-विचार के प्रति सहिष्णु होना पहला गुण था। अन्य विचार-धाराओं के अच्छे तत्त्वों को ग्रहण कर उन्हें अपने विचारों के साथ समन्वित करना दूसरा गुण था। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना द्वारा सम्पूर्ण संसार को एक कुटुम्ब-जैसा समझना हमारी सँस्कृति का तीसरा गुण था। धर्म, दर्शन और लोकजीवन के सम्बन्ध में अत्यंत उदार दृष्टिकोण रखकर स्वतंत्र चिंतन को प्रोत्साहित करना भारतीय संस्कृति का चौथा गुण था।

भारतीय संस्कृति के शाश्वत सिद्धांतों पर हमारा जीवन-दर्शन आधारित होना चाहिए, जिनके कारण हम प्राचीनकाल में ऊँचे उठ सके। यही वह उदार संस्कृति थी जिसने ईरानी, यूनानी, शक, पल्हव, कुषाण, हूण आदि आक्रांताओं को भी प्रभावित किया था। ये तथा अन्य कितने ही विदेशी भारतीय धर्म, दर्शन भाषा, साहित्य एवं ललितकलाओं के सामने नतमस्तक हुए। वे अपना पृथकत्व भूल कर भारतीयता का अंग बन गये। जो यूनानी लोग सभ्यता की दृष्टि से बहुत ऊँचे थे उन्होंने भी भारतीय संस्कृति के वैशिष्ट्य को स्वीकार किया। ईसा-पूर्व की दो शताब्दियों में यूनानियों का राजनीतिक आधिपत्य उत्तर-पश्चिम भारत के कुछ भाग पर स्थापित हो गया था, पर वे इस देश पर अपना सांस्कृतिक अधिकार स्थापित न कर सके। यह वह युग था जबकि उत्तरी अफ्रीका से लेकर अफगानिस्तान तक के विस्तृत क्षेत्र पर यूनानियों का राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रभुत्व कायम हो चुका था। मुसलमानों तथा अंग्रेजों के शासनकाल में हमारी स्थिति दयनीय हो गई, तो भी हम अपनी परंपरागत संस्कृति को नष्ट होने से बचा सके।

यह इसी कारण सम्भव हो सका कि हमारी आस्था भारतीय संस्कृति के उक्त सिद्धांतों में दृढ़ बनी रही। इन सिद्धांतों की रक्षा भारतीयता की रक्षा के लिए आवश्यक थी। हमारे सम्भ्रांत विचार-शील वर्ग ने ही नहीं, जन-साधारण ने भी विदेशी जीवन प्रणाली की उस मृगतृष्णा से हमारी रक्षा की जो इस देश की आत्मा के लिए घातक थी।

बीसवीं शती में भारतीय संस्कृति के प्रवल पोषकों में महात्मा गांधी अग्रगण्य हैं। वे एक युग-पुरुष के रूप में मान्य हैं। जोवन के प्रति गांधीजी का व्यापक दृष्टिकोण था। लगभग १५० वर्षों तक अंग्रेजों के भारत पर आधिपत्य के कारण यहाँ के राजनोतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में विछृङ्खलन हो चुका था। देश पर विदेशी शासन का पंजा जम गया था, जिसके कारण देश आर्थिक दृष्टि से भी पराधीन हो गया। भारतीय संस्कृति के विनाश की भी चेष्टायें विदेशियों द्वारा अनेक रूपों में आती रहीं। राममोहनराय, दयानन्द, तिलक, टैगौर, अरविन्द, महात्मा गांधी, मदनमोहन मालवीय आदि मनीषियों एवं जननेताओं द्वारा प्रतिरोध किये गए। उनके प्रतिरोध के कारण विदेशी सत्ता की नींव हिल-डुल गई।

गाँधीजी भारतीय संस्कृति के प्राचीन उदात्त रूप से प्रभावित थे। उनका स्पष्ट कथन था कि भारतीय संस्कृति की तुलना विश्व की कोई सभ्यता नहीं कर सकतो। वे चाहते थे कि हमारा देश राजनीतिक तथा आ।थक दृष्ट्यों से सुदृढ़ बनने के साथ अपनो सांस्कृतिक परम्परा से संवलित हो। राष्ट्रीयता के बारे में गांधोजी के ये विचार मननीय हैं कि "हम सब भारतोय हैं और भारतीय ही रहेंगे, चाहे हम किसी भी सम्प्रदाय के अनुयायी क्यों न हों।" उन्होंने लिखा है कि "यदि मैं भारतीयों की सेवा करना नहीं जानता तो मैं विश्व के मानवों की सेवा कभी नहीं कर सकूंगा।" हिन्दुत्त्व के वारे में गांधीजी ने अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये—

"मैं अपने आपको हिन्दू कहने में इसलिए गर्व का अनुभव करता हूं क्योंकि हिन्दू शब्द इतना व्यापक है कि वह न केवल दूसरों के प्रति साहिष्णुता का द्योतक है बल्कि संसार के सभी देवताओं के उपदेशों को आत्मसात् करने की भी हिन्दू धर्म में क्षमता है।"

गांधीजी राजनीतिक तथा आर्थिक स्वातंत्र्य तो चाहते हो थे, वे सांस्कृतिक स्वतंत्रता के भी हामी थे। भारतीय परम्परा के अनुसार वे यह चाहते थे कि धर्म तथा विचार के क्षेत्रों में मानव को पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए।

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गांधोजी ने सत्याग्रह का अवलंबन लिया। उनका सत्याग्रह परिस्थितियों के अनुकूल तथा शुद्ध साधनों पर आधारित होता था। गांधीजी का निश्चित मत था कि भारतीय समस्याओं का निदान यहां की सांस्कृतिक परम्परा तथा देश की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए।

हिन्दू होते हुए भी गांधीजी संसार के सभी धर्मों का सम्मान करते थे। विश्व के महान् धर्मों के मुख्य ग्रन्थों का उन्हें ज्ञान था। उपनिषद्, गीता तथा रामायण का प्रभाव गांधीजी पर विशेष पड़ा था। धर्म को वे सत्य तथा अहिंसा पर आधारित मानते थे, और ईश्वर को सत्य का ही रूप समझते थे। आलसी जनों में उन्होंने निष्काम कर्म का मन्त्र फूंका। रचनात्मक कार्यों के द्वारा वे भारतीयों में कर्म के प्रति निष्ठा जागृत करने में सफल हुए।

हिन्दू समाज की कमजोरियों तथा निम्न वर्ग की कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास गांधीजी ने जीवन भर किया। अस्पृश्यता को वे बहुत गर्हित समझते थे। हरिजनों के उद्धार हेतु गांधीजी द्वारा महान् कार्य निष्पन्न हुआ वह कभी भुलाया नहीं जा सकता।

भाषा के प्रति भी गांधीजी का मत स्पष्ट था। वे भारत की अपनी भाषाओं के महत्त्व का

प्रतिपादन बराबर करते रहे। भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने एक स्थान पर लिखा है "भारतीय लोग यदि यह मानते हैं कि हमारी भाषायें अच्छे विचारों की अभिव्यक्ति में असमर्थ हैं तो मैं यह कहूँगा कि हमारे लिए इस संसार से नष्ट हो जाना ही अच्छा होगा।" हिन्दी को उन्होंने भारत की राष्ट्र-भाषा माना। दक्षिण के लोगों के लिए उन्होंने कहा कि यदि दक्षिण के हमारे भाइयों ने हिन्दी न अपनाई तो यह देश का दुर्भाग्य होगा और उनका भी।

महिलाओं के प्रति गांधी जी का दृष्टिकोण उदार था। भारतीय महिलाओं के लिए शिक्षा तथा स्वातंत्र्य पर वे वराबर जोर देते रहे।

छात्रों के अध्ययन तथा चरित्र-निर्माण की ओर गांधीजी वहुत जागरूक थे। उनका कहना था कि शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र–निर्माण है।

महात्मा गांधी पुराने सिद्धान्तों के परिष्कर्त्ता तथा समयानुकूल नए सिद्धान्तों के निर्माता थे। इतना ही नहीं, वे व्यावहारिक पक्ष को सुदृढ़ बनाना भी आवश्यक मानते थे। प्रगतिशीलता और व्यावहारिकता में समन्वय स्थापित करना वे सच्ची उन्नति के लिए अनिवार्य समझते थे।

युग के महान् विचारक और आदर्श कार्यकर्त्ता होते हुए भी गांधीजी कितने विनम्र थे, यह उनके निम्नलिखित कथन से प्रकट है--

"मावन संस्कृति के सम्बन्ध में मैंने कोई नई खोज नहीं की, कोई नया विचार नहीं दिया। मानव संस्कृति की विरासत में जो कुछ अच्छा था उसे मैंने अपने और दूसरों के लिए अच्छा समझा।"



धर्म का स्वरूप और सर्वधर्म समन्वय

(श्री भगवत्स्वरूप मिश्र, एम० ए०, पी-एच० डी०, आगरा)

धर्म सदा से भारतीय जीवन का केन्द्र-बिन्दु रहा है और आज भी वह भारतीय जन-जीवन की प्रधान प्रेरणा है। राजनीति, अर्थ, वर्ग-चेतना आदि में से कोई भी अकेला अथवा सब सम्मिलित रूप से भी वास्तविक धर्म-चेतना जैसा शक्तिशाली प्रेरक नहीं है। भारत में राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक उपलब्धियों के लिये जब धर्म-चेतना जाग जाती है तो ये उपलब्धियाँ अधिक सहज प्राप्य हो जाती हैं। यहाँ पर धर्म शब्द मुख्य रूप से अपने व्यापक अर्थ में प्रयुक्त है, पर मजहब या सम्प्रदाय वाला संकुचित अर्थ भी गौण रूप से गृहीत है। भारतीय ऋषि ने चिन्तन और साक्षात्कार के द्वारा प्राप्त जिस तत्व को 'धर्म' शब्द के द्वारा अभिव्यक्त किया है, वह अत्यन्त गूढ़ एवं व्यापक है। उसमें कर्तव्य-भावना, तद्जनित आनन्द, स्वरूपस्थिति के लिए प्रयास, स्वरूप का आनन्द आदि अनेक प्रत्ययों का अन्तर्भाव है। धर्म की इस गहराई एवं उसके स्वरूप की इस विविधता तक अन्य संस्कृतियां नहीं पहुँच पाई हैं। हिन्दू-धर्म एवं संस्कृति के अतिरिक्त सभी धर्म एवं संस्कृतियां धर्म के केवल आंशिक रूपों का साक्षात्कार कर पाई हैं। यही कारण कि धर्म शब्द का वास्तविक पर्यायवाची शब्द अन्य किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। वैसे एक भाषा के शब्दों से दूसरी भाषा में पर्याय-वाची शब्दों के मिलने का सिद्धान्त ही मान्य नहीं। प्रत्येक भाषा का सोचने और समझने का अर्थात् विश्व की वस्तुओं और अनुभवों के नामकरण का अपना एक विलक्षण ढंग होता है। यही कारण है कि एक भाषा का अर्थ जगत् की दूसरी भाषा में हूबहू नहीं ढाला जा सकता। अतः एक भाषा से दूसरी भाषा में पूर्णतः यथार्थ अनुवाद की कल्पना ही नहीं है। पर शब्दों के संकेतार्थों (Denotational Meaning) की अपेक्षा उनके गुणार्थों, लक्षणार्थों या सम्पृक्तार्थों (Connotation) को अनूदित कर देना अधिक कठिन है। इन अर्थों का पूर्ण अनुवाद प्रायः असम्भव होता है। सम्पृक्तार्थों में प्रत्येक संस्कृति और जाति के चिंतन को अपनी विशिष्टता अन्तर्हित रहती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है धर्म के जिस स्वरूप का साक्षात्कार भारत के मनीषियों ने किया है, वह अन्यों ने नहीं। यही कारण है कि धर्म शब्द का गुणार्थ तो दूर संकेतार्थ देने वाला शब्द भी अन्य भाषाओं में नहीं है। धर्म, मजहब, रिलीजन और सम्प्रदाय मात्र नहीं है। वह ड्यूटी और नेचर (स्वभाव) मात्र भी नहीं है।

मजहब (Religion) सम्प्रदाय (Ethics, Duty, Nature) शबाब आदि सभी शब्द 'धर्म' के किसी एक अंशमात्र का बोध कराते हैं। वे सब मिलकर भी 'धर्म' शब्द के स्थानापन्न नहीं हो सकते हैं। धर्म इनसे भी कुछ अधिक विस्तृत है। 'धर्म' व्यापक है और ये सब व्याप्य। सब सम्प्रदायों में धर्म तत्व है, पर इन सम्प्रदायों में इसका कोई अंश मात्र ही है। बौद्ध धर्म ने उसकी करुणा का साक्षात्कार किया और जैन धर्म ने उसको 'अहिंसा' का। अहिंसा और करुणा धर्म हैं, पर इनमें ही धर्म परिसीमित नहीं, इनसे बहुत अधिक है। 'करुणा' और 'अहिंसा' अपने निरपेक्ष रूप में धर्म नहीं है। हर परिस्थिति में 'अहिंसा' और 'करुणा' धर्म नहीं हैं। आचार और नीति

के सभी नियम, समाज और परिस्थिति की मांग के परिणाम हैं अतः कोई भी भाव या व्यवहार निरपेक्ष रूप में धर्म नहीं होता। वह तत्त्व कुछ और है जो इन्हें धर्म बना देता है और जिसके न रहने पर ये भी धर्म नहीं रहते। इस तत्त्व का साक्षात्कार वैदिक धर्म ने किया है। यही कारण है कि धर्म अपनी सम्पूर्णता में किसी भी सम्प्रदाय में नहीं। इस सम्पूर्णता का दावा सबसे अधिक वैदिक धर्म हो कर सकता है। मूलतः प्रश्न यह है कि धर्म का यह सर्वव्यापी स्वरूप क्या है। इसी का निरूपण आगे किया जायेगा। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि 'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' की प्राप्ति के द्वारा जीव को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित कर देना ही धर्म का व्यापक स्वरूप है। सभी कार्य और भाव इसी कसौटी पर कस कर धर्म या अधर्म के नाम से अभिहित होते हैं। 'करुणा' ओर 'अहिंसा' भी पात्र और परिस्थिति के भेद से इसी कसौटी पर धर्म अधर्म होते हैं। वैदिक धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष के मानने वालों के लिए नहीं अपितु सम्पूर्ण मानवता के लिए अभ्युदय और निःश्रेयस का मार्ग बतलाता है। इसमें जीवमात्र के लिये धर्म का उपदेश है।

भारतीय मनीषी ने जड़ और चेतन, व्यष्टि और समष्टि सभी के साथ धर्म का सम्बन्ध माना है। व्यक्ति का, समाज का, संस्था का, सम्प्रदाय का, देश का, राज्य का, सबका अपना अपना धर्म होता है। 'धर्म में जो जैसा है' और 'जैसा होना चाहिए'—दोनों का अन्तर्भाव है। प्रत्येक के लिए अपने सहज स्वरूप में स्थित रहते हुए जो 'करणीय' है उसको करना ही धर्म है। सहज स्वरूप अर्थात् आत्म स्वरूप में स्थित रहना तथा आत्म स्वरूप की प्राप्ति का प्रयास ये दोनों ही धर्म के स्वरूप हैं। मोटे तौर पर लौकिक दृष्टि से जो जैसा है उसी के अनुरूप व्यवहार करते रहना, यह पशु का धर्म है और पशु की वह प्रवृति मानवत्व के विकास में बाधक है। उसका संयम करके जो 'जैसा होना चाहिए' वैसा करना मानव का धर्म है। धर्म का यही अन्तर पशु और मानव का भेदक तत्त्व है। इसी से व्यक्ति में पशु और मानव तत्त्व पहचाने जाते हैं। उसका कितना अंश मानव हो गया है और कितना पशु रह गया, इसकी कसौटी धर्म का सही स्वरूप है।

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

पशु और मानव में व्यावर्तन करने वाला 'धर्म' केवल प्रवृति मात्र नहीं, अपितु प्रवृति का संयम एवं उसका उदात्तीकरण है। वह जन्म से प्राप्त वस्तु नहीं अपितु जीवनकाल से सम्पाद्य वस्तु है, अतः उसका स्वरूप 'जो जैसा है' उसकी अभिव्यक्ति नहीं, अपितु 'जो जैसा होना चाहिए' उसकी अभिव्यक्ति है। आहार, निद्रा आदि जीव की सहज प्रवृत्तियां हैं। इनमें तो प्रत्येक जीव रहेगा ही। ये प्रत्येक जीवमात्र के धर्म हैं। पर संयम और विवेक के द्वारा इनके स्वरूप, साधन, प्रयोजन आदि में अन्तर एवं उदात्तीकरण होता है। ये उदात्तीकृत आहारादि की प्रवृत्तियां मानव के धर्म हैं। मानव 'आहार' केवल पेट भरने मात्र के लिए नहीं करता। आहार उसके स्थूल शरीर की पुष्टि मात्र का साधन नहीं, अपितु वह उसके सूक्ष्म शरीर के निर्माण एवं उदात्तीकरण का साधन भी है अतः मानव के लिए 'आहार' पूजा भी है। वह सब में बांट कर खाता है, स्वयं का भाग त्यागता भी है। पहले दूसरों को खिलाता है तब स्वयं खाता है, देवताओं को समर्पित करके खाता है। धर्मार्जित अन्न का शास्त्रोक्त विधि से धर्म-पूर्वक सेवन ही मानवोचित आहार है। ऐसा आहार भी धर्म ही है। विश्व के सारे भोग यज्ञ के द्वारा भावित देवताओं द्वारा दिए गये हैं और इन भोगों को उन देवताओं

को समर्पित न करके भोगने वाला व्यक्ति 'स्तेन'[1] है। उस बुद्धि स किये गये आहारादिक केवल सहज प्रवृतिमात्र की संतुष्टि करने वाले नहीं होते अपितु वे धर्म वन जाते हैं। जो यज्ञ से बचे हुए अन्न को ग्रहण करता है, वह सब पापों से मुक्त हो जाता है, पर जो अपने ही शरीर के पोषण के लिए पकाते हैं वे पाप के भागी होते हैं।[2] इसी से धर्म को यज्ञ व्रतादिक क्रियाओं के द्वारा जीव अपने आहारादिक की शुद्धि करता हुआ 'धृति', क्षमा आदि धर्म के सामान्य लक्षणों में प्रतिष्ठित होता है। यही इन आहारादिकों का लक्ष्य है। ऐसे आहारादिक धर्म का अदृष्ट पैदा करते हैं, स्वर्गादि के भावक वनते हैं और जीव को मोक्ष मार्ग की ओर अग्रसर करते हैं क्योंकि इससे ऐसी आहारादिक क्रियाओं के मूल में रहने वाली भक्ति और ज्ञाननिष्ठा में जीव क्रमशः प्रतिष्ठित होने लगता है।

'अभ्युदय' और 'निःश्रेयस' की प्राप्ति का एकमात्र साधन धर्म है। धर्म का वेदसम्मत लक्षण है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, धर्म का यह सर्वमान्य तथा व्यापक लक्षण है। यह किसी सम्प्रदाय विशेष का लक्षण नहीं है। इसमें मानव के ऐहिक एवं पारमार्थिक कल्याण को धर्म की कसौटी माना गया है, अतः किसी भी धर्म को इस लक्षण पर आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अभ्युदय में सब प्रकार को लौकिक उन्नति एवं विकास का अन्तर्भाव है तथा निःश्रेयस, मोक्ष एवं पारमार्थिक कल्याण है। धर्म के इस लक्षण में 'अभ्युदय' एवं निःश्रेयस दोनों में पूर्ण समन्वय स्थापित करने की आकांक्षा स्पष्ट है। इनका पूर्ण समन्वय ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है। जिस सांसारिक 'अभ्युदय' से पारमार्थिक कल्याण में बाधा पहुँचती है, उस अभ्युदय का साधन धर्म नहीं हो सकता। जब सांसारिक कर्तव्यों को भूल कर व्यक्ति पारमार्थिक कल्याण के लिए ही कार्य करने लगता है, अर्थात् वैराग्य की अपरिपक्व अवस्था में हो निवृति मार्ग को अपना लेता है, तब भी वह 'धर्म' के मार्ग से हट जाता है, क्योंकि वस्तुतः जब तक सांसारिक अभ्युदय का कोई भी अंश शेष रह जाता है, तब तक व्यक्ति मूलतः अभ्युदय का मार्ग नहीं छोड़ सकता है। इस अवस्था में वह सच्चाई के साथ निःश्रेयस का मार्ग पूर्णतः अपना भी नहीं पाता है, अपनाने का केवल ढोंग भर करता है। यह केवल जीवन की विडम्बना है। इसमें सांसारिक अभ्युदय की वासना बनी ही रहती है। वह जबरदस्ती उस वासना को कुचलने की चेष्टा में संसार को छोड़ने का ढोंग अवश्य कर सकता है, और कभी कभी करता भी है; पर उस वासना के समाप्त होने से पूर्व मन से कभी संसार छूटता ही नहीं। भोजनादि के छोड़ने से शरीर कृश अवश्य हो जाता है, पर विषयों की तृष्णा नहीं जाती, विषयों का रस बना ही रहता है। वह तो परम तत्त्व के साक्षात्कार से अर्थात् वास्तविक ज्ञान और वैराग्य की प्राप्ति से ही जाता है :

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥"

जबरन भोजनादि छोड़ देना दुराग्रह एवं शरीरादिक पर अत्याचार की सीमा तक पहुँच जाने पर तो अधर्म ही हो जाता है।

---

(1) इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।

(2) यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुञ्जते तेत्त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

प्रवृति मात्र से सचमुच वैराग्य हुए बिना पूर्ण निवृति मार्ग नहीं अपनाया जा सकता। उससे पूर्व उसे पूर्णतः अपना लेने का प्रयास एवं अहंकार केवल ढोंग मात्र है। न वह अभ्युदय का साधन रहती है और न निःश्रेयस का। वासना के सब रूपों का भोग ज्ञान एवं वैराग्य अनासक्ति से क्षय किये बिना जीव निवृति मार्ग या मोक्ष मार्ग को वस्तुतः अपना ही नहीं पाता है। प्रकृति जीव को सब वासनाओं और भोगों के चक्कर में घुमाकर ही उनसे छुटकारा दिलाती है। यही जीव का चौरासी लाख योनियों में भटकना है। वासनाओं का धर्मानुकूल साधनों एवं प्रक्रियाओं से भोग भी उन वासनाओं से मुक्ति का हेलु है। भोगों की इस प्रकार की परितृप्ति तथा तद्‌जनित विरक्ति के बाद व्यक्ति मोक्ष मार्ग पर अवस्थित हो सकता है। अतः धर्म का सर्वप्रथम लक्ष्य पूर्ण अभ्युदय की प्राप्ति है। धर्मानुकूल अभ्युदय कभी निःश्रेयस का विरोधी नहीं होता अपितु वह निरन्तर निःश्रेयस की ओर अग्रसर करता रहता है। इस अभ्युदय के मूल में 'निःश्रेयस' रहता ही है अथवा यों कहना चाहिए कि 'निःश्रेयस' का साधन बनना ही अभ्युदय की धर्मानुकूलता है।

सम्पूर्ण सांसारिक अभ्युदय और सुखोपभोग का अन्तर्भाव 'अर्थ' और 'काम' में है। संसार में व्यक्ति धन, सम्पत्ति, राज्य, सम्मान आदि जो भी कुछ प्राप्त करना चाहता है, वह सब अर्थ है और उनसे मिलने वाले सारे सुख 'काम' हैं। संसारी व्यक्ति की विकास की सभी अवस्थायें तथा सम्पूर्ण प्राप्य वस्तुएँ भी मूलतः केवल अर्थ और काम के ही विभिन्न रूप हैं। अतः अर्थ और काम की प्राप्ति ही सांसारिक अभ्युदय की सिद्धि है। ज्ञान और वह भी केवल 'स्वरूप ज्ञान' के अतिरिक्त संसार की सभी चीजें अर्थात् अर्थ और काम का सारा जगत् सम्मिलित प्रयास से प्राप्य वस्तु है। व्यक्ति को अर्थ दूसरों के द्वारा दिया हुआ प्राप्त हो सकता है और उसके लिये काम के साधन भी दूसरों के द्वारा जुटाये जा सकते हैं पर व्यक्ति अपने प्रयास के बिना ज्ञानार्जन नहीं कर पाता है। उसमें दूसरों का साधन के रूप में महत्त्व अवश्य है। परम्परा से अर्जित ज्ञान राशि व्यक्ति के ज्ञानार्जन एवं ज्ञानवर्द्धन में सहायक हैं। गुरु का महत्व तो स्वरूप ज्ञान में भी है। गुरु के बिना स्वरूप ज्ञान होता ही नहीं। इस प्रकार ज्ञान के क्षेत्र में भी अपने से अतिरिक्त शेष जगत् के सन्दर्भ में उत्पन्न होने वाली धर्मबुद्धि तथा उसके सन्दर्भ में निभाये जाने वाले धर्माचरण को झुठलाया नहीं जा सकता। ज्ञान के क्षेत्र में अन्यों के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा, आदर आदि के भाव रखना ही नहीं अपितु अपने अर्जित ज्ञान से दूसरों को लाभान्वित करना भी अपेक्षित है, यह भी धर्माचरण है। पर व्यक्ति धनोपार्जन तो अकेला कर ही नहीं पाता है तथा कामतृप्ति भी अकेले से नहीं होती है। अतः 'अर्थ' और 'काम' के साधनों में तो दूसरों की सहायता अनिवार्यतः अपेक्षित है। संसार का सारा अर्थ और सारे सुखोपभोग के साधन समष्टि के प्रयास के परिणाम हैं, अतः उन पर सबका अधिकार है। उनका न्यायोचित विभाजन होना ही चाहिए। यह 'न्याय' ही धर्म है। जो अर्थ और सुखोपभोग हमारे अधिकार में हैं वे भी नितान्त हमारे प्रयास के परिणाम नहीं, अतः उनमें भी दूसरों का भाग मानना और उनके लिए भी दूसरों के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करना धर्माचरण के लिए आवश्यक है। इसीलिए 'अर्थ' और 'काम' प्राप्ति के अवसरों पर दूसरों के अभ्युदय और सुखोपभोग का पूरा ध्यान रखना चाहिए। अगर एक व्यक्ति या समाज का अभ्युदय और सुख दूसरे व्यक्ति या समाज के वास्तविक पतन और दुःख पर आधारित है, तो वह अभ्युदय यथार्थतः धर्म नहीं। जो धर्म सांसारिक अभ्युदय और सुखोपभोग के जितने ही विरोधरहित स्वरूप एवं साधनों की प्रतिष्ठा करता है, वह धर्म उतना ही व्यापक है। वह उतना ही धर्म के वास्तविक स्वरूप का प्रतिष्ठापक है।

उसमें उतनी ही मात्रा में मानव-धर्म का निर्वाह है। पर संसार में तो ऐसा विरोध पद-पद पर दिखाई देता है। एक व्यक्ति के दो धर्मों—व्यक्ति और समाज के अथवा दो समाजों के कल्याणों में जब अन्तर्विरोध प्रतीत होता है, उस समय वस्तुतः धर्म का मार्ग क्या है ? यहीं पर धर्मों में, सम्प्रदायों में अन्तर्विरोध के दर्शन होते हैं। जो धर्म इन अन्तर्विरोधों का जितना ही सम्यक् समाधान दे पाता है वह उतना ही व्यापक धर्म है। पूर्ण समाधान देने वाला धर्म ही पूर्ण धर्म है। वही अंगी धर्म की प्रतिष्ठा करता है। शेष तो अंग धर्मों की प्रतिष्ठा करने वाले धर्म हैं। अंग धर्म को ही सब कुछ मानने वाले, उसे ही अंगी धर्म मानने वाले सम्प्रदाय धर्मान्धिता फैलाने वाले सम्प्रदाय होते हैं। धर्म का मार्ग 'वहुजनहिताय' नहीं, 'सर्वजनहिताय' होता है। एक व्यक्ति का सच्चा धर्म कभी दूसरों के हितों का वाधक नहीं होता। उसमें सवका ही कल्याण निहित रहता है। यह वाधा केवल अज्ञान के कारण ही प्रतीत होती है।

शास्त्र के दो विरोधी आदेशों में से इस परिस्थिति विशेष में कौनसे आदेश का पालन धर्म है। ऐसे धर्माधर्म के अन्तर्विरोध में धर्म का निर्णायक व्यक्ति का शुद्ध अन्तःकरण है। पर ऐसा शुद्ध अन्तःकरण केवल साक्षात्कृतधर्मा का ही होता है। इसमें बहुमत से निर्णय नहीं होता। एक साक्षात्-कृतधर्मा एवं तत्त्वज्ञ का मत वहुमत के विरुद्ध प्रमाण है। व्यष्टि और समष्टि के जन्म-जन्मान्तरों एवं युग-युगान्तरों में व्याप्त कल्याण-सरणी का साक्षात्कार करने वाले योगी का कथन अन्य सबों के विरुद्ध भी प्रमाण है। (सबके कल्याण को तीनों कालों के परिप्रेक्ष्य में एक साथ देखने वाला अपौरु-षेय ज्ञान ही धर्माधर्म के निर्णय में प्रमाण है। इसी से धर्म 'श्रुत्यैकसमधिगम्य' है।) रोगी के लिए पथ्य और कुपथ्य का निर्णायक डाक्टर का मत है रोगियों अथवा अन्य लोगों का बहुमत नहीं। इस प्रकार के अन्तर्विरोधों को दूर करने के लिए समष्टि कल्याण अर्थात् प्रत्येक के कल्याणरूपी निःश्रेयस को कसौटी मानना पड़ता है। सच्चे धर्म के क्षेत्र में व्यष्टि एवं समष्टि के कल्याण में विरोध नहीं होता। जिस कार्य में समष्टि या व्यष्टि का कल्याण निहित है और जो निःश्रेयस को देने वाला है, वह कार्य अधर्म नहीं होता, चाहे वह आपाततः कुछ को दुखःप्रद ही प्रतीत हो। डाक्टर की शल्य-क्रिया बीमार को स्पष्टतः कष्ट देती है, पर वह धर्म है, क्योंकि उसमें बीमार का, डाक्टर का, सबका कल्याण निहित है। जो अनुभूतिकाल में सुखकर है, वह केवल प्रेय है, पर जो परिणाम में सुखकर है, वही श्रेय है। अपने अथवा समष्टि के श्रेय के लिए अपने प्रेय का समर्पण अथवा श्रेय को ही प्रेय बना देना, वस्तुतः धर्म की उच्चतम भूमि है। धर्म की इस भूमि पर पहुंचे हुए व्यक्ति धन्य हैं। समष्टि और व्यष्टि के परम कल्याण में ही रस लेने की प्रेरणा जो सम्प्रदाय देता है, वह धर्म सम्प्रदाय भी धन्य है। "सर्वे वे सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्" की आकांक्षा धर्म की इसी उच्च भूमि पर पहुंचने की प्रेरणा है।

मोक्ष की ओर ले जाने वाला अर्थ और काम ही वस्तुतः धर्म है। या यों कहें कि धर्मानुकूल अर्थ और काम ही मोक्ष के हेतु हैं। धर्मानुकूल अर्थ और काम का सेवन ही व्यक्ति में अर्थ और काम की वासना का भोग के द्वारा क्षय करता है और क्रमशः क्षीण पाप और क्षीण वासना वाले व्यक्ति के अन्तःकरण में अनासक्ति, वैराग्य, भक्ति एवं ज्ञान उत्पन्न करता है। अनासक्ति, वैराग्य और भक्ति से सुपुष्ट यह ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है। धर्मानुकूल अर्थ और काम के सेवन द्वारा भोग-वासना से मुक्त हुए विना वैराग्य, ज्ञान और भक्ति उत्पन्न नहीं होते। इस प्रकार चार पुरुषार्थों में धर्म प्रथम है और मोक्ष अन्तिम अर्थात् धर्म से प्रारंभ करके धर्म में ही रहता हुआ व्यक्ति धर्मानुकूल अर्थ का

उपार्जन करे, यही मानव का धर्म है। इस धर्म में प्रतिष्ठित रह कर ही व्यक्ति अभ्युदय और मोक्ष को प्राप्त होता है। "मोक्ष" ही भारतीय दृष्टि से जीवन का परम लक्ष्य है और यह तीनों पुरुषार्थों के बाद में मिलता है। इस प्रकार पुरुषार्थ का चतुष्टय में समन्वय है। यही अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय भी है। यही धर्म है। 'अभ्युदय' 'निःश्रेयस' के लिए ही हैं। निःश्रेयस-विरोधी अभ्युदय त्याज्य है। व्यक्ति के स्तर पर उच्चतम अवस्था मोक्ष है। सभी धर्म उसी के लिए हैं। मोक्ष प्राप्ति अंगी धर्म है और शेष सब अंग धर्म हैं। सब अंग धर्मों का धर्मत्त्व हो इस बात पर टिका है कि वे मोक्ष प्राप्ति के साधन हैं। जो अंग-धर्म जिस समय मोक्ष प्राप्ति में बाधक होता है वह उन परिस्थितियों में धर्म नहीं अतः त्याज्य है। भरत ने न्याय, धर्म और भगवान् की भक्ति के लिए अपनी मां कैकेयी को भी कटु वचन कहे थे। अंगी धर्म के साथ सामञ्जस्य रखने के कारण आपाततः अधर्म प्रतीत होने वाले ये कटु वचन भी भरत के हृदय का कल्मष दूर करने वाले हो गये हैं। यह उनका मोक्ष हेतुत्त्व है। अतः ये धर्म हैं। इस प्रकार अंग, अंगी के लिए छोड़े जा सकते हैं। 'आत्मार्थी पृथ्वीं त्यजेत्'। पर धर्मानुकूल अभ्युदय की साधना हमेशा निःश्रेयस या मोक्ष का हेतु ही होती है इस दृष्टि से अंग और अंगी का अन्तर्विरोध वस्तुतः नहीं होता, केवल आपाततः प्रतीत भर होता है। साक्षात्कृतधर्मा ही इस अविरुद्ध स्थिति को समझता है, अतः इसी का आप्त वाक्य धर्म के लिए प्रमाण है। शास्त्र आप्तवाक्य ही हैं। धर्म के लिए शास्त्र वाक्य ही प्रमाण है। मानव अपनी बुद्धि और तर्क से वहां तक नहीं पहुँच सकता है। धर्म में श्रद्धा और विश्वास का स्थान सर्वोपरि है। इसी से धर्म को "श्रुत्यैकसमधिगम्य" कहा गया है। धर्म के इस रूप को आगे और स्पष्ट करेंगे।

"धारणात् धर्मः" से धर्म के दोनों अर्थ हैं—जो धारण किया जाय तथा जो धारण करे। वस्तु अपने धर्म को धारण करती है तथा धर्म वस्तु को धारण करते हैं। अग्नि में दाहकत्व है, अर्थात् अग्नि दाहकत्व धर्म को धारण किये हुए है। पर अगर अग्नि में से दाहकत्त्व धर्म निकल जाये, तो वह अग्नि ही नहीं रहेगी। अतः दाहकत्व धर्म अग्नि को धारण किए हुए है, अग्नि को अग्नि बनाये हुए है। अग्नि का अग्नि बने रहने का प्रयास भी धर्म ही है। इसी प्रकार मानव का मानव बना रहना एवं बने रहने तथा पुनः मानव बन जाने का प्रयास ही वास्तविक धर्म तथा धर्माचरण है। मानवत्व मानव को बनाए हुए है और मानव मानवत्व धारण किये हुए है, ये दोनों ही धर्म के रूप हैं। जीव का स्वरूपस्थिति के लिए प्रयास ही धर्माचरण है तथा स्वरूपस्थिति ही धर्म में आरूढ रहता है। व्यापक दृष्टि से जीव अपनी प्रत्येक क्रिया के द्वारा अपने पाप पुण्य का क्षय कर रहा है। प्रत्येक क्रिया सर्वान्तिर्यामी की इच्छा से ही चल रही है और ईश्वर की सब इच्छायें मंगलमय ही होती हैं। अतः उस दृष्टि से सभी क्रियायें धर्म हैं क्योंकि जीवन को सभी क्रियायें और अनुभव (भोग के द्वारा) वासनाओं का क्षय करते हुये जीव को ज्ञात और अज्ञात रूप से मोक्ष की ओर ही ले जा रहे हैं, उसे अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिष्ठित करने एवं रहने में सहायक हो रहे हैं। प्रत्येक भोग दुःख-मिश्रित होता है, अतः भोग जहाँ भोग-वासना के संस्कार जगाता है, वहां कुछ वैराग्य एवं ज्ञान भी जगाता है। वस्तुतः धर्म स्थूल क्रियाओं में नहीं अपितु उनके मूल में रहने वाली भावनाओं में है। मानवीय भावनाओं, लोक कल्याण की भावना, भक्ति, अनासक्ति और ज्ञान से कर्मों के कल्मष नहीं रहते। वे धर्म बन जाते हैं। जीव रक्षा के लिए बोला गया असत्य, लोक कल्याण के लिए की गई हिंसा ईश्वरार्पित श्रृंगार, अनासक्त भाव से किये गए सब कर्म तथा तत्वज्ञानी की चेष्टा इन सब में

अधर्म बुद्धि नहीं रहती। कुछ में तो धर्माधर्म के अदृष्ट भी नहीं बनते हैं। ज्ञानी की कर्तृत्व बुद्धि ही नहीं रहती, तो फिर धर्माधर्म कहां रह सकते हैं। उसके तो भोग से प्रारब्ध-कर्मों का क्षय मात्र होता है। व्यष्टि अहंकार के कारण कर्त्तव्याकर्त्तव्य और धर्माधर्म का भेद है। समष्टि चैतन्य की दृष्टि से न कोई धर्म है और न कोई अधर्म; वहां तो सब कुछ धर्म ही है। इस भूमिका पर पहुंचे हुए व्यक्ति के लिए न कुछ धर्म रहता है और न कुछ अधर्म ही। व्यष्टि चैतन्य का अहंकार तथा राग द्वेष की भिन्नता ही व्यक्ति में अधिकार भेद को जन्म देते हैं। अज्ञान की इस अवस्था का प्रत्येक व्यक्ति एक ही कर्म का अधिकारी नहीं है और अनधिकार चेष्टा ही अधर्म है। इस अधिकारी भेद के सिद्धान्त पर ही वर्णाश्रम धर्म प्रतिष्ठित है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम का अपना अपना धर्म है। अपने ही धर्म में प्रतिष्ठित मानव सिद्धि अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है: "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः। "श्रेयान् स्वधर्मो" मोक्ष ही सबका गन्तव्य स्थान है, पर सब प्राणी भिन्न भिन्न स्थानों पर खड़े हैं, अतः गन्तव्य स्थान पर पहुँचने के मार्ग अलग अलग हैं, अतः सबके लिए धर्म भी अलग अलग हैं।

जब तक व्यक्ति में अहंता है, जब तक उसमें अधिकारी भेद है, उसके लिए धर्म और अधर्म का भेद है, पर जब वह अपनी पृथक अहंता को भगवान् की अहंता में विलीन कर देता है, अथवा पृथक अहंता को मिथ्या मान लेता है उस समय उसके लिए न कोई धर्म रह जाता है और न अधर्म। उस समय उसकी अवस्था "धर्माधर्मों सपदि गलितौ पुण्यपापे विशीर्णे" हो जाती है। उसी अवस्था को प्राप्त करने के लिए भगवान् श्री कृष्णचन्द्र भी आदेश देते हैं:

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥"

भक्त सम्पूर्ण क्रियाओं के मूल में रहने वाली ईश्वरेच्छा का रागात्मक साक्षात्कार करता हुआ अपनी सम्पूर्ण क्रियाओं को भगवान् को समर्पित कर देता है। ऐसी अवस्था में उसकी अपनी कोई कर्त्तव्य बुद्धि नहीं रह जाती, अतः उसके लिए कर्त्तव्याकर्तव्य के निर्णय की आवश्यकता नहीं रहती। यह कार्य तो उसके लिए भगवान् स्वयं ही करते हैं। वह तो सब कार्य भगवान् की इच्छा समझ कर ही करता है अतः वे सब कर्म उसके लिए कर्त्तव्य ही हैं। ऐसे भक्त पाप से मुक्त रहते हैं। इसी अवस्था के ज्ञानी की मनःस्थिति और क्रियाओं का बोध कराते हुए गीता कहती है: "गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते" "नैव कुर्वन्न कारयेत्।"

ज्ञानी के लिए धर्म के कुछ विधि-निषेध नहीं होते:—निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः। वस्तुस्थिति यह है कि जिस स्वरूप-स्थिति तक पहुंचने के लिए विधि-निषेध किये जाते हैं वहां तो ज्ञानी पहुँच हो चुकता है, अतः उसके लिए विधि-निषेध का कुछ प्रयोजन ही नहीं रह जाता है। विधि-निषेध धर्म की प्राप्ति के लिए होते हैं, पर ज्ञानी तो धर्म के अपने स्वरूप में अवस्थित ही रहता है। धर्म में अपने स्वरूप में अवस्थित व्यक्ति को सभी क्रियायें स्वतः धर्माचरण होती हैं, उसके लिए बाहर से किसी भी प्रकार के विधि-निषेध की आवश्यकता नहीं होगी। जैसी कि हम पहले कह चुके हैं न कोई क्रिया स्वतः धर्म है और न अधर्म। व्यक्ति की वासना, भावना या अहंता से वे क्रियायें धर्म या अधर्म हो जाती हैं। अहंता के कारण उन क्रियाओं से धर्माधर्म के अदृष्ट बनते हैं। ज्ञानी इस अहंता को छोड़ चुकता है। उसकी क्रियाओं में कर्तृत्व-बुद्धि ही नहीं रहती, अतः उसके लिए उन क्रियाओं से धर्माधर्म के अदृष्ट नहीं बनते। फिर विधि-निषेध का क्या प्रश्न है? वह

त्रिगुणातीत अवस्था में रहता है, और धर्माधर्म त्रिगुण अवस्था में रहते हैं। यज्ञादिक धर्माचरणों का विधान करने वाले वेदों के विषय त्रिगुण हैं और ज्ञानी इन गुणों से ऊपर उठा हुआ है। इसी से भगवान् कहते हैं "त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।" ज्ञानी और भक्त वासनाओं के क्षय से प्राप्त अन्तःकरण की निर्मलता एवं सात्विकता की उस अवस्था को पहुंच जाते हैं जहां क्रियायें स्वतः धर्म ही होती हैं, अधर्म की ओर उनका अन्तःकरण जाता ही नहीं। पर इस क्षेत्र में भी अहंमन्य और ढोंगियों का अभाव नहीं।

धर्म की कल्पना समाज की सापेक्षता में ही है अथवा समाजनिरपेक्ष व्यक्ति के लिए भी कुछ धर्म है। यह प्रश्न बड़ा ज्वलंत है और उतना ही जटिल भी। वैसे तो द्वैत में ही धर्माधर्म के प्रश्न उठते हैं; अद्वैत में स्थित के लिए तो धर्म ही धर्म है। 'स्वरूपस्थिति' धर्म की उच्चतम भूमि है। जीव भाव में प्रतिष्ठित के लिए ही धर्माधर्म है। पर ऊपर जो 'समाज सापेक्षता' वाला प्रश्न है वह कुछ भिन्न प्रकार का है। धर्म की परिस्थिति-सापेक्षता और समाज-सापेक्षता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक ही कर्म एक परिस्थिति में धर्म तथा दूसरी में अधर्म हो जाता है। समष्टि की कल्याण कामना तो धर्म है ही इसके साथ ही व्यष्टि के अपने कल्याण के प्रयास भी यथासंभव समष्टिकल्याण के विरोध में नहीं होने चाहिए। समाज में अव्यवस्था फैलाने वाले व्यक्ति के अपने सुखों पर संयम व्यष्टि के लिए धर्म है। इसी प्रकार समाज में रहने वाले व्यक्ति के कुछ कर्त्तव्य हैं, उनका निभाना आवश्यक हैं, वे धर्म हैं। पर किसी एक व्यक्ति-समूह के सुख दुःख धर्माधर्म के निर्णायक नहीं। जिससे दूसरों को सुख मिले, वह धर्म और दुःख हो वह अधर्म, ऐसा स्थूल निर्णय नहीं किया जा सकता। वस्तुतः इसमें सुख दुःख नहीं व्यक्ति और व्यक्ति समूह का कल्याण निर्णायक है, यह हम ऊपर कह चुके हैं। अगर किसी के चोरी करने से किसी व्यक्ति को सुख हो अथवा जिसके चोरी हुई है, उसको दुःख न हो, तो चोरी धर्म नहीं हो जायेगी। चोरी करने वाले का अन्तःकरण अन्यों के सुखदुख से निरपेक्ष रहकर भी इस चोरी से मलिन होता है, अतः यह चोरी विना बाहरी प्रभाव के विचार के ही इतने अंश में समाज से निरपेक्ष होकर भी उस व्यक्ति के लिए अधर्म है। धर्म में किसी का सुख दुःख नहीं शास्त्र या अपना शुद्ध निर्मल अन्तःकरण प्रमाण है। धारण करने वाला धर्म अर्थात् स्वरूपस्थिति, धारण करने योग्य धर्माचरण एवं उस धर्माचरण से उत्पन्न अदृष्ट रूप धर्म-अपने इन सभी अर्थों सहित न तर्क-गम्य है और न व्यक्ति को अपने अनुभव से प्राप्त होता है। उसके लिए भगवान् का आदेश अर्थात् शास्त्र ही प्रमाण है। धर्म के नियम में शास्त्र का ही अनधिगतगन्तृत्त्व है। जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान जीव को अपनी बुद्धि या साधना के प्रयासों से नहीं होता, अपितु "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" के उपदेश से होता है। "दशमः तत्त्वमसि" के द्वारा ही प्रत्येक व्यक्ति को दसवें होने का ज्ञान हुआ था। जीव को अपने ब्रह्म होने का ज्ञान केवल वेद वाक्य से ही संभव है, अन्यथा नहीं। अनादि अविद्या का नाश गुरु के उपदेश से होता है, स्वतः या तर्क से नहीं। अमुक कार्य धर्म है, इस यज्ञ से इस अदृष्ट की उत्पत्ति होगी, "स्वर्गकामो यजेत" आदि के लिए व्यक्ति का साक्षात् अनुभव और बुद्धि प्रमाण नहीं। क्योंकि उसने ऐसा कभी प्रत्यक्ष किया ही नहीं और अनुमानादि प्रत्यक्ष पर आधारित होते हैं। जीव को अपने अल्पज्ञत्व का ज्ञान तो स्वयं भी हो सकता है, पर ईश्वर के सर्वज्ञत्व तथा जीव ब्रह्म के अभेद का ज्ञान तो केवल शास्त्र से ही संभव है क्योंकि उसने कभी जीव ब्रह्म के ऐक्य का अनुभव किया ही नहीं। उसने कभी स्वर्ग नहीं देखा है। यज्ञादिक से स्वर्ग अथव पुत्रादिक की प्राप्ति की संभावना का साक्षात्कार भी केवल अलौकिक प्रत्यक्ष

का विषय है। गीता कहती है कि भगवान ब्रह्मा ने प्रजा की सृष्टि के साथ ही यज्ञों की सृष्टि भो की है भगवान् ने ही चारों वर्णों को रचा तथा उनके गुण कर्म अर्थात् धर्मों को भी। इन धर्मों का विधान भगवान् के द्वारा हुआ है। इसी से धर्म के ज्ञान में भगवान् का अपौरुषेय ज्ञान ही प्रमाण है। उसी को तीनों कालों का प्रतिक्षण प्रत्यक्ष रहता है। जो कुछ वेदनिहित है वही धर्म है। शेष सब अधर्म है।(इ) सभी धर्मों में आप्त वाक्य और शास्त्र ही धर्माचरण के लिए प्रमाण माने गये हैं। अतः धर्म विश्वास और श्रद्धा की वस्तु है तर्क की नहीं। "अतर्क्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण योजयेत्"। विश्वास का वास्तविक स्वरूप तर्क से ऊपर है। जब तक तर्कपूर्वक विश्वास किया जाता है तब तक विश्वास का महत्त्व तर्क के कारण है। जब विश्वास विश्वास पर ही आधारित रहता है तब ही वह सच्चा विश्वास कहा जाता है। अंधविश्वास ही सच्चा विश्वास है।

श्वास-प्रश्वास को समाप्ति की अवस्था विश्वास है। अतः यह संकल्प-विकल्प तर्कादि रहित अन्तःकरण को शुद्ध सात्विक स्थिर अवस्था है। यही श्रद्धा अर्थात् 'श्रत्' (सत्य) को धारण करने वाली मनःस्थिति है। 'श्रद्धा' और 'विश्वास' का अर्द्धनारीश्वर के समान अपूर्ण मिलन है, सामरस्य है। श्रद्धा 'उमा' है और विश्वास 'शिव'। भवानीशंकरौ वन्दे श्रद्धाविश्वास-रूपिणौ। 'सत्य' और 'शिव' में निष्ठा जम जाना ही उनका वास्तविक साक्षात्कार है। यह निष्ठा विश्वास-जन्य एवं विश्वासरूप होती है। 'शिव' में निष्ठा ही धर्म में प्रतिष्ठा है। अतः श्रद्धा और विश्वास ही धर्म साक्षात्कार के मूल हेतु हैं, तर्क नहीं।

धर्म के दो रूप हैं:—सामान्य और विशेष। मानव मात्र के लिए अपेक्षित मानवोचित गुणों पर ही सामान्य धर्म टिका हुआ है। सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, इन्द्रिय-निग्रह, अस्तेय आदि ऐसे गुण हैं जिनकी उपस्थिति मानव में आवश्यक है। इनको धारण करना ही सामान्य धर्म का पालन है। इन्हीं के कारण मानव की अभ्युदय की आकांक्षा और उसके अभ्युदय का स्वरूप दूसरों की सुख-सुविधा का ध्यान रखते हुए होता है। ये ही उसके अन्तःकरण को निर्मल करते हुए उसको मोक्ष-मार्ग का पथिक बना सकते हैं। अतः ये गुण तो प्रत्येक सम्प्रदाय या मजहब का मूल आधारतत्त्व होने चाहिये। जो मजहब या सम्प्रदाय इन गुणों का अवमूल्यन करता है, वह वस्तुतः धर्म के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा में असफल है। सभी विशेष धर्मों का प्रयोजन मानव में इन सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा एवं पुष्टि है। विशेष धर्मों का धर्मत्त्व ही उनकी मानव में इस सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा करने की क्षमता पर टिका हुआ है। मनु ने सामान्य धर्म के निम्नलिखित लक्षण दिये हैं:—धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इद्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध (ब)। इनका अभ्यास तो मानव मात्र को करना ही चाहिए, पूजा-पद्धति और आचार-पद्धति की विशेषता ही विशेष धर्म का आधार है। यह विशेषता ही सम्प्रदायों का निर्माण करती है। हिन्दू और मुसलमानों की पूजापद्धति भिन्न-भिन्न है, अतः वे दोनों दो धर्म अर्थात् दो सम्प्रदाय या मजहब हैं। वर्णाश्रम व्यवस्था

(इ) वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूरिति शुश्रुम॥

(ब) धृति क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

भी अधिकारी-भेद के कारण ही है। अतः उनके धर्मों की गणना भी विशेष धर्मों में होती है। व्यक्ति के अपने संस्कारों के अनुरूप ही उसे पूजापद्धति रुचती है। वही पूजापद्धति उसके लिए श्रेयस्कर भी है।

"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्", स्वधर्मे निधनं श्रेयं, परधर्मो भयावहः", धर्म चाहे अपना है चाहे दूसरों का तत्वतः विगुण नहीं होता। फिर स्वधर्म के "विगुण" होने का कोई प्रश्न ही नहीं, पर व्यक्ति को मोह और अज्ञान के कारण स्वधर्म विगुण लग सकता है। कुछ लोग स्वभाव से शाक्त हैं तथा दूसरे वैष्णव। कुछ लोग संस्कार से ज्ञानमार्गी तथा कुछ संस्कार से ही भक्त या कर्मकाण्डी होते हैं। (इसी प्रकार कुछ लोगों के संस्कार जैन धर्म के अनुरूप हैं तथा कुछ के बौद्ध धर्म के) अपने अपने विशेष धर्मों का पालन करने वाले के मानस में इन संस्कारों के अनुरूप विशेष धर्मों का पालन ही सामान्य धर्मों की प्रतिष्ठा कर सकता है, उसे सत्य पर ला सकता है। और पात्रानुकूल विशेष धर्म ऐसा ही करता है। वासनानुकूल अपनाई हुई पूजापद्धति मानव की वासनाओं को धर्मपूर्वक मांग के द्वारा क्षय करती है, और इस प्रकार विषयों के प्रति उसकी आसक्ति को समाप्त कर देती है। विशेष धर्म से ही व्यक्ति वैयक्तिक एवं संकुचित स्वार्थों और अहंकार से ऊपर उठ कर धीरे धीरे व्यापक मानवता की भूमि पर प्रतिष्ठित होता है तथा उसमें अहिंसा, प्रेम, सत्य आदि गुणों की प्रतिष्ठा और पुष्टि होती है। इन्हीं अहिंसा, सत्य रूप आदि सामान्य धर्मों में प्रतिष्ठित होता हुआ व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है। यही स्वधर्म का श्रेयत्त्व है। अतः सहज रूप में सब अपने अपने स्थानों पर ठीक हैं। विद्वान् उसमें बुद्धि-भेद नहीं उत्पन्न करता अपितु उसको अपने धर्म की प्रेरणा ही देता है। (१) इससे स्पष्ट है कि यह संस्कार और अधिकारी भेद पर टिका हुआ विशेष धर्म ही स्वधर्म है। इस धर्म का पालन ही वस्तुतः मानव को अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि देता है। अतः धर्मपरिवर्तन जैसी कोई वस्तु पारमार्थिक रूप से सत्य नहीं। धर्मपरिवर्तन केवल सम्प्रदाय के चिन्हों का परिवर्तनमात्र है। इससे केवल व्यक्ति के ऊपरी लक्षण अथवा वस्त्र या शरीर पर धारण किये जाने वाले उपकरण जैसे यज्ञोपवीत, तिलक, क्रास आदि बदल जाते हैं व्यक्ति का अन्तःकरण नहीं बदलता। जो व्यक्ति एक प्रकार की उपासना के संस्कारों को लेकर आया है वह जब तक उस प्रकार की उपासना के संस्कारों का पूर्णतया क्षय करके दूसरी प्रकार की उपासना की अर्हता पैदा नहीं कर लेता है तब तक वह दूसरी प्रकार की उपासना को शतशः नहीं अपना सकता है। वह उसका अधिकारी ही नहीं है अतः इस अवस्था में वह वस्तुतः धर्म नहीं बदल सकता। अगर वह ऐसी अवस्था में धर्म परिवर्तन करता है तो लोभ या भय या अज्ञान-वश करता है। उसका यह आचरण धर्माचरण नहीं पाप है। वह स्वर्ग का अधिकारी नहीं हो सकता है। सामान्यतः वैदिक आस्था धर्म-परिवर्तन के सिद्धान्त में विश्वास नहीं करती। एक उपासनापद्धति से परिपक्व अन्तःकरण दूसरी उपासनापद्धति के लिए उपयुक्त हो जाता है। जैसे भक्ति का परिपाक ज्ञान में परिवर्तित होता है। बस, ऐसे ही धर्मपरिवर्तन को वैदिक आस्था स्वीकार करती हैं। इस प्रकार उनकी दृष्टि से दूसरी उपासनापद्धति को अपनाना अन्तःप्रेरणा पर आधारित है। जैसा कि हम कह चुके हैं कि बाहर के उपदेश, प्रलोभन अथवा भय से परिवर्तित धर्म केवल ढोंग और

(१) न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्।
जोष्पयेत् सर्वकर्माणि विद्वानयुक्तः समाचरन्॥

अशान्ति के हेतु हैं। विश्व के सारे साम्प्रदायिक झगड़े ऐसे ही कारणों से हुए हैं। भारतीय धर्म इसी उदार एवं विशाल दृष्टिकोण पर टिका हुआ है। सर्वधर्म-समन्वय की यही मूल आधार भित्ति बन सकती है। वैदिक आस्था उन सम्प्रदायों की तरह नहीं है, जो सम्प्रदाय सब के लिए एक ही उपासनापद्धति को श्रेयस्कर समझते हैं। उन सम्प्रदायों की धारणा है कि उनकी उपासनापद्धति को न मानने वाला अधर्म के मार्ग पर है। अतः वे अपने धर्म की दीक्षा पर जोर देते हैं। वैदिक धर्म ने सम्पूर्ण मानवता को चार वर्गों में विभाजित कर रखा है। और वह सब को अपने अपने स्वभाव, गुण के अनुसार धर्म का उपदेश देता है। वैदिक धर्म किसी एक विशेष पूजापद्धति को सबके लिए श्रेयस्कर मानने का समर्थक नहीं है क्योंकि यह धर्म के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध बात है।

आज सम्पूर्ण विश्व के महान् मानवों, उदार नेताओं, धर्मावलम्बियों तथा धर्माचार्यों में सर्व-धर्म-समन्वय की एक आकांक्षा विद्यमान है। यह धर्म के क्षेत्र में एक शुभ चिन्ह है, जिससे विश्व में मानवता के प्रसार और विकास की संभावना बढ़ रही है। सामान्य धर्म के लक्षणों के सामान्य स्वरूप पर सबकी स्वीकृति है। समन्वय का सबसे बड़ा आधार इन गुणों को विशेष धर्मों की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना है, क्योंकि विशेष धर्म इन सामान्य धर्मों की पुष्टि के लिए ही है। यह हम ऊपर कह चुके हैं। अतः विशेष धर्मों के आचरणों के रूपों के औचित्य की कसौटी इन सामान्य धर्मों के निर्वाह को बनाना चाहिए। यह देखना बहुत जरूरी है कि कहीं विशेष धर्मों के आचरण का दुराग्रह इन सामान्य धर्मों की हत्या तो नहीं कर रहा है। इसके बिना नतो धर्म की कल्पना सम्भव है और न धर्मों के समन्वय की। धर्मों या सम्प्रदायों में जो भेद है वह इन सामान्य धर्मों की विशेष पद्धतियों से साकार करने तथा मानव के आचरण में इन्हें उतारने पर टिका है। अर्थात् यह भेद मूलतः पूजापद्धतियों का भेद है सामान्य धर्मों की स्वीकृति का नहीं। ऊपर हम अधिकारीभेद और वासनाभेद का सिद्धांत मान चुके हैं, अतः ऐसी कोई पूजापद्धति नहीं हो सकती, जो सबके लिए समान रूप से उपयुक्त और कल्याणकारी हो, सबके संस्कारों के अनुरूप हो। वस्तुतः प्रत्येक विशेष धर्म या पूजापद्धति अधिकारीभेद पर आश्रित होने के कारण धर्म के किसी एक अंग का साक्षात्कार करती है। न तो एक अंग दूसरे अंग में मिलाया जा सकता है और न एक अंग की दृष्टि से दूसरे अंग को निषेध किया जा सकता है। अतः सब पूजापद्धतियों अथवा उनके कुछ अंश के मिलाने या एक पूजा-पद्धति के आग्रह के कारण अन्य सब पूजापद्धतियों के निषेध से सर्वधर्म-समन्वय की कल्पना नहीं की जा सकती है। जो धर्म केवल भौतिक उन्नति अथवा स्वर्ग को ही धर्म का परम प्रयोजन मानकर चलते हैं वे न अंगी को देखते हैं और न अन्य अंगों को। उनमें तो समन्वय की आकांक्षा भी नहीं जाग सकतो है, जो विशेष धर्म अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों को और दोनों के समन्वय को धर्म का लक्ष्य समझते हैं उनकी दृष्टि विशेष पूजापद्धति में धर्म के किसी विशेष अंग पर टिकी होते हुए भी उस अंग के माध्यम से सम्पूर्ण अंगी तथा उस अंगी के सब अंगों का साक्षात्कार करतो रहती है। ऐसे धर्म ही धर्म-समन्वय की दृष्टि दे सकते हैं। वे सब धर्मों के प्रति उदार भावना भी रखते हैं और साथ ही सबके द्वारा साक्षात्कृत अंग धर्मों का अंगी धर्म के साथ समन्वय भी बैठा देते हैं। पर वे भी विभिन्न पूजापद्धतियों से विभिन्न अंश लेकर मिला देने के पक्ष-पाती नहीं हैं इसमें वे समन्वय नहीं मान सकते। कुछ व्यक्ति ऐसे भी हो सकते हैं जो अनेक पूजा-पद्धतियों का मिश्रण करके अपने लिए एक पूजापद्धति बना लें। वे एकादशी और रोजा दोनों रख सकते हैं। वेद, कुरान, बाइबिल सबसे प्रार्थना के अंश लेकर अपनी नित्य की प्रार्थना में सम्मिलित

कर सकते हैं। पूजापद्धतियों के मूल में रहने वाली सामान्य भावना पर अपना मन केन्द्रित करने से वे अभेद तत्त्व का साक्षात्कार कर लेते हैं और भेदों की उपेक्षा कर देते हैं। यद्यपि ऐसे लोगों में अनन्यता का अभाव होता है। वे किसी भी पूजापद्धति के मूल में रहने वाली विशिष्ट धर्मभावना और तद्जनित विशिष्ट अदृष्ट के प्रति आस्था नहीं रखते, उन्हें विशेष पूजापद्धतियों में साकार होने वाली धर्मचेतनाओं और विश्वासों में से किसी धर्मचेतना का साक्षात्कार नहीं होता तथा किसी भी विश्वास में उनकी निष्ठा नहीं जागती है। अतः वे किसी भी वास्तविक पूजापद्धति का निर्वाह नहीं कर रहे हैं। हाँ, सद्भावना और अभेदबुद्धि के कारण ऐसे व्यक्ति धन्य हैं, पर सब ऐसे भी नहीं हो सकते हैं। सब पूजापद्धतियों की प्रार्थनापद्धतियों को अपने लिए मिला देने में आपत्ति न करने वाला एक वर्ग और होता है और वह है जीवनमुक्त और तत्त्ववेत्ताओं का। पर वे तो स्वयं धर्मरूप होते हैं। उनके लिए किसी भी पूजापद्धति का आश्रय लेकर कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता है। उनके लिए तो सभी पूजा-पद्धतियाँ या प्रार्थनाएं उपाधि अथवा लीलामात्र हैं। वे तो इन सबको करते हुए भी केन्द्र में अवस्थित रहते हैं। उनके लिए तो सभी शब्द सच्चिदानन्द के लक्षक है। वे तो खुदा, ईश्वर, गौड में जहत्-अजहत्लक्षणा से उसी एक परमतत्त्व का बोध करते हैं। ऐसे व्यक्तियों के लिए सर्व-धर्म-समन्वय का विधान क्या महत्त्व रखता है वहां असमन्वय है ही नहीं कि समन्वय का विधान किया जाय। पर ऐसे लोग स्वयं किसी भी पूजापद्धति का आश्रय लें या न लें पर दूसरों के लिए अर्थात् अज्ञानियों के लिए तो अधिकारी-भेद से ही पूजापद्धतियों का विधान कर देते हैं, फिर सब पूजापद्धतियों के मिला देने का सिद्धान्त कहां ठहरता है। जो ऊपर के किसी भी अभेद पर नहीं पहुँच सके हैं अथवा जिनमें विशेष पूजापद्धति के प्रति सच्ची आस्था है सर्वधर्म-समन्वय के लिए उनके प्रति भी प्रत्येक धर्मावलम्बी में सद्भावना और सहिष्णुता की भावना आवश्यक है। पूजा-पद्धतियों का भेद तो रहेगा ही, क्योंकि उसका मानव के सहज संस्कारों की भिन्नता से सम्बन्ध है। सभी पूजापद्धतियों का प्रयोजन मानव का कल्याण है, अतः दूसरे सम्प्रदायों की पूजापद्धति के प्रति भी व्यक्ति में सम्मान की भावना का जागना और बने रहना आवश्यक है। पूजापद्धतियों या विशेष धर्मों के क्षेत्र में केवल पारस्परिक सद्भावना एवं सहिष्णुता ही समन्वय का आधार बन सकती है। प्रत्येक धर्मावलम्बी में दूसरे धर्मावलम्बी के प्रति आदर बुद्धि एवं सद्भावना होनी चाहिए। उसे अपनी विशेष पूजापद्धतियों का इस प्रकार निर्वाह करना चाहिए जिससे दूसरों की भावनाओं को ठेस न पहुँचे। उसे अपनी पूजापद्धतियों के बाहरी उपकरणों की साज सज्जा की अविकलता के आग्रह तथा उन पूजापद्धतियों से पुष्ट होने वाले धर्मात्मापने अथवा अपनी उत्कृष्टता के अहंकार की पुष्टि की अपेक्षा इन पूजापद्धतियों के प्राप्य मानवीय गुणों पर अधिक ध्यान देना चाहिए। आखिर तो पूजापद्धति किसी वस्तु को प्राप्त करने का साधन ही है न, और वह साध्य है मानवता। उस मानवता का बलिदान करके जब पूजापद्धति का संरक्षण दुराग्रह की सीमा तक पहुँच जाता है तब धार्मिक संघर्ष होते हैं। अतः धार्मिक समन्वय के लिए इस दुराग्रह का परित्याग आवश्यक है। पूजा-पद्धतियों के बाहरी विधि-विधानों की रक्षा के लिए मानवीय गुणों का बलिदान तो उस पूजा-पद्धति की आत्मा का ही हनन है। फिर ऐसी पूजा-पद्धति का निर्वाह तो धर्म ही नहीं रह जाता है। सब धर्मावलम्बी अपने अपने स्थान पर ठीक हैं। वे अगर मेरी तरह की पूजा-पद्धति में विश्वास नहीं रखते हैं तो अधर्मी हैं, इस अहंकार और अन्धविश्वास का समूल नाश करने पर ही सर्व-धर्म-समन्वय सम्भव है अन्यथा नहीं। यह सद्भावना और सद् बुद्धि ही समन्वय है।

सनातनधर्ममहत्त्वम्

(श्री श्यामलाल शर्मा आयुर्वेदाचार्य, भोजाका, अलीगढ़)

यं विश्वसृट् सकलविश्वहिताय कल्प—
स्यादावनल्पकरुणोऽस्मरदादिदेवः ।
तं नौमि साञ्जलि शुभाशुभकर्ममर्म—
प्रोद्बोधकम् शुभसनातनधर्ममादौ ॥१॥

अद्यापि यस्य सकलं हि जलध्यगाधं—
सिद्धान्तजातमचलाचलमस्ति सम्यक् ।
शंकेतनं सपदि मानवचेतनादं—
तं शर्मसंयुत सनातनधर्ममीडे ॥२॥

तस्यक्वभीतिरिहभौतिकदैहिकात्मी—
योत्तापहेतिततिभित्तिकृता जगत्याम् ।
येनाजशिल्पिपरिकल्पितदिव्यधामा—
भेद्यं न्वधार्य्यधिसनातनधर्मवर्म ॥३॥

संशोषयन् विपथपल्वलपङ्कजालं—
संपोषयन् सुपथमानसपङ्कजालीः ।
मुष्णन् प्रदोषगतमः पटलं स्वभासा—
सन्तोषयुक् खलु सनातनधर्मपूषा ॥४॥

सद्विद्यामहितः प्रपञ्चरहितः सर्वत्रिलोकीहितः
विज्ञानोपचितः सुधीपरिचितः सांख्यैः समभ्यर्चितः ।
श्रेयः संवलितः सुबोधललितः स्वस्थैर्यसंपालितः –
धर्मोऽयं परितः स्फुरत्युपरितः प्रत्लोऽजनिर्धारितः ॥५॥

वैदिकधर्मो ह्यादिधर्मः

(डा० वासुदेवकृष्ण चतुर्वेदी डी० लिट् मथुरा)

जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करद्वीपमण्डितेऽस्मिन् भूमण्डले मानवशरीररचना समैव, यदिमानवरचना विधात्रा समोपकरणैः कृता तर्हि तदाचरणायैकधर्मरचनाप्यावश्यकीति निश्चितम्।

सम्प्रति समुपलभ्यमानेषु बाह्यबृहद्धर्मेषु चतुर्णामेव नामानि सुप्रसिद्धानि विद्यन्ते तद्यथा—पारसी, बौद्ध, यहूदी, ईसाई, इत्याख्यानि मोहमदीमतंतु प्रसिद्धेषुमतेषु नातिप्राचीनतामावहति।

महाभारतकालपर्यन्तं संसारे धर्मैक्यवृत्तं समुपलभ्यते एकैव भाषा आसीत् विचारैक्यमपि, एक एव परमात्मा सर्वेषां वन्द्य आसीत् संसारस्यप्रथमधर्मग्रन्थेषु वेद-एव सर्वमान्य आसीत्। श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीकथनमपि प्रामाणिकमिति सुनिश्चितम्—तथाहि—

सृष्टि से लेकर महाभारतकालतक अर्थात् आज से ५००० वर्ष पूर्व तक सारे संसार में आर्यों का सार्वभौम चक्रवर्तीराज्य था अन्य देशों में छोटे-छोटे माण्डलिक राजा रहते थे।

धर्मपरिवर्तनपरम्परा तु वर्तमानसमयात् (३०००) त्रिसहस्रवर्षप्राक्कालिकीति, तत् समयं वैदिकधर्म एवासीत्। विश्वविश्रुत फिलिण्टस महोदयेनोद्घोषितम् यत् वेदेषु ईश्वरीयज्ञानसम्बन्धे यत्किञ्चित् कथितं तदधिकं नान्यत्रेति निश्चितम्, श्रीमैक्समूलर महोदयेनापि लिखितम् यत् ऋग्वेद एव संसारस्य पुस्तकालयेषु प्राचीनतमो ग्रन्थः।

श्रीमार्तुलिंग महोदयेन स्वकीये ग्रेटसीक्रेटनामके ग्रन्थे स्वीकृतं यत् हिन्दूग्रन्था एव प्राचीनतमाः सर ब्राउन महोदयेन स्वकीये "दीसुपीरियरिटी आप वैदिक रिलिजन" ग्रन्थे लिखितम् यत्-वैदिकधर्मः पूर्ण वैज्ञानिकः यत्र धर्मज्ञाने परस्परकरग्रहणपूर्वकं चलतः धार्मिकसिद्धान्ता अपि विज्ञान-दर्शनयोरुपरि अवलम्बिताः सन्ति।

सर जैकोलियट इत्याख्येन विदुषा स्वकीये दी बाइबिल इन इण्डियाग्रन्थे उपयुक्तो विचारः स्वीकृतः। ग्रन्थेऽस्मिन् महानुभावेन सुस्पष्टमेवोद्घोषितम् यत् वर्तमाने समये विद्यमानेषु ईश्वरीयज्ञान-परकग्रन्थेषु केवलं हिन्दूनां धर्मग्रन्थो वेद एवाधुनिकविज्ञानसम्मत।

मर्यादापुरुषोत्तमस्य भगवतः श्रीरामचन्द्रस्य चरितं बाल्मीकिरामायणे आदिकविना यादृशमुपकल्पितम् तादृशमेव यूनानस्य प्रसिद्धकविपुङ्गवेन होमर इति प्रसिद्धिमुपगतेन स्वकीये ईलियड ग्रन्थे निर्धारितम्। ग्रन्थेऽस्मिन् मुख्यौ द्वौ भ्रातरावास्ताम् ग्रन्थस्य नायकेन मैनेलिसेन हेलनानाम्नी स्त्री स्वयम्वरे तथैव अधिगता यथा रामभद्रेण सीता।

अरगलाख्येन तत्पित्रा पुत्रयोर्निष्कासनं तथैव विहितम् यथा राज्ञा दशरथेन रामलक्ष्मणयोः। सागरपरतटे ट्रायनामकं राज्यमासीत् तत्रत्यः पैरिसो नृपः हेलनां तथैवापहृतवान् यथा सीतां लङ्काधि-पती रावणः। मैनेलिसाख्येन ग्रीकराजकुमारसाहाय्यं तथैवाङ्गीकृतमासीत् यथा श्रीरामभद्रेण सुग्रीवस्य।

यूनानी सेनायामपि सैनिकाः अगणिता आसन् वानरसैन्यवत्। ट्रायसेनापतेर्बाणाः धनुर्मुक्ता

अपि प्रत्यावर्तनविधिपूर्णा आसन् यथा मेघनादस्य। हनूमद्गर्जनवत् एकलखंगर्जनम् पाषाएावृक्षादि-प्रहरणं, नभसि देवसमुपस्थितिश्च समानेविभीषणवत् ऐण्टेवरचरितं तद्राज्यप्राप्तिवर्णनञ्च समरूपतामावहन्ति।

यथा विदेशिभिः श्रीरामभद्रवृत्तद्वारा प्रेरणाधिगता तथैव श्रीकृष्णचरितेनापि। यथा—महाभारतान्ते श्रीबलरामः स्वमित्रैः सह काकेशसपर्वतमलञ्चकार। यात्रा प्रसङ्गे सः हेलूपोटमार्गेण हेलोनिया ग्रीकदेशं जगाम।

तत्र बलदेवः स्वचमत्कारैस्तत्रत्यान् आश्चर्यपारावारे निमज्जयामास। कृष्णस्य नाम हरिरपि प्रसिध्दमासीत्। बलरामो हरिकुलस्यैव व्यक्तिविशेषः।

तत्रत्यैः हरिकुलापेक्षया हरक्युलस इत्युद्घोषितम्। कोऽयं हरक्युलसः! अस्मिन् प्रश्ने पाश्चात्त्यैतिहासिकाः मौनाः। सर्वथा भारतीय एवायमासीत् तथा व्यासदेवोऽपि बलरामेण सह यात्रायां गत इतिकर्नलटाड महोदयस्य मतम्।

मेसोपोटामिया स्थले ईसातः चतुर्दश शत् १४०० वर्ष प्राक्कालिके सन्धिहस्ताक्षरे शिलालेखे देवसाक्षिरूपे भारतीयानाम् इन्द्रमित्रनासत्यवरुणादिदेवानामुल्लेखः कृतः यथा—

"ईलानी मित्रया असनिल ईलानी अरुण असनिल इल अनार न सातियावरूण"।

प्रो० जैकोबी लिखति यत् कैसोलियन्जजनाः सूर्योपासका आसन् ईशापूर्व १७६० षट्युत्तर-सप्तदशवर्षे एभिः बेबीलोनिया स्थानं स्वायत्तीकृतमासीत्।

श्रीजतीन्द्रमोहनचटर्जीमहोदयेन आनन्दसागरमुम्बेईतः प्रकाशिते 'दिइथिकल कन्सेप्शन' ग्रन्थे लिखितम् यत् महाभारतकाले आर्यावर्त, आर्यान (ईरान) देशयोः धर्मःसभ्यता च समरूपेणैव विद्यमान आस्ताम्।

धृतराष्ट्रस्य पत्नी गान्धारी कन्धारप्रदेशस्य आसीत् पाण्डुपत्नी माद्री मीडियादेशस्य राजकुमारी चासीत्।

महाभारतकारएोनैव पलायिताः कौरवाः—कुरेशनाम्ना तत्र प्रसिद्धिमुपगताः।

लबीविन अख्तन विन तुरफा-अरबवास्तव्येन हजरतमुहमदतःत्रिशत्वर्षोत्तरद्विसहस्र २३०० वर्षेभ्यः प्रागेव भारतभुवंप्रतिधन्यमिति प्रोक्तम्।

अया मुवारेकल अज युशैय नोहामिनल हिन्दे।
व अशद कल्लाह म अयोन जलेल जिक्र तुन॥

पारसी धर्मोऽपि वैदिकधर्मेण सह सम्बद्धः— महाभारतान्ते पश्चिमदिग्गतैः भारतीयैः परशुरामनाम्ना पारश्यदेशः पर्सिया फारसो वा संस्थापितः। परशुरामोऽथर्वपरम्परया अनुयायी आसीत्। पारश्यदेशीयं "जिन्दावेस्ता" नामकं ग्रन्थं अथर्ववेदरूपमेव मन्यन्ते विपश्चिदपश्चिमाः।

पठनीयमत्र "चिप्स फ्राम ए जर्मन वर्कशाप" ३५ पृष्ठे यत् पारसिकानां मूल निवास स्थलम् भारतवर्षमेव।

सरविलियममहोदयेन लिखितं यत् जिन्दभाषा संस्कृतभाषाया रूपान्तरम्।

डारमेस्टेटरमहानुभावस्याप्यत्र संमतं मतम्—पितर—मातर—भ्रातर—दुहितर—पशु—गो—उक्षन्—

पक्षी–यव–वैद्य–वायु–इषु–रथ–गान्धर्व–गाथा–इष्टि–अथर्वन–प्रभृतयः शब्दा ह्कारस्थाने ण शब्द-रूपेण परिवर्तिताः सन्ति ।

यथा आहूति (आगूति) वांहु (वाजु) अहिआज हिम णिम परमुक्तेषु शब्देषु तात्पर्यभेद—

वैदिकदेवा अपि तत्र विद्यन्ते । परन्तु अस्माकं वरुणः, वरेण वृत्रहन् वृथहन् वायुः वायुः इति पदैरभिधीयन्ते

जन्दशब्दः छन्दस एव रूपान्तरम्, वैदिक त्रिष्टुप् छन्दः इव स्पन्तामन्युछन्दसि चत्वार श्चरणाः एकादशाक्षरक्रमेणैव भवन्ति ।

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री यसननामकपद्ये, अनुष्टुप्छन्दस्तु फरमर्दछन्दसि समुपलभ्यते । पारसीधर्मे पुरोहितरथेस्तो वारिव्रयोफश्याहुस्वो वर्णाः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वर्ण इवेति निश्चितम् ।

सप्तमवर्षे यज्ञोपवीतरूपान्तरं कुश्तो संस्कारो भवति, त्रयस्त्रिंशत् देवगणा अपि वैदिकदेववत् वन्द्याः सन्ति ।

नामे जरदुश्तग्रन्थे व्यासस्य फारसयात्रावर्णनं मिलति । वलख स्थाने व्यासस्य विश्तास्पनृपेण सह वार्ता जाता ।

डा० एस० ए० खापडियामतेन विश्तास्पनृपस्य स्थितिः ईसातः पञ्चशतोत्तरत्रिसहस्र ३५०० प्राक्कालिकीति ।

एते गोपूजकाः गोमूत्रं "वरशनोम" नामकसंस्कारे पानकर्त्तारः पुनर्जन्मनि विश्वस्ता सन्ति ।

प्रसिद्धफारसीविदुषः खुरशेद महोदयस्य अयम् अभिप्रायो यत् वैदिकधर्मजरदुश्तीधर्मयो-रभेदत्वमेव ।

यहूदीमतम्—

मिश्रदेशीया मनोर्वंशजा इति स्वयमेव मन्यन्तेस्म ते सूर्योपासका आसन् ।

ओल्डटैस्टामैण्ट ग्रन्थस्य संग्रह ईसातः– पञ्चाशदुत्तरचतुःशत ४५० ई पू० वर्षतः प्रागेव नेहमियां महोदयेन कृतः ।

ग्रन्थेऽस्मिन् इब्राहम-मूसा महोदयौ–पैगम्बर नामकौ स्वीकृतौ । पशुघातम् ईश्वरस्य आदेशमिति कृत्वा यहूदीमतम् स्थापितम् । पंजतामे इत्याख्ये ग्रन्थे वैदिकगाथाः सुरक्षिताः सन्ति । संस्कृते यह्व शब्दः महत्तावाचकः यहूदीमते यहोवः ईश्वरस्य सुप्रसिद्धनामेति । यहोवा सेवका एव यहूदी नाम्ना प्रसिद्धाः पञ्चनामा हिब्रू भाषायाम् विलिखितो विद्यते । वैदिकभाषा ब्रह्मभाषारूपे प्रसिद्धा । ब्रू हि शब्दः वदने आयाति इत्यस्यैव विपर्ययः हिब्रू इति यथा पश्यकः कश्यपः हिंस्रः सिंहः ।

अतो यहूदीमते सम्बन्धः जरदुश्ती–माध्यमेन सात्त्विक विचारेषु वैदिकधर्मेण प्रभावितः एव ।

बौद्धमतम्—

महाभारतानन्तरं महाविनाशकारणेन विद्वज्जनानाम् अभावो जातः भारतीयैः वैदिकधर्मो विस्मृतः तस्मिन् समये महात्मनाबुद्धेन अहिंसायाः प्रचारः कृतः । वैदिकधर्मं प्रख्यातोऽहिंसासत्या-स्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादिकानां सन्देशः प्रसारितः चीनजापानकम्बोडियादिप्रदेशेषु बौद्धधर्मविस्तारो जातः । नायं बुद्धधर्मः – नवीनो धर्मोऽपितु वैदिक सिद्धान्तानां प्रचार मात्रमेव ।

ईसाईमतम्—

अत्र प्रथमपक्षीयाः विद्वांसः कथयन्ति यत् बौद्धधर्म एव ईसाईमतस्य रूपान्तरम्, अन्ये तु जरदुश्तीमतप्रभावव्याप्तोऽयम् धर्मस्तत्समये रोमादिप्रदेशेषु तस्य व्याप्तत्वात्।

जर्मननिवासिनः शोपेनहावर विदुषोऽयम् अभिप्रायः। तत्र तेन लिखितं यत् ईसाईधर्ममूलं भारतीयविज्ञानमेव।

वनसेन, सीडिल लिलीप्रभृतयः पाश्चात्त्याः विद्वांसस्तु धर्ममम्मु बौद्धमूलकम् आहुः।

रोमनकैथोलिकपादरीमहाशयानुसारेण कतिपयाः अंशा बौद्धईशाईधर्मावलम्बिलामापोपयोः समा एवं तद्यथा दण्ड उष्णीषः अङ्गरक्षकम् उपवस्त्रम्, पञ्चसु शृङ्खलासु अवलम्बिताः दीपकाः, मस्तकस्य उपरि हस्तस्पर्शेनाशीःप्रदानं सत्सेवा मन्त्रजपादयः।

उक्तधर्मयोः अपराधस्वीकरणम् शिरोमुण्डनम् प्रतीकपूजनं पूजास्थानेषु प्रतिमानामुपयोगोऽपि सममेव।

वपतिस्मा उत्सवे मृताय पिण्डदानप्रक्रियायामाश्चर्यकारिणी समानता दृश्यते।

एवं सिद्धं यत् ईसाईधर्मः स्वसिद्धान्तेषु विचारेषु विधिविधानेषु बौद्धधर्मस्यैव समः।

एवं पाश्चात्त्यविदुषामेव विचारा अत्र प्रस्तुताः। येभ्यः स्पष्टमेव ज्ञायते यत् जरदुश्तीमतम् वैदिकधर्मादिव निस्सृतम्। जरदुश्तीमतेनैव यहूदीमतारम्भस्तथा बौद्धधर्मस्य नैतिकसिद्धान्तेभ्यः यहूदीनां ओल्डटैस्टामैण्टस्य आधारेण ईसाईधर्मभवननिर्माणम् अभवत्।

सर्वे धर्माः वैदिकधर्मस्य सात्त्विकांशस्यप्रसारकाः येषु मतान्तरं ते विचारास्तेषां स्वकीयाः।

पञ्जनामे नामकग्रन्थे अब्राहमस्य परिचयः पठनीयः। अस्य जीववृत्तं रामवृत्तवत्प्रतीयते। अयमेव कुरानग्रन्थे इब्राहिमशब्देन ज्ञायते। एवं जरदुश्तभोजे समूसा द्वयोः जीवनं यत् कुरानग्रन्थे समुपलभ्यते कृष्णजीवनचित्रं प्रस्तूयते।

अब्राहम इत्याख्यस्य जीवनं बाइबिलग्रन्थस्य ११-१२-१८ अध्यायेषु मिलति।

अबराम या अब्राहमः पितुः सप्ततिवर्षस्य (७०) वयसि उत्पन्नः पितुराज्ञया वनं गतः। अब्राहमस्य पत्नीं सरायनाम्नीं मिश्रदेशस्य नृपतिः फेरोहः ज़हार।

त्रयोदशवर्षानन्तरं राजसहयोगेनाक्रमणं विधाय अब्राहमः विजयश्रियमवाप्तवान्।

चतुर्दशवर्षानन्तरमेवेश्वरेण अब्राहमनामकाय समस्तप्रदेशानाम् आधिपत्याय वरप्रदानं कृतम्।

अब्राहमपितुः जन्म आर्याविजानआर्यावर्तस्थाने अभवत्।

ज्ञायते यत् होमरकविकृतेलियडकाव्यस्य आधारेणैव कथेयं गृहीता।

इलियडग्रन्थाधारो बाल्मीकिरामायणमेव।

Even at the time when the Koran was being composed the scriptures attributed to Abraham were not ascertained.

(Koran, Suraz Verse 58)

Serious doubts were entertained about the nature of the doctrines of Abraham.

(Koran. Suraz, Verse 89)

मोहमदमहानुभावेनाङ्गीकृतं यत् अब्राहममहोदयः यहूदी ईसाई, वा नासीत्।

"Mohammad was forced to admit that the Abraham whom he speaks was neither a jew nor Christian but one sound in faith, who did not add gods to god."

(Koran, Suraz, Verse 60)

अरबदेशसमृद्धिस्तु भारतीयानामेव प्रयासेन, संस्कृते अर्वन् शब्दः घोटकवाचकः । तत्रत्या घोटकाः प्रसिद्धा एव । नमाज शब्दः मनस् धातुमूलकः इस्लामशब्दस्तु सलल शब्दमूलक एव ।

हजरतमुहमदसमकालिकेन कविउमरविनमहोदयेन स्वकाव्ये भारतमहत्त्वमुपवर्णितम् काव्यांशे भगवतो महादेवस्य उल्लेखोऽपि विद्यते ।

न अहलोलहा अजहू अरमीनन महादेव ओ ।
भना जेल इल मुदीने मिनहम व समतरू ॥

काव्यांशः देहलीस्थविरलामन्दिरयज्ञमण्डपभित्तौ उट्टङ्कितो विद्यते ! अरवदेशभारतीयाः धर्म-प्रचारकाः गतास्तत्र विक्रमशासनकीर्तिसमुपलब्धिकारणेन विज्ञायते तथा वैदिक ॐ शब्देनैव अलिफ लाम् मीम् शब्दोत्पत्तिः । एभिरेव पदैः कुरान ग्रन्थस्यारम्भः वेदगीतयोः समानार्थवाचकाः वहवः शब्दास्तत्र समुपलभ्यन्ते यथा वेदे—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । अथर्व (३-३०-३)
कुरान ग्रन्थे- व विल वालिदैन (वकु० ८३)
वेदे—अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत (अथर्व—३-३०-५)
वकर—कूलुन्नास हसनन (वकर ८३)
वेदे—अक्षैर्मादीव्य (ऋ० १७-३५-१३)
कुराने—यस् अलूनक अनिल रवम्रि वल् मैसिरि ।
वेदे—एकं सद्विप्रा वहुधा वदन्ति ।
वनी इसराईल १०-फल हुल् अस्माउल् हसना ।
वेदे—विश्वदेवो महा असि (अथर्व २७-६२-६)
व० इस० १११ व क व्वर हुतक वीरम्
वेदे—अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि (ऋ १-२४-१०।
रुम ग्रन्थे—अलैहालातब्दील
वेदे—महादेवस्य सवितुः परिष्टुतिः (ऋ० ५-८१-१)
कुराने—अल् हम दु लिल्लाहे रव्विल्ल आलमीन

वेदार्थ एव कुराने सर्वत्र दरीदृश्यते अत इदम् कथनं उचितमेव यत् वैदिकधर्म एव—सर्वधर्माणां मूलमिति ।

वैदिकधर्म की विशेषता

(डॉ० हरिदत्त पालीवाल "निर्भय" पी-एच. डी., कायमगंज)

आर्यत्व या आर्यधर्म की कोई निश्चित व्याख्या करना तथा उसके आधुनिक दृष्टिकोण और दर्शन को सरल पर सारगर्भित शब्दों में प्रस्तुत करना कठिन है। इसके कारण की खोज करने के लिए हमें दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई आर्य धर्मग्रन्थ नहीं है कि जिसके बारे में यह कहा जा सके कि वह आर्यधर्म के आदर्श पर चरमोक्ति करता है, अथवा आर्यधार्मिक-भावों को पूर्णतया अपने अन्दर समेटे हुए है। ऐसा कोई भी ईशदूत, अवतार अथवा दैवी मानव आज तक नहीं हुआ, जिसके बारे में यह कहा जा सके कि वह दैवी ज्ञान का एकमात्र व्याख्याता और ईश तथा मनुज के बोच एकमात्र सेतु है। जो आर्यधर्म पर अधिकारपूर्वक अपने विचार व्यक्त करना चाहता है, उसे सर्वप्रथम आर्यधार्मिक साहित्य के सागर का मन्थन करना होगा तथा सामान्य आर्यजीवन में अप्रत्यक्ष रूप से जो भाव ओतप्रोत हैं उन भावों को ग्रहण करने के लिए उस जीवन के निकटतम सम्पर्क में आना होगा।

तथापि जिसका जन्म और लालन-पालन एक न्यूनाधिक धार्मिक वृत्ति वाले परिवार में हुआ है, परिणामस्वरूप जिसने आर्यधर्म के भावों को थोड़ा बहुत जाना और समझा है तथा जो तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में भी प्रवेश पा चुका है, उसके लिए यह संभव है कि वह स्थूल रूप से आर्यधार्मिक वृत्ति को तथा आर्यधर्म के आधार की अभिव्यक्त कर सके। तो भी उसका यह प्रयत्न किन्हीं मर्यादाओं से अवश्य बँधा हुआ रहेगा। साथ ही उसे इस बात को भी स्वीकार करने के लिए तैयार होना होगा कि उसके द्वारा व्यक्त किये गये विचारों में आर्यधर्म-साहित्य के रथी और धर्मतत्त्व के विशेषज्ञों द्वारा संशोधन भी किये जा सकते हैं। मतलब यह कि वह अपने विचारों को अन्तिम मानकर यह आग्रह न करे कि उसके विचारों को सभी लोग स्वीकार करें। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस लेख का लेखक अपनी मर्यादाओं को स्वीकार करता है और अपने लेख में संशोधन की संभावनाओं को भी स्वीकार करता हुआ खुले दिल से संशोधन के लिए अपने निबन्ध को प्रस्तुत करता है। विद्वान् लोग अपने सुझाव देने की कृपा करें।

कुछ लोगों ने आर्यधर्म को नास्तिकता से पूर्ण भोगवादी बताया, तो किसी ने उसके मूर्तिपूजा के पक्ष को लेकर उसकी आलोचना की, तो कुछ ने उस धर्म पर तथाकथित निराशावाद, भाग्यवाद तथा अकर्मण्यतावाद का आरोप लगाकर उस धर्म के विरुद्ध अपनी धारणाओं को प्रकट किया तथा आर्यधर्म के प्रति अवमानपूर्ण विचार भी व्यक्त किये। पर आर्यधर्म पर उपरोक्त सभी आलोचनायें जहाँ तहाँ से प्राप्त तथा असन्तोषजनक रीति से विश्लेषित तथ्यों पर ही आश्रित होती हैं। ऐसे समय आलोचक यह भी भूल जाते हैं कि प्राणमय जीवनदर्शन किसी एक विशिष्ट जाति, युग या देश की सम्पत्ति नहीं होता, बल्कि ऐसा जीवनदर्शन सर्वत्र और सब समय जन्म लेता रहता है। कोई व्यवस्था हर दृष्टि से पूर्ण तथा व्यापक नहीं हो सकती। हर व्यवस्था में अपवादों की संभावना अवश्य रहती है। पर साथ ही यह भी सत्य है कि किसी संस्था या धर्म में कितने भी दोष हों, तो भी उसमें ऐसे

अनेक मूल्यवान तत्त्व अवश्य रहते हैं कि जिनके कारण उस संस्था या धर्म की कीमत पहचानी जा सकती है। केवल थोड़े से दोष के कारण किसी संस्था या धर्म की सर्वतोमुखी निन्दा अनुचित और आलोचक के संकुचित मनोवृत्ति का द्योतक है। आर्यधर्म के पक्ष में यह बात तो नितान्त सत्य है कि यह धर्म अत्यन्त उदार है, यह मानवता की विशालता तथा सत्य की अनेकपक्षीयता में विश्वास करता है। (सत्य का एक ही पक्ष मानना सत्य को संकुचित बनाना है, जब कि सच्चाई यह है कि सत्य हमेशा बृहत् ही होता है) आर्यधर्म कभी भी कतिपय जड़-सिद्धान्तों की सीमाओं में कुंठित नहीं होता, अपितु सदा नूतन व्यवस्थाओं, नये संयोजनों एवं मौलिक जीवनदर्शनों का स्वागत करने के लिए सदा तत्पर रहता है। इसी कारण इस आर्यधर्म को सनातन धर्म भी कहा जाता है अर्थात् यह वह धर्म है जो सदा से है और सदा रहेगा। इसका सनातनत्व ही वह तत्त्व है कि जो आर्यधर्म की उस शक्ति की व्याख्या करता है जिस शक्ति के कारण यह धर्म इतर धर्मों को आत्मसात् करके आत्मरक्षा भी करता है। प्रश्न यह है कि यदि आर्यधर्म इतना शक्तिशाली है, तो उसके अनुयायियों की आज यह अवनति क्यों? उत्तर है---आर्यधर्म के अनुयायियों की अपने एक ध्येय को छोड़कर चतुर्मुखी प्रवृत्ति ही उनकी अवनति का कारण है। एक मनुष्य कुछ मील पूर्व दिशा में चले, कुछ मील दक्षिण दिशा में चले, कुछ मील पश्चिम में चले और कुछ मील उत्तर में चले तो वह अपनी मंजिल पर तो पहुंच ही नहीं सकता, साथ ही उसकी गति में मन्दता आ जायगी। इसी तरह आर्यधर्म में भी चतुर्मुखी प्रवृत्ति होने के कारण उसकी गति में मन्दता आगई, लिहाजा आर्यधर्म को लोग निराशावादी, भाग्यवादी, अकर्मण्यतावादी आदि न जाने क्या क्या समझ बैठे।

यहां तक जो कुछ लिखा गया, उससे आर्यधर्म भाव या धर्मवृत्ति की दो विशेषतायें तो स्पष्ट हो जाती हैं—(१) आर्यधर्म में उदारता का भाव तथा कट्टरता का अभाव, (२) परिवर्तन के प्रति आस्थावान् होते हुए भी किसी नवीन सिद्धान्त को सहसा अपनाने में अरुचि।

आर्यधर्म की एक और भी विशेषता है। यह विशेषता है–उसकी अटपटी वाणी, परमेश को अनेक परस्पर-विरोधी गुणों से मंडित करने का प्रयत्न तथा उसकी यह मान्यता कि एक जीवनदृष्टि तथा जीवनमार्ग भी उतना ही सत्य हो सकता है जितने कि दूसरे। आर्यधर्म की इस विशेषता ने अनेक विदेशी पर्यवेक्षकों को चक्कर में डाल दिया और वे आर्यधर्म की सत्य निष्ठा के प्रति शंकालु बन गये। अन्तिम विशेषता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यधर्म दूसरे धर्मों से विरोध नहीं करता, क्योंकि यह धर्म दूसरे धर्मों में निर्दिष्ट मार्गों में भी सत्य का दर्शन करता है। आर्यधर्म अन्य धर्मों के समान दुराग्रही तथा कट्टरपंथी नहीं है। आर्यधर्म का प्रमुख स्वर यही प्रतीत होता है कि प्रत्येक जन अपनी क्षमता, रुचि और विकासस्तर के अनुसार जीवन-क्रम को स्वीकार करे और उनके अनुसार आचरण करे। आर्यधर्म स्पष्टतया इस बात को स्वीकार करता है कि बहुरंगी मानवस्वभाव एक ही साँचे में नहीं ढाला जा सकता, इसलिए मुक्तिमार्ग एक न होकर अनेक हैं।

इस प्रकार वैदिकधर्म में सहिष्णुता है, उदारता है, विशालता है और इतर धर्मानुयायियों के प्रति सहानुभूति है। इसलिए वैदिक धर्म को सब धर्मों का समन्वय अथवा एक सार्वभौम धर्म कहा जा सकता है। वैदिकधर्म अपने उद्भव के लिए किसी अवतार, पैगम्बर या नवी का ऋणी नहीं है, न वह किसी एक धर्मग्रन्थ पर टिका हुआ है, वह धर्म तो वस्तुतः एक चयनमूलक समष्टि है। वैदिकधर्म उन सब विभिन्न मतों और मार्गों की एक संग्रहात्मक संज्ञा है, जिन्होंने समय समय पर भारत

को उद्वेलित किया, भले ही यह उद्वेलन या जागरण संगठित देशव्यापी आन्दोलनों के रूप में हुआ हो, या जहां तहां छिटपुट रूप में। इन समस्त भिन्नतामूलक तत्त्वों से वैदिक धर्म का कलेवर बना है। उक्त समस्त तत्त्वों को "वैदिकधर्म" इस अभिधान ने एकसंघीय एकता में गुंफित कर दिया है और उन्हें एक समजातीयता की भावना प्रदान की हैं। इसके अतिरिक्त वैदिकधर्मान्तर्गत विभिन्न मतों और सम्प्रदायों पर विशिष्ट एकता में कुछ अन्य भी सामान्यसूत्र हैं जो कि इन मतों और सम्प्रदायों की छाप लगाते हैं और उन्हें एक ही समष्टि के विभिन्न अंगों के रूप में दर्शाते हैं। वैदिकधर्म इस प्रकार एक समष्टिगत धर्म होते हुए भी इसकी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

यहाँ हमें एक भय के प्रति सचेत रहना है। वह यह है–हम देख चुके हैं कि वैदिकधर्म विभिन्न मतों की समष्टि होने के कारण इसमें भिन्न और बहुरंगी तत्त्वों में कुछ तत्त्व उच्चश्रेणीय हैं और कुछ निम्नश्रेणीय, अतः यहाँ हमें इस भय के प्रति सचेत रहना है कि वैदिकधर्म की व्याख्या इन निम्नश्रेणीय तत्त्वों के आधार पर न की जाये। (कई बार ऐसी व्याख्या करने का प्रयास किया गया, और वैदिकधर्म का स्वरूप ही विकृत हो गया।) वैदिकधर्म में निहित उच्च तत्त्वों की कभी भी अवहेलना न की जाय। वैदिकधर्म में निहित निम्नश्रेणीय तत्त्वों के आधार पर उसकी व्याख्या करना उसकी एकांगी व्याख्या ही होगी। ऐसी व्याख्या मानवीय दुर्बलता का एक दृष्टान्त है। इसी दुर्बलता से प्रेरित होकर मनुष्य असावधानीपूर्वक सामान्य नियम स्थापित करता है और अपर्याप्त आधार पर उतावलेपन से अपने मत निर्मित करता है। समय समय पर कई आन्दोलनों ने जन्म लिया, जैसे ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज। इन्होंने वैदिकधर्म में से उन आक्षेपणीय तत्त्वों को दूर करके हिन्दू समाज की धार्मिक चेतना को परिष्कृत करने का प्रयास किया, परन्तु किसी न किसी कारणवश ये आन्दोलन हिन्दू जाति को समग्र रूप से जगाने में असफल रहे। इसी कारण आज भी हिन्दू धर्म में परिष्कार करके उसे जागृत करने की आवश्यकता बनी ही हुई है।

वैदिकधर्म का ईश्वर के स्वरूप के प्रति दृष्टिकोण अपना निराला है। वह मनुष्य को सृष्टि के प्रति एक अनोखा भाव रखने के लिए उपदेश देता है तथा मानव-व्यवहार का एक अनूठा सिद्धान्त प्रस्तुत करता है। ईश्वर के स्वरूप के प्रति वैदिकधर्म का सामान्य दृष्टिकोण यह है कि वह ईश्वर को परम-पुरुष मानता है, जिसने उद्देश्यपूर्वक जगत् की सृष्टि की है और जो जगत् का पोषक और शासक है। ईश्वर को सर्वगत, निराकार और निस्पृह ब्रह्म माना गया है। ईश्वर के स्वरूप तथा ईश्वर और जगत् के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में वैदिकधर्म में अनेक दृष्टिकोण मिलते हैं, ये ऊपर से भिन्न-भिन्न दिखाई देने पर भी इनका आन्तरिक भाव एक ही है।

इस ईश्वरवादी विश्वास ने कि परमेश एक चैतन्ययुक्त पुरुषोत्तम के रूप में समस्त प्रकृति में व्याप्त है, आर्यों में एक सर्वगत श्रद्धा भाव का निर्माण किया हैं। यह भी संभव है कि इसी विश्वास ने अहिंसा के सिद्धान्त के विकास में योग दिया हो और वैदिक धर्म को इतनी व्यापकता प्रदान की हो कि उसने सभी पशु और प्रस्तरादि जड़ पदार्थों में ईश्वर के सर्वव्यापित्व को स्वीकार किया। जैसा कि आज अनेक हिन्दू कहते हैं कि एक मूर्ति अथवा किसी पशु या अन्य प्राकृतिक भूत की पूजा करने में हम वस्तुतः उस परमात्मा की पूजा करते हैं जो कि समस्त प्रकृति में व्याप्त है। पर मूर्तिपूजा अथवा पशुपूजा आदि के पक्ष में कुछ भी कहा जाय, यह तथ्य अकाट्य है कि साधना का आधिक्य एक प्रकार के शैथिल्य को जन्म देता है तथा मन को धर्म के सत्य भाव से वियुक्त करता है।

वैदिक धर्म की ब्रह्मवादी प्रवृत्ति की भी अपनी विशेषता है। इस वाद ने वैदिकधर्म को एक शान्तता प्रदान की है तथा वह समदृष्टि भी दी है, जिसके भीतर ऊंच-नीच, सुख-दुःख आदि समस्त भेद तिरोहित हो जाते हैं। निस्सन्देह संसार में अत्यधिक आसक्ति को नियमित करने के साधन के रूप मे ब्रह्मवाद का एक मूल्य है, क्योंकि यह सिद्धान्त मानव मन को सांसारिक वस्तुओं की निस्सारता के भाव से अवश्य भरेगा, परन्तु जैसा कि अनुभव ने अनेक बार बताया भी है, यह स्पष्ट है कि उक्त सिद्धान्त के प्रति विशिष्ट आग्रह हमारी जीवनोन्मुखी प्रवृत्ति को शिथिल कर देगा तथा हमें अनेक निर्विवाद नैतिक मूल्यों जैसे—प्रेम, त्याग, सेवा आदि के प्रति भी उपेक्षापूर्ण बना देगा।

वैदिकधर्म में स्वभाववाद का प्रभाव उस सुविख्यात कर्मसिद्धान्त में है, जिसके अनुसार मानव–भाग्य का निर्माण एक अर्धयांत्रिक रूप में इस जगत् में उसके द्वारा किये गये कर्मों से भागवत हस्तक्षेप से स्वतन्त्रतापूर्वक होता है। कुछ विद्वानों ने कर्मसिद्धान्त पर ये आक्षेप किये हैं—(१) यह सिद्धान्त पथभ्रष्ट के मोक्ष के लिए कोई द्वार खुला नहीं छोड़ता। (२) यह सिद्धान्त ऐसे पथभ्रष्टों के प्रति लोगों को उदासीन बना देता है। (३) वे लोग सोचते हैं कि ये दुःखीजन तो अपने पूर्वकृत कर्मों के कारण ही दुःख भोग रहे हैं, अतः इसमें कोई क्या कर सकता है? ये दुःख तो इन्हें भोगने ही पड़ेंगे। (४) इस प्रकार सुखीजन दुःखीजनों की सहायता करने के लिए कभी आगे नहीं आयेंगे। इस प्रकार सारा नीतिशास्त्र (Ethics) व्यर्थ हो जायगा।

उनके ये आक्षेप इसी कारण हैं कि उन्होंने कर्मसिद्धान्त की व्याख्या बहुत ही संकुचित तथा सीमित अर्थों में की है। यदि "कर्म" शब्द के अर्थ को विस्तृत किया जाय और कर्म के अन्तर्गत मनुष्य के बाह्य व्यापारों के साथ साथ आन्तरिक भावनाओं, अभिवृत्तियों और संकल्पों को भी शामिल कर लिया जाय, तो कर्मशासन के अधीन मानव-जीवन का चित्र वैसा रूक्ष; कठोर तथा नीरस नहीं दीखेगा। क्योंकि किसी दुष्कर्म को करने के बाद होने वाले पश्चात्ताप तथा उसके बाद से सदा सत्कर्म करने का संकल्प आदि उन शक्तियों को जन्म दे सकते हैं, जो उपरोक्त दुष्कर्म के उदीय-मान कुफलों को बाधित या नष्ट कर देंगी। दूसरी ओर जब सुखीजन भी इस बात की कल्पना करेंगे कि वे भी अपने कर्मों के परिपाकस्वरूप इसी प्रकार कभी दुःख में पड़ सकते हैं और उस अवस्था में उन्हें भी दूसरों की दया तथा सहानुभूति की आवश्यकता होगी, तो वे भी दूसरों के प्रति दया तथा सहानुभूति का भाव दिखायेंगे।

कर्मसिद्धान्त का पूरक पुनर्जन्म सिद्धान्त है। यह अनिवार्य नहीं है कि किसी व्यक्ति के कर्मों के समस्त परिणाम एक ही जीवन की सीमाओं में भोग लिये जायें। सामान्यतः यही होता है कि एक जन्म में किये गये कर्मों में से कुछ के परिणाम दूसरे जन्म में भोगने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। इस प्रकार एक जीवात्मा को अनेकानेक जन्मों की शृंखला में तब तक बँधना होता है, जब तक कि उसके कर्मों का आयव्यय बराबर न हो जाय। कर्मों के आयव्यय के बराबर हो जाने पर जीवात्मा पुनर्जन्म के बंधन से मुक्त हो जाती है और परमात्मा में लीन हो जाती है। पुनर्जन्म सिद्धान्त के गुणावगुण कुछ भी हों, कम से कम यह सिद्धान्त एक सुन्दर ढंग से इस जगत् में दृष्ट भाग्य-भेदों की व्याख्या करता है। इसके अतिरिक्त इसकी सत्यता पर प्रकाश डालने वाले साक्ष्य की भी कमी नहीं है। प्रस्तुत स्थल पर वैदिकधर्म ईसाई तथा मुसलमान धर्म से बहुत भिन्न है, जिनके मत मानवात्मा की मृत्यु-परवर्ती दशा के विषय में नितान्त भिन्न हैं।

कर्मसिद्धान्त से भिन्न और उसकी अपेक्षा अधिक व्यवहारमूलक निष्काम-कर्म-सिद्धान्त है। निष्काम-कर्म-सिद्धान्त गीता की शिक्षा का मूलमंत्र है। संक्षेपतः उक्त सिद्धान्त यह है कि यह देखते हुए कि कर्म ही जीवन की आत्मा है निष्क्रियता अथवा अनिर्णीतता अनुचित है और प्रत्येक व्यक्ति को दृढ़संकल्पपूर्वक कर्म करना चाहिये परन्तु उसके किसी कर्म में कर्म-फल विषयक चिंता नहीं होनी चाहिये। मनोवैज्ञानिक यहां एक प्रश्न उठा सकता है—क्या कर्म करने में किसी व्यक्ति की मानसिक दशा नितान्त रूप से निस्पृहता की हो सकती है और क्या उसके मन में कहीं पर कोई ठोस लक्ष्य नहीं होगा? उत्तर में कहा जा सकता है कि मात्र कर्तव्य-पालन से प्राप्य आनन्द के रूप में ठोस लक्ष्य होगा और प्रस्तुत संदर्भ निस्पृहता का अर्थ केवल कर्तव्य-कर्म में संकुचित स्वार्थ की दृष्टि का अभाव है। कोई यहां यह प्रश्न भी कर सकता है, कर्तव्य क्या है एवं कर्तव्य के विषय में गीता क्या कहती है? वस्तुतः गीता इस प्रश्न को अधिकांशतः अनुत्तरित छोड़ देती है, कारण कर्तव्य का सर्वदा पूर्व-निर्धारण नहीं किया जा सकता और कर्तव्य किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों पर निर्भर होता है, परन्तु एक सर्वोच्च कर्तव्य, कर्तव्यों के कर्तव्य का वह अवश्य निर्देशन करती है और वह कर्तव्य है "अपने समस्त कर्मों में एकान्ततः स्वार्थमय भावनाओं का त्याग।" यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि किसी व्यक्ति को स्वार्थहीन क्यों होना चाहिये एवं स्वार्थशून्यता के आदर्श का तार्किक आधार क्या है? उक्त प्रश्न का यह उत्तर हो सकता है कि स्वार्थशून्यता अपनें में ही शिवम् है तथा अपनी तर्क-संमतता के निमित्त वह अपने से परे किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं करती। यहां यह कहा जा सकता है कि गीता व्यवहार के एक भव्यतम सिद्धान्त की व्याख्या करती है, और यह ठीक ही है जो वह इतने प्रबल आकर्षण को जननी बनी है, केवल भारत में ही नहीं परन्तु अनेक समाजों में अन्यत्र भी।

यद्यपि गीता निष्कामकर्मसिद्धान्त को सर्वगत अपौरुषेय जगदाधार के तान्त्रिक सिद्धान्त पर छोड़ देती है, तथापि उक्त सिद्धान्त की व्याख्या परमेश विषयक उस अन्य सिद्धान्त के आधार पर भी की जा सकती है जिस सिद्धान्त के अनुसार परमेश एक महान् कलाकार या एक महान् खिलाड़ी है जो कि क्रीड़ानिमित्त एवं स्वान्तर्गत आनन्द बाहुल्य अथवा उल्लासमय प्रेम के आधीन जगत् को उत्पन्न करता है। यह देखते हुए कि समस्त मानव कृत्यों व भावों को सत्य तथा फलप्रद होने के निमित्त चरमतत्त्व को ओर निहारता है, यह स्पष्ट है कि इन कृत्यों एवं भावों के अंचल में स्वार्थहीन प्रेम होना चाहिए।

भिन्न और परस्परतः विरोधी दीखने वाले विचारों को मिलाने को, तथा किसी वस्तुतः व्यापक और सर्वतोमुखी दर्शन निर्माण की दिशा में वैदिक-मनोवृत्ति ने जो परिश्रम किया है वह अनेक उन सूत्रों, बीजाक्षरों एवं संक्षिप्त वाक्यों में व्यक्त है जो कि लगभग सभी आर्यों के जिह्वाग्र पर वास करते हैं और तनिक क्षोभ के संयोग से ही वाणी के रूप में निकल उठते हैं। एक ऐसा सूत्र है-धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इसका तात्पर्य है कि जीवनोद्देश्य चतुर्मुख होता है जिसमें परोपकार, अर्थोत्पादन, इन्द्रियजन्यसुख तथा मोक्ष होते हैं। एक अन्य सूत्र है-ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग यानी आत्मलाभ के तीन वैकल्पिक मार्ग होते हैं-ज्ञानप्रधानमार्ग, कर्मप्रधानमार्ग एवं भक्तिप्रधान-मार्ग। एक तीसरा सूत्र जो कि एक सुसंगठित एवं सुनियोजित जीवन के चार आश्रम-स्थलों को निर्दिष्ट करता है जो कि निम्नोक्त है-ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ, सन्यास। इस सूत्र अथवा संक्षिप्त दर्शनोक्ति के अनुसार एक सुनियोजित जीवन के चार क्रमिक भाग हैं जो साधारण शब्दों में इस प्रकार बतलाये जा सकते हैं-इहलौकिक जीवन की तैयारी, इहलौकिक जीवन, पारलौकिक जीवन

की तैयारी, पारलौकिक जीवन।

वैदिकधर्म पर्वों, उत्सवों और तज्जनित उल्लासानुभूतियों की परम्परा से विभूषित है। वैदिक धर्म के उत्सव और समारोह अधिकांशतः प्रकृति की विभिन्न भावभंगिमाओं के चतुर्दिक् घूमते हैं और एक आर्य के प्रकृति–प्रेम तथा प्रकृति-जीवन और मानव-जीवन की सहचारिता के उसके भाव को प्रकट करते हैं। यह वैदिकधर्म का प्रकृतिप्रधान पक्ष है और वैदिकधर्म की मान्यताओं उनकी ओर संकेत करता है जिनमें से एक यह है कि मानवात्मा तथा प्रकृति दोनों में एक ही परमजीवन है और इस प्रकार दोनों वस्तुतः अभिन्न हैं; तथा एक दूसरी वह है जिसके अनुसार परमेश एक विनोदप्रिय प्रेमी तथा सृष्टिकर्ता है। वैदिकधर्म का यह प्रकृति-प्रधान पक्ष कतिपय सीमाओं के अन्दर एक स्वस्थ ओर सामान्य वस्तु है, परन्तु यह स्पष्ट है कि इसकी प्रबलता लोगों को जीवन के गंभीर रूप के प्रति उपेक्षापूर्ण बना सकती है तथा उनमें एक उथलेपन के भाव को जन्म दे सकती है। आर्यों की प्रकृति के प्रति उक्त रागात्मक वृत्ति और प्रकृति के भिन्न विलासों में उसके साथ उन्मुक्त साहचर्य्य, प्राचीन यूनानी प्रकृति-पूजा की ओर संकेत करते हैं और तुलना तथा पारस्परिक आदान-प्रदान के प्रश्नों को उठाते हैं; परन्तु यह सब प्रस्तुत निबन्ध के विषय-वृत्त के बाहर की बातें हैं।

वैदिक धर्म के शब्द (पद) 'धर्म' ने अपने ठीक अर्थ के सम्बन्ध में न केवल आर्येतरों वरन् अनेक आर्यों के समक्ष भी कुछ कठिनाई प्रस्तुत की है। आजकल 'धर्म' इस पद का प्रयोग अंग्रेजी पद 'रिलीजन' के समानार्थक पद के रूप में किया जाता है, और 'रिलीजन' के समान वैयक्तिक आस्थाओं तथा संगठित सार्वजनीन–सम्प्रदायों का निर्देश करता है। वैदिक धर्मशास्त्रों में कभी तो इस "धर्म" पद का प्रयोग सामान्य-मानव कर्तव्य के अर्थ में होता है और कभी केवल जातिगत अथवा वर्णगत कर्तव्य के अर्थ में। इस शब्द के अन्य अर्थ भी हैं। परन्तु उन सब अर्थों में प्रवेश एक विशिष्ट समीक्षा का विषय होगा।

वैदिक धर्म एक प्रकार के नैसर्गिक तथा पूर्व योजनापूर्ण स्वतन्त्र विकास का विषय रहा है। अपने वर्तमान रूप में यह एक जटिल, लम्बी-चौड़ी, विशिष्ट रूप-संवलित प्राचीन संस्था है, यद्यपि इसकी कोख में एक तात्त्विक, सप्राण इकाई है; और वही वस्तुतः 'आर्यत्व' द्वारा इंगित धर्म है, ऐसा कहा जा सकता है। वैदिकधर्म की एकान्त आवश्यकता है उसका पुनर्गठन, उसके बिखरे हुए विचारों और सम्प्रदायों, अशृंखलित परिपाटियों और प्रथाओं आदि को एक सुनियोजित अनुक्रम में संजोना। देखना है कि वैदिकधर्म अपने विलक्षण औदार्य और विस्तृत दृष्टिकोण को अक्षुण्ण रखता है, अथवा अपने नव संगठन-जनित उत्साह को भूमिका में संकुचित अहंकार की धाराओं में बह जाता है, अथवा विश्व में एक रूप, मत और आराधना के हेतु वह एक विस्तृत आन्दोलन के नितान्त सक्रिय रूप को धारण कर लेता है।

वेदका अभेदपरत्व

(स्वामी श्री अखण्डानन्द सरस्वती, वृन्दावन)

प्रश्न : क्या वेदका तात्पर्य-विषय भेद है ?

उत्तर : नहीं, क्योंकि भेद प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है। प्रमाणान्तर से सिद्ध वस्तु का प्रतिपादन करने पर वेद अज्ञातज्ञापक प्रमाण नहीं रहेगा, दूसरे प्रमाण से सिद्ध पदार्थ का अनुवादक हो जायगा। जो वस्तु साक्षी के अनुभव से सिद्ध हो रही है, उसी की सिद्धि के लिए वेद तक दौड़ने की क्या आवश्यकता है ? वेद ऐसी वस्तु बताता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से सिद्ध नहीं होती। वेद केवल साक्षिमात्र का भी प्रतिपादक नहीं है; क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध है और सबका प्रकाशक है। वेद का वेदत्त्व साक्षी को ब्रह्म बताने से ही सफल होता है।

वस्तुतः बात यह है कि परिच्छिन्न स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ से अभेद अथवा तादात्म्य होना अज्ञान का लक्षण है। दृश्य, साक्ष्य अथवा भेदमात्र से अपने को पृथक द्रष्टा जानना विवेक है। इस पृथक्त्व में भिन्नत्व अनुस्यूत है। जड़ से चेतन आत्मा भिन्न है। यह भिन्नत्व की भ्रान्ति भी अज्ञानकृत है। वेद प्रमाणान्तर से अज्ञात आत्मा की अपरिच्छिन्नता अद्वितोयता का बोध करा देता है। आत्मा होने से चेतन है, ब्रह्म होने से अपरिछिन्न, अद्वितीय है। इस ऐक्य के ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। भेद बाधित हो जाता है। यह अज्ञान की निवृत्ति और बाधित भेद भी आत्मस्वरूप ही है; क्योंकि वह अधिष्ठान आत्मा से भिन्न नहीं है। प्रमाणान्तर से अज्ञात वस्तु का बोध कराने के कारण ही श्रुति का वास्तविक प्रामाण्य है।

प्रश्न : तब क्या भेद सत्य नहीं है ?

उत्तर : कदापि नहीं। भेद सर्वथा मिथ्या है। परिच्छिन्न के तादात्म्य से ही भेद सत्य भासता है। जिस अधिष्ठान में भेद भास रहा है; उसी में उसका अत्यन्ताभाव भी भास रहा है। अपने अभाव के अधिष्ठान में भासना ही मिथ्या का लक्षण है। इसलिए यह युक्ति बिलकुल ठीक है—'भेदो मिथ्या स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वात्'। यह अनुभव सिद्ध है कि अधिष्ठान-ज्ञान से भेद मिथ्या हो जाता है। इसलिए वेद का तात्पर्य मिथ्या भेद के प्रतिपादन में नहीं है, प्रत्युत भेद के भाव और अभाव के अनुकूल शक्ति, माया के अधिष्ठान के प्रतिपादन में है।

प्रश्न : तब क्या भेद के प्रतिपादन से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती ?

उत्तर : भेद के प्रतिपादन से अर्थ, धर्म, काम रूप तीनों पुरुषार्थों की सिद्धि होती है, परन्तु मुक्ति की सिद्धि नहीं होती। भेद में परिच्छिन्नता को भ्रान्ति दुःख है, अहंकार दुःख है, राग-द्वेष दुःख है और जन्म-मरण भी दुःख है। भेद में समाधि-विक्षेप नहीं छूटते, सुख-दुःख नहीं छूटते, पाप-पुण्य नहीं छूटते और संयोग-वियोग भी नहीं छूटते; इसलिए भेद में जन्म-मरण का चक्र अव्याहत रूप से चलता रहता है। इसलिए मुक्ति-पुरुषार्थ की सिद्धि भेद से नहीं हो सकती। मुक्ति स्वयं आत्मा का स्वरूप ही है। अज्ञान की निवृत्ति से उपलक्षित आत्मा ही मोक्ष है। निवृत्ति कोई स्वतन्त्र पदार्थ

नहीं है। इसलिए मुक्ति में प्राप्य-प्रापक, साध्य-साधन आदि भाव भी नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि श्रुति का तात्पर्य भेद के प्रतिपादन में नहीं है, क्योंकि भेद की सिद्धि नहीं हो सकती।

प्रश्न : फिर भेद-प्रतिपादक श्रुतियों का क्या होगा ?

उत्तर : भेद-प्रतिपादक श्रुतियाँ अविरक्त अधिकारी के लिए हैं। उनसे लौकिक-पारलौकिक सिद्धि की प्राप्ति होती है, व्यष्टि-समष्टि का कल्याण करती हैं, अन्तःकरण शुद्ध करती हैं, मुमुक्षु को ज्ञानोन्मुख करती हैं। इसलिए व्यवहार में उनका बहुत ही उपयोग है; परन्तु जहां वस्तु की प्रधानता से परमार्थ-तत्त्व का निरूपण है, वहाँ श्रुतियां भेद को ज्ञाननिवर्त्य; अतएव मिथ्या बताती हैं। जो वस्तु ज्ञान से निवृत्त होती है, वह मिथ्या ही होती है। इसलिए सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयं-प्रकाश प्रत्यक् चैतन्याभिन्न अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान से तद्विषयक अज्ञानकृत सर्वभेद की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।

बात यह है कि केवल इन्द्रिययन्त्रों से तत्त्व का अनुसन्धान करने पर केवल एक या अनेक जड़सत्ता की ही सिद्धि होती है। चिद्वस्तु यन्त्रग्राह्य नहीं है। केवल बुद्धि से अनुसन्धान करने पर बुद्धि की शून्यता ही परमार्थरूप से उपलब्ध होती है; क्योंकि विचार-विक्षेपात्मक बुद्धि का अन्तिम सत्य निर्वाणात्मक शून्य ही है। भक्ति-भावना युक्त बुद्धि के द्वारा अनुसन्धान करने पर सर्व प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार के मूलभूत सर्वज्ञ, सर्वशक्ति परमेश्वर की सिद्धि होती है। ऐसी स्थिति में स्वतःसिद्ध साक्षी को अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म बताने के लिए कोई इन्द्रियन्त्र या भाव-भक्ति समर्थ नहीं है। उसका ज्ञान केवल औपनिषद ऐक्यबोधक महावाक्य से सम्पन्न होता है।

वेद्-विद्या

(आचार्य मुन्शीराम शर्मा 'सोम' कानपुर)

जगत् अनन्त है। हमारी दर्शन-शक्ति सीमित है। सूर्य का आलोक जो कुछ दिखा रहा है, वह भी सब-का-सब हमारी आँखों के सामने स्पष्ट नहीं है। हमारी आंखों के निकट जो वस्तुयें हैं, अथवा दृश्य हैं, उनका भी बाह्य रूप ही हमें दिखाई देता है। उनके अन्दर निहित तत्त्व को हम नहीं देख पाते। ऐसे तत्त्वदर्शी पुरुष विरल हैं, जो वस्तुओं के अन्तराल में झाँककर देख सकते हैं, दृश्यों के मर्म को हृदयंगम कर सकते हैं और गुहा-निहित उस रहस्य का भी पता लगा सकते हैं, जो सामान्य पुरुष की आंखों से परे है। साधकों ने, मननशील मनीषियों ने, प्रज्ञासम्पन्न ऋषियों ने अपीच्य को गुह्य अथवा रहस्य को देखकर ही तो विज्ञान की सृष्टि की थी। इस समय भी जो विज्ञानी इस दिशा में सक्रिय हैं, वे उन रहस्यों को अवगत कर रहे हैं। हम जैसे सामान्य मानव चन्द्रमा तक पहुंचने की कल्पना भी नहीं कर सकते, परन्तु वैज्ञानिकों ने इस अकल्पनीयता को भी सम्भव करके दिखा दिया।

वेद में इस अपीच्य का, इस गुह्य रहस्य का वर्णन आता है। ऋग्वेद की नीचे लिखी ऋचा ऐसे ही एक रहस्य का उद्घाटन कर रही है।

योधर्त्ता भुवनानाँ यः उस्राणामपीच्या वेदनामानि गुह्या ।
स कविः काव्या पुरुरूपं द्यौरिव पुष्यति ।।

जो इन भुवनों का धारण करने वाला है और जो छिपी हुई रहस्यमयी किरणों के नामों को जानता है, वही कवि है, क्रान्तिदर्शी है; वही विविधरूपों वाले काव्यों की रचना कर सकता है। जैसे द्यावा अनेक रूपों की सृष्टि कर रहा है और उनमें अनेक रंगों को भर रहा है। वृक्षों के पत्तों में हरीतिमा है, तो पुष्पों में कहीं श्वेतिमा, कहीं पीतिमा, कहीं लालिमा, कहीं कृष्णता, कहीं बभ्रुता और कहीं नीलिमा, वैसे ही कवि अनेक प्रकार के वृत्तों वाले व्यक्तियों का चित्रण करता है। वह ईश्वर-निर्मित प्राकृतिक दृश्यों के रूपों को भी अपनी लेखनी से ऐसे रूपों में उभारता है, जैसे कोई चित्रकार अपनी तूलिका से पर्वतों, वृक्षों, सरिताओं, वनों आदि के दृश्यों को चित्र द्वारा प्रदर्शित करता है।

मंत्र में अपीच्य या छिपी हुई किरणों का वर्णन हैं। सूर्य की किरणें सात रंगों वाली हैं। अग्नि को भी सप्त जिह्वा वाला कहा जाता है, ऐसे ही सूर्य को सप्तरश्मियों वाला। इन सात के फिर कई भेद हो जाते हैं। सामान्य मानव तो शीत में धूप-सेवन द्वारा अपने अंगों को ठिठुरने से बचा लेता हैं, वह नहीं जानता कि धूप के अतिरिक्त सूर्य की किरणों का कोई अन्य महत्त्व हैं भी, या नहीं। सूर्य की किरणें किस प्रकार पत्तियों को हरा रंग देती हैं? उसकी कौन-सी किरणें पुष्पों में नाना रंग भरती हैं?—इसे तो कोई सूर्यं-विज्ञानी ही समझ सकता है और ऐसे भी प्रयोगशील वैज्ञानिक विद्यमान हैं, जो सूर्य-किरणों की सहायता से इन रंगों को उत्पन्न कर सकते हैं। फ्रेञ्च साधक पॉल-ब्राण्टन ने बनारस के स्वामी विशुद्धानन्दजो का वर्णन करते हुये लिखा है कि वे मरी हुई चिड़िया को सूर्य-किरणों की सहायता से जीवित कर देते थे, रुई को पत्थर बना देते थे और जैसी चाहो, वैसी सुगन्ध को उत्पन्न कर सकते थे। महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज के गुरु यही स्वामी विशुद्धानन्दजी थे। इन्होंने भी उनके संबंध में ऐसी ही बातें लिखी हैं।

सूर्य की किरणों में विविधरूपता है। उन विविध रूपों में विभिन्न शक्तियां हैं। इसे सभी साधक और कवि अनुभव करते रहे हैं। मलिकमुहम्मद जायसी ने लिखा है—'जानहुँ लहर सुरुज कै आई।' रत्नसेन मूर्च्छित हो गया, मानों सूर्य की किसी किरण-विशेष ने उसे प्रभावित कर दिया हो। 'सन-स्ट्रोक' की बात तो आजकल बहुत प्रसिद्ध हो गई है----ग्रीष्म में कोई बाहर निकला और धूप खा गया या सिर पर सूर्य की किसी किरण की चोट पड़ गई और मानव बेहोश हो गया या बीमार पड़ गया। यह तो आजकल सामान्य चर्चा का विषय है, परन्तु सूर्य की कौन-सी किरण ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती है और कौन-सा व्यक्ति इस प्रभाव को ग्रहण कर पाता है, यह विवेचना का विषय है, वैज्ञानिकों के परीक्षण का विषय है, सब प्राणी इस तत्त्व को नहीं जान सकते।

वेद-विद्या सृष्टि विद्या है। उसमें विज्ञान भी भरा पड़ा है और प्रयोगात्मक कर्मकाण्ड के सूत्र भी विद्यमान हैं। विज्ञान और कर्म के अतिरिक्त उसमें उपासना के भी मन्त्र हैं और उस परात्पर अध्यात्म-विद्या के सूत्र हैं, सूत्र ही नहीं—स्पष्ट उल्लेख हैं, जिनके कारण भारत विश्व में ख्याति प्राप्त कर चुका हैं। अथर्ववेद इस प्रकार के उल्लेखों में अग्रगण्य है।

जिसे हम परात्पर कहते हैं, उसे भारत ही नहीं, अन्य देशों के साधक भी अतिक्रान्त (Transcendental) नाम देते रहे हैं। जितना दृश्य जगत् है, उसके परे भी एक अदृश्य जगत् है,

जो इस दृश्य जगत् को अतिक्रान्त कर जाता है। वेद दृश्य जगत् को एक पाद, तो अदृश्य जगत् को त्रिपाद कहता है। इस त्रिपाद को जो जान ले, वह पिताओं का भी पिता है—"त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पिता सत्।" वेद के ये शब्द इन तीन पदों को गुहा में निहित मानते हैं—अर्थात् वे गुह्य हैं, छिपे हुये हैं। वाणी के भी इसी प्रकार चार पाद हैं। उसका चतुर्थ वैखरी रूप तो सबके व्यवहार में आता रहता है और सभी उससे परिचित हैं, परन्तु अन्दर छिपे तीन पादों को कोई विपश्चित् विद्वान् ही समझ पाता है। द्वितीय पाद जो मन में निहित और मध्यमा नाम वाला है, वह सबके साथ रहता हुआ भी सबके अनुभव की वस्तु नहीं बन पाता। चिन्तक और मननशील व्यक्ति ही उस पर अपना ध्यान जमा पाते हैं। पश्यन्ती रूप ऋषियों की सम्पदा है, परन्तु जब तक वाणी को साधना करने वाला आर्षकोटि में नहीं पहुंचता, तब तक वह भी शब्द और अर्थों से परे वाणी के इस रूप को नहीं समझ सकता। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक एमेनुअल काण्ट को इस पश्यन्ती स्थिति का अनुभव हुआ था। उसके शब्दों में ज्ञान की एक ऐसी स्थिति अवश्य है, जहां न शब्द हैं और न शब्दों के अर्थ। केवल अनुभूति ही अनुभूति है, दर्शन ही दर्शन है, ज्ञान ही ज्ञान है। वाणी को चौथी परावस्था तो अनिर्वचनीय कही गई है। उसका नाम ही परा है। वह प्रकृति से भी परे है, विशुद्ध आत्म-सम्बद्ध है। इस अनिर्देश्य का निर्देश कोई किसी भी प्रकार नहीं कर सकता।

साधक, तपस्वी तथा आत्मदर्शी योगी इस भौतिक शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर द्वारा इस विश्व का भ्रमण करते रहे हैं और लोक-लोकान्तरों में जाकर पुनः अपने भौतिक शरीर में आ गये हैं। ये जब विश्व का उल्लंघन करके ऊपर पहुँच जाते हैं, तो वहां से उन्हें यह लोक ऐसा दिखाई देता है, जैसे कोई हाथ फैलाये नर खड़ा हो। उपनिषदों में इसोलिए एक-एक विश्व को ब्रह्माण्ड के पिण्ड की ही भांति पुरुषाकार कहा गया है और उसे वैश्वानर नाम दिया गया है। वेद कहता है—"वैश्वानरो यतते सूर्येण"। यह वैश्वानर विश्व सूर्य के द्वारा गतिशील बना हुआ है। जैसे पिण्ड में प्राणशक्ति पुरुष को गतिशील रखती है, वैसे ही वैश्वानर को प्राणों का प्राण सूर्य गतिशील रखता है। उपनिषद् में भी अन्नमय, मनोमय आदि कोशों को पुरुषविधः कहा गया है। नारायण पुरुष ही इस सृष्टि में आहुत हुआ है। उसके अंग–प्रत्यंग सृष्टि के अंग-प्रत्यंग बने हैं और इन्हीं से एक-एक पिण्ड या शरीर का निर्माण हुआ है। अतः यहां जो कुछ है, पुरुष के प्रकार का ही है। इसी को उपनिषद् ने पुरुषविधः कहा है। पुरुष सूक्त में इसी यज्ञ-पुरुष का वर्णन आता है और स्थान, काल समाज, पशु-जगत्, मानव-जगत्, सर्वत्र उसकी स्थिति व्यापक रूप में प्रदर्शित की गई है।

वेद ऐसी विद्याओं का भण्डार है। महर्षि दयानन्द और योगिराज अरविन्द ने इसीलिए वेद के पठन-पाठन और श्रवण-श्रावण को परम कर्त्तव्य के रूप में प्रत्येक आर्य के लिए निर्धारित किया है।



वेदशब्दार्थ मीमांसा

(श्री जगन्नाथप्रसाद वैद्य, आयुर्वेदाचार्य, फीरोजाबाद)

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते, तया मामद्य मेधयाग्ने ! मेधाविनंकुरु ।।१।। मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधान्धाता ददातु मे ।।२।।

ओं नमो ब्रह्मणे नमः परमगुरुभ्य :—

अहो ! इस भारत को वैदिकी प्रणाली के प्रणष्ट हो जाने से आज अनेक विद्वान् अपने बुद्धि-वैभव के अनुकूल वेदार्थ करने में उद्यत हो रहे हैं, यथार्थ ही है-भगवान भास्कर के अस्त हो जाने पर खद्योत भी प्रकाश किया करते हैं।

यदि आज वेदाचार्य भगवान् शङ्करस्वामी तथा भट्टकुमारिल प्रभृति आचार्यों की उक्तियों का भारत में विज्ञान होता तो वैदिकधर्म का इतना अधःपतन न होता।

वैदिकधर्म के रसातल जाने से ही आज भारतभूमि सहस्रवर्षों से अनाचाराक्रान्त है। मैं वद्ध-प्रतिज्ञ होकर यह बात कहता हूँ कि यदि भारतभूमि को अनाचार से रहित करना चाहें तो कर्तव्य हो जाता है कि सर्वप्रथम वैदिकधर्म का उद्धार करें तभी स्वाभीष्ट स्वराज्य को प्राप्त कर सकेंगे।

बड़ी ही लज्जा की बात है कि भारतीय अपने आप द्विजातित्व तथा विद्वत्ता के घमण्ड में झूम रहे हैं। इनके समक्ष पाश्चात्त्य मोक्षमूलर, वेवर आदि वेदार्थों को यथार्थ प्रकाशित कर अपने देश को अलंकृत करते हुए समस्त राज्यश्री का अनुभव कर रहे हैं।

भारतीय वेदवाक्यों को छिन्न भिन्न करते हुए इस देश को दुर्भाग्य से परिपूर्ण कर रहे हैं। आजकल प्रायः जनसाधारण भी वेद पर ही लेखनी उठाता है और 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानुमती ने कुनवा जोड़ा' वाली-लोकोक्ति को चरितार्थ कर भारतीय अनभिज्ञमण्डल को अन्धकार में डालता है। अतः भारतीय नागरिक अपने अपने कर्तव्य से च्युत हो रहे हैं।

यदि भारतीय ऐहिक तथा पारलौकिक सुख चाहें तो वैदिकधर्म का ही अनुसरण करें अन्य कोई सुखप्रद मार्ग नहीं है। क्योंकि भगवान कणाद महर्षि ने भी कहा है कि,

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः

जिसके सेवन करने से मनुष्य को इस लोक में लौकिक सुखों का पूर्ण अनुभव हो और अन्त में मोक्ष प्राप्ति हो उसी को धर्म कहते हैं। वह धर्म कहां से उपलब्ध हो ? इस पर तृतीय सूत्र "तद्वचन-त्वादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" अभ्युदय और निःश्रेयससिद्धि को वचनों से धर्म बतलाने के लिए वेद ही को मुख्य प्रमाणता है—इस पर महर्षि जैमिनि भगवान् का भी यही सिद्धान्त है। कहा है 'चोदना लक्षणोर्थो-धर्मः' प्रेरणारूप ही है प्रमाण जिसमें, अर्थात् लिङ्, लोट् तव्यदन्त वेदवाक्यों द्वारा जो आज्ञा हो उसी को धर्म कहते हैं।

वेद शत्रुमारणादिप्रयोग भी बतलाता है परन्तु उसको छोड़कर जो अर्थ का साधक अनर्थ का निरोधक हो उसी को धर्म कहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि वेदप्रतिपाद्य अर्थ ही को धर्म स्वीकार किया जाय। इस निर्णय पर पहुँचने पर प्रश्न उठता है, कि वेद क्या वस्तु है वेद शब्द व्याकरण द्वारा धातुचतुष्टय से सिद्ध होता है वे धातु ये हैं—

'विद् ज्ञाने विद् सत्तायां विद् विचारणे विद्लृलाभे' इन धातुओं के क्रम से वेद शब्द को सिद्ध करने से इस प्रकार व्युत्पत्तियाँ की जाती हैं १—वेत्ति जानाति चराचरं योऽसौ वेदः (पचाद्यच्) २—विद्यते प्रलयादावपि वर्तते योऽसौ वेदः। ३—विन्ते विवेचयति सदसदात्मकं योऽसौ वेदः। ४—विन्दते अन्तर्भावितार्थं प्रापयति धर्मम् आत्मज्ञानम् वा याथार्थेन योऽसौ वेदः। इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञातज्ञापकत्वं च वेदत्वम्। इस तरह व्याकरण व्युत्पत्ति द्वारा वेद शब्द बाल्मीकीय महाभारतादि का भी बोधक होता है। पारिभाषिक वेद शब्द इसी कारण महर्षि भगवान् पारस्कराचार्य ने अपने गृह्यकल्प में वेद शब्द को पारिभाषिक सिद्ध किया है वह इस प्रकार है—उपनयनोत्तर वेदाध्ययन विधि समाप्त कर स्नातक को गुरुकुल से गार्हस्थ्याश्रम में प्रवृत्ति के लिए आज्ञा देते हैं। "वेद समाप्यस्नायात्" का २ कं० ६ सू० १ भावार्थ- कम से कम अपने वेद की शाखा को समाप्त करने पर ही गृहस्थाश्रम का अधिकारी बन सकता है। उक्त यौगिक वेद शब्द सन्देहास्पद था अतः पारिभाषिक वेद शब्द स्वयं आचार्य पञ्चम सूत्र में निरूपण करते हैं "विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः" विद्यते विधीयते वा अर्थात् विधानं करोति यागादीनां योऽसौ विधिः "यथा अग्निहोत्रं जुहुयात्" "दर्शपौर्णमासाभ्यांयजेत्" "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" "कलञ्जं न भक्षेत्" इत्यादि अर्थात् लिङ् लोट् तव्यत् प्रत्ययों से जो विधान करने वाले ब्राह्मण वाक्य हैं उन्हीं का पर्याय विधिशब्द है, इसके अतिरिक्त विधि और मन्त्र भाग का विवरण करते हुए भगवान श्रीजैमिनि महर्षि ने भी कहा है "शेषे ब्राह्मण शब्दः (मीमा० अ० २ पाद १ सू ३३) अभिप्राय यह है कि शेष शब्द सर्वत्र अवशिष्टवाचक समझा जाता है। इस सूत्र से पूर्वप्रकरण मन्त्रलक्षण परक था मन्त्रलक्षण से बचा वेदभाग ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है। इसी सूत्र के आशय को वेदार्थ तत्त्ववेत्ता भगवान् शबरस्वामी ने अपने भाष्य में निम्न रीति से प्रस्फुट किया है "अथ किं ब्राह्मणलक्षणम्" मन्त्राश्च ब्राह्मणानि च वेदः तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वात् ब्राह्मणलक्षणमवचनीयम्। मन्त्र लक्षणवचनेनैव सिद्धम्, यस्यैतल्लक्षणन्न भवति तद्ब्राह्मणमिति परिशेषात् सिद्धं ब्राह्मणम्—

इसका यह अर्थ हुआ- ब्राह्मण किसे कहते हैं—इसके उत्तर में मन्त्र तथा ब्राह्मण भाग का नाम वेद है। वहाँ पर पूर्व सूत्र में मन्त्र का लक्षण करने के बाद शेष वेद भाग को ब्राह्मण शब्द से कहा जाता है। ब्राह्मण का लक्षण अकथनीय है। मन्त्र लक्षण से ही सिद्ध हो चुका है कि जिसका मन्त्र के साथ लक्षण न मिले उसको ब्राह्मण शब्द से पुकारते हैं इसी को ब्राह्मण कहते हैं। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण दश प्रकार का होता है इस पर भाष्यकार श्रीशबर स्वामी पूर्व वृत्तिकार का मत बतलाते है-

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना॥
उपमानं दशैतेतु विधयो ब्राह्मणस्यतु।
एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥

हेतु—हेतु निमित्त कारण को कहते हैं यथा सूर्येण जुहोति तेन ह्यत्रं क्रियत इति अर्थात्

वरुणप्रघासादिक्रियाओं में दीक्षित यजमान की पत्नी करम्भ पात्रों का हवन करती है तो सूर्य के साथ ही, कारण कि सूर्य ही यज्ञार्थ हवि का परिशोधक है। निर्वचनम्, निरुक्ति करने वाले वाक्य का नाम ही निर्वचन है यथा 'तद्ध्नो दधित्वम् पृषदाज्य दधि निर्माण के लिए गोदोहनोत्तर काल में पय के आतञ्चत क्रिया की समाप्ति यह उदाहरण है—यही दधि का दधित्व है।

निन्दा—निकृष्टभावोत्पादक वाक्य का नाम निन्दा है यथा उपवीता वा एतस्याग्नयोः भवन्ति।

प्रशंसा—स्तुत्यात्मक वाक्य को प्रशंसा कहते हैं यथा— यस्याग्न्याधेये ब्रह्मा सामानि गायति। यह वाक्य श्रौताधान अर्थात् वैदिकाग्निधारण परक है वैदिकाग्नि ग्रहण काल में ब्रह्मा नामक ऋत्विक् सामवेद विहित गान न करो। कारण, कि जिस यजमान के यहाँ श्रौताधान में ब्रह्मा सामगान करता है उस यजमान के गृह से अग्नियाँ काल विलम्ब होने से परित्यक्त हो जाती हैं १ से एनम्भूतिङ्ग-पति वायव्यं श्वेतमालभेत "वायु वै क्षेपिष्ठा" देवता भूति कामना वाले को वायुदेवतार्थ यज्ञ करना चाहिए वायुदेव ही सम्पूर्ण देवताओं में अतिशयता से शीघ्र भूति प्राप्त कराने वाला है। इसी कारण पदार्थों को प्रक्षेप कराने वाला देवता है यही यजमान को भूति प्राप्त कराने वाला देव है।

५-संशय—सन्दिग्धास्पद वाक्य को संशय कहते हैं। "यथा होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यमिति" ऐसे वाक्य प्रायश्चित्तादि होमपरक होते हैं। गार्हपत्याग्नि में प्रायश्चित्तात्मक हवन करना चाहिये कि या नहीं।

६-विधि—अपूर्व क्रिया का विधान करने वाले वाक्य का नाम विधि हैं यथा "यजमानसंमितः औदुम्बरी भवति"। अग्निष्टोमादि यज्ञों में उद्गाता नामक ऋत्विग् जिस यूपस्तम्भ का स्पर्श कर गायत्रादि स्तोत्रों का गान करता है वह यूपस्तम्भ औदुम्बर वृक्षोद्भव यजमान प्रमाणानुरूप ही दीर्घ होता है।

७-परकृति—अन्यकृत कार्य को ही परकृति कहते हैं यथा— माषानेव मह्यं पचतीति— कोई गृहपति अपने गाह्यं सम्बन्धो पुरुषों के निमित्त किसी अन्य से कहता है वह मेरे लिए ही माष बना रहा है।

८-पुराकल्पः—पूर्व कल्पों के इतिहास को बतलाने वाले वाक्य को ही पुराकल्प कहते हैं। यथा—"उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समाजग्मुः" देव यजन सदन में पूर्व कल्प निवासी महर्षि जन उल्काओं के साथ आते थे।

९-व्यवधारणकल्पना—वचन के साथ निश्चयात्मक कल्पना करने वाले वाक्य को व्यवधारण कल्पना कहते हैं। यथा—यावतोऽश्वान्प्रति गृह्णीयात् इस वाक्य में प्रसंगवश हम अनेक कल्पना कर सकते हैं जैसे प्रतिग्रह विधि में तावत् प्राजापत्यानाचरेत्। यह भी कल्पना वाक्य उपस्थित हो सकता है अश्वमेध प्रकरणवश तावतः प्रकामाञ्जुहोति इत्यादि वाक्यों की भी कल्पना उपस्थित हो सकती है।

१०-उपमानः—सादृश्य धर्मवाले वाक्य को उपमान कहते हैं यथा—'यथैव तदिन्द्रो वृत्राय-बज्रमुदयच्छत् तथैवायं ब्राह्मणो राक्षसानामपहन्ता' इत्यादि वाक्य सादृश्यधर्म के द्योतक हुआ करते हैं। यह वाक्य वेदीकरणार्थ स्पष्ट पात्र विशेष ग्रहणार्थपरक है जिस तरह से वृत्रासुर संग्राम इन्द्रदेव ने वृत्रवध के लिए बज्र उठाया इसी प्रकार श्रौतकर्मनिष्णात अध्वर्यु नामक ऋत्विक्कर्म प्रति-बन्धक कामक्रोधादि असुरों का विनाश करने के लिए पय पात्र विशेष का ग्रहण करता है। इसी तरह से विधिभाग अर्थात् ब्राह्मण भाग। वेदों में दश विधि हैं—इस प्रकार वेदों में अपरिसंख्यक-अपूर्व

विधि, गुणविधि, फलविधि और विशेषविधि, प्रभृति विधियां सर्वत्रोपलब्ध हैं एवं ब्राह्मण भागों का विधिश्रुति तथा ब्राह्मण शब्दों से आपस्तम्ब, आश्वलायन, जैमिन्यादि महर्षि निर्देश करते हैं।

विधेय :—विधेयः अर्थात् विधातुं योग्यः यद्वा ब्राह्मण वाक्येन कर्माङ्गत्वेन योविधीयते असौ विधेयः—तात्पर्य यह है कि मन्त्रात्मक वेद भाग विधेय शब्द से और मन्त्र शब्द से तथा श्रव शब्द से एवं निगम शब्द से कहा जाता है यथा— अग्ने व्रतपते ! व्रतञ्चरिष्यामि तच्छकेयन्तन्मे राध्यताम्। यह मन्त्र बिना विधि से आध्यात्मिक, आधियज्ञिक, आधिदैविक तथा आदिभौतिक अग्नियों में प्रयुक्त हो सकता है। आध्यात्मिक अग्नि उसे कहते हैं जो जाठर है। याने 'आत्मनि-अधि इत्यध्यात्मम्-अध्यात्मनि वर्तते इति आध्यात्मिक' इस विग्रह से प्रत्येक आत्मा में अधिकार रूप से जो स्थित हो उसे आध्यात्मिक अग्नि कहते हैं।

आधियज्ञिक (विग्रह पूर्ववत्) अग्नि उसे कहते हैं जो यज्ञो में मुख्य रूप से प्रतिष्ठित हो इसके वेदों में गार्हपत्य आहवनीय दक्षिणाग्नि (अन्वाहार्य पचन) सभ्यः आवसथ्यः आदि आदि अनेक भेद बतलाते हैं तत्र तत्र कर्मों में वेदवित् उनका विनियोग करते हैं। आधिदैविक अग्नि (विग्रह पूर्वक) उसे कहते हैं जो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युदादि में प्रतिष्ठित है इसका प्रमाणभूत वेद मन्त्र "सूर्यरश्मि र्हरिकेश० यजु १७ अ०" इत्यादि आधिभौतिकाग्नि (विग्रह पूर्ववत्) वह कहलाता है जो वनस्पति पाषाण प्रभृति में सर्वत्रोपलब्ध है। वह महानसीय, श्मशानीय और दावाग्नि आदि भेदों से अनेक प्रकार का है इन सर्वाग्नियों का व्यावर्तक विधि आधियज्ञिक अग्नियों में भी आहवनीयाग्नि में ही विनियोग बतलाता है, "जैसे स आहवनीयाग्निमेवाभीक्षमाणो० इत्यादि इससे यह सिद्ध हुआ कि मन्त्र पदवाक्य बिना ब्राह्मणपदवाक्य के किसी भी क्रिया में नियुक्त नहीं हो सकता जिस मन्त्र का विधायक ब्राह्मण वाक्य अन्वेषण से भी नहीं मिलता वह मन्त्र अपने लौकिक ज्ञान से आप ही श्रुति की कल्पना करता है, ब्राह्मण भाग ही राजाज्ञा है अतः मन्त्रभाग राजाज्ञा के बिना क्रियाशून्य है। इतिकर्तव्यता द्रव्यदेवतास्मारकत्व मन्त्रों को ही है। मन्त्रभाग चार प्रकार का है ऋचो यजूंषि सामानि निगदा मन्त्राः (कात्या० श्रौ० सू० अ० १ कं० ३ सू १) ऋक् अर्थात् ऋक् यजुः साम निगद संज्ञक भेदों से मन्त्र चतुर्विध ही होता हैं तत्र नियताक्षर पादावसाना ऋक् यद्वा यत्रार्थ वशेन पादव्यवस्था सा ऋक् (मी० अ० २ पा० २ सू० ३५ भावार्थ जिसमें गायत्र्यादि छन्दोवद्ध पादों की व्यवस्था नियम रूप से हो उसे ऋक् कहते हैं जैसे—अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् अपा ᳪ रेताᳪसिजिन्वति। यह अष्टाक्षर का तीन पाद वाला गायत्रीछन्दस्क मन्त्र है। इसी प्रकार नवाक्षर का चतुष्पाद उष्णिक्, दशाक्षर का विराट्, एकादशाक्षर का त्रिष्टुप, द्वादशाक्षर का जगती प्रभृति छन्द होते हैं अथ च ऐसी ऋचाओं के समूह विशेष को ही ऋग् वेद कहते हैं।

यजुः — अनियताक्षरावसानं यजुः। जहाँ पर अनियमित रूप से अक्षरों पर अवसान हो उसे यजुः कहते हैं।

ऋक् और साम लक्षण से अवशिष्ट जो मन्त्रवाक्य है उसी को यजुर्मन्त्र कहते हैं। तेषां वाक्यं निराकांक्षं मिथः सम्बद्धम् (कात्या० श्रौ० अ० १ कं ३ सू० २-३) अर्थ उन यजुओं का वाक्य निराकांक्ष होता हैं और वह श्रुति तथा कल्पों द्वारा जाना जाता हैं जैसे यजुर्वेदारम्भ की प्रथम कण्डिका में पाँच यजुर्मन्त्र हैं। कुछ बुद्धि विकल वर्ग उसे एक ही मन्त्र मानकर वेदमय ब्रह्म को विनष्ट कर रहे हैं ऐसे अन्धतम जनों के नेत्राञ्जनार्थ ही यजु शब्दार्थ दिखा रहे हैं जैसे—इषेत्वा० एक मन्त्र अर्जेत्वा०

दूसरा मन्त्र वायवस्थः, तीसरा मन्त्र देवोवः सविता प्रभृति स्याद्भहवी इत्यन्त, चतुर्थ मन्त्र और यजमानस्य पशून् पाहि यह पंचम मन्त्र है। इन मन्त्रों का विज्ञान श्रुतिहीन मनुष्यों को होना अशक्य है। इसलिए विधि द्वारा ही मन्त्र ज्ञान को मन्त्र विज्ञान कहते हैं। अत च इषेत्वेति शारवांच्छिनत्ति ऊर्ज्जेत्वेति सन्नयति वायवस्थ इति जपति और देवो नः इत्यादि श्रुति ही यजुर्मन्त्र का अवसान बताती हैं। इत्थञ्च यजुर्मन्त्र विज्ञान श्रुति और कल्प द्वारा ही जाना जाता है। यजुर्मन्त्र विज्ञानार्थ ही महर्षि कात्यायन लिखते हैं परादिना पूर्वान्तः (श्रौ० अ० १ कं० ३ सू० ५३) वह पूर्वोक्त यजुर्मन्त्र विज्ञान किस प्रकार हो इसको बतलाने के लिए लिखते हैं परके आदि से पूर्व मन्त्र की समाप्ति जाननी चाहिए जैसे इषेत्वा मन्त्र तीन ही अक्षर का है क्योंकि ऊर्ज्जेत्वा इस मन्त्र का विधान करने वाली दूसरी श्रुति है। ऊर्ज्जेत्वा यह भी तीन ही अक्षर का मन्त्र है कारण कि वायवस्थः इस मन्त्र को नियुक्त करने वाली तृतीय श्रुति है। देवो वः स्याद्भहीः इत्यन्त यह एक ही मन्त्र है और इसको नियुक्त करने वाली चतुर्थ श्रुति है। अधिक क्या पूर्ण यजुर्मन्त्र विज्ञान किसी एक शाखा के ब्राह्मण भाग के अध्ययन तथा श्रौत कल्प के अध्ययन से निःसन्देह हो जाता है।

गीतीषु सामाख्या (मी० अ २ पा० १ सू ३६) ऋचाओं को ही गायत्र वृहद्रथन्तर वामदेव्य आदि स्तोत्रों में परिणत करने से साम संज्ञा होती है।



वेदों की अपौरुषेयता और सार्वभौमता

(डॉ० वाचस्पति पाण्डेय 'विकल' एम. ए., पी-एच. डी., आगरा)

ज्ञानार्थक विद् धातु से वेद शब्द को रचना हुई है—जिसका तात्त्विक अर्थ धार्मिकज्ञान अथवा परमोत्तमज्ञान हैं। वेद समस्तवाङ्मय का नाम है। यह अत्यन्त प्राचीन एवं परमोपयोगी है। भारतीय परम्परागत मान्यता के अनुसार यह अनादि एवं अपौरुषेय कहा जाता है।

मीमांसकों के आधार पर अपौरुषेय से तात्पर्य यह है कि किसी पुरुष ने इसकी रचना नहीं की, अतः स्पष्ट हैं कि जिस प्रकार चराचर जगत् अनादि परम्परा से चला आ रहा है उसी प्रकार वेदवाङ्मय भी अनादि एवं अपौरुषेय है।

यह भी सत्य है कि वेदों के विषय में आदि काल से ही वेद पौरुषेय हैं इस सिद्धान्त को भी प्रबलतार्किक पक्ष का बहुवादित एवं शेवधिप्रतिपादित समर्थन प्राप्त होता रहा हैं। इस कल्पना की सार्थकता सिद्ध करने के लिए विद्वत्संघ (School of wisdom) ने सदैव से ही महान् प्रयत्न किया है—परन्तु आज तक उक्त परिकथन को निर्णीत समर्थित परिपक्व एवं निष्पक्ष गवेषणा का कोई मूलाधार प्राप्त नहीं हुआ है। इस का मुख्य कारण मानव की विचार गरिमा का यथार्थ के धरातल से विमर्श करने का प्रक्रम है।

यह भी सत्य हैं कि 'किसी भी तत्त्व की परीक्षा का साफल्य आत्मानुभूति राहित्य में कदापि संभव नहीं हो सकता क्योंकि 'ज्ञानाधिकरणमात्मा' के अनुसार ज्ञानरश्मि का प्रस्फुटन आत्मा के

देदीप्यमान प्रकाशपुंज से उद्‌भिन्न होकर ही अज्ञानतमिस्रा का समूलोच्छेदन करने में सशक्त एवं सक्षम हो सकता है। ज्ञान और आत्मा, जल एवं तरङ्ग, शब्द और अर्थ में प्रतीयमान पदार्थ पृथक् नहीं अपितु संश्लिष्ट तथा एक हैं। अतः आत्मा का प्रादुर्भाव (?) कदापि संभव नहीं। यथा-आत्मा का प्रणाश समीचीन नहीं। आत्मा की अवधि नहीं, उसी प्रकार ज्ञान का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता, ज्ञान की कोई अवधि कल्पित नहीं की जा सकती। ज्ञान की रचना इस वाक्य की सार्थकता समर्थित नहीं हो सकती। ज्ञान विभु है, ज्ञान ज्ञान है, ज्ञान अजन्मा है, ज्ञान ईश्वर है, ज्ञान चित् है या चित् ज्ञान है, ज्ञान सत्य है, ज्ञान शिव है, ज्ञान सुन्दर है। निष्कर्षतः त्रिकाण्ड त्रिभुवन में भी "ज्ञान" स्वयं परिपूर्ण तथा सत्तावान् नित्य सर्वव्यापक के रूप में उदीयमान होता है। उसके आकार की, उसके रूप की, उसकी रचना सौन्दर्यस्वरूप की कल्पना अज्ञान के गवाक्ष से झांकने की भांति है। ज्ञान का कोई शत्रु नहीं हो सकता, ज्ञान का कोई सुहृद् नहीं हो सकता, ज्ञान को कोई विनष्ट नहीं कर सकता, वह विचित्र वर्णनातीत अपौरुषेय एवं व्यापकमयी आत्मसत्ता का जाज्वल्यमान स्वरूप है। ज्ञान का बन्धु केवल ज्ञान ही हो सकता है अन्य नहीं। क्योंकि ज्ञान के अतिरिक्त विश्व में कुछ भी सत्तावान् है ही नहीं। रज्जु में सर्प का भान, सर्प की सत्ता का मूलकारण वस्तुस्थिति का ज्ञानाभाव है। अतः ज्ञान से ज्ञानाभाव के रूप में विद्यमान है। इसी आधार को लेकर अद्वैत मत का जन्म हुआ जो "सर्वंखल्विदं ब्रह्म" के रूप में दर्शनों का सर्वमान्य सिद्धान्त हुआ है। सम्प्रति समुपस्थित है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि जब ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी नहीं तो उसकी रचना कौन कर सकता है? कैसे कर सकता है? क्योंकि ज्ञान ही जब स्वयं कर्ता तथा कर्म है तब वह किसकी कृति हो सकती है? इसी तथ्य का विचार मनीषियों के लिए अद्यावधि एक पहेली बना हुआ है। जगत् की सत्ता– निर्विवाद ब्रह्म का परिज्ञानाभाव है, वस्तुतः ब्रह्म ही जगत् है और जगत् ही ब्रह्म है। वेदत्रयी जो आज हमारे अध्ययन का विषय है उसे पौरुषेय कदापि नहीं कहा जा सकता। वेद की रचना मानवीय नहीं हो सकती क्योंकि "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" के आधार पर मंत्र का निर्मापक (रचयिता) कोई नहीं है, अपितु मंत्र के द्रष्टा हैं।

दर्शन का अर्थ भी ज्ञान है। उक्त विवेचन गीता, उपनिषदादि ग्रन्थों के आधार पर पूर्णतया आधारित है। यदि हम यथार्थ एवं लौकिकता की कसौटी पर भी कसकर विचार करें तो भी वेद पौरुषेय नहीं ठहरते। इस प्रकार का ज्ञान मानव के बौद्धिकस्तर से उसी प्रकार प्रादुर्भूत नहीं हो सकता, जिस प्रकार हीरकमणि काञ्चनकोष से प्राप्त नहीं हो सकती। बुद्धि जड़ है, प्रकृति का कार्य है। प्रकृतिजन्य, कल्पनायें असत्य एवं संकल्पात्मक होती हैं। संकल्प-विकल्प का जाल स्थिर एवं ज्ञान सिद्धान्तों का समुच्चय नहीं कर सकता। बुद्धि से परे जो तत्त्व विद्यमान है—उसकी तपःपूत दृष्टियां ही ज्ञान की रश्मियां हैं। × × × आज ग्रन्थों के रूप में वेद के जो सिद्धान्त प्राप्त होते हैं, वे आत्मभूत ज्ञान के प्रतिविम्बितलिपिवद्ध ज्ञानचित्र हैं।

वैदिक मन्त्रों के मण्डलादिविभागों की कल्पना मानव निर्मित है। संहितादि विभाग भी निःसन्देह गुरुशिष्य परम्परा द्वारा इस रूप में आज प्राप्त होते हैं, इससे यह माना जा सकता है कि वैदिक मंत्रों की अध्ययन सौख्य एवं सुविधा की दृष्टि से एक ऐसी व्यवस्था मानव ने अवश्य की है जो परिष्कृत रूप में समुपलब्ध हो सकती है। इन विभागादि की कल्पना या व्यवस्था के द्वारा वैदिक मंत्रों की अखण्डता, सार्वभौमता, सर्वव्यापकता एवं अपौरुषेयता आदि पर किसी प्रकार की आंच नहीं आती प्रतीत होती। विविध मंत्रों की साधना भी विविध महर्षियों के आत्मानुभव से हुई है। जिस ऋषि

या साधक ने जिस रूप में चित् तत्त्व को देखा या अनुभूत किया वही लिपिबद्ध होकर मंत्रों की पंक्ति में समाविष्ट हो गया, मंत्र शब्द की आन्तरिक रचना भी इसी को प्रकाशित करती है—क्योंकि 'मन्त्रि गुप्तभाषणे' धातु से सिद्ध शब्द--ज्ञानाधिकरण की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। गुप्त-भाषण वाणी के उद्‌भव स्थान में होता है—'परावाणी' के द्वारा अनुभूत होता है। परास्थभाव हो संघर्षरत होकर मध्यमा वैखरी आदि वाणी के द्वारा प्रकट हो पड़ता है। स्रोत का उद्‌गम स्थान अतिसूक्ष्म और प्रवाह स्थान अतिविस्तृत होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। सूक्ष्म स्थान से भी वह उद्‌गम स्थान और अधिक सूक्ष्म है। जहां केवल जल का एक परमाणु बहिर्गमन की आतुरता में विद्यमान है। स्थूल से सूक्ष्म की शक्ति चिरन्तन एवं नित्यशाश्वत होती है। इसे आधुनिक वैज्ञानिकों का समुदाय भी सर्वसंमत होकर स्वीकार करता है। वेद भी परमाणु रूप आत्मा में अधिकृत होकर भी विशाल रूप में प्रतीत होता है। इसी दृष्टिकोण के आधारस्वरूप महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य में "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोकेच कामधुग् भवति"—कहकर एक से उसी ज्ञाना-नुभूति की ओर संकेत करने की चेष्टा की है। एक शब्द का अर्थ अन्य भी होता है। अन्य से तात्पर्य महा अगाधशब्दार्णव का उद्‌भवरूप अगम्य "परावाणीस्थ" शब्द का परिज्ञान है। एकोऽहं बहुस्याम् भी इसी को प्रतिध्वनित करता है कि एक ज्ञान ही बाह्य मायाजाल से संपुष्ट होकर विपुल रूप में दिखाई दे; एक में अनेकत्त्व की प्रतीति शुक्तिरजत एवं सर्परज्जुवत् आभासित है। तथ्यतः वह एक ही है। समस्त मंत्रों का बीज प्रणव है और समस्त वैदिक छन्दों में प्रणव की पूर्ण संयुक्ति परम्परा से ही संलग्न होती चली आ रही है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि प्रणव ही छन्दों का बीज मंत्र है। यही इस अपार वैदिक साहित्य संसार का मूल ब्रह्म है। ॐ की यथार्थ अनुभूति का ऋषिमण्डल में विविध रूप से संकलन होने के कारण इतना विशाल वैदिक छन्दजाल हमारे चिन्तन एवं शङ्काओं का स्थल बन गया है।

"श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु स्मृतिः" प्रस्तुत वाक्य भी वेदों को रचित नहीं---अपितु श्रुत घोषित करता है। श्रुत और रचित दोनों ही आकाश एवं पृथ्वी की भांति परस्पर भिन्न हैं। ईश्वरीय ज्ञान को जिस रूप में सुना गया वही श्रुति के रूप में आज विद्यमान है।

"यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः" इस श्रुति के आधार पर इस आदियज्ञ के सम्बन्ध में हमारा ध्यान जाता है जिसकी परिकल्पना मानव मस्तिष्क के लिए खपुष्प है। सम्पूर्ण संसार ही नहीं अपितु सकल ब्रह्माण्ड भी उसी यज्ञ प्रक्रिया के निरन्तर संचालन से सम्पन्न हो रहा है। यज्ञ की क्रिया अवाधगति से अविराम क्रियान्वित हो रही है। "अग्नीषोमात्मकंजगत्" अग्नि और सोम इन्हीं दो तत्त्वों के फल-स्वरूप यह जगत् विद्यमान है। इस जगत् के सम्पूर्ण कार्य परिणामित उसी गति से होते हैं जिस अटूट-गति एवं नियम से सूर्य चन्द्र उदय एवं अस्त होते हैं। सूर्य का परमप्रकाश कितने युगों से समुद्दीप्त होता हुआ भी न्यूनाधिक नहीं हो रहा, इसका मुख्य कारण सूर्य से नौ करोड़ कोस दूरी पर स्थित सोम नामक पदार्थ जो जल का अत्यन्त सूक्ष्म रूप है, सतत गति से अग्निमय पिण्ड के गर्भ में अहर्निश प्रतिक्षण पतित हो रहा है। सोम का अग्निमय भास्वर में सन्तुलित रूप से स्वाहा स्वधा का प्रक्रम होने के कारण प्रकाशपुंज भी एक ही रूप में नियमबद्ध होता रहता है, वही सोम का मध्यम रूप जल के रूप में चन्द्र किरणों में शैत्य उत्पन्न करता है। वही मध्यम रूप का सोम औषधीपुंजों में वनस्पति समुदाय में, अहर्निश स्थूल सोम का संचालन करता है, वही स्थूलसोम अर्थात् जल इस जगत के सम्पूर्ण कार्यों का प्राण है। उसी जल की आहुति से हमारी जठराग्नि का अभिवर्द्धन होता

है न कि विनाश। अत्यन्त जलपान से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, क्योंकि संयमित आहुति ही यज्ञ-विज्ञान की मुख्य पद्धति है। इस प्रकार के विज्ञान को मानव ने समझा, उसके अन्तःकरण में आभास किसी पुस्तक के इन अक्षरों के माध्यम से नहीं हुआ क्योंकि पुस्तकें चिरस्थायिनी नहीं होतीं, इनका विनाश, उन्मूलन विलोप प्रायः संसार की अन्य वस्तुओं की भांति सदा से होता आया है तथा होता रहेगा, परन्तु ज्ञान कदापि विलुप्त नहीं हो सकता, उसके विनाश की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। यतः—वह स्वतः ही चिरशाश्वत है। एवं ब्रह्माण्ड के कण कण में एकरस होकर परिव्याप्त है। महाकाल के अखण्ड चक्र में भी वह कभी नहीं फँसता और न कभी सुप्त होता है अपितु उसका बीज ज्यों का त्यों विद्यमान रहता है। यतोवा येन वा यथा वा के आधार पर उसी में अज्ञान रज्जुसर्पवत् प्रतीत होने लगता है। इस सृष्टिमय अज्ञान के प्रलयकाल में सुप्त हो जाने पर सूक्ष्मतम संस्कारों में पिनद्ध ज्ञानाज्ञान उभयभाव पुनः उद्दीप्त हो जाते हैं। उस समय सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान ज्यों का त्यों आभासित एवं आलोकित हो उठता है वह चाहे अग्नि के रूप में हो चाहे अङ्गिरा के, वशिष्ठ तथा भारद्वाजादि महर्षियों के नाम से हो। वशिष्ठभारद्वाजादि मांसपिण्ड उस ज्ञान को प्रगट करने में सक्षम अवश्य हैं परन्तु उसी प्रकार जिस प्रकार कि आकाशवाणी के कार्यक्रम में यंत्र का स्थान है। यंत्र के माध्यम से सुनाई देने वाले सुमधुर संगीत यंत्रजन्य नहीं हैं और न यंत्र निर्मित ही है। अपितु उसका श्रवण उसके माध्यम से अवश्य ही होता है। साधनावस्था के रूप में यंत्र की विशिष्टता तथा गरिमा अवश्य मान्य है। मनुष्य का बाह्य कलेवर मन्त्रों की ऋचाओं का न द्रष्टा है, न गायक है, न कर्ता है, न निर्मापक अपितु उनके प्रकटन करने के हेतु माध्यम अवश्य है। माध्यम स्रष्टा कदापि नहीं हो सकता, माध्यम रचयिता नहीं हो सकता, माध्यम में कर्तृत्वशक्ति का निरास ही रहता है यथा—वाण से मारने में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का वैशिष्ट्य प्रख्यात है। राम के पराक्रम को ही रावण का हन्ता माना जायेगा—माध्यम वाण का कोई शौर्य नहीं, जो रावण कर्मक बन सके। मानव का सूक्ष्म या अतिवाहिक शरीर भी मंत्रों का रचयिता नहीं हो सकता। रेडियो का आभ्यन्तरिक यंत्र भी मधुर संगीत का वादन श्रावण नहीं करा सकता वह केवल अनुवाद कर सकता है। मानव की समस्त क्रियाओं का संचालन पर्यवेक्षण एवं प्रेरण एक दिव्य पारमात्मिक शक्ति के संपर्क से हो रहा है। वह शक्ति सूर्य में प्रकाश एवं ऊष्मा का संचालन कर रही है। वही पारमात्मिक शक्ति चन्द्र मण्डल में प्रकाश एवं शैत्य का सृजन करती हुई क्रीडा कर रही है यथा—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयाविन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पंचमः॥

जगत् में प्रत्येक चेतन के उरःस्थल में विराजित वह शक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की क्रीडा में रत एवं विलासमग्न प्रतीत हो रही हैं उसी असीम एवं सर्वव्यापिनी शक्ति ने इन वेदों का प्रकाश किया है। अस्तु वेद निर्विवाद रूपेण पौरुषेय कदापि न होकर सर्वथा अपौरुषेय ही हैं एवं तुरीय चैतन्य के प्रकाश पुंज द्वारा निर्मित हैं इसमें सन्देह के लिए लेशमात्र भी स्थान नहीं रह जाता। सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि निखिल विश्व में किसी भी वागजाल का नाम वेद नहीं है-इसका कारण मुख्यतः अन्य वाङ्मय अज्ञान से किसी न किसी अंश में संश्लिष्ट अवश्य है। विशुद्धज्ञानाभाव वेद सुसंस्कृत नहीं हो सकता। अङ्गादि वाङ्मय वेद से इसीलिए व्यवहृत किए जाते हैं कि उनमें कहीं पर भी अज्ञान का लेश नहीं है। अपितु सर्वथा अज्ञानाभाव है—अज्ञान का अत्यन्ताभाव ही वेद नाम से पुकारा जाता है। मानव निर्मित कोई वस्तु निर्दोष नहीं हो सकती। इसमें किसी भी प्रमाण की परिपुष्टि

वाञ्छनीय नहीं है। नामकरण के आधार पर भी निःसन्देह यही सिद्ध होता है कि वेद अपौरुषेय हैं क्योंकि वेद शब्द की रचना ज्ञानार्थक विद् धातु से हुई है और वह ज्ञान जो तुरीय चैतन्य का सूचक एवं उद्बोधक है, सर्वव्याप्यत्वविशिष्ट अक्षुण्ण एवं शाश्वत है उसकी सृष्टि कौन करने में समर्थ है? अर्थात् कोई नहीं। उक्त सभी तथ्यों के आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि वेद पौरुषेय नहीं हैं अपितु अपौरुषेय ही हैं। इसके अतिरिक्त एक अन्य पुष्ट प्रमाण भी इस तथ्य का द्योतक है कि वेद अपौरुषेय हैं,पौरुषेय नहीं। वैदिक मान्यता के आधार पर यजुर्वेद दो प्रकार का है। (१) एक कृष्ण यजुर्वेद (२) द्वितीय शुक्ल यजुर्वेद। कृष्ण यजुर्वेद संहिता को तैत्तिरीय संहिता भी कहते हैं। कालगणना भी सभी काल से दो प्रकार की ही चली आरही है। (१) एक सायन गणना (२) द्वितीय-निरयण गणना। सायन गणना चलसंपात से होती है और निरयण गणना स्थिरसंपात से होती है। यह सत्य हैं कि जब तक कोई भी प्रतिभाशाली विशिष्ट व्यक्ति किसी भी वर्तमान सम्पातीय नक्षत्र से समस्त गणना का प्रचार नहीं करता है, तब तक समस्त गणना स्थिरसंपात से ही होती है, परन्तु स्थिरसंपात से गणना करने पर दृश्यगणना में जो अन्तर दिखाई देता चला आरहा है, वह तात्कालिक मनीषियों द्वारा अयनांशों से परिपूर्ण किया जाता था। यह संभव है कि गणित में जब विषमता उपस्थित हो तब तात्कालिक विद्वानों में मतभेद भी होता था। मतभेद में वहाँ कुछ विद्वान तो चलसम्पात से समस्त गणना को करना चाहते थे और कुछ स्थिर संपात से ही गणना करते थे। वहीं कुछ विद्वानों का यह भी मत होता था कि स्थिरसंपात का मास से, दिन से, सम्वत्सरादिकों का श्रीगणेश करना चाहिए। इसके विपरीत कुछ विद्वान् चलसम्पात का दिन से अथवा मास से संवत्सरादि का शुभारंभ करते थे। यहां ऐसा अनुमान किया जाता है कि कृष्ण यजुर्वेद के समय में पूर्वोक्त आन्दोलन भी उपस्थित हुआ है। कृष्ण यजुर्वेद (तैत्रिरीय संहिता) में लिखा हुआ है कि—

फाल्गुणी पूर्णमासे दीक्षेरन् । मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत्फाल्गुणीपूर्णमासो मुखत एव सम्वत्सरमारभ्यदीक्षन्ते । तस्यै कैव निर्यायत्सांमेध्ये विषुवान् संपद्यते । (तै० सं० ७/४/८)

अर्थात् फाल्गुनी पूर्णिमा सम्वत्सर का आरम्भ स्थान है। आरम्भ स्थान से ही वर्ष का आरम्भ करके दीक्षा होती है। परन्तु फाल्गुनी पूर्णिमा वर्ष के आरम्भ में एक दोष होता है। अर्थात् वर्षा ऋतु के अन्तर्गत ही तुला संक्रान्ति होती थी एतदर्थ दोष है। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता है कि चित्रा पूर्णमासे दीक्षेरन् मुखं वा एतत्संवत्सरस्य यत् चित्रा पूर्णमासो मुखत एव सम्वत्सर-मारभ्य दीक्षन्ते तस्य न काचन निर्यामि । (तै० सं० ७/४/८)

अर्थात् चैत्र पूर्णिमा में दीक्षा देनी चाहिए क्योंकि चैत्र की पूर्णिमा आरंभ का स्थान है। अतः आरम्भ स्थान से सम्वत्सर का आरम्भ करके यज्ञों की दीक्षा देनी चाहिए। फलतः यहाँ दोष निवारण सर्वथा हो जाता है।

उक्त श्रुतिद्वय से यह सारांश निकलता है कि सूर्य, चन्द्र की गणना के साथ सायन निरयण गणना भी प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। फाल्गुनी पूर्णिमा एवं चैत्र पूर्णिमा शब्दों से चन्द्रगणना तथा वर्ष शब्द से सूर्य गणना। इसी प्रकार फाल्गुनी पूर्णिमा से बर्षारम्भ की कामना सायन गणना को प्रकाशित करती है।

इस प्रकार सूर्य, चन्द्र निरयण, सायणादि चार प्रकार की गणना यहाँ लिखित प्रतीत होती

है क्योंकि यहाँ सामिध्ये शब्द से बर्षा ऋतु का प्रत्यक्ष बोध होता है। ऐसा होने पर भी कुछ विद्वान वर्षा का आरम्भ स्थिर संपात से करना चाहते थे, कुछ चलसम्पात से वर्ष का आरम्भ करते थे। परन्तु स्थिर सम्पात से वर्षारम्भ में वहाँ सांमेध्यं तुलासंक्रान्ति होती है अर्थात् वर्षाऋतु के मध्य में हां तुला के सूर्य होते हैं। इसलिए दोष उत्पन्न होता है। क्योंकि अयन, ऋतु, वर्ष, इनकी गणना चल सम्पात से ही होती थी। वर्षा, अयन, ऋतु आदि परिवर्तन चल सम्पात से करने पर कोई दोष संभव नहीं होता है। परन्तु स्थिर संपात से गणना करने पर ऋतुपरिवर्तनादि में अन्तर प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। फलतः ऋतुपरिवर्तन चलसंपात से ही होता था।

तैत्रिरीय संहिता के समय में चल सम्पात से वर्षारंभ करने वालों के मत में सिंह की संक्रान्ति के पश्चात् वर्षा ऋतु समाप्त होती थी क्योंकि ऋतुओं की गणना निम्नप्रकार से होती है—

मीन और मेष के सूर्य में वसन्त, वृष, मिथुन के सूर्य में ग्रीष्म,कर्क, सिंह के सूर्य में वर्षा, कन्या, तुला के सूर्य में शरद्, वृश्चिक एवं धन के सूर्य में हेमन्त और मकर, कुम्भ के सूर्य ं शिशिर।

उक्त गणना के आधार पर यदि निरयण से वर्षारंभ माना जाता है तो इस प्रकार से वर्षाऋतु के अन्तिम दिन ही तुला की संक्रान्ति का आरम्भ होता है। भाव यह है कि सायण से वर्षारम्भ करने वालों के मत से जिस दिन सिंह को संकान्ति होती है उसी दिन वर्षा ऋतु की समाप्ति होकर शरद् ऋतु के साथ कन्या की संक्रान्ति का आरम्भ होता था—परन्तु निरयण गणना से उसी दिन तुला की संक्रान्ति होती थो लेकिन कन्या संक्रान्ति के अर्ध से १६ दिन यज्ञों के समान हैं ऐसा भी उल्लेख मिलता है—

ततः शेषाणि कन्यायाः यान्यहानि तुषोडश
ऋतुभिस्तानि तुल्यानि पितृणां दत्तमक्षयम्। सू० सिं० १४/६

अर्थात् कन्या के अग्रिम षोडश अंश श्राद्धकर्म में यज्ञों के समान हैं वहां पितरों को प्रदत्त पदार्थ अक्षय होता है। अतः यदि निरयण से ही वर्षारंभ माना जाता है तो सायण सिंह की समाप्ति के साथ निरयण कन्या की भी समाप्ति हो जाती है। यदि सायणसिह के साथ निरयण कन्या की समाप्ति भी होकर उसी दिन तुला की संक्रान्ति की प्रवृत्ति होती है ती तैत्तिरीय संहिता का यह कथन सर्वथा युक्तसंगत प्रतीत होता है यथा—

"तस्यै कैव निर्यायत्सांमेध्ये विषुवान् संपद्यते"

अर्थात् ऋतु परिवर्तन सायन से ही होता है। अतः सायणसिंह की संक्रान्ति वर्षा ऋतु को होतो है एवं इसके पश्चात् निरयण तुला का संक्रमण होता है और तुला संक्रमण ही विषुवान् होती है। जब सायन सिंह की समाप्ति यदि निरयण कन्या से होती थी तब कन्या के सोलह अंश वर्षाऋतु के अन्तर्गत ही परिसमाप्त होते थे और वर्षाऋतु में कन्यागतकरण निषिद्ध होता था अतएव निरयण गणना में यही एक दोष है कि वर्षाऋतु में ही विषुवान् होता है। अर्थात् तुला संक्रान्ति होती है। वास्तव में कन्यागत एक प्रकार से शरद् ऋतु मध्म में होती है परन्तु निरयणगणना के गणित से वही समय वर्षाऋतु के मध्य गिरता है। अतएव तात्कालिक मनोषियों ने निरयण गणना को सदोष बताया है और सायण गणना को निर्दोष बताया है। धर्मशास्त्रों में श्राद्धादि बहुत से कार्य सायण गणना से ही

करना प्रशस्त बताया गया है। यथा—

अयनांशसंस्कृतोभानुर्गोले चरति सर्वदा
अमुख्यराशिसंक्रांतिस्तुल्य: कालविधिस्तयो:
स्नानदानजपश्राद्धव्रतहोमादिकर्मभि:
सुकृतं चलसंक्रान्तावक्षयं पुरुषोऽश्नुते। (पुलस्त्य धर्मशास्त्र)।

अर्थात् अयनांशों में सुसंस्कृत सूर्य ही सदैव आकाश गोले में विचरण करता है। इसलिए इन चल-संपातरूपी मकरसंक्रांति में स्थान, दान, जप, होमादि कर्म करना अक्षय होता है। वास्तव में सायन-गणना के निर्दोषत्व का कथन युक्तिसंगत ही प्रतीत होता है। क्योंकि उसी से देवयान, पितृयान का आरम्भ होता हैं। इसी प्रमाण के आधार पर समस्त ऋतुऐं अपने अपने समय में आती हैं।

सायन तुला के सूर्य से ही पितृयान का आरम्भ होता है और देवयान मार्ग का अविरोध होता है। अतएव कन्यागत १६ दिनों में पितर-श्राद्धवस्तुओं का सम्यग् भक्षण करके अपने अपने मार्ग में जाते हैं क्योंकि वे देवयान मार्ग के अधिकारी नहीं। अत: देवयान के छैः महीनों में इसी लोक में स्थित उन पितृयाण से गमन के समय में कन्या के १६ दिनों में श्राद्ध के द्वारा उनकी संतृप्ति करके गमनार्थ नियुक्त करते थे। यही कन्यागत रहस्य है। यह कर्म नियत समय में न करने से दोष होता है क्योंकि उस कार्य में प्रदत्त अन्नपानादिक उनके लिए नहीं मिलता है। अतएव निरयण गणना सदोष सिद्ध होती है। इसीलिए कृष्णयजुर्वेद के समय में निरयण सायण का आन्दोलन उपस्थित प्रतीत होता है क्योंकि निरयण गणना की पद्धति से वह समय शुद्ध नहीं माना जाता है। परन्तु सायण गणना की पद्धति से उसी समय में शरद् ऋतु के मध्य में आती थी। अतएव वह समय शुद्ध माना गया है। यह भी संभव है कि तात्कालिक गणितज्ञों ने एकत्रित होकर इस संकट की परिसमाप्ति हो कर दी हो। क्योंकि यहां भी नक्षत्रगणना कृतिका से ही उपलब्ध होती है। वहां सायण, निरयण गणना के भिन्न भिन्न नक्षत्र नहीं लिखे हैं। तैत्तिरीय संहिता में भी नक्षत्र गणना कृत्तिका से ही की गई है (तै० सं ४।४।१०। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि वह नक्षत्र सायण संपात का हैं अथवा निरयण संपात का। यहां सायण नक्षत्र के प्रधानतया घोषित होने से तथ्य सायण के निर्दोष होने से तो यही प्रतीत होता है कि वहां कृत्तिका नक्षत्र वसंत के संपात का ही है।

भाव यह है कि यजुर्वेद के समय में भी वसंत सम्पात कृत्तिका नक्षत्र के ऊपर ही था क्योंकि नक्षत्र गणना कृत्तिका से (तै० सं० ४।४।७) तथा ऋतुपरिवर्तन भी चैत्र से (तै० सं० ४।४।१०) ही की गई हैं। अवएव यह भी संभव है कि उस समय में स्थिर संपात का नक्षत्र, अश्विनी नक्षत्र ही था। क्योंकि स्थिर चल संपात के बीच में केवल ३० दिनों का ही अन्तर था।

उक्त प्रमाण से अश्विनी नक्षत्र ही जानना चाहिए। यह पहले भी निर्दिष्ट किया जा चुका है कि अथर्ववेद के समय में वसंत-संपात कृत्तिका नक्षत्र के ऊपर था तथा उसका समय २०१५ विक्रमीय ५७०१९ वर्षात्मक हुआ। वहां यदि एक चक्र का २६ हजार वर्षों की योजना की जाती है तो यजुर्वेद का समय २०१५ विक्रम तथा शाके १८८०, अङ्कों में ८३००० वर्षात्मक सिद्ध होता है। निष्कर्षत: एक चक्र में ८३००० वर्षात्मककाल सिद्ध होने से यजुर्वेद का निर्माण किसी अन्य चक्र में हुआ है यह निर्विवाद स्पष्ट हो जाता है। यह अत्य समय ही अनन्तता को धारण करता हैं

और यह अनन्तता ही अपौरुषेयता की परिचायिका हैं। यहां कुछ विद्वानों का यह भी कथन विचारणीय है कि ब्राह्मणग्रन्थों में अथर्ववेद, यजुर्वेद में भी यदि वसंत संपात कृत्तिका से ही होता है तो इन सभी का निर्माणकाल एक ही होना चाहिये अर्थात् ये सभी एक ही समय में बने थे यह क्यों नहीं कहा जाता? परन्तु ऐसा नहीं कहा जाता क्योंकि यहाँ भाषा का प्राचीनत्व एवं अर्वाचीनत्व होने से एवं वर्णनपद्धति भिन्न-भिन्न होने से इन सभी वेदों का समय एक कदापि नहीं हो सकता हैं। वास्तव में ब्राह्मण ग्रन्थों में, अथर्ववेद में सायण, निरयण के विषय में कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु कृष्णयजुर्वेद में इस विषय पर गम्भीरतया विचार किया गया है। महाभारत में, ब्राह्मण ग्रन्थों में, अथर्ववेद में, केवल कृत्तिका नक्षत्र की गणना माना है परन्तु कृष्णयजुर्वेद में सायन निरयण गणना की विवेचना पूर्णरूप से मिलती है। साथ ही तैत्तिरीय ब्राह्मण में नक्षत्रों का मुख कृतिका ही कहा जाता है एवं ऋतुओं का मुख वसन्त है ऐसा भी कहा गया है। यह वर्णन महाभारत में, अथर्ववेद में, यजुर्वेद में नहीं मिलता है। वर्णनाभावतया यह निःसन्देह स्वीकार करना पड़ेगा कि इन सबका समय एक नहीं है—अपितु भिन्न-भिन्न ही है। निष्कर्षतः वेदों का अपौरुषेयत्व निर्विवाद स्पष्ट हो जाता है और यह कहना अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि वेद निःसन्देह पौरुषेय न होकर अपौरुषेय ही हैं।

सार्वभौमता—

उक्त समस्त प्रमाणित तथ्यों के आधार पर वेदों की अपौरुषेयता जिस प्रकार स्वयं में निर्विवाद रूप से संसिद्ध होती है उसी प्रकार उसकी सार्वभौमता भी। पौरुषेय पदार्थ कदापि सार्वभौम नहीं हो सकता, परिगणितस्थानाधिष्ठित वस्तु सार्वभौमता की कोटि में नहीं आ सकती। क्योंकि अखण्ड विशुद्ध, सर्वव्यापकत्व आदि गुणों की सम्पत्ति जिसमें नहीं होती वह वस्तु सार्वभौमता की समृद्धि की कदापि अधिकारिणी नहीं हो सकती।

वेदों का ज्ञानप्रवाह विश्व के समस्त वाङ्मय को स्वयं में समाविष्ट मणिसूत्रोपम किये हुए हैं। उसका भाव, उसके सौन्दर्यवाङ्मय के कणकण में परिव्याप्त है। विश्व के समस्त ग्रन्थों में सबसे प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद ही माना गया है। अतः यह निर्विवाद स्वीकार करना पड़ेगा कि—"सकलविश्व की वाणीका आदि – उपजीव्य वाग्जाल वेद ही हैं।" समस्त भाषाबद्ध शैलियों का उद्गमस्थान उदारवितरक ऋग्वेद ही है। अतः उसकी सार्वभौमता उसकी प्राचीनता को लेकर स्वतः सिद्ध है– जिसने समस्त भाषाओं को किसी न किसी रूप में कुछ न कुछ देकर परिपुष्ट किया है यह उसकी सार्वभौमता नहीं तो क्या है? यह ध्रुव सत्य है कि समस्त स्मृतियां श्रुतियों का अनुगमन करती हुई प्रख्यात हुई हैं। इस सम्बन्ध में महाकवि कालिदास स्वयं लिखते हैं कि—

श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्

श्रीमद्भागवतपुराण में अनेक अध्याय ज्यों के त्यों श्रुतियों के निचोड़े हुए अमूल्य रत्न हैं।

सहस्रशीर्षा=इस मन्त्र का ज्यों का त्यों अनुवाद पुराणों में उपलब्ध होता है?

पाश्चात्य विद्वान्— मैक्समूलर, पीटर्सन, ग्रे आदि ने भी वेदों की सार्वभौमता को स्वीकार किया है। भारतीय मनीषी भी एकमत से वेदों की सार्वभौमता के उद्घोषक एवं परिपोषक रहे हैं। भारतीय साहित्य में वेदों का प्रशस्त निधि ज्यों की त्यों परिवर्तित या परिवर्द्धित रूप में उपलब्ध होती है। वैदेशिक साहित्य में संस्कृति के आन्तर्य से उसका रूप पर्याप्तकालावधि के कारण परिच्छिन्न सा होगया

है। अतः प्रत्येक मेधावी विद्वान् वेदों को निर्विवाद अपौरुषेय एवं सार्वभौम स्वीकार करने में लेशमात्र भी संकोच नहीं करता है।

यहाँ यह भी विचारणीय हो जाता है कि यदि वेद अपौरुषेय एवं सार्वभौम नहीं होते तो उनके विषय में पौरुषेयता तथा खण्डता का विवाद ही क्यों खड़ा होता। अन्य ग्रन्थों के सम्बन्ध में इस तर्क ने जन्म क्यों नहीं लिया ?

उक्त विवाद से भी यह सिद्ध होता है कि वेद निर्विवाद सार्वभौमता लिए हुए अपौरुषेय तथा अखण्ड हैं। यथा-ईश्वर है यह भी एक पक्ष है और ईश्वर नहीं है यह भी एक पक्ष है। परन्तु प्रथम पक्ष का समर्थक, परिपोषक आस्तिक है और दूसरे पक्ष का अनुमोदक नास्तिक है— ठीक उसी प्रकार वेद अपौरुषेय हैं यह भी एक पक्ष है और वेद पौरुषेय हैं यह भी एक पक्ष है—परन्तु आस्तिक बुद्धि परायण व्यक्ति प्रथम पक्ष को और नास्तिकमति वाला द्वितीय पक्ष को अपनाता है। अस्तु जिस प्रकार ईश्वरीय सत्ता सार्वभौम है उसी प्रकार वेदों की सत्ता भी निर्विवाद सार्वभौमता एवं अपौरुषेयता की समुद्घोषिका एवं परिपोषिका है। (१)

---

(१) न कश्चित् वेदकर्ता स्यात् वेदस्मर्ता चतुर्मुखः
वेदो नारायणः साक्षात् स्वयंभूः चतुराननः

वेदानां महत्त्वम्

(आचार्य रामचरण दीक्षित, फीरोजाबाद)

वेद्यन्ते ज्ञाप्यन्ते धर्मादयोऽर्था येन स वेदः इति व्युत्पत्या वेदः सकलार्थप्रकाशकः सिद्धयति, विद्लृलाभे, विद् विचारणे, विद् सत्तायाम्, विद्ज्ञाने, इति धातुचतुष्टयादपि वेदशब्दः व्युत्पद्यते। सर्वे धात्वर्थश्च वेदे संगच्छन्ते। प्रायः विदुषां विचारानुसारं वेदा अपौरुषेयाः सन्ति।

परमेष्ठी स्मर्ता (यथा निद्रासमाप्त्यनन्तरं वयं दिनान्तरीयस्मृतिं कुर्मः तद्वत् परमेष्ठी प्रलयकालात् पूर्वं जातायां सृष्टौ सम्पन्नं सर्वं स्मरति, तदानीन्तनं ज्ञानं परमेश्वरस्य कृपया ब्रह्मणः हृदि स्फुरति, एतदेव श्रीमद्भागवतस्य प्रथमश्लोके प्रतिपादितम् स च श्लोक :—

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिज्ञः स्वराट्,
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गो मृषा-
धाम्ना स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

स्वराट् परमेश्वरः हृदा मनसा आदिकवये ब्रह्मणे ब्रह्म वेदं तेने उपदिदेश इति तात्पर्यमत्र स्फुटीकृतम् ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत्-
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

अत्रापि वेदः ईश्वरस्य निःश्वासरूपः प्रतिपादितः एवं विभिन्नैः प्रमाणैः वेदानामपौरुषेयत्वं सिद्ध्यति, केचन वेदान् पौरुषेयान् मन्यन्ते पुरुषशब्देन चेश्वरम् अभिदधति तेषां मतेन वेदस्य निर्माता परमेश्वरः वर्तते । ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः उभयमतेऽपि । समाधिदशायां महर्षयः मन्त्रदर्शनमकुर्वन्, यः ऋषिः यस्य मन्त्रस्य दर्शनमकरोत् स एव तस्य मन्त्रस्य ऋषिः प्रोच्यते ।

साम्प्रतिकाः केचन विद्वांसो वेदान् मनुष्यनिर्मितान् मन्यन्ते ऋग्वेदं च प्राचीनं प्रतिपादयन्ति, तेऽपि वेदानां सर्वाधिकं महत्त्वं प्रामाण्यं च स्वीकुर्वन्ति ।

मनुष्ये भ्रमः प्रमादः विप्रलिप्सा च भवितुं शक्नुवन्ति, अतः वेदानां मनुष्यकर्तृकत्वस्वीकारे प्रामाण्यं न सम्भवति ऋषयोऽपि विशिष्टाः मनुष्या एव तत्कर्तृकत्वस्वीकारेऽपि स दोषो निरसितुं न शक्यते ।

नाद्यावधि च वेदानां कर्तारः कुत्रचिद् ग्रन्थेषुप्रतिपादिताः सन्ति न च कर्णपरम्परया श्रूयन्ते ऋषयो मन्त्रद्रष्टार इति सर्वत्र प्रतिपाद्यते । श्रुतिः अतएव वेदानामपरं नाम, श्रूयते गुरुपरम्परया इति श्रुतिः नतु केनापि क्रियते इत्यभिप्रायः "प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते" एनं विदन्ति वेदेन तस्माद्वेदस्य वेदता ॥

इत्यनेनापि वेदानां वेदत्वं स्वतःप्रामाण्यप्रतिपादनद्वारा प्रतिपादितम्, वेदमूलकत्वादेव स्मृति-पुराणादयः प्रमाणभूताः । वेदविरोधे च सति न प्रामाणिकाः केऽपि ग्रन्थाः इति विदुषां सर्वत्र निर्णयः वर्तते । पूर्वं वेद एक एवासीत् पश्चात् दुर्मेधसः पुरुषान् अवलोक्य परमकृपालुः कृष्णद्वैपायनः विभागचतुष्टयं विधाय चतुर्भ्यःशिष्येभ्यः वेदान् प्रतिपादयामास, ऋग्वेदः यजुर्वेदः, अथर्ववेदः इति तेषां नामानि निश्चितानि विभागकरणादेव सं व्यासः प्रोच्यते यथा च श्रीमद्भागवते प्रतिपादितं प्रथम स्कन्धे—

चातुर्होत्रं कर्म शुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम् ।
व्यदधाद् यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः ।
इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते ॥
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत ॥
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ।
इतिहासपुराणानां पिता मे रोमहर्षणः ॥
त एत ऋषयो वेदं स्वं स्वं व्यस्यन्ननेकधा ।
शिष्यैः प्रशिष्यैस्तच्छिष्यै स्तेवेदाः शाखिनोऽभवन् ॥
त एव वेदा दुर्मेधैर्धार्यन्ते पुरुषैर्यथा ।
एवं चकार भगवान् व्यासः कृपणवत्सलः ॥

परन्तु क्रमशः बुद्धिह्रासः संजातः तदनुसारं वेदानामनेके विभागाः संजाताः। सहस्रवर्त्मा सामवेदः एकशतमध्वर्यु शाखाः एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् नवधाथर्वणो वेदः मिलित्वा ११३१ वेदानां शाखाः सम्पद्यन्ते वर्तमानकाले। एकामपि शाखां न पठितुं शक्नोति मनुष्यः। तत्र कारणं वेदेषु श्रद्धाया अभावः श्रद्धाया अभावे च कारणं निरर्थकत्वबुद्धिः, सापि चाज्ञानमूलिका, अन्यथा सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति इति सिद्धान्तानुसारं लौकिका अलौकिकाश्च लाभाः वेदात् सम्भवन्ति। ज्ञानराशिरयं वेदः, सम्प्रति भारतीया अपि ब्राह्मणा अपि विद्वांसोऽपि केवलं द्वित्रानेव मन्त्रान् जानन्ति, तन्मात्रेणैवात्मानं वेदज्ञं मन्यन्ते।

"सोचिय विप्र जो वेदविहीना"

इति विचारप्रतिपादकस्य श्रीतुलसीकृतरामायणस्य सर्वत्रावालवृद्धं प्रचारः वर्तते। प्रायः अखण्डरामायणपाठः श्रूयते, प्रतिदिनं प्रायः सर्वेजनाः प्रतिदिनं रामायणं पठन्ति परन्तु तेषां पाठः केवलं वाचाभवति मनसि कोऽपि प्रभावः नास्ति, आचरणे किमपि नास्ति।

"परन्तु आचारः प्रथमो धर्मः" "आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" "आचारवान् पुरुषो वेद" इत्यादि सिद्धान्तानुसारेण केवलं वाचा कीर्तनम् निरर्थकम् केवलं वाह्याडम्बर एव सर्वत्र दृश्यते। वेदानां महत्त्वं सर्वे प्रतिपादयन्ति स्वीकुर्वन्ति च परन्तु कुर्वन्ति किमपि न। अनेन वृथाकर्मणा को लाभः निरर्थक एव श्रमः।

येऽपि केचन वेदमन्त्रान् पठन्ति ते केवलं कर्मकाण्डनिपुणा भूत्वा जीविकोपार्जनबुद्ध्या तदध्ययनं कुर्वन्ति कोर्थस्तेषां मन्त्राणाम् इति न ज्ञातुमिच्छन्ति न च चेष्टन्ते तज्ज्ञानाय एतादृशाः वेदाध्येतारः—निन्दिता एव तथा चोक्तम्।

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत् अधीत्य वेदं न विजानाति योर्थम्"। योर्थज्ञः इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा, यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य। इत्यादिप्रकारेण निन्दा श्रूयतेऽर्थज्ञानविहीनस्य, प्रशंसा चार्थज्ञस्य, स्तुतिं कुर्वाणो यदि स्तोत्रस्य नार्थं वेत्ति तर्हि नानन्दमनुभवति न च तन्मयतां प्राप्नोति एवम्—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः। भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः स्थिरैरङ्गै स्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहिदेवहितं यदायुः॥

इत्यादीन् मन्त्रान् पठन्तः नानन्दमनुभवन्ति न पुण्यमधिगन्तुमर्हन्ति न च मन्त्रनिर्दिष्टे कर्मणि तेषां प्रवृत्तिः सम्भवति। न च कोऽपि प्रभावस्तेषामुपरि पतति न च कमप्यादर्शं पालयितुं चेष्टन्ते। गामानायेति वाक्यस्यार्थमजानानः बालकः कथम् गामानेतुं शक्नोति कथं च तद्विषयकं ज्ञानं प्राप्तुं शक्नोति एवं अर्थज्ञानशून्यम् वृथाप्रायमध्ययनं वेदस्य।

यद्यपि स्तुतिविषयीभूतः परमेश्वरः निगदमात्रेण पाठेऽपि कृपाभावं कर्तुं शक्नोति सकलार्थाभिज्ञत्वात् परन्तु भावरहितं स्तोत्रमपि न तथा फलदं यथा भावयुक्तम्।

"ब्राह्मणेन निष्कारणः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इत्युत्तमाधिकारिभिः षडङ्गो वेदः स्वयमेव लौकिकफलमनुद्दिश्य पठनीयः मध्यमाधिकारिभिश्च लौकिकालौकिकफलप्राप्तिबुद्ध्या पठनीयः; अधमाधिकारिभिश्च केवलं लौकिकफलप्राप्तिसंभावनया पठनीयः लौकिकालौकिक

फलप्राप्तिः वेदात् साधु सम्पद्यते इति निश्चितम्, प्रायः साम्प्रतं वेदं न केऽपि पठन्ति। सम्प्रति येऽपि संस्कृतं पठन्ति ते केवलं व्याकरणं पठन्ति तदनु साहित्यादिकं तन्मात्रेणैव कृतार्थमात्मानं मन्यमानाः वेदे न लेशतोऽपि ध्यानं ददति व्याकरणं शिक्षा कल्पो निरुक्तं ज्यौतिषं छन्दः इति षडङ्गेष्वपि "मुखं व्याकरणं स्मृतमिति" केवलं व्याकरणं पठन्ति अन्यानि चांगानि उपेक्षन्ते वेदेषु श्रद्धैव नास्ति।

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र ? व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो माभूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत्॥

इति प्रतिपादितरीत्या व्याकरणाध्ययनं परमावश्यकम् तथाप्यङ्गिन उपेक्षायाम् अङ्गस्य परिपोषणे को लाभः न हि मृतस्य शरीरस्य शृंगारः अभिनन्दनीयः।

आत्मनः सत्तायामेव सर्वं शोभते, वेदाध्ययनेन को लाभः इति प्रश्नः समेषां पुरतः प्रमुखरूपेण समुल्लसति, कारणमेतत् अधुना तादृशाः त्यागमूर्तयः कणादपिप्पलादगौतमादिसदृशाः महर्षयः न सन्ति न च सर्वे तादृशाः भवितुं शक्नुवन्ति "किमहं तेन कुर्याम् येन नामृता स्याम्" इति वित्तनिन्दा-निपुणामैत्रेयीतुल्याः स्त्रियः पुरुषाः वा न सम्भवन्ति।

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्। कश्चिद् धीरः प्रत्य-गात्मानमैक्षत् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ इति मन्त्रोक्तरीत्या तादृशाः पुरुषाः द्वित्रा एव सम्भवन्ति।

लौकिकफलमेव प्रायः सर्वे कामयन्ते अलौकिके फले च नास्ति विश्वासः श्रद्धा च, भौतिकेषु पदार्थेषु चासक्तिः आध्यात्मिके च भावे नास्ति लेशतोऽपि भावः।

वस्तुतः विचारणीयोऽयं विषयः एकः भारतीयः संस्कृतज्ञः वेदपाठीविद्वान् जर्मनदेशे गतः। तत्रत्या विद्वांसस्तस्य स्वागतं कर्तुं समुपस्थिता अभूवन्। परन्तु अस्मद्देशीयो वेदज्ञो विद्वान् पाश्चात्त्य वेशभूषायामासीत्। तं दृष्ट्वा सर्वे ते श्रद्धाविहीनाः न लेशतोऽपि स्वागतमकुर्वन्। उक्तवन्तश्च वयं भारतीयस्य तद्देशीयवेशभूषाधारिणः तिलकविभूषितभालस्य शिखायज्ञोपवीतधारिणः विदुषः स्वागतं कर्तुं समुपस्थिता न तु अभारतीयस्य भवतः। स लज्जावनतो भूत्वा परावृत्य समागतः। एतेनोदाहरणे-नावगन्तुं शक्यते यत् कीदृशाः विद्वांसः सम्प्रति सन्ति ये स्वयं सदाचारविहीनाः भारतीयसंस्कृतौ न लेशतोऽपि श्रद्धां कुर्वन्ति कथं ते जगद्गुरवो भूत्वा जगति प्रभावं पातयितुमर्हन्ति, यदि स्वयमेव-नास्ति विश्वासः तर्हि कथं ते अन्येषां हृदये विश्वासमुत्पादयितुमर्हन्ति।

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरोजनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते॥

इति गीतोक्तपद्धत्या यदि आचारणं भविष्यति तर्हि स्वयमेवान्ये तथैव आचरिष्यन्ति परन्तु मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यत्। एतादृशी परम्परा दृश्यते, तर्हि का प्रभावस्य सम्भावना वर्तते।

कर्मोपासनाज्ञानम् इति त्रयो विषयाः वेदेषुमुख्यतः प्रतिपादिताः सन्ति पूर्वं कर्मानुष्ठानम् पश्चादुपासना तदनु ज्ञानम् इत्यस्ति क्रमः।

कर्मानुष्ठानेऽपि उपासनाया ज्ञानस्य च सम्मिश्रणं वर्तते परन्तु यस्य प्राधान्यं तन्नाम्नाव्यवहारः यथा मल्लप्रधानो ग्रामः मल्लग्रामः इत्युच्यते यथा च त्रिगुणसत्त्वेऽपि सत्त्वप्रधानः सात्त्विकः रजः-प्रधानः राजसः तमःप्रधानः तामसः उच्यते।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

इत्यस्मिन् मन्त्रे इह शतं समा जिजीविषेत् जीवितुमिच्छेत्तर्हि कर्माणि अग्निहोत्रादीनि कुर्वन्नेव; कर्मशब्देन च शास्त्रविहितानि कर्माणि गृह्यन्ते, कर्माणि च द्विविधानि सकामानि निष्कामाणि च । सकामकर्मभिः केवलं स्वाभीष्टस्य फलस्य प्राप्तिः निष्कामकर्मभिः अन्तःकरणस्य शुद्धिः मुख्यं फलं वर्तते, अभीष्टफलस्य प्राप्तिश्चानुषङ्गतः भवति, अत एव निष्कामकर्म कर्तव्यमिति वेदानुकूलः पन्थाः । सकामकर्मभिः स्वर्गादिफलप्राप्तिः परन्तु सापि विनाशोन्मुखिनी ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

इत्यादिना प्रतिपादितम् ।

न साम्परायः प्रतिभातिबालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

अत्र निष्कामबुद्ध्या शुभकर्मसम्पादने एव श्रेयः इति प्रतिपादितम् तात्पर्यमिदं यत्—

दुर्लभो मानुषो देहः प्राणिनां क्षणभंगुरः ।
तत्रापि दुर्लभं मन्ये वैकुण्ठप्रियदर्शनम् ॥
स वञ्चितो बतात्मध्रुक् कृच्छ्रेण महता भुवि ।
लब्ध्वापवर्ग्यं मानुष्यं विषयेषु विषज्जते ॥

इति प्रतिपादितरीत्या निष्कामकर्म श्रेयोऽर्थिना कार्यमिति वेदानां सिद्धान्तः । उपासनायास्तात्पर्यंत्विदम् उप समीपे आसनम् उपासना, अर्थात् परमात्मनः सान्निध्यप्राप्तिः भौतिकेषु पदार्थेषु संलग्नस्य चेतसः तान् पदार्थान् परित्यज्येश्वराभिमुखीकरणम् सा च तादृशीवृत्तिः अव्यवहिता निरन्तरं प्रवाहशीला च स्यात् ।

निरन्तरं परमात्मनः चिन्तनं कुर्यात्, सा तादृशीवृत्तिः क्रमशः ज्ञानमुत्पादयति, ज्ञानं च वेदेषु उपनिषद्द्वारा सम्यक् प्रतिपादितमस्ति ।

उप समीपमागतानां मानवानां निश्चितरूपेणाज्ञानं सादयति विनाशयति सा उपनिषद् इत्युपनिषच्छब्दार्थः, अष्टोत्तरशतमुपनिषदः वर्तन्ते; तासु च ईश, केन, कठ, प्रश्न, मण्डूक माण्डूक्यैतरेय तैत्तिरीय च्छान्दोग्य वृहदारण्यकाभिधेयाः मुख्या उपनिषदः । आसामेव व्याख्या श्रीमता शङ्कराचार्येण कृता । अन्यैरपि विद्वद्भिः प्राय आसामेव व्याख्यानं विहितम् एता एवोपनिषदः भारतस्यैव न, अपितु सम्पूर्णस्य विश्वस्य सर्वोत्कृष्टाः ग्रन्था वर्तन्ते, अत्र प्रतिपादितम्

तमेवैकं जानीथ ह्यन्या वाचो विमुञ्चथ ।
नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥
इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीत् महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

इत्यादिभिः सहस्रशः मन्त्रैः ज्ञानस्य महिमा प्रतिपादितः। त्रिविधानि कर्माणि विद्यन्ते सञ्चितानि, क्रियमाणानि प्रारब्धानि च पुण्यपापकर्मणां भोगेन नाशः, न सम्भवति अनन्तत्वात् एकस्मिन् भुक्तेऽन्येषामुत्पाद्यमानत्वात्, तस्मात् जन्ममरणचक्रात् कथं मुक्तिः भवेत्, तदर्थं ज्ञानातिरिक्तः नास्ति कश्चनोपायः तथा चोक्तम्—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। तरतिशोकमात्मवित्। तत्र कः शोकः को मोह एकत्वमनुपश्यतः इत्यादिना, नाभुक्तं क्षीयते कर्म, ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन! इति विरोधस्य परिहारः प्रारब्धातिरिक्तं कर्म ज्ञानाग्निः भस्मसात् करोति प्रारब्धं कर्म च भोगेन नश्यति इत्यनेन प्रकारेण विज्ञेयः एवं ज्ञानप्राप्त्या निःश्रेयसस्य प्राप्तिः प्रतिपादिता।

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन!।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ!॥
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स तु युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥
ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा इति च तुलसीदासः।

किं बहुना विश्वस्य समस्तैः पण्डितैः ज्ञानस्यमहिमा स्वीकृतः तस्य च ज्ञानस्य प्राप्तिः निष्कामकर्मानुष्ठानात् उपासनया च भवति, अन्तःकरणशुद्धिं विना न कश्चनाधिकारी ज्ञानस्य। तस्मात्—वेदप्रतिपादिते पथि विचरतामेव कल्याणं सुनिश्चितम् अन्येषां तु जायस्व म्रियस्वेत्यनर्थपरम्परा सुनिश्चिता।

अज्ञानेनैव जना वेदानां महत्त्वं नानुभवन्ति तस्मात् सर्वैः वेदानामध्ययनं गुरुपरम्परया कार्यम् अर्थानुसन्धानपूर्वकम् तत्र निर्दिष्टाना कर्तव्यानां च पालनं कार्यम्

तदैव लौकिकस्यालौकिकस्य फलस्योपलब्धिर्भविष्यति। क्षणिकायामुन्नतौ ध्यानं न देयम् अधिकारप्राप्त्यर्थंयमनियमादीनां पालनं तत्परतया विधेयम्।

श्रीमहाराजचरणानां वेदेष्वतीवश्रद्धासीत्, तैः अनेके वेदपाठिनः विद्यालये नियुक्ताः। प्रतिदिनं सायं समये वेदाध्येतारश्छात्राः तेषां सन्निधौ वेदपाठमकुर्वन्। शुक्लयजुर्वेदीयमान्ध्यदिनसंहितायाएकस्याध्यायस्य पाठम् सस्वरम् पुस्तकमनवलोक्य छात्राः प्रतिदिनम् अकुर्वन् तेषां प्रेरणया अनेके वेदाध्येतारः छात्राः संजाताः।

वैदिक विष्णु और श्रीकृष्ण

(डा० पुरूषोत्तमदास अग्रवाल एम. ए., पी-एच. डी., दिल्ली)

भगवान् श्रीकृष्ण के प्रभाव की व्यापकता के समक्ष आज तक किसी ने प्रश्न नहीं उठाया है। हिन्दी का सम्पूर्ण मध्यकालीन साहित्य इनसे अनुप्राणित है। उनके अनेक गुणों का इस काल में उद्घाटन हुआ है। इन गुणों में सर्वव्यापकता गुण का महत्व निर्विवाद है। इनके कारणों पर विचार करना जिज्ञासुओं की जिज्ञासा की तृप्ति का साधन होगा।

वैदिक साहित्य में विष्णु सम्बन्धी अनेक गुणों का वर्णन है। उनमें उनकी व्यापकता का चित्रण अनेकशः किया गया है। इस शब्द का अर्थ, प्रवेश, या 'व्याप्ति' है। विश् धातु से निष्पन्न इस शब्द द्वारा सम्पूर्ण विश्व में व्यापकता के भाव का बोध होता है। अतः इससे ऐसे व्यक्तित्त्व का ज्ञान होता है जो सर्वव्यापक रहा हो। वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने विष्णु का अर्थ व्यापनशील माना है। पाश्चात्य विचारक ब्लूमफील्ड के अनुसार 'पृष्ठ पर होकर' (On the back) अर्थ किया गया है। आप्टे ने विश् धातु से निष्पन्न इस शब्द के बारे में बताया है कि उसी की शक्ति से सम्पूर्ण विश्व व्याप्त है। अतः विश् धातु के अर्थ के कारण उसे विष्णु कहा जाता है।[1] यास्क ने कहा है कि "यद् विषितो भवति तद् विष्णुर्भवति'। विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा"। श्रीदुर्गाचार्य के निरुक्त में बताया गया है कि जो समस्त चराचर जगत् को व्याप्त करता है, वही विष्णु है। 'वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स विष्णुः'। एक अन्य स्थल पर रश्मियों द्वारा व्याप्त होने के कारण उसे विष्णु कहा गया है।[2] यहाँ रश्मि शब्द के प्रयोग द्वारा विष्णु के आदित्यपरक रूप को स्वीकार किया गया है। 'विष्णु' शब्द में 'वि' का अर्थ मोक्ष बताया गया है। इससे मोक्षदाता या मोक्ष की योग्यता रखने वाला विष्णु अर्थ का ग्रहण होता है। वेदों में इस मोक्ष का अर्थ इन्द्र द्वारा वृत्र और पणिस से जलमोक्ष का अथवा वरुण द्वारा पाशमोक्ष बताया गया है।[3] इस दृष्टि से विष्णु ही उपेन्द्र कहे जा सकते हैं। इनका भी प्रमुख गुण व्यापकता है।

वेद में विष्णु को 'कुचर' और 'गिरिष्ठा' कहा गया है।[4] उनका दूसरा नाम 'त्रिविक्रम' भी है। अपने पगों से अखिल ब्रह्माण्ड को माप लेने वाली विशेषता के कारण विष्णु एक महान् और व्यापक शक्ति के प्रतीक बनकर हमारे समक्ष आते हैं। आदित्यवाचक भाव का बोधक होकर उनके सम्बन्ध में जिन सूत्रों की चर्चा है, उनमें उनके दो पदों का आधार पृथ्वी और अन्तरिक्ष को चक्षु

---

१ यस्माद्विश्वमिदं सर्वं तस्य शक्त्यां महात्मनः।
तस्मादेवोच्यते विष्णुर्विश्धातोः प्रवेशनात् ॥

२ यदारश्मिभिरतिशयेनामं व्याप्तो भवति, व्याप्नोतिवा रश्मिभिरयं सर्वम्। तद् विष्णुरादित्यो भवति। निरुक्त २।३।३

३ सूर की झांकी—पृ० १७ डा० सत्येन्द्र।

४ प्रतद् विष्णुः स्तवके वीर्येण मृगो न भीमः कुचरे गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥ ऋग्वेद १।५४।२

का विषय बताया गया है। तीसरा 'परम पद' अदृश्य है, परन्तु आकाश की ओर ध्यान लगाकर विद्वान् उसे देख सकते हैं।[5] सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को मापने की यह शक्ति उनकी व्यापकता से ही प्राप्त हुई है। कहा गया है कि 'अदम्य विष्णु गोप' ने तीन पदों में ही ब्रह्माण्ड को माप लिया।[6] उन्होंने| तीन पग किये और ब्रह्माण्ड को लाँघ गये।[7] विष्णु का तीसरा पग पक्षियों के लिए भी अगम्य है।[8] यह पग मधु का उत्स है।[9] आगे चलकर इस पग की महत्ता इतनी बढ़ गई कि वही साधकों का प्राप्य बन गया। वामनावतार में भगवान् विष्णु के तीन पगों की महिमा का गान हुआ है। इन मंत्रों में प्रयुक्त 'गोपा' का अर्थ गौओं का पालन करने वाला है। श्रीकृष्ण का सम्बन्ध गायों से अधिक रहा है। इस मंत्र में सींगों वाली गायों का वर्णन है।[10] सींगयुक्त गायों का यह स्थान विष्णु का 'परमपद' है। बाद के वैष्णव साधकों ने इसे ही परमपद, बैकुण्ठ या 'गोलोक' कहा है और गोलोक की प्राप्ति को जीवन का चरम एवं अन्तिम लक्ष्य माना गया है। इस प्रकार विष्णु के संदर्भ में वर्णित सभी बातें श्रीकृष्ण में पाई जाती हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि वैदिक विष्णु के गुणों का ही वर्णन भक्ति कालीन श्रीकृष्ण के गुणों में हुआ है।

वेदों में विष्णु के अनेक पर्यायों का वर्णन है। त्रिविक्रम, उरुगाय और गोपा आदि शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुए हैं।[11] परवर्ती साहित्य में श्रीकृष्ण को विष्णु का अवतार और वृष्णि वंश में उत्पन्न माना गया है। श्रीष्कृण की लीलाओं से सम्बन्धित अन्य अनेक शब्दों— राधा, गो, व्रज; अहि, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण, अर्जुन आदि प्रयुक्त हुए हैं।[12] ऋग्वेद के अनेक मंत्रों के द्रष्टा ऋषि श्रीकृष्ण का संकेत भी मिलता है।[13] इसी नाम पर कार्ष्णायण गोत्र चला था। इस सभी बातों से स्पष्ट है कि भक्तिकाल के प्रसिद्ध पौराणिक श्रीकृष्ण ही वैदिक विष्णु हैं।

---

५ तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। ऋग्वेद १।२२।२०

६ त्रीणि पदानि विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। ऋग्वेद १।२२।२८

७ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्। ऋग्वेद १।२२।१७

८ द्वे इन्द्रस्य क्रमणे स्वर्दशोऽभिख्याय मर्त्यो भुरण्यति।
तृतीयस्य नकिरे दधर्षति वयश्चन पतयन्तः पतत्रिणः। ऋग्वेद १।१५५।५

९ उरुक्रमस्य सहिवन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्वः उत्सः। ऋग्वेद १।१५४।५

१० ता वां वास्तून्युश्मति गमध्यै यत्र गावोभूरि शृंगा अयासः।
यत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥ ऋग्वेद १।१५४।६

११ प्रभविष्णु वै शूषमेतुमन्म गिरिक्षितं उरुगामाय वृष्ण। ऋग्वेद १।१५४।३

१२ स्तोत्रं राधानां पते। १।३०।२९ (ii) गवामपव्रजं वृधि। ऋग्वेद १।१०।०
(iii) दास पत्नी अहि गोपा अतिष्ठत। १।३२।११ (iv) त्वं नृचक्षा वृषभानुपूर्वी कृष्णास्वाग्ने अरुणो विभाहि। अथर्ववेद ३।१५।३ (v) तमेदताधारयः कृष्णोषु रोहिणीषु। ऋग्वेद ८।९३।१३
(vi) कृष्णा रुपाणि अर्जुना विवो मदे। ऋग्वेद १०।२१।३

१३ ऋग्वेद मण्डल ८ सू० ८५,८६,८७ तथा मण्डल१०।४२।४४

श्रीकृष्ण के अनादि रूप एवं उनकी अनन्यता में विश्वास रखने वाले तार्किक यह शंका उत्पन्न कर सकते हैं कि वेदों के माध्यम से उनके अस्तित्व को स्वीकार करने पर उनकी अनन्तता के समक्ष प्रश्न का चिह्न लग जायगा। इस शंका पर मेरा विनम्र निवेदन है कि लिखित रूप में किसी का भी वर्णन होने के पहले उसका अस्तित्व पहले से ही बना रहता है। श्रीमद्भागवत के अनुसार महाभारत में इतिहास के माध्यम से वेदों के रहस्य का उद्घाटन हुआ है।[14] इससे ऐतिहासिक दृष्टिकोण और वैदिक रहस्य इन दोनों का युगपत् ज्ञान हो जाता है। अतः वेदों के पंक्तिबद्ध होने के बाद ही श्रीकृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति होने लग गई होगी। साथ ही श्रीकृष्ण से सम्बन्धित अनेक शब्दों के प्रयोगों में हमारी धार्मिक भावना ने उनका अस्तित्व वेदों में पा लिया होगा। डा० हरबंशलाल शर्मा का मत है कि इन मंत्रों में प्रयुक्त शब्दों का सम्बन्ध गोपाल कृष्ण से नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वैदिक विष्णु का सम्बन्ध महाभारत के श्रीकृष्ण से जोड़ दिया गया उसी प्रकार इन सभी शब्दों का उपयोग पौराणिक युग में श्रीकृष्ण के लिये कर लिया गया।[15] डा० मुंशीराम शर्मा ने इसका समर्थन करते हुए कहा है कि वेदों में जो राधा, विष्णु, कृष्ण आदि शब्द आये हैं, वे ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम नहीं हैं। ऐतिहासिक व्यक्तियों एवं पदार्थों के नाम वेदों के शब्दों को देखकर रखे गये । वे शब्द पहले के हैं और ऐतिहासिक व्यक्ति बाद में हुए हैं।[16] इससे स्पष्ट है कि इन्हीं शब्दों का प्रयोग अवतारों के लिये होने लग गया होगा।

वेदों में विष्णु का आदित्यपरक नाम भी मिलता है। द्वादश संख्या वाले आदित्य यज्ञ के सहायक हैं। इससे विष्णु को देवताओं में श्रेष्ठ माना गया है "तस्मादाहुः विष्णुर्देवानाम् श्रेष्ठाः।" अन्य अनेक ग्रन्थों में भी विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। मैत्रेय उपनिषद् में इन्हें अन्नरूप में पोषक माना गया है। आदित्य की ऊष्मा से अन्न का पोषण प्रसिद्ध है इससे विष्णु में आदित्य के गुणों का समावेश हो जाता है। अतः स्पष्ट है कि सूर्य, विष्णु और आदित्य आदि विभिन्न नाम एक ही देवता के कार्यानुसार अलग अलग नाम हैं।

विष्णु को आदित्य का पर्याय मानने का विशेष कारण है। वेदों में वर्णित विष्णु के तीसरे पद को 'परम पद' कहा गया है। यह आकाश में स्थित रहता है। अपनी इस व्यापकता के कारण विष्णु शब्द पूषन्, मित्र आदि अन्य शब्दों की भाँति सूर्य का पर्याय प्रतीत होता है। तीन पगों द्वारा ब्रह्माण्ड को माप लेने वाले गुण के कारण अन्य विशेषणों की अपेक्षा इस शब्द की महत्ता बढ़ी और स्वतन्त्र देवता के रूप में विष्णु का अस्तित्व स्वीकार किया जाने लगा। गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि मैं आदित्यों में विष्णु और ज्योति पुंजों में रवि हूँ।[18] अन्य स्थल पर श्रीकृष्ण ने

---

१४ भारत व्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः। भागवत १।४।२८

१५ सूर और उनका साहित्य पृ० १२५ डा० हरवंशलाल

१६ भारतीय साधना और सूर साहित्य पृ० १६९ सं० २०१० वि० का संस्करण

१७ एकादशास तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।
जघान्यास सतु सर्वेषामादित्या नाम गुणाधिकः। ४।५५।१९

१८ आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्। गीता १०।१२

स्वयं को वेदों में सामवेद और देवताओं में इन्द्र माना है [19]। इन्द्र के प्रति यह भावना निष्प्रयोजन नहीं रही है। वैदिक मंत्रों में अग्नि एवं इन्द्र की स्तुति सबसे अधिक है। ये दोनों प्रधान देवता के रूप में मान्य थे। अतः इन्हीं के व्यक्तित्त्व की विशेषतायें विष्णु में समाहित कर दी गई होंगी। यही कारण है कि परवर्ती मंत्रों में इन्द्र के साथ विष्णु की गणना भी होने लग गई थी।

ऋग्वेद में विष्णु की चर्चा इन्द्र-सखा के रूप में है। वृत्रासुर-बध-प्रसंग पर विष्णु का विक्रम वर्णित है। अनेक वैदिक सूत्रों द्वारा कभी स्वतन्त्र रूप में और कभी अन्य देवताओं के संग विष्णु का वर्णन है। यजुर्वेद में यज्ञ की महत्ता के साथ विष्णु का महत्त्व भी बढ़ने लगा। इससे विष्णु को ही यज्ञ-रूप मान लिया गया। विष्णु के लिये 'ऋतस्य गर्भम्' और 'यज्ञोहवै विष्णुः' कहा गया है। इनके इस यज्ञ रूप का अधिक प्रचार हुआ।

यजुर्वेद में विष्णु, उपेन्द्र और इन्द्र-सहायक अर्थ में भी प्रयुक्त होने लगे। यज्ञ को विष्णु की संज्ञा प्राप्त हुई। कर्म-क्षेत्र की यह प्रधानता यहीं तक सीमित न रहकर ज्ञान-क्षेत्र में भी पहुँच गई। यज्ञ का कर्म पक्ष के साथ ही उसके मानसिक स्वरूप का ग्रहण होने लगा। आगे चलकर ब्राह्मण और आरण्यक काल में वैदिक यज्ञ कर्म के साथ मानसिक रूप एवं तथ्यों के विश्लेषण के सामंजस्य से ब्रह्म को परमतत्त्व के रूप में स्वीकार किया। इस ब्रह्म का महत्त्व बढ़ जाने के कारण वैदिक कर्मकाण्डों के समक्ष प्रश्न का चिह्न लग गया। उपनिषद् काल में विष्णु ब्रह्म के समान सर्वव्यापक हो गये। इन्हें ही जगत्-पालक और देवों में सर्वोच्च स्थान का अधिकारी माना गया [20]।

उपनिषदों का मुख्य विषय ब्रह्म का चिन्तन है। सामवेद के केनोपनिषद् में ब्रह्म की शक्तिमत्ता और विचित्रता का कथन हुआ है। वहाँ ब्रह्म को इन्द्र, अग्नि, वायु आदि अनेक देवताओं से अधिक शक्तिशाली बताया गया है। उसे सर्वव्यापक माना गया है [21]। ब्रह्म के इसी गुण के कारण इसे ऋग्वेद के विष्णु के समकक्ष मान गया। परवर्ती ग्रन्थों में विष्णु के इसी रूप की चर्चा की गई है।

अन्य वैदिक ग्रन्थों में विष्णु का परिवर्द्धित रूप दिखाई पड़ता है। इन वैदिक ग्रन्थों में ब्राह्मण, आरण्यक ओर उपनिषद् की गणना होती है। कठोपनिषद् में विष्णु के परम पद की प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया गया है। मैत्रेय इन्हें अन्नरूप में पोषक मानता है। शतपथ ब्राह्मण में इनके वामन रूप का विकास होता है [22]। ब्रह्म की भाँति विष्णु भी कल्पनातीत होता है। यज्ञ निष्ठा की दृष्टि में विष्णु अग्रणी हैं। इनकी अलौकिक कथा का चामत्कारिक ढंग से वर्णन किया गया है। वैदिककाल में जो महत्त्व इन्द्र को प्राप्त था, ब्राह्मणकाल में वही महत्त्व विष्णु को मिल गया। शतपथ ब्राह्मण में विष्णु के अन्य अवतारों का वर्णन हुआ [3]। यहीं पर विष्णु के साथ नारायण

---

१९ वेदानाम् सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ॥ गीता १०।२२

२० विज्ञान सारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम्। कठोपनिषद् ३।९

२१ ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्द्धवञ्च प्रसृतं ब्रह्मवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।

२२ शतपथ ब्राह्मण १।२।५

२३ शतपथ ब्राह्मण १।८।१-२-१०।१४।३५,१४।१।२।११

की चर्चा हुई। तैत्तिरीय आरण्यक में विष्णु को नृसिंह कहा गया है[24]। बाद में इनको ही पुरुषोत्तम वासुदेव और देवकीपुत्र माना गया। यहीं से विभिन्न सम्प्रदायों में विष्णु अनेक नामों से प्रसिद्ध होने लगे। वैष्णव सम्प्रदाय ने इन्हें यशोदोत्संगलालित श्रीकृष्ण के रूप में ग्रहण किया। श्रीकृष्ण का यही बाल एवं राधारमण रूप भक्तों का सर्वस्व बना। इसी को आलम्बन बनाकर सम्पूर्ण श्रीकृष्ण साहित्य का सृजन हुआ। यह कृष्ण अन्य व्यक्तित्व वाले न होकर वैदिक विष्णु के ही रूपान्तर हैं। अतः विष्णु और श्रीकृष्ण में अभेद है, भेद केवल नाम मात्र का हैं। विष्णु ही नारायण, वासुदेव, कृष्ण आदि अनेक नामों से मान्य हुए। इन पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। विष्णु की व्यापकता के सम्बन्ध में बताया जा चुका है। अवतार की कल्पना में ब्राह्मण और उपनिषद् में वर्णित नारायण को कृष्ण का अवतार[25] बताकर विष्णु और श्रीकृष्ण का तादात्म्य स्थापित किया गया है। उपनिषदों के अनेक प्रसंगों पर अवतार की कल्पना की गई है। छान्दोग्य उपनिषद् में देवकीपुत्र श्रीकृष्ण का वर्णन है[26]। यहाँ श्रीकृष्ण को घोर आंगिरस का शिष्य और देवकी का पुत्र माना गया है। कौशीतकी ब्राह्मण में भी श्रीकृष्ण के गुरु अंगिरस की चर्चा है[27]। ब्रह्म पुराणकार ने इन सभी नामों को एक ही बताया है[28]। एक ही श्रीकृष्ण शाश्वत धर्म के उपदेष्टा ईश्वर और परब्रह्म माने गये हैं। यजुर्वेद (३१/२२) में "श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यो" कहा गया है। इस सूक्त में विष्णु की दो पत्नीयों श्री और लक्ष्मी का कथन हुआ है। इससे भी श्रीकृष्ण का विष्णु और नारायण के साथ एकत्व सिद्ध होता है।

वैष्णव सम्प्रदायों ने विष्णु की व्यापकता के आकर्षण से इन्हें नारायण रूप में ग्रहण किया है। नर के अयन का अन्तिम लक्ष्य नारायण ही हैं। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में (१०।२५।५-६) नारायण का संकेत है। मनुस्मृति में नारायण शब्द की व्याख्या की गई है[29]। ऋग्वेद के दशम मण्डल के पुरुष सूक्त में जिस पुरुष की विशद् चर्चा की गई है, उसके सम्बन्ध में शतपथ का मत है कि वह पुरुष ही नारायण है[30]। इसी पुरुष के पञ्चरात्रि यज्ञ से सभी वस्तुयें उत्पन्न हुईं। नर को भी इसी से उत्पन्न माना गया। तैत्तिरीय आरण्यक ने इसी नारायण को वासुदेव कहा है "नारायणाय विद्महे

---

२४ तैत्तिरीय आरण्यक १०।१।८

२५ शतपथ ब्राह्मण १२।३।४ और तैत्तिरीय आरण्यक १०।११

२६ तद्धैतद् घोर आंगिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय उक्त्वा उवाच। अपिपास एव स बभूव। सोऽन्तवेलाया-मेतन्त्रयं प्रतिपद्येते। अक्षितमसि, अच्युतमसि, प्राणशंशितमसि। छान्दोग्य-उपनिषद् ३।१७।६

२७ कृष्णो हि तदांगिरसो ब्राह्मणान् छन्दसीयं तृतीयं सवनं ददर्श। कौशितकी ब्राह्मण।

२८ विष्णुत्वं श्रूयते यस्य हरित्वं च कृते युगे। ७
वैकुण्ठत्वं च देवेषु कृष्णत्वं मानुषेषु च।
....
नारायणो ह्यनन्तात्मा, प्रभवोऽव्यय एव च। ब्रह्मपुराण-अध्याय ७०

२९ आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायण स्मृतः। मनुस्मृति १।४

३० पुरुषम् हि नारायणम् प्रजापतिरुवाच। शतपथ १४।३-४

वासुदेवाय धीमहितन्नो विष्णुः प्रचोदयात् ।" इसी आरण्यक में कूर्मावतार (१।२३।१) और वासुदेव श्रीकृष्ण (१०।१।१६) का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में विष्णु को परम देवता कहा गया हैं।[31] इसी विष्णु के पूजार्ह रूप को नारायण कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में भी नारायण का नाम है।[32] वृहन्नाराय णोपनिषद् में विष्णु को हरि कहकर वासुदेव और हरि से नारायण का सम्बन्ध स्थापित किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में भी विष्णु और नारायण का सम्बन्ध एवं एकत्व है। यहां वे ब्रह्मस्थानीय हो जाते हैं। (१०।११) इससे विष्णु को विशिष्टता का ज्ञान होता हैं।[33] ऋग्वेद में सृष्टि रचना प्रसंग पर ब्रह्मा की उत्पत्ति नारायण की नाभि से बतायी गयी है ।[34] यहीं पर पाञ्चरात्र सत्र का प्रयोजक पुरुष और पुरुष-सूक्त का कर्ता नारायण को माना गया है।[35] शतपथ ब्राह्मण की एक कथा के अनुसार पुरुष नारायण ने एक बार स्वयं यज्ञस्थान पर निवास करके वसुओं, रुद्रों और आदित्यों को कहीं अन्यत्र भेज दिया और यज्ञ सम्पादित करके स्वयं सर्वव्यापी बन गये (१२।३।४)। यहीं पर पुरुष द्वारा पाञ्चरात्र सत्र को करके श्रेष्ठ बन जाने का वर्णन है। अतः नारायण ही पुरुष, परमात्मा, विष्णु और ब्रह्म के बोधक बने। यही नारायण कृष्णरूप में मान्य हुए हैं।

इसी नारायण को मानव प्रकृति से युक्त साकार रूप में माना गया। नारायण और विष्णु दोनों एक हैं। परवर्ती ग्रन्थों में यही रूप वासुदेव कृष्ण में विकसित हो गया। महाभारत में इस विचार का समर्थन हैं। आरम्भ में विष्णु यज्ञपुरुष, उपेन्द्र और इन्द्र के सहायक थे। नारायण सृष्टि के कर्ता बने। अतः ब्राह्मण-काल में विष्णु का परमदेवत्त्व नारायण के ईश्वरत्त्व रूप में विकसित हुआ। पांचरात्र का सम्बन्ध वासुदेव से था। बाद में नारायण का वासुदेव श्रीकृष्ण में विलीनीकरण हो गया। गीता के विश्वरूप में विष्णु का चित्र हैं। इसी वैदिक विष्णु का विकसित रूप भक्तिकालीन साहित्य में ग्राह्य हुआ है। विष्णु से श्रीकृष्ण रूप में विकसित होते हुए भी सभी चरित्रों के मूल में गुणों की एकता बनी रही। बाह्यरूप से वैभिन्य दिखाई पड़ते हुए भी उसकी आन्तरिक एकता में कोई अन्तर नहीं आने पाया। वैदिक विष्णु ही इन्द्र, नारायण, वासुदेव और श्रीकृष्ण के प्रतिरूप होकर भक्तिकाल के लोकरंजक कृष्ण बने। इन्द्र और कृष्ण की कथाओं की समता इसका समर्थन करती है।

वेद में इन्द्र पराक्रमी राष्ट्रीय नेता के रूप में हैं, वज्रवाहु विशेषण से शोभित हैं। एक दूसरे देवता त्वष्ट्रि के साथ इन्द्र और विष्णु का नाम लिया गया है। यह इन्द्र वृत्र और अहि का हन्ता है। उसकी शक्ति से पृथ्वी और स्वर्ग कांप उठता है। वह पर्वतों में छिद्र करके जल प्रवाहित करता है, दस्युओं को मार भगाता है। साधकों का सहायक और रक्षक है, सम्पूर्ण विश्व का शासक है। इसी की सहायता से देवदूत स्वर्ग से अमरत्त्व ले आते हैं। इन्द्र को व्यापकता और महत्ता को बाद के सर्वमान्य देवता विष्णु में समाहित कर लिया गया।

---

३१ अग्निर्वै देवानां भवमो विष्णुः परमः। तदन्तरेण सर्वा अन्या देवताः। ऐतेरेय ब्राह्मण १।१

३२ शतपथ ब्राह्मण १३।३।४

३३ तैत्तिरीय आरण्यक १४।१।१

३४ ऋग्वेद १०।८२।६

३५ ऋग्वेद—

वैदिक विष्णु को उपेन्द्र भी कहा गया है। विष्णु ही कृष्ण हैं। अतः वैदिक इन्द्र ही परिवर्तित रूप में श्रीकृष्ण कहे जा सकते हैं। इन्द्र का परिचय देने वाले अनेक मंत्रों से इस कथन को पुष्टि हो जाती है:—

यो जात एवप्रथमो मनस्वान् देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्मा द्रोदसी अभ्यसेतां, नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ।।

जिसने जन्म लेते हो देवताओं को पीछे छोड़ दिया, जिसकी शक्ति को समझ दोनों लोक कांपने लगते हैं, वही इन्द्र हैं। श्रीकृष्ण भी जन्म के साथ ही शक्तिशाली और परमदेव बन जाते हैं। इसी प्रकारः—

यो पृथिवी व्यथमानामहंहत्, यः पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयं, यो द्यामस्तभ्रात्स जनास इन्द्रः ।।

जिसने कांपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, क्रुद्ध प्रर्वतों को ठीक किया, अन्तरिक्ष को माप लिया तथा स्वर्ग को सहारा दिया, हे लोगों, वही इन्द्र है।

योहत्वाहिमरिणात्सप्तसिन्धून्, यो गा उदाजदपधा वलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्नि जजान, संवृक्समत्स स जनास इन्द्रः ।

जिसने सर्प को मारकर सात धाराओं को मुक्त किया, जिसने वलि के घेरे से गायों को छुड़ाया, दो चट्टानों से अग्नि उत्पन्न किया, जो युद्धजयी है, वही इन्द्र है।

इन ऋचाओं में वर्णित घटनाओं का साम्य आकस्मिक नहीं कहा जा सकता है। श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्धन पर्वत को उठाना, अन्तरिक्ष को मापना, कालीयनाग को नाथ कर जल को स्वच्छ बनाना, राक्षसों का बध आदि अनेक घटनाओं की समता सन्देह उत्पन्न कर देती है। गायों को मुक्त करने की कथा प्रसिद्ध ही है। इनकी समता देखकर यह कहना पड़ता है कि वैदिक इन्द्र के गुण परवर्ती श्रीकृष्ण के गुणों एवं कार्यों में समाहित हो गये।

उपर्युक्त घटनाओं के अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्थलों पर यह समता देखी जा सकती हैं। ऋग्वेद के मण्डल चार मन्त्र अठारह में इन्द्र के बाल जीवन का वर्णन है। जन्म के अवसर पर इन्द्र की माता की स्तुति श्रीकृष्णजननी देवकी की स्तुति के समान है। दोनों स्थलों पर नाटकीय जीवन से मुक्त करने की प्रार्थना है। वेद में लिखा है, "अयं पन्था अनुविन्तः पुराणो यतो देवा उदजायन्त विश्वे। अतश्चिद् आ जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरममुया पत्तवे कः"। इन पंक्तियों को देखकर यह सम्भावना की जा सकती है कि इन्द्र की माता भी वृत्र जैसे किसी असुर की बन्दिनी रही होंगी। दानव-बध के पूर्व इन्द्र का यह चिन्तन कि मुझे अभी अन्य अनेक कार्य करने हैं, इससे दानव को अभी मारना समीचीन नहीं होगा, श्रीकृष्ण द्वारा कंस-बध के पूर्व किये गये चिन्तन के समान है। सोम की चोरी में माखन चोरी का बीज मिलता है।[36] इसी प्रकार अन्य भी अनेक समतामूलक प्रसंग हैं। हो सकता है कि वैदिक युग में इन्द्र की सर्वमान्यता से आकर्षित होकर उनके गुणों को श्रीकृष्ण में उतार दिया गया हो। दोनों के व्यक्तित्व का साम्य इस कथन को पुष्टि करता है। अतः कहा जा सकता है कि श्रीकृष्ण की साहित्यिक अभिव्यक्ति में इन्द्र के गुणों का महत् योग है। विकास-क्रम में विष्णु में इन्द्र समा गये। पुनः उपेन्द्र और महापुरुष के रूप में उनकी मान्यता हुई। नारायण

---

३६ परायतीं मातरमन्वचष्ट नानुगान्यनुनुगमिमानी ।
त्वष्टु गृहे अपिबत् सोममिन्द्र शतधन्य चम्वोसुतस्य ।।

और वासुदेव आदि नामों को सुशोभित करते हुए श्रीकृष्ण रूप में आविर्भूत हुए। वैष्णव सम्प्रदायों में इन नामों की महत्ता बढ़ी। श्रीमद्भागवत की छाप लग जाने पर भगवानरूप में श्रीकृष्ण सभी कहीं मान्य हुए। ऐसे श्रीकृष्ण का प्रथम विस्तृत वर्णन महाभारत में है। अन्त में कहा जा सकता है कि इन्द्र-विष्णु वैदिक देवता, नारायण ब्राह्मणकालीन देवता और श्रीकृष्ण पौराणिक देवता हो गये। तीनों के गुण और चरित्र के साम्य द्वारा एक ही देवता के तीन विभिन्न नामों का संकेत मिलता है। अतः तीनों एक हैं, भिन्नता केवल नाममात्र की है।

वेद तथा ब्राह्मण

(विद्याभूषण, आचार्य ओंकार मिश्र 'प्रणव' शास्त्री एम० ए०, फीरोजाबाद)

वेद मानव मात्र के कल्याण के लिए आदि सृष्टि में प्रदत्त प्रभु की "अनादिनिधना वाक्" के अनुसार नित्य कल्याणी वाणी है। दूसरे शब्दों में इसको ईश्वरीय ज्ञान के नाम से पुकारा जाता है। सृष्टि के प्रारम्भ में परब्रह्म परमात्मा ही मानव को संसार में रहने-सहने के नियम तथा उसकी सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए सम्पूर्ण विज्ञान की प्रक्रिया का प्रदर्शन अग्नि, वायु, आदित्य एवं अङ्गिरा इन पवित्र चार ऋषियों के हृदय में करते हैं। इन चार ऋषियों के द्वारा श्रुतिपरम्परा से पवित्र वेद का ज्ञान मानव समाज में क्रमशः प्रकाशित एवं विकसित होता जाता है। जीवन-प्रक्रिया के प्रारम्भ में ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति का यह नित्यनियम प्रत्येक सर्ग के आरम्भ में प्रचलित है, और सदैव प्रचलित रहेगा। इसी नियम के आधार पर सम्पूर्ण संसार में ज्ञान विज्ञान की प्रगति एवं विकास दृष्टिगोचर हो रहा है। जिस प्रकार संसार में किसी भी भौतिक निर्माण के लिए मनुष्य को प्रभु-प्रदत्त पदार्थों का साहाय्य अपेक्षित है, उसी प्रकार आध्यात्मिक विचार धारा एवं भाषा विकास के लिए भी परमात्मा के ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता होती है।

कल्पना कीजिये कि सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य उत्पन्न हुआ, उसको बोलना किसने कैसे सिखाया, जबकि आज प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि यदि मानव शिशु को सामाजिक संसर्ग से सर्वथा पृथक रखा जावे तो उसकी कोई भी भाषा नहीं होगी। प्राचीन कतिपय परीक्षणों से भी यह बात सिद्ध है। अनेक बालक जो कि भेड़ियों की संगति में रहे उनके जीवनक्रम से भी यह सिद्ध होता है कि सामाजिक सम्पर्क के बिना मनुष्य रीतिरिवाज, भाषा आदि कुछ भी नहीं सीख सकता। अतः सर्गारम्भ में ज्ञान के साथ साथ भाषा भी परमात्मा ने दी यह मानना ही पड़ेगा, क्यों कि कोई भी ज्ञान भाषा के बिना नहीं दिया जा सकता। भाषा और ज्ञान का सम्बन्ध चोली दामन का सा है। भले ही यह सिद्धान्त पाश्चात्य विद्वानों अथवा उनका अन्धानुकरण करने वाले पौरस्त्य विद्वानों को रुचिकर न हो, किन्तु तर्क सम्मत सत्य यह ही है।

सर्वेषां सतु नामानिकर्माणि च पृथक् पृथक्
वेद शब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्चनिर्ममे ॥१॥

मनु की इस पवित्र मान्यता के आधार पर भी यही बात सिद्ध होती है अर्थात परमात्मा के वेद के द्वारा ही मनुष्य सर्गारम्भ में सभी वस्तुओं के नाम, सभी वर्ग के कर्म, क्रम का ज्ञान हुआ और वेद के आधार पर ही समग्र संस्थाओं का निर्माण किया गया। कदाचित् इसी नियमानुकरण के आधार

पर 'कुर आॅन' में भी यही चर्चा आती है कि 'अल्लातालाः' ने आदम को सभी वस्तुओं के नाम सिखाये। अतः उपरिलिखित धारणा सर्वथा निश्चित ही समझनी चाहिए। सम्प्रति ईश्वरीय ज्ञान के नाम पर अनेक सम्प्रदाय अपने अपने धार्मिक ग्रन्थों को ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में रखना चाहते हैं। अतः ईश्वरीय ज्ञान के परीक्षण के लिए निम्नाङ्कित विचार-निकषाएँ प्रो० रामदेवजी एम० ए० आचार्य गुरुकुल काँगड़ी के मतानुसार प्रस्तुत की जा रही हैं।

१—ईश्वरीय ज्ञान का प्रथम लक्षण यह है कि नाम से ही ज्ञात हो कि वह ज्ञान है। इस लक्षण के आधार पर केवल 'वेद' ही ज्ञान ठहरता है, क्योंकि विद् ज्ञाने धातु से वेद शब्द की निष्पत्ति है। अन्य ग्रन्थों में पारसी मत के ग्रन्थ 'जिन्दावस्था' शब्द का अर्थ पवित्र लेख की व्याख्या है। 'बाइबिल' शब्द का अर्थ बहुत सी साक्षियाँ हैं। (अलकुरान) शब्द यह संयुक्त शब्द है जो कि अरबी भाषा के "कर आ" धातु से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ पढ़ना है। अतः कुरान शब्द का अर्थ है वह लेख जो पढ़ा गया हो। अन्य ग्रन्थों के नामकरण से यह विषय जाना जा सकता है।

२—ईश्वरीय ज्ञान का द्वितीय लक्षण यह है कि उसका आविर्भाव सर्गारम्भ में होना चाहिए। इस आधार पर वेद के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थों का समय अधिकाधिक ४५०० वर्ष के आगे नहीं है। किन्तु वेद वर्तमान सृष्टि के प्रारम्भ में आविर्भूत ज्ञान है जिसको आर्यजाति में प्रचलित सङ्कल्प-परम्परा के आधार पर १ अरब ९७ करोड़ २९ लाख ४९ हजार ७० वर्ष व्यतीत हो रहे है।

३—ईश्वरीय ज्ञान का तृतीय लक्षण यह है कि वह किसी देश विशेष की भाषा में न हो। इस लक्षण के आधार पर भी वेद सृष्टि के आदिमानव की भाषा में आविर्भूत है अर्थात् आदिमानव इसी वैदिक भाषा को बोलता था। किन्तु कुरान् अरबी में, जिन्दावस्था पहलवी में और बाइबिल इबरानी भाषा में प्रकाशित हैं।

४—ईश्वरीय ज्ञान भू भाग के सभी मनुष्यों के लाभार्थ होना चाहिए उसमें किसी देश-विदेश या व्यक्तिविशेष का इतिहास नहीं होना चाहिए। वेद के अतिरिक्त अन्य सभी बाइबिल, कुरान आदि ग्रन्थ इस विशेषता से शून्य हैं क्योंकि उन ग्रन्थों में तत् तद्देशीय दृश्यों, व्यक्तियों या परम्पराओं का वर्णन है।

५—ईश्वरीय ज्ञान का पञ्चम लक्षण यह होना चाहिए कि सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी ईश्वर का ज्ञान सर्वथा त्रुटिरहित, सृष्टिक्रम के अनुकूल अपरिवर्तनीय होना चाहिए। इस आधार पर भी वेदातिरिक्त ग्रन्थ ईश्वरीय ज्ञान की पंक्ति में बैठने के अधिकारी नहीं क्योंकि सभी तौरेत, जेबूर, बाइबिल, कुरान आदि एक के बाद एक मंसूख (स्थगित) किए हुए ग्रन्थ हैं। वेद में सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक लाखों वर्ष व्यतीत होने पर भी एक मात्रा का भी परिवर्तन नहीं हुआ और न हो सकता है, वेद की सर्वोत्तम विशेषता यही है।

"बुद्धिपूर्वावाक्कृतिर्वेदे" इस वैशेषिक दर्शन की मान्यता के आधार पर यह निश्चित है कि वेद में कोई ऐसा निदर्शन नहीं है जो कि मनुष्य की बुद्धि से परतः हो। अतः इस प्रकार के वैशिष्ट्य के आधार पर ही केवल वेद ही प्रभु परमात्मा की वाणी है। इसी के द्वारा सम्पूर्ण भूगोल में सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान का विस्तार हुआ है और इसी के द्वारा मानव-संस्कृति के आध्यात्मिक स्वरूप का प्रचार एवं प्रसार हुआ है। भारतीय वैदिक विद्वन्मण्डल तो "साप्रथमासंस्कृतिविश्विवारा" वेद के इस ऋगंश की मान्यता के आधार पर वेद को सर्वप्रथमा संस्कृतिका मूलस्रोत तो मानते ही है, पाश्चात्य विद्वान् मेक्समूलर, ब्रह्मफील्ड आदि भी वेद को संसार के पुस्तकालयों में सर्वप्राचीन ग्रन्थ

मानते हैं। ऐसे ब्रह्मनिधि वेद के प्रति ब्राह्मणों का उपेक्षा-भाव आश्चर्यजनक एवं खेदजनक ही है।

सम्प्रति जिस तपःपूत, आदर्श ब्राह्मण की पवित्र स्मृति की स्वर्णिम वेला में लेखक की लेखनी से जो शब्द लिखे जा रहे हैं, वे शब्द उस पूज्य पुरुष के उदात्त जीवन को देखते हुए वर्तमान नवीन ब्राह्मण सन्तति के मध्य में तो केवल हास्यास्पद एवं विडम्बना मात्र ही हैं क्योंकि मनु महाराज ने स्पष्ट घोषणा की :—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुतेश्रमम्।
सजीवन्नेवशूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ॥२॥

अर्थात्– जो द्विज साधारणतः तीनों वर्ण एवं विशेषतः ब्राह्मण यदि वेद का अध्ययन छोड़कर अन्यत्र श्रम करता है, तो वह अपने जीवन में ही शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। वर्तमान काल में मनु महाराज के उद्घोषित सिद्धान्त को देखते हुए जब हम वर्तमान ब्राह्मण सन्तति की ओर दृक्पात करते हैं, तो अत्यन्त निराशा एवं खिन्नता का वातावरण देखने को मिलता है। पाश्चात्य सभ्यता के रङ्ग में रंगे हुए भारतीय नवयुवक अधिकांश वेदों के नाम तक नहीं जानते, वेद पढ़ना तो दूर रहा। 'शिखा-सूत्र' की उनके जीवन में कोई मान्यता नहीं, ये दोनों वस्तुएं केवल उपहासास्पद ही हैं। वेदाध्ययन के अभाव में सत्य, संयम, सदाचार आदि शुभ्र गुणों से शून्यजीवन, जीवन की विडम्बना मात्र है। अपने धर्म का ज्ञान न होने के कारण भारतीय युवक शिक्षित वृन्द ऐसी संस्कृति के पाश में जकड़ा जा रहा है जिसकी भारतीय जीवन से कोई संगति नहीं है। देश जब पराधीन था, तब पाश्चात्य वेष भूषा का इतना प्रभाव नहीं था, जितना कि स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय जीवन में देखने को मिल रहा है।

प्राचीन धार्मिक आस्थाओं का स्थान नास्तिकता, उद्दण्डता एवं उच्छृङ्खलताओं ने ग्रहण करा लिया है जिससे भारतीय सन्तति पतन के कगार पर खड़ी हुई विनाश के अथाह समुद्र में मग्न होने की प्रतीक्षा कर रही हैं। विश्वविद्यालयों में जो वेदभाष्य पढ़ाये जाते हैं, वे सर्वथा पाश्चात्य भाष्यकारों के अथवा भारतीय भाष्यकारों के विकृत रूप में प्रदर्शित हैं। जिनसे भारतीय शिक्षित समाज में वेदों के प्रति घोर अश्रद्धा एवं अनास्था का ही वातावरण बन रहा है। जिन ऋषि मुनियों की आध्यात्मिकतापूर्ण विचार धारा से सम्पूर्ण भूगोल लम्बे युग तक सुख शान्त के साम्राज्य में आनन्दित होता रहा है, आज उन ऋषि मुनियों की निर्धारित मान्यतायें केवल ढकोसला बन कर रह गयी हैं।

ऐसी भयावह परिस्थिति का साम्मुख्य करने के लिए भारत के ब्राह्मण समाज को सङ्घटित रूपेण वेद का प्रचार एवं प्रसार करने के लिए प्राणपण से प्रयत्न करना चाहिए जिससे न केवल भारतीय समाज में वेदों के प्रति नवीन श्रद्धा का आधान हो सके बल्कि समस्त संसार—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः ॥१॥

के मनु की इस मान्यता के आधार पर सम्पूर्ण भूगोल भारतीय संस्कृति साहित्य की ओर श्रद्धावनत होकर भारतीय ब्राह्मण गौरव के प्रति नतमस्तक हो सके। जिस महा भाग के लिए इस साहित्यिक श्राद्ध का समारोह स्मारक ग्रन्थ लिखकर किया जारहा है उस महाभाग का पावन जीवन वेदमय होने के कारण वेद प्रचार के लिए सदैव प्रेरणा देता रहेगा ऐसी मेरी ध्रुव धारणा है। शमित्योम्।

वेदांनामाविर्भाव विषये

(श्री श्यामलाल शर्मा, भोजाका)

"वेदानामाविर्भावविषये विभिन्नमतसंकलनम्"
"वैदिकसंस्कृतिरक्षणायोपायचिन्तनम्"

पद्या विरच्यते सूक्ष्मा विद्वद्भिर्दर्शिते पथि ।
गहने विषये ह्यस्मिन् क्व प्रवेशोऽस्ति मादृशाम् ।।१।।

मीमांसकाः प्राहुरपौरुषेयान्कूटस्थनित्यानकृतांश्च पूर्वे ।
तथोत्तरे सांख्यविदस्त्वनित्यानपौरुषेयानकृतांश्चवेदान् ।।२।।

नैयायिकास्तान् पुरुषेश्वरेणकृताननित्यानमनुष्यजातान् ।
नव्या अथ प्राहुरिमांस्तु प्रत्नाः प्रवाहनित्यानृषिनिर्मितांश्च ।।३।।

वैशेषिका विज्ञकृताननित्याँस्तान् पौरुषेयान् खलु वाक्यरूपान् ।
विज्ञानरूपांस्त्वकृतांश्चनित्यानपौरुषेयान्द्विविधांस्त आहुः ।।४।।

मिथोविरुद्धन्त्वपिशास्त्रकृन्मतंशाखाप्रशाखाभिरनेकवत्स्थितम् ।
प्रदर्श्यते भिन्नतया प्रमाणितं–स्थलेषु भिन्नेषु निरूपितं यथा ।।५।।

वेदाः स्युरीश्वराभिन्ना स्तुल्यावापीश्वरेण ते ।
यद्वानिःश्वसितानिस्यु रित्थमात्मस्वरूपिणः ।।६।।

ईश्वरानुग्रहात्प्राप्ता ब्रह्मणा वा महर्षिभिः ।
अजैः पृश्निभिरेवंवाऽथर्वणाङ्गिरसा तथा ।।७।।

पूर्वं वाप्यैश्वरं वाक्यं ब्रह्मणो वापितादृशम् ।
ऋषीणां प्रथमं वाक्यं त्रयोऽप्येते प्रवर्तकाः ।।८।।

वेदशास्त्रस्य तात्पर्यानुसारं वास्य शब्दतः ।
तेनस्मृत्वाऽथ प्राक् कल्पमीश्वरेणजगत्कृतम् ।।९।।

जनयिष्यन् जगत्पूर्वं वेदं जनयतीश्वरः ।
वाचा वा नित्यया वेदं जगच्चोत्पादयत्यसौ ।।१०।।

अनुपादान एवैष स्वेच्छाशक्त्याजगत्तथा ।
वेदञ्चोत्पादयत्येवमीश्वरो मतमीदृशम् ।।११।।

ब्रह्मप्रजापतिद्वारा प्यृषिद्वाराथवेश्वरः ।
वेदं प्रवर्तयामास कृत्वा मतमिदं तथा ।।१२।।

अग्निवायुरविभ्यो वा सूर्याद्वा यज्ञपूरुषात् ।
ईश्वरोऽजनयद्वेदानिति केचिद्विदो विदुः ॥१३॥
ब्रह्मावोद्भावयामास वेदान् मत्स्योऽथवात्विमान् ।
वेदानुद्धारयामास सूर्योवाऽजनयत्त्रयोम् ॥१४॥
अग्निर्वायुश्च सूर्यो वा ते त्रयः पृथगेव तान् ।
जनयामासु रेवं वा सर्वहुद्यज्ञपूरुषः ॥१५॥
ब्रह्मा मत्स्योऽथसूर्योग्निर्वायुः सर्वेऽपितेत्विमे ।
ईश्वरस्यावताराः स्युस्तथायं यज्ञपूरुषः ॥१६॥
प्राक्ताग्न्यनिलादित्यैरभिन्नावाश्रुतित्रयी ।
सूर्य एव त्रयो वेदा स्त्रयो वा यज्ञ एव ते ॥१७॥
प्रक्तेरभ्यजायन्त कालचक्रक्रमादमी ।
सृष्ट्यादौवाप्यजायन्त स्वभावात्ते त्रयः खलु ॥१८॥
लोकेभ्योवापि छन्दोभ्यः स्तोमेभ्य स्त्रिभ्य एव वा ।
सवनेभ्योप्यजायन्त वेदा इति मतं पृथक् ॥१९॥
अथर्वाङ्गिरसोवाप्यपान्तरतमसस्तथा ।
ऋषीणामजपृश्नीनां वाक्यानीमे तथा मताः ॥२०॥
वेदाऋषीणां वाक्यानि वहूनामूर्ध्वरेतसाम् ।
सप्तर्षीणां च वाक्या नीतिकेचिद्विदोविदुः ॥२१॥
आम्नायवचनेभ्यो वा गृहीताः स्वर्गवासिनाम् ।
ऋषीणां भिन्न भिन्नानां दिव्यानामिति वा मतम् ॥२२॥
मन्त्रांशस्येशजातस्याग्निर्वायुः सूर्य इत्यमी ।
ऋषयः प्रवर्तका एव ब्राह्मणा वा पृथक् पृथक् ॥२३॥
मिथोविरुद्धानि मतान्यमूनि प्रमाणबाहुल्यनिरूपितानि ।
जिज्ञासवे संशयकारणानिव्यामोहकारीणि भवन्ति तानि ॥२४॥
केचित्तुतेष्वेकमताभिमानादुराग्रहाद्वाभिनिवेशतो वा ।
कुतर्कशास्त्रै क बलेन सत्यान्यार्षाणि वाक्यान्यपि खण्डयन्ति ॥२५॥
सर्वे तपोज्ञानवलर्धियोगिनोरजस्तमोभ्यां रहितास्तथर्षयः ।
त्रिकालसर्वार्थविदः सदाशयाः कथं भवेयुर्वितथार्थनिश्चयाः ॥२६॥
न ते भवेयु र्हि मृषार्थवादिनो विरुद्धवाचश्च परन्तुमन्महे ।
न विद्म एषामति गूढभावना मिथो विवादांस्तत एव कुर्महे ॥२७॥
विरुद्धदृष्टीरखिलाविहाय समन्वयायैव कृतप्रयत्नैः ।
शक्योऽपनेतुं निखिलोविरोधा भासोयतन्तामिहतद्भवन्तः ॥२८॥

क्रिमीशब्रह्मर्ष्यनलानिलेन स्वभावसप्तर्षिषु निश्चयेऽपि ।
स्मर्तृत्वकर्तृत्वविधो कृतार्थता नवाभवेदित्यधुना विचार्यम् ॥२९॥

उत्सीदति धर्मवृषे विरलाध्ययनेसमस्तवेदांगे ।
लोकेऽर्थकामसक्ते कृशिमानं यातिवेदसाहित्यम् ॥३०॥

कालोव्यतीतः सहि यत्र ब्राह्मणा निष्कारणंसाङ्गमधीत्यवेदम् ।
भोगेष्वनासक्तियाशमादिना वर्तन्त ब्रह्मैकपरा दिवानिशम् ॥३१॥

धर्मेतथागोष्वृषिब्राह्मणेषु समादरोभूद्बहुलः पुरातत् ।
अजायताक्लेशमचिन्तयैषामाजीवनं ब्रह्मपरायणानाम् ॥३२॥

धर्मानुगो राजनयोऽभवत्प्राङ् नापेक्षतेसाम्प्रतमेषकस्तु तम् ।
अश्रद्दधानोऽस्ति जनोह्यलौकिके धर्मादिके वेदविबोधिते पथि ॥३३॥

पाश्चात्त्यशिक्षाप्रसरं तु कारणम् वदन्ति विज्ञाः परमत्रमेमतम् ।
उपेक्षणं विज्ञतमाधिकारिणां श्रुतेर्निमित्तं प्रमुखं ह्यनुन्नतौ ॥३४॥

व्याख्यानमात्रेण कृतार्थता स्यान्नैवात्र कर्तव्यविधेर्विनैव ।
विधीयतां प्राणपणेन कश्चिद् दृढोह्युपायः श्रुतिरक्षणाय ॥३५॥

समयोपयोगियत्स्यादावश्यकताप्रपूर्तये यच्च ।
निस्तिष्ठति तत्र जनः पथ्येतस्मिन् विधीयतां प्रगतिः ॥३६॥

निधायहस्तेयदिहस्तमीदृशेऽस्थास्यन् सुखेनैव विरोधि संकुले ।
शिष्टं च नास्थास्यदिदंहिगौरवम् विरोधमुत्सृज्य प्रयत्यतामतः ॥३७॥



वैदिककाल में नारीशृङ्गार

(डा० (श्रीमती) हर्षनन्दिनी भाटिया, नन्दन, मैरिस रोड, अलीगढ़)

प्रकृति का रूप परिवर्तनशील है। प्रकृति स्वयं समय-समय पर अपने को सजाती रहती है। कभी बसन्त में शीतल, मन्द तथा सुगन्धित वासन्ती वायु चलती है तो कभी सावन की काली-काली घटायें घुमड़कर झमाझम वर्षा कर देती हैं। कभी नन्हीं-नन्हीं फुहार झड़ी लगा देती हैं तो कभी ग्रीष्म ऋतु अपना भीषण रूप प्रकट करती है। ग्रीष्म ऋतु में जो वायु शीतलता प्रदान करती है, जाड़े में वही दुःखदायी बन जाती है। पतझर में वृक्ष के सारे पत्ते झड़ जाते हैं, कुछ समय पश्चात् उन्हीं वृक्षों में कोमल कोपलें निकलने लगती हैं और फिर वृक्ष घने पत्तों से लद जाता है। वृक्षों की हरीतिमा देखकर मन को सन्तोष और आनन्द प्राप्त होता है। फूलों पर भँवरे मँड़राने लगते हैं, तितलियाँ भी गन्ध और रस का विनिमय करती हुई दिखाई पड़ती हैं।

मानव में भी श्रृंगार करने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है। सम्भवतः प्रकृति द्वारा ही मानव में यह प्रवृत्ति आई है। नारियों में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से मिलती है। यह उनकी सहज प्रवृत्ति है कि स्वयं को सुसज्जित करें। शरीर को सहज रूप से सजाने की अभिरुचि नारियों में ही नहीं, आदिकाल में पुरुषों में भी रही है। नारी का सजने-संवरने का चाव तो अत्यन्त स्वाभाविक है।

सृष्टि की रचना के प्रारम्भ से ही नारियाँ अपने शरीर को सजाने में निपुण थीं। जो कुछ भी सहज रूप में प्राप्त हो जाता था, उसी से शरीर को सुसज्जित कर लेती थीं। पत्तों को घघरिया, हड्डियों के आभूषण तथा घोंघों का भी प्रयोग करती थीं। रंगबिरंगी मिट्टी का लेप लगाती थीं।

प्रागैतिहासिक काल में नारियों की सभ्यता का विकास हुआ। साथ ही उनकी प्रवृत्ति में भी परिवर्तन आया। उनके वस्त्र-विधान, श्रृंगार-प्रसाधन तथा आभूषणों का स्वरूप ही बदलता गया।

सिन्धु सभ्यता के युग के चित्रों तथा मूर्तियों को देखकर ज्ञात हो जाता है कि उस समय वस्त्र पहनने की शैली उच्चकोटि की हो चुकी थी। नारियाँ अधिकांश अधसिले वस्त्र ही पहनती थीं। भारत की जलवायु गर्म होने के कारण अधिक वस्त्र पहनने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। नारियाँ कछोटा मार कर लाँगदार साड़ी पहन लेती थीं। कमर पर साड़ी को कसने के लिये पटका या कमर-पट का भी प्रयोग किया जाता था। इन पटकों में फुँदने भी लगे होते थे। वस्त्रों को कन्धे पर भी डाल लेती थीं। राजघराने की महिलायें रेशमी वस्त्र को आगे से बाँधकर पीछे से गाँठ लगा लेती थीं। नारियाँ चादर भी ओढ़ती थीं, जिससे सम्पूर्ण शरीर ढक जाता था। गले में दुपट्टा डालने का प्रचलन भी मिलता है।

सिन्धु-सभ्यता के युग में स्त्रियाँ सिर पर अनेक प्रकार के वस्त्र भी धारण करती थीं। स्त्री और पुरुष दोनों के सिर पर पंखे के आकार का शिरोवस्त्र सम्बद्ध होता था। इसमें कुछ अलंकार भी लगाये जाते थे। शिरोवस्त्र सिर के मध्य भाग से अथवा पीछे की ओर लटकती हुई चोटी के ऊपरी भाग पर नारे से बाँधकर खड़ा किया जाता था। टोपी पहनने का भी प्रचलन था, किन्तु कम ही स्त्रियाँ टोपी पहनती थीं। स्त्रियों की टोपी ढीली-ढाली होती थी। स्त्रियाँ माड़ी लगाकर चिपकाई

हुई नोंकदार टोपियाँ भी धारण करती थीं।[1]

सिन्धु घाटी की सभ्यता का अध्ययन करने से पता चलता हैं कि इस युग में श्रृंगार-प्रसाधन का अधिक विकास हुआ। नारियाँ शरीर की स्वच्छता का विशेष रूप से ध्यान रखती थीं। रूप, रंग और सौन्दर्य को संवारने के लिये श्रृंगार और प्रसाधन की बहुत सामग्री प्राप्त हुई है। स्त्रियाँ माथे पर बिन्दी, आंखों में अंजन, शरीर में अंगराग, हाथों में मेंहदी तथा पैरों में महावर लगाती थीं। चन्दन, उबटन, कस्तूरी आदि का प्रयोग शरीर को सुगन्धित रखने के लिए किया जाता था।

प्राचोन भारतीय सभ्यता के ऐतिहासिक स्थल 'हड़प्पा' में एक श्रृंगारदान प्राप्त हुआ है। इससे तत्कालीन प्रसाधन की नारियों की रुचि का पता लगता है। इस श्रृंगारदान के साथ में छेद करने की वस्तु, कनखोदनी, तथा छोटी चिमटी भी मिली है। प्रसाधन करगे का एक डिब्बा भी प्राप्त हुआ है, जो हाथी दाँत, धातु, मिट्टी या पत्थर का होता था। इन छोटे सुन्दर डिब्बों में चार खाने होते थे, जिनमें मूल्यवान सुगन्ध या श्रृंगार की वस्तुयें रक्खी जाती थीं।

यह स्पष्ट है कि मोहनजोदड़ो की स्त्रियाँ नेत्रों में अंजन, मुख पर लेप तथा अन्यान्य श्रृंगार की वस्तुओं का उपयोग करती थीं। ऐसे छोटे-बड़े शंख भी मिले हैं, जिनमें गालों पर लगाने का लाल और पीला रंग, हरी मिट्टी का टुकड़ा, मुख पर लगाने का श्वेत रंग तथा काला रंग आदि प्रसाधन सामग्री प्राप्त हुई है। इन सब प्राप्त वस्तुओं से यह स्पष्ट है कि प्राचीन भारत की स्त्रियाँ श्रृंगार और प्रसाधन अधिक पसन्द करती थीं।

'कह्न-दड़ों' की खुदाई से प्राप्त वस्तुओं से पता चलता है कि उस समय लिपिस्टिक जैसी वस्तु सीसक के समास, मुख पर लगाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के लेप, आँखों के लिए मरहम और बालों को धोने की वस्तुओं का उपयोग भी होता था। ताँबे और काँसे की बनी ऐसी सलाइयाँ मिली हैं, जिनके किनारे गोल और पालिश किये हुए हैं। जूड़े में लगाने वाले काँटे, सुरमेदानी, कंघो, दर्पण, तथा श्रृंगार की मेज भी मिली है। बालों को बाँधने की कला में नारियाँ निपुण थीं। जूड़े भी बनाती थीं।

अलंकारों से शरीर को सजाने की अभिरुचि होने पर पुष्प, मिट्टी तथा घोंघे की गणना की जाती थी। स्त्रियाँ कानों में कुण्डल तथा कर्णफूल पहनती थीं। करधनी में रत्न गुंथे हुए मिलते हैं। पैरों में पायजेब और झँवर तथा घुटने तक अलंकार और नूपुर भी पहने जाते थे। व्यायाम करके भी शरीर को संवारने का परिचय प्राप्त होता है।

वैदिक काल में वैदिक सभ्यता का विशेष रूप से प्रचार हुआ। आर्यों के समय में कताई और बुनाई की अच्छी उन्नति हुई। कपास से कपड़े बनाने की कला का सबसे प्रथम प्रचार भारत में हुआ। केवल सूती कपड़े ही नहीं, वरन् ऊनी कपड़े भी तैयार किये जाते थे। काले मृग की खाल अत्यन्त पवित्र मानी जाती थी। यज्ञ और पूजा के समय इसे धारण किया जाता था। वेदों में ऐसे रेशमी वस्त्रों का भी उल्लेख मिलता है, जो पेड़ की छाल या अलसी की छाल के रेशे निकाल कर बनाये जाते थे। रेशमी तथा ऊनी वस्त्र धारण करना अत्यन्त पवित्र समझा जाता था।

वस्त्र को सुरुचिपूर्ण ढंग से पहनने का महत्त्व विशेष रूप से वैदिक काल से ही मिलता है।

---

१. नारी का रूप श्रृंगार। पृष्ठ ११०

उच्च कुल के लोग सुन्दर कपड़े धारण करते थे। नारियाँ सुनहले काम के रंगीन कपड़े धारण करती थीं। पोशाक, झालर फीतों से तथा कसीदों से सजाई जाती थी। स्त्रियाँ स्वच्छ साड़ियाँ पहनती थीं। जैसी कि दक्षिण भारत में अब भी स्वच्छ साड़ी बाँधने का प्रचलन है। महिलायें कन्धों पर रेशमी दुपट्टा भी डालती थीं। रेशमी दुकूलों पर राजहंस तथा मयूर आदि चित्रित किये जाते थे।

कपड़े सीने का प्रचलन अधिक नहीं था। ऐसी परिस्थिति में सौचिक के हाथ में किसी के शरीर को सजाने की कला होती थी। जो कपड़े भलीभाँति पहने जाते थे, उन्हें 'सुवसन' कहा जाता था।[1] सुवसन के द्वारा प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व बन जाता था। जो वस्त्र पहनाने वाली स्त्रियाँ होती थीं, उन्हें उस समय 'सुवासिस' कहा जाता था।[2] नेत्रों को सुन्दर लगने वाले वस्त्र का एक और विशेषण भी था 'सुरभि'।[3] वस्त्रों से सज-धज कर नारियों की शोभा अनुपम और मनोहर हो जाती थी।

नये वस्त्र का पहनना अभ्युदय का परिचायक माना जाता था। नये-नये वस्त्र पहनने के समय अग्नि से प्रार्थना की जाती थी कि पहनने वाली नारी अखण्ड सौभाग्यवती तथा अनेक पुत्रों वाली हो।[4] परिवार की बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ ऐसा शुभ आशीर्वाद प्रायः दिया करती थीं। निर्मल वस्त्र पहनने में भी वैदिक काल की स्त्रियाँ विशेष रूप से रुचि लेती थीं। तत्कालीन धारणा के अनुसार निर्मल वस्त्र धारण करने से सौन्दर्य, यश तथा आयु बढ़ती है, दरिद्रता दूर होती है, मन प्रसन्न रहता है, घर की शोभा और लक्ष्मी में भी वृद्धि होती है।

विविध अवसरों पर विविध प्रकार के वस्त्र पहने जाते थे। नित्य निवसन साधारण किन्तु रंगीन होते थे। स्नान के पश्चात् स्त्रियाँ सुन्दर और रंगीन तथा कम मूल्यवान वस्त्र धारण करती थीं, किन्तु उत्सव होने पर सुनहले-रुपहले काम के मूल्यवान वस्त्र सुशोभित किये जाते थे। यज्ञ के अवसर पर यजमान की स्त्री कटि-प्रदेश में धोती के ऊपर कुश का बना हुआ चण्डातक[5] लपेटती थी, जो एक फुट की चौड़ाई का होता था। रसना[6] नामक वस्त्र भी यज्ञ में स्त्रियाँ पहनती थीं। यह रस्सी से लपेटा जाता था।

वैदिक काल की नारियों की धोती पहनने की शैली कलात्मक होती थी। उसके विन्यास में मछली का जाल, चारकोण या चारखाने, बल्लरी आदि बनाई जाती थीं। शरीर के रंग से मेल मिलाकर कपड़े पहनने का स्त्रियों को बहुत चाव था। धनी स्त्रियों के दुपट्टे में बेल, फूल तथा पत्तियाँ बनाई जाती थीं। कपड़ों को रंगने की रीति चल चुकी थी। यज्ञ में भाग लेने वालों के कपड़े प्रायः पीले रंग से रंगे जाते थे। कपड़े रंगने की बडी नादें होती थीं। प्रायः सभी वस्त्रों पर शिल्प का काम किया जाता था। इस काम का नाम पेशः था। सुनहले शिल्प और चित्रण के कारण वस्त्रों के

---

१. ऋग्वेद ९, ९७, ५०।
२. वही, १, १२४. ७।
३. वही, ६. २९. ३।
४. अथर्ववेद, १९. २४. ८।
५. शतपथ, ५. २. १. ८. चण्डातक का कुश सम्भवतः रेशमी होता था।
६. शतपथ, १२८।

नाम भी पृथक रूप से होते थे। अत्क और द्रापि[1] नामक वस्त्र चमकते थे। अत्क पूरे शरीर का लम्बा कंचुक था और द्रापि कोई कोटनुमा वस्त्र था। रजयित्री वस्त्रों को रँगने वाली स्त्री होती थी।[2] ऊन को पहले रंगकर तब बुनने की क्रिया प्रारम्भ की जाती थी।

सिर पर पहनने वाली वेदकालीन पगड़ी का नाम 'उष्णीष' होता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही उष्णीष पहनते थे।[3] उष्णीष के दोनों छोरों को पीछे की ओर बाँधकर आगे की ओर लाया जाता था। फिर वहीं खोंस दिया जाता था। वैदिक काल में यज्ञ के अवसर पर दुपट्टा धारण करने की बहुप्रचलित विधि तो यही थी कि बायें कन्धे के ऊपर से होते हुए दाहिने हाथ के नीचे से दुपट्टा जाता था। सम्पूर्ण शरीर को ढकने के लिए एक चादर का भी प्रयोग होता था। सोन्दर्य-संवर्धन की दृष्टि से भी दुपट्टा वैदिक काल में अन्य विधियों से भी धारण किया जाता होगा।

वैदिक काल में कटि प्रदेश में नीवि पहनी जाती थी।[4] इसकी चौड़ाई अधिक से अधिक एक फुट रहती होगी। स्त्री और पुरुष दोनों ही इसे पहनते थे, किन्तु विशेष रूप से स्त्रियां ही इसे धारण करती थीं।[5] नीवि से सम्बद्ध दो अन्य वस्त्र 'प्रघात' और 'वातपान' भी थे। ये दोनों ही नीवि का अलंकार करते थे।[6] नीवि के ऊपर ही वासः अर्थात् धोती या साड़ी पहनी जाती थी। वासः पहनना वैदिक काल में सर्वाधिक प्रचलित वस्त्र था। चाहे कोई अन्य वस्त्र पहना जाय अथवा न पहना जाय किन्तु वासः पहनना अनिवार्य होता था। यज्ञ के अवसर पर 'ताप्र्य' नामक वासः पहना जाता था।[7]

उपवसन, पर्याणहन ओढ़ने के वस्त्र भी बहुमूल्य होते थे। देश-विदेश से ऊन मंगाकर कम्बल बनाया जाता था। ओढ़ने की चादरें भी प्रयोग की जाती थीं, जो मूल्यवान और कलात्मक होती थीं। वैदिक काल में ऊनी कम्बलों के उल्लेख मिलते हैं। दूर्श तथा पाण्डव नामक विविध प्रकार के कम्बल होते थे। उपहार में भी प्रदान किये जाते थे।

वैदिक काल में शरीर को सुन्दर रूप प्रदान करने के लिए विशेष ध्यान दिया जाने लगा। प्रत्येक छोटी-छोटी बातों का भी महत्त्व बढ़ गया। नारियों के शरीर-प्रसाधन एवं सौन्दर्य-वृद्धि वाले साधनों का प्रयोग अधिकाधिक संख्या में होने लगा। पहले प्रसाधन और श्रृंगार करना ही केवल मुख्य उद्देश्य था, किन्तु बाद में शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य के लाभ की ओर भी दृष्टि गई। शरीर को पूर्ण रूप से और स्वाभाविक रूप से सुन्दर, सुगठित और सुडौल बनाने के लिए व्यायाम की उपयोगिता समझी गई। व्यायाम की पद्धतियों का प्रचलन हुआ। सौन्दर्य साधन की यह प्रतिदिन की प्रक्रिया थी।

सौन्दर्य-साधन नित्य की प्रक्रिया थी और इसका आरम्भ प्रतिदिन उठने के साथ होता था।

---

१. ऋग्वेद, १. ११२. २, ५. ५५. ६, १. १६६. १०, १. २५. १३।
२. वाजसनेयसंहिता, ३०. १२।
३. शतपथ, ५. ३. ५. २३। मैत्रायणी संहिता, ४. ४. ३।
४. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ ८५९॥
५. अथर्ववेद, ८. २. १६, ८. ६. २०. तथा १४. २. ५०।
६. तैत्तिरीय संहिता, १. ८. १. १ तथा ६. १. १।
७. शतपथ, ५. ३. ५. २०॥

सर्वप्रथम कार्य था मुख-शुद्धि ।[1] यह क्रिया दन्तधावन से प्रारम्भ होती थी । दांतो को सुदृढ़ बनाने वाली दातुन का वैज्ञानिक दृष्टि से चुनाव किया गया था । दातुन के अग्र भाग को तेल या मधु से भिगोकर सेंधा नमक, त्रिकुट, त्रिफला, तेजोवती के चूर्ण से दांत को स्वच्छ किया जाता था । विधि-पूर्वक बनी दातुन का प्रयोग करने से शरीर का रंग सुन्दर हो जाता है, मुख की कान्ति बढ़ जाती है, मुख सुगन्धित हो जाता है और वाणी भी मधुर हो जाती है, ऐसी तत्कालीन धारणा थी ।[2]

तत्पश्चात् स्नान की प्रक्रिया होती थी । व्यायाम के पश्चात् तेल से अंगमर्दन किया जाता था । स्नानागार में चौकियाँ रखी रहती थीं । युवतियाँ वहाँ सुगन्धित आमलक सिर पर लगाती थीं । युवतियाँ विविध प्रकार के जलों से क्रमशः स्नान करना आरम्भ करती थीं । किसी जल में चन्दन का रस मिश्रित होता था, किसी जल में कुंकुम मिला रहता था । शरीर का रंग अतिशय सुन्दर बनाने के लिए फेनक का भी उपयोग होता था ।[3]

वैदिक काल में अंजन का प्रयोग विशेष रूप से किया जाने लगा । वैदिक अंजन सुगन्धित लेप होता था, जो नेत्रों के अतिरिक्त शरीर पर भी लगाया जाता था ।[4] वैज्ञानिक दृष्टि से अंजन की अतिशय उपयोगिता बताई गई है । नेत्र-ज्योति की रक्षा के लिए सिन्धु देश का स्रोताञ्जन, जो सुवीरा नदी में उत्पन्न होता है और सौवीर अंजन कहलाता है, प्रतिदिन लगाना चाहिए । आँख से दूषित जल निकालने के लिए पांचवें या आठवें दिन रात्रि के समय समंजन लगाने का विधान बतलाया गया है । ऐसा करने से आंखें सुन्दर और सूक्ष्मदर्शी हो जाती हैं । उनका वर्ण मनोरम हो जाता हैं । अंजन से नारियों की पलकें भी घनी हो जाती हैं ।[4] आँखों में लगाया गया काजल आँख के श्वेत भाग की श्वेतिमा को और भी बढ़ा देता है ।

अथर्ववेद के अनुसार वर और वधू दोनों विवाह के अवसर पर आंखों में अंजन अवश्य लगाते थे ।[5] तत्कालीन धारणा के अनुसार नारियां वर को आँखों में अंजन लगाकर प्रसाधन करती थीं[6] । वैदिक काल में अंजन बनाने का व्यवसाय प्रायः साधारण स्त्रियों के हाथ में था । सुगन्धित द्रव्यों को पीसकर चूर्ण बनाने की रीति प्रचलित थी । ऐसी सुगन्धित वस्तुओं से प्राचीन युग में उत्पन्न तगर, उशीर और सहा को एक साथ कूटकर चूर्ण बनाने की रीति का उल्लेख मिलता है । इन सबको मिलाकर पीसने में एक विशेषता होती थी । पीसकर अच्छा और गुणकारी अंगराग बना देना भी एक कला थी ।[7] वैदिक युग से प्रसाधन के लिए अन्य कई प्रकार के चूर्ण भी प्रयुक्त होने लगे, जो अब तक भी महत्वपूर्ण माने जाते रहे हैं ।

नारियों के लिए वैदिक काल में अनेक प्रसाधन सामग्री थीं । सौभाग्यवती स्त्री, जो अपने पति के लिए दीर्घायु की कामना करती है, उसे हल्दी, केसर, सिंदूर, काजल, आँगी, ताम्बूल, मांगलिक

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ ८१४ ।
२. बृहत्संहिता, ७७. ३१-३४ ।
३. फेनक, वे द्रव्य हैं, जिनको पानी के साथ रगड़ने से फेन उठते हैं ।
४. चरक सूत्रस्थान, ५. १२-१६ ॥
५. अथर्ववेद, १४. २. ३१ ।
६. वही, ७. ३०. १ ।
७. सूत्र कृ०, १. ४. २. ८ । तथा विष्णु पुराण, ५. २०. ५ ।

आभूषण तथा वालों को संवारना कभी नहीं भूलना चाहिए। वाद में इन ही वस्तुओं को मिलाकर शृंगार का नाम दे दिया गया। इन शृंगारों की संख्या सोलह मान ली गई।[1] भगवान् की षोड़श उपचार पूजा है[2]। संस्कारों की संख्या भी सोलह मानी गई है। चन्द्रमा को सोलह कलाओं से युक्त कहते हैं। अतः सोलह संख्या शुभ वन गई। सम्भवतः इन्हीं कारणों से शृंगार भी सोलह गिने जाने लगे।

भारत एक विशाल देश है। इसके विभिन्न भागों में केश-विन्यास की विभिन्नता सदा ही रही है। कहा गया है कि मालव देश की स्त्रियां घुंघराले बालों वाली होती हैं। उनके केश में अलक और कुन्तल की विशेषता होती है। गौड़ देश की स्त्रियां अलक, शिखा, पाश तथा लम्बी वेणियाँ बनाती हैं। आभीर देश की स्त्रियां दो चोटी करती हैं। कभी-कभी इन चोटियों को शिर के चारों ओर भी लपेटा जाता है। पूर्व-उत्तर देश की स्त्रियां अपने बालों को मोर की फहराती पूँछ के समान बांध लेती हैं। दक्षिण देश की स्त्रियाँ अपने वालों को जल कलश के समान बाँधती हैं। कभी माथे पर से वालों को पीछे भी ले जाती हैं। तमिल देश को स्त्रियाँ पाँच चोटी बनाती थीं। वैदिक काल में पति के विदेश जाने पर अथवा अन्य किसी दुःख से दुःखी होने पर स्त्रियां केवल एक वेणी गूँथती थीं।

स्नान के पश्चात् केश को सुखाकर सुगन्धित किया जाता था। साधारण रूप से स्त्री तथा पुरुष सभी वड़े केश रखते थे। केशों में तेल लगाना भी प्रसाधन था। सुगन्धित तेल से केशों को सुगन्धित किया जाता था। केशों के बीच से माँग निकालने का प्रचलन सदा से रहा है। उस समय साही के काँटे से सीमन्त बनाने का उल्लेख भी मिलता है।[3] वैदिक साहित्य में कंघी के लिए कंकत शब्द का प्रयोग किया जाता था। कंघी का उपयोग केशों की व्यवस्थित रूप से सजावट के लिए होता था।

वैदिक साहित्य में कंघी के लिए एक नियत स्थान बना दिया जाता था। स्त्री और पुरुष दोनों ही केश को गूँथकर चोटी बना लेते थे, जिसे वे "ओपश" कहते थे। चौड़ी चोटियों को "पृथुष्टुका" और शिथिल चोटियों को "विषितष्टुका" कहा जाता था।[4] वशिष्ठ-कुल के लोग सिर के दक्षिण भाग में "कपर्द" धारण करते थे।[5] स्त्रियाँ सिर पर चार कपर्द बनाकर चतुष्कपर्दा वन जाती थी।[6] सिर पर जूड़ा बनाने की भी रीति थी।[7]

---

१ सोलह शृंगारों की संख्या इस प्रकार दी गई है-

आदौ मज्जनचीरहार तिलकं नेत्रांजनं कुंडले।
नासामौक्तिक केशपाशरचना सत्कंचुकं नूपुरौ॥
सौगन्ध्यं करकंकणं चरणयो रागोरणत् मेखला।
ताम्बूलं करदर्पणं चतुरमा शृंगारकाः षोडश॥

२ प्राचीन भारत के प्रसाधन, पृष्ठ ४०।

३ काठक संहिता, २३. १, तैत्तिरीय ब्राह्मण, १. ५. ६. ६, शतपथ, २. ६.।

४ वैदिक इण्डेक्स में 'ओपश' १२

५ ऋग्वेद, ८. ३३. १।

६ ऋग्वेद, १०. ११४. ३।

७ प्राचीन भारतीय साहित्य की साँस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ ८२५।

८ सूत्र कु०, १. ४. २. ८। तथा विष्णु पुराण, ५, २०, ५।

वैदिक काल में स्त्रियों के केशकलाप के विभिन्न वर्णन सभी वेदों में प्राप्त होते हैं। इससे विदित होता है कि वैदिक काल की महिलाएँ अपने केश-विन्यास पर अत्यधिक ध्यान देती थीं। उनके केश लम्बे होते थे। वे बालों को नाना प्रकार से सजाती थीं। केशों को ढकने का वर्णन कम मिलता है। पगड़ी केवल इन्द्राणी ही सम्राज्ञी के रूप में बाँधती थी।[1]

बालों में सुगन्धित तेल लगाया जाता था और फ़ूल लगाना भी नारियाँ पसन्द करती थीं। बालों को स्वस्थ तथा सुन्दर बनाने के लिए और काला करने के लिए बालों में धूम दिया जाता था। धूम के लिए मुख्यतः अगरु का उल्लेख है। बालों के दोषों को दूर करने के लिए अगरु अधिक उत्तम माना जाता था। वैदिक काल में अगरु के अतिरिक्त अन्य सुगन्धित वस्तुओं का भी प्रयोग होता था।

वैदिक काल की नारियाँ स्वभावतः स्वयं को सुन्दर दिखाना चाहती थीं, इस कारण प्रसाधन की ओर उनकी विशेष रूप से अभिरुचि थी। पति के सामने वे विना शृंगार किये हुए नहीं जाती थीं। सामान्य परिस्थितियों में प्राप्त साधनों से अपनी रुचि के अनुसार स्वयं को सुसज्जित करती थीं। तत्कालीन धारणा के अनुसार सौभाग्यवती नारी पति की मंगल कामना के लिए हल्दी, केशर, सिन्दूर अंजन तथा अंगराग लगाती थी। यही नारियों के सौभाग्य चिह्न थे।

स्त्री और पुरुष दोनों ही लेप, अंगराग और सुगन्धित द्रव्यों का प्रयोग करते थे। स्त्रियां विशेष रूप से मुख्य द्रव्य हल्दी (आवां हल्दी), केशर, चन्दन तथा कपूर का उपयोग करती थीं। हल्दी के लिए वर्ण्य शब्द का प्रयोग किया गया है। हल्दी रंग को निखारने का काम करती है, इस कारण इसका लेप प्रायः मुख पर होता है। काव्य ग्रन्थों में हल्दी का उल्लेख कम और चन्दन, केसर तथा कपूर का ही उल्लेख आता है। इसके अतिरिक्त श्वेत अगरु और गोरोचन का उपयोग अंगराग के लिए होता था। लोध्र (पठानी लौंध) वृक्ष की छाल का चूर्ण मुख्यतः मुख पर तथा शरीर पर प्रयोग होता था। इसका रंग पाण्डुर होता है, जिसे लगाने से कपड़े भी पीले हो जाते थे। विलेपन में कस्तूरी, केशर और चन्दन का मिश्रण किया जाता था। अरगजा का अर्थ अवलेप है, यह अंगराग के अन्तर्गत ही आता है। उबटन प्रतिदिन लगता था।

प्रसाधन करते समय दर्पण की आवश्यकता होती थी। प्रसाधन और शृंगार पूर्ण हो जाने पर दर्पण में स्वयं अपनी छवि स्त्रियाँ देखा करती थीं।

मुख पर लोध्र के फ़ूलों का पराग मलकर अथवा सुगन्धित लेपन लगाकर माथे पर बिन्दी या तिलक मुख्यतः शोभा और मंगल कार्य के लिए किये जाते थे। तिलक लगाने से सौन्दर्य और आकर्षण बढ़ता है। जिन द्रव्यों से तिलक किया जाता था, उनके मांगलिक और वर्ण्य होने का भी ध्यान रखा जाता था। इनमें गोरोचन, हरताल, मैनसिल आदि होते थे। सौन्दर्य की वृद्धि के लिए अभ्रक[1] तथा अन्य वस्तुओं के भी तिलक लगाये जाते थे। शीतलता की दृष्टि से माथे पर चन्दन का तिलक भी लगाया जाता था।

शोभा के लिए कतिपय वृक्षों के पत्ते ही काटकर माथे पर चिपका दिये जाते थे, जो तिलक के

१　प्राचीन भारत के प्रसाधन, पृष्ठ ४७॥

२　आज भी कुंकुम में अभ्रक का चूरा मिलाकर होली के पर्व पर लगाया जाता है।

समान मुखमण्डल की श्रीवृद्धि करते थे। जिस तिलक की गोल आकृति होती थी, उन्से "बिन्दी" कहते थे और जिसको लम्बी आकृति होती थी उसे "तिलक" की संज्ञा दी जाती थी। सिन्दूर को बिन्दी सबसे अधिक मांगलिक और सौभाग्यपूर्ण मानी गई है। सौभाग्यवती स्त्रियाँ सिन्दूर की बिन्दी लगाकर सिन्दूर से ही माँग भी भरती थीं। यह प्रथा आजतक भी परिपाटी के रूप में चली आरही है। माँग भरना सौभाग्य सूचक होने के साथ ही मुखमण्डल की श्रीवृद्धि में भी सहायक माना जाता था। गौ रसवृष भी मांगलिक माना जाता था।

काजल भी सौन्दर्य-प्रसाधन का एक महत्वपूर्ण साधन था। अंजन से भी अधिक कालिमा काजल में होती है। काजल लगाने से आंखों का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है। काजल अंगुली से ही लगाया जाता था। इसको बनाने की कई विधियाँ थीं। काजल को सूखा भी लगाती थीं और घी में मिलाकर भी आंजती थीं।

कपोलों पर चित्रकर्म भी होता था और पत्रभंग तथा लोध्ररज का उपयोग भी किया जाता था। गालों को श्वेत तथा लाल चन्दन से बुन्दकियां बनाकर सजाया जाता था। माथे से गालों तथा ठोड़ी तक बुन्दकियां लाई जाती थीं।

ओठों पर लालिमा लाने का प्रयास किया जाता था। लालिमा लाने के लिए पान का उपयोग किया जाता था, किन्तु इससे सन्तोष न होने पर रंग भी लगाया जाता था। रंग भली भाँति जम जाये, इसके लिए ओठों पर मोम लगाया जाता था। मोम ओठों पर लग जाने से अंगराग, आलक्तक तथा लाक्षारस ठीक प्रकार से जम जाता था, साथ ही ओठों की पपड़ी भी नहीं फ़टती थी। दांतों में मिस्सी लगाई जाती थी।

ताम्बूल सेवन से ओठों पर लाली आ जाती थी। ओठों का लाल होना प्रसाधन की शोभा है, इस कारण स्वास्थ्य की दृष्टि से पान खाने को अधिक महत्त्व न देकर शोभा या सम्मान के रूप में पान का उपयोग किया जाता था। कुछ नारियां शौक के कारण भी पान का उपयोग करती थीं। भोजन के बाद पान खाने की प्रथा थी। अतिथि-सत्कार में मुख्यतः सम्मानपूर्वक पान दिया जाता था। मुख को सुवासित करने के लिए पान में इलायची, कपूर, लोंग, कंकोल, सुपारी, दालचीनी, जायफल, केसर तथा जावित्री का चूर्ण बनाकर उपयोग किया जाता था। पान बनाना भी एक विशेष प्रकार की कला मानी जाती थी।

वैदिक काल की नारियाँ हाथों में गोल-गोल किसी भी धातु की अथवा काँच की चूड़ियाँ डाल लेती थीं। यह भी नारी का सौभाग्य चिह्न माना जाता था। इसी प्रकार पैरों में प्रसाधन के लिए महावर लगाया जाता था। पैरों को रंगने की प्रथा इसी युग से प्रारम्भ हुई थी। महावर लाक्षारस से बनाया जाता था। लाक्षारस ठण्डा व स्तम्भक होता है। लाल होने से पैरों में सुन्दरता आ जाती है। इस शोभा के कारण प्रसाधन में इसका विशेष रूप से उपयोग होता था। पैरों के प्रसाधन के लिए लाल रंग ही चुना गया है। गहरा गुलाबी रंग भी प्रयोग में आता था। पैर के तलुवे लाल ही प्रशंसा पाने योग्य माने जाते थे। अब भी यही रीति चली आ रही है। महावर का न लगाना शोक या दुःख का होना सूचित करता हैं, इस कारण सुहागिन स्त्रियां मांगलिक चिह्न के रूप में इसको अवश्य धारण करती थीं।

सिन्धु घाटी की सभ्यता के युग से ही स्त्रियों तथा पुरुषों को अलंकारों के प्रति विशेष अभि-रुचि थी। शरीर के प्रत्येक अंग में जहाँ भी जिस किसी विधि से अलंकार लटकाये जा सकते हों,

अलंकृत किया जाता था। नाक तथा कान में छेद कर लेना अलंकारों के प्रति अत्यधिक लगाव का परिचायक है।

वैदिक काल में अलंकार प्रायः बहुमूल्य होते थे। साधारणतः तीन उद्देश्यों से अलंकार धारण किये जाते थे। मुख्यतः ये तीन कारण [1] थे—

१—शरीर को अधिक सुन्दर बनाने के लिए।

२—दूसरों को प्रभावित करने के लिए। अथवा वैभव दिखाने के लिए।

३—अपने को अधिक सौभाग्यशाली बनाने के लिए।

इन सभी मुख्य कारणों में सौन्दर्य का ही स्थान सर्वप्रथम माना था। भारत में अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्नों का तथा धातुओं का भण्डार था। नारियों का सौभाग्य के लिए अलंकार धारण करने की रीति का उल्लेख वैदिक काल से ही प्रारम्भ हुआ था। पहनने की दृष्टि से भारतीय अलंकार चार कोटियों में विभक्त [2] थे—

१—आवेध्य—जो शरीर के किसी अंग मात्र से लटके हों। ये अंग को छेद कर पहने जाते थे, जैसे- कुण्डल और श्रवण-भूषण।

२—बन्धनीय-जो किसी अंग में बांधे जाते हों, जैसे- अंगद, मुक्ता, श्रोणि सूत्र।

३—प्रक्षेप्य- जो चलते-फिरते प्रक्षेप किये जाते हों।

४—आरोप्य- जो गले या शरीर के किसी अंग में सहज ही लटकाये जा सकते हों, जैसे- हार, माला, कण्ठमुक्ता आदि।

वैदिक काल में नारियाँ सिर के बालों के गुच्छों को कसने के लिए कुरीर नामक अलंकार धारण करती थीं। कुम्भ नामक अलंकार भी सिर पर पहना जाता था। मणि और मुकुट भी सिर पर लगाये जाते थे। रत्न और आभूषणों का पहनना धन्य है, मंगलमय है, शोभायुक्त है, हर्षदायक है, काम्य तथा ओजवर्द्धक [3] भी है।

वैदिक साहित्य में कान में पहनने के लिए कर्ण-शोभन [4] नामक अलंकार का उल्लेख मिलता है। कानों में कनफ़ल और कुण्डल भी पहने जाते थे। कान में प्रवर्त्त पहने जाते थे [5]। रानियों के कर्णफ़लों में मणि और रत्न लगे होते थे।

उत्सव और पर्व पर जब स्त्री समारोह में सम्मिलित होती थी, तब वह भी सुगन्ध लगाकर आभूषणों को उचित मात्रा में धारण करती थी। जब वह अपने स्वामी को देखने जाती थीं, तब अपने प्रसाधन तथा आभूषणों पर अधिक ध्यान देती थी। ऐसे समय वह बहुत सावधान, आकर्षक एवं परिष्कृत रहती थी। अनेकानेक आभूषण, पूलल और विविध सुगन्धियों का प्रयोग करती थीं। इस प्रकार से अपने को सुन्दर और अति आकर्षक बनाने का प्रयास करती थीं। कानों में

---

१. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ ८२७

२. वही पृष्ठ ८२८।

३. प्राचीन भारत के प्रसाधन, पृष्ठ १५१।

४. ऋग्वेद, ८, ७८, ३ ॥ ५

५. अथर्ववेद, १५, २, २५ ॥

आभूषण पहनती थीं ।[1]

अलंकार पहनने के लिए सबसे महत्वपूर्ण अंग गला है । गले के अनेक प्रकार के आभूषण होते थे । कुछ आभूषण गले में लटकने वाले होते थे,जो दो फुट नीचे तक लटकते थे और कुछ गले से चिपके हुए बहुविध अलंकार धारण किये जाते थे । वैदिक काल में स्वर्ण और बहुमूल्य रत्नों तथा मणियों के हार पहनने का प्रचलन मिलता है । वेदों में उनके नाम रुक्म, निष्क और सृङ्का मिलते हैं ।[2] मणियों के हार को पहनने वाले को मणिग्रीव तथा निष्क पहनने वाले को निष्ककण्ठ या निष्कग्रीव कहा जाता था[3] । कुछ स्वर्ण हारों में कमल के आकार के सौ लोलक होते थे । लोलकों में रत्न जड़े होते थे[4] । मोतियों के विविध प्रकार के हार बनाने का प्राचीन काल में प्रचलन अधिक था । हारों में सहस्रों मोती गुँथे रहते थे । बड़े और छोटे कई आकार-प्रकार के मोती होते थे । इन मोतियों की लड़ियाँ बनाई जाती थीं । इन हारों को कई कोटियाँ और कई प्रकार के नाम होते थे । मोतियों के बीच में मणि भी गूँथी जाती थी । स्वर्ण जटित मणियाँ रत्नावली बन जाती थीं ।

हाथों की शोभा बढ़ाने वाले अनेक प्रकार के आभूषण होते थे । वैदिक युग में स्त्री और पुरुष दोनों ही 'खादि' नामक कंकण पहनते थे[5] । हाथों के सभी आभूषण स्वर्ण के रत्न तथा मोतियों से जड़े हुए होते थे । उंगलियों में गोल अंगूठियाँ पहनी जाती थीं, जो सोने और चाँदी की बनी होती थीं । इनमें मोती, रत्न और हीरे भी जड़े होते थे । हाथों में पहनने का 'हिरण्य पानि' भी प्रयोग में आता था, जिसे आजकल हथफ़ूल की संज्ञा दी जाती है ।

वैदिक काल में कटि-प्रदेश का अलंकार-करधनी भी सुशोभित होती थी । करधनी में रत्न और घुँघरू जैसे बजने वाली किंकिणियाँ लगी होती थीं, जिसमें शरीर की गति के साथ रुनझुन की ध्वनि आती थी । इसमें लड़ियाँ भी कटि के नीचे तक लटकती रहती थीं । इस युग में पैरों में अधिक अलंकार पहने जाते थे । पायजेब और झँवर जैसे अलंकार थे । नूपुर भी पहने जाते थे । हाथों की भाँति कड़े की आकृति का खादि नामक आभूषण पहना जाता था[6] । महावर लगे पावों में रुनझुन करते हुए बिछुए और पायजेब पैरों की शोभा में चार चाँद लगा देते थे ।

वैदिक काल में सौभाग्यवती स्त्रियाँ बालों का सौन्दर्य बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के पुष्पों का उपयोग करती थीं । भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प भी प्रसाधन के अंग ही माने जाते थे । पुष्पों का वेणी के रूप में और स्वतन्त्र ढंग से भी उपयोग होता था । जहाँ तक अलंकारों के द्वारा सौन्दर्य-साधन को समस्या है, वह सरल अलंकारों से भी सम्भव हो सकती है । यदि वे अलंकार सुरुचिपूर्ण ढंग से बनाये गये हों और कलात्मक रूप से ही धारण किये गये हों । इसलिये पुष्पों के बने हुए आभूषणों का सर्वाधिक महत्व माना जाता था । इनमें नित्य अभिनव शृंगार और अलंकार के साथ मनोरम सुगन्ध की विशेषता होती है । पुष्प सबको अनायास सुलभ भी हो सकते हैं । अलंकारों

---

१. प्राचीन भारत के प्रसाधन, पृष्ठ ३९ ।
२. प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृष्ठ ८३३ ।
३. ऋग्वेद, १. १२२. १४ तथा ५.५४. ११ ।
४. ऋग्वेद, ५. १९. ३ । अथर्ववेद, ५. १७. १४ । ऐतरेय ब्राह्मण ८. २२ ।
५. ऋग्वेद, १. १६८. ३ ।
६. ऋग्वेद, ५. ५४. ११ ।

यदि शरीर को सुसज्जित करने की अभिरुचि हुई तो निर्धन होने पर भी नारियाँ पुष्पों के आभूषण बनाकर पहन सकती हैं। सस्ते अलंकार के साधनों में पुष्प विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं।

काली केशराशि में श्वेत पुष्प नील-निर्मल आकाश में चन्द्रमा की कांति की भाँति चमकता है। वेणी के ऊपर पुष्पों की साजसज्जा सहज सबका ध्यान आकृष्ट कर लेती है। इस कारण केश-प्रसाधन में पुष्प एक विशेष शोभनीय प्रसाधन है। सिर पर आपीडक (जूड़ा) और कबरी (चोटी) बनाकर पुष्पों की माला लपेटी जाती थी।

वैदिक युग की स्त्रियाँ अपने मुखों पर लोध्र के फ़ूलों का पराग मलकर गौर वर्ण करती थीं। इसका उपयोग मुख की श्वेतिमा के लिए होता था। सिर पर तथा शरीर पर मलने के लिये सुगन्धित तेल केवड़ा, चमेली, नागकेसर, और चम्पा की तीव्र सुगन्ध से सुवासित करके निकाला जाता था।

सौन्दर्य की दृष्टि से वैदिक काल में फ़लों से बने हारों का भी अति महत्व रहा है। वैदिक साहित्य में 'स्रक्' का उल्लेख प्रायः मिलता है[1]। स्रक् की रचना फ़ूलों से होती थी। कमल के फूलों की माला भी धारण की जाती थी[2]। स्त्रियाँ फूलां की माला पहनती थीं। सुगन्धपूर्ण माला का सेवन मन को प्रसन्न रखता है। कानों में पत्रों और पुष्पों के अलंकार पहन लिए जाते थे। यह प्रसाधन और अलंकार अत्यन्त ही सरल था। इसके लिए झूमते हुए शिरीष के फूल, शैवाल-मंजरी और अशोकपल्लव कानों में लटकाये जाते थे। ये अत्यन्त सादा और मोहक अलंकार होते थे। करधनी और कंकण फूलों के बनाये जाते थे।

अतः वैदिक काल को नारियों की वेष-भूषा, प्रसाधन, श्रृंगार एवं अलंकारों से उनकी सभ्यता का परिचय पूर्णरूप से प्राप्त होता है। श्रृंगार के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि थी। प्रकृति प्रदत्त सुलभ प्रसाधनों के अतिरिक्त उनकी रुचि भी उत्तरोत्तर विकसित होती गई। प्रसाधन से श्रृंगार या सौन्दर्यवृद्धि ही पहले मुख्य ध्येय रहा, किन्तु समय और रुचि परिष्कृत होने पर बाद में शारीरिक विकास एवं स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि सम्मिलित कर ली गयी। सौन्दर्य और प्रसाधन दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। वैदिक युग में इनका उपयोग यथार्थ रूप में किया गया। स्वास्थ्य का साधन प्रसाधन है। वैदिक नारियों ने यह भलीभाँति पहचान लिया कि स्वास्थ्य, श्रृंगार-प्रसाधन तथा सौन्दर्य यद्यपि नाम से भिन्न प्रतीत होते हैं, किन्तु यह एक ही रूप में एक ही श्रृंखला की तीन कड़ियाँ हैं।

---

१. ऋग्वेद, ४. ३८. ६ तथा ५. ५३. ४ ॥
२. ऋग्वेद, १०. १८४. ३ तथा अथर्ववेद, ५. २५. ३।



औपनिषदः पुरुषः

(श्री श्यामलाल शर्मा व्या० सा० आचार्य एम० ए०, दिल्ली)

एतस्मिन् विषम-विषय-विष-ज्वालाज्वलिते, शोक-मोह-रागद्वेष-भयार्तिविविध-द्वन्द्व-दूषिते आध्यात्मिकादि-त्रिविध-सन्ताप-सन्तापिते, ऐहिकामुष्मिक-शर्म-शातनैकचटुलानने, महाज्ञान-ग्राह-ग्रसिताशेषचराचरे, क्लेश-क्लान्त-कलेवरे जगति समुदेति दुःखजिहासा सुखेप्सा च समेषां प्राणिनाम्। तत्र यावन्तो जीवनिकायाः सुखमात्रैकान्वेषणपरायणा ईहमाना अपि सुखानि, तद्विपरीतानि दुःखान्येवानुभवन्तश्चेखिद्यन्तेतराम्।

तदस्य किन्नाम निमित्तम्, येनैकान्ततः सुखोदयपुरस्सरं दुःखौघं न विजहाति पुमान्। अत्र विषये सर्वेषां वादिनां नानाप्रवादान् समाधित्सवः शास्त्रविदः उच्चावचानि मतानि समुपस्थापयन्ति। तत्रास्तिकनास्तिकभेदेन द्वैधमापतत् दर्शनशास्त्रमपि विचिकित्सदिव मति-विसंवादं प्रतनुते। विषय विषयिणोरन्तराले कुत्रेयं दुःखसन्ततिरिति संदिहानानां मनस्तन्निर्णेतुमेव धावति।

तत्र नास्तिकदर्शनमनुसरतां चार्वाकजैनलौकायतिकप्रभृतीनां राद्धान्तेषु शरीरेन्द्रियमानस क्षणिकविज्ञानादीन्यात्मपदवाच्यानि, तान्येव सुखदुःखायतनानि। परमेवं विवदमानानां तेषान्तेषा-न्तत्तन्मतमन्योन्यजिहीर्षया मतस्थापनतर्कक्रकचैश्चेच्छिद्यते। आस्तिकदर्शननिष्ठावतां मते देहेन्द्रिया-दिव्यतिरिक्तः कश्चनात्मपदवाच्यः, स एव कर्त्ता भोक्ता च। अक्षपादानुयायिभिस्तादृश देहेन्द्रियादि व्यतिरिक्तात्मनः संसिद्धये अनुमानं शरणीक्रियते। तथाहि– इदं शरीरं चेतनाधिष्ठितं चेष्टावत्वात् रथवदिति। चेतनाधिष्ठितत्वञ्चात्र–चेतन प्रयुक्तक्रियावत्त्वमेव। अत्र नय आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन, ततो ज्ञानमुत्पद्यते। एवं ज्ञानाधिकरणत्वेनात्मानमभ्युपेयुषो नैयायिकस्य मतेऽनुकूलतया वेदनीयस्य सुखस्य, प्रतिकूलतया वेदनीयस्य दुःखस्य चैकमात्रमधिष्ठानमात्मैव। सुखदुःखादि चतुर्दशगुणानामात्मन्येव स्वीकृतत्वात्। बन्धमोक्षव्यवस्थयोरपि आत्मना सह मनसो विद्यमानत्वान्नात्यन्तिकी निवृत्तिरुपलभ्यते आत्मना।

नास्तिक दर्शनशिरोमणिना चार्वाकेण देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनोऽस्तित्वं नाङ्गीक्रियते। पृथि-व्यादिभूतचतुष्टयस्य शरीराकारपरिणतिदशायां स्वयमेव चैतन्यं समुज्जृम्भते, स एवात्मा। भूत निकायस्य शरीरस्य विनाशेन तद्विनश्यति। तन्मते सुखादीन्यप्यङ्गनालिङ्गनादिजन्यानि। पुरुषार्थ पदेनापि तदेवाभिधीयते। दुःखञ्चास्य मतेकण्टकादिवेधजन्यमिवाङ्गनाङ्गसंस्पर्शस्रक्चन्दनादि राहित्यमेव। तदेव नरकादिकम्, न कुम्भीपाकादिनामकः कश्चनान्यः। तत्र चार्वाकमतमेव लौकायति-कमित्युच्यते लोकैर्वपुषानुभूयमानविषयत्वात्।

परं यदि देह एवात्मेति स्वीक्रियते तदा कस्यचिज्जन्तोर्जन्मानुक्लेशबाहुल्येन, कस्यचिच्च सुख बाहुल्येन नेदमवधारयितुं शक्यते, यदस्याः दुःखप्राप्तेः किं निदानम्। पूर्वजन्म–स्वीकाराभावे उत्तर-स्मिन् जन्मनि लब्धजने बालस्य स्तनपानादौ प्रवृत्तिरपि न स्यात्। अतः पृथिव्यादिभूतचतुष्टय-सङ्घातदेह आत्मा भवितुं नार्हति। अनयैव युक्त्या इन्द्रियमनसोरप्यात्मत्वं निरस्तं भवति।

माध्यमिकयोगाचारवैभाषिकसौत्रान्तिकसंज्ञाभिः प्रसिद्धा बौद्धाः सर्वशून्यत्वम् बाह्यार्थ शून्यत्वम्, बाह्यार्थानुमेयत्वम्, बाह्यार्थप्रत्यक्षत्वमेवेति विधया क्षणिकविज्ञानवादिनः सन्ति। तेषांनये

वाह्यवस्तुदर्शनस्पर्शनसमनन्तरमेव तदाकाराकारितस्य चित्तस्य तदनुकूलपरिणाम एव सुखदुःख व्यवहारभाग् भवति। सुखानुभवकाले सुखाद्याकारसदृशाकारानुरूपचित्तवृत्ति र्भवति। एवं दुःखानुभव काले वाह्य दुःखाद्याकारसदृशानुरूपा चित्तवृत्तिर्जायते। सुखदुःखादिप्रत्ययप्रवाहो वेदनास्कन्धा वेदनास्कन्धनिवन्धना रागद्वेषादयः क्लेशा उपक्लेशाश्च, संस्कारेण प्रतीयमानाः सर्वदुःखरूपमेव। अत एव सुख दुःखे अभौतिके चित्त परिणामभूत एव। तत्रैतस्यात्मात्मीयस्वभावसमुदयस्य क्षणिकत्व-वासना स्थिरीक्रियते, तदा दुःखनिवृत्तिरिति मन्यमानैर्बौद्धैर्मोक्ष इति व्यपदिश्यते।

वौद्धाभिमतक्षणिकत्वस्य, क्षणत्वेन कालपरिच्छेदस्य चात्यन्ताशक्यतया, कुत्रापि दृष्टचर-त्वाभावेन न तत् सिद्धान्तः प्रेक्षावद्भिरुन्नेयः। अपि च क्षणिकत्वपक्षे ज्ञानकाले ज्ञेयस्यासत्त्वेन, ज्ञेय काले ज्ञानस्य चासत्त्वेन ग्राह्यग्राहकभावानुपपत्तौ लोकयात्रास्तमियात्।

जैन मतानुयायिनोऽर्हन् मुनिमेवसर्वज्ञं स्वीकुर्वन्ति तन्निर्मितव्याख्यानान्येवागमः, स एव प्रमाणीभूतः। आत्मा चैतेषां मते देहपरिमाणो देहातिरिक्तश्च जीवात्मा। यथा मातृ-पितृरजोवीर्य-संसर्गसम्पन्नो देहः शनैः शनैरेधते तथा तदनुरोधेन तत्रस्थो जीवात्मा अपि वर्धते। देहस्यापचयेतदप-चयोऽपि भवति। अतो देहेन सहैवोपचयापचयरूपविकारसत्त्वं जीवस्य। तत्र तावज्जीवाजीवाख्ये द्वे तत्त्वे स्तः। वोधात्मको जीवः, अवोधात्मकस्त्वजीवः। एतेषां मते जीवात्मा न कूटस्थो नित्यः। किन्तु परिणामी नित्यः। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्राणां त्रयाणां मिलितानां दण्ड चक्रादीनां घटस्येव कारणत्वं मोक्षस्य न तु पृथक् पृथक्। तथा च "वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्म विप्रमोक्षणं मोक्षः" कृत्स्नकर्मक्षयानन्तरमालोकान्तान् गच्छति। परञ्चैतज्जैनमतमनाद्यपौरुषेयवेदविरुद्धत्वान्न मनीषिमनीषामवगाहते। अतोभगवता वादरायणेन "नैकस्मिन्नसम्भवात्" एकस्मिन् वस्तुन्यस्तित्व-नास्तित्वादेर्विरुद्धस्यच्छायातपवद्युगपदसम्भवात्। अकृतोऽनादिसिद्धो वेद एव न प्रमाणञ्चेत् तर्हि स्वबुद्धिप्रणीतः कृतक आगमः कथङ्कारं प्रमाणपदवीमुपेयात्।

अक्षपादीयास्तु तत्त्वज्ञानात् दुःखात्यन्तोच्छेदलक्षणं निःश्रेयसमाकलयन्ति। तल्लब्धये च प्रमाण-प्रमेयादि परिज्ञानं परमोपादेयमेव। प्रमाणाधीना हि प्रमेयसिद्धिः। यथार्थानुभवः प्रमा। तस्या साधनं करणम्। आश्रयः आत्मा। यत् प्रमया नित्यसम्वद्धं तत्प्रमाणम्। आप्तोपदेशत्वात् वेदस्य प्रामाण्यम्। आप्तो हि साक्षात् कृतधर्मा भूतेषु दयालुर्यथाभूतार्थवक्ता रागादिवशादपि नान्यथा-वादी। तद्वचोभिरेव ज्ञानादिगुणयुक्तोऽपि, ज्ञानादिगुणेभ्यो भिन्न आत्मास्वीक्रियते। अतो जीवात्मनो गुणा ज्ञानादयः शरीरमिव नात्मस्वरूपेऽन्तर्यन्ति। ज्ञानस्य हि जीवात्मस्वरूपेनान्तर्भावात् जडत्व-मात्मन आयाति, मुक्तौ ज्ञानविनाशे जडा एवात्मानः। हन्त! न्यायनयेऽङ्गीकृतस्य जडात्मनो लब्धये को नाम गुणवान् पुमान् यः प्रयतेत।

अतो मीमांसक देशिनोंऽशभेदेन ज्ञान स्वरूपं जडस्वरूपञ्चात्मानमामनन्ति। तथा च—

गूढं चैतन्यमुत्प्रेक्ष्यं जडबोधस्वरूपताम्।
आत्मनो ब्रुवते भाट्टाश्चिदुत्प्रेक्षोत्थितस्मृतेः।

परमेतस्मिन् भाट्टमते निरंशस्यात्मनो ज्ञानजडस्वरूपेणोभयात्मत्वनिरूपणं कथङ्कारं संगच्छेत। नह्येकत्र तमः प्रकाशयोः सामानाधिकरण्यं दृष्टिवद्भिरुपलब्धुं शक्यते। अतः सांख्याश्चिदरूप एवात्मेति अभ्युपगच्छन्ति। जाड्यांशश्च सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रकृतिरूपं विकारि च। चितः पुरुषस्यैव भोगापवर्गाय प्रकृतिः स्वात्मानं विविधं विदधाति। असंगायाश्चिते वन्ध मोक्ष व्यवस्थोभयो-र्भेद ग्रहाभावात् सम्पन्ना भवति। प्रकृतेश्च सत्त्वरजस्तमस्त्वेन सुखदुःखमोहात्मकत्वं जगतो दृष्टिपथ-

मायाति। सर्वेऽपि भावाः त्रिगुणात्मकाः। सर्वस्मिन्नपि वस्तुनिव्यवहर्तृ-निमित्तभेदात् सुखदुःख मोहात्मकत्वं विविधं भावं जागरूकंभवति। तथा च श्वेताश्वतरोपनिषदि—अजामेकां लोहित शुक्ल कृष्णां, बह्वीः प्रजाः सृजमानांसरूपाः। अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते, जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः। एकोऽजो बद्धः पुरुषस्तां प्रकृतिं जुषमाणः सेवमानोऽनुशेतेऽनुसरति। प्रकृतेः कार्यं मनोबुद्धीन्द्रियादिकमात्मत्वेनोपगम्य संसरति। अन्योऽजो मुक्तः पुरुषस्तु भुक्तभोगामेनां प्रकृतिं जहाति। दृष्टदोषां कामिनी पतिं यथा नोपैति तथैव दृष्टस्वरूपैषा प्रकृतिरपि पूर्ववत् पुरुषं नावरुन्धे।

किञ्च पातञ्जला असङ्गचिद्रूपजीवमिवेश्वरं स्वीकुर्वन्ति। क्लेशकर्मविपाकाशयै रपरामृष्टः पुरुष–विशेष ईश्वरः ,, सोऽपि पुंविशेषोऽस्ति। पुंविशिष्टत्वमस्य सत्यकाम सत्यसङ्कल्पादिगुणैरङ्गी कुर्वन्ति। तत्राविद्यास्मितारागादिमानसदोषैरशोभनं भावं भजते जीवः। तन्निरासाय चित्तवृत्तीना मवरोधादात्मस्वरूपसमाधौ यतनीयम्। सम्पन्नसमाधौ द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थिति र्भवति। अनेन नैरन्तर्य दीर्घकाल सेवित योगानुष्ठानेन क्लेशादिक्षयपूर्वकं वैराग्यस्योदयात् सिद्धिलाभो भवति। दुःखमयः संसारो हेय इत्येवं रूपा बुद्धिर्दृढी भूय संसारं त्याजयति। एवं सर्वतो विरज्यमानस्य तस्य पुरुषधौरेयस्य क्लेशबीजानि निर्दग्धशालिवीजकल्पानि प्रसवानुकूलविधुराणि मनसा सह प्रत्यस्तं गच्छन्ति। मोक्षे चित्तस्यात्यन्तं विलयात् संस्कारोऽपि न तिष्ठति।

वेदान्तिनस्तु चितेः सदा विशुद्ध रूपत्वात् न तस्यां कर्मानुभव वासनाः सन्ति। प्रधानन्तु तासामनादीनामाधारः। तथा च प्रधान प्रवृतेःपूर्वं चितिर्मुक्तैव। मुक्तेः स्वरूपावस्थानरूपत्वात्।

विवेकख्यातिवशात् प्रकृत्युच्छेदेन सर्वस्यापि संसारस्य मोक्षप्रसङ्गः। अनुच्छेदेन च न कस्यापि मुक्तिः। न चासत्यां मुक्तौ दुःखस्यात्यन्तोच्छेदः। अतो दुःखस्यात्यन्तैकान्तततया निवृत्तये प्रत्यगभिन्न चैतन्यस्यात्मनः परामर्श आवश्यकः। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, इत्यादि श्रुतिभयो ब्रह्मावगमत्वात् आत्मानञ्चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनु संवदेत्। इति विधारण्य मुनिभिरात्मतत्त्वावेक्षणस्य समूलं दुःखोच्छेदकत्वांस्थरीकरणाच्च। दुःख मूलञ्चानाद्यविद्यैव। तथा चोक्तम्—

अविद्यास्तमयोमोक्षः सा च बन्ध उदाहृतः।

अविद्याया नाशे मोक्षः, सत्याञ्च तस्यां बन्धः। तस्या नाशो महावाक्यार्थ विचारेणैव। विचारश्चोपक्रमोपसंहार प्रभृति षड्विधलिङ्गै र्भवति। सदेव सौम्येदमग्र आसीत्, इति उपक्रम्य "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत्सत्यम्, स आत्मा, तत्वमसि श्वेतकेतो, इत्युपसंहारन्नात्मत्वं निश्चिनुयात्। अतः प्रेक्षावान् निवृत्त्युपायमेवान्विच्छेत्। तत्त्वमस्यादिविधयातदविद्यानिवृत्तौ नित्यनिरतिशयानन्दात्मलाभरूप परमपुरुषार्थत्वात्। अतः आत्मलाभान्न परं किञ्चित्, इत्युक्तम्। आत्मनो नित्योपलब्धेः न कदाचिदस्यानुपलब्धेः कथङ्कारं पुरुषार्थस्य सार्थक्यं स्यादित्यपि न वक्तव्यम्। अनादि मायावशादज्ञात आत्मा बद्धः, स एव विचारेणाविद्यायां निरस्यमानायां मुक्तः। तात्त्विक रूपेण स आत्मा सदैव मुक्तः। नह्यात्मनो मुक्तये कश्चन पुरुषार्थोऽपेक्ष्यते, पुरुषार्थस्तु रोगिणोरोगनिवृत्तये औषधोपचारवत् निवृत्ता वेव। निवृत्तायामविद्यायां शरीरस्वास्थ्यवत् मुक्तिस्तु स्वाभाविकी। अत एवोयनिषत्सु तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, तं चेन्मे न विवक्ष्यति मूर्धा ते विपतिष्पति। वृह० ३/९/२६ इत्यौपनिषदं पुरुषमात्मानं पिप्रच्छसाकल्यंमनुत्तरयन्तं मूर्धविपातरूपघोरदण्डेनाचुक्रोश याज्ञवल्क्यः। अतः यतो वा इमानि भूतानिजातानि, येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति, तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व" इत्यादिषूपनिषद्वाक्येषु भृशमात्मतत्वविचारणस्य पुनः पुनरुट्टङ्कना विहिता। सा च कल्याणेप्सुभिः सततमनुध्यातव्या।

त्रिपथगा : एक पौराणिकी व्याख्या

(श्री काशीदत्त पाण्डेय एम०ए०, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा)

आकाश, पृथ्वी और पाताल तीनों ही स्थानों पर अवस्थिति के कारण गंगा का नाम पुराणों में त्रिपथान पड़ा है। हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पंत ने भागीरथी के दो रूपों की ओर इंगित किया है इनमें से प्रथम है उनका चाक्षुष रूप, जो भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध है और दूसरा रूप, जो शताब्दियों से जनमानस में प्रतिविम्बित है। भागीरथी के इस द्वितीय रूप के पीछे सहस्राब्दियों से प्रचलित अनेक पौराणिक गाथाएँ हैं, जिनका सार ग्रहण कर जन-मानस ने उनके महत्व को स्वीकार किया है। प्रस्तुत लेख में हम भगवती भागीरथी से संबन्धित पुराणों की उन प्राचीन गाथाओं को प्रस्तुत कर रहे हैं, जिनमें उनका इतिवृत्त समाहित है और जिसकी यथार्थता को स्वीकार करते हुए उनके प्रति जन-मानस श्रद्धा-सुमनों को अर्पित करता रहा है।

भागीरथी माहात्म्य की कथा उनकी उत्पत्ति की कथा से संबन्धित है। पुराणों में भागीरथी की उत्पत्ति संबन्धी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं और जन्य सम्बन्धी इन्हीं विवरणों से जन-मानस में उनका महात्म्य भी अक्षुण्ण बना हुआ है। भगवती गंगा का जीवनसम्बन्धी विवरण अति प्राचीन है। ऋग्वेद तक में इनके माहात्म्य का उल्लेख स्पष्ट रूप में हुआ है। ऋग्वेद की ऋचा में लिखा है "गंगा में मृत्यु होने से मनुष्य, कीट, पतंग आदि सभी मुक्ति लाभ करते हैं। [1] " स्पष्ट है कि इस देवनदी का महत्त्व वेदकालिक मुनियां ने भी स्वीकार किया है। आगे चलकर शतपथ ब्राह्मण में गंगा और यमुना दोनों नदियों का साथ-साथ उल्लेख हुआ है। [2] तैत्तिरीय आरण्यक में गंगा और यमुना के क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों को भी श्रेष्ठ बताया है। [3] इन प्राप्य विवरणों से हम मात्र इतना ही कह सकते हैं कि प्रागैतिहासिक काल में ऋषियों ने इन देवनदियों का महत्त्व स्वीकार किया है। हां ! विवरण में विस्तार और वैविध्य नहीं अपनाया। पतितपावनी गंगा का गौरव रामायणकाल में अति प्रकाश में आया है। आगे चलकर पुराणों में तो इनका इतिवृत्त प्रचुर भाषा में उपलब्ध हुआ है। नीचे हम कालक्रमानुसार भगवती भागीरथी के इतिवृत्त का परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं जो इस प्रकार है—"वाल्मीकि रामायण" में यह प्रसंग बालकाण्ड में मिलता है। कथा निम्न है—

"हिमालय की मेना नाम की पत्नी थी। उसके ज्येष्ठ कन्या गंगा और कनिष्ठ कन्या उमा उत्पन्न हुई। बड़ी पुत्री गंगा को देवकार्य के लिए देवताओं ने हिमालय से माँग लिया और इस प्रकार गंगा स्वर्ग को चली गई।" [4] रामायण में गंगा सम्बन्धी विवरण अन्य रूप में भी मिलता है जो इस प्रकार हैं–[5] "सगर अयोध्या का राजा था। उसके केशिनी और सुमति नाम की दो रानियां थीं।

---

१ दे० ऋग्० १०. ७५. ५।

२ दे० शत० ब्रा० १३. ५. ४. ११।

३ दे० तैत्ति० आर० २. २०।

४ दे० वा. रा. बाल सर्ग ३५।

५ दे० वा. रा. बाल सर्ग ३८–४३।

सगर के कोई पुत्र नहीं था, अतः उसने हिमालय पर घोर तप किया। तप से प्रसन्न होकर भृगु ने केशिनी को एक और सुमति को साठ हजार पुत्र होने का वर दिया। वर के कारण राजा पुत्रों को पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ लेकिन केशिनी का पुत्र असमंजस बड़ा होने पर बड़ा दुष्ट स्वभाव का हो गया, इस कारण सगर ने उसे नगर से निकाल दिया। इसी असमंजस के अंशुमान् नाम का पुत्र हुआ, जिसे राजा ने बड़ा स्नेह दिया। इसी समय सगर ने अश्वमेध यज्ञ का संकल्प किया। राजा ने अंशुमान् के निरीक्षण में यज्ञीय घोड़ा छोड़ा, जिसे इन्द्र ने चुरा लिया। राजा ने अपने साठ हजार पुत्रों को आसमुद्रपर्यन्त पृथ्वी पर घोड़ा ढूँढ़ने भेजा। पिता की आज्ञा पाकर सगर पुत्रों ने रसातल तक को खोद डाला इससे देवता, गन्धर्व, असुर, सर्पादि सभी मिलकर ब्रह्मा के पास गये। ब्रह्मा ने भविष्य-वाणी की कि कपिल की क्रोधाग्नि से सगर पुत्र शीघ्र ही नष्ट हो जायेंगे। अनन्तर सगर पुत्र निराश हो पिता के समीप लौट आये। पिता ने क्रोधयुक्त हो उन्हें पुनः पृथ्वी खोदने की आज्ञा दी। वे फिर रसातल को खोदते हुए आगे बढ़े। इसी समय उन्होंने महात्मा कपिल के आश्रम के समीप यज्ञीय घोड़े को देखा और कपिल को घोड़ा चुराने वाला जानकर वे उन्हें मारने दौड़े। तब कपिल ने हुंकार मात्र से उन सभी को भस्म कर दिया।"

अतिकाल तक किसी प्रकार की सूचना न पाकर सगर ने अंशुमान् को पुत्रों को ढूँढ़ने भेजा। अंशुमान् खुदी हुई पृथ्वी के मार्ग से वहां पहुँचा, जहां उसके पितृव्य भस्म की ढेरी के रूप में पड़े हुए थे। उनको उस रूप में पाकर अंशुमान् बड़ा दुःखी हुआ। कपिल की कृपा से अंशुमान घोड़े को लेकर घर पहुँचा और पितृव्यों के निधन का समाचार सगर को सुनाया, सगर भी बहुत दुःखी हुआ।

सगर के मरने पर अंशुमान् राज्य का अधिकारी बना। इसी अंशुमान् का पुत्र दिलीप हुआ और दिलीप का पुत्र भगीरथ। यद्यपि पितृव्यों के उद्धार के लिए गंगा को पृथ्वी पर लाने का प्रयास अंशुमान् और दिलीप दोनों ने किया, पर वे सफल नहीं हुए। हाँ, भगीरथ ने एक हजार बर्ष तक घोर तपस्या से ब्रह्मा को प्रसन्न कर गंगा आनयन का वर प्राप्त किया, पर गंगा के वेग को धारण करने में समर्थ शिव की आराधना करने की सलाह भी ब्रह्मा ने भगीरथ को दी। भगीरथ ने शिव को भी तपस्या से प्रसन्न किया और इस प्रकार ब्रह्मा की आज्ञा से गंगा पृथ्वी की ओर चली। इसी समय गंगा के मन में—'मैं शिव को भी स्रोत प्रवाह के साथ बहाकर पाताल ले जाऊंगी,' यह अहंवृत्ति जागरित हुई। तब गंगा के अहं को समाप्त करने के लिए शिव ने जटा में ही गंगा को रोक लिया। अनन्तर भगीरथ ने पुनः शिव को स्तुति द्वारा प्रसन्न किया और तब उन्होंने गंगा को बिन्दुसर में छोड़ा। यहां से चलकर गंगा ने जह्नु राजा के यज्ञक्षेत्र को प्लावित किया, अतः क्रुद्ध हो जह्नु ने उस जलधारा का पान कर लिया। पुनः देवताओं की प्रार्थना से गंगा को पुत्री बना जह्नु ने कर्णविवरों से जल का उत्सर्ग किया। इस प्रकार इसी जलधारा ने भगीरथ के पीछे-पीछे चलकर रसातल में पहुँच सगर पुत्रों को स्वर्ग पहुँचाया।

वाल्मीकि रामायण में प्राप्त यह उपर्युक्त कथा ब्रह्म, विष्णु, शिव भागवत, देवी भागवत, बृहन्नारदीय, ब्रह्मवैवर्त्त, स्कन्द, गरुड़, ब्रह्माण्ड तथा हरिवंश पुराणों में भी यत्किंचित् परिवर्तन के साथ उपलब्ध होती है।[1] नीचे हम इन पुराणों में प्राप्त उन भिन्न स्थलों का परिचय दे रहे हैं, जो रामायण

---

१ दे० ब्रह्म० ६ तथा ७८, विष्णु० २,८, शिव-उमा० ३८-३९, भाग० ५,१७, देवी भा० ९,११, बृहन्ना० ७-८, ब्रह्मवै० १०, स्कन्ध० प्रभास० ११४, गरुड० १३८, ब्रह्माण्ड० मध्य० ४७-५५, तथा ह० वं० १४।

में प्राप्त नहीं है। उदाहरण के लिए ब्रह्मपुराण के अध्याय ६ में सगर के अश्वमेघ यज्ञ करने से पूर्व उसकी उत्पत्ति की कथा बड़े विस्तार से कही गई है। रामायण में सगर की उत्पति का कोई उल्लेख नहीं। ब्रह्मपुराण में सगर को और्वऋषि के प्रसाद से पुत्र प्राप्ति बताई है, जबकि रामायण में भृगु के वरदान से उसके पुत्र होने का उल्लेख है। ब्रह्मपुराण में कपिल मुनि द्वारा सगर पुत्रों को भस्म करने की सूचना नारद मुनि द्वारा राजा सगर को दी गई; जबकि रामायण में अंशुमान् द्वारा ही पितृव्यों के भस्म होने का वृत्तांत सगर को सुनाया गया। ब्रह्मपुराण के अध्याय ७८ में सगर की उत्पत्ति की कथा प्राप्य नहीं है, लेकिन सगर द्वारा यज्ञादि का उल्लेख अवश्य हैं। इस स्थल पर सगर को मुनि वसिष्ठ की कृपा से पुत्रों की प्राप्ति का उल्लेख है। शेष ब्रह्मपुराण के अध्याय ६ और ७८ दोनों ही स्थानों पर भगीरथ द्वारा गंगा आनयन की कथा रामायण के समान ही वर्णित है।

विष्णु पुराण में गंगा द्वारा सगर पुत्रों के उद्धार का संकेत केवल दो श्लोकों में हुआ है। यहां कथा का कोई विस्तार नहीं। शिवपुराण में यह कथा उमा संहिता, अध्याय ३८-३९ में वर्णित हुई हैं। शिवपुराण की कथा वाल्मीकि रामायण के अनुकरण पर न होकर ब्रह्मपुराण अध्याय ६ में वर्णित कथा के आधार पर लिखी गई है। भागवत प्राप्त कथा भी ब्रह्मपुराण के समान ही है।

देवी भागवत में यह कथा स्कन्ध ९ अध्याय ११ में प्राप्त होती है। यहां सगर की पत्नियों का नाम वैदर्भी और शैव्या बताया है, जबकि वाल्मीकि रामायण में सगर की पत्नियां केशिनी और सुमति हैं। "सगर को शैव्या से असमंजस नाम का पुत्र और एक कन्या प्राप्त हुई, लेकिन वैदर्भी के कोई सन्तान नहीं थी। तब वैदर्भी ने शिव की आराधना की। शिव के प्रसाद से एक शताब्दी बाद वैदर्भी को एक मांसपिण्ड पैदा हुआ। मांसपिण्ड देख वह रोने लगी। तभी ब्राह्मण वेष में शिव उसके समीप पहुंचे। उन्होंने साठ हजार भागों में वह माँसपिण्ड बांटा, इसी से वैदर्भी के साठ हजार पुत्र हुए। ये सभी कपिल के क्रोध से भस्म हुए। सगर भी रो-रोकर मर गया। अनन्तर असमंजस, अंशुमान्, दिलीप और भगीरथ ने पृथ्वी पर गंगा आनयन के लिए एक-एक लाख वर्ष तप किया। अंत में भगीरथ को कृष्ण के दर्शन हुए और कृष्ण ने सरस्वती के शाप से शप्तगंगा को मर्त्यलोक में सगर पुत्रों के उद्धार के लिए जाने की आज्ञा दी।" इस प्रकार अंत की कुछ घटनाओं को छोड़कर पूर्व की सभी घटनाएँ वाल्मीकि रामायण के समान हैं। हां, पात्रों के नामों में यहां कुछ हेर फेर अवश्य है। गंगा का सरस्वती के शाप से अभिशप्त होना ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में वर्णित घटनाओं के आधार पर है, और उसी का प्रभाव देवी भागवत पर पड़ा हुआ परिलक्षित होता है। सगर पुत्रों के संदर्भ के अतिरिक्त पृथ्वी पर गंगा के आने की कथा अन्य रूपों में भी पुराणों में मिलती है। सरस्वती के शाप से गंगा का पृथ्वी पर आने का संकेत ऊपर दिया जा चुका है। नीचे हम विस्तार से इस संदर्भ में सरस्वती शाप के साथ अन्य घटनाओं का भी उल्लेख कर रहे हैं, जो इस प्रकार हैं—

विष्णु पुराण में गंगा का इतिवृत्त एक नवीन दृष्टि उत्पन्न करता है। यहाँ गंगा का नाम विष्णुपदी कहा गया है। इसके अनुसार 'विष्णु के तृतीत लोक को ध्रुवलोक कहते हैं। इस ध्रुवलोक को वृष्टि देने के कारण समस्त लोकों का आधार माना गया हैं। विष्णुपदी होने के कारण गंगा को ध्रुव सदैव मस्तक पर धारण करता है। यही गंगा आगे चलकर चन्द्रमण्डल से निकलकर मेरु पर्वत

दे० विष्णु० अंश २, अ० ८, श्लोक ११६-११७

पर गिरकर चारों दिशाओं में पृथ्वी पर बहती है। इस स्थल पर गंगा के सीता, अलकनन्दा, चक्षु और भद्रा नाम दिए गये हैं। अलकनन्दा को शंकर ने सौ वर्ष से भी अधिक मस्तक पर धारण किया। शंकर के जटाजूट से निकलकर इसी अलकनन्दा ने सगर पुत्रों को स्वर्ग में पहुंचाया।[1]'

इस प्रकार विष्णुपुराण में गंगा के इतिवृत्त को वाल्मीकि द्वारा वर्णित कुछ पूर्व की घटनाओं से जोड़ते हुए भी कुछ नवीन दिशा दी है। इस स्थल की व्याख्या में हिन्दी विश्वकोष में निम्न चर्चा की गई है। विश्वकोषकार ने लिखा है--"आकाश में ध्रुव को लेकर समस्त ज्योतिष्क मण्डल अवस्थान करता है। ज्योतिष्क मण्डल में मेघ होते हैं। इन्ही को वृष्टि को पौराणिक गंगा को विष्णुपद से निकला हुआ वर्णन करते हैं।"[2] स्पष्ट है, यहाँ ज्योतिष्क मण्डल में स्थित मेघवृष्टि को ही गंगा नाम दिया गया है।

वायु पुराण में यह कथा अध्याय ४७ में उपगत होती है। इस स्थल पर यह लिखा है कि—"अंतरिक्ष में तारागणों के बीच जो छायापथ है, वही त्रिपथगा हैं। त्रिपथगा गंगा का ही एक नाम है, जो अंतरिक्ष, स्वर्ग और पृथ्वी इन तीन स्थानों पर बहने के कारण पड़ा। गंगा भगीरथ की तपस्या से प्रसन्न होकर जिस समय पृथ्वी पर आयी थी, उस समय महादेव ने उन्हें शिर पर धारण किया था। पृथ्वी पर गंगा सात धाराओं में विभक्त हुई। ये सातों धारायें बिन्दुसर से उत्पन्न हुई हैं।"

इस प्रकार इस पुराण में गंगा सम्बन्धी विवरण कहीं विष्णु पुराण से और कहीं रामायण से प्रभावित है। गंगा के त्रिपथगा रूप की नई व्याख्या इसपुराण में नये रूप में अवश्य मिलती है।

भागवत पुराण में गंगा की कथा बड़े विस्तार से स्कन्ध ५, अध्याय १७ में मिलती है। यहाँ गंगा के विष्णुपदी नाम की एक नई व्याख्या है, जो निम्न है— "बलि की यज्ञशाला में वामन ने पृथ्वी को नापना चाहा। उन्होंने एक पैर से पृथ्वी को नाप लिया। दूसरा पैर उन्होंने आकाश की ओर बढ़ाया। उसी समय उनके पैर के अंगूठे के नख से ब्रह्माण्ड कटाह का ऊपर का भाग फट गया। उसमें से जो धारा प्रवाहित हुई, वही भगवद् पदी कहलाई। यह धारा हजारों वर्ष बीतने पर स्वर्ग में ध्रुवलोक पर उतरी। वहाँ से उसे विष्णुपदी कहा गया। इस विष्णुपदी को सप्तऋषियों ने अपने जटाजूट में धारण किया और आज भी कर रहे हैं। वहाँ से गंगा आकाश में चन्द्रमण्डल को आप्लावित करती हुई मेरु के शिखर पर ब्रह्मपुरी में गिरी। यहाँ यह सीता, अलकनंदा, चक्षु और भद्रा नाम से चार धाराओं में विभक्त हो गई। इनमें सीता केशराचल के शिखरों से होती हुई पूर्व में, चक्षु माल्यवान् के शिखरों से होती हुई पश्चिम में, भद्रा भृङ्गवान् के शिखरों से बहती हुई उत्तर की ओर और अलकनंदा हेमकूट पर्वत पर पहुँच कर तीव्र वेग से दक्षिण समुद्र में मिल जाती हैं।" स्पष्ट है भागवत्कार ने गंगा को वामन से उत्पन्न बताकर भी उसके ऐतिहासिक तथा भौगोलिक वृत्त पर विशेष प्रकाश डाला है।

देवी भागवत्— इस पुराण में गंगा का इतिवृत्त विविध रूपों में मिलता है। यहाँ स्कन्ध ८, अध्याय ७ की कथा भागवत में वर्णित कथा के समान है; लेकिन स्कन्ध २ अध्याय ३ स्कन्ध ९, अध्याय ६ तथा स्कन्ध ९ अध्याय १२–१४ में वर्णित वृत्त नवीन दृष्टि प्रस्तुत करता है जो कि निम्न है—

---

१ दे० विष्णु० अंश २, अध्याय ८, श्लोक १०९-१२४।

२ दे० हि० वि० को० भाग ६ पृष्ठ ९३।

(क) "एक बार ब्रह्मा की सभा में सभी देवता उपस्थित थे। उन दिनों इक्ष्वाकुवंशीय राजा महाभिष स्वर्ग में था। देवताओं के मध्य स्वर्ग में गंगा भी वर्तमान थी। संयोग से गंगा का उत्तरीय हवा में उड़ गया। गंगा को नग्न देख देवताओं ने अपनी दृष्टि इधर उधर की, पर राजा महाभिष गंगा के सौन्दर्य को देखता ही रहा, गंगा भी उसे निहारती रही। इस पर ब्रह्मा ने मर्यादा भंग करने के अपराध में गंगा और महाभिष को मृत्युलोक में जाने का शाप दिया। महाभिष ने शान्तनु के रूप में पृथ्वी पर जन्म लिया। शापवश गंगा को भी स्वर्ग छोड़कर पृथ्वी पर आना पड़ा और यहाँ शान्तनु की पत्नी बनना पड़ा।"[1]

(ख) लक्ष्मी, सरस्वती और गंगा नारायण की तीन पत्नियाँ थीं। एक दिन गंगा और विष्णु के अति प्रेम के कारण सपत्नी भाव से सरस्वती ने विष्णु से गंगा के प्रति अति आकर्षण की शिकायत की और बाद को गंगा से विवाद भी किया। लक्ष्मी ने दोनों में बीचविचाव भी किया; पर डाह के कारण सरस्वती ने गंगा को नदी रूप होने का तथा लक्ष्मी को भी गंगा का पक्षपाती बताकर वृक्ष हो जाने का शाप दिया। गंगा ने भी क्रोध में सरस्वती को जलरूप होने का शाप दे डाला। शाप के कारण तीनों को स्वर्ग छोड़कर विष्णु के समीप से पृथ्वी पर आना पड़ा। विष्णु के वियोग से उन्हें बहुत दुःख हुआ। तब विष्णु ने कलियुग के पाँच हजार वर्ष व्यतीत होने पर पुनः पूर्वरूप धारण कर विष्णुलोक में आने का वर दिया[1]।

(ग) कार्त्तिकी पूर्णिमा को राधा महोत्सव के अवसर पर कृष्ण और राधा ने रास रचाया। उस समय सरस्वती ने वीणावादन और गायन किया। शिव ने भी रासोल्लास में भाग लिया। संगीत की इन मूर्च्छनाओं में सभी तल्लय हो गये। जब सभी चेतनायुक्त हुए, उन्हें राधा और कृष्ण दिखाई नहीं दिए। उस स्थान पर थोड़ा सा जल दिखाई दिया। दोनों के अन्तर्धान से देवता बड़े दुःखी हुए। तभी आकशवाणी हुई— उसमें कृष्ण ने बताया कि "यह जल मेरी ही शक्ति है! तुम उसकी उपासना करो।" तब देवताओं ने उसे अपनी आराध्य नदी बनाया। इधर जल की अधिष्ठात्री देवी गंगा सशरीर कृष्ण के समीप ही रहने लगी। एक बार गंगा की भेंट राधा से हो गई। कृष्ण के समीप दूसरी स्त्री को देख राधा को आश्चर्य हुआ और शंका भी। तभी गंगा ने भयभीत होकर अपना जलमय रूप बना लिया और राधा के पान करने से पूर्व ही वह जल कृष्ण के चरणों में समा गया। इससे सर्वत्र जल का अभाव हो गया। तब ब्रह्मादि के साथ देवता गोलोक में कृष्ण के समीप पहुँचे और गंगा की याचना की। कृष्ण ने अपने चरणनखों से उन्हें पुनः निकाला। तब ब्रह्मा ने उस जल को अपने कमंडलु में और शिव ने उसे मस्तक पर धारण किया। वही जल बाद में भूलोक पर भगीरथ के द्वारा लाया गया, जिसने सगरपुत्रों का उद्धार किया[2]।

इस प्रकार विविधताओं से भरा हुआ त्रिपथगा भगवती भागीरथी का यह इतिवृत्त पुराणों में प्राप्त होता है। भगवती गंगा के पावन रूप की व्याख्या पुराणों में अनेक रूपों में की गई है, जिसका थोड़ा सा परिचय प्रस्तुत लेख में दिया गया है। पूज्य महाराजजी की आस्था देवी गंगा के प्रति बहुत थी, उसी निष्ठा के अनुरूप में भाव-सुमन श्रद्धाञ्जलि के रूप में उन्हें अर्पित हैं। ❁

---

१. दे. देवी भाग० स्कन्ध २, अध्याय ३।

१. देवी. भाग० स्कन्ध ९ अध्याय ६।

२, देवी भाग० स्कन्ध ९ अध्याय १२-१४।

श्रुति-वाङ्मय की परिधि

(डा० रामकृष्ण आचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, आगरा)

(अ) परम्परागत मान्यता—जैसा कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'[1] 'मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदः',[2] 'मन्त्रब्राह्मणंवेद इत्याचक्षते'[3] आदि वचनों के रूप में अभिव्यक्त परम्परागत मान्यता से ज्ञात होता है, मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वाङ्मय को, जिसमें कि समस्त मन्त्रसंहिताएं एवं ब्राह्मणग्रन्थ तथा तदन्तर्गत आरण्यक और उपनिषद् आ जाते हैं, परम्परागत रूप से 'वेदवाङ्मय' माना जाता रहा है और, जैसा कि मनुस्मृति के 'श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः' (२।१०) वचन से ज्ञात होता है, 'वेद' का ही एक दूसरा परम्परागत नाम 'श्रुति' है; अतः 'श्रुति-वाङ्मय' की परिधि में परम्परागत मान्यता के अनुसार उक्त समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय आता है। समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय को श्रुति-वाङ्मय मानने के कारण ही उक्त स्मृति ने उपनिषदों को भी, जो किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में अपना अस्तित्व न रख मन्त्र-संहिता और ब्राह्मण-ग्रन्थों के विभिन्न अंशों के रूप में अपना अस्तित्व रखते हैं, विविधाश्चौपनिषदीरात्मसंसिद्धये श्रुतीः' (६।२९) के रूप में 'श्रुति' ही कहा है। इसके अतिरिक्त, विष्णुपुराण में भी अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् के 'द्वे विधे वेदितव्ये' (१।१।४) वाक्य को 'द्वे वै विधे वेदितव्ये इति चाथर्वणी श्रुतिः' (वि० पु० ६।५।६५) के रूप में 'आथर्वणी श्रुति' कहा गया है। इसी प्रकार विभिन्न श्रौतसूत्रों एवं पूर्व मीमांसा-सूत्रों ने मन्त्रों के साथ ब्राह्मण वाक्यों का भी 'श्रुति' शब्द के द्वारा निर्देश किया है।[4] साथ ही पूर्वमीमांसा-सूत्रों ने 'वेदांश्चैके संनिष्कर्षं पुरुषाख्याः' (पू० मी० सू० १।१।२७) के रूप में एक वाङ्मय को 'वेद' कहकर, आगे उसके एक विशिष्ट अंश को 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' (पू० मी० सू० २।१।३२) के रूप में 'मन्त्र' शब्दाभिधेय बताते हुए उसी के अवशिष्ट अंश को 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' (पू० मी० सू० २।१।३३) के रूप में 'ब्राह्मण' शब्दाभिधेय कहा है, जिससे स्पष्ट है कि पूर्वमीमांसासूत्रकार जैमिनि वेद वाङ्मय के अन्तर्गत मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वाङ्मय को मानते हैं और उनके भाष्यकार शबर स्वामी ने 'मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः' (पू० मी० सू० शा० भा० २।१।३३) के रूप में इस तथ्य को स्पष्टतः प्रकट भी कर दिया है।

ब्रह्मसूत्रों ने उपनिषद्–वाङ्मय की मीमांसा की है और यतः, इस वाङ्मय को उन्होंने 'श्रुति' शब्द से निर्दिष्ट किया है तथा उसके प्रतिपादन को 'श्रुत' कहा है,[5] अतः स्पष्ट है कि ब्रह्मसूत्र भी उपनिषदों को श्रुति-वाङ्मय के अन्तर्गत मानते हैं।

उक्त प्रमाणों से यह स्पष्टतः ज्ञात होता है कि मनुस्मृति, विष्णुपुराण, विभिन्न श्रौतसूत्र,

---

१. आपस्तम्ब श्रौतसूत्र २४।१।३१; कात्यायनपरिशिष्ट प्रतिज्ञासूत्र १; सत्याषाडश्रौतसूत्र १।१।७.

२. आपस्तम्बयज्ञपरिभाषा ३१.

३. बौधायनगृह्यसूत्र २।६।२.

४. का० श्रौ० सू० १।१।६,२०; १।२।१३ आदि; पू० मी० सू० २।३।१३, ३।१।१३, १५ आदि।

५. ब्रह्मसूत्र १।१।११; १।३।२१; २।१।२७; २।३।१७ आदि।

पूर्वमीमांसा-सूत्र और ब्रह्मसूत्रों के भी रचना-काल में समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय और तदन्तर्गत उपनिषद्-वाङ्मय एक अतीत की वस्तु था और परम्परा से 'श्रुति' के रूप में सम्मानित होता हुआ चला आ रहा था। बाद में भाष्यकारों ने तो इस समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय को 'श्रुति' कहा ही है।[1] इस प्रकार प्राचीनकाल से चली आती हुई परम्परा के अनुसार समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय वेद-वाङ्मय या श्रुति-वांङ्मय की परिधि के अन्तर्गत माना जाता रहा है और फलतः इस वाङ्मय के सभी अंशमन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्–श्रुति-प्रमाण के रूप में समान महत्व एवं सम्मान प्राप्त करते रहे हैं।

(आ) उक्त परम्परागत मान्यता का विरोध :—उक्त प्रकार से श्रुति-वाङ्मय की परिधि के अन्तर्गत प्राचीन काल से परम्परागत रूप में समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय के माने जाने पर भी आधुनिक काल में आकर आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्दजी ने अपने इस मत का प्रस्ताव किया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ वेदवाङ्मय या श्रुतिवाङ्मय के अन्तर्गत नहीं।[2] इस मत के फलस्वरूप वैदिक परम्परा के ही अनुयायियों में यह एक विवाद का विषय बन गया है कि ब्राह्मण-ग्रन्थ भी 'वेद' या 'श्रुति' हैं या नहीं। जहां 'आर्यसमाजी' कहे जाने वाले विद्वान् ब्राह्मणों को वेद या श्रुति न मानने के पक्ष में हैं,[3] वहाँ 'सनातनी' कहे जाने वाले विद्वान् उनके वेदत्व या श्रुतित्व का समर्थन करते हैं,[4] यद्यपि आर्यसमाजी पक्ष मन्त्र-भाग में से भी केवल चतुःसंहितात्मक अंश अर्थात् चार विशिष्ट मन्त्रसंहिताओं को ही वेद मानता है और अवशिष्ट अन्य संहिताओं को वेद न मान कर ब्राह्मणों के समान वेदव्याख्यान मात्र मानता है,[5] फिर भी मुख्य विवाद ब्राह्मणभाग के विषय में है कि वह भी वेद है या नहीं।

(इ) विवाद का मूल—उक्त विवाद के मूल में प्रमुखतः यह परम्परागत रूढ़ मान्यता है कि वेद-वाङ्मय सनातन एवं अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत वाङ्मय है। उक्त मान्यता को दोनों ही पक्ष–

१. द्रष्टव्य–पूर्वमीमांसासूत्र, ब्रह्मसूत्र एवं विभिन्न श्रौतसूत्रों के भाष्य ग्रन्थ।

२. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, वेदसंज्ञाविचारविषय तथा सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, वेदविषयविचार।

३. द्रष्टव्य–वैदिक कोश की भूमिका (भगवदत्त उपाध्याय), वैदिक सम्पति (रघुनन्दन शर्मा), पृ० ५३३–५५०' ५६१ आदि।

४. द्रष्टव्य–कात्यायन श्रौत सूत्र की भूमिका (विद्याधर शर्मा). शतपथब्राह्मण की भूमिका (श्रीधर शर्मा तथा दीनानाथ शर्मा)।

५. द्रष्टव्य–ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका, वेदसंज्ञाविचार विषय तथा सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, वेदविषयविचार तथा पादटिप्पण १ में निर्दिष्ट ग्रन्थ।

यद्यपि स्वामी दयामन्द ने अपने द्वारा 'वेद' मानी जाने वाली चार संहिताओं का अपने ग्रन्थों में कहीं नाम-निर्देश नहीं किया, किन्तु फिर भी उन्होंने जिन संहिताओं के प्रारम्भिक शब्दों–अग्नि, इट्, अग्नि ये त्रिषप्ताः–से चार वेदों का प्रारम्भ बताया है (स० प्र०, प्र० स०, पृ० १६) और साथ ही उन्होंने जिनको 'वेद' मानकर प्रकाशित कराया है तथा तदनुसार जो आर्यसमाज में :वेद' में नाम से प्रचलित हैं, वे यतः शाकलसंहिता (ऋग्वेद) माध्यन्दिनसंहिता (शुक्ल यजुर्वेद), कौथुमसंहिता (साववेद) एवं शौनकसंहिता (अथर्ववेद) के नाम से प्रसिद्ध संहिताएं हैं, अतः स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द एवं तदनुयायी आर्यसमाजी पक्ष के द्वारा 'वेद' मानी जाने वाली चार संहिताएं उक्त चार संहिताएं ही हैं।

आर्यसमाजी और सनातनी मानते हैं और उसी के आधार पर वे वेद-वाङ्मय की परिधि का निर्धारण करते हैं। आर्यसमाजी पक्ष को जहाँ मन्त्रभाग अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत प्रतीत होता है, वहाँ उसे ब्राह्मण-भाग ऐसा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जहां उसे मन्त्रभाग में कालविशेष के इतिहास का वर्णन प्रतीत नहीं होता, वहाँ उसे ब्राह्मणभाग में ऐसे इतिहास का वर्णन प्रतीत होता है और यतः कालविशेष का इतिहास अनादि एवं अपौरुषेय या ईश्वरीय वाङ्मय में नहीं होना चाहिए, अतः वह जहाँ मन्त्रभाग को 'वेद' मानता हैं, वहाँ वह ब्राह्मणभाग को 'वेद' या 'श्रुति' मानने को प्रस्तुत नहीं। इसके विपरीत सनातनी पक्ष मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग, दोनों में ही इतिहास का वर्णन मानता हुआ भी उसे कालविशेष का इतिहास नहीं, अपितु नित्य इतिहास मानकर उक्त दोनों भागों को ही अनादि एवं अपौरुषेय सिद्ध करते हुए उन्हें समान रूप से 'वेद' या 'श्रुति' मानता है।

(ई) समाधान की ओर —यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो उक्त प्रकार से आर्यसमाजी और सनातनी, ये दोनों पक्ष समान रूप से इस परम्परागत रूढ़ मान्यता को कि वेद-वाङ्मय सनातन एवं अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत वाङ्मय हैं, वेद-वाङ्मय की परिधि के निर्धारण का आधार मानते हैं, उससे तो केवल उन दोनों की रूढ़िवादिता का ही परिचय प्राप्त होता है, प्रस्तुत विवाद का समाधान उससे कथमपि नहीं हो सकता। रूढ़िवादिता की दृष्टि से इन दोनों पक्षों में केवल इतना ही अन्तर है कि जहाँ आर्यसमाजी पक्ष केवल मन्त्रभाग के विषय में अपनी रूढ़िवादिता का परिचय देता है, वहाँ सनातनी पक्ष मन्त्रभाग से आगे ब्राह्मणभाग तक अपनी रूढ़िवादिता के क्षेत्र को बढ़ाए हुए है। किन्तु, जैसा कि अन्यत्र देखा जा चुका है,[1] वस्तुस्थिति यह है कि न तो मन्त्रभाग ही सनातन एवं अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत सिद्ध होता है और न ब्राह्मणभाग ही, और जहाँ तक कालविशेष के इतिहास के वर्णन का सम्बन्ध है, वह, जैसा कि अन्यत्र देखा जा चुका है,[2] जिस प्रकार ब्राह्मणभाग में प्राप्त होता है, उसी प्रकार वह मन्त्रभाग में भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यदि उक्त परम्परागत रूढ़मान्यता के आधार पर ही वेदत्व का निर्धारण किया जावे तो मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग में से किसी भी भाग का वेदत्व स्थिर नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त, किसी वाङ्मय का परम्परागत नाम और उसके कर्तृत्व या उद्गम के स्रोत के सम्बन्ध में प्रचलित परम्परागत मान्यता, दोनों परस्पर-भिन्न विषय हैं और फलतः किसी वाङ्मय के कर्तृत्व या उद्गम के स्रोत से सम्बद्ध परम्परागत मान्यता के वितथ सिद्ध होने पर भी उसके परम्परागत नाम पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु वह यथावत् माना जाता है। दूसरे शब्दों में, किसी वाङ्मय का परम्परागत रूप से जो नाम या अभिधान चला आता है, उसका केवल इस आधार पर अपहरण न तो किया ही जाता है और न करना ही चाहिए कि वह वाङ्मय उस कर्त्ता की कृति सिद्ध नहीं होता जिसे कि परम्परागत रूप से उसका कर्त्ता माना जाता रहा है। फलतः उक्त परम्परागत रूढमान्यता को वेदत्व या श्रुतित्व की कसौटी मानना उचित प्रतीत नहीं होता। इसके लिए अन्य ही किसी स्वतन्त्र आधार की अपेक्षा रखनी होगी।

प्रस्तुत विवाद में आर्यसमाजी पक्ष का जो यह तर्क है कि यतः उक्त चतुः-संहितात्मक मन्त्रभाग और समस्त ब्राह्मणभाग में व्याख्यान मिलता है, अतः केवल चतुःसंहितात्मक अंश ही वेद है

१, २ ऋक्सूक्तरत्नाकरः (डा० रामकृष्ण आचार्य) प्रस्तावना, संस्कृत निबन्धाञ्जलिः (डा० रामकृष्ण आचार्यः) पृष्ठ ५९-६४।

और अवशिष्ट मन्त्रभाग तथा समस्त ब्राह्मणभाग वेद न होकर वेदव्याख्यान मात्र है, उसे कोई अच्छा तर्क नहीं कहा जा सकता। जहाँ तक मन्त्रभाग का सम्बन्ध है, उसके विषय में यह तो कहा जा सकता है कि मन्त्रों में परस्पर एक-दूसरे के प्रतिपाद्य का स्पष्टीकरण या व्याख्यान है और साथ ही शब्दावली का आदान-प्रदान भी हैं, किन्तु फिर भी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि आर्यसमाजी पक्ष द्वारा 'वेद' माने जाने वाले चतुःसंहितात्मक अंश के मन्त्रों का अवशिष्ट मन्त्रभागीय अंश के मन्त्रों ने व्याख्यान किया है अथवा इसके विपरीत चतुःसंहितात्मक अंश के मन्त्रों ने ही अवशिष्ट संहिताओं के मन्त्रों का व्याख्यान किया है। ऐसी दशा में यह घोषित कर देना कि चतुःसंहितात्मक अंश ही वेद है और अवशिष्ट मन्त्रभाग उसका व्याख्यान है, एक दुःस्साहस मात्र ही कहा जावेगा, उसे कथमपि न्याय्य नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त, चतुःसंहितात्मक अंश और अवशिष्ट अंश इन दोनों में से किसी एक में भी किसी दूसरे की आनुपूर्वी व्याख्या नहीं है जो कि एक को दूसरे का व्याख्यान माना जावे; इनके मन्त्रों में परस्पर जिस प्रकार का प्रासंगिक स्पष्टीकरण या व्याख्यान अथवा शब्दावली का आदान-प्रदान प्राप्त होता है, वैसा वह, जैसा कि अन्यत्र देखा जा चुका है,[1] स्वयं चतुःसंहितात्मक अंश के भी मन्त्रों में परस्पर प्राप्त होता है।

इसी प्रकार, यद्यपि ब्राह्मण-ग्रन्थ मन्त्रों का निर्देश करते हैं, प्रसंगतः उनके अर्थों का प्रकाशन करते हैं, उनके विभिन्न शब्दों का निर्वचन करते हैं, उनके द्वारा स्तूयमान देवों के स्वरूप पर प्रकाश डालते हैं और उनके प्रतीक रखकर विभिन्न यज्ञोय कर्मों में उनके विनियोगों का प्रदर्शन करते हैं; फिर भी इस रूप में मन्त्रव्याख्या मात्र ही उनका विषय नहीं है, अपितु जिस प्रकार अपने समय की मान्यताओं या विचारधाराओं के अनुसार मन्त्रों ने अपना स्वतन्त्र प्रतिपादन प्रस्तुत किया है, उसी प्रकार अपने समय की विकसित विचारधाराओं के अनुसार ब्राह्मणभाग ने भी अपना स्वतन्त्र प्रतिपादन प्रस्तुत किया है। जहाँ तक उक्त रूप में मन्त्र-व्याख्या का प्रश्न है, उससे यद्यपि यह निष्कर्ष तो अवश्य ही प्राप्त होता है कि निर्देश्य मन्त्रभाग स्वनिर्देशक ब्राह्मण भाग से पूर्वकालीन ही नहीं, अपितु इसका उपजीव्य भी है और यतः मन्त्रों ने अपने लिए 'ब्रह्म सूक्तं जुषेरत' (ऋ० वे० १०।६५।१४) आदि के रूप में प्रमुखतः 'ब्रह्म' अभिधान का प्रयोग किया है[2] अतः साथ ही यह भी प्रकट होता है कि ब्राह्मण-ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' अभिधान संभवतः इसीलिए प्राप्त हुआ है कि वे 'ब्रह्म' अर्थात् मन्त्रों के उक्त रूप में परिकर और उपजीवक हैं; किन्तु फिर भी उससे यह सिद्ध नहीं होता कि केवल मन्त्र ही 'वेद' या 'श्रुति' हैं और ब्राह्मण-ग्रन्थ नहीं। यद्यपि इस रूप में कि मन्त्र 'ब्रह्म' हैं और फलतः तत्परिकर एवं तदुपजीवक रूप रचना स्वतः ही 'ब्रह्म' न होकर 'ब्राह्मण' है, मन्त्र रूप 'ब्रह्म' और तत्परिकर एवं तदुपजीवक रूप 'ब्राह्मण' का स्वरूपतः परस्पर भिन्नत्व और साथ ही परस्पर-सम्बद्धत्व स्पष्ट है, किन्तु फिर भी प्रस्तुत विवाद तो इस रूप में यथावत् बना ही रहता है कि केवल 'ब्रह्म' ही वेद है अथवा उसके साथ 'ब्राह्मण' भी वेद है। इस विवाद का केवल उक्त रूप मन्त्र-व्याख्यान के आधार पर समाधान इसलिए नहीं हो सकता, क्योंकि, जैसा कि अन्यत्र देखा जा

---

१. ऋक्सूत्ररत्नाकरः, प्रस्तावना।

२. ऋग्वेद १।२४।११; १।४८।२; १।६१।१६; १।६२।१३; १।६३।६; ५।७५।२; १।८८।४; २।१२।१४; २।३६।८; ४।१६।२१; ४।२२।११; ७।१८।४; ७।२२।६; ७।३५।१४; १०।६५।१४; १०।८०।७ आदि।

चुका है[1], मन्त्रब्राह्मणात्मक समस्त वाङ्मय की एक दीर्घकालीन रचना-परम्परा चलती रही है और फलतः जिस प्रकार मन्त्रभाग के उक्त चतुःसंहितात्मक अंश से अवशिष्ट अंश के ही नहीं, अपितु, जैसा कि अभी पूर्व में कहा जा चुका है, स्वयं चतुःसंहितात्मक अंश के भी उत्तरकालीन मन्त्रों ने इस अंश के पूर्वकालीन मन्त्रों के प्रतिपाद्य का प्रासंगिक व्याख्यान या स्पष्टीकरण किया है तथा उनकी शब्दावली एवं प्रतिपाद्य से लाभ उठाया है, उसी प्रकार उत्तरकालीन ब्राह्मण-ग्रन्थों ने भी, भले ही कुछ अधिक रूप में सही, अपने पूर्वकालीन मन्त्रों का यथावसर सांकेतिक व्याख्यान या स्पष्टीकरण करते हुए तथा उनके प्रतिपाद्य से लाभ उठाते हुए, उनका अपने प्रतिपादन में उपयोग किया है। वैसे किसी अंश की आनुपूर्वी व्याख्या न मन्त्रभाग में है और न ब्राह्मणभाग में। ऐसी दशा में, यदि मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वाङ्मय के किसी अंश को केवल इस आधार पर वेदवाङ्मय की परिधि से बहिर्गत किया जावेगा कि उसमें किसी दूसरे अंश का व्याख्यान या स्पष्टीकरण है, तो उस चतुःसंहितात्मक अंश का भी, जिसे कि आर्यसमाजी पक्ष 'वेद' मानता है, बहुत बड़ा भाग वेदवाङ्मय की परिधि से बहिर्गत हो जावेगा और कुछ ही मन्त्र 'वेद' कहलाने के अधिकारी रह जावेंगे।

अस्तु! उक्त प्रकार से न तो इसी आधार पर किसी अंश को वेदवाङ्मय की परिधि से बहिर्गत किया जा सकता है कि उसमें कालविशेष का इतिवृत्त प्राप्त होता है और फलतः वह सनातन तथा अपौरुषेय या ईश्वरप्रणीत सिद्ध नहीं होता और न इसी आधार पर कि उसमें किसी दूसरे अंश का व्याख्यान या स्पष्टीकरण प्राप्त होता है। यतः 'वेद' और 'श्रुति' परम्परागत अभिधान हैं, अतः उनके अभिधेय की परिधि के विषय में केवल परम्परा के आधार पर ही कुछ कहा जा सकता है और यद्यपि स्मृति, पुराण एवं सूत्रों की समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय को उक्त अभिधानों से अभिहित करने की पूर्वप्रदर्शित परम्परा के स्वयं ही प्रस्तुत विवाद का विषय बन जाने के कारण उसके आधार पर कुछ नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी इसके लिए और भी पूर्वकालीन प्राचीनतम परम्परा को देखा जा सकता है।

'वेद' और 'श्रुति', इन अभिधानों के प्रयोग की मूल या प्रचीनतम परम्परा को अन्यत्र देखा जा चुका है,[2] यहाँ उसका पुनः दर्शन करने के लिए स्थान का अभाव है। वहाँ जो निष्कर्ष प्राप्त किया गया है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :— वेद या श्रुति सनातन एवं अपौरुषेय या ईश्वरोक्त वाङ्मय है, इस रूढ़ मान्यता के आधार पर विचार न कर 'वेद' और 'श्रुति' अभिधानों के परम्परागत अभिधान होने के कारण, केवल उनके प्रयोग की ही मूल परम्परा का अनुसन्धान करने से यही निष्कर्ष प्राप्त होता है कि जहाँ 'वेद' अभिधान का अभिधेय केवल मन्त्रात्मक वाङ्मय है, वहाँ 'श्रुति' अभिधान का अभिधेय समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय—मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं इनमें संकलित उपनिषद् है। जहाँ 'वेद' शब्द प्रारम्भ में अपने मौलिक अर्थ-ज्ञान या विद्या के लिए प्रयुक्त होकर, उसके आधार पर किसी भी ज्ञानस्रोत या विद्याप्रतिपादक वाङ्मय अथवा ज्ञेय विषय के लिए प्रयुक्त हुआ और फिर आगे ब्राह्मण-ग्रन्थों में तदनुसार ऋक्, यजुष्, साम एवं अथर्वांगिरस संज्ञा वाले मन्त्रों के संकलनरूप वाङ्मयों के क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद, इन विशिष्ट अभिधानों के रूप में प्रयुक्त होकर केवल मन्त्रात्मक वाङ्मय के ही एक विशिष्ट अभिधान के रूप में रूढ हो गया,

१. संस्कृतनिबन्धाञ्जलिः, पृ० ७६–८३।
२. संस्कृतनिबन्धाञ्जलिः (डा० रामकृष्ण आचार्य) पृ० ३१–४९।

वहाँ 'श्रुति' शब्द मन्त्रों या ब्राह्मणों के द्वारा किसी वाङ्मय के सम्बन्ध में किसी भी रूप में प्रयुक्त न होकर, इन दोनों के अस्तित्व में आ चुकने और फिर सुदीर्घकाल तक गुरु एवं शिष्यों के क्रमशः प्रवचन और श्रवण के माध्यम से एक परम्परागत श्रुति के रूप में चल चुकने के बाद सर्वप्रथम सूत्रस्मृति-पुराणकाल में उक्त समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय के एक विशिष्ट अभिधान के रूप में प्रयुक्त होकर अपने प्रयोग के प्रारम्भ-काल से ही उसके लिए रूढ़ हो गया। इस प्रकार पूर्व परम्परा के द्वारा भिन्न-भिन्न कालों में भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिनिमित्त या आधारों पर प्रचलित होने के कारण ये दोनों अभिधान–वेद और श्रुति–स्वभावतः ही एक-दूसरे के पर्याय न होकर अपना एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र अभिधेय रखते हैं और फलतः इनके अभिधेयभूत वाङ्मयों की उक्तरूप परिधियां भी परस्परभिन्न हैं। इन परिधियों के अनुसार जहाँ समग्र 'वेद' श्रुति है अर्थात् श्रुति वाङ्मय की परिधि में समाविष्ट है, वहाँ समग्र 'श्रुति' वेद नहीं अर्थात् वेदवाङ्मय की परिधि में समाविष्ट नहीं है।[1]

यद्यपि मन्त्रों ने किसी भी विद्या या तत्प्रतिपादक वाङ्मय के लिए 'वेद' शब्द का सामान्यतः प्रयोग किया है, किन्तु यतः किसी वाङ्मय के एक विशिष्ट अभिधान के रूप में यह शब्द ब्राह्मणग्रन्थों में ही केवल मन्त्रात्मक वाङ्मय के लिए रूढ़ हो गया, अतः पूर्वप्रदर्शित 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' (आप० श्रौ० सू० ३१) आदि के रूप में अभिव्यक्त सूत्रस्मृतिपुराणकालीन मान्यता को पूर्वपरम्परा के अनुकूल नहीं कहा जा सकता। इस मान्यता के प्रचलन का प्रमुख कारण उस समय से कुछ पूर्व प्रचलित हो जाने वाली यह एक दूसरी मान्यता प्रतीत होती है कि वेद सनातन एवं अपौरुषेय हैं। अतः इस रूढ़ मान्यता के कारण वेदों को स्वतः प्रमाण मानकर उनके प्रतिपाद्य को परम श्रद्धेय एवं परम प्रामाणिक माना जाता था, अतः ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदों के संकलनरूप ब्राह्मण-ग्रन्थों को भी स्वतः प्रमाण मानकर उनके प्रतिपाद्य को मन्त्रों के प्रतिपाद्य के समान ही परमश्रद्धेय एवं परम प्रामाणिक माना जा सके, इस उद्देश्य से उन्हें भी सनातन एवं अपौरुषेय प्रदर्शित करने के लिए उनको भी 'वेद' अभिधान दिया गया, क्योंकि ऐसा किए बिना सूत्रस्मृतिपुराणकाल में प्रचलित वेदा-पौरुषेयत्व की रूढ़ मान्यता के प्रकाश में उनके प्रतिपाद्य को वह महत्व नहीं मिल सकता था, जिसको कि उस समय परम आवश्यकता थी। ब्राह्मणों को भी 'वेद' अभिधान देने की इस सूत्रस्मृतिपुराण-कालीन प्रवृत्ति को आधार इस परिस्थिति से मिल गया कि ब्राह्मण-ग्रन्थ भी मन्त्रात्मक वेदों के साथ घनिष्ठतया सम्बद्ध होकर उन्हीं के समान सुदूर अतीतकाल से प्रवचनश्रवण या अध्ययनाध्यापन की परम्परा के विषय बने हुए एक परम्परागत श्रुति के रूप में चले आ रहे थे, अतः जब उनको भी स्वभावतः मन्त्रों के समान ही 'श्रुति' अभिधान दिया गया तो मन्त्रों के पूर्व परम्परागत अभिधान 'वेद' और अब बाद में उनको दिए गए इस 'श्रुति' अभिधान के परस्पर पर्याय सा हो जाने से 'वेद' और 'श्रुति', इन दोनों अभिधानों को परस्पर पर्याय मानने का मार्ग प्रशस्त हो गया और फलतः 'श्रुति' शब्दाभिधेय ब्राह्मणों को भी 'वेद' शब्दाभिधेय माना जाने लगा।

अस्तु ! इस प्रकार सूत्रस्मृतिपुराणकाल से भी पूर्ववर्तिनी परम्परा के अनुसार 'वेद' अभिधान का अभिधेय केवल मन्त्रात्मक वाङ्मय है और इसलिए, जहाँ तद्व्यतिरिक्त समस्त ब्राह्मणादि वाङ्मय 'वेद-वाङ्मय' की परिधि के बहिर्गत है, वहां प्राप्त और अप्राप्त समस्त मन्त्रसंहिताओं में संकलित समस्त मन्त्रात्मक वाङ्मय 'वेद-वाङ्मय' की परिधि के अन्तर्गत हैं। फलतः जिस प्रकार मन्त्रव्यतिरिक्त

१. 'संस्कृतनिबन्धाञ्जलिः' (डा० रामकृष्ण आचार्य) पृष्ठ ४८–४९।

ब्राह्मणादि वाङ्मय को वेद-वाङ्मय की परिधि के अन्तर्गत मानना 'वेद' अभिधान के प्रयोग की मूल या प्राचीनतम परम्परा के प्रतिकूल है, उसी प्रकार किसी भी प्राप्त या अप्राप्त मन्त्रसंहिता में संकलित मन्त्रों को वेद-वाङ्मय को परिधि से बहिर्गत मानना भी इस परम्परा के ही प्रतिकूल है।

जहाँ तक प्रस्तुत विवेचन के विषयीभूत 'श्रुति-वाङ्मय' की परिधि का सम्बन्ध है, 'श्रुति' अभिधान के प्रयोग की सूत्रस्मृतिपुराणकालीन मूल परम्परा के अनुसार इस काल तक श्रुति रूप में चला आने वाला प्राप्त और अप्राप्त समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय– प्राप्त या अप्राप्त समस्त मन्त्रसंहिताएं, ब्राह्मण, आरण्यक एवं इनमें संकलित उपनिषद्—'श्रुतिवाङ्मय' की परिधि के अन्तर्गत हैं। इस प्रकार जहाँ केवल मन्त्रात्मक वाङ्मय को ही 'श्रुति-वाङ्मय' की परिधि के अन्तर्गत मानकर तद्व्यतिरिक्त ब्राह्मणात्मक वाङ्मय को उससे बहिर्गत मानना 'श्रुति' अभिधान के प्रयोग की मूल या प्राचीनतम परम्परा के प्रतिकूल है, वहाँ सूत्रस्मृतिपुराणकाल से पूर्व 'श्रुति' रूप से न चले आने वाले, अपितु बाद में अपना अस्तित्व प्राप्त करने वाले 'उपनिषद्' नाम से प्रसिद्ध अनेकों निबन्धों को 'श्रुति-वाङ्मय' की परिधि के अन्तर्गत मानना भी इसी मूलपरम्परा के प्रतिकूल है। उपनिषदों के सम्बन्ध में यहाँ इतना और कह देना अप्रासंगिक न होगा कि, जैसा कि अन्यत्र देखा जा चुका है,[1] ब्रह्मसूत्रों के द्वारा मीमांसित या निर्दिष्ट उपनिषदों में से कुछ उपलब्ध मन्त्रसंहिता, ब्राह्मण या आरण्यकों में संकलित नहीं मिलते, किन्तु यतः मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय का बहुत-सा अंश आज प्राप्त नहीं है, अतः ब्रह्म-सूत्रों के साक्ष्य पर यह संभावना की जा सकती है कि ऐसे उपनिषद् अवश्य ही मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय के अप्राप्त अंश में संकलित थे और ब्रह्मसूत्रों से पूर्व अन्य उपनिषदों के समान ही श्रुतिरूप से चले आ रहे थे। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों के द्वारा मीमांसित सभी उपनिषद् और साथ ही उनके द्वारा अमीमांसित ऐसे सभी उपनिषद् जो मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय में संकलित हैं, अथवा यों कहिए कि मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय में संकलित सभी उपनिषद् और साथ ही ऐसे सभी उपनिषद् जो मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वाङ्मय में संकलित नहीं हैं, किन्तु ब्रह्मसूत्रों में मीमांसित किए गए हैं, श्रुति-वाङ्मय की परिधि के अन्तर्गत हैं।

इस प्रकार समस्त मन्त्रब्राह्मणात्मक वाङ्मय-मन्त्र, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उक्तरूप उपनिषद् के 'श्रुति-वाङ्मय' की परिधि के अन्तर्गत होने के कारण, उपनिषदों की मीमांसा में व्यावृत ब्रह्मसूत्रों ने जो अपने प्रतिपाथ के आधारभूत उपनिषदों को 'श्रुति' और उनके प्रतिपादन को 'श्रुत' कहा है, वह पूर्णतया 'श्रुति' अभिधान के प्रयोग की मूलपरम्परा के अनुकूल और साथ ही, मन्त्रब्राह्मणकालीन पूर्वपरम्परा से समर्थित होने के कारण पूर्णतया उचित है।

---

१. ब्रह्मसूत्रों के वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन (डा० रामकृष्ण आचार्य), 'मीमांसा श्रुतिवाक्य' शीर्षक अध्याय।

सृष्टि और वाङ्मय का मूल चिन्तनः प्रतिभा दर्शन

(डा० शंकरदेव शर्मा 'अवतरे' एम० ए०, पी०-एच० डी०, डी० लिट्० नई दिल्ली)

यदि अव्यक्त का सबसे बड़ा प्रयोग सृष्टि है तो मनुष्य का सबसे बड़ा प्रयोग वाणी है। सृष्टि की सर्वोत्तम उपलब्धि मनुष्य है, मनुष्य की सर्वोत्तम उपलब्धि भाषा है। मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा का प्रयोग किया था जिसे वह जगत् से अलग न रख सका क्योंकि उसका अपना अनुभव जगद्-विषयक था और उसकी अपनी अभिव्यक्ति भी जगत् की प्रतिक्रिया थी। दूसरे शब्दों में यह उसके जीवन का सबसे बड़ा उपलब्ध सत्य था जिसकी अभिव्यक्ति की प्रेरणा जगत् की प्रतिक्रिया के बिना असम्भव थी। फलतः वाङ्मय, जीवन-जगत् का एक अभिव्यक्त रूप ही है। इसीलिए काव्य और साहित्य के साथ जगत् का प्रसंग आदिकाल से ही उठता चला आ रहा है।

परपुरातन ग्रन्थों में जो शब्द को ब्रह्मस्वरूप माना गया है और उसी का अर्थभाव किंवा विवर्त इस जगत् को माना गया है,उसकी आध्यात्मिक ही नहीं, वैज्ञानिक और व्यावहारिक संगति भी है[1]। ध्वन्यात्मक शब्द से शून्य में हलचल उत्पन्न होती है और सृष्टि के परमाणुओं में विक्षोभ की लहर उठती हैं। ये लहर रेखा-रूप होती हैं जो परमाणुओं के संघात से मूर्त्त सृष्टि का निर्माण करती है। यही अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि की प्रक्रिया का क्रम है। किन्तु जिस प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द से शून्य में परमाणुओं की रेखाओं का निर्माण होता है उसी प्रकार परमाणुओं की संघात रेखाओं के स्पन्दन या विघटन से भी उसी ध्वन्यात्मक शब्द की पुनरावृत्ति होती है। रेडियो और टेप-रिकार्ड के आविष्कारों ने इस तथ्य की वैज्ञानिक संगति स्पष्ट करदी है। इससे दो बातों का व्यावहारिक सूत्र हाथ में आजाता है। पहली बात यह कि सृष्टि के निर्माण और ध्वंस दोनों ही शाश्वत ध्वन्यात्मक शब्द के विपरिणाम हैं और इसीलिए भारतीय मनीषा ने हजारों वर्ष पहले शब्द को ब्रह्मस्वरूप कहा था, वह शाश्वत सत्य की खोज थी। दूसरी बात यह है कि सृष्टि के रूप में जो ध्वन्यात्मक शब्द का अर्थभाव (विवर्त) है उसके विकास और विघटन में भी जीवन का स्पंदन ध्वन्यात्मक शब्द की पुनरुक्ति करता है जो शब्द-स्वरूप ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप को प्रकट करता है। मनुष्य इस सृष्टि का सर्वोत्तम पुतला इसलिए भी है कि उसने इस ध्वन्यात्मक शब्द को ध्वनियंत्र के रूप में अपने शरीर-संस्थान से बांधकर भावात्मक अभिव्यक्ति का साधन बना लिया है और इसी का नाम भाषा है जो जीवन-जगत् की अनन्त प्रतिपत्तियों में फैलकर वाङ्मय की संज्ञा प्राप्त करती है। इस प्रकार ध्वन्यात्मक शब्द-तत्त्व से सृष्टि-प्रक्रिया का ही प्रवर्तन और ध्वंस नहीं होता अपितु वाङ्मय के मूल तत्त्व वाणी का भी अभ्युत्थान होता है[2]।

---

१ अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ (वाक्यपदीय १, १)

२ यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युदीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ (केनोपनिषद् १, ४)

मनुष्य ने जिस वाणी का आविष्कार किया वह ध्वन्यात्मक प्रतीकों की एक व्यवस्था मात्र थी। यह कल्पना बड़ी मनोरंजक है कि मनुष्य ने पदार्थ संकेतक ध्वनियां किस प्रकार निश्चित की होंगी जो समष्टि रूप में भाषा कहलायीं और किस प्रकार अनेक समान इकाई-ध्वनियों का कुछ निश्चित ध्वनियों में वर्गीकरण किया होगा जो वर्णमाला या लिपि कहलायी। जो हो, यह वैखरी[1] के रूप में मनुष्य ने वाणी का आविष्कार किया था और ध्वनि या मध्यमा नाद के क्षेत्र में किया था जो जगद्-दर्शन की अनुभूति-रूपा पश्यन्ती वाणी का श्रेणी-बद्ध विकास था[2]। किन्तु वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती से ऊपर परा रूपा वाणी का वह रूप भी है जिसके परत्व की व्याख्या तत्परत्व से शून्य है, अर्थात् जो अनिर्वचनीय है। वाक्यपदीयकार ने इसका परत्व इन शब्दों में प्रकट किया है:—

(क) वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ (वा० प० १, १४४)

(ख) आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा। ' वा० प० १, १२८)

अब यदि वाणी का यह 'परा' रूप भगवान् की प्रकृति है तो जगत्-सृष्टि के प्रवर्त्तन में वह कारण भी है। उपनिषद् विद्या इसकी साक्षी है कि वाणी से ही समस्त लोकों का और मनुष्य जैसी समस्त जातियों का प्रादुर्भाव हुआ है[3]। वाक्यपदीयकार ने इसकी पूरी प्रक्रिया का विचार किया है। उन्होंने एक ओर तो सारे विश्व को इस नाद तत्त्व का ही विवर्त कहा है जो इसका शरीर रूप है और दूसरी ओर इसके विकृत रूप (द्वितीय क्रम) 'पश्यन्ती' को इसका प्रतिभाऽपरपर्याय नेत्र कहा है जो प्रतिभादर्शन के साथ-साथ समस्त वाङ्मय का मूल है[4]। इसका तात्पर्य हुआ कि नाद ही अपनी जड स्थिति में विन्दु और बिन्दु ही अपनी स्फूर्त या बलित दशा में नाद कहलाता हैं। भगवद्गीता में इन्हीं को भगवान् ने क्रमशः अपनी अपरा (भौतिकी) और परा (चैतन्य-रूपा) प्रकृति कहा है[5]। परमाणु रूप में ये दोनों ही एक, नित्य और अव्यक्त हैं।

---

१ चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदु र्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति। (ऋग्वेद– १, १६४-४५)

२ अण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्॥
अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मं वागात्मना स्थितम्।
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन प्रवर्तते॥ (वाक्यपदीय १, ५१, और ११२)

३ वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे वाच इतः सर्वमभूत् यच्च मर्त्यम्।

४ शब्देष्वेवाश्रिता शक्ति विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते॥

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥ (वा० प० १, ११६-११७)

५ भगवद्गीता ७, ४-६

बिन्दु और नाद को वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से देखना भी मनोरंजक हो सकता है। 'विन्दु' को केन्द्र और नाद को केन्द्र का ही बलित रूप समझना चाहिए। केन्द्र यदि स्थिर है तो वह विन्दु है और यदि बलित या स्पन्दित (चलित नहीं) है तो वही नाद है। इसी दशा-भेद से इन दोनों के परमाणुओं की भिन्नता सिद्ध होती है। पदार्थ, संस्थान के रूप में केन्द्रीय परमाणु है और पदार्थ ही स्पंदन के रूप में ध्वनित परमाणु है। कोई स्पंदन होता है तो ध्वनि (नाद) अवश्य होगी और कोई ध्वनि होती है तो स्पन्दन अवश्य होगा, इसे ग्रामोफोन के रिकार्ड आदि से सहज ही जाना जा सकता है। कहना यह है कि स्पन्दन और ध्वनन को अविनाभावी सम्बन्ध से एक ही मानना पड़ता है। अब क्योंकि पदार्थ-संस्थान के बिना न तो स्पन्दन ही हो सकता है और न ध्वनन ही सम्भव है, इसलिए द्रव्याभिघात के रूप में परमाणु की सत्ता हमें केन्द्र-भूत या स्थिति के रूप में तो माननी ही पड़ेगी, स्पन्दन और ध्वनन के रूप में उसे गतिमय भी मानना पड़ेगा। यही गतिमयता जो हमने परमाणुओं के रूप में स्पन्दित और ध्वनित (नादित) मानी है, सृष्टि की उत्पत्ति और उसके संहार का भी प्रकरण खोलती है। सृष्टि के रूप में परमाणुओं का संघटन होता है, तो भी स्पन्दन और ध्वनन के बिना सम्भव नहीं है और यदि सृष्टि के संहार के रूप में उनका विघटन होता है, तो भी स्पन्दन और ध्वनन के विना नहीं हो सकता। इस प्रकार सृष्टि के प्रवर्त्तन और व्यावर्तन में भी नाद तत्त्व को मूल कारण मान लिया जाता है। अब क्योंकि नाद-तत्त्व,वाणी का ही अव्यक्त या अविभाजित (ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से स्थान और करणों में व्यवस्थापित न होने के कारण) मूलरूप है इसलिए वाणी को ही विश्व की उत्पत्ति में कारण बतलाया गया है। 'वागेव विश्वाभुवनानि जज्ञे' की और 'अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्ति' की भी यही संगति है।

अव्यक्त के व्यक्त प्रयोग स्वरूप इस सृष्टि की प्रक्रिया का यह विचार जो मानव ने सहस्त्रों वर्षों तक किया था, वही उसकी उपज्ञा किंवा अपौरुषेय ज्ञान है। उपज्ञा इसलिए कि यह ऋषियों का आदि ज्ञान है (ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः) और अपौरुषेय इसलिए कि यह पुरुष की परिधि से वाहर है। जो हम जानते हैं वही सत्य नहीं है, वह भी सत्य है जिसे हम नहीं जानते। इसीलिए सत्य, ज्ञान, अनन्त और ब्रह्म, ये चारों शब्द एक ही अभिधान से गतार्थ हो जाते हैं। कहना यह है कि ऋषियों के सृष्टि-विषयक आदिज्ञान या अपौरुषेय ज्ञान का ही दूसरा नाम वेद है। इसलिए वेदविद्या ही सृष्टि-विद्या है। यहाँ सृष्टि-प्रक्रिया की अभिव्यक्ति में मनुष्य-वाणी की अभिव्यक्ति का इतिहास सांस ले रहा है।

एक से दो होने पर सृष्टि का निर्माण होता है, यह वैदिक ऋषियों की मूल स्थापना है (स एकाकी न रमते तस्माद् द्वितीयमैच्छत्[1])। आज का वैज्ञानिक भी 'इलैक्ट्रोन' और 'प्रोटोन' के रूप में इसी द्वन्द्वभाव को स्वीकारता है। इस द्वन्द्व की बड़ी लम्बी व्याख्या वेदों में है जिसको उत्पत्ति सोम और अग्नि तत्त्व के रूप में प्रमाणित की गई है। सारी सृष्टि अग्निसोमात्मक है (अग्नीषोमात्मकं जगत्)। सोम तत्त्व स्वभावतः शान्त, स्थिर परन्तु सर्वत्र व्याप्त है। जहाँ कहीं इसमें क्षोभ या हलचल उत्पन्न होती है उसे अग्नि का परिणाम समझना चाहिये। आज का भूगोल विज्ञान भी यही कहता है कि उष्ण-वायु परिवेष हल्का होने के कारण ऊंचा उठता है और उसका स्थान लेने के लिए शीत वायु-परिवेष चारों ओर से दौड़ता है। इसी क्षोभ या हलचल का मतलब गति है इसप्रकार स्थिति में गति

१ वृहदारण्यक

तत्त्व का उदय होता है। स्थिति में गति तत्त्व के उदय का मतलब है, बिन्दु से रेखा का उदय। कोई चीज हिलेगी तो उसमें 'गति' अपना 'आगति' रूप भी प्रकट करेगी। 'गति-आगति' होने पर निश्चय ही सीमाओं के रूप में दो सिरे स्थापित हो जाएंगे। दो सिरे स्थापित होते ही रेखा अपने व्यास (डाईमीटर) को प्रकट कर देती है और चतुर्दिक गोलाई में वृत्त (सरकम्फरैन्स) स्वयं बन जाता है। वृत बनने का परिणाम यह होगा कि उसकी केन्द्रीय स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। 'गति-आगति' में भी 'स्थिति' केन्द्र-बिन्दु के रूप में इन दोनों का सन्तुलन किये रहती हैं। प्रत्येक पदार्थ के भीतर भी यह गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त (लॉ ऑफ ग्रेवोटेशन) वर्तमान है, अन्यथा उस पदार्थ की सत्ता ही असम्भव हो जाय। वेद विद्या में 'स्थिति' तत्त्व का नाम 'यजुः' और 'गति-आगति' का नाम 'ऋक्' है। एक स्थिर है तो दूसरा गत्वर है (तदेजति, तन्नैजति)। 'गति-आगति' के सीमा-परिणामी वृत्त का नाम 'साम' है। यही त्रयी विद्या है। संसार का कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जिसका केन्द्र, व्यास और वृत्त न हो। फलतः सारी सृष्टि इस त्रयी विद्या (वेदत्रयी) का उदाहरण है। मनुष्य की पहुंच में सबसे बड़ा पदार्थ सूर्य है। अतः वेदों में इसी की ओर उंगली उठाकर कहा गया है 'सैषा त्रयी विद्या तपति'।

स्थिति, गति और आगति का यह लयात्मक स्पन्दन संसार के प्रत्येक परमाणु का सहजात धर्म है। 'लय' की प्रतिमा छन्दोमयी है। यह लय अथवा छन्द, स्पन्दन के रूप में निर्माणात्मक ही नहीं, ध्वंसात्मक भी है[1]। परमाणु परस्पर मिलते हैं तो इसी स्पन्दन या नर्तन के साथ, और विघटित होते हैं तो भी इसी स्पन्दन या नर्तन के साथ।

यह लयात्मक स्पन्दन महाकाश में होता रहता है जिसका अर्थ है कि उसमें लहरें उठती रहती हैं। और यह भी कहा जा चुका है कि इस स्पन्दन में गति-आगति के साथ केन्द्र के रूप में स्थिति भी रहती है अन्यथा सन्तुलन बिगड़ जाय और कोई भी पदार्थ उत्पन्न न हो।

दूसरी ओर स्पन्दन में गति और स्थिति के साथ-साथ रहने का यह भी अर्थ है कि नाद और बिन्दु की सम्पृक्तता वहाँ है। 'गति' के रूप में प्राण-तत्त्व की सूचना है जिसे भगवान् कृष्ण ने अपनी परा प्रकृति (जीवभूता) कहा है और 'स्थिति' के रूप में 'बिन्दु' की सूचना है जिसे उन्होंने अपनी अपरा प्रकृति (भूतभूता) कहा है[2]। इन्हीं से प्रत्येक पदार्थ आत्मशरीर वाला है। ध्यान रहे, यह भेद-भाव पदार्थ-प्रक्रिया किंवा सृष्टि-प्रक्रिया के भीतर ही समझा जा रहा है, उससे पहले नहीं जहां एकमात्र अव्यक्त सत्ता का ही विचार है।

अब हम थोड़ा और भी व्यवहार-जगत् में आ रहे हैं। व्यावहारिक दशा में नाद-तत्त्व का अर्थ ध्वनि हो जाता है और बिन्दु-तत्त्व का अर्थ ध्वनि-संस्थान। ध्वनि-संस्थान के बिना ध्वनि-शरीर की स्पन्दन के रूप में या लहरों के रूप में कल्पना अव्यावहारिक है[3]। ध्वनि करने से आकाश में लहरों का स्पन्दन होता है और किसी भी प्रकार के स्पन्दन की रेखाओं के पुनश्चरण या निघर्षण से ध्वनि उत्पन्न होती है[4]। आधुनिक युग में गाने-बजाने के रिकॉर्ड और ट्रान्समीटर एवं रिसीवर के रूप में

१ छन्दोम्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत (वा० प० १, १२२)

२ भगवद्गीता ७. ४-६

३ स्थानेष्वभिहतो वायुः शब्दत्वं प्रतिपद्यते। (वा० प० १, १०७)

४ द्रव्याभिघाताद् प्रचितौ भिन्नौ दीर्घप्लुतावपि।
कम्पे तूपरते जाता नादावृत्ते विशेषकाः॥ (वा० प० १, ११०)

विज्ञान इस उपर्युक्त सिद्धान्त को जनसाधारण के सामने अच्छी तरह स्पष्ट कर चुका है। संक्षेप में, सृष्टि-निर्माण की यह लयात्मक स्पन्दनशील प्रक्रिया, जो परमाणुओं के संघटन-रूप में 'दृश्य' अथवा स्थूल है और उनके संघटनजन्य नाद या रेखा के रूप में सूक्ष्म अथवा ध्वन्यात्मक है, भारतीय सृष्टि-विद्या का प्राचीन सिद्धान्त है जो वेदों से लेकर पुराण और तान्त्रिक ग्रन्थों में विविध पद्धतियों से व्यक्त किया गया है और जो आज के विज्ञान की कसौटी पर भी एकदम खरा उतरता है।

ऊपर कही गई जगत् की नाद-बिन्दुमयी सृष्टि-प्रक्रिया के साथ वाङ्मय की उत्पत्ति-प्रक्रिया का क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न अब यहाँ उठता है। आगे प्रतिभादर्शन के अनुसार इसका समाधान करना है। परन्तु अत्यन्त व्यावहारिक ढंग से हम इस जिज्ञासा की पूर्ति स्पष्ट शब्दों में कर देना चाहते हैं ताकि आगे प्रतिभादर्शन की शास्त्रीय संगति सुगम बन सके।

अग्नि और सोमतत्त्व से सारी सृष्टि अभिव्याप्त है और इसीलिए मनुष्य का बाह्याभ्यन्तर भी। अग्नि-तत्त्व के कारण सोम-पूर्ण आकाश में वलित भाव पैदा होता है और परमाणुओं में हलचल होती है। यह हलचल नाद-तत्त्व से शून्य नहीं हो सकती, यह व्यावहारिक सत्य है। यह भी सत्य है कि नाद या ध्वनि करने पर आकाश या अव्यक्त के परमाणुओं में हलचल या गति उत्पन्न होती है। यह अन्योन्याश्रित व्यावहारिक सत्य ग्रामोफोन के रिकॉर्ड ने प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है। यही अन्योन्याश्रित व्यावहारिक सत्य जगत् की उत्पत्ति के भी मूल में है और वाङ्मय की उत्पत्ति के मूल में भी है। कैसे? पदार्थ या संसार का संघटन या विघटन परमाणुओं की हलचल के रूप में ही होता है। परमाणुओं की हलचल अग्नितत्त्व के बलित भाव के रूप में होती है। और क्योंकि परमाणुओं की हलचल या अग्नितत्त्व के वलित भाव का होना नाद-सहजात के रूप में व्यवहारतः सिद्ध है, इसलिए सृष्टि के निर्माण और ध्वंस में भी वही नाद तत्त्व सहज कारण है जो वाङ्मय की उत्पत्ति का भी मूल कारण है।

यहीं पर एक बात और समझ लेनी चाहिए। नाद के रूप में जो परमाणुओं की हलचल या अग्नि-तत्त्व का वलितभाव है वह परमाणुओं के घात-प्रतिघात के रूप में ही है। इस घात-प्रतिघात में भी सन्तुलन के लिए कोई केन्द्रीय स्थिति अवश्य होती है चाहे गति के रूप में किसी परमाणु का चलन हो या किसी का स्पन्दन। यही केन्द्रीय स्थिति गति के साथ मिलकर जगत् के प्रत्येक पदार्थ का केन्द्र बनती हुई उसे उत्पन्न भी करती है और नष्ट भी करती है। अविभाज्य होते हुए भी जगदुत्पत्ति की प्रक्रिया में जैसे स्थिति से बिन्दु का और गति से नाद का व्यवहार-बोध होता है उसी प्रकार वाणी के क्षेत्र में भी आगे चलकर स्थिति से स्थान का और गति से करण का स्थूल रूप मनुष्य के ध्वनियंत्र के भीतर सिद्ध होता है। उदाहरणार्थ दन्त अपने स्थान पर ही रहने के कारण स्थान है और जिह्वा वहाँ तक यात्रा करके आने के कारण करण है। दोनों के मिलने से दन्त्य वर्ण-ध्वनि उत्पन्न होती है जो नाद तत्त्व का स्थूल या विकृत रूप है। इस प्रकार स्थिति और गति जो एक ही तत्त्व के अवस्था-प्राप्त भेद हैं, बिन्दु और नाद के रूप में अन्योन्याश्रित भी हैं। इसका मतलब है कि जगत् और वाङ्मय की उत्पत्ति मूलतः एक होते हुए भी समझने के लिए अलग-अलग और अन्योन्याश्रित है। इसी अन्योन्याश्रितता के कारण दर्शन की भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि विश्व की उत्पत्ति के साथ वाणी की उत्पत्ति का प्रश्न जुड़ा हुआ है और यह भी कह सकते हैं कि वाणी की उत्पत्ति के भीतर ही विश्व की उत्पत्ति का इतिहास मूर्च्छित है।

जो हो, सृष्टि-प्रक्रिया के विवेचन से एक बात हमारे मतलब की निकल आती है, वह, यह

कि अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति नाद-विन्दुमयी प्रक्रिया के भीतर इस नामरूपात्मक जगत् के रूप में होती है[1] और नामरूपात्मक जगत् की ही अभिव्यक्ति उस प्रतिभा दर्शन की 'प्रक्रिया' में वाङ्मय के रूप में होती हैं जिसे शब्दाश्रित विश्वनिबन्धिनी शक्ति का नेत्र कहा गया है।[2] जीवन-जगत् के प्रतिक्रियात्मक वोध की क्षमता ही मनुष्य की वह सहज प्रतिभारूप नेत्र थी जो ध्वन्यात्मक शब्द के आश्रय से अपनी दर्शनानुभूति को सफल कर सकती थो। यह नेत्र जब मनुष्य को प्राप्त हुआ तो उसने नामरूपात्मक व्यक्त जगत् की दर्शनानुभूति के रूप में 'पश्यन्ती' नामक वाणी का साक्षात्कार किया[3]। इस साक्षात्कार की प्रसव-पीड़ा जव उसे हुई तो वह 'मध्यमा' नामक वाणी की शरण में पहुँचा जो सृष्टि की प्रक्रिया में पड़ने वाले अपूर्व (आदि) व्यापक नाद-तत्त्व के व्यक्ति की सीमा में व्यक्त होने वाली वाणी (वैखरी) का माध्यम होने के कारण मध्यमा-नाद कहलाता है[4]। यही मध्यमा-नाद वैखरी (भाषा) में व्यक्त होने से पहले पदार्थ-संकेतक विभिन्न ध्वनि-प्रतीकों के रूप में मनुष्य ने व्यवस्थित किया था जो आज उसकी (मनुष्य की) भाषा के नाम से प्रसिद्ध है और जो उसी का आविष्कार किंवा प्रयोग है[5]।

यही भारतीय प्रतिभादर्शन है जो परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी के रूप में विकसित भाषा की अभिव्यक्ति से मूलतः सम्बद्ध है। व्यावहारिकता का और अधिक आग्रह हो तो इसी बात को और भी मोटे रूप में यों कहा जा सकता है कि मनुष्य की चैतन्य-शक्ति (गीता के अनुसार 'जीवभूता' प्रकृति) जब विश्वदर्शन करती है अर्थात् जीवन-जगत् का साक्षात्कार करती है तो वह 'पश्यन्ती' नामक वाक् का अभिधान पाती है। इसी को दूसरे शब्दों में मनुष्य की अनुभूति भी कह सकते हैं क्योंकि विश्व-दर्शन से मनुष्य-चेतना को अनुभव ही तो प्राप्त होता है, अन्यथा विश्वदर्शन का मतलब ही क्या है? अनुभूति का स्वभाव है कि वह अपने को अभिव्यक्त करने की प्रसव-पीडा मनुष्य को विना दिए नहीं रह सकतो। अनुभूति की इसी प्रयत्नावस्था में अनुभूत्यात्मक 'पश्यन्ती' वाणी का नाम 'मध्यमा' पड़ जाता है[6]। आगे चलकर यही 'मध्यमा' जब मनुष्य के ध्वनियन्त्र के स्थान और

---

१ अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (भगवद्गीता ८, १८)

२ शब्देष्वेवाश्रिता शक्ति विश्वस्यास्य निबन्धनी
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते (वा० प० १, ११६)

३ अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सैषा वागनपायिनी (वा० प० १, १४३ की भाष्यकारिका)

४ (१) अथेदमान्तरं ज्ञानं सूक्ष्मं वागात्मना स्थितम्
व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन प्रवर्तते (वा० प० १, १११)
(२) केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते (वा० प० १, १४३ की भाष्यकारिका)

५ स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा
वैखरी वाक् प्रयोक्तृणां प्राणवृत्तिनिबन्धनी (वा० प० १, १४३ की भाष्यकारिका)

६ केवलं बुद्ध्युपादानक्रमरूपानुपातिनी
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते (वा० प० १. १४३ की भाष्यकारिका)

करणों में प्रविभाजित होने के साथ साथ विभिन्न पदार्थ-संकेतक ध्वनियों में अपना कलेवर ग्रहण करती हुई शब्दार्थमयी अभिव्यक्ति का साधन बनती है तो 'वैखरी' के रूप में मनुष्य-भाषा कहलाती है। इस प्रकार प्रतिभा-दर्शन ही सारे वाङ्मय का मूल कारण है।

अब रही प्रतिभा दर्शन के नाम की सहेतुकता, वह स्पष्ट ही है। जीवभूता चैतन्य शक्ति के विश्व-दर्शन की सक्रिय अनुभूति को ही शब्द की विश्वनिबन्धनी शक्ति कहा गया है और इसी शक्ति के दृष्टि-प्रसार को प्रतिभाऽपरपर्याय नेत्र माना गया है[1]। शब्दाश्रित शक्ति का यही प्रतिभात्मक नेत्र वाणी के चरम विकास 'वैखरी' तक को अव्याहत रूप से देखता है और सारे वाङ्मय को अपना क्षेत्र घोषित कर देता है।

१ शब्देष्वेवाश्रिता शक्ति र्विश्वस्यास्य निवन्धनी
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ (वा० प० १, ११६)

एको रसः करुण एव

(श्री सत्यदेव चौधरी, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

करुण रस ही मूल रस है, इस धारणा की पुष्टि के लिए उत्तररामचरित नाटक में भवभूति का यह कथन उद्धृत किया जाता है—'एक मात्र रस करुण ही है जो निमित्त भेद से विभिन्न रूप इस प्रकार धारण करता है जिस प्रकार जल मूलतः एक होते हुए भी विभिन्न आवर्तों, बुद्बुदों तथा तरंगों का रूप धारण कर लेता है।[1]' अतः केवल इसी नाटक को ही लक्ष्य में रखकर उक्त विषय पर तथा प्रसंगवश इस नाटक के अंगी रस पर अनुशीलन करना होगा।

विश्वनाथ के अनुसार करुण रस का स्थायिभाव है, शोक और इसका प्रमुख तत्त्व है इष्ट का नाश और दूसरा तत्त्व है अनिष्ट की प्राप्ति।[2] 'अनिष्ट' से तात्पर्य ले सकते हैं पराधीनता, निर्धनता, भूकम्प, अनावृष्टि, अकाल, वृष्टि आदि से जन्य दुर्दशा। इसके विपरीत विप्रलम्भ श्रृंगार वहां माना जाता है जहाँ इष्ट का नाश तो नहीं होता पर उससे विरह हो जाता है और साथ ही नायक-नायिका में मिलन की आशा बनी रहती हैं।[3]

अब प्रस्तुत नाटक को लीजिए। इनमें पुनर्मिलन-आशा-विषयक स्थिति किंचित् विचित्र है। कभी तो ऐसा प्रतीत होता हैं कि यह आशा न तो राम लगाये हुए हैं और न सीता। किन्तु साथ ही कुछ संकेत ऐसे भी मिल जाते हैं मानो राम ने अभी-अभी सीता की झलक देखी हो, और साथ ही

१. एको रसः करुण एव निमितभेदाद् भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरंगमयान् विकारानम्भो यथा सलिलमेव तु तत् समग्रम ॥ उत्तररामचरित ३.४७.

२. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्। साहित्यदर्पण ३.२२२.

३. विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः —वही. ३. २२६.

ऐसे संकेत भी कि वह सीता की वन के सिंह, पशुओं द्वारा विनष्ट हो जाने की आशंका करते हैं— यद्यपि अत्यन्त सन्देहपूर्ण मन से। कभी ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन दोनों ने मिलन की आशा नितान्त खो नहीं दी है।

इस प्रकार की द्विविध स्थिति में इस नाटक में अंगी रस का निर्णय प्रेक्षक की दृष्टि से किया जाना चाहिए। और यों भी, प्रेक्षक की सहृदयता ही रस का वास्तविक आधार मानी जाती है, शास्त्र का नियम तो सहायक मात्र ही होता है। प्रेक्षक यद्यपि अनेक स्थलों पर राम के साथ तादात्म्य करते हुए सीता के विनाश की स्वीकृति भी कर लेता है, किन्तु फिर भी इन स्थलों से अतिरिक्त पूर्व एवं परवर्ती क्षणों में वह यह नहीं भुला पाता कि वे दोनों विरह-व्यथा से पीड़ित हैं और उनमें से किसी का विनाश नहीं हुआ। उक्त स्थलों को छोड़कर प्रेक्षक उनके पुनर्मिलन की आशा अन्त तक बनाये चलता है। इस दृष्टि से नाटक का अंगी रस करुण को न मानकर विप्रलम्भ शृंगार को मानना चाहिए।[1] फिर भी, यदि नाटक की एक पात्री तमसा के मुख से भवभूति द्वारा 'एको रसः करुण एव..........' यह कथन कहलाया गया है तो इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है कि यहाँ नाटक-कार का 'करुण रस' से तात्पर्य कोई विशेष रस नहीं है, अपितु वह तमसा द्वारा कारुणिक दशा का निर्देश कर रहा है, जो कि नाटक के उस दृश्य के वातावरण के अनुकूल तमसा, मुरला, वासन्ती, सीता और राम, सब के हृदय में व्याप्त थी। अर्थात् करुण रस से तात्पर्य कारुणिक दशा, पर यह अर्थ प्रचलित अर्थ से स्पष्टतः भिन्न है। और दूसरी व्याख्या श्री शंकुक की निम्नांकित धारणा के आधार पर प्रस्तुत की जा सकती है—'करुणा कहते हैं सदयहृदयता को जो कि नट के माध्यस से सहृदय में 'करुणा' नाम से व्याप्त हो जाती है।[2] यहां करुणा अथवा सदयहृदयता से तात्पर्य है— अनुकार्य और सहृदय के बीच सह-अनुभूति, सम-वेदना, समानावस्था, तादात्म्य आदि. अथवा सहृदय का अनुकार्य के प्रति दयाभाव, द्रवीभाव आदि, जो कि शास्त्रीय दृष्टि से न केवल करुण रस के क्षेत्र में अपेक्षित है, अपितु सभी रसों में अपेक्षित है, और इसी आधार पर करुण रस को मूल रस माना जा सकता है। किन्तु इस प्रकार की व्याख्याएं किसी विषय के प्रति अनुचित पक्षपात की ही द्योतक होने के कारण तथा उसके अतिव्याप्त रूप का निर्देश करने के कारण उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करने में बाधक ही बनती हैं। करुण रस से तात्पर्य करुणा और करुणा से तात्पर्य सदय-हृदयता— निःसन्देह यह पर्याप्त पक्षपातपूर्ण खींचतान ही है।

करुण रस को अपेक्षाकृत उत्कृष्ट घोषित करने के लिए उत्तररामचरित के टीकाकार

---

१ यहाँ यह उल्लेख है कि इस नाटक के गर्भांक में चित्रित देवगणों और मानवों के एकत्रित हो जाने के आधार पर अद्भुत रस की, अथवा चाहें तो, राम-सीता के मिलन के आधार पर संयोग शृंगार की भी स्वीकृति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि प्रेक्षक पर समग्र प्रभाव डालने की दृष्टि से यह दृश्य अत्यन्त नगण्य है। इस दृश्य के देखने के उपरान्त भी सीता की विरह-दशा इस दृश्य पर अपना आधिपत्य बनाये रखती है। एक तथ्य और—और यों भी, संयोग शृंगार के स्थल रति की उत्कटता में ही स्वीकार्य होने चाहिएँ, न कि सामान्य मिलन में। राम-सीता के इस प्रकार के मिलन को संयोग शृंगार मानना किसी रूप में समुचित नहीं है, क्योंकि यहाँ रति की उत्कटता द्योतित नहीं होती।

२ सदयहृदयता हि करुणेति लोके प्रसिद्धा। सा लिंगैरनुकर्तरि शोकं प्रतियतां सामाजिकानामिति तत्र करुणव्यपदेशः इति श्री शंकुकः। (हिन्दी अभिनव भारती, पृष्ठ ५७९.)

वीरराघव के अनुसार एक तर्क और दिया जा सकता है कि 'करुण रस का अनुभव रागी और विरागी दोनों करते हैं।'[1] इसका अभिप्राय प्रकारान्तर से यह है कि शृंगार जैसे रस का अनुभव तो केवल रागी जन ही करते हैं—अतः करुण रस अपेक्षाकृत उत्कृष्ट सिद्ध हुआ। वस्तुतः इस प्रकार के तर्क रस-सिद्धान्त के प्रमुख तत्त्व साधारणीकरण पर खरे नहीं उतरते। इस आधार पर तो बीभत्स और भयानक आदि रस स्वीकृत नहीं किये जाएंगे, जिन्हें न रागी चाहेंगे और न विरागी। वस्तुतः नाटक देखने (अथवा काव्य-पठन) के समय सहृदय व्यक्ति रागी और विरागी, इस प्रकार के सभी विशेषणों से ऊपर उठ जाता है।

हमारे विचार में नाटक के सन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए भवभूति के उक्त कथन की सम्भवतः केवल यही व्याख्या हो सकती है कि उन्हें 'शोक' स्थायिभाव से, विशेषतः उस दृश्य में, व्यापक अर्थ अभीष्ट होगा। उनके अनुसार शोक इष्ट-नाश से तो सम्बद्ध है ही, साथ ही रति-विषयक विरह-जन्य अत्यन्त कष्ट भी 'शोक' कहाता है, जो कि इस नाटक के अधिकांश कलेवर में व्याप्त है, तथा जिससे प्रेक्षक अन्त तक अभिभूत रहता है। भवभूति इस विरह-वेदना को विप्रलम्भ शृंगार न कहकर सम्भवतः करुण रस ही मानते होंगे[2]।

इसका एक प्रमाण तो यह है कि वह पुट-परिपाक के समान बाहर से कठोर बने हुए किन्तु अन्दर ही अन्दर घुलते जा रहे राम की विरह-दशा को करुण कथा कहते हैं।[3] इस प्रकार करुण रस का क्षेत्र व्यापक कर लेने पर ही इस को रस विवेच्य नाटक का अंगी रस माना जा सकता है, अन्यथा नहीं। किन्तु इसके प्रचलित लक्षण के आधार पर तो नाटक का अंगी रस विप्रलम्भ शृंगार को ही मान सकते हैं, करुण रस को नहीं।

और इससे भी प्रबल दूसरा प्रमाण है कि वह सीता को एक-साथ 'करुण की मूर्ति अथवा शरीरिणी विरहव्यथा' कहते हैं।[4] स्पष्ट है कि वह 'विरह-व्यथा और करुण' दोनों से एक ही अभिप्राय लेते हैं। रतिविरह अतिशय कष्ट भी उनके शब्दों में करुण ही है।

अच्छा चलिए, वादि-तोषन्याय से करुण रस का क्षेत्र व्यापक मानते हुए उत्तररामचरित का अंगी रस करुण रस ही स्वीकार कर लेते हैं—किन्तु इससे फिर भी यह सिद्ध नहीं होता कि करुण रस मूल रस है। इस दृष्टि से वह तो यहाँ अंगी है और अन्य रस शृंगार (संयोग एवं वियोग), वीर, अद्भुत आदि अंग रस हैं। अतः करुण रस को जल के समान, तथा अन्य रसों को आवर्तों के समान उससे असम्पृक्त, अर्थात् सर्वत्र मूलतः एक रस/करुण रस नहीं मान सकते। इस प्रकार की स्थिति में तो सर्वत्र ही अंगी रस मूल रस घोषित हो जाएगा। उदाहरणार्थ—'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में शृंगार (अंगी) रस जल के समान मूल रस मान्य रहेगा और हास्य, वीर आदि (अंग) रस आवर्तों के समान उससे असम्पृक्त। हमारे विचार में भवभूति को तमसा द्वारा केवल इतना कहलाना अभीष्ट है

---

१ रागिविरागिसाधारण्यात्।

२ सम्भवतः भवभूति के समय में विरह-वेदना भी करुण रस का ही एक अंग हो, किन्तु आगे चलकर शताब्दियों पश्चात् विश्वनाथ के युग में यह धारणा बदल गयी हो।

३ पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः। (उत्तररामचरित)

४ करुणस्य मूर्तिरथ वा शरीरिणी विरहव्यथेव। (उत्तररामचरित ३.४.)

कि इस नाटक में करुण रस अंगी है और अन्य रस अंग–उसके सहायक, पोषक एवं उपकारक हैं। यह कहलाना अभीष्ट नहीं है कि करुण रस मूल रस है। 'जल आवर्त' उपमान को तो केवल रूपक मात्र, कवि को अभिव्यक्ति प्रकारमात्र–हो समझना चाहिए, और बस। इससे अधिक और कुछ नहीं।

इस प्रसंग में यह ज्ञातव्य है कि किसी रस को मूल रस तभी माना जा सकता है जबकि वह अन्य रसों का उत्पादक हो अथवा अन्य रसों के साथ अनुकूल अथवा प्रतिकूल रूप मे सम्बद्ध हो। करुण रस के विषय में इस सम्बन्ध को सिद्ध करने के लिए निम्नोक्त रूप में पर्याप्त खींचतान करनी पड़ेगी। उदाहरणार्थ–श्रृंगार रस के संयोग पक्ष के उपरान्त उसका विरह पक्ष 'करुण' को जन्म देता है। रौद्र और वीर रसों में शत्रुपक्ष को पराजय, दुर्दशा और मृत्यु से 'करुण' का उदय होता है। भयानक और बीभत्स रसों के दृश्य भी करुण से सम्बद्ध रहते हैं। कारुणिक दृश्यों से वैराग्य भाव (शान्त रस) उत्पन्न होता है। इसी प्रकार चाहें तो अद्‌भुत और हास्य को भी करुण के साथ निम्नरूप से जोड़ सकते हैं। पर्वत के उच्च शिखर पर आरोहण करते जा रहे मानव के अद्‌भुत साहस के प्रति अथवा ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं बना रहे शिल्पियों की अद्‌भुत क्षमता के प्रति करुण भाव भी जग सकता है। इसी प्रकार शत्रुपक्ष की दयनीय स्थिति पर परिस्थिति एवं वातावरण के अनुकूल हास्य का उदय भी हो सकता है। पर इतना अधिक खींचतान करने पर भी उक्त सभी स्थितियां 'करुण' को किसी भी रूप में मूल रस सिद्ध नहीं कर सकतीं। क्योंकि, शास्त्रार्थ दृष्टि से उक्त सभी स्थितियों में करुण रस को अन्य रसों के प्रति अंग माना जाएगा और 'शोक' स्थायिभाव को संचारिभाव। अस्तु।

अब अन्ततः इस विषय पर अन्य दृष्टि से विचार करें। जैसा कि पहले कह आये हैं शास्त्रीय दृष्टि से उत्तररामचरित नाटक का अंगी रस करुण रस न होकर विप्रलम्भ श्रृंगार ही है, किन्तु एक समस्या अब भी शेष है। विप्रलम्भ श्रृंगार के पांच भेदों में से किसे इस नाटक के साथ सम्बद्ध किया जाए। स्पष्ट है कि पूर्व राग, मान, प्रवास और शाप-हेतुक-विप्रलम्भ, श्रृंगार के इन चार भेदों में से किसी को भी यहाँ स्वीकार नहीं किया जा सकता। शेष रहा करुण-विप्रलम्भ श्रृंगार—इसे भी स्वीकृत नहीं कर सकते, क्योंकि इसकी भी निजी सीमा है। नायक-नायिका में से किसी एक की मृत्यु हो जाने पर भी पुनर्मिलन को आशा बनाये रखने पर मन को जो दुःखी अवस्था रहती है वहां करुण विप्रलम्भ श्रृंगार माना जाता है। जैसे कि कादम्बरी में पुण्डरीक-महाश्वेता के प्रसंग में।[1] किन्तु उत्तररामचरित में तो यह स्थिति भी नहीं है, क्योंकि दोनों जीवित हैं–यदि किसी स्थिति में राम की दृष्टि से ही सही, सीता को जीवित न भी मानें तो भी प्रेक्षक की दृष्टि से तो वे दोनों जीवित हैं ही। हमारे विचार में करुण-विप्रलम्भ श्रृंगार की परिधि को किंचित् व्यापक कर देना चाहिए—मृत्यु हो जाने पर भी मन की विक्षिप्त दशा में आशा लगाये रखना यह इसका एक रूप है, अन्य किसी भी कारण से पृथक् हो जाने की स्थिति में भी पुनर्मिलन की आशा में मन की दुःखपूर्ण अवस्था को भी करुण-विप्रलम्भ श्रृंगार मानना चाहिए। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि व्यापक रूप ही देना है तो फिर क्यों न करुण रस का यह रूप देकर उत्तररामचरित नाटक का अंगी रस करुण को ही मान लिया

१. यूनोरेकस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः॥ –साहित्यदर्पण ३. २०९.

जाए ? उत्तर स्पष्ट है—स्थायिभाव की स्पष्ट विभाजक रेखा ही इसका निर्णय कर सकती है—नायक-नायिका के पुनर्मिलन की आशा 'रति' पर ही आधारित रह सकती है, न कि 'शोक' पर। किसी रस का एकमात्र निर्णायक आधार उसका स्थायिभाव ही होता है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि—

१. 'एको रसः.......' इस श्लोक से भवभूति का अभिप्राय केवल इतना मात्र है कि उत्तर-रामचरित नाटक का अंगी रस करुण है और शेष रस इसके अंग हैं।

२. [क] किन्तु शास्त्रीय आधार पर इसका अंगी रस विप्रलम्भ शृंगार रस है न कि करुण रस।

[ख] करुण-विप्रलम्भ शृंगार की सीमा बढ़ा लेने पर यहां यही भेद स्वीकार करना चाहिए।

क्योंकि नाटक में रति स्थायिभाव का ही साम्राज्य एवं प्राधान्य है, शोक तो केवल संचारिभाव ही है, यद्यपि अन्य संचारिभावों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबल है।

३. करुण रस को मूल रस नहीं मानना चाहिए, क्योंकि इस स्वीकृति में पर्याप्त खींचतान करनी पड़ेगी।

भारतीयविविधयोगसम्प्रदायप्रसङ्गः

(डा० शिवशंकर अवस्थी, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर)

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोस्म्यहम् ।। (भागवतम्)

[१] जगति योगाविर्भावस्येतिहासः :—

सृष्टेरादौ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण[1] नारायणाख्येनं[2] एक एवाव्ययो योगः सनकादीन् प्रति प्रथमं, तदनु विवस्वन्तं प्रति उक्तोऽभूत् । समाहितासमाहितान्तःकरणतया अधिकारिभेदादसौ योगः ब्रह्मनिष्ठतैकफलः द्विशाखतां गतः । एकः ब्रह्मयोगो परः कर्मयोग इति । शुद्धान्तःकरणतया सनकादयः[3] ब्रह्मयोगपरायणाः[4] निवृत्तिमार्गिणो बभूवुः । सा च परम्परा सनकसनन्दनसनातनकपिलासुरिबोढुपंचशिखादीनां[5] नारदशुकप्रभृतीनां च । एषु अयं ब्रह्मयोगः, सांख्ययोग इति, ज्ञानयोगः अध्यात्मयोग इति चापरनामधेयैः सुप्रथां गतः । एष पन्थाः श्रमणमार्गाख्ययापि[6] प्रसिद्धः । गते च बहुतिथे काले गौतमो बुद्धः सांख्यगुरूणां सकाशादधीतविद्यः पुनरेनमेव श्रमणमार्गं नवीनरूपेण प्रवर्तयामास ।

अपरा च परम्परा वैवस्वती । विवस्वान् मनवे, मनुः इक्ष्वाकवे, इक्ष्वाकुश्च प्रजाभ्यः राजर्षिभ्यः । तथा हि—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।

१–(क) हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः (योगियाज्ञवल्क्ये) ।
(ख) इदं हि योगेश्वरयोगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् । (श्रीमद्भागवतम् ५।१९।१३)

२–(क) नारायणाख्यो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः (३ विष्णुपुराणम् प० अंशः अ० ३)
(ख) आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ।
यमाहुः पुरुषं हंसं प्रधानं परितः स्थितम् ।।
हिरण्यगर्भंकपिलं धन्यो मूर्ति सनातम् । (कूर्मपुराणम् ४।३८–३९)

३– सनकश्च सनन्दनश्च तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव वोढुः पंचशिखस्तथा ।।
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः (महाभारतम्) गौडपाद–सां० का० टीका

४–(क) बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ।। (गीतायाम् ५।२१)
(ख) सनन्दनादयो ये तु ब्रह्मभावनया युताः । (विष्णु पु० ६ अं०७ अ०)

५– पितृतर्पणपद्धतावेषा परम्परा प्रसिद्धा ।

६– वातरशनाः वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः ।। (तै० आ० २।७)
श्रमणशब्दः शतपथब्राह्मण १४।७।१।२२।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।।

अस्याः परम्परायाः छान्दोग्योपनिषदि अपि उल्लेखः सुलभः । 'तद् ह एतत् ब्रह्मा प्रजापतये, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः ।' —(छान्दोग्य ३।११।४)

अत्र शंकराचार्य :—'ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच । सोपि, मनवे ।

मनुरिक्ष्वाक्वादिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाच ।'

किञ्च—

"ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्वारेण प्रजापतये काश्यपाय उवाच । असावपि मनवे स्वपुत्राय । मनुः[1] प्रजाभ्यः ।' छान्दोग्योपनिषद् भाष्यम् (८।१५।१)

व्युत्थितान्तःकरणत्वात् तथाधिकारिणां लोकशासनं विदधानानां सृष्टिचक्रप्रवर्तनपराणां राजर्षीणां मन्वादीनामाहिताग्नीनाञ्चान्येषामियं कर्मयोगपरम्पराऽभ्यर्हिताभूत् ।

अन्ये च कात्यायनगौतमगार्ग्यवात्स्यायनप्रभृतयः,[2] जैगीषव्यासितदेवलकेशिध्वजखाण्डिक्यजनकादयोऽपरे[3] च भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतवाद्धलिकैरातपौरिकर्षभेश्वरपञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिन्यमूकादयः, इतरे च भृगुवशिष्ठकरालजनकपराशरयाज्ञवल्क्यादयश्च तमेकमेव योगमधिगम्य यथाकाले आहिताग्नयः यथावसरे चाभिजातान्तःकरणप्रवृत्तिमाकलय्य प्रव्रजिता बभूवुः ।

[२] एकस्यैवाव्यययोगस्य स्वरूपम् :—

'योगः कर्मसु कौशलम्' इति मूलसूत्रं गीतासूपनिषत्सु सूत्रितम् । कौशलेन क्रियमाणं कर्म नहि लोकं पुण्यापुण्यैर्निबध्नाति । किं तत्कौशलम् ? तदाह—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ।। ३।९ ।।

यज्ञार्थमेव कर्म करणीयम् । यज्ञो हि विष्णुः परमात्मा । विश्वरूपाय परमात्मने आत्मदानपूर्वकं क्रियमाणेन नियतकर्मणा नहि बद्धो भवति पुण्यापुण्यैर्जनः ।

कर्मणां फलं तु भवत्येव किन्तु तद्धि लोकसंग्रहायैव प्रभवति । 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा, करोति यः । लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा' इति नीत्या अवशिष्टं च तत्फलं

---

१ एषा परम्परा सांख्यकारिकायां युक्तिदीपिकायामपि यथा—
'यतश्च नारायणमनुजनकवशिष्ठद्वैपायनप्रभृतिभिराचार्यैः प्रधानपुरुषादयः पदार्थाः परिगृहीताश्चोपदिष्टाश्च प्रशस्ताश्च——कारिका ७२'

२ महाभारतम्, शान्तिपर्व ।

३ एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासन्तानकारणात् । कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः ।।
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ । वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ ।।
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत । नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः ।
(कूर्मपुराण अ० १९।१,२,५)

वस्तुतोऽकर्तुः कर्तुः पक्षे पतति । तं च यज्ञशिष्टाशनं प्रतिगृह्णन्नसौ सर्वकिल्विषैः मुच्यते ।

अयमेवार्थः "ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति", इति देवीमाहात्म्यकीलकस्तोत्रे सुनिपुणं प्रतिपादितः । एष एव उत्कीलनमन्त्रः । दानप्रतिग्रहरूपया यज्ञात्मिकया कुञ्चिकया विविधसुखदुःखरागद्वेषमानामानसामग्रीसुचीयमानवेश्मनि संसारयन्त्रभवने प्रविश्य, तदाहिण्डनतद्भ्रमणतत्तदाचरन्नपि वस्तुतो नैव कुर्वन्न कारयन्, तत्र वर्तमानः निष्क्रामन् वा समग्रं कर्मप्रविलापयन् परं पूरुषमुपैत्येव युक्तो जनः ।

माध्यन्दिनसंहितायामपि अर्थोऽयमुपस्थापितः । यथा—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

कस्यस्विद्धनमित्यासक्तेर्निरासः, मा गृधः इति कामसंकल्पवर्जनम् । विश्वात्मनि परमेश्वरे सर्वस्वार्पणपूर्वकम् उपभोग इति–'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः' इत्येतेन विवृतम् । त्रिषु लोकेषु यत्किंचिज्जडं जङ्गमं वा सर्वं परमेश्वर एवेति ज्ञात्वा शतं वर्षाणि यावत् कर्माणि कुर्यादेव । एवं परमेश्वर एवेति ज्ञात्वा शतं वर्षाणि यावत् कर्माणि कुर्यादेव । एवं विधानेन पुण्यापुण्यैर्न बद्धो भवति नरः । कर्मशब्देनेह पुण्यापुण्ययोर्ग्रहणम् तदभावो मोक्षः । तदुक्तं गीतासु—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ।।
त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ।।

समारभ्यन्त इति समारम्भाः व्यापाराः । काम्यत इति कामः फलम् । तत्सङ्कल्परहिताः ब्रह्मज्ञानाग्निदग्धकर्माणः । अनित्येभ्यः फलेभ्यः व्यावृत्तचेताः नित्येन परमात्मना तृप्तः । फलसाधनभूत आश्रयो यस्य न विद्यते । स कुर्वन्नपि न करोति फलानुषङ्गाभावात् ।

अयमभिसन्धिः–लौकिकानां वैदिकानां च कर्मणां नाहं कर्ता गुणा गुणेषु केवलं वर्तन्ते । ईश्वरायैव राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीति । अध्यात्मचेतसा ब्रह्मैवेदं सर्वमिति धिया ब्रह्मार्पणन्यायेन वा परमेश्वरे ब्रह्मणि सर्वकर्मणां सम्यगर्पणं विधाय निराशीः फलप्रार्थनारहितः निर्ममश्च भूत्वा विगतसन्तापः सन् कर्माणि कुर्यात् । सर्वासु क्रियासु कारकेषु च ब्रह्माभिगतं पश्यन् स्वयं ब्रह्मास्मीति भावितात्मा, ब्रह्मात्मकं ब्रह्मणे ब्रह्मणि च कर्म ब्रह्मकर्म तदेव समाधिर्योगस्तेन ब्रह्मैव गम्यते इत्ययं सनातनो योगः समुपदिष्टः । तदाह–

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ।।
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।
योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम् ।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥

[३] सनातनस्याव्यययोगस्य पक्षद्वयम् :—

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः ।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम् ॥ इति ॥

धर्मसंहितायां हारीतः । अस्मिन् योगे ज्ञानांशः कर्मांशश्चेति पक्षद्वयम् । ज्ञानांशः सांख्ययोगाख्यः कर्मांशश्च कर्मयोगसंज्ञया प्रसिद्धि गतः । भक्तिः श्रद्धा, आदरो वा उभयत्र संयुज्यते, विशेषतः कर्मयोगे । परमेश्वराराधनाय कर्मणः भक्तिं विनानुपपत्तेः । एतेन भक्तिसम्प्रदायः परवर्तीतिवादिनः ज्ञानलवलाम्पस्यलुलितबुद्धयः प्रत्युक्ताः ।

यद्यपि एतस्मिन् योगे भागकल्पना नोचिता तथापि "यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥ नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन, न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ इति नीत्या ये आत्मस्मृतिं लब्ध्वा संसारं सर्वथा विस्मरन्ते ते निवृत्तिमार्गिणो सांख्ययोगिनः । ये च तादृशीमेवात्मस्मृतिं समधिगम्याजुनवत्फलासङ्गरहितं लोकसंग्रहार्थं कर्म कुर्वन्ति ते कर्मयोगिनः प्रवृत्तिपथमध्यासिताः । द्वावपि पन्थानौ मोक्षमधिगमयत इति ध्येयम् । तथा हि महाभारते—

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन्वेदाः प्रतिष्ठिताः ।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषिता ॥ (शान्तिपर्व २४१।६)

अयमर्थः विष्णुपुराणे केशिध्वजखाण्डिक्यसंवादे इत्थं प्रपंचितः —

बोधाधिकारयुक्तेषु हिरण्यगर्भादिषु ब्रह्मकर्मात्मिका उभयरूपा भावना विद्यते । सनन्दनादयो केवलं ब्रह्मभावनया युक्ताः, देवाद्याः स्थावरा जंगमाश्च कर्मभावनासमन्विताः सन्ति । इत्थं त्रिविधा भावना । तथा हि—

त्रिविधा भावना भूप ! विश्वमेतन्निबोधताम् ।
ब्रह्माख्या कर्मसंज्ञा च तथा चैवोभयात्मिका ॥
कर्मभावात्मिका ह्येका ब्रह्मभावात्मिका परा ।
उभयात्मिका तथैवान्या त्रिविधा भावभावना ।
सनन्दनादयो ये तु ब्रह्मभावनया युताः ।
कर्मभावनया चान्ये देवाद्याः स्थावराश्चराः ।
हिरण्यगर्भादिषु च ब्रह्मकर्मात्मिका द्विधा ।
बोधाधिकारयुक्तेषु विद्यते भावभावना ॥ ४८–५१। (अंशः ६, अ० ७)

अत्र ब्रह्मकर्मात्मिका या भावना सैव पूर्वोक्तः सनातनो योगः हिरण्यगर्भेण लोकानां हितकाम्यया प्रवर्तितः । कर्मभावना च सामान्यकर्मपरा, नेयं हि कर्मयोगः, स्थावरेषु अन्तःसंज्ञेषु असंख्यभेदभिन्नेषु, चरेषु च स्वभावतो बुद्धिपूर्वकं कर्मयोगानुपपत्तेः । किंच—

केशिध्वजो विमुक्त्यर्थं स्वकर्मक्षपणोन्मुखः ।
बुभुजे विषयान् कर्मचक्रे चानभिसंहितम् ॥ १०५ ॥

'अनभिसंहितं कर्मचक्रे' अमुना ग्रन्थेन कर्मयोगः समुपदर्शितः । वस्तुतस्तु कर्मयोगः ब्रह्मयोगश्च पूर्वोक्तनीत्या एकस्यैव योगस्य पक्षद्वयं न तु योगद्वयमिति ध्येयम् ।

[४] साधनभूता अन्ये योगाः :—

अयं सनातनोऽव्ययोयोगो न सुलभः । यतो हि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः ।
तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् ॥
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदा-
वृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥ कठोपनिषद् ॥ २, १, १ ।

सर्वोहि जनः स्वभावतः बहिर्मुखः जगति जायते । तेषां विरल एव कश्चन योगी, अमृतत्व-कामनया अन्तर्मुखः सन् प्रत्यगात्मानं पश्यति । अतोऽस्य योगस्योपलब्धये साधनभूता अन्ये योगाः क्रमेण प्राचलन् । तेषु महामतिपतञ्जलिनाऽनुशासिते दर्शने, अष्टाङ्गयोगः, तपोयोगः, स्वाध्याययोगः ईश्वरप्रणिधानयोगश्च सूपदिष्टः । तपसा हठयोगस्य स्वाध्यायेन मन्त्रयोगस्य, ईश्वरप्रणिधानेन भक्तियोगस्य चाभ्युपगमस्तत्र जातः । यथा गीतासूपनिषत्सु तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्' इत्यनेन वियोग एव योगत्वेनोपदिष्टः । तथेहापि—

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ ।
पुम्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यथा ॥ इति ॥

भोजराजवचसा वियोग एव योग उक्तः । अतएव च योगः समाधिरिति भोजवृत्तिः, 'युज् समाधौ' इत्यस्माद्व्युत्पन्नः समाध्यर्थो न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात् संयोगार्थ इति तत्ववैशारदी च संगच्छते ।

वियोगस्येदमेवाकूतम्—स्वरूपेऽवस्थानं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरित्येत्र योगफलम् । स्वरूपा-वरकाणि यानि विकारजातानि अविद्यादीनि, तेषाञ्चाधारभूतं यच्चित्तं व्यष्टिप्रकृतिर्वा तस्याः विप्रलये आत्मकल्पावस्थाने वा शुद्धः चिन्मात्रः केवल आत्मा समुदेति । आत्मकल्पावस्थानं च चित्तसत्वस्य शुद्धा-वेव जायते । अत उक्तम्—'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्' इति । शुद्धौ सति साम्यमैक्यमित्याशयः ।

[५] अस्पर्शयोगः :—

गौडपादाचार्यैः यश्च—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः (गौ० का० ३।३९)

इति कारिकया सूचितः सोऽपि वियोगरूप एव । अस्य चास्पर्शयोगस्य स्वरूपमित्थमुपन्यस्तं तत्र—

सर्वाभिलाषविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

सम्पूर्णशब्दस्मृतिविगमे, सर्वविचारातीते 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इति नीत्वा सर्वविषय-वियोगे सति मनसोऽमनीभावे प्रशान्तकल्लोलोदधिप्रख्यः निखिलाज्ञानतमोध्वंसिप्रभाभास्वरः सुषुम्नायां समीकृते प्राणापानवाहे हाटकस्तम्भ इव निमेषोन्मेषवर्जितः निर्वातनिष्कम्पदीपशिखाकारः निखिलहेयप्रत्यनीकः, अत एव अभयः येन योगी भवति सोऽयं समाधिरस्पर्श योग इति । अयं च नासम्प्रज्ञाताख्यसमाधेरन्यः ।

[६] शब्दपूर्वयोगः

अस्मिन् लोके द्वौ शब्दात्मानौ । एकः नित्यः अन्यश्च कार्यरूपोऽनित्यः । यः शब्दः श्रूयते उच्चार्यते वा स लोकव्यवहाराय प्रवृत्तः वैखरीरूपः कार्योऽनित्यः । परावागात्मनः शब्दब्रह्मणः विम्बस्य वर्णपदवाक्यमयोऽयं कार्यरूपः प्रतिविम्बवद्भासते । नित्यस्तु परावागात्मा परपश्यन्तीरूपो वा सर्वस्य साध्यसाधनरूपस्य पदपदार्थभेदव्यवहारस्य च योनिरुपादानकारणम् । संहृतककार-खकारादिक्रमः, सर्वस्य चराचरस्यात्मरूपतयाऽन्तःसन्निविष्टः, सर्वेषां जन्मादिविकाराणां प्रभवः, कर्मणामाश्रयः । सुखदुःखयोरधिष्ठानं, सर्वत्रापि अप्रतिहतकार्यशक्तिरपि घटादिनिरुद्धप्रकाश इव भोगायतनशरीरमात्रप्रकाशकः सर्वमूर्तीनां वर्णानां, पदानां, वाक्यानां, पदार्थानां चाक्षय्यप्रकृतिः, पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः महान् शब्दवृषभः शब्दानामुच्चारयितुर्जनस्य हृदि तिष्ठति । वाग्योगविदः तेनैव सायुज्यं कामयन्ते । तदाह–

अपिप्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ।। १३०।। (वा० पदीयम् का० १)

अस्य शब्दब्रह्मापरपर्यायस्य परब्रह्मणः उपलब्धये शब्दपूर्वयोगः व्याकरणागमे प्रसिद्धः । शब्द-पूर्वयोगमेव युञ्जानो योगी–यथा लिपिचिन्हानि अक्षरस्मृतेः निमित्तानि तथैव यस्मिन् प्रकाशे नित्यस्य शब्दस्य निमित्तभूता अभिव्यञ्जकाः वैखर्यादयः तिस्रः वाचः प्रतिविम्बवत्, पश्यन्ति । तथा हि—

यत्र वाचो निमित्तानि चिन्हानीवाक्षरस्मृतेः ।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिविम्बवत् ।। २० ।। (वा० प०, १ काण्ड)

अयं योगः क्रमसंहारपदेनाप्युक्तः । तदाह–शब्दस्वरूपस्यात्मनाभेदतत्त्वज्ञः क्रमसंहारेण शब्दपूर्वं योगं लभते । साधु प्रयोगाच्चाभिव्यक्तधर्मविशेषः, अहमेव महान् शब्दात्मेति भावयन् प्रत्याहृतबाह्य-करणवृत्तिर्वैखरीशब्दैः जनः वैकरण्यं लभते इत्येकः क्रमः । तदनन्तरं अनपभ्रंशामनृतादिभिरसंकीर्णा सूक्ष्मप्राणपात्रवृत्तिमध्यमाख्यां वाचमधिगम्य वाग्विकाराणां वैखर्यादीनां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति अपर-पश्यन्तीं बुद्धिस्थामिति द्वितीयः क्रमः । तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात् सत्तासामानाधिकरणमात्रात् प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात् प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परपश्यन्तीं लोकव्यव-हारातीतां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते । अन्यच्चाह भगवान् भर्तृहरिः स्वोपज्ञे—'व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संस्क्रियमाणे शब्दतत्त्वे, अपभ्रंशोपघातापगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः । तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्ति-युक्तां सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।

[७] राजयोगः :—

'राजविद्या राजगुह्यमिति' गीतासूपनिषत्सु योगस्यास्य सूचना लभ्यते । वस्तुतोऽष्टांगयोग एवराजयोग इति तत्र तत्र निर्देशः, यमादीनि चत्वारि हठयोगस्यांगानि तथा प्रत्याहारतो समाध्यन्तानि चत्वारि राजयोगस्येति हठयोगो राजयोगस्य साधनम् । अत आह–केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते । (हठयोगप्रदीपिका) राजयोगस्य षोडशाङ्गानि भवन्ति तथा हि—

कला षोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश ।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः ।।

विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च ।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः ।।
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः ।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम् ।।
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम् ।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः ।।
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः ।
इत्थं ससाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश ।। (राजयोगसंहिता)

[८] हठयोगः :—

तपसा हठयोगस्य सूचना पातञ्जले दर्शने प्राप्नोति । किंच 'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (योग सू० पा० २ सू० ५२) इति सूत्रभाष्ये-'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य' इति पंचशिखाचार्यप्रमाणात् प्राणायामः परमं तप इति ज्ञायते। हठयोगे प्राणायाम आधारभूतस्तथा हि—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः ।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः ।।

किंच :—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ।।

सूर्येण पिंगला नाड़ी प्राणवायुश्च सूचितः, चन्द्रेण इडाऽपानवायुश्च तपोयोग एव हठयोगः। अयं हठयोगः पूर्वं मार्कण्डेयेनान्तरं मत्स्येन्द्रनाथगोरक्षादिभिः स्वीकृत आसीत् । यथा—

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकः ।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ।।

हठयोगस्य सप्तांगानि प्रसिद्धानि तथा हि—

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः ।
ध्यानसमाधी सप्ताङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ।।

स्थूलशरीरस्य शोधनार्थं दृढतायै च हठयोगे धौतिवस्तिनेत्यादीनि षट्कर्माणि, पद्मसिद्धादीन्यासनानि, खेचर्यादयो मुद्राः प्राणायामश्च विशेषत उपदिश्यते । अयं हठयोगः राजयोगस्य सोपानभूत इति प्राक्प्रतिपादितम् ।

[९] लययोगः :—

अयं योगः नादयोगशब्देनाप्युच्यते । दक्षिणे कर्णेऽनाहतं नादं श्रृणोति साधकः । अभ्यासे कृते सति क्रमशः घण्टादीनां दशविधो नादः श्रूयते ।चरमे ओङ्कारनादः तत्रैव मनसो लयः कार्यः तदानीमेव स्वरूपस्थितिः ।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।
श्रृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ।। (नादबिन्दूपनिषद्)

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्यं लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ।। (हठयोगप्रदीपिका ४।२९)
अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पश्चाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ।।
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ।। (ह० प्र० ४।८३, ५९)

कश्चन एनमेव योगमित्थमनुसन्धत्तो—

देहे मेरुदण्डस्याधस्तादेकः कन्दोऽस्ति मूलाधारनाम्ना प्रसिद्धः । द्वाविंशतिसहस्राणि नाड्यस्ततो निष्क्रम्य निखिले शरीरे व्याप्नुवन्ति । तासु तिस्रः नाड्य इडापिंगला-सुषुम्नाख्याः मुख्याः । मेरुदण्डस्य वामभागे चन्द्ररूपिण्यां इडायाः, दक्षिणभागे च सूर्यरूपिण्याः पिङ्गलायाः, मध्ये च सुषुम्नायाः पन्था अस्ति । भ्रूमध्ये सङ्गता भूत्वा एताः शिरसि ब्रह्मरन्ध्रं यावत्प्रयान्ति । मूलाधारतो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं नाड़ीग्रन्थिरूपाणि षट्चक्राणि सन्ति । मूलाधारे महाशक्तिः कुलकुण्डलिनी शेते । ध्यानेन जपेन च तां सम्बोध्य पार्यन्तिके सहस्रारचक्रे समासीने परमेश्वरे तस्याः लयः कार्यं इत्ययं लययोगः कुण्डलिनीयोगो वेति ज्ञेयः ।

लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ।
प्रबुद्ध्य तस्मिन्पुरुषे लीयते नात्र संशयः ।
शिवत्वमाप्नोति तया साहाय्यादस्य साधकः ।

[१०] मन्त्रयोगः भक्तियोगश्च

क्रियायोगसूत्रभाष्ये 'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं' इत्युक्तम् । प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जप इति भोजराजाः । प्रणवादयः पुरुषसूक्त- रुद्रमण्डलब्राह्मणदयो वैदिकाः । पौराणिकाश्च ब्रह्मपारायणादय इति वाचस्पतिमिश्रा आहुः किंच—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ।। (योगतत्वोपनिषद्)

अन्यच्च—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं युक्तिमाप्नोतिसाधकः ।।
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ।
भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम् ।।
यथासुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडशशोमनाः ।
भक्तिः शुद्धिश्चासनं चपञ्चाङ्गस्यापि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ।
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं वलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश । (मन्त्रयोगसंहिता)

भक्तियोगः पातञ्जले ईश्वरप्रणिधानपदेनोक्तः ईश्वरप्रणिधानं च,

सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्यासो वा' इति भाष्यम् । परमगुरुर्भगवानीश्वरस्तस्मिन् यत्रेदमुक्तम्

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि सन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

तत्फलसन्यासो वा । फलानभिसन्धानेन कार्यकरणम् इति वाचस्पतिमिश्राः । एतेन शरणागतियोगः प्रपत्तियोगो वा लक्षितः । शरणागतिः प्रपत्तिर्वानानुरक्तिमन्तरा सम्भाव्यते । अतएव परानुरक्तिरेवेश्वरे भक्तिरिति शाण्डिल्यः, परमप्रेम वेति नारदः । एवं भक्तियोगः भावयोगो वान्यत्र विततः ।

[११] शिवयोगः पाशुपतयोगश्चः—

वीरशैवानां सम्प्रदाये शिवयोगः प्रसिद्धः । वस्तुतः राजयोग एव शिवयोगः । यतः –

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्वतः ।
शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धैः प्रवृद्धये ॥

स च पञ्चधा । यथा

ज्ञानं शिवमयं भक्तिः शैवी ध्यानं शिवात्मकम् ।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ॥

वीरशैवानां यानि भक्तमहेशप्रसादिप्राणालिंगिशरणैक्यनातभिः प्रसिद्धानि षट्स्थलानि तानि यमनियमादिषु अष्टाङ्गेषु अन्तर्भवन्ति ।

पाशुपतयोगस्य वायुपुराणे वर्णनमुपलभ्यते । तस्यापि आसनप्राणरोधप्रतिहारधारणाध्यानादयोऽष्टावङ्गानि सन्ति । तामिलभाषायां व्याकरणविषये लिखितः प्राचीनतमः तोलकाप्पियम् नाम ग्रन्थोऽस्ति । विक्रमतः पूर्वं पञ्चमे षष्ठे वा शतकेऽयं लिखितः । अष्टानां योगाङ्गानां तत्रोल्लेखः विद्यते । सिन्धुप्रदेशे प्राप्तध्वंसावशेषणामध्येतारः प्रतिजानते यत् भारतेवर्षे विक्रमतः पूर्वं चतुःसहस्रतमेऽब्दे ततोऽपि पूर्वं वायं पाशुपतो योगः प्रचलित आसीत् ।

[१२] बौद्धयोगः

बुद्धदेवेन राजयोगापरनामधेयं ध्यानयोगमाश्रित्य ज्ञानमुपलब्धमिति नात्र विवादावसरः । 'परिणामतापसंस्कारदुःखैः गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति योगसूत्ररीत्या तेनापि योगिना दुःखरूपं जगदितिनिर्णीतम् । सामशाखाप्रवक्ता कश्चन प्राचीनतमोऽयं योगसूत्रकर्ता पतञ्जलिरितिवहवोऽभिप्रयन्ति । अतः बुद्धदेवादयं पूर्ववर्ती । मा वा अस्तु, तथापि सांख्ययोगाचार्या एवैतस्य गुरव आसन् इत्यत्र नास्ति शङ्कालेशः ।

समस्तदुष्प्रवृत्तीनां दुष्कर्मणां च मूलमात्मवादमेवाकलय्य गौतमबुद्धः तथाविधां शाश्वतीं सत्तां नाभ्युपजगाम । वंशाभावे कुतो वंशीरव इत्याभाणकमेवोन्नीतमत्र । एवं सत्यपि महायानप्रभावात् हठयोगस्य राजयोगस्य च परम्परा बौद्धसमाजेऽपि प्रच्छन्नरूपेण प्रचचाल । अत्र चित्तमात्मपदे शून्यता च परमात्मपदे प्रतिष्ठिताऽभूत् । चित्तमेव भवस्य निर्वाणस्य मूलम्–आह चानङ्गवज्रः :—

अनल्पसंकल्पतमोऽभिभूतं प्रभञ्जनोन्मत्ततड़िच्चलं च ।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं चित्तं हि संसारमुवाच वज्री ॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं प्रहीणरागादिमलप्रलेपम् ।
ग्राह्यं न च ग्राहकाग्रसत्वं तदेव निर्वाणवरं जगाद ॥

बौद्धयोगस्य ज्ञानाय गुह्यसमाजाख्यो ग्रन्थः द्रष्टव्यः। अस्मिन् ग्रन्थे उपायस्य, सेवा, उपसाधनं, साधनं, महासाधनं चेति चत्वारो भेदा निरूपिताः। सेवा च द्विविधा सामान्यसेवा, उत्तमसेवा च। बज्रचतुष्टयमिति सामान्यसेवाया अपरः पर्यायः। उत्तमसेवा च ज्ञानसुधाख्या। देवताविशेषस्य साक्षात्काराय विहिता चतुर्विधा प्रक्रियैव बज्रचतुष्टयम्। तच्च (१) शून्यताप्रत्ययः (२) शून्यताया बीजमन्त्रस्वरूपः परिणामः (३) बीजमन्त्रस्य देवताकृतिस्वीकारः (४) देवतायाश्च, सुषमायुक्तायाः तेजोमय्याः मूर्तेः परिग्रहः। षडङ्गयोगसाधनमेवोत्तमसेवा। तानि च योगांगानि प्रत्याहारध्यान-प्राणायामधारणानुस्मृतिसमाध्याख्यानि। गुह्यसमाजतन्त्रमतिरिच्य साधनमाला श्रीचक्रसंवरसद्धर्म-पुण्डरीक सुखावतीव्यूहसूत्रादयः ग्रन्थाः एतदर्थं परिशीलनीयाः। किंच बुद्धघोषरचितौ 'शमथयानम्' विशुद्धिमग्गो इत्याख्यौ ग्रन्थौ च द्रष्टव्यौ।

[१३] जैनयोगः

जैनाचार्यैर्योजनार्थकत्वाद् युज् धातोर्योगनिष्पतिः स्वीकृता। यथा–

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरूच्यते। (द्वात्रिंशिका-यशोविजय)
मुक्खेण जोयणाओ जोगो। (योगविंशका)

जैनागमेषु विशेषतः ध्यानमेव योग इत्युल्लिखितम्। ध्यानं च चतुर्विधम्–आर्तं, रौद्रं, धर्मं शुक्लं च। आद्ये योगानुपयुक्ते, चरमे योगायोपयुज्यतः। तत्र शुक्लं ध्यानं परिशुद्धमव्यवहितं मोक्षसाधनम्। एतदर्थं त्रिविधो मोक्षमार्गोऽवलम्बनीयः।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' (उमास्वाति-तत्वार्थसूत्रम्)

तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अन्यत्सुगमम् अष्टाङ्गयोगोऽपोह केनापि रूपेण स्वीकृत इति शिवम्।

द्वैताद्वैतानुसन्धानमादधानैः सुयोगिभिः।
संयोगो विप्रयोगश्च द्विधा योगो हि कीर्तितः॥



पातञ्जलयोगदर्शन और पाश्चात्त्य मनोविज्ञान

(डॉ० विश्वनाथ शुक्ल, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़)

आज आधुनिक पाश्चात्त्य शिक्षासम्पन्न अधिकतर भारतीय और अभारतीय विद्वान् समझते हैं कि मनस्तत्त्व के मर्मज्ञ आधुनिक युग में केवल सिगमण्डफ्रायड और उनके अनुयायी युंग आदि पाश्चात्य दार्शनिक ही हुए हैं, और येही लोग आधुनिक मनोविज्ञान के जनक हैं। मन के विभिन्न स्तरों यथा अनवधान मन (unconscious mind) को खोज निकालने का श्रेय भी भारतीय वैदिक वाङ्मय और भारतीय योगशास्त्र से अनभिज्ञ भारतीय और अभारतीय विद्वान् फ्रायड को ही देते हैं। किन्तु सत्य यह है कि भारतीय मनीषा ने मन की जिन जिन सूक्ष्म स्थितियों और दशाओं का अवगाहन सहस्रों वर्ष पूर्व वैदिक युग में ही कर लिया था, मन के उन सूक्ष्म स्तरों का स्वरूपनिर्धारण पोथे पर पोथे लिखने के बाद भी आज तक पाश्चात्त्य विद्वान् नहीं कर सके हैं। यजुर्वेद संहिता के ३४ वें अध्याय में मनोविश्लेषण और मनःशक्ति के कतिपय मंत्र इसके प्रमाण हैं। यही मंत्र रूद्राष्ययी के प्रथम अध्याय के अन्तिम छै मंत्रों के रूप संकलित हैं—

१–यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवन्तदुसुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमंज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

२–येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानान्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

३–यत्प्रज्ञानमुतचेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

४–येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्व्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

५–यस्मिन् ऋचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित्तं सर्वमोतम्प्रजानान्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

६–सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयते भीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थात्, जो मन जागते हुए पुरुष की नेत्रादि इद्रियों से बहुत दूर जा सकता है, जो द्युतिमान् विज्ञानात्मा का ग्राहक है, जो सुषुप्ति अवस्था में भी उसी प्रकार से आ सकता है। जो दूर से दूर जाने वाला है, भूत, वर्तमान और भविष्य पदार्थों का ग्रहण करने वाला है, जो प्रकाशक अर्थात् श्रोत्रादि इन्द्रियों की ज्योति है अर्थात् समस्त इन्द्रियों की संचालिका शक्ति हैं, वह मेरा मन कल्याण-मय संकल्प करने वाला हो ॥१॥ कर्म में प्रवृत्त मेधावी पुरुष यज्ञ में जिससे उत्तमोत्तम कर्म करते हैं, जो प्राणिमात्र के शरीर के मध्य भाग में स्थित है, यज्ञ सम्बन्धी हवि आदि पदार्थों के ज्ञान में जो

सबसे प्रथम कारण है, क्योंकि सभी बाह्य इन्द्रियों से पूर्व अन्तरिन्द्रिय मन की सृष्टि हुई है अथवा वह अपूर्व आत्मरूप है, वह मेरा मन शिवशंकल्पवाला हो ॥२॥ जो मन विशेष रूप से ज्ञान का साधन है, सामान्य और विशेष ज्ञान प्रकाशक है, जो चित्स्वरूप और धैर्य स्वरूप है, जो आत्मरूप होने से अमृत है, अविनाशो है, जो प्राणियों के अन्तर्गत है, सभी इन्द्रियों की ज्योति अर्थात् प्रकाशक है, जिस मन के बिना कुछ भी कर्म नहीं किया जा सकता, मेरा वह मन शिवसंकल्पवाला हो ॥३॥ जिस अविनाशी मन से ये समस्त भूत, वर्तमान और भविष्यत् पदार्थ ग्रहण किये जाते हैं, जिसके द्वारा सात होता वाले अग्निष्टोम यज्ञ का विस्तार किया जाता है, वह मेरा मन कल्याणकारी संकल्प वाला हो ॥४॥ जिस मन में ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद स्थित हैं, जिस प्रकार रथचक्र की नाभि में आरे स्थित हैं, उसी प्रकार मन में शब्द जाल स्थित है, प्रजाओं का सब ज्ञान जिसमें वस्त्र में तन्तु के समान ओत-प्रोत है, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो ॥५॥ जो मन मनुष्यादि जीवों को बार-बार इधर उधर ले जाता है, जैसे अच्छा सारथि लगाम से वेगवान् घोड़ों को ले जाता है, जो मन बाल्य, युवा और जरावस्था से रहित है, अतिशय वेगवान् है, हृदय में स्थित है, वह मेरा मन कल्याण संकल्पवाला हो ॥६॥ इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय ऋषियों ने सहस्रों वर्ष पूर्व ही मन के स्वरूप, लक्षणों, व्यापारों और कार्यशक्ति पर विचार कर लिया था। आगे चलकर उपनिषदों और विशेषकर योग सूत्रों में मन के स्वरूप स्तरों, स्थितियों, वृत्तियों और शक्तियों पर बहुत ही सूक्ष्मता से विचार किया गया। मन की जिन सूक्ष्मतम स्थितियों तक महर्षि पतंजलि सहस्रों वर्ष पूर्व पहुंच चुके हैं, उनकी परिकल्पना (conception) भी पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक अभी नहीं कर पाये हैं। शायद उन स्तरों का उद्घाटन और अनुभूति करने में उन्हें कई शताब्दियों का समय लग जायगा। महर्षि पतंजलि ने चित्त की पांच स्थितियाँ मानी हैं—१-क्षिप्त २-मूढ ३-विक्षिप्त ४-एकाग्र और ५-निरुद्ध। अभी पाश्चात्त्य चिन्तक मन को उक्त प्रथम तीन अवस्थाओं का ही थोड़ा सा विश्लेषण कर अपनी कृतकृत्यता समझ रहे हैं जबकि महर्षि पतंजलि ने उनसे आगे की दो और विकसित अवस्थाओं का सूक्ष्म विश्लेषण और अनुभूति का स्वरूप विवेचन कर दिखाया है। पातंजल योगसूत्रों में हमें पाश्चात्य मनोविश्लेषण को अपेक्षा मनस्तत्त्व का कहीं अधिक पूर्ण, गम्भीर और वैज्ञानिक विवेचन मिलता है, जिसके सामने फ्रायड का मनोविश्लेषण एकदम अपूर्ण और उथला सा लगता है। सौभाग्य से आधुनिक युग में एक पाश्चात्त्य विदुषी जी० कॉस्टर ने ही पातंजल योगदर्शन और पाश्चात्त्य मनोविज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा भारतीय योगशास्त्र को श्रेष्ठता और सार्वभौम उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। यह कैसी विडम्बना है कि पाश्चात्त्य शिक्षा दीक्षा से चौंधियाए भारतीयों की आँखें अपनी अमर पुरातन ज्ञानराशि के लिए भी तभी खुलती हैं, जब कोई पाश्चात्त्य चिन्तक उस पर अपनी मुहर लगाकर यहां वापस भेजता है। सब में भारतीय योगशास्त्र के लिए बढ़ी आदर भावना के सम्बन्ध में भो यही हुआ है। एक पाश्चात्त्य मनस्तत्त्वान्वेषिणी विदुषी जी० कॉस्टर ने ही सर्वप्रथम महर्षि पतंजलि की अद्भुत मौलिक प्रतिभा को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया और मनोविश्लेषण इवं मनश्चिकित्सा के क्षेत्र में उनके द्वारा प्रणीत योग सूत्रों से प्रत्याशित अनेक विकास सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने निभ्रन्ति स्वर में कहा—"मुझे पूर्ण विश्वास होगया है कि जिन विचारों पर योगशास्त्र खड़ा हुआ है, वे मनुष्य जाति के लिए सार्वभौम सत्य हैं, और योगसूत्रों में इस प्रकार की सामग्रो है, जिसका परीक्षण करके हम अपने अनन्त लाभ के लिए उसका उपयोग कर सकते हैं,

अपने तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर जी० कॉस्टर ने घोषित किया है कि "पौरस्त्य (भारतीय) और पाश्चात्त्य मनोविज्ञान में जो एक आधारभूत अन्तर है वह यह है कि पौरस्त्य मनःशास्त्र स्वाभाविक रूप से और पूर्वापर क्रम से वस्तुपरक (objectively)दृष्टि से,मन की चेतना के विभिन्न स्तरों को स्वीकार करता है, पहचानता है, जबकि पाश्चात्त्य मनोविज्ञान ने अभी तक उनमें तारतमिक अन्तर करना भी प्रारम्भ नहीं किया।"इस विदुषी के कार्य से प्रेरणा लेकर अनेक भारतीय-अभारतीय विद्वानों ने योग और सूक्ष्म मनोविज्ञान (Depth-psychology) का तुलनात्मक अध्ययन किया और अधिकांश लोग जी० कॉस्टर के से निष्कर्षों पर ही पहुंचे। जिस अनकांशस (unconscious) का पाश्चात्त्य जगत् में बड़ा शोर है, और वस्तुतः दार्शनिक वस्तुतत्व को न जानने वाले मनोवैज्ञानिक जिसे 'अचेतन' कह देते हैं, उस अनकांशस का सही नाम 'अपरिदृष्ट चित्त' होना चाहिए। योगसूत्र के 'व्यासभाष्य' में यही पारिभाषिक नाम दिया गया है। टीकाकार ने स्पष्टतया चित्त की दोहरी विशेषताओं, गुणों या तत्त्वों का उल्लेख किया है—कुछ वे हैं जो पूर्णतया देखी जा सकती है और कुछ वे हैं जो पूर्णतया नहीं देखी जा सकतीं। इस दूसरी प्रकार की तत्त्वराशि में निषेध (inhibition) आदि सात तत्त्व हैं जो अपरिदृष्ट चित्त (unconscious) का कार्य क्षेत्र निर्धारित करते हैं। भारतीय योग चिन्तन की इसी सूक्ष्मता के आगे सभी सत्यान्वेषी निष्पक्ष पाश्चात्त्य मनीषी नतमस्तक हो रहे हैं। वे उसके अन्तराल में जितना ही पैठते जाते हैं, उतने ही गहन स्तरों का ज्ञान उन्हें होता जा रहा है।

प्राचीन भारत में शिक्षा और शिक्षातन्त्र

(डा० प्रतापनारायण उपाध्याय, फीरोजाबाद)

"कलिः शयानो भवति, संजिहानस्तु द्वापरः,
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति, कृतं संपद्यते चरंश्चरैवेति चरैवेति।
चरन्वै मधु विन्दति, चरन्त्स्वादु मुदं वरम्,
सूर्यस्य पश्य श्रेयाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति चरैवेति॥"

निद्रा में पड़े रहना कलियुग में वास है और जाग जाना द्वापर है; खड़े हो जाना त्रेता में निवास है तथा आगे बढ़ना सत्ययुग में वास है। अतः आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। गति मधुर है, गति ही स्वादिष्ट फल है। सूर्य का श्रम देखो कि वह कभी विश्राम नहीं करता। अतः आगे बढ़ो, आगे बढ़ो। —ऐतरेय ब्राह्मण-७।१५।४०५

इस प्रकार के स्फीत स्वर में घोषणा करती हुई, सतत गतिशीलता और विकास को ही जीवन का नित्य लक्षण स्वीकार करने वाली भारतीय संस्कृति, अनन्त विश्व की विराट मानवयात्रा में एक ऐसी अजस्र प्रवाहिणी स्रोतस्विनी है, जो सृष्टि के प्रारम्भ से अद्यावधि विकास पथ पर अग्रसर है। इसकी बाह्य ऊपरी सतह पर विशाल तरंगे, भयावह भ्रम और आवर्त्त हैं, उथल पुथल हैं, परन्तु इसका आभ्यन्तर निर्विकार एवं निर्विघ्न रूप से प्रवहनशील है। कभी इसकी गति में स्थायी अवरोध

उत्पन्न नहीं हुआ। समय समय पर अनेक छोटे बड़े नदी नाले इसके यात्रापथ में विरोधी, अवरोधी भाव लेकर आये, इसके बाह्य कलेवर में आघात किये, उखाड़ पछाड़ को, भयंकर आंधी तूफान की तरह आलोडन विलोडन भी किया; परन्तु अन्ततः इसी की शान्तिमयी धारा में विलीन हो गये और परिणामस्वरूप इसी की कलेवरवृद्धि की। इतिहास के ज्ञात अज्ञात युग से आने वाली आभीर, पल्लव, शक, कुषाण, हूण, यवन आदि कितनी ही धारायें इसी की अन्तःसलिला सरस्वती बन कर इसे पावन बनाती हुई अनन्त की ओर जा रही हैं। वस्तुतः आज विश्व के सांस्कृतिक इतिहास का अध्येता इस तथ्य को हर्षमिश्रित विस्मय के साथ देखता है कि भारतीय संस्कृति के समानान्तर विश्व के अन्य भूखण्डों में आविर्भूत होने वाली रोम, यूनान, चीन, असीरिया आदि की प्राचीन संस्कृति और सभ्यतायें अपने ध्वंसावशेष और खण्डहरों में भटकती हुई, नौ-नौ आंसू रो रही हैं जबकि भारत को प्राचीन संस्कृति आज भी सद्योविकसित पाटल पुष्प की तरह अपनी गन्ध, वर्ण और पराग से विश्व के आहत प्राणों में नवजीवन का संचार कर रही हैं। यद्यपि यह पाटलपुष्प आज कालचक्र के प्रभाव से मलिन, धूमिल एवं म्लान-सा दृष्टिगोचर हो रहा है, यह अपनी बाह्य आभा और कान्ति खो चुका सा प्रतीत हो रहा है, तथापि इसकी आत्मा, इसकी मूल चेतना अभी भी सशक्त और बलवती है, इसमें रञ्चमात्र भी कमी नहीं आई है, सम्भवतः आयेगी भी नहीं। यह भी कोई आकस्मिक संयोग या अप्रत्याशित क्रियामात्र नहीं है; अपितु इसके प्राणों में समायी हुई असीम, अव्यक्त शक्ति की निसर्ग सिद्ध परिणति है। जिन पार्थिव तत्त्वों से इस संस्कृति का निर्माण हुआ है, वे इतने सशक्त, प्राणवाही एवं विकासशील मानवसभ्यता के लिये चेतनास्रोत हैं कि इससे भिन्न परिणति की कल्पना ही नहीं हो सकती। वे तत्त्व हैं:—

१—मानवता के विकास एवं कल्याण में चरम आस्था।

२—देश, काल, वर्ग आदि के भेद और आग्रहों से ऊपर उठकर मानव मात्र ही नहीं, प्राणी मात्र के प्रति एक कोमल आत्मभाव।

३—आध्यात्मिकता की नींव पर आधृत सत्य एवं त्यागमयी एक विशिष्ट जीवन-दृष्टि।

४—भौतिक, पार्थिव समृद्धि के लिए अनासक्तिपूर्वक परमार्थ सत्ता के प्रति हार्दिक आग्रह।

५—इन सब उद्देश्यों और लक्ष्यों की पूर्ति में विकसित होने वाली एक विशिष्ट सामाजिक व्यवस्था और संघटना, जिसमें वर्ण और आश्रमों की व्यवस्था द्वारा व्यक्ति तथा समाज के लोक संग्राहक पावन कर्त्तव्यों पर विशेष आग्रह है।

६—व्यक्ति सत्ता की परिकर में, परिवार की समाज में, समाज की देश में, देश की विश्व में समर्पणशीलता और इस प्रकार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण की विश्वबन्धुत्व की उसी भावना में सफल परिणति।

७—सबसे बड़ी बात है जीवन में कर्म और कल्पना का अधिकतम समन्वय।

सम्पूर्ण भारतीय चेतना इन्हीं तत्त्वों को जीवन मूल्य बनाकर सृष्टि के विकास पथ पर अनादि काल से अग्रसर रही है। यह जीवन दृष्टि किसी एक निश्चित सीमित समय में उत्पन्न नहीं हुई; अपितु मानव सभ्यता के विकास की यात्रा में एक दीर्घकाल की सहज साधना एवं सतत् निष्ठा-पूर्ण चिन्तना का ही परिणाम है। यह भारतीय चेतना की सहजात सम्पत्ति नहीं हैं अपितु अनवरत अभ्यास द्वारा अर्जित विभूति है। प्रत्येक भारतवासी शैशव के शिक्षण काल में ही प्रयपूर्वक इनका

अर्जन करता था। प्रत्येक सामाजिक विधि-विधान, धार्मिक कर्मकाण्ड इन्हीं की ओर इंगित करता सा प्रतीत होता है। इनका मूल प्राचीन शिक्षा, शिक्षापद्धति, शिक्षण काल का कठोरतम कर्मठ जीवन उस जीवन के विशेष नियम, व्रत, अनुष्ठान आदि में निहित है। वस्तुतः भारत की प्राचीन शिक्षा-पद्धति और शिक्षा के विषय मानव के ऐसे साँचे में ढाल देते थे कि व्यक्ति में इन तत्त्वों का समावेश स्वतः हो ही जाता था। इनके अनुष्ठान को ही जीवन की सार्थकता मानता था। शास्त्र निर्दिष्ट पुरुषार्थ चतुष्टय– धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को ही चरम लक्ष्य मान कर शिक्षापद्धति का संघटन हुआ था। शिक्षा के सम्पूर्ण अंग इसी साध्य की साधना में प्रयत्नशील एवं संघर्षरत दिखाई देते हैं।

शिक्षा के तोन प्रधान अंग हैं। १—शिक्षक, २—शिक्ष्य अर्थात् छात्र, ३—शिक्षणीय विषय। तीन गौण अंग हैं–१—शिक्षा का काल, २—शिक्षा का स्थान, ३—शिक्षा की पद्धति। इन छहौ अंगों के सुनियोजन में ही सम्पूर्ण शिक्षा तन्त्र की सार्थकता एवं सफलता सन्निहित है। यह अत्यधिक हर्ष का विषय है कि प्राचीन काल के समाज-सञ्चालकों ने भारतीय आर्य-जीवन के चरम प्राप्तव्य पुरुषार्थ चतुष्टय को उद्देश्य मानकर सम्पूर्ण तन्त्र का संघटन ऐसे कौशल और सुनियोजना से किया था कि उसे देखकर आज भी महान् आश्चर्य होता है। शिक्षातन्त्र का आधुनिक युग की भांति कहीं भी लिखित विधान या नियमावली नहीं था। कागज, कौपी, स्याही, फाउन्टैन पैन, पुस्तकें तथा अन्यान्य उपयोगी साधनों का अभाव था, फिर भी शिक्षा का ढांचा परिपूर्ण था। समाज की आवश्यकताओं और अपेक्षाओं की पूर्णतया पूर्त्ति करने वाला था। शिक्षा के छहौ अंगों की परस्पर पूरकता पर अत्यधिक बल दिया गया था। आधुनिकतम शिक्षा पद्धति में जिस बात पर सर्वाधिक जोर दिया जाता है, वह है शिक्षक और शिक्ष्य में पास्परिक व्यक्तिगत सामीप्य सम्बन्ध। यह आज के युग में तो कल्पना-मात्र है, कोरी खानापूरी है, परन्तु उस युग में नित्य जीवन की सहज सुलभ क्रिया थी। आधुनिक शिक्षाविद् कक्षा में छात्र संख्या २० से अधिक होने के विपरीत मत देते हैं, फिर भी इसका पालन अत्यधिक व्ययसाध्य 'पब्लिक स्कूलों' के अतिरिक्त कहीं नहीं देखा जाता। परन्तु प्राचोन काल में २० भी नहीं रहते थे। २० तक संख्या पहुंचते हो अन्य शिक्षक को सौंप दिया जाता था। परीक्षा पद्धति भी जितनो निःसार, खोखली एवं निन्दनीय आज हो चुकी है, उतनी की उस युग में किसी ने कल्पना भी न की थी। इस प्रकार की परीक्षापद्धति थी ही नहीं। 'क्या थो', इस पर आगे प्रकाश डाला जायगा। हम शिक्षा के छहौ अंगों पर एक-एक कर प्रकाश डालते हैं। सर्वप्रथम शिक्षा के विषयों की प्राचीन साहित्य में खोज करेंगे। उससे स्पष्ट ज्ञात होगा कि, विभिन्न कालों में शिक्षा के रूप और विषयों में समाज की सामयिक आवश्यकताओं और अपेक्षाओं के अनुरूप परिवर्त्तन, परिवर्द्धन और संशोधन किये गये हैं।

१—महाभारत की एक सूची में अध्ययन के निम्न विषय दिये गये हैं:—"अष्टाङ्ग आयुर्वेद ओषधि-विज्ञान तथा उसकी आठ शाखायें। चारों वेद, सर्वशास्त्र, इतिहास। (इतिहास शब्द से क्या तात्पर्य था, ज्ञात नहीं होता। क्योंकि लिखित इतिहास उस समय आज की तरह कुछ था हो नहीं।) उपवेद, वेदाङ्ग, सात प्रकार की वाणी, स्तुति शास्त्र, विभिन्न प्रकार का गाथा साहित्य, भाष्य (भाष्याणि तर्क युक्तानि) नाटक, काव्य, आख्यायिका। (२।२।२५)

२—वैदिकोत्तर युग से प्रचलित ज्ञान की परम्परागत शाखायें निम्न थीं—

१–आन्वीक्षिकी–इसमें सांख्य, योग, लोकायत जैसे धर्म और दर्शन समाहित थे।

२–त्रयी–अर्थात् ऋक्, यजुः, साम तीनों वेद और उनके अंग।
३–त्रिवार्त्ता–अर्थात् कृषि, पशु पालन, व्यापार, वाणिज्य से सम्बन्धित जीवनकलायें।
४–दण्डनीति–शासन सञ्चालन से सम्बन्धित राजनीति और उसकी शाखायें।

३—ललित विस्तर–इस ग्रन्थ के अनुसार ६४ कलायें तो सीखनी ही चाहिए। इनके अतिरिक्त भी शिक्षा के निम्न अंग गिनाये गये हैं:—

१–गणना (समवाय में गणितम्) अर्थात् अंकगणित। २–संख्या– अङ्क विज्ञान। ३–वेद और उसके अंग। ४–इतिहास। ५–पुराण। ६–निघण्टु अर्थात् कोष रचना शास्त्र। ७–निरुक्त–शब्द व्युत्पत्ति तथा अर्थ विज्ञान। ८–निगम–व्यक्त धर्म ग्रन्थ। ९–शिक्षा–स्वर शास्त्र। १०–छन्द–छन्द शास्त्र। ११–ज्योतिष। १२–व्याकरण। १३–यज्ञकल्प–यज्ञ विधान के निर्देशक सूत्र। १४–सांख्य। १५–योग। १६–वैशेषिक। १७–वैशिक–काम शास्त्र। १८–बार्हस्पत्य–वृहस्पति का दर्शन,चार्वाक अथवा लोकायत दर्शन। १९–हेतु विद्या–तर्क शास्त्र समन्वित न्याय दर्शन। २०–अर्थ विद्या–अर्थशास्त्र अथवा आजीव ज्ञानम्। २१–काव्य। २२–ग्रन्थ रचितम, लेखन कला। २३–आख्यानम्–कथा कहने की कला। २४–हास्य विनोद कला। २५–आयुर्विज्ञान- चिकित्सा शास्त्र।

४—मिलिन्द पञ्ह–द्वितीय शती ई० पूर्व में रचित इस ग्रन्थ के अनुसार अध्ययन के विषय निम्न थे—चारौं वेद, वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण, कोष रचना शास्त्र, छन्द शास्त्र, स्वर विज्ञान, व्याकरण, शब्द व्युत्पत्ति ज्योतिष, खगोल, शकुनों, स्वप्नों, लक्षणों की व्याख्या। धूमकेतुओं की खोज, विद्युत्, विभिन्न ग्रहों की खोज उनके योग, उल्कापात, भूकम्प, दावानल, आकाश पृथ्वी के लक्षणों की व्याख्या। ग्रहण, अंकगणित, धर्म प्रचार विद्या का अध्ययन, कुत्तों, हरिणों, चूहों, द्रव्यों के मिश्रण, पक्षियों के स्वरों, पुकारों द्वारा शकुनों का अर्थ लगाना आदि जीवनोपयोगी नाना विषय समाविष्ट थे। इनके अतिरिक्त चिकित्सा शास्त्र का भी अध्ययन आवश्यक था। उनमें निम्न बातें सिखाई जाती थीं— रोग विज्ञान और ओषधि विज्ञान अर्थात् रोग और उसके मूल कारण को समझ कर तदनुरूप जड़ी बूटी के उचित उपयोग से रोगनाश का सिद्धान्त। शल्य चिकित्सा में वमन कराने, पेट का मल बाहर निकालने और गुदा द्वारा औषध को आमाशय में चढ़ाने की कला। चीरने, छेदने, छेद करने की शिक्षा। भीतर की वस्तुओं को बाहर निकालने, घाव साफ करने, सुखाने की कला। तीखे और पीड़ा उत्पन्न करने वाले मलहमों का प्रयोग करने, दागने, चीरा लगाने, औजारों को ठीक-ठीक साधने का प्रशिक्षण। ललित विस्तर तथा मिलिन्द पञ्ह अपेक्षाकृत आधुनिक काल की रचना है। अतः मानव सभ्यता के विकास के अनुसार इतना विषय बाहुल्य और पठनीय विषयों का जमघट है।

५—जैन धार्मिक ग्रन्थों—नन्दी और अनुओगदार (अनुयोग द्वार) में ज्ञान की निम्न शाखायें बताई गई हैं। इस ग्रन्थ में सूची का प्रारम्भ 'भारतम्' (महाभारत) तथा रामायणम् (बाल्मीकि रामायण) से हुआ है। तब 'कौडिल्लयम्' कौटिलीय अर्थशास्त्र, 'घोडयमुहम्' वात्स्यायन के पूर्ववर्ती घोटकमुख कृत कामसूत्र, 'वैसेसियम्'–वैशेषिक दर्शन, 'बुद्धसासनम्'--बौद्ध आगम, 'काविलम्'--कपिल का दर्शन, 'लोगायतम्'–लोकायत भौतिकवाद का दर्शन, पुराणम्, 'वागरनम्' व्याकरण, 'भागवयम्'--भागवत् सम्प्रदाय से सम्बन्धित ग्रन्थ, 'पातञ्जली'--पतञ्जलि का योग दर्शन, 'गणितम्' 'नाटियाई'--नाटक के नाम आये हैं। यहां पर यह विशेष दृष्टव्य है कि इस सूची में वेद और

-दाङ्गों का नाम बिल्कुल नहीं आया। कारण स्पष्ट है कि जैन लोग वेद-विरोधी तथा नास्तिक होते हैं।

वैदिक युग में अध्ययन-अध्यापन की सामग्री का ऐसा स्पष्ट उल्लेख किसी भी स्थान पर नहीं आया है, यदि आया भी होगा, तो कम से कम मुझे तो प्राप्त नहीं हुआ। अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि आश्रमों और गुरुकुलों में छात्रों और अन्तेवासियों को उस समय क्या पढ़ाया जाता था? विधिवत् शिक्षा किन-किन विषयों की दी जाती थी? बौधायन गृह्यसूत्र में शिक्षित व्यक्तियों के परम्परागत स्तर का उल्लेख है। उससे कुछ मोटा सा अनुमान लगाया जा सकता हैं। इतना अवश्य निर्णीत रूप में कहा जा सकता है कि अन्य विषय जो भी पढ़ाये जाते हों, वेद और वेदाङ्ग अवश्य पढ़ाये जाते थे। बौधायन गृह्यसूत्र में ज्ञान के परम्परागत स्तर का निम्नरूप में उल्लेख हैः—

१—बौधायन गृह्यसूत्र (१।७।२-८) इसमें शिक्षित व्यक्तियों का निम्नप्रकार से वर्गीकरण हैः-

१--ब्राह्मण—वह व्यक्ति, जिसने उपनयन और ब्रह्मचर्य के पश्चात् वेदों का किञ्चित् अध्ययन किया है।
२-श्रोत्रिय—वह व्यक्ति, जिसने वैदिक शाखाओं का अध्ययन किया है।
३-अनूचान—वह व्यक्ति, जिसने अंगों का भी अध्ययन किया है।
४-ऋषिकल्प—जिसने कल्पों का अध्ययन किया है।
५-भ्रूण—जिसने सूत्र और प्रवचन का अध्ययन किया है।
६-ऋषि—जिसने साङ्ग चारों वेदों का विस्तृत अध्ययन किया है।
७-देव—जो उपर्युक्त से भी आगे बढ़ गया है।

इस वर्गीकरण से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि सूत्रकाल तक आते-आते भी चिकित्सा, अर्थशास्त्र, दण्डनीति, कृषि आदि आजीव ज्ञानों का आविर्भाव नहीं हो पाया था। अध्ययन की सामग्री और विषय, वेद उनके अंग शाखायें, कल्प और सूत्र तक ही सीमित थे। इसके पश्चात वैदिकोत्तर काल में व्यावहारिक जीवनोपयोगी कृषि, पशुपालन, वाणिज्य तथा शासन-सञ्चालन से सम्बन्धित विषयों का समावेश हो चुका था। कालान्तर में ज्यों-ज्यों जीवन में जटिलता बढ़ती गई, अस्तित्व के लिए संघर्ष तीव्र होता गया, भौतिक विषयों की आवश्यकता अनुभूत होती गई, त्यों ही त्यों विभिन्न विषयों का समावेश शिक्षणीय सामग्रियों में बढ़ता गया। ललित विस्तर, मिलिन्द पञ्ह, जैन ग्रन्थों का रचनाकाल ऐतिहासिक युग की सीमा के भीतर ही है। इनमें अंकित सूची से स्पष्ट है कि वैदिक तथा वैदिकोत्तर युगों में आध्यात्मिकता की प्रधानता कम होकर भौतिकता के प्रति आग्रह बढ़ता ही गया है। इन ग्रन्थों के रचनाकाल में जीवन में आध्यात्मिकता का स्थान प्रायः ४० प्रतिशत तथा भौतिकता का स्थान ६० प्रतिशत हो गया था। उत्तरोत्तर यह प्रतिशत अनुपात बढ़ता ही गया। आज २० वीं शती के प्रगतिशील युग में आध्यात्मिक विषयों का समावेश नाममात्र को भी नहीं है। दूसरी ओर भौतिकवादी जीवनोपयोगी विषयों का महत्त्व नित्यप्रति बढ़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप जीवन में अशान्ति, समाज में अराजकता, विश्रृंखलता, विश्व भर में हाहाकार मचा हुआ है। इस सतत् वर्धमान महामारी से त्राण का कोई भी उपाय इस आधुनिक शिक्षा पर नहीं है। भाग्य की उग्र

विडम्बना यह भी है कि समाज-सञ्चालकों में से केवल कुछ का ही ध्यान इस ओर है वह भी ध्यानमात्र है, क्रियाशीलता, कार्यतत्परता कुछ नहीं।

शिक्षक—तपोवनवासी प्राचीन ऋषि, आचार्य नितान्त अपरिगृही, त्यागी, छात्र को पुत्रवत् मानकर स्नेह की शीतल छाया में रखकर पालन और अध्यापन करने वाला होता था। उसकी जीवन-चर्या एवं वेषभूषा अत्यधिक सामान्य एवं सात्त्विक होती थी। जीवन में कृत्रिमता एवं बाह्य सज्जा का लेश भी न था। उसका प्रत्येक श्वास छात्र के कल्याण में समर्पित था। घास-फ़ूस की पर्णशाला में निवास करते हुए, छात्र द्वारा भिक्षा में लाये हुए अथवा आश्रम की भूमि में उत्पन्न रूखे-सूखे अन्न पर जीवनयात्रा चलाते हुए देश की बौद्धिक चेतना का निर्माण किया करता था।

आधुनिक युगीन प्रोफेसर, रीडर, लैक्चरार आदि को भांति प्राचीन शिक्षक का श्रेणी विभाजन किसो भी प्रागैतिहासिक कालिक ग्रन्थ वेद संहिता, आरण्यक, उपनिषद, सूत्र ग्रन्थ, रामायण, महाभारत अथवा ऐतिहासिक युगीय कौटिलीय अर्थशास्त्र, ललितविस्तर, मिलिन्द पञ्ह, जैन ग्रन्थ अनुओगदार अथवा काव्य नाटक पुराण इत्यादि में कहीं भी नहीं मिलता। वैदिक युग में, जबकि नियमित महाविद्यालय, विश्वविद्यालय नहीं थे और प्रत्येक आचार्य, गुरु, शिक्षक व्यक्तिगत रूप से अपना आश्रम स्थापित कर या घर पर ही शिक्षा दिया करता था, वहाँ पर तो श्रेणी विभाजन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। आगे चलकर जब ऐतिहासिक काल में तक्षशिला, विक्रमशिला, नालन्दा, बलभो आदि महाविद्यालयों की स्थापना हुई, तब उनमें भी आज का-सा वर्गीकरण प्राप्त नहीं हुआ। वैसे सम्भवतः विषय और कार्य की दृष्टि से छोटे, बड़े, प्रधान, अप्रधान, शिक्षक रहे अवश्य होंगे, परन्तु उसका स्पष्ट उल्लेख प्राप्त कहीं नहीं होता। हां कुलपति शब्द और उसकी परिभाषा अवश्य प्राप्त होती है। सम्पूर्ण आश्रम की भोजन, आच्छादन, अध्ययन, अध्यापन आदि की व्यवस्था करने वाला सर्वोच्च अधिकारी कुलपति कहा जाता था। उसकी परिभाषा इस प्रकार की गई है:—

"मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानादिपोषणात्।
अध्यापयति विप्रर्षिः, असौ कुलपतिः स्मृतः॥"

अर्थात् दश हजार छात्रों को अन्न वस्त्रादि की व्यवस्था करते हुए जो विप्रर्षि पढ़ाता था, वह कुलपति कहा जाता था। इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इन आश्रमों और गुरुकुलों में पढ़ने वालों की संख्या १०००० के आसपास पहुंच जाती थी। इन शिक्षकों को आज की तरह राज्य या समाज से कोई नियमित मासिक वेतन प्राप्त न होता था। समाज के धनी मानी व्यक्तियों और राजाओं के दान तथा छात्रों द्वारा कृषि भिक्षादि द्वारा उत्पादित अन्न से उनकी जीवन यात्रा चलती थी। छात्र और उनके द्वारा को गई सेवा ही उनकी व्यक्तिगत सम्पत्ति होती थी। कृषि-दान और भिक्षा में प्राप्त इसी सम्पत्ति से आश्रम का तथा छात्रों का भो सम्पूर्ण व्यय चलता था। इनमें गुरु शिष्य सम्बन्धों की स्थापना अत्यधिक श्रद्धा और स्नेह की नींव पर होती थी। व्यक्तिगत सम्पर्क इसका मूल आधार था। छात्र की रुग्णावस्था में यही गुरु और शिक्षक परिचर्या स्वयं भी करते थे तथा अन्य छात्रों से भी कराते थे। आज के युग

में शिक्षा शास्त्री जिस व्यक्तिगत सम्पर्क के लिए गला फाड़-फाड़ कर चीत्कार कर रहे हैं और उसके अभाव में नाना संकटों की आशंका प्रकट कर रहे हैं—वह वस्तुतः यथार्थ भी है---वही व्यक्तिगत सम्पर्क शिक्षा की मूल आधार भित्ति था।

शिक्ष्य अथवा छात्र—प्राचीन काल में सर्वाधिक ध्यान छात्र और उसकी जीवनचर्या पर दिया जाता था। शिक्षा का काल, शिक्षा के विषय, दैनिक जीवन के कार्य, प्रातः से सन्ध्या और रात्रि का कार्यक्रम अत्यधिक सुचिन्तित एवं सुनियोजित होता था। इस सुचिन्तन और सुनियोजन में सर्वप्रधान एक ही लक्ष्य था, वह था छात्र का पूर्ण अनुशासित, मर्यादित, मानवता की सेवा में समर्पित स्वावलम्बी कर्मठ जीवन। अभाव अभियोग संकुल, संघर्षमय जीवन स्थिति में रहते हुए भी, अविचलित भाव से सब कुछ सहते हुए भी, उद्देश्य सिद्धि में तत्पर रहने की अदम्य भावना का पोषण, सुन्दर मधुमय जीवन की अनुभूति। इसी स्थिति और वातावरण में रहते हुए बौद्धिक, आत्मिक, शारीरिक शक्तियों का विकास। उत्तरदायित्त्व की भावना जगाते हुए कर्त्तव्यनिष्ठा उत्पन्न करके सामाजिक नागरिक अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान। लोक-कल्याण के स्वार्थत्याग और आत्मविसर्जन का अभ्यास। अपने परम्परागत ज्ञान-विज्ञान का संरक्षण करते हुए अपने साहित्य और संस्कृति के प्रति अनन्य अनुराग। शिक्षा के सम्पूर्ण तन्त्र का गठन इन्हीं मूलभूत उद्देश्यों के दृष्टिपथ में रखकर किया गया था। इसी कारण शिक्षारम्भ मनुजी ने ७वीं ८वीं वर्ष से विहित किया है:—

"गर्भाष्टमेऽब्दे प्रकुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्।
गर्भादेकादशे राज्ञो, गर्भात् तु द्वादशे विशः॥"

साथ ही दूसरी ही सांस में वे यह भी कह देते हैं— "ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे, वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥" अर्थात् साधारणतः ब्राह्मण का ७—८, क्षत्रिय का ११ वैश्य का १२ वें वर्ष में उपनयन संस्कार होना चाहिए। परन्तु तुरन्त कह देते हैं कि ब्रह्मवर्चसी बनाने के लिए ब्राह्मण का ५ वीं वर्ष, क्षत्रिय का ६ वीं, वैश्य का ८ वीं वर्ष में ही होना चाहिये। यह उपनयन या यज्ञोपवीत संस्कार ही वस्तुतः कुमार को कुछ व्रतों अनुष्ठानों की दीक्षा देकर विद्यारम्भ कराना है। विद्यारम्भ का यही सर्वोत्तम काल है। आधुनिकतम प्रवल बुद्धिवादी भी ५वीं वर्ष में, मौन्टेसरी, नर्सरी, कान्वेण्ट स्कूलों में बच्चों को प्रवेश दिलाते हैं। यह यज्ञोपवीत के साथ विद्यारम्भ विशेष प्रकार के व्रतों, नियमों, अनुष्ठानों के पात्रनार्थ किया जाता था। शिशु को इसी समय गुरु के आश्रम में भेज दिया जाता था। वह कोमल सुकुमार मति शिशु, विश्व के नानाप्रकार से दूषित वातावरण से दूर आश्रम के शान्त, निर्मल, पवित्र वातावरण में रहता था। शिशु के पालन, रक्षण, शिक्षक का सम्पूर्ण दायित्व आचार्य का होता था। आचार्य वात्सल्यपूर्वक नानाविकारों से दूर रखते हुए अपने दायित्व का निर्वहन करता था। इस काल में भी सामाजिक दायित्वों के बोध एवं कठोर कर्मठजीवन के अभ्यास के लिये गुरु की यज्ञ समिधा का आहरण, गायों का चराना, भिक्षान्न सञ्चयन आदि कार्यों को छात्र नैत्यिक कर्त्तव्यों की भांति किया करता था। आयुवृद्धि के साथ ही नियमों में कठोरता बढ़ती जाती थी। इस काल के लिए छात्रों के निमित्त नियम निर्देश मनु तथा याज्ञवल्क्यजी इस प्रकार करते हैं:—

"स्नानमब्दैवतैर्मन्त्रैर्मार्जनं प्राणसंयमः। सूर्यस्य चाप्युपस्थानं गायत्र्याः प्रत्यहं जपः॥
गायत्रीं शिरसा सार्धं जपेद् व्याहृतिपूर्विकाम्। प्रतिप्रणवसंयुक्ता त्रिरयं प्राणसंयमः॥
सन्ध्या प्राक् प्रातरेवेह तिष्ठेदासूर्यदर्शनात्। अग्निकार्यं ततः कुर्यात् सन्ध्ययोरुभयोरपि॥
ततोऽभिवादयेद्वृद्धानसावहमिति ब्रुवन्। गुरुं चैवाप्युपासीत् स्वाध्यायार्थं समाहितः॥
आहूतश्चाप्यधीयीत लब्धं चास्मै निवेदयेत्। हितं चास्य चरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः॥

(याज्ञवल्क्य स्मृति— अ० १। २२-२७)

याज्ञवल्क्यजी ने इसमें प्रातःस्नान, सन्ध्यावन्दन, सूर्योपस्थान, गायत्रीजप, यज्ञकार्य (सन्ध्या गायत्री यज्ञ दोनों सन्ध्याओं में) तत्पश्चात् गुरु सेवा, एकाग्रतापूर्वक विध्याभ्यास, लब्ध-वस्तु का गुरु के समक्ष निवेदन, अन्त में मन, वाणी, शरीर से गुरु के अनुकूल आचरण का निर्देश किया हैं। यह तो नित्यकृत्य है, इनका सम्पादन तो भोजन शौचादि की तरह करना हो होता था। इनके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट विधिनिषेध पूर्णनियम थे। छात्र को सावधानी पूर्वक उनका भी पालन करना पड़ता था। इस सम्बन्ध में याज्ञवल्क्यजी लिखते हैं :—

'मधु मांसाञ्जनोच्छिष्टशुक्तस्त्रीप्राणिहिंसनम्। भास्करालोकनाश्लीलपरिवादादि वर्जयेत" अर्थात्मधु, मांस, अञ्जन (काजल, सुर्मा आदि प्रसाधन सामग्री) किसी की जूठन, सिरका, प्राणिहिंसा, उदय और अस्त होते हुए सूर्य का दर्शन, अश्लील व्यवहार आचरण संताप तथा मिथ्या परिवाद से छात्र को सर्वदा दूर रहना चाहिये। इसी प्रसंग में यज्ञोपवीत संस्कार के मध्य में आने वाला गुरु-शिष्य संवाद भी उल्लेखनीय है। आज भी यज्ञोपवीत संस्कार में चाहे झूठ मूठ ही सही— ये प्रतिज्ञायें दुहराई जाती हैं। आज बीसवीं सदी में तो इन प्रतिज्ञाओं के पालन का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता; कल्पना भी नहीं की जा सकती। परन्तु संस्कार में प्रथापालनमात्र के लिये दुहराई अवश्य जाती हैं। मन्त्र-दीक्षा से पूर्व गुरुजी कुमार से कहते हैं, 'ब्रह्मचारी रहोगे ?, आपोशानपूर्वक भोजन करोगे ?, मेरी आज्ञानुसार कार्य करोगे ?, दिन में नहीं सोवोगे ?, वाणी का पूर्ण संयम करलोगे अर्थात् मिथ्याभाषण, परनिन्दा आदि से बचोगे ?, नित्य समिधायें लाओगे ?, इसके उत्तर में प्रति-वाक्य पर शिशु स्वीकृतिसूचक प्रतिज्ञा करता है कि सब कुछ करूंगा। इसी स्थल पर यज्ञोपवीत संस्कार विधियों में कुछ अन्य नियमों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। "क्षारलवणमधुमांसादि-निवृत्तिः। उद्धृतजलस्नानं दण्डकृष्णजिनधारणं, विषमभूमिलंघनं, नग्नस्त्रीपरिदर्शनं, स्त्री-संभोगव्यावृत्तिः।" इन सम्पूर्ण विधिनिषेधपूर्ण नियमों का उद्देश्य था—ब्रह्मचर्य पालन, चित्त की एकाग्रता, निष्ठा, गुरुसेवापूर्वक विद्याभ्यास। इस उद्देश्य में बाधा व्याघात उपस्थित करने वाले तत्त्वों से बचना तथा इस उद्देश्य के साधक तत्त्वों को ग्रहण करना।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि भारत की प्राचीन शिक्षापद्धति का मूल प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। इस संस्कार द्वारा शिशु गुरु के समीप जाकर विद्याभ्यास के लिये उसका शिष्य बनता था। जो बिना संस्कार कराये ही पढ़ना चाहता था वह व्रात्य और त्याज्य माना जाता था। इस सम्बन्ध में भी मनु और याज्ञवल्क्य ने समय की सीमा बांध दी है। उस सीमा में यदि उपनयनपूर्वक विद्यारम्भ न हो तो वह कुमार व्रात्य है। "आषोडशाद ब्राह्मणस्य गायत्री नातिवर्तते। आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेः विशः॥ अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथा कालमसंस्कृताः।

सावित्री पतिताः व्रात्याः भवन्त्यार्यविगर्हिताः ।।” अर्थात् १६ वर्ष तक ब्राह्मण का, २२ वर्ष तक क्षत्रिय का, २४ तक वैश्य का उपनयन अवश्य हो जाना चाहिये । इस समय तक यदि असंस्कृत रहते हैं, तो ये तीनों हो गायत्री से भ्रष्ट रहने के कारण व्रात्या तथा आर्य जन निन्दित हो जाते हैं । यह संस्कार सामान्यतः ७-८ वर्ष की आयु तक हो जाता था । उसो समय से बालक को ब्रह्मचारी बनाकर गुरुकुल या आश्रम में भेज दिया जाता था । वहाँ गुरु के समीप पूर्ण अनुशासन, आज्ञापालन तथा निष्ठापूर्वक सेवा में तत्पर रहता हुआ विद्या ग्रहण करता था । उसका जीवन आमोद-प्रमोद विलासिता से दूर संयम, सदाचार और परिश्रम का जीवन होता है । उसका आत्म-संयम और इन्द्रियनिग्रह का व्रत बड़ा कठोर होता था । भोजन सदा ही सात्त्विक तथा मांस-मदिरा, तीक्ष्ण मसाले, रस गन्धादि से रहित होता था । वेषभूषा भी साधारण वन्य जीवनोपयोगी होती थी । वैदिक युग में प्रारम्भ में बालक को प्रतिदिन ही ग्रामों, नगरों आदि से भिक्षा मांग कर लानी पड़ती थी । यह अनिवार्य कृत्य था । इसमें अन्नप्राप्ति के साथ हो एक अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्य यह रहता था कि बालक के हृदय में समाज के प्रति निष्ठा, सेवा एवं समर्पण का भाव जाग्रत हो । वह इस बात का भरपूर अनुभव करे कि मैं समाज के अनुग्रह से ही विद्या प्राप्त कर रहा हूँ । अतः इस अन्नदान के प्रतिदान के रूप में समाज की सेवा करना मेरा पावन कर्त्तव्य है । परन्तु कालान्तर में यह पृथा लुप्त हो गई । ऐतिहासिक युग के तक्षशिला, नालन्दा, बलभी आदि ब्राह्मण बौद्ध विश्वविद्यालयों में दाताओं द्वारा प्रदत्त अन्न के विशाल भण्डारों से छात्रों और आचार्यों की भोजन व्यवस्था चला करती थो । इस भोजन व्यवस्था में दूसरा उद्देश्य यह था कि समाज के सद्गृहस्थों के हृदय में त्याग, दान, परोपकार, पदार्थचिन्तन की उदात्त भावना जागरूक रहे । व्यास के वचन ‘परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम् ।’ का भाव दृढ़ से दृढ़तर होता चला जाय । इसी भावना के पोषण के लिए वैदिकयुगीन ऋषि ने सद्गृहस्थ के लिये तीन ऋणों ऋषि ऋण, देव ऋण, पितृ ऋण की व्यवस्था स्थापित की थी । प्रत्येक गृहस्थ सतर्कतापूर्वक इस दायित्व का वहन और पालन करे, इसके लिये विवाह संस्कार के अवसर पर सप्तपदी के रूप में प्रतिज्ञायें करा ली जाती थीं ।

इस काल के साहित्य में दो प्रकार के छात्रों का उल्लेख प्राप्त होता है । एक तो वे जो शैशव से ही गुरु के चरणों में निवास करते थे और उनका घर से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता था । यह वर्ग अन्तेवासी कहलाता था । इस वर्ग का छात्र गुरू के साथ पूर्णतया घुल मिल जाता था । शिक्षा समाप्त करने पर जब वे घर लौटते थे तब उनका समावर्त्तन संस्कार होता था । गुरू को वैयक्तिक देखरेख और संरक्षण में विद्याभ्यास उत्तम और मनोनुकूल होता था । दूसरे प्रकार के साधारण छात्र होते थे, जो गुरुकुल अथवा आश्रम में आसपास के गांवों से आते थे और सन्ध्या को घर लौट जाते थे । ये छात्र अधिकांशतः प्रौढ़ और युवावस्था के होते थे, जो ज्ञानपिपासा की तृप्तिमात्र के लिये आते थे । इनमें कुछ विवाहित भी होते थे । हारीत धर्मसूत्र में छात्राओं के भी दो भेद किये गये हैं । १—सद्योवधू जो विद्याध्ययन समाप्त कर उचित समय विवाह करके गृहस्थ में प्रवेश करती थी । २—ब्रह्मवादिनी जो आजोवन ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई गुरुकुल में रहकर विद्या का विशिष्ट अनुशीलत करती थीं । इस उल्लेख से स्त्री-शिक्षा के महत्व व्यापक प्रचार, प्रसार पर भी सुष्ठु प्रकाश पड़ता है ।

शिक्षा केन्द्र— गुरुकुल, आश्रम, विद्यालय, विश्वविद्यालय– प्राचीनतम वैदिक युग से ही इस बात का सदा ध्यान रखा कि ये विद्याकेन्द्र ग्राम, नगर, जनपद आदि आबादी वाले क्षेत्रों से दूर शान्त, कोलाहलविहीन, प्रकृतिसौन्दर्य से सुशोभित तपोवनों में तथा नदियों और सरोवरों के तट पर हों। संस्कृत साहित्य के काव्य, नाटक, गद्य काव्य आदि अनेक स्थानों पर इन आश्रमों के उल्लेख मिलते हैं। कालिदास, भवभूति, वाण, भास आदि कवियों ने अपने ग्रन्थों में बड़े सुन्दर वर्णन किये हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व ऋषि के आश्रम का उल्लेख है। यह बहुत ही बड़ा आश्रम था। इसमें दस हजार के लगभग छात्र पढ़ते थे। क्योंकि कालिदास ने कण्व के लिए कुलपति शब्द का प्रयोग किया है और कई स्थानों पर किया है। कुलपति वही कहलाता था जो १० हजार छात्रों को भोजनादि की व्यवस्थापूर्वक पढ़ाता था। यह आश्रम दुष्यन्त की राजधानी हस्तिनापुर से काफी दूर हिमालय की उपत्यका में था। यह मालिनी नदी के तट पर था। वहाँ पहुँचने में दुष्यन्त को कई दिन लगे थे। अतः काफी दूर ही रहा होगा। रघुवंश में वशिष्ठजी के आश्रम का उल्लेख प्रसिद्ध हैं ही। वहाँ पहुँचने के लिये दिलोप को प्रायः दिन भर की यात्रा करनी पड़ी थी। विक्रमोर्वशी नाटक में वर्णित च्यवन ऋषि का आश्रम राजधानो से अधिक दूर न था, क्योंकि आश्रम से राजधानी आने में तापसी तथा राजकुमार को अधिक देर न लगी थी। भवभूति ने अपने उत्तर रामचरित में वाल्मीकि के आश्रम का उल्लेख किया है। वहाँ पर आत्रेयी और लवकुश का सहशिक्षण वर्णित है। भास के स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिमा नाटकों में भी हर्ष के प्रियदर्शिका तथा नागानन्द में, जयदेव के प्रसन्नराघव, मुरारि के अनर्घराघव आदि नाटकों में विद्या केन्द्रों और आश्रमों के वर्णन आये हैं। वाण की कादम्बरी में वर्णित जावालि महर्षि का आश्रम प्रसिद्ध है हो, यद्यपि कथा काल्पनिक हैं। हर्षचरित तथा दशकुमार चरित भी आश्रम वर्णनों से अछूते नहीं हैं। इनमें भी विशुद्ध कल्पना का पुट ही अधिक है। काव्य नाटक युग से पूर्व महाभारत रामायण में भी आश्रमों के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते हैं। महाभारत में भरद्वाज आश्रम— जहाँ द्रोण और द्रुपद ने साथ साथ शिक्षा पाई थी, का वर्णन आया है। इससे भी अधिक उल्लेखनीय आयोदा धौम्य ऋषि का आश्रम है। वह आदि पर्व में वर्णित है। इनके आरुणि, उद्दालक, उपमन्यु, उत्तंक आदि ब्रह्मचारी शिष्यों की अद्भुत कथायें वर्णित हुई हैं। इन्होंने गुरु की आज्ञा से अपने प्राणों का मोह छोड़कर आश्चर्यजनक कार्य किये। ये कथायें कई अध्यायों में विस्तारपूर्वक कही गई हैं। कौरव पाण्डवों की शिक्षा के लिये द्रोणाचार्य का आश्रम भी उल्लेखनोय है। परशुरामजी के आश्रम में भीष्म और कर्ण ने शस्त्र शिक्षा प्राप्त की थी। महाभारत से भी पूर्व रामायण में वर्णित विश्वामित्र के आश्रम का उल्लेख व्यर्थ ही है, जगत्प्रसिद्ध हैं। यहाँ भी भरद्वाज, सुतीक्ष्ण, च्यवन आदि के तथा अन्त में वाल्मीकि ऋषि के विशाल और भव्य आश्रम का वर्णन है। इस काल से और पीछे सूत्र उपनिषद् काल में भी तपोवनों एवं आश्रमों में गुरुओं द्वारा शिष्यों को शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है। केनोपनिषद् का प्रारम्भ ही गुरु शिष्य संवाद के रूप में है। शिष्य पूछता है :—

"ॐ केनेदं पतितं प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैतियुक्तः।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति,चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥" इस मंत्र में चार प्रश्न हैं कि जड़ अन्तःकरण, प्राण, वाणी, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रियों को अपने अपने कार्यों को करने की योग्यता प्रदान करने वाला और अपने कार्य में प्रवृत्त करने वाला सर्वशक्तिमान् चेतन कौन है? इसके

उत्तर रूप में गुरु के प्रवचन से उपनिषद् का वर्ण्य विषय आगे बढ़ता है। कठोपनिषद् में नचिकेता और यम का संवाद गुरु शिष्य के संवाद का उदाहरण है। इस पर भी प्रकाश पड़ता है कि ज्ञानार्थी शिष्य अपनी ज्ञानपिपासा के शमन के लिये दूर-दूर तक गुरु के अन्वेषण में जाया करते थे। प्रश्नोपनिषद् में पिप्पलाद ऋषि के पास भरद्वाज, सुकेशा, शिविपुत्र, सत्यकाम, गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्यापणि, कौशलगोत्रीय आश्वलायन, विदर्भवासी भार्गव, कात्यायन पुत्र कबन्धी इन सबके गुरु के पास आने और गुरु से प्रश्न करने का उल्लेख है। उपनिषद् का प्रारम्भ ही यहीं से है। इन शिष्यों के आने पर पिप्पलाद ऋषि ने उस आश्रम में एक वर्ष रहने और तपश्चर्या से शुद्ध होने के पश्चात् प्रश्न पूछने के लिये कहा। मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में शौनक ऋषि अंगिरा के पास ब्रह्म-जिज्ञासा लेकर गये। यदि पिता स्वयं ही अध्यापन में समर्थ एवं योग्य शिक्षक हो तो वही पुत्र को पढ़ाता था। इसका प्रमाए तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगुवल्ली में प्राप्त होता है। इसमें भृगु ऋषि ने अपने पिता वरुण से ब्रह्म विद्या सीखी है। इस तैत्तिरीय उपनिषद् की शिक्षावल्ली तो वैदिकयुगीन शिक्षा व्यवस्था पर सूक्ष्म संक्षिप्त प्रकाश डालती है। शिक्षावल्ली का प्रारम्भ ही 'शिक्षां व्याख्यास्यामः,' इस वाक्य से होती है। आगे इसमें स्वर व्यंजनादि वर्णमात्रा की चर्चा है। तृतीय अनुवाक में पांच प्रकार की सन्धि, लोक परलोक ज्यौतिष के अंगोपाङ्ग आदि की चर्चा है। चतुर्थ में छन्दशात्र के नामोल्लेख के साथ लौकिक कृषि, पशुपालन आदि की चर्चा है। इसी में हवन यज्ञादि कर्मकाण्ड का भी उल्लेख है। इस वल्ली के एकादश अनुवाक में शिक्षा प्राप्ति के अन्त में शिष्य को गुरु के सन्देशरूप में दिये जाने वाले उपदेश का वर्णन है। "वेदमनूच्याचार्योऽन्ते-वासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सीः।" इत्यादि। आगरा विश्वविद्यालय के दीक्षान्त समारोह में इस उपदेश को छात्रों द्वारा दुहराया जाता है। यह सन्देश वस्तुतः वैदिक संस्कृति के शिक्षाक्षेत्र का सार है; प्राणभूत है। इससे सुन्दर गुरु के उपदेश की कल्पना नहीं की जा सकती। इसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के साथ ऐहिक, पारलौकिक, आत्मिक, शारीरिक आदि सभी शक्तियों, सिद्धियों की प्राप्ति के लिये सतर्क सावधान किया गया है। इसी उपदेश में जीवन के किसी क्षेत्र में संशय शंका उपस्थित होने पर क्रियात्मक रूप में सफल, विवेकशील, धर्मात्मा, सदाचारी व्यक्ति के महत् आचरण को प्रमाण मानने का परामर्श दिया गया है। आचार्य स्वयं भी अपने शुभ एवं महत् आचरण के अनुकरण का ही परामर्श देते हैं, अशुभ का नहीं। 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' यह है वैदिकयुगीन गुरु का स्वर्ण सन्देश।

इस प्रसंग में यह भी, आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य प्रतीत होता है कि उपर्युक्त काव्य नाटकों के भीतर उल्लिखित तपोवन और आश्रमों के अतिरिक्त इतिहास ग्रन्थों में वर्णित विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों की भी चर्चा की जाय। डा० राधाकमल मुखर्जी ने अपने ग्रन्थ 'भारत की संस्कृति और कला' में भारत का एक मानचित्र देकर सम्पूर्ण भारत में फैले हुए लगभग ३० विद्याकेन्द्रों के नाम लिखे हैं। इनमें आधे के लगभग बौद्ध केन्द्र हैं, शेष ब्राह्मण केन्द्र। वे निम्न हैं :—

ब्राह्मण विद्यापीठ— पश्चिमोत्तर में उद्भाण्डपुर, मध्यप्रदेश में काम्पिल्य, मथुरा, कान्यकुब्ज, काशी, प्रयाग। बंगाल में नवद्वीप के समीप रक्तमृत्तिका। सौराष्ट्र में द्वारिका, सोमतार्थ। महाराष्ट्र

में नासिक, कल्याण, हरिहर। आज जिसे आन्ध्र कहते हैं, उसमें प्रणय क्षेत्र, धरणी कोह। उड़ीसा में शूरण्डपल्ली। वर्तमान तामिलनाडु में सोपडिनम्। ये १६ केन्द्र ब्राह्मण धर्मानुयायियों द्वारा संचालित थे।

बौद्ध विद्या केन्द्र— पश्चिमोत्तर में तक्षशिला, जालन्धर। मध्यप्रदेश (उत्तर प्रदेश) में कपिलवस्तु, काशी, श्रावस्ती। बंगाल में पुण्ड्रवर्धन, विक्रमपुरी, विक्रमशिला। बिहार में नालन्दा, गया, मुद्गलपुरी। राजस्थान सिन्ध में पीतशिला, पाटल, कोटीश्वर। सौराष्ट्र में वलभी। महाराष्ट्र में पद्मावती, अजन्ता या निर्विन्ध्य। उड़ीसा में ताम्रलिप्ति, श्रीक्षेत्र। लंका में अनुराधापुर। दक्षिणी प्रदेश में बौद्ध केन्द्रों का प्रायः अभाव ही है। डा० मुखर्जी की इन सूचियों का आधार कोरी कल्पना नहीं है अपितु तात्कालिक विदेशी यात्रियों– मेगेस्थनीज, फाहियान, इत्सिङ्ग, स्वेनत्साङ्ग, मार्कोपोलो आदि के यात्राविवरणों तथा अन्य ऐतिहासिक स्वदेशी ग्रन्थों के आधार पर यह सूची बनाई है। संस्कृत के काव्य नाटकादि में वर्णित आश्रम और गुरुकुल तो प्रायः कल्पना के आधार पर अथवा जनश्रुतियों के आधार पर हैं। कुछ का पार्थिव अस्तित्व तो इस भौतिक भूमि पर रहा ही न होगा। कादम्बरी की सम्पूर्ण कथा और उसके पात्र सर्वथा काल्पनिक हैं। उसमें ऐतिहासिक तथ्य या तत्त्व कुछ भी नहीं है। उसमें वर्णित जावालि का आश्रम भी सर्वथा कल्पित ही होगा। परन्तु डा० मुखर्जी द्वारा वर्णित सभी विद्याकेन्द्र ठोस प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित भौतिक सत्य हैं। पृथ्वी पर ये सभी यथार्थतः स्थित थे। इस सूची के बौद्ध और ब्राह्मण वर्गीकरण से ऐसा लगता है कि इनमें मानो विद्यायें भी बौद्ध या ब्राह्मण छाप वाली पढ़ाई जाती होंगी; ऐसी बात नहीं है। ये विद्या-केन्द्र सचमुच ही विद्या-केन्द्र थे। कुछ के संचालक ब्राह्मण धर्मानुयायी थे, कुछ के बौद्ध मतावलम्बी। इन संचालकों के कारण हो ये केन्द्र ब्राह्मण और बौद्ध केन्द्र कहलाये। दोनों में ही धर्म, दर्शन, व्याकरण, वेद, पुराण, उपनिषद्, राजनीति, कल्प, नाटक, चिकित्सा शास्त्र, पशु पालन, कृषि आदि को समान रूप से पढ़ाया जाता था। इतना अवश्य है कि बौद्ध केन्द्रों में बौद्ध धर्म और दर्शन को प्रधानता दी जाती थी और ब्राह्मण केन्द्रों में ब्राह्मण धर्म और दर्शन को। यह तो परम स्वाभाविक स्थिति है। साधारणतः छात्र के अनुकूल— प्रतिकूल पक्षपात का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। अब इन इतिहास ग्रन्थों में वर्णित विद्या केन्द्रों में से कुछ का सामान्य परिचय भी उचित रहेगा। उसे भी देख लिया जाय। ऐतिहासिक युग में तक्षशिला और नालन्दा ये दो विद्याकेन्द्र विश्वविश्रुत थे। इनमें दूसरे अन्य अनेक देशों से सैकड़ों हजारों की संख्या में छात्र आया करते थे। आज २०वीं शती में जिस प्रकार अमरीका इङ्गलैण्ड के कोलम्बिया, हार्वर्ड, औक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज आदि विश्वविद्यालय विद्या के प्रामाणिक पूज्य तीर्थस्थल हैं। विश्व के कोने कोने से विद्या का अर्थी छात्र-समुदाय अपार धनराशि व्यय कर और असीम कष्ट उठाकर इन विश्वविद्यालयों में जाते हैं और विद्याभ्यास करके अनन्त धन और यश का अर्जन करते हैं। उसी प्रकार प्राचीन काल में इन दोनों भारतीय विद्या केन्द्रों को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त था। इनका विस्तृत प्रामाणिक वर्णन उपर्युक्त विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरणों में मिलता है। इनके काल्पनिक और असत्य होने की कल्पना इस कारण नहीं की जा सकती कि इनके लेखक विदेशी थे। उन्हें भारत से पक्षपात या राग द्वेष नहीं हो सकता था। उन्होंने जैसा भी, जो कुछ भी देखा, वही अपने ग्रन्थों में शब्दबद्ध कर लिया। उन्हीं वर्णनों, विवरणों के आधार पर निम्न परिचय प्रस्तुत है :—

तक्षशिला—हमारे देश का सर्व प्राचीन सर्व प्रसिद्ध निम्न केन्द्र तक्षशिला था। यह पश्चिमी

पञ्जाब के (वर्त्तमान पाकिस्तान) रावलपिण्डी नगर से लगभग १८ मील दूर पर स्थित था। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् राम के अनुज भरत के कनिष्ठ पुत्र तक्ष ने यह तक्षशिला नगर बसाया था और वही उसका प्रथम शासक था। पुरातन युग से ही यह भारतीय संस्कृति और विद्या का केन्द्र रहा। ई० सन् के ५०० वर्ष पूर्व से लेकर ई० सन् की ६वीं शती तक लगभग ११०० वर्षों तक इसकी ज्ञान-ज्योति निरन्तर प्रकाशित रही और विश्व के अज्ञानान्धकार को दूर करती रही। भारत की पश्चिमी सोमा पर स्थित रहने के कारण विदेशी दस्युओं आक्रमणकारियों के प्रबल थपेड़ों एवं प्रचण्ड आघातों को भी सहना इसकी नियति थी। अन्त में इसी में इस प्रोज्ज्वल विद्याकेन्द्र का अवसान भी हुआ। यद्यपि रामायण महाभारत काल में यह इतना प्रख्यात शिक्षा केन्द्र न था, तथापि ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में यह स्थान इतना प्रसिद्ध था कि देश-विदेश के हजारों छात्र ज्ञानपिपासा की शान्ति के निमित्त यहां आया करते थे। राजगृह, काशी, मिथिला आदि दूरस्थ नगरों से भी यहां अनेक छात्र आते थे। संस्कृत व्याकरण के जनक दिग्गज वैयाकरण महर्षि पाणिनि और राजनीति की साक्षात् प्रतिमूर्त्ति आचार्य चाणक्य, भृत्य कुमारजीव सदृश विश्वविख्यात प्राचीन शल्य चिकित्सक यहीं की विभूति थे।

तक्षशिला में आधुनिक युग के समान सुघटित विश्वविद्यालय, महाविद्यालय या सुव्यवस्थित विद्यापीठ अथवा वेतनभोगी आचार्य न थे, और न कोई निदिष्ट पाठ्यक्रम (आज के समान) या शिक्षा की अवधि ही थी। न कोई परीक्षा, उपाधियां या लिखित प्रमाणपत्र ही थे। यह तो शिक्षा का प्रधान केन्द्र था, जहां विद्याओं और कलाओं के धुरन्धर पण्डित रहते थे। इन्हीं के घर पर रहते हुए छात्र-गण विद्याभ्यास करते थे। किसी किसी ग्रन्थ में यहां के आचार्य के पास पढ़ने वाले १०० छात्रों का उल्लेख है, तो जातक ग्रन्थों में ५०० का। यहां पर उच्च शिक्षा प्राप्त करने की आयु प्रायः १६ वर्ष थी। सामान्यतः ८ से १० वर्ष शिक्षा काल था। निर्धन छात्र दिन में काम करते थे और रात्रि को पढ़ते थे। कभी कभी छात्र शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् शुल्क प्रदान की प्रतिज्ञा करते थे। शुल्क-दाता छात्र भी गुरु के घर पर पुत्र के समान रहते थे। गुरु का छात्र की ओर व्यक्तिगत स्नेह और ध्यान रहता था। यहां रहते हुए छात्र की सात्त्विक प्रकृति प्रवृत्ति, सामान्य वेषभूषा, उदार उच्च आचरण, शिष्ट एवं विनयशील व्यवहार पर बल दिया जाता था। यहां धार्मिक, लौकिक, साहित्यिक व्यावसायिक, चिकित्सा सम्बन्धी आदि सभी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। इनमें ३ वेद तथा १८ शिल्प विद्यायें प्रधान थीं। व्याकरण, धनुर्वेद, हस्तिविद्या, मन्त्रविद्या, शल्य चिकित्सा, आयुर्वेद आदि की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। प्रत्येक आचार्य अपना पाठ्यक्रम और शिक्षणकाल निश्चित, निर्दिष्ट करने के लिए स्वतन्त्र था। शिक्षा समाप्ति के पश्चात् छात्रगण शिल्प कलाओं, व्यवसायों के क्रियात्मक अनुशीलन एवं अध्ययन करने तथा विभिन्न प्रदेशों के रीति-नीति भाषा-व्यवहार आदि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए पर्यटन करना भी अत्यावश्यक मानते थे। महर्षि पाणिनि ने अपनी अष्टध्यायी को रचना से पूर्व सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर भाषा और उसके रूपों, शब्दों आदि का गहन गम्भीर ज्ञान प्राप्त किया था। उसी के आधार पर उन्होंने ऐसा वैज्ञानिकता से पूर्ण संस्कृत भाषा को नियमबद्ध करने वाला व्याकरण ग्रन्थ ऐसी आश्चर्यजनक सूत्र शैली में रचा कि आज का विश्व उनको उज्ज्वल प्रतिभा और अलौकिक बुद्धि पर विस्मय विमुग्ध है।

नालन्दा—सम्पूर्ण विश्व में सुख्याति एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्ता प्राप्त करने वाला द्वितीय प्राचीन

भारतीय विद्याकेन्द्र नालन्दा था। यह तक्षशिला से अधिक समृद्ध, व्यवस्थित एवं विशाल था। इसका स्वरूप बहुत कुछ आज के विश्वविद्यालयों से मिलता-जुलता था। यह वर्त्तमान पटना के दक्षिण पश्चिम में ४० मील दूर स्थित बड़गांव में अवस्थित था। स्वेनत्साङ्ग के अनुसार उसका संस्थापक कुमार गुप्त (४१४ ई०—४५५ ई०) तथा बुद्धगुप्त ४७५—५०० ई० तक) थे। कुमारगुप्त का नाम स्वेनत्साङ्ग ने शक्रादित्य लिखा है। उसने इसके भवनों को विशालता एवं समृद्धि का बड़ा ही उदात्त वर्णन किया है। वह लिखता है, "भारत में आज हजारों मठ हैं; परन्तु इस मठ के समान सौन्दर्य, सम्पत्ति और ऊँचे विशाल भवन कहीं नहीं है। भीतर और बाहर मिलाकर लगभग १०००० धर्मार्थी हैं। सभी महायान सम्प्रदाय के अनुयायी हैं। अठारहों सम्प्रदायों के अनुयायी एकत्र हैं। वेद जैसे लोकप्रिय ग्रन्थों से लेकर चिकित्सा विद्या, तन्त्र विद्या तथा गणित के ग्रन्थों का पठन-पाठन होता है। मठ के भीतर १०० मञ्च प्रतिदिन ज्ञानार्थियों से भरे रहते है। एक क्षण भी नष्ट न कर छात्रगण अपने गुरुओं के प्रवचन ध्यान से सुनते हैं। इन सब सदाचारी व्यक्तियों का जीवन कठोर अनुशासन में बँधा रहता है। यही कारण है कि ७०० वर्षों के लम्बे जीवनकाल में एक भी व्यक्ति ने अनुशासन भंग नहीं किया। सम्राट मठ के महत्त्व को समझते हैं और इसका सम्मान करते हैं। मठ के भिक्षुकों के जीवन-यापन के लिए सौ नगरों की आय मठ से लगी है। प्रतिदिन दो सौ परिवार कई सौ मन चावल, प्रभूत मात्रा में माखन और दूध वहाँ भेजते हैं। अतः छात्र और आचार्य किसी से कुछ मांगते नहीं हैं।" इस से स्पष्ट है कि वैदिकयुगीन भिक्षाशन पद्धति इस काल तक आते-आते समाप्त हो चुकी थी। स्वेनत्साङ्ग के यात्राकाल में नालन्दा के कुलपति १०६ वर्षीय शीलभद्र थे जिनका दूसरा नाम धर्मनिधि था। कांचीपुर निवासी धर्मपाल ने अपना ज्ञानकोष प्रसिद्ध दार्शनिक बौद्ध विद्वान आचार्य दिङ् नाग से प्राप्त किया था इन्हीं धर्मपाल के शिष्य नालन्दा के पूर्व कुलपति थे)शोलभद्र थे।' "स्वेनसाङ्ग आगे लिखता है कि "नालन्दा में कुल १०००० छात्र थे और १५१० शिक्षक। इस विद्यापीठ में सुदूर पूर्व चीन, जापान, मंगोलिया, कोरिया, तिब्बत, तोखर तथा अन्य पूर्वी द्वीप समूह से छात्रगण आते थे। भारतीय वातावरण में आकर अनेक ने अपने मूल नाम बदल कर संस्कृत नाम रख लिये थे। इसका उल्लेख इत्सिङ्ग ने भी अपने यात्रा-विवरण में किया है। यथा—चीन से श्रीदेव, कोरिया से आर्यवर्मा, तोखर से बौद्धिधर्म,।" यहां देश देशान्तर से आने वाले प्रत्येक प्रवेशार्थी को एक कठिन परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती थी। इसमें कठिनाई से व्यग्र होकर कुछ तो स्वयं ही नाम वापिस ले लिया करते थे,कुछ अनुत्तीर्ण होकर चले जाते थे। किन्तु सुयोग्य मेधावी, प्राचीन नवीन विद्याओं में पारंगत छात्रों को उच्च अध्ययन के लिये प्रवेश अवश्व मिलता था। यहां पर छात्र महायान सम्प्रदाय तथा १८ सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। इसके अतिरिक्त वेदशास्त्र, दर्शन, हेतुविद्या (सम्भवतः न्याय से तात्पर्य है), शब्द विद्या (व्याकरण) चिकित्सा विद्या, इन्द्रजाल विद्या, अथर्ववेद तथा सांख्य का अध्ययन सभी को करना पड़ता था। इस विद्यापोठ में बौद्धधर्म की प्रधानता होने पर भी इसके पाठ्य विषय की सीमा केवल बौद्ध ज्ञान विज्ञान तक सीमित न थी। धार्मिक और लौकिक बौद्ध और ब्राह्मण ज्ञान की सभी शाखाओं का अध्ययन सभी को करना पड़ता था। इत्सिङ्ग और स्वेनसांग दोनों ने ही उच्च शिक्षा के अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा का भी उल्लेख किया है। इसमें वर्णमाला के ४६ अक्षर पाणिनि के १००० सूत्र तथा 'सिद्धिरस्तु' नामक छोटी सी पाठ्य पुस्तक का उल्लेख किया हैं। यह शिक्षा ६ वर्ष से ८ वर्ष तक की अवस्था वाले छात्रों के लिए थी। इससे आगे धातुएँ तथा काशिकावृत्ति का तथा व्याकरण का विस्तृत अध्ययन होता था। १६ वर्ष की अवस्था तक चलने वाले

इस प्रारम्भिक पाठ्य क्रम को ५ भागों में बांटा गया था। १-शब्द विद्या (व्याकरण और कोष) २-शिल्पस्थान विद्या। विभिन्न कलायें) ३-चिकित्सा विद्या, ४ हेतुविद्या, ५-अध्यात्म विद्या (दर्शन।

साधारणतः किसी भी सुयोग्य प्रवेशार्थी पर प्रतिवन्ध न था। जो लोग भिक्षुक (बौद्ध सन्यासी बनने के आकांक्षी न थे और अध्ययन करना ही चाहते थे, वे मानव या ब्रह्मचारी कहलाते थे। उन्हें अपना भोजन-व्यय स्वयं वहन करना पड़ता था। अशक्त होने पर विद्यालय के लिये श्रम करते थे। विश्वविद्यालय में कार्य का नियन्त्रण कर्मदान नामक अधिकारी करता था। वह छात्रों द्वारा किये जाने वाले कार्य का विभाजन वितरण भी करता था। किसी भी विषय में विशेष योग्यता प्रदर्शित करने पर शारीरिक श्रम से मुक्ति भी मिल जाती थी। दूसरी ओर मठ निवासी छात्रों को मठ की ओर से भोजन वस्त्र की व्यवस्था होती थी। ये वस्तुऐं स्वदेशी होती थीं और इन पर दाताओं के चिन्ह बने रहते थे। विद्यापीठ के नियमों के अनुसार भिक्षुओं के लिये धनस्पर्श निषिद्ध था। दान और उपहार में प्राप्त प्रत्येक वस्तु और धन पर विद्यापीठ का अधिकार होता था। यह सम्पत्ति विशाल और प्रचुर मात्रा में होती थी। इसी सम्पत्ति के बल पर अधिकारीगण छात्रों की भोजन, वस्त्र, विस्तर, चिकित्सा, निःशुल्क शिक्षा आदि की व्यवस्था करते थे। इस सम्पत्ति में अनेक पीढ़ियों के राजाओं द्वारा प्रदत्त विशाल भूभाग तथा दो सौ से अधिक गांव थे। इस भूमि पर विद्यापीठ के विहारपाल नामक अधिकारी के निरीक्षण में अनुचरों द्वारा कृषि कार्य किया जाता था। यह उपज भी छात्रों के ही काम आती थी। इसके अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की पाण्डुलिपियां तैयार करने में भी सोना-चांदी, हीरे-जवाहिरात प्राप्त होते थे। भोजन व्यवस्था इस प्रकार थी-प्रातः चावल का पानी, दोपहर चावल, मक्खन, दूध फल, मीठे तरबूज तथा सायंकाल को हल्का भोजन। नालन्दा के इन संघाश्रमों में अध्ययन करने वाले छात्रों की ५ श्रेणियां थीं। १-श्रमनेर (निम्नतम श्रेणी) २-दस्ट (लघु भिक्षु) ३-स्थविर। ४-उपाध्याय। ५-बहुश्रुत-(उच्चतम श्रेणी)।

नालन्दा की जीवनचर्या पर प्रकाश डालने के लिये इत्सिङ्ग के शब्दों का प्रयोग किया जाय तो इन मध्ययुगीन विश्वविद्यालयों में "सभी सम्भव असम्भव सिद्धान्तों का अध्यापन और प्रतिपादन किया जाता था। इन विश्वविद्यालयों में मतवैभिन्न्य की पूर्ण स्वतंत्रता थी। यह इस अमर सिद्धान्त का स्पष्ट प्रमाण है और दर्शन के क्षेत्र में भारत ने इसे बहुत पहले स्वीकार कर लिया था कि सत्यान्वेषण की प्रथम एवं अनिवार्य शर्त्त मतस्वातन्त्र्य है। शिक्षक और छात्र समान रूप से श्रद्धापूर्वक ब्राह्म और बौद्ध धर्म में धर्म तथा उनके विभिन्न मतों और सम्प्रदायों के सम्बन्ध में विचारविमर्श, आलोचना प्रत्यालोचना किया करते थे। अध्ययन और विवाद में दिन बड़ी जल्दी बीत जाता था। छोटे और बड़े सभी दिन-रात एक दूसरे की गलतियां निकाला करते थे। इस प्रकार परस्पर सबका विकास करते थे।" अधिक प्रसिद्धि पा जाने पर परीक्षा के लिये शास्त्रार्थ सभा का आयोजन करता है। शास्त्रार्थ में भाग लेने वाले व्यक्तियों की योग्यता की जांच की जाती है। शास्त्रार्थ में विजयी और श्रेष्ठ सिद्ध होने पर सुसज्जित गजराज पर बिठा कर मठ के फाटक पर ले जाया जाता है। पराजित होने पर उस व्यक्ति पर कीचड़ उछाल कर गड्ढे में गिरा दिया जाता है। यह इत्सिङ्ग का सारांश है।

समय बताने के लिये मठ में जलघड़ियां थीं। प्रत्येक घन्टा पूरा होने पर ढोल और शंख बजाये जाते थे। विहार का कार्यकाल प्रतिदिन ८ घन्टे का था। प्रातः और अपराह्न में २-२ घन्टे और मध्याह्न में ४ घन्टे काम करना पड़ता था। एक विशेष बात हमारा ध्यान विशेष रूप से आकर्षित

करती है कि अनुशासन सम्बन्धी सभी कार्यों का दायित्व छात्रों पर ही था। वरिष्ठता के आधार पर कमरों का वितरण तथा संघ के प्रति अपराधों की जांच करने तथा दण्डविधान का निर्णय सभी अधिकारी मिलकर करते थे। छात्र गण गुरुजनों की व्यक्तिगत सेवा करते थे। यथा–अंग प्रोक्षण, दांत कुरेदने के लिये सींकों का प्रबन्ध, वस्त्र व्यवस्था, भवन की स्वच्छता आदि। साधारणतः भिक्षु छात्रों को निम्न वस्तुऐं रखने की आज्ञा थी–अपने वस्त्र, भिक्षापात्र, निवास, रुग्णावस्था में औषध। भिक्षु से तात्पर्य है बौद्ध। मठ निवास पर बौद्ध धर्म में विशेष आग्रह का यही कारण था कि नालन्दा ही नहीं, बलभी; जालन्धर, विक्रम शिला, पुष्करावती, काञ्चीपुर सदृश प्रसिद्ध मठीय विश्वविद्यालयों का विकास और स्थापना हो सकी थी। ये सभी विद्याकेन्द्र कालान्तर में महत्त्वपूर्ण प्रसिद्ध ज्ञानकेन्द्र बने। ये सभी नगरों ग्रामों से दूर सम्पत्तिशाली मठों और तीर्थस्थानों में थे। इन्हें अग्रहार ग्राम कहा जाता था। इनके साथ कृषि भूमि होती थी। इस भूमि का उपयोग छात्रों और शिक्षकों के कल्याण के लिये होता था। ज्ञानवृद्धि के लिये अपना कर्त्तव्य समझ कर धनी सद्गृहस्थ तथा सामन्त लोग चन्दा दिया करते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि नालन्दा के सम्बन्ध में चीनी यात्रियों द्वारा कही हुई बातें भारत के अन्य विद्यापीठों पर भी लागू होती हैं। नालन्दा विश्वविद्यालय का विनाश १२०४ ई० में तुर्क अफगानों के आक्रमण में हुआ।

हमारे प्राचीन गुरुकुल

(श्री राधेश्याम द्विवेदी, सम्पादक 'ज्ञानदा', मथुरा ।)

विद्या और कला के भण्डार हमारे भारतवर्ष में प्राचीन काल में गुरुकुलों में दी जाने वाली शिक्षा संसार भर में अनुपम और आदर्श थी। व्यक्ति के अज्ञान किंवा अविद्या के नाश के अतिरिक्त उसके गुण, कर्म, स्वभाव, आचार-विचार, दृष्टिकोण, बल, विवेक, चातुर्य तथा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य, विवेक-चातुर्य तथा शरीर का विकास अर्थात् सर्वशक्तिसम्पन्न व्यक्तित्व का विकास हमारे गुरुकुलों में दी जाने वाली शिक्षा का उद्देश्य होता था। शिक्षा का जीवन से पूर्ण सम्बन्ध था। ग्राम-विद्यापीठों और गृह-विद्यापीठों की जो कल्पना और आदर्श आज हमारे सामने है, प्राचीन काल में हमारे गुरुकुलों में मूर्तरूप में विद्यमान थे और वे आज के कठिन नियमों से बद्ध न होते हुए अत्यन्त सरल नियमों पर, गुरु शिष्यों के परस्पर सार्वजनिक स्नेहपूर्ण तपोनिष्ठ जीवनयापन पर चलते थे। हमारे ये गुरुकुल शिक्षा और संस्कार के केन्द्र थे। विद्यार्थियों को इससे राष्ट्रसेवा और जनसेवा का संयम और नियमपूर्वक त्याग एवं तपपूर्ण जीवन की, आचार्य के प्रति समान, अतिथि तक के प्रति आदर और श्रद्धा की उच्च भावना रखने की क्रियात्मक शिक्षा दी जाती थी। इन गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त करने वाले विद्यार्थी का ज्ञान पूर्ण विकसित होता था, उसको जीवन व्यतीत करने की दृष्टि और आदर्श मिलते थे और उसका जीवन सादा रहते हुए सभी दृष्टि से सार्थक और सफल होता था। इसमें विद्यार्थियों को दृढ़ सच्चरित्र, सदाचारी और कलाकार बनाते हुए सच्चा मानव बनाया जाता था।

गुरुकुलों में ही आरण्यक और उपनिषदों की रचना हुई तथा पुराण और उप-पुराण रचे गये।

हमारे ये गुरुकुल सांसारिकता से दूर ऋषियों के तपोवनों में होते थे, जहां मानव जीवन के लिए न्यूनतम आवश्यकता होती थी। सादा जीवन और ऊँचा चिन्तन ही उनका लक्ष्य रहता था। इनमें विभिन्न शास्त्रों के अतिरिक्त अस्त्र शस्त्रों की तथा कलाओं की शिक्षा दी जाती थी। प्राचीन भारत के गुरुकुलों में ऐहिक चिन्तन की अपेक्षा तत्त्वज्ञान तथा पारलौकिक चिन्तन तथा लोककल्याण की दीक्षा में अधिक प्रवृत्ति होती थी।

प्राचीन काल में ५ या ८ वर्ष की आयु में उपनयन होने के पश्चात् बालक को गुरुकुल में सौंप दिया जाता था। इस अवस्था तक वह बालक घर में माता और पिता से शिक्षा प्राप्त करता था और तत्पश्चात् १६ या २० वर्ष अर्थात् २५ वर्ष की अवस्था होने तक बालक ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुकुल में गुरु के साथ रह कर अनेक विद्या और कलाओं की शिक्षा ग्रहण करने के अतिरिक्त सदाचार, सुसंस्कार और समाज-सेवा के सद्विचार से परिपक्वता प्राप्त करता था। गुरु का सामीप्य होना ही उपनयन का तात्पर्य है। माता और पिता दोनों के अभिन्न एकत्व की प्रतिष्ठा आचार्य या गुरु में हो जाती है। अतः गुरुकुलों में गुरु और शिष्यों का सम्बन्ध माता पिता से भी अधिक अभेदपूर्ण होता था। वहां पूर्ण शिक्षा और दीक्षा प्राप्त कर शिष्य अपने गुरु के पवित्र जीवन और आचरण का अनुकरण करता था और तभी वह 'आयुरस्मासुधेहि अमृतत्त्वमाचार्यायि' वेद वाक्य करने का अधिकारी बनता था। वहाँ उसे 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उच्च भावना वाली शिक्षा दीक्षा दी जाती थी और तभी वह कहता था 'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः' मैं पृथ्वी का पुत्र हूँ, भूमि मेरी माता है। यह उच्च भावना जाग्रत

होने पर ही उसका जीवन लोक-कल्याण की सेवा के लिये समर्पित रहता था। ये संस्कार और शिक्षा, वर्ग और वर्णभेद के विचार के बिना गुरुकुलों में दी जाती थी। वहाँ राजा और प्रजा के बालक साथ साथ शिक्षा पाते थे। कुमार और कुमारिकाएँ सह-शिक्षा ग्रहण करते थे।

श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण ने गुरुकुलों में साधारण बालकों की भांति शिक्षा प्राप्त की थी और अन्य सहपाठियों के साथ आश्रम की चर्या नियमपूर्वक निभाई थी। दुर्योधन आदि १०० कौरव राजकुमारों ने, पाँचों पांडवों ने तथा देश के अन्य राजकुमारों ने आचार्य द्रोणाचार्य के पास विद्या और कलाओं की शिक्षा प्राप्त की थीं। शुक्राचार्य के आश्रम में कच और देवयानी सह-शिक्षा प्राप्त करते थे। महर्षि बाल्मीकि के तपोवन में लव कुश के साथ आत्रेयी भी शिक्षा प्राप्त करती थी जो फिर निगमान्त विद्या की प्राप्ति के लिये मुनि अगस्त्य के आश्रम में गई थी। घोषा, लोपामुद्रा, गार्गी, काशकृस्तरनी विदुषी नारियां तपोवनों के गुरुकुलों की स्नातिकाएँ थीं। कुमार और कुमारिकाएँ आश्रम के यम-नियमों का विधिवत् पालन करते थे। अतिथि सेवा, सत्संग, वाद-विवाद चर्चा सभी कार्यक्रमों में ये उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। महर्षि कण्व के आश्रम की अतिथि-सेवा और सदाचारिता की शिक्षा आदर्श थी। महर्षि आयोदधौम्य का आश्रम, जनसेवा, तितिक्षा और संयम के लिये प्रख्यात था। मुनि आयोदधौम्य की ज्ञानशक्ति और तप की साधना इतनी ऊंची थी कि आशीर्वादमात्र से वे अपने शिष्य को पूर्ण शास्त्रज्ञ बना देते थे। उनके शास्त्रकार शिष्यों आरुणि, उपमन्यु की कथाएं प्रसिद्ध हैं। आरुणि खेत की मेंढ़ का पानी टूटने पर गुरु के आने तक अपने हाथ से पानी रोके उसी स्थान पर बैठा रहा था।

उपमन्यु का भोजन और अन्न पर अधिक मोह होने से उसे दीक्षा प्राप्त करने से रोक दिया गया था। जब यह वृत्ति उसकी बदल गयी तब उसे स्नातक बनाकर दीक्षा दी गई।

गुरुकुलों में गुरु और शिष्य का अभिन्न सम्बन्ध रखा जाता था। गुरु और शिष्य समाज और राष्ट्रहित के लिए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करने की प्रतिज्ञाबद्ध होते थे। वे प्रतिज्ञा करते थे– 'सहनाववतु सहनौभुनक्तु सहवीर्यं करवावहै। तेजस्विनावधीतमस्तु माविद्विषावहै।' हम दोनों परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें, साथ-साथ मिलजुल करके विद्या व प्रसाद व राष्ट्र की सम्पत्ति का उपभोग करें। किसी से द्वेष न करें। इस प्रकार प्राचीन काल में गुरु व्यक्ति और समाज का निर्माता होता था और इसी से गुरु का स्थान माता पिता से भी ऊंचा माना जाता था। गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही नहीं किन्तु उसको साक्षात् परब्रह्म रूप माना गया है। जैसाकि हम गुरु के ध्यान में यह श्लोक बोलते हैं—गुरुर्ब्रह्मा, गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः गुरुरेव परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानांजनशलाकया,
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।

इस प्रकार गुरु अज्ञान के घोर अन्धकार को अपनी ज्ञान की सलाई लगाकर दूर करता है तथा बाह्य तथा आन्तरिक दृष्टि में प्रकाश देता है। गुरु की आज्ञा मानने वाले शिष्य का पद-पद पर क्षेम और कल्याण होता है इसमें सन्देह नहीं। किसी ने कहा है–

'गुरोर्वचःकरो यस्तु तस्य क्षेमम् पदे पदे'।

हमको अपने प्राचीन इस भारतीय आदर्श को अपनाना चाहिये और गुरु से श्रद्धापूर्वक ज्ञान का उपार्जन कर उनकी सेवा कर अपने कुटुम्ब, समाज और देश की सेवा में रत रहना चाहिए।

शिक्षा के सांस्कृतिक स्रोत

(डॉ० शिवनारायण शुक्ल, प्रवक्ता हिन्दी, बलरामपुर, गोण्डा)

शिक्षा जीवन की गत्यात्मक प्रक्रिया है। जीवन जीने की पद्धति है। जीने की पद्धति आज तक विकसित होती आरही है, उसके इस विकास-क्रम की चरमपरिणति में जीवनधारी नर में नारायण या महामानव बनने की अनन्त संभावनायें निहित हैं। जीवन के इस विकासोन्मुख स्वरूप को संस्कृति की अभिधा दी गई है। जीवन का विकास जीवन पद्धति के परिष्करण और परिमार्जन में ही सार्थक है। पद्धति का परिष्करण बुद्धि और हृदय के व्यापारों में युगानुकूल लोक-हित और लोक-संवेदना का बोध जागृत करने की क्रिया है। परिष्कार की यही प्रक्रिया संस्कृति के नाम से जानी जाती है। व्यक्ति को, समाज को अपने अन्तःकरण में निहित इस प्रकार की उदात्त वृत्तियों को जगाने के लिए, प्रत्यक्ष करने के लिए एवं अन्तःशक्ति को बाह्य आचरण में उतारने के लिए वातावरण चाहिए, प्रेरणा चाहिए। शिक्षा यही वातावरण बनाती है। व्यक्ति के मन, बुद्धि, प्राण, दिल और दिमाग में पूत भावों को सक्रिय बनाना ही शिक्षा है। शिक्षक ऊपर से शिष्य पर कुछ भी तो नहीं आरोपित करता है, वह उसकी शक्ति का आभास मात्र करा देता है। जिसे हम अस्तित्व बोध कहते हैं। शिष्य की अन्तःशक्तियों का यह विस्फुरण युग के सांस्कृतिक मूल्य के अनुरूप एवं जाति के संस्कार के समानान्तर ही होता है। शिक्षा जीवन को जीने के उदात्त समझौते की भूमि को भी बनाती है। जीवन समझौता समन्वय का नाम है। परिस्थिति और परम्परा से हटकर समन्वय का अर्थ-बोध कठिन है। अतः शिक्षा परम्परित संस्कृति और भोगी जाती हुई या संचीयमान संस्कृति दोनों से अपना स्रोत सम्पन्न करती है। यह खेद का विषय है कि शिक्षा के क्षेत्र में चिन्तनशील-धारा ने जीवन्त या भोगी जाती हुई संस्कृति को उचित महत्त्व नहीं दिया है। शिक्षा संस्कृति की प्रयोगशाला है। शिक्षालय में संस्कृति के मूल्य के ही मानदण्ड पर संस्कृत मानव का निर्माण अभिप्रेत है।

शास्त्रीय मान्यताओं के अन्तर्गत शिक्षा के दो रूप स्वीकृत हैं— एक औपचारिक शिक्षा (Formal Education), दूसरी अनौपचारिक शिक्षा (Informal Education)। औपचारिक शिक्षा विद्यालय के सुनियोजित ढांचे के माध्यम से प्रभावी होती है। भारतीय संस्कृति के प्राचीनकाल में आश्रम एवं गुरुकुल की शिक्षा औपचारिक शिक्षा ही थी। आज की औपचारिक शिक्षा जीवन को उतना प्रभावित नहीं कर सकी है जितना आश्रमीय शिक्षा ने प्रभावित किया था। आश्रम का वटुक या ब्रह्मचारी गुरु सेवा के साथ साथ आश्रम के संचालनार्थ शारीरिक श्रम करता था। पशु-चारण, पशुपालन, कृषिकार्य यहाँ तक कि भिक्षार्जन भी उसके जीवन का आवश्यक अङ्ग था। इस पद्धति के आधीन राजा-रंक सभी परिवारों से आया हुआ बालक समान रूप से समान भाव से आश्रम में जीवन बिताता था। शिक्षा रचनात्मक थी और यह रचना उपभोग्य पदार्थों के उत्पादन, संचय और वितरण की व्यवस्था से उपेत तो थी ही, शिष्य के 'अहं' के उदात्तीकरण और दमन में भी प्रभावपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करती थी। किन्तु आज के विद्यालयों की शिक्षा छात्र के अहं, विलास एवं भोग को बढ़ाती है। पढ़कर भी छात्र उपयोगिता का सृजन करने में समर्थ नहीं हो पाता।

न उससे ज्ञानार्जन ही होता है और न जीविकोपार्जन ही। छात्र की शक्ति दोनों ओर से मारी जाती है। शिक्षा के प्रति छात्र की उदासीनता और शिक्षा क्षेत्र की अनुशासनहीनता का यही रहस्य है।

अनौपचारिक शिक्षा का स्रोत तो जीवन के विस्तृत क्षेत्र में सर्वत्र प्रवाहित है, यह शिक्षार्थी की बुद्धि-शक्ति पर निर्भर करता है कि वह उसे किस रूप में कितनी मात्रा में ग्रहण कर सके ? शिक्षार्थी की यह बौद्धिक-शक्ति या ग्राहकता उसके परिवार, समाज और उसकी सामान्य परिस्थितियों पर निर्भर करती है। अनौपचारिक शिक्षा के साधन-रूप में हम घर, समाज, मन्दिर, चर्च, नाट्यशाला, सभा, समूह आदि सभी सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थानों को अंगीकृत करते हैं। इन दोनों प्रकार की शिक्षा में ऐसे विशिष्ट एवं सामान्य ज्ञान पर ध्यान केन्द्रित रखना पड़ता है जिससे शिक्षार्थी का युग एवं ध्येय के अनुकूल संस्कार किया जा सके। स्पष्ट है कि शिक्षा का सम्बन्ध संस्कृति—साध्य जीवन की सर्वतोन्मुखी उपलब्धि से ही जुड़ता है। यहाँ यह स्वीकारने में संकोच नहीं है कि पहले शिक्षा में जीवन के इतर आयामों की अपेक्षा ज्ञान पर विशेष बल था पर आधुनातन शिक्षा में तो ज्ञान भी गायब हो चुका है। ज्ञान और चेतना का यह ह्रास शिक्षक एवं शिक्षा के समक्ष एक बहुत बड़ी चुनौती है। यदि आज का समाज इस चुनौती को स्वीकारने के लिए सन्नद्ध न हुआ तो भावी संस्कृति को इसके भयंकर कुफल भोगने होंगे।

शिष्य के संस्कार या उसकी शिक्षा के दो ही हेतु बनते हैं— एक है वंशानुक्रम में प्राप्त मूलशक्ति या सूझ, दूसरा है वातावरण। जन्मतः जिन संस्कारों को लेकर व्यक्ति पैदा होता है वे उसके आचरण की संरचना को दूर तक व्यापक रूप से प्रभावित करते हैं। शिक्षा की प्रक्रिया में ऐसे शिक्षार्थी पर विशेष अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। हाँ यह अवश्य चिन्त्य है कि ऐसे व्यक्ति या समाज के द्वारा पूर्वार्जित संस्कार को आरक्षित रखने में शिक्षा को सतर्क रहना चाहिए, अन्यथा दाय के रूप में प्राप्त संस्कृति के वे वांछित तत्त्व शनैः शनैः लुप्त होने लगेंगे। शिक्षा का आन्दोलन अपना कर्त्तव्य-निर्वाह वातावरण के निर्माण में जमकर कर सकता है। यह ध्यातव्य है कि संस्कार के सामान्य वातावरण को प्रशस्त करने के साथ-साथ पूर्वार्जित दोषों के निराकरण की विशिष्ट-स्थिति की व्यवस्था हो पारही है या नहीं। जो विद्यमान है उसकी रक्षा और विकास, जो अविद्यमान है उसका अंकुरोद्गम यही शिक्षा का मुख्य व्यापार है। अपने इस मुख्य व्यापार को संचालित करने के लिए शिक्षा-पद्धति को पूंजी के रूप में संस्कृति का उपयोग करना पड़ता है। संस्कृति शिक्षा का विनियोग भी है, और उत्पादन भी। शिक्षा संस्कृति को प्रभावित भी करती हैं और उससे प्रभावित भी होती है। व्यक्ति में जिन गुणों का अभाव है उनका संस्कार करना ही शिक्षा का लक्ष्य है। व्यक्ति या समाज की जो संस्कृति है उससे प्राप्त नूतन-सूत्रों के द्वारा शिक्षा अपने नव्य स्वरूप का विधान भी करती है।

सृष्टि क्रम में गतिमान अन्य प्राणियों की अपेक्षा मानव में संस्कार की गुंजाइश ज्यादा है। इसीलिए शिक्षा के भाव की सार्थकता भी मनुष्य के साथ ही सिद्ध है। मनुष्य से हमारा तात्पर्य यहां सामाजिक मनुष्य से है। शिक्षा और संस्कृति की परिकल्पना सामाजिक और विवेकोपेत प्राणी के बीच में ही सम्भव है। प्राकृतिक अवस्था (Natural State) में व्यक्ति अन्य व्यक्ति से वैसे ही भयभीत रहता था जैसे आज वन्यजीव एक-दूसरे से भयभीत रहते हैं। संरक्षा की आन्तरिक अनुभूति ने वन्य मानव को समाज के रूप में आत्म रक्षा के सुख का स्वरूप स्पष्ट किया। समाज में आकर मनुष्य को

अन्य की सुख-सुविधा रखने का अनुवन्ध मानना पड़ा। व्यक्ति के निरंकुश आचरण पर सामाजिक नियन्त्रण का पहरा वैठाया गया। सर्वमान्य, सर्वजनहिताय,समाजपूत आचरण को आकार देने की आवश्यकता का मनुष्य को प्रथम बार सामना करना पड़ा। इस संघर्ष में उसने जो कुछ उपलब्ध किया वही संस्कृति है जो क्रमशः अद्यावधि विकासशील है। शिक्षा इसी संचित एवं संचीयमान मानवीय संस्कृति का अधिकोषण करती है। शिक्षा का व्यापार संस्कृति से हटकर एक क्षण नहीं चल सकता क्योंकि यह स्पष्ट हो चुका है कि संस्कृति ही उसकी पूंजी है, उसका स्रोत है। जिस प्रकार समाज से हटकर संस्कृति का कोई अर्थ नहीं होता उसी प्रकार समाज निरपेक्ष शिक्षा की भी अपनी कोई कोटि नहीं होती। शिक्षा और संस्कृति दोनों सामाजिक सम्पत्ति हैं। समाज का तनिक भी ध्यान न रखने वाले परमज्ञानी या विरागी की साधना, वन्यजीवों की अपराजेय शक्ति के समान मानव के लिए व्यर्थ है। मनुष्य से जुड़ी हुई कोई भी उपलब्धि समाज की पीठिका पर ही अपना अधिमूल्यन प्रस्तुत करकरा सकती है।

यह बड़ी विचित्र और सहज भी, स्थिति है कि जन्मतः मनुष्य आज भी पशुता के ही अधिक निकट पाया जाता है। उसकी अन्तः बाह्य संरचना और पशु की संरचना में अन्तर इतना ही है कि चिरन्तन काल से संघर्ष करते रहने पर भी पशु आज भी अपनी आदिमा स्थिति के निकट ही बना है पर मनुष्य की संस्कृति का एक बहुत बड़ा इतिहास बन चुका है। इस इतिहास को रचाने वाला मन नवस्वच्छन्दता की मूल अवस्था में आज भी अवसर पाने पर पशुता की ओर बड़ी सरलता से मुड़ जाता है। जहां इसमें प्रथम विशेषता के रूप में यह प्रवृत्ति पाई जाती है वहीं इसमें दूसरी विशेषता यह भी है कि उसके जैव-व्यापार के बीच मानसिक और बौद्धिक परिष्कार की अनन्त सम्भावनाओं के द्वार भी खुले हुए हैं जो युग-धर्म को धारण करने में सर्वथा उन्मुक्त और प्रभावपूर्ण हैं। मां के गर्भ से बाहर आने पर ही मानव-शिशु का बौद्धिक और शारीरिक संस्कार और विकास की अधिकांश क्रिया पूरी होती है। पशु जन्मने के बाद यद्यपि शारीरिक और किसी हद तक विवेक सम्बन्धी विकास करता अवश्य है पर मनुष्य की अपेक्षा उसमें शारीरिक और मानसिक विकास की संभावना बहुत ही कम रहती है। जितनी मात्रा में जन्मने के पूर्व मनुष्य की शारीरिक और मानसिक संरचना अपरिपक्व और अपूर्ण रहती है उतनी ही मात्रा में उसके लिए शिक्षा की गुंजाइश भी रहती है। मानव जीवन में सभ्यता और संस्कृति की असीमित संभावना की दिशा इसीलिए दिखाई पड़ती है। शिक्षा इन अनन्त संभावना को, इसी कल्पित आदर्श को यथार्थ बनाने का आन्दोलन चलाती रहती है। अतः मानसिक विकास के लिए परम्परित संस्कृति तथा जीवन्त संस्कृति किस रूप में बालक का संस्कार करती है यह बालक के वंश-समाज की सांस्कृतिक उपलब्धि पर निर्भर करती है। सांस्कृतिक सूत्रों के प्रभाव के समानान्तर ही शिक्षा का स्वरूप भी निर्धारित होता है।

प्रायः मनोविज्ञानवेत्ताओं ने यह स्वीकारा है कि मनुष्य की बुद्धि का विकास यौवन काल के पश्चात् प्रारम्भ होता है पर यह सबने स्वीकार किया है कि संवेदना, संवेग अथवा भाव परिष्कार का अभ्यास शैशव काल से ही किया जा सकता है। अभिभावक की बुद्धि से निर्णीत दिशा में बालक के रागात्मक सम्बन्धों का संशोधन एवं संस्कार यौवन के पूर्व भी धड़ल्ले से चलता रहता है। आचरण एवं व्यवहार के धरातल पर बुद्धि का कभी भी उतना महत्व नहीं रहा जितना संवेग का। बुद्धि निर्णायक का कार्य अवश्य करती हैं, पर प्रवृत्ति को प्रशस्त करने का कार्य संवेग ही करते हैं। संवेगों

का आकार प्रकार या व्यावहारिक रूप समाज के सांस्कृतिक-स्तर के अनुरूप ही विकसित करने का प्रयास किया जाता है।

शिक्षा की प्रक्रिया को व्यवस्था बाल-विकास या व्यक्ति के विकास से प्रत्यक्षतः जुड़ी हुई है। इस विकास को (१) शैशव, (२) पूर्व कौमार्य, (३) कौमार्य तथा (४) प्रौढ़ावस्था में विभक्त किया गया है। शिशु लघु रूप में पूर्ण मानव होता है। पुष्प का नन्हा पौधा क्यारी में उगता है, पत्तियां फ़टती हैं, तने को आकार मिलता हैं, डालें फैलती हैं और फ़ूल लगता है, उसकी सुगन्ध एवं सुन्दरता लोकाकर्षण एवं वातावरण की मनोरमता को जन्म देती है। सुमन के जीवन के इस संक्षिप्त इतिहास के समान मानव-जीवन के विकास का भी एक इतिहास होता है जो क्रमशः अभाव से भाव की ओर, संकोच से विस्तार की ओर; एक से अनेक की ओर, जीव से ब्रह्म की ओर, आत्मा से विश्वात्मा की ओर, नर से नारायण की ओर उन्मुख रहता है। जीवनावसान के क्षण तक उसके विकास का यह क्रम रुकता नहीं है। यही मनुष्य की सांस्कृतिक यात्रा है। इस यात्रा को समृद्ध एवं सुकर बनाने के लिए युगानुकूल संस्कार की आवश्यकता होती है जिसकी सिद्धि शिक्षा के द्वारा ही सम्भव है। शिक्षा उपलब्ध सांस्कृतिक शक्ति के स्रोत से ही संबलित होती है।

जीवन का जो भी लक्ष्य बनता है, शिक्षा उसे स्वीकारती है। जिन-जिन पक्षों से शिक्षा का सरोकार पड़ता है, उनमें मुख्यतः परिवार, समाज, राजनीति, क्रीड़ा, कला, धर्म, दर्शन, साहित्य, साधना, अध्यात्म का नामोल्लेख किया जाना स्वाभाविक है। इन सारे नामों और इन सारी अभिधाओं को अगर एक अभिधा में व्यक्त करने की जरूरत पड़े तो हम उसके लिए 'संस्कृति' का प्रयोग करेगें। शिक्षा इन्हीं से अपनी पूंजी लेकर इन्हीं का व्यवसाय प्रारम्भ करती है। यहां हम अपनी बात की पुनरावृत्ति करना चाहेगें कि सामान्य तथा चिन्तकों ने धर्म, दर्शन एवं साहित्य के अर्जित रूप को ही संस्कृति के नाम पर स्वीकार किया है किन्तु परिस्थिति भी संस्कृति का संचीयमान अंग है, वह भी शिक्षा को प्रभावित करती है। अतः हम उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते हैं।

जीवन के श्रेय एवं प्रेय का क्षेत्र ही संस्कृति का क्षेत्र है। शिक्षा की प्रणाली श्रेय और सौन्दर्य के द्वारा ही नियन्त्रित होती है। श्रेय और सौन्दर्य की उपलब्धि के लिए संकल्प करना पड़ता है। रचनामूलक इसी संकल्प की साधना शिक्षा का कार्य है। संकल्प-विकल्प का निश्चय संस्कृति के आलोक में ही किया जाता है। संकल्प मानव जीवन के विकास का मूल रहस्य है जिसकी धारणा या प्रतिष्ठा की पीठिका मंगल एवं कल्याण के तत्त्वों पर अवलम्बित है। मंगल या कल्याण की कामना का स्वरूप निरपेक्ष नहीं सापेक्ष होता है। शिक्षा मंगल और मंगल पर अवलम्बित संकल्प का आध्यात्मिक अध्यवसाय चलाती रहती है। जीवनप्रवाह की सामान्य क्रियायों में संकल्प का महत्त्व उतना नहीं है, पर संस्कार की सिद्धि हेतु संकल्प अपरिहार्य हैं। इसी संकल्पात्मक सूत्र से सांस्कृतिक तत्त्व शिक्षा के माध्यम को लेकर जन्मते, बढ़ते और प्रसरित होते रहते हैं। मंगलमय संकल्प संस्कृति की निधि है, शिक्षा के अवयव इसी से निर्मित होते हैं।

अभी हमने कहा कि परिवार, समाज, राजनीति, धर्म, दर्शन, साहित्य एवं अध्यात्म आदि ही शिक्षा के साधन और साध्य हैं। यही शिक्षा के सांस्कृतिक स्रोत को प्रवाहित करते हैं। संगठन या समुदाय की शरीर रचना से जो गुण या धर्म निःसृत होते हैं, शिक्षा की धारा उन्हीं से सम्पन्न होती

है। इस प्रकार शील, संचय, शक्ति, चरित्र, आचरण, ब्रह्मचर्य, मर्यादा, ज्ञान, कला, धर्म और नैतिकता आदि ही शिक्षा के मूल सांस्कृतिक स्रोत हैं। विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि इन मूल्यों का बोध हो जाने के पश्चात् व्यक्ति के संस्कार में प्रायः कोई अभाव नहीं रह सकता। प्रत्येक सभ्य एवं संस्कृत समाज की शिक्षा-प्रक्रिया इन्हीं गुणों के विकास पर बल देती आई है। यदि इन्हें छोड़कर कोई समाज दूसरी ओर झुका है तो अल्पकाल में ही उसका पतन भी हुआ है, मानव जाति का इतिहास इस तथ्य को प्रमाणित करता है। शिक्षा के उपर्युक्त मूल्य भोगवादी नहीं, कर्मवादी हैं। शिक्षा कर्मवादी संस्कृति का ही तो प्रशिक्षण देती है। भोग जड़ का सहज धर्म है, चेतन में कर्म की प्रधानता है। भोग में तो वह जड़ के समान है। उसकी कर्मवादी विशिष्टता की रक्षा करना शिक्षा का काम है, यही तो उसकी संस्कृति भी है।

मानव की जड़ता का निवारण रूप और रूपवान के भाव से होता है। कलाएँ रूप का निर्माण करती हैं पर शिक्षा इतने से ही सन्तुष्ट हो जाय, यह बात नहीं। भाव की रचना अधिक महत्वपूर्ण है। शील, संयम, सदाचरण से भाव की रचना की जा सकती है। रूप में जब भाव जागृत हो जाता है तब शिक्षा की सार्थकता दिखाई पड़ती है। शिक्षा और संस्कृति दोनों का यही चरम है। इस चरम की साधना में गुरु शिष्य के साथ स्वयं तपता है तथा शिष्य को तप का अभ्यास कराता है। इस तप में जो लोग आते हैं वे भी तपस्वी बनने लगते हैं। शिक्षा का यह त्रिकोणात्मक तप संस्कृति की देन है।

क्षयरोग की वेदोक्त यज्ञविधि से सफल एवं स्थायी चिकित्सा

(श्री विद्याभूषणजी वैद्य, एटा)

'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'—शतपथ ।

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञात यक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् ।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतमेनम् तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ।। (अथर्व २०-९६-६१)

इस मंत्र के ऋषि ब्रह्मा और देवता यक्ष्म नाशनम् हैं । यही मन्त्र ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६१ मन्त्र १ है । ऋग्वेद में इसके ऋशि यक्ष्मानाशन प्राजापत्य हैं तथा देवता राजयक्ष्मघ्न है ।

इस मन्त्र का अर्थ—हे व्याधिग्रस्त ! तुमको सुख के साथ चिरकाल तक जीने के लिए गुप्त यक्ष्मा रोग और सम्पूर्ण प्रकट राजयक्ष्मा रोग से आहुति (यज्ञ) द्वारा छुड़ाता हूं । इस समय जो इस प्राणि को पुराने रोग ने जकड़ लिया है उससे इन्द्र (सूर्य) तथा अग्नि देवता इसको छुड़ावें ।

इस वेद मन्त्र में यज्ञ द्वारा यक्ष्मा की सफल चिकित्सा का वर्णन किया गया है । वेद मन्त्र एक और बात की तरफ भो सङ्केत करता है । वह यक्ष्मा की प्रकट (यन्त्रों, बाह्य साधनों, बाह्य परीक्षाओं द्वारा जो ज्ञात हो गया हैं) उस अवस्था की चिकित्सा का जहां विधान करता है वहां यक्ष्मा की उन सब अवस्थाओं की तरफ भी सङ्केत करता है कि जो शरीर में यक्ष्मा का बीजारोषण होने के बाद इतनो स्पष्ट बाह्य रूप में प्रकट नहीं हो सको हैं, जो चिकित्सक द्वारा सामान्य परीक्षा द्वारा जानी जा सकें ।

वेदमन्त्र उनको अज्ञात कहता है । वेदमन्त्र इस प्रकार ज्ञात (जिसके लक्षण रोगी और चिकित्सक को ज्ञात हो चुके हैं), अज्ञात जिसके लक्षण उस रोगी या उसके चिकित्सक को ज्ञात नहीं हैं और न किसी सूक्ष्मतिसूक्ष्म यांत्रिक परीक्षाओं द्वारा ही ज्ञात हो सके हैं, को चिकित्सा का विधान करता है । वेद मन्त्र जो परमेश्वर के नित्य ज्ञान से प्रकट हुआ है वह एक ऐसे स्थायी सिद्धांत की घोषणा करता है जो न केवल वेद-विश्वासियों के लिए ही स्वीकृत योग्य है अपितु इस काल में अन्य लोगों को भी उसे स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ेगा ।

सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त परमेश्वर ने इस कल्प के आदि में मानव के लोक परलोक के कल्याण के लिए जो वेदज्ञान-अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा इन चार आदि ऋषियों के द्वारा प्रदान किया वह अपने में पूर्व वैज्ञानिक और युक्तियुक्त हैं । इसकी वैज्ञानिकता अनु-संधान और अनुभव के द्वारा सिद्ध हो चुकी है । वेदमन्त्र की उसी वैज्ञानिक गवेषणा की चर्चा कुछ इस लेख में की जाती है ।

राजयक्ष्मा, क्षय, बहुत प्रकार का होता है ।

१—सर्वाङ्गिकक्षय
२—राजयक्ष्मा (फुफ्फुसक्षय)
३—आन्त्रिकक्षय
४—गण्डमाला, अपची (लसीका ग्रन्थिक्षय)
५—सन्धिक्षय
६—अस्थिक्षय

७ – उदरककलाक्षय ८—फुफ्फुसावरणक्षय

९—शीर्षावरणक्षय १०—क्षयजव्रण (त्वक्क्षय) इत्यादि

इनमें से कुछ का ज्ञान प्रारम्भिक अवस्था में अच्छे से अच्छे सूक्ष्म यन्त्रों द्वारा भी योग्य और अनुभवी चिकित्सकों को भी नहीं हो पाता और जब रोग भीतर पनपते पनपते इस स्थिति में आ जाता है कि वह चिकित्सा की दृष्टि से असाध्य या संशयापन्न हो जावे तब पता लगने पर भी कुछ करना सम्भव नहीं होता और रोगी कालकवलित हो जाता है तथा चिकित्सक भी किंकर्त्तव्यविमूढ़ जैसी स्थिति में आ जाता है। वेदोक्त-यज्ञविधि के द्वारा "ज्ञात" और "अज्ञात" दोनों प्रकार की यक्ष्मा की चिकित्सा स्थायी रूप से सफलता के साथ हो जाती है।

यक्ष्मा रोग, क्षयरोग बहुत भयंकर रोग है और इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत है। विश्व की कोई जाति, कोई क्षेत्र, कोई व्यवसाय इरुसे मुक्त नहीं है। सन् १९५१ में कलकत्ता में कामनवेल्थ कान्फ्रेंस का आयोजन हुआ। उसमें क्षयरोग के विश्वविख्यात विशेषज्ञ डा० वैञ्जामिन ने बताया कि भारत में क्षयरोग से मरने वालों की संख्या प्रतिवर्ष ५ लाख है। वस्तुतः यह संख्या ५ लाख से अधिक होनी चाहिए थी क्योंकि जो आंकड़े प्रस्तुत किये गये वे अपूर्ण थे।

बी. सी. जी. के विशेषज्ञ डा० एण्डर्सन ने कुछ दिन पूर्व बरेली में भाषण में बताया था कि देश में प्रति एक हजार मृत्यु में से ४३० मृत्यु केवल क्षयरोग से हुई थीं। इसी प्रकार कानपुर महापालिका की एक रिपोर्ट के अनुसार ६५ प्रतिशत बच्चों में क्षयरोग के कीटाणु सक्रिय पाये गये हैं। देश में इस रोग की रोकथाम उचित साधनों का अभाव और इसके ऊपर विशेष ध्यान न देने के कारण नहीं हो पा रही है। विशेषज्ञों का अनुमान है कि एलोपैथिक चिकित्सा में किसी भी ऐसी औषध का आविष्कार नहीं हुआ है जो शरीर को हानि पहुँचाये विना क्षयरोग के कीटाणुओं को मार सके। कई विचारक डाक्टरों का कथन है कि क्षयरोग की प्रचलित एलोपैथिक औषधें जहरीले होने के कारण शरीर को हानि पहुँचाती हैं।

क्षयरोग की चिकित्सा के विषय में एलोपैथी के प्रामाणिक डाक्टर यह कहते हैं—

१–क्षय निवारक समिति "जार्ज मेडिकल कालेज लखनऊ" से एक पुस्तक सन् १९४० में "राजयक्ष्मा की चिकित्सा तथा उससे बचने के उपाय" प्रकाशित हुई है। उसमें हम निम्नलिखित वाक्य पाते हैं:—

(क) राजयक्ष्मा यदि एक बार हो जाय तो जान लेकर ही छोड़ता है।

(ख) जिस समय यह रोग बढ़ जाता है उस समय इसका रोकना कठिन हो जाता है और बड़े से बड़े चिकित्सक डाक्टर भी रोगी को मृत्यु के मुख से बचाने की सामर्थ्य नहीं रखते।

(ग) जिस प्रकार कुनैन से मलेरिया अच्छा हो जाता है, ऐलोपैथी में कोई दवा ऐसी राजयक्ष्मा की नहीं है जिससे वह स्थायी और पूर्णरूप से दूर हो सके।

२–डा० मोलर साहब कमिश्नर "आल इण्डिया एन्टीट्यूवरक्लोसिस एशोसियेशन" (अखिल भारतीय क्षयरोग निवारक समिति) दिल्ली अपने पटना के व्याख्यान में कहते हैं, "जब रोग शरीर में घर कर लेता है तो कोई भी चिकित्सा-विधि अच्छा करने में कठिनता से ही सफल होती है। वास्तव में अभागे रोगी के जीवन के केवल कुछ दिन ही बढ़ाये जा सकते हैं। पर पूर्ण आरोग्य होने का अवसर कभी क्वचित ही होता है।" यही डाक्टर साहब पुनः कहते हैं— "अभी तक किसी ऐसी

औषध का आविष्कार नहीं हुआ है जो कि शरीर के अन्दर यक्ष्मा कीटाणुओं को शरीर को बिना हानि पहुँचाये मार सके ।"

३–डाक्टर शंकरलालजी गुप्त सुपरिन्टेन्डेन्ट यू. पी. जेल सेनीटोरियम अपनी पुस्तक 'क्षयरोग' में लिखते हैं—"ऐसे अनेक रासायनिक पदार्थ हैं जो शरीर के बाहर क्षय कीटाणुओं को क्षण भर में नष्ट कर सकते हैं परन्तु ऐलोपैथी में अभी तक ऐसी कोई भी औषध नहीं निकली है जो शरीर के अन्दर उन क्षय कीटाणुओं को मार सके और साथ ही शरीर पर उसका कोई भी हानिकारक प्रभाव भी न हो ।" (क्षयरोग पृष्ठ १०)

४–डा० यज्ञेश्वरगोपाल श्रीखंडे मेडीकल सुपरिन्टेन्डेन्ट भुवाली सेनीटोरियम अपने लेख में जो माधुरी मासिक पत्रिका जून १९४३ में छपा है—लिखते हैं "क्षयरोग की अचूक दवा करने वाला तो अभी पैदा नहीं हुआ" "यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि क्षयरोग को अच्छा करने वाला कोई भी विश्वस्त और सफल उपाय अभी तक निकला नहीं है' इसी लेख में वह यहां तक लिखते हैं कि "आधुनिक विज्ञान द्वारा रोगी का पूर्णरूप नीरोग होना असम्भव है ।"

ऐसे इन सब अनुभवी और योग्य डाक्टरों से लगभग यह सिद्ध है कि ऐलोपैथी में किसी ऐसी औषध का आविष्कार नहीं हुआ है जो शरीर को हानि पहुँचाए बिना क्षयरोग के कीटाणुओं को मार सके ।

डाक्टर फुन्दनलालजी अग्निहोत्री लन्दन ने विधिपूर्वक इस देश और विदेश में पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान (एलोपैथी) का ज्ञान प्राप्त किया । सर्वोच्च परीक्षोत्तीर्ण हुए और देश-विदेश के विभिन्न विशेषज्ञ डाक्टरों को यह सम्मति पढ़कर और जानकर कि आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान में इस रोग की सफल और स्थायी चिकित्सा विधि नहीं है, बहुत से विचार और परीक्षणों के बाद १९२९ में एक राजयक्ष्मा (क्षयरोग) विनाशक वेदोक्त यज्ञ विधि का आविष्कार किया था जो आयुर्वेद पर आधारित है । उन्होंने अपने १९०४ से १९२९ तक २५ वर्षों के अनुसंधान काल में अनेक चिकित्साप्रणालियों के परीक्षण किये । तदुपरान्त वेदोक्त विधि का अनुभव और परीक्षण किया । इसमें उन्हें आशातीत सफलता मिली । उन्होंने अपने क्षय आरोग्य आश्रम जबलपुर में ८०% क्षयरोगियों को वेदोक्त विधि से यज्ञ-चिकित्सा द्वारा स्वस्थ किया था । उनका यह क्षय आरोग्याश्रम "सेठ रतनसी हरिजी यज्ञ चिकित्सा सेनेटोरियम," नाम से पो० गढ़ा जि० जबलपुर (म० प्र०) में था । उनका कथन है कि वेदोक्त विधिपूर्वक हवन, यज्ञ करना चिकित्सासाध्य क्षयरोग की चिकित्सा और उसकी रोकथाम का सही उपचार है । इस वेदोक्त हवन, यज्ञ चिकित्सा से प्रत्यक्ष दृष्ट "ज्ञात" प्रथम द्वितीय और बहुत बार दैवसंयोग-ईश्वरेच्छा से तृतीय श्रेणी के भी रोगी तो अच्छे होते ही हैं और साथ ही वह सब रोगी भी अच्छे होते हैं कि जिनके भीतर शरीर में क्षयरोग के कीटाणु आगये हों और भूमिका में सक्रिय हों परन्तु उन क्षयरोग के कीटाणुओं ने क्षयरोग के कोई स्पष्ट लक्षण पैदा न किये हों, ऐसे रोगी भी उस वेदोक्त यज्ञविधि द्वारा रोग से मुक्त हो जाते हैं ।

ऐसे भी कुछ व्यक्ति होते हैं जिनके शरीर की बनावट क्षयरोग के कीटाणुओं के प्रसार के अनुकूल होती है जैसे वक्षस्थल छाती का तंग होना, जिसको कबूतर जैसी छाती (वक्षस्थल) अंग्रेजी में (पिजियन्स चेस्ट) कहते हैं । इन व्यक्तियों को क्षय का होजाना सुगम है परन्तु वेदोक्त हवन-यज्ञ विधि से ऐसे रोगियों की भी रक्षा होती है, क्योंकि जहाँ कहीं भी वेदोक्त विधि से हवन, यज्ञ होता है

वहां के क्षयरोग के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और जो कोई भी व्यक्ति उस यज्ञ को करते हैं और उसके पास बैठते हैं तो उनके शरीर में यज्ञ से शुद्ध हुआ वायु नासिका द्वारा प्रविष्ट होकर फेफड़ों में स्थित क्षय कीटाणुओं को नष्ट कर देता है। इस प्रकार वेदोक्त यज्ञ विधि से बाह्य वायुमण्डल शुद्ध होता है और यज्ञ करने वाले या वहाँ उपस्थित होने वाले व्यक्तियों के शरीरगत क्षयकीटाणु नष्ट होते हैं और रोगी आरोग्य लाभ करते हैं तथा साथ ही ऐसे संदिग्ध व्यक्ति भी जो क्षय के पूर्वरूप में ग्रसित हैं या हो रहे हैं वह भी रोगमुक्त हो जाते हैं।

१-एक वेद मन्त्र इस लेख के प्रारम्भ में दिया हुआ है। आगे और वेदमंत्र भी दिये जारहे हैं।

मन्त्र २- यदिक्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्षमेनं शतशारदाय ॥ अ० का. ३। सू. ११। मं. २

अर्थ :—यदि रोग के कारण न्यून आयु वाला होगया होवे अथवा इस संसार के सुखों से दूर हो गया हो, चाहे मृत्यु के निकट आ चुका हो, ऐसे रोगी को भी महारोग के पाश से छुड़ाता हूँ इस रोगी को सौ शरदऋतुओं तक जीने के लिए प्रबल किया है।

मन्त्र ३- यः कीकसाः प्रशृणाति तल्पीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ अथर्व. का. ७। सू. ७६। मं. ३

अर्थ :—जो रोग पसलियों को तोड़ डालता है और समीप के फेफड़ों में जा बैठता है तथा जो रोग गर्दन के नीचे कंधों और पीठ के बीच में भी जम जाता है, वह स्त्री द्वारा प्राप्त होने वाले राजयक्ष्मा के रोग को शरीर से प्राण के बल द्वारा निकाल दो।

इस मन्त्र में क्षय रोग का विशेष स्थान फेफड़ा बताकर उसको प्राण के बल से भगाने का आदेश दिया है। प्राणायाम मुख्य रोगनिवारण साधन है।

मन्त्र ४ पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सूक्षतस्य च ॥ अथर्व. का. ७। सू. ७६। मं. ४॥

अर्थ :—स्त्रियों के प्रति भोग से प्राप्त होने वाला क्षय शोष आदि रोग पक्षी के समान एक शरीर से दूसरे शरीर में संचार कर जाता है। वही भोग के समय पुरुष के शरीर में पहले थोड़ी मात्रा में ही या शनैः शनैः प्रवेश कर जाता है। उसके निम्न प्रकार हैं—

१—अभी जिसने जड़ न पकड़ी हो। २ जिसने खूब जड़ पकड़ ली हो। ३—जिसमें छाती से खून न आता हो। ४—जिसमें छाती से कट-कट कर खून आने लगा हो, इन सबको वही (यज्ञ चिकित्सा जो प्रथम मन्त्र में बतलायी) चिकित्सा है।

इस मन्त्र में रोग का कारण स्पष्ट अति स्त्रीभोग तथा रोग के प्रकार बतलाये हैं तथा उसके संक्रामक होने पर भी स्पष्ट प्रकाश डाला है।

मन्त्र ५—विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहं ॥ अथर्व. का. ७। सू. ७६। मं. ५॥

अर्थ :—हे क्षयरोग! तेरे उत्पन्न होने के विषय में हम निश्चय से जानते हैं कि तू जहां से उत्पन्न होता है। तू वहाँ किस प्रकार हानि कर सकता है। जिसके घर में हम विद्वान् नाना रोगनाश औषधों से या रोग नाशक हवि, या चरु बनाकर उससे अग्निहोत्र करते हैं वहाँ से रोग नाशक हवि,

चरु या अन्न द्वारा इस क्षयरोग को निकाल डालने पर सब प्रकार से क्षयरोग दूर हो जाता है।

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते ॥
विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते। अथर्व. का. १९। सू. ३८। मं. १॥

अर्थ :—जिसके शरीर को रोग नाशक (गूगल) का उत्तम गन्ध व्यापता है उसको राजयक्ष्मा के रोग पीड़ा नहीं देते, आक्रमण नहीं करते, उसको घेरते नहीं हैं और उसको दूसरे (निन्दात्मक वचन) (शपथः) स्पृश्य-रोग-छूतरोग भी नहीं लगते हैं। उससे सब प्रकार के गुप्त, प्रकट, संदिग्ध, वर्तमान, भावी, प्रत्येक प्रकार के क्षय अस्थि, त्वचा, लसीका, वृक-फुफ्फुस-संधि-आंत्र-उर्दरक्कला-फुफ्फुसावरण-शीर्षोवरण सम्बन्धी समस्त क्षय रोग तथा राजयक्ष्मा (फुफ्फुसगत क्षयरोग) शीघ्रगामी हिरणों के समान काँपते हैं और डरकर भाग जाते हैं।

यद् गुग्गुलु सैन्धव यदि वाप्यासि समुदियं।
उभयोरग्रभं नामास्माभरिष्ट तातये ॥ अथर्व का. १९। सू. ३८। मं. २-३

अर्थ :—जो गुग्गलू सैन्धव सिन्धु देश (राजस्थान) में नदी के तट और वनों में उत्पन्न होता है और जो समुद्र के तट पर उत्पन्न होता है उन दोनों के नाम और स्वरूप का इस क्षयरोगग्रस्त पुरुष के कल्याण के लिए उपदेश करता हूँ।

जो भी महानुभाव सज्जन पुरुष परमपिता परमेश्वर के नित्य अपौरुषेय ज्ञान वेद की सत्यता पर पूर्ण विश्वास रखते हैं और किसी प्रकार की शंका नहीं रखते उनके लिए उपर्युक्त वेद प्रमाण पर्याप्त हैं। उनके लिए किसी और युक्ति की आवश्यकता नहीं, पर वर्तमान में विदेशी शिक्षा के कारण हमारी श्रद्धा और विश्वास में बहुत अन्तर आ गया है। अतः क्षयरोग की यज्ञ-चिकित्सा-विधि का वर्णन करने से पूर्व कुछ अन्य प्रमाण भी देंगे और वैज्ञानिक युक्तियों का भी विवेचन करेंगे जिससे यज्ञ चिकित्सा की सत्यता निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जावे। वेद में क्षय रोग को जिस यज्ञ-चिकित्सा-विधि का वर्णन किया गया है इस विधि के परीक्षण प्राचीन और अर्वाचीन दोनों समय में हुए और परिणाम बहुत ही सन्तोषजनक निकले हैं। प्राचीन काल के परीक्षणों की दृष्टि से हम यहाँ आयुर्वेद के आकर ग्रन्थ चरकसंहिता का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं जो इस प्रकार है—

प्रयुक्तया यथा चेष्ट्या राजयक्ष्मा पुराजितः।
तां वेद विहितामिष्टिमारोग्यार्थी प्रयोजयेत् ॥ चरक० चि. अ. ८ श्लोक १८८

अर्थ :—जिस यज्ञ के योग से प्राचीन काल में राजयक्ष्मा (फुफ्फुस) सम्बन्धी क्षयरोग, राजयक्ष्मा रोग नष्ट किया जाता था, आरोग्य चाहने वाले पुरुष को उसी वेदविहित यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। यहाँ महर्षि चरक ने क्षयरोग की चिकित्सा का वर्णन किया है। पहले अनेक औषध सम्बन्धी उपाय लिखे हैं, फिर औषधियों से "सिद्ध जल की स्नान चिकित्सा" का उल्लेख किया है और सबसे अन्त में यज्ञ-चिकित्सा का विधान कर क्षयरोग की चिकित्सा का प्रकरण समाप्त कर दिया है।

अब कुछ वैज्ञानिक युक्ति सम्बन्धी विवेचना की जाती है। इस वैज्ञानिक तथ्य को सभी स्वीकार करते हैं कि स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक शक्तिशाली है। सूक्ष्म का स्थूल में प्रवेश सरल है पर स्थूल वस्तु का सूक्ष्म में प्रवेश कदापि सम्भव नहीं है। आटे में मिले शक्कर के कणों को मनुष्य की स्थूल अंगुलियाँ पृथक् नहीं कर सकतीं जबकि पिपीलिका (चींटी) का सूक्ष्म मुख स्थूल शक्कर के कणों को

आटे से पृथक कर लेता है। सोने का छोटा टुकड़ा केवल निगलने से मनुष्य को विशेष लाभ नहीं होता पर उसी स्वर्ण खण्ड को सूक्ष्म भस्म वनाकर खायी जावे तो शरीर में रोगनाशक क्षमता, वल और अपार शक्ति आती है।

होम्योपैथिक चिकित्सा-विधि में इसी सिद्धान्त के आधार पर औषधों की पोटेन्सी (Potency) शक्तिक्रम तैयार किये जाते हैं और औषध का भाग जितना-जितना सूक्ष्म और अल्प होता जाता है उतनी उसकी शक्ति वढ़ती जाती है। यहाँ तक कि जो औषध स्थूल रूप में दिन में वार वार खाने से वहुत थोड़े समय का सामान्य रोग दूर कर सकती है, वही औषध सूक्ष्म रूप में मास दो मास में केवल एक-दो मात्रा खाने से वर्षों का जीर्ण रोग दूर कर देती है।

क्षय कीटाणुओं की लम्बाई १/१५००० इञ्च और चौड़ाई १/१५०००० इञ्च होती है। इतनी सूक्ष्म चीज पर वड़े कण वाली औषधों की पहुँच ही दुस्तर है, कीड़ों को मार कर उन पर विजय प्राप्त करना तो दूर की बात है। क्षय रोग के कीटाणु "माइक्रोवैक्टीरियम ट्यूवर क्लोसिस" के लिए वही औषध उपयुक्त होगी जिसके परमाणु इससे भी छोटे हों। यह सूक्ष्मता अग्नियज्ञ द्वारा ओषधियों को विभाजित करके सरलता से प्राप्त की जा सकती है। वस्तु को सूक्ष्मतम करने का सरल उपाय अग्नि द्वारा ही सम्भव है। उदाहरण के लिए लाल मिर्च लीजिए। इसको खाने से एक ही आदमी प्रभावित होगा। यदि इसको खरल में कूटें तो पास वैठे हुए बहुत से व्यक्ति प्रभावित होंगे और यदि इसे आग में जला दें तो दूर दूर बैठे लोग भी खांसने और छींकने लगेंगे।

मुँह से खायी गयी औषध आमाशय में पच जाने के बाद रसरक्त में मिलकर रक्तभ्रमण के साथ गति करती हुई वहुत विलम्ब से फेफड़ों तक पहुँचती है। अग्नि द्वारा जलायी गयी औषध सूक्ष्म और सूक्ष्मतम होकर तत्काल श्वास द्वारा फेफड़ों में पहुँचकर फुफ्फुस, फुफ्फुसगत कीटाणु, उनके द्वारा निर्मित गुण आदि पर सीधा असर करती है। यज्ञ सामग्री में रोगनाशक, पुष्टिकारक, सुगन्धित कीटाणु-नाशक द्रव्य मिले रहते हैं जिनमें गुग्गुलु भी सम्मिलित रहता है। ऊपर जो वेद मंत्र उद्धृत किये जा चुके हैं उनमें गुग्गुलु की महिमा और गुण का वर्णन स्पष्ट किया गया है। गुग्गुलु रसायन से अग्नि यज्ञ हवन द्वारा क्षयनाश में सहायता मिलती है। घी और कपूर भी यज्ञ सामग्री का एक अनिवार्य अंग है। वह भी क्षयरोग और क्षयकीटाणु नष्ट करने में उतना ही गुणकारी है।

आयुर्वेद के मुख्य ग्रन्थों में गुगुल के अन्य गुणों के साथ ही साथ इसको रसरक्तवर्धक रसायन, बलकारक, टूटे को जोड़ने वाला और कृमिनाशक बतलाया है।

यज्ञ से यज्ञ सामग्री के सूक्ष्म परमाणु श्वास द्वारा सीधे रन्ध्र वाले फेफड़ों पर पहुँचते हैं और अपने गुणों के अनुसार उसको भरेंगे और प्रविष्ट करेंगे जिससे धीरे-धीरे रोग दूर हो जायेगा। लोक में नित्य ही हम घी और कपूर के क्षत भरने वाले (व्रणरोपण गुणों) के कारण अनेक मरहमों में उनका प्रयोग होता देखते हैं। घी कृमिनाशक भी है। इसके अतिरिक्त सबसे बड़ी विशेषता यह कि यह सब पदार्थ जहां क्षयरोग के कीटाणुओं तथा अन्य भी रोगजनक कीटाणुओं का नाश करते हैं वहां शरीर को कोई हानि नही पहुँचाते अपितु शरीर का पोषण ही करते हैं। समस्त एलोपैथिक चिकित्सा-विज्ञान में कोई औषध ऐसी नहीं है जो शरीर के बाहर तो कीटाणुओं का नाश करे पर शरीर में जाकर भी कीटाणुओं का नाश तो करे पर शरीर को हानि न पहुँचावे। अतः क्षयरोग की सबसे उत्तम चिकित्सा वेदोक्त यज्ञ विधि ही है जो शरीर के भीतर और बाहर भी सारे वायुमण्डल में जहां तक यज्ञ धूम का विस्तार होता है वहां तक समस्त क्षय तथा अन्य रोग कीटाणु सम्पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं।

सूखी लकड़ी का धुंआ रोगकारक कृमियों को नष्ट करने की शक्ति रखता है। यज्ञ की सामग्री की समस्त वस्तुयें सूखी ही होती हैं। उनके जलाने में सुगन्ध भी निकलती है। कुछ ऐसी भी चीजें हैं जिनमें रोगनाशक शक्ति तो है किन्तु उनमें असह्य दुर्गन्ध है। जावित्री, जायफल, बड़ी इलायची, सूखा चन्दन, गिलोय, चीनी शर्करा, अडूसा आदि वस्तुओं का उपयोग करना चाहिए। इन पदार्थों का हवन करने से पदार्थों में उपस्थित औषध तत्त्व ज्यों-के-त्यों सूक्ष्म बनकर वायुमण्डल में व्याप्त हो जाते हैं और स्वांस के द्वारा भीतर फेफड़ों के समस्त भाग में पहुँच जाते हैं। जो कोई व्यक्ति स्वस्थ या रोगी दीर्घ स्वास (Deep Breathing) गहरा पूरक प्राणायाम करते हैं उनके फेफड़ों के समस्त भागों में यह यज्ञ-वाष्प पहुँच जाती है। इस यज्ञ सामग्री से निकलने वाली सुगन्धित तैल-गैस के परमाणु क्षयरोग के कीटाणुओं से छोटे होते हैं और सरलता से फेफड़ों के घावों में पहुँचकर जहां कीटाणुओं का नाश कर रोगी के स्वास्थ्यसाधन में सहायक होते हैं वहां संदिग्ध स्वस्थ्य व्यक्तियों को भी रोगी नहीं होने देते। अमेरिका के वैज्ञानिकों ने भी इस तथ्य का अनुमोदन किया है।

क्षयरोग कीटाणुओं की नाशक औषधों की खोज करते हुए इटली के प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने यह अनुसंधान अन्वेषण किया कि चीनी, शर्करा, मिश्री (शुगर) कोई भी वस्तु अग्नि पर जलाने से जो धूम्र गैस पैदा होती है उससे क्षयरोग कीटाणु (माइक्रोबैक्टीरियम ट्यूवर क्लोसिस) आधे मिनट में मर जाते हैं। इस परीक्षण सिद्ध ज्ञान के आधार पर ही इटली देश के नैपल्स नगर के क्षय-आरोग्याश्रम (टी. बो. सैनेटोरियम) में प्रतिदिन प्रति कमरे में शर्करा इस प्रकार जलाई जाती है कि उसका धूम्र क्षय-आरोग्याश्रम के समस्त क्षेत्र में कमरा आदि के भीतर बाहर व्याप्त हो जाता है।

विषय बड़ा महत्त्वपूर्ण और सार्वजनिक हित के लिए अत्यावश्यक है जिसका विवेचन भली प्रकार से विस्तार से होना चाहिए था पर लेख अधिक लम्बा न हो जाय इस विचार से अति संक्षेप में क्षयरोगनाशक वेदोक्त यज्ञ विधि का वैदिक सिद्धान्त वेद मन्त्रों द्वारा और बुद्धिगम्य और तर्कसम्मत आधुनिक वैज्ञानिक विवेचन भी कर दिया गया। अब इस चिकित्सा के व्यावहारिक दृष्टिकोण से यज्ञ की सामग्री के कुछ योग दिये जाते हैं जो शतशः अनुभूत हैं। जिस प्रकार सब चिकित्साविधियों में रोगी की अवस्था-विशेष में भिन्न भिन्न औषधें काम आती हैं उसी प्रकार यज्ञ-चिकित्सा में भी सामान्य सिद्धान्त समान होने पर भी कुछ विशेष परिवर्तन अपेक्षित हैं। हम क्षयरोगियों को ५ श्रेणियों में विभक्त कर हर श्रेणी के लिए यज्ञ सामग्री विषयक परामर्श लिखते हैं।

प्रथम– कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं जिनकी शरीर रचना में निर्बलता होती है और जिनको क्षयरोग सरलता से होना सम्भव होता है। ऐसे लोग संकुचित वक्षस्थल (तंग सीना), कमर झुकी, गाल पिचके स्वरूप वाले होते हैं ऐसे लोग सुगमता से क्षयरोगी हो सकते है। यह सामग्री उनके लिए अति हितकर है, उनके विषय में यह प्रतिरोधक का कार्य करेगी। साथ ही उन लोगों के लिए अति हितकर है और क्षयरोग से रक्षा करने वाली है, जिनका सम्पर्क क्षयरोगियों से होता है अर्थात् क्षयरोगी के परिचारक चिकित्सक, नर्स (परिचारिका), सम्बन्धी आदि। इन सबको नित्यप्रति निम्नलिखित सामग्री से सायं प्रातः हवन करना चाहिए।

गूगल ४ भाग, चन्दन सफेद २ भाग, चन्दन लाल २ भाग, तगर २ भाग, चिरोंजी १ भाग, नारियल गोला १ भाग, जायफल १ भाग, लोंग १ भाग, मुनक्का १ भाग, किशमिश २ भाग, छुहारा २ भाग, बड़ी इलायची २ भाग, गुलाब के फूल २ भाग, हर्र गुठली सहित २ भाग, (गुडूची) गिलोय परिपक्व ५ भाग, चावल (साठी के ताजे धान से प्राप्त) २ भाग, कपूर (देशी)

अग्नि प्रदीप्त करने योग्य। समस्त यज्ञ सामग्री के भार से १.४ भाग देशी शक्कर यज्ञ करते समय उसी समय मिलावे।

द्वितीय–जिन रोगियों के निदान में शंका है कि इनको क्षयरोग के लक्षण अभी प्रकट नहीं हुए, उन पर अनुमान किया जाता है कि क्षयरोग की भूमिका बन गयी और क्षय कीटाणु गुप्त रूप से शरीर में सक्रिय हैं पर अभी यन्त्र परीक्षा की पकड़ में नहीं आ रहे हैं। जिनको वेद मंत्र में अज्ञात रोग (संदिग्ध रोग) कहा गया है उनको उपर्युक्त यज्ञ सामग्री में निम्नलिखित ओषधियाँ और मिलाना चाहिए सहदेवी (कंघीखरेंटी, ककहइया सन) जिस पर ठापे जैसे फल आते हैं २ भाग, जटामांसी २ भाग, शतावर २ भाग, कूठ मीठा २ भाग, कूठ कड़ुआ २ भाग, ब्राह्मी छाया शुष्क २ भाग।

तृतीय–सामान्यतया सब चिकित्सापद्धतियों में और यूनानी चिकित्सापद्धति में विशेष कर क्षयरोग की तीन श्रेणियाँ मानते हैं। उन तीनों श्रेणियों के लिए पृथक-पृथक यज्ञ-सामग्री श्रेणियों के संक्षिप्त लक्षणों सहित लिखी जाती हैं।

१— प्रथम श्रेणी के लक्षण :–रोगी कुछ उदास सा रहता है, थोड़ी थोड़ी सूखी खांसी आती है अर्थात् खांसी या केवल ठसका आता है। विशेषतया सोने जागने में प्रातःकाल के समय और भोजन करने के पश्चात् छाती में हँसली हड्डी के ऊपर नीचे हल्का दर्द होता है। जिसकी टीसें कन्धों और पीठ तक जाती हैं और यदि उरस्तोय भी हो तो दर्द तेज हो जाता है, खांसते समय भी दर्द तेज होता है, कभी कभी भोजन करने के पश्चात् सामान्य खांसी आने पर वमन हो जाता है, मन्दाग्नि-अजीर्ण-रहता है, घृत आदि स्निग्ध पदार्थों से अरुचि हो जाती है, हृदय तथा नाड़ी का स्पंदन बढ़ जाता है अर्थात् दिल धड़कने लगता है और नाड़ी की गति कुछ तीव्र हो जाती है, जो लेटने (पूर्ण विश्राम करने) से सम (ठीक) हो जाती है। इस समय तक सामान्यतया तापमापक थर्मामीटर लगाने से ज्वर पकड़ में नहीं आता है। स्वांस कुछ बढ़ जाता है और कष्ट भी अनुभव होता है। इस प्रथम श्रेणी के लिये यज्ञ सामग्री :—

मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी), इन्द्रायण की जड़, शाल (पर्णी), प्रश्निपर्णी, मकोय, गुलाब के फ़ल, तगर, अगर, रायसन (वायसुरई), क्षीरकाकोली, जटामांसी, गोखुरू, चिरोंजी, हरें बड़ी मय गुठली, आंवला, जीवन्ती, पुनर्नवा, देवदारू चीड़ का बुरादा, खूबकला असली, जौं, तिल काले, चावल साठी, इलायची बड़ी, सुगन्धवाला समस्त वस्तुऐं प्रत्येक एक भाग, शतावर, अडूसा, जायफल, बादाम, चन्दन सफेद, मुनक्का, किसमिस, लौंग, प्रत्येक आधा भाग। गिलोय, गूगल प्रत्येक ५ भाग। मधु चौथाई भाग, शक्कर देशी १० भाग, केसर असली यदि सुविधा हो तो १/१०० भाग, कपूर देशी थोड़ा, फल मीठे पके फल, जौ का हलुआ प्रति सप्ताह यज्ञ सामग्री का १/४ भाग एक बार मिलाया जावे, इस यज्ञ सामग्री के यज्ञ और इस यज्ञ-चिकित्सा के सहायक साधनों को यथा उचित भोजन, उचित व्यायाम, पूर्ण ब्रह्मचर्य, स्वच्छ वायु, सूर्य का पर्याप्त प्रकाश और अच्छे होने का मानसिक दृढ़ संकल्प आदि का भी प्रयोग करते रहेंगे तो निश्चयपूर्वक इस रोग से स्थायी रूप से रोगमुक्त हो जावेंगे। यह ध्यान रहे कि प्रातःकालीन उदय होते हुए बालसूर्य की सन्मुख संध्या, प्राणायाम और गायत्री का जप करने से रोगनाशक और स्वास्थ्यवर्धक शक्ति बढ़ती है।

२–द्वितीय श्रेणी के लक्षण—भूख लगभग समाप्त सी हो जाती है, हाथ पांव के तलवे जलते हैं, खांसी अधिक आने लगती है, विशेषतया प्रातःकाल जागने में खांसी में कफ अधिक आता है जो

पीला बदबूदार होता है जानों पीवमिश्रित है। यदि ऐसे कफ को पानी में डालें तो वह बैठ जाता है। बिना धुँए के अंगारे पर डालें तो मास जलने जैसी गन्ध चिरचिरायन आती हैं। अणुवीक्षण यन्त्र द्वारा देखा जावे तो उसमें क्षय- कृमि, पीव, गले-सड़े फेफड़े के अंश पाये जाते हैं। स्वांस कष्ट से आता है। निर्बलता और शरीर की कृशता, मांस क्षय बढ़ता जाता है। नाड़ी शीघ्र-शीघ्र चलती है। यदि रोग अधिक तीव्र हो तो ज्वर हर समय रहता है अन्यथा सायंकाल को कुछ सर्दी लगकर बढ़ जाता है और प्रातःकाल को ज्वर उतरते समय बहुत पसीना आता है। इस द्वितीय श्रेणी के लिये यज्ञ सामग्री :—

सुगन्धवाला २ भाग, गूगल ४ भाग, चन्दन सफेद २ भाग, लाल २ भाग, अगर, तगर २-२ भाग, चिरोंजी, गोला, नारियल, जायफल, लोंग, मुनक्का, किसमिस, बड़ी इलायची, कपूर कचरी, जटामांसी, देवदारु-चीड़ का बुरादा प्रत्येक दो भाग, छुहारा खजूर, हर्र बड़ी गुठली सहित, ब्राह्मी, (गंगातट हिमालय पर्वत की), इन्द्रायण की जड़, कूठ, कलंजन, बादाममीग, मधु शहद, असली जौ, तिल, चावल साठी के, फल सेव या अंगूर शहद में डुबोकर, कपूर देशी सब प्रत्येक एक भाग। शतावर ३ भाग, अडूसा ३ भाग, जावित्री १/४० भाग, केसर १!१०० भाग, शक्कर देशी १० भाग, सप्ताह में एक बार खीर या मोहन भोग या बेसन के लड्डू चार भाग।

इस द्वितीय श्रेणी का रोगी बहुत परिश्रम से और लगातार चिकित्सा करने से ही ठीक हो सकता है। चिकित्सा के चारों पाद वैद्य, परिचारक, रोगी और औषध, इन सबके पूर्ण गुण युक्त होने पर अतिकष्टसाध्य अवस्था में भी ठीक हो सकता है। अच्छे होने पर भी बहुत काल तक पूर्ण बल आने तक और रस रक्त, मांस आदि धातुओं की वृद्धि होने तक भोजन, ब्रह्मचर्य, औषध आदि में बहुत सतर्क रहना चाहिए जिससे रोग का पुनराक्रमण न हो जावे।

३-तृतीय श्रेणी के लक्षण—फेफड़ों में गहरे व्रण (गार) (कैविटी) हो जाते हैं। पीव मिला कफ बहुत निकलता है। रात को ज्वर बहुत तेज होता है और प्रातःकाल पसीना बहुत आता है। रोगी बहुत निर्बल हो जाता है। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के सब लक्षण तो रहते ही हैं, अन्त को दस्त आने लगने हैं। रोगी सूख कर कांटा सा हो जाता है, हाथ पैर पर सूजन आ जाती हैं। प्रायः क्षयरोगी तृतीय श्रेणी की अन्तिम अवस्था में पहुँचा हुआ कभी अच्छा नहीं होता। इसी प्रकार यह भी कहा जाता है कि जब दस्त आने लगें, पैरों पर सूजन आ जावे तो क्षयरोगी का अच्छा होना असम्भव सा हो है। पर यह भी देखा गया है कि "कदाचिद् दृष्टरिष्टोऽपि दैवयोगेन जीवति" जिन पर ईश्वर-को कृपा होवे, अभो जीवन शेष है और भोग भी शेष है, और जिन रोगियों में संकल्प बल बड़ा दृढ़ होता है और जो वेदोक्त यज्ञविधि को पूर्ण रूप से, नियमित रूप से व्यवहार में लावें और उसके साथ ही अन्य समस्त सहायक साधनों यथा- आहार, स्वप्न, ब्रह्मचर्य, भोजन, सूर्यधूप, स्वच्छ वायु, भ्रमण आदि का सेवन करते होवें, उनका यज्ञ चिकित्सा से रोगी तथा सव्रण फेफड़ों का स्वस्थ्य हो जाना तो सम्भव और निश्चित है परन्तु फेफड़ों का पुनः निर्माण होना अशक्य है।

तृतीय श्रेणी के लिये यज्ञ सामग्री—

गोखुरू, पिस्ता, जीवन्ती, पुननर्वा, मकोय, छुआरे, गुलाब के फूल, खस, हर्रे बड़ी गुठली सहित, ब्राह्मी (गङ्गा तट की), इन्द्रायण की जड़, मीठे बादाम की मींग, नागरमोंथा, जौ, काले तिल, चावल साठी के प्रत्येक १ भाग तथा ऋतु के मीठे फल यथा अंगूर मधु में लपेटकर(भिगोकर) प्रत्येक १ भाग, क्षीरकाकोली, आंवला, खूबकला मसली, सुगन्धवाला, चन्दन सफेद तथा लाल, अगर, तगर, चिरोंजी

नारियल, गोला, जायफल, लौंग, मुनक्का, किसमिस, बड़ी इलायची समूची, कपूर, कचरी देशी, हाऊ बेर, कूठ मीठा तथा कडुआ, जटामासी, चीड़ का बुरादा, देवदारु का बुरादा, प्रत्येक दो भाग। शतावर, अडूसा, कुलंजन, प्रत्येक तीन भाग। गिलोय पक्व ५ भाग, गूगुल ८ भाग, शर्करा (खांड, मिश्री देशी) १० भाग या समस्त सामग्री का १/४ भाग। केसर असली १/१००, जावित्री १/४, कपूर देशी १/२ भाग।

यज्ञ सामग्री और विधि के सामान्य नियम—

वस्तुएँ ताजी स्वच्छ यथासम्भव नयी लेनो चाहिए। बहुत पुरानी, सड़ी-गली न हों। गिलोय, अडूसा आदि हरी या छाया शुष्क हो, घी यथासम्भव गौ या भैंस या बकरी का असली लेकर समस्त सामग्री का कम से कम १/४ भाग अवश्य होवे। यदि सुविधा हो तो बकरी का घी या दूध का मोया सामग्री में दे दिया जाय। अजा-बकरी का दुग्ध घृत आदि क्षयरोगी के लिये अति हितकर है। बकरी के शरीर से जो उणुगंध (छिरियोंद) निकलती है उसके स्पर्श से क्षयकीटाणु नष्ट हो जाते हैं। समस्त प्राणियों मनुष्यों, पशुओं में बकरी ही है जिसको क्षयरोग नहीं होता है क्योंकि उसके गंधमात्र से क्षय कीटाणु नष्ट होते हैं। आयुर्वेद के ग्रन्थों में छाग (बकरी) की बड़ी महिमा इस प्रकरण में लिखी है। गिलोय नीम को हो तो अति उत्तम है। यदि कोई चीज न मिले तो छोड़ दी जावे। एक समय में कम से कम सवा पाव सामग्री तथा समान या आधा घी, जब रोगी अच्छा होने लगे और पैसे की असुविधा न हो तो ५ तोला सामग्री और इतने ही घी से नित्यप्रति हवन करना अनिवार्य है। कभी कभी समय और साधन के अभाव में पूर्ण सामग्री जल्द नहीं बन सकती है तब निम्नलिखित संक्षिप्त सामग्रो से कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए—लौंग १ भाग, मुनक्का, शतावर सफेद चन्दन २-२ भाग, गूगुल ८ भाग, शक्कर १० भाग, घी सामग्री से चौथाई यह भी न मिले तो गूगुल घी और शक्कर से यज्ञ आरम्भ कर दें।

उपसंहार—१-क्षयरोग बड़ा भयंकर और विस्तार में बहुत फैला हुआ है। २—इस समय तक समस्त विश्व में आधुनिक चिकित्साप्रणाली में कोई ऐसी विधि नहीं है जो शरीरगत क्षयकीटाणुओं को नष्ट करे पर शरीर को हानि न पहुँचावे, यह सिद्धान्त विश्व के प्रमुखतम वैद्यों और डाक्टरों ने स्वीकार किया है। ३-केवल वेदोक्त यज्ञविधि ही एक मात्र ऐसा साधन है जो रोग को स्थायी रूप जड़ से निर्मूल कर देता है। ४-यज्ञ करने से वायुमण्डलगत कीटाणु नष्ट होते हैं इस तरह वायुमण्डल स्वच्छ होता है। इस प्रकार स्वस्थ व्यक्तियों को, निर्बल व्यक्तियों को रोग-प्रतिरोधक शक्ति बढ़ती है। ५-इस विधि से रोगी के पारिवारिक जन, परिचारक, समीपस्थ व्यक्ति यज्ञ की रोग-प्रतिरोधक शक्ति के कारण रोग से बचे रहते हैं। ६-यदि कोई व्यक्ति वर्तमान में इस पूर्ण यज्ञ चिकित्सा को न अपना सके तो अपने रोग के लिए अन्य कोई भी उपाय करता हुआ भी यदि इस पद्धति के अनुसार करता रहेगा तो प्रत्येक प्रकार से लाभ ही लाभ होगा।

"स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य (यज्ञस्य) त्रायते महतो भयात् (क्षयरोगात्)"

अन्त में परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना है कि वह समस्त प्राणियों रोगियों, चिकित्सों, वैद्यों, विद्वानों, वैज्ञानिकों अनुसंधानकताओं को सन्मार्ग पर प्रेरित करे।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्भवेत्॥

मधुमेह : डायविटीस

(आयुर्वेदाचार्य श्री पं० चन्द्रमणि शास्त्री, दनकौर)

वर्तमान युग में राजयक्ष्मा की भांति मधुमेह भी सर्वत्र व्यापक रोग होगया है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों के मत में मधुमेह में रक्तस्थ शर्करा के वढ़ जाने से मूत्र में उसका आना प्रारम्भ हो जाता है। मूत्राधिक एवं तीव्र क्षुधा होने पर भी शरीरदौर्वल्य इसके प्रमुख लक्षण हैं।

चिन्ता, सुषुम्ना पर मानसिक आघात, क्रोध आदि कारणों से ही इस रोग की उत्पत्ति मानते हैं। इन्सुलीन की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर एच० वैष्णव तथा डा० वाई० पो० मुंजाले के विचारानुसार इस रोग में रुधिरप्रवाहिकायें कठोर हो जाती हैं। इनके कारण हृदय और मस्तिष्क को यथासमय रक्त पहुंचना कठिन हो जाता है, कभी कभी हृदय गति- अवरोध एवं पक्षाघात भी इसी कारण हो जाता है। शिरारोग भी होता देखा गया है। इस रोग में नपुंसकता भी हो जाती है। जिन लोगों को अधिवृक्क, पीयूषग्रन्थि आदि में से कोई रोग होता है, उन्हें भी यह रोग होता देखा गया है।

हमारे नित्य के भोजन में प्रधानतया तीन पदार्थ होते हैं १-प्रोटीन २-वसा (घृत, तैल, चर्बी आदि) ३-कार्बोज-गुड़ खांड़ शक्कर गरिष्ठ पदार्थ। दैनिक भोजन में जितना कार्बोज हम खाते हैं उस सब का द्राक्षौज वन जाता है। वह रक्त में मिलकर शिरा द्वारा यकृत में पहुंच कर शर्कराजन के रूप में परिवर्तित होता रहता है। आवश्यकतानुसार सैलों द्वारा सर्वत्र पहुँचता रहता है। स्वस्थ मनुष्य के रक्त में द्राक्षौज की मात्रा ८ प्रतिशत से १२ प्रतिशत तक होती है। किन्तु जब वह अधिक हो जाती है तब वह मूत्र द्वारा बाहर निकलने लगती है। उनके विचार में रक्त में शर्करा होना ही मधुमेह का कारण है। वृक्कों में यह विशेषता है कि जब तक रक्त में मधु निर्दिष्ट प्रमाण में रहता है तब तक वृक्क उसे बाहर नहीं निकालते। मूत्र में शर्करा का आना वृक्कों का रोग नहीं है। कभी-कभी वृक्क भी विकृत होकर निर्दिष्ट प्रमाण से कम शर्करा को भी बाहर निकालने लगते हैं। उस दशा में तीव्र क्षुधा, मूत्राधिक्य, पिडिकायें, शरीरकृशता आदि लक्षण नहीं होते हैं। यकृत के अतिरिक्त पिच्युट्री बाडी तथा चुल्लिका ग्रन्थि भी विकृत होकर यकृत को अधिक शर्करा बनाने के लिये प्रेरित करते हैं। कभी कभी अधिक शोक, चिन्ता आदि से इडा नाडी तथा आघातादि कारणों से मस्तिष्क का चतुष्कोष्ठ प्रभावित होकर उपवृक्कों को प्रेरित करता है और मधुमेह का कारण बन जाता है। कार्वोज (गुड़ चीनी-राव गरिष्ठ पदार्थ) और वसा (चर्वी, घी-तैल) का अत्यधिक प्रयोग करने से, तथा उपरोक्त कारणों से जब सारा द्राक्षौज बाहर निकल जाता है, तब वसा और प्रोटीन भी अनेक विकारों के कारण वन जाते हैं। उस दशा में शरीर में कई प्रकार के एसिड, डाईएसेटिक एसिड, वीटा आक्सीव्यूटैरिक एसिड और एसीटोन बढ़कर रोगी की मृत्यु का कारण बन जाते हैं।

उनके विचार में इस रोग के दो रूप देखने को मिलते हैं। १-उग्ररूप-अकस्मात् प्रारम्भ होता है। प्रथम दिन से ही प्यास अधिक लगती है। ऐसे रोगी प्रायः युवक ही देखे गये हैं। इसमें क्लोम-विकृति ही कारण हैं जो रोगी की मृत्यु का कारण बन जाती है। २-जीर्ण-यह रोग शनैः शनैः प्रारंभ होता है। प्रारम्भ में प्यास अधिक लगती है। मूत्र रातदिन में १५-२० कि० तक आ जाता है। मूत्र

में विशेष प्रकार की गन्ध आने लगती है, भूख भी बढ़ जाती है, कोष्ठबद्धता रहती है, जिह्वा शुष्क और रक्तवर्ण की हो जाती है, पुरुष तथा स्त्रियों के गुप्ताङ्गों में अत्यधिक पीड़ा होने लगती है, शरीर शनैः शनैः क्षीण होकर रोगी को कालकवलित कर देता है। कार्बंकल, राजयक्ष्मा, वृक्करोग, नेत्रविकार मोतियाबिन्द तथा पटलशोथ आदि उपद्रव हैं। वृक्कविकारजन्य सर्वथा असाध्य हैं।

चिकित्सा—विज्ञान के अत्युन्नत समय में भी इस रोग की इन्सुलीन के अतिरिक्त कोई औषध नहीं है। यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता है कि इन्सुलीन इस रोग की पूर्ण चिकित्सा है। जब तक रोगी किसी भी प्रकार से इन्सुलीन लेता रहता है, तब तक वह जीवित रहता है। किन्तु कभी कभी इन्सुलीन लेते रहने पर भी डाइएसेटिक एसिड बढ़कर रोगी की मृत्यु का कारण बन जाते हैं। वृक्कजन्य मधुमेह में इन्सुलीन लाभ की अपेक्षा हानि करता है। ऐसी दशा में जीवन रक्षा के लिये सन्तुलित आहार ही लाभकारी होता है।

हौम्योपेथिक विशेषज्ञ डा० महेशचन्द्र भट्टाचार्य ने मधुमेह के सम्बन्ध में लिखा है कि आज तक इस रोग का मूल कारण समझ में नहीं आता है। रोग की प्रथम अवस्था में रोगी का चर्म रूक्ष, शरीर का तापमान ९४-९७, तेज प्यास, तेज भूख, दांतों की जड़ में सूजन, कब्जियत या शुष्क मल, पेशाब बार-बार होना, शरीर दुर्बल होते जाना, सांस में दुर्गन्ध, जीभ फटी-फटी और लाल रंग की हो जाना, मल स्पंज के सदृश हो जाना, प्रायः ये सभी लक्षण दिखाई देते हैं।

आगे चलकर भूख शनैः शनैः मन्द हो जाती है, शरीर दुर्बल हो जाता है, पैरों पर सूजन होकर कमर पर दूषित फोड़ा (कार्बंकल), स्त्रियों को योनि मार्ग में खुजली, पुरुषों में कामेच्छा का अधिक होना दिखलाई पड़ता है। अन्त में फेफड़े का प्रदाह, क्षय-खांसी तक पैदा हो जाती है। रोगी ४ कि० से लेकर २० कि० तक मूत्र करता है। मूत्र का आपेक्षिक गुरुत्व १०२५–१०५० होता है, पेशाब में चीनी हो तो मधुमेह कहते हैं। चीनी न रहे तो मूत्रमेह कहते हैं। पेशाब करने के बाद मक्खी या चींटी लगती हों तो समझना चाहिये कि इसमें चीनी है। इनके विचार में रोग के तीन उपद्रव हैं। १–पेशाब में चीनी का रहना, २–मूत्र का अधिक होना, ३–रात्रि में तेज प्यास के साथ गले का सूख जाना, रोग की जीर्णाधिक्य में सड़न वगैरह भी दीख पड़ते हैं।

चिकित्सा—सिजिजियम—जैम्बोलिनम् (यह जामुन के बीज से बनाया जाता है। यह रोग की सभी अवस्थाओं में दिया जा सकता है। इसके सेवन से पेशाब का गुरुत्व और चीनी का भाग कम हो जाता है।

सेफेलेण्डा इण्डिका ५-१० बूंद प्रातः सायं देने से हाथ पैरों की जलन पित्त के लक्षण मिट जाते हैं। नेट्रम सल्फ और नेट्रम फास इस रोग की महौषध हैं। कितना भी भयानक रोग हो चार पाँच मास तक निरन्तर सेवन करने से नष्ट हो जाता है।

लेक्टिक एसिड–यह बहुमूत्र की औषध है। सिकेल–इस दवा से पेशाब की शक्कर कम हो जाती है।

आयुर्वेद विज्ञान के अनुसार मधुमेह पर अपने विचार व्यक्त करने से पूर्व अपने पाठकों को प्रमेह का भले प्रकार ज्ञान करा देना परमावश्यक समझता हूं। कारण कि प्रमेह की उपेक्षा से ही मधुमेह रोग का जन्म होता है। यह सुश्रुत की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है। "सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः मधुमेहत्त्वमायान्ति।"

निदान–सुखदायक आसन, गद्देदार शय्या, दही, नवीन अन्न, गुड़ के विभिन्न पदार्थ, शक्कर, राब आदि, ग्रामीण दूषित जल, दूषित जलाशयों में पले हुये जीव जन्तुओं के माँस रस, दुग्धविकार

दही, रवड़ी, मावा आदि के अत्यधिक सेवन, सिनेमा, नाटक, उपन्यास, नटियों के अश्लील गायन एवं हावभावपूर्ण नग्न नृत्य, दूषित चरित्र, वाल-वालिकाओं के चरित्रश्रवण से वात, पित्त, कफ कुपित होकर मेद मांस तथा वस्ति स्थित क्लेद को दूषित करके प्रमेहों को उत्पन्न करता है।

दोष और दूष्यों में समान चिकित्साक्रम होने से कफ के दस प्रकार के प्रमेह साध्य हैं। दोष तथा दूष्यों के विपरीत चिकित्साक्रम होने से पित्तजन्य छै प्रकार के प्रमेह कठिनतया साध्य हैं। दोषों के क्षीण होने पर कुपित वायु धातुओं को वस्ति में खींचकर ले जाता है और प्रमेह का कारण वन जाता है। वात जन्य प्रमेह असाध्य हैं। सूक्ष्मतया कषायत्व से मिलकर मधुर स्वभाववाला ओज वायु के द्वारा मूत्र द्वारा वाहर निकलने लग जाता है तब ही मधुमेह कहलाता है।

"ओजः पुनर्मधुरस्वभावः, तद्यथा रौक्ष्याद् वायोः कषायत्वेनाभिसंसृज्य मूत्राशयेऽभिभवति तदा मधुमेहं करोति, च० चि० सुश्रुत ने तो निम्न उपद्रवों से युक्त (पिडिक) आदि को मधुमेह माना है।

चिकित्सा—जिन कारणों से रोग की उत्पत्ति होती है उनका सर्वथा परित्याग भी साधारण चिकित्सा है। हमारा शरीर षड्रस (खट्टा, मीठा, चरपरा, नमकीन, कसैला और कडुआ) से निर्मित है। आदि चार रस खट्टा-मीठा-चरपरा नमकीन, हम नित्य ही प्रयोग करते हैं। अन्तिम दो कसैला और कडुआ हम सर्वथा ही प्रयोग नहीं करते हैं। परिणामतः रसों की विषमता (न्यूनाधिकता) का नाम रोग है। रसों की समानता (अभाव की पूर्ति) का नाम चिकित्सा है।

एक वार निरन्तर मोदकप्रिय गणेशजी को परमभक्त व्यङ्ग्यकार ने मधुमेही प्रमाणित कर पूजा में कपित्थजम्बूफल अर्पित कर रोग विमुक्ति का मार्ग दिखलाया। यह विषय विचारणीय भी अवश्य है। क्या कारण है कि गणेशजी को "कपित्थजम्बूफलचारुभक्षणम्" विशेषण प्रदान किया गया। पूजा में उत्तम से उत्तम सुमधुर फल भी समर्पित किये जा सकते थे। जम्बूफल मज्जा और कपित्थ पुष्प उक्त रोग की सर्वमान्य औषध है।

कपित्थ पुष्पाणि च पूर्णयित्वा क्षौद्रेण लिह्यात् कफ पित्त रोगी। च० चि०। कषैला रस प्रधान होने से आंवला भी निरन्तर सेवन से विविध प्रमेहों को समूल नष्ट करने की परमौषध है।

हन्ति वातं तदम्लत्वात् पित्तं माधुर्यशैत्यत। कफंरूक्षकषायत्वात् मेहकुष्ठहरासरा।

शिलाजीत का विधिवत् निरन्तर सेवन मधुमेह को समूल नष्ट कर देता है। सुश्रुत में इसका वड़ा ही विस्तृत वर्णन है। यहां तक लिखा है कि कोई भी साध्य रोग ऐसा नहीं है जो शिलाजीत के सेवन से नष्ट न हो।

"न सोऽस्ति रोगो भुविसाध्यरूपो शिलाजतुर्यन्न जयेत् प्रसन्नः" सु०। गेहूं, मैदा आदि पदार्थ त्यागकर भूसी सहित यवान्न (जौ) के निरन्तर सेवन से यह रोग नष्ट हो जाता है। चावल, चीनी आलू, घी, चर्वी आदि पदार्थ सर्वथा छोड़ देने पर निम्नलिखित औषधों सेवन करने पर यह रोग नष्ट हो जाता है। त्रिवंग भस्म १-१ रत्ती गुड़मार बूंटी १-१ मा० विल्वपत्रस्वरस में सेवन करने से निश्चित लाभ होता है। चन्द्रप्रभावटी तथा वसन्तकुसुमाकर रस उचित मात्रा में नियमित सेवन करने से लाभ होता है। सत गिलोय का त्रिफला के साथ नित्य सेवन भी बड़ा लाभकारी है। करेले का १-१ माशा चूर्ण बबूल छाल के क्वाथ के साथ नित्य लेते रहने से रक्तगत शर्करा भी हट जाती है। इस रोग की पिडिकाओं (कार्वंकल) के लिए सारिवाद्यासव उत्तम औषध है। मूत्र में शर्करा रहते रहते तो चन्दनासव भी अत्युत्तम औषध है। युवावस्था में एक सप्ताह में ही बबूल छाल का क्वाथ दोनों समय सेवन करने से प्रत्यक्ष चमत्कारी योग है।

कृतज्ञता प्रकाशन

मैंने नरवर सांगवेद महाविद्यालय से साहित्य शास्त्री का प्रथम खण्ड दिया था। श्री पूज्य महाराजश्री जीवनदत्तजी का मुझ पर विशेष स्नेह था। मुझे सनातनधर्म के पालन की शिक्षा दिया करते थे।

मेरे श्री पूज्य ताऊजी छेदालालजी तथा मेरे पिताजी श्रीरामचन्द्रजी सन्यास लेकर इनकी शरण में वहुत दिनों तक रहे। मेरे पूज्य पिताजी ही मुझे महाराजजी की शरण में ले गये थे।

मैं महाराजश्री जीवनदत्तजी के विषय में क्या लिखने का साहस करूं। जब मुझे उनके संस्मरणों की स्मृति होती है तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे आज भी मुझ पर वात्सल्य विखेर रहे हैं और मैं कृतकृत्य हो रहा हूं। उन्होंने अनेक संस्कृत के उद्भट् विद्वान् देश को देकर भारतमाता एवं संस्कृति की अद्वितीय सेवा की है यह शब्दों में वर्णन नहीं की जा सकती।

वैद्य रामजीलाल आयुर्वेदाचार्य, शिकारपुर निवासी
हाल फीरोजाबाद (आगरा)

शुद्धाशुद्धि-पत्र

जीवनालोक

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
४	ओर	और
	आहार-निन्द्रा	आहार-निद्रा
	चातुर्वर्ण्यं	चातुर्वर्ण्यं
५	अंत: कारण	अंत:करण
	शूद्रोऽजायत	शूद्रोअजायत
७	सुप्रयुक्तः	सुण्ठु प्रयुक्तः
९	पञ्चाधासा	पञ्चधासो;
	देशे भवत्सरित्	देशेऽभवत्सरित्
	सद्यप्रसूत	सद्यः प्रसूत
	निस्रुत	निःसृत
	पुस्तकमन्तःकरणञ्च	पुस्तकमन्तःकरणं
	पञ्चस्रोता सरस्वती	पञ्चस्रोताः सरस्वती
	गुणगृहीता	गुणग्रहीता
११	बाह्मण	ब्राह्मण
	भगवान	भगवान्
	काल-विशिष्ट	कालःविशेष
	सदा सर्वदा भी	सदा सर्वदा में भी
१२	करने वाले	कराने वाले
	जिनेन्द्रियता	जितेन्द्रियता
१३	श्री बल्देव सहाय	श्री बलदेव सहाय
	पं० बल्देव	पं० बलदेव
१५	विश्वम्भरिता	विश्वम्भरता
१६	ज्योतिष	ज्यौतिष
१८	विद्वान	विद्वान्
२०	त्रिभिरस्तै भवेज्जडः	त्रिभिरस्तैर्भवेज्जडः
	ज्योतिशास्त्र	ज्योतिः शास्त्र
२१	निवृत	निवृत्त
२२	दक्षिणयाप्नोति श्रद्धां	दक्षिणाश्रद्धामाप्नोति
	सत्यमश्नुते	सत्यमाप्यते
२३	स्नान वह	स्नान का वह
	अहरह	अहरहः

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
२५	भारतीत	भारतीय
	नाभूत	नाभूत्
२६	प्रवृत	प्रवृत्त
	करने लिए	करने के लिए
	विद्वान	विद्वान्
	आर्य जगत	आर्य जगत्
३०	की की	की
	पातञ्जल	पातञ्जल
३१	प्रत्व्याहार	प्रत्याहार
	कम्पेत	कम्पयेत्
	बुद्धिमान	बुद्धिमान्
३२	पत्नी की	पत्नी को
३३	पं० नरायणदत्त	पं० नारायणदत्त
	सम्यक	सम्यक्
३५	विवस	विवशता
	थी	थीं
३६	श्रद्धालु	श्रद्धालु
	महराज	महाराज
३७	चान्द्रयण	चान्द्रायण
३८	पंडितो	पंडितों
	स्थापना होना	स्थापना होनी
३९	निवृत	निवृत्त
	भीमसेन जी के	भीमसेन जी की
	पंडित्	पंडित
	दयाननन्द	दयानन्द
	अहर्निशि	अहर्निश
४१	पश्चात	पश्चात्
४२	उपयुक्त	उपर्युक्त
४३	करने की	करने के
	सुसङ्गठित	सुसङ्गटित
४५	वद्धकेशी	वृद्धकेशी

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	सद्सद्	सदसद्
	पायाय	पापाय
	वशीकतुं	वशीकर्तुं
	समेभ्यो	सत्येभ्यो
	गांचरतीं	गांचरंतीं
४६	मावमंस्या	मावमंस्थाः
	अभिनवमद्	अभिनवमद
	पुतेषणा	पुत्रैषणा
	वित्तेषणा	वित्तैषणा
४७	भावेश	भावावेश
४८	तत्कालिकलोचित	तात्कालिकोचित
	प्रतिकार	प्रतीकारः
	संरम्भी	संरम्भो
	प्रणाम्	प्रणाम
	पर्यटन की	पर्यटन के
	आर्य मन्दिर	आर्य मन्दिर
४९	सम्पति	सम्पत्ति
	पुण्यसलिता	पुण्यसलिला
५०	किभी	किसी
५१	कुलपति जा	कुलपति जी
५२	थी	श्री
	संद्यः	सद्यः
५३	ब्रह्मचारी में	ब्रह्मचारी जी में
५४	सम्मुदाय	सम्प्रदाय
	पथक	पृथक्
५५	भेट	भेंट
	आश्रम की साङ्गवेद	आश्रम साङ्गवेद
	स्थापना के पूज्य	स्थापना के बाद पूज्य
५७	गोविन्दबल्लम	गोविन्दवल्लभ
५८	विद्यालथ	विद्यालय
	श्री युत्	श्रीयुत
५९	सम्बन्ध महाराज श्री	सम्बन्ध में महाराज श्री
६४	सहयज्ञा	यज्ञों के साथ
६५	ऋषयो: मन्त्रद्रष्टार:	ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः
	श्वांस	श्वास
६६	उनका	उनको
६७	आवश्यकया	आवश्यकता
	पूणिमापर्यन्तं	पूर्णिमापर्यन्तं
	नगयां	नगर्यां
	शतमुखं-कोटिहोमातनकं	शतमुखकोटिहोमात्मकं
	परितोषयन्त	परितोषयन्तु
६८	आंधे दजन	आधे दर्जन
६९	लम्बेनराराण	लम्बेनारायण
७०	असमर्थ होकर कर	असमर्थ होकर
	कारणो	कारणों
७१	निस्पृह	निःस्पृह
७२	शाठशाला	पाठशाला
७३	जपराह्ण	अपराह्ण
	पर्यवेषक	परिवेषक
	पर्यवेषकों	परिवेषकों
७५	दृष्टव्य	द्रष्टव्य
७७	क्वचिद्दृष्ट	क्वचिद् दृष्ट
७८	अनन्ततः	अन्ततः
७९	नेत्रवक्त्रविकारैश्च	नेत्रवक्त्रविकारैश्च
८०	अन्त-मानस	अन्तर्मानस
८७	औध्वंदेहिक	और्ध्वदैहिक
८८	दर्शनार्शी	दर्शनार्थी
	अविधान	अभिधान
९०	सद्गृहस्त	सद्गृहस्थ
	विश्वकल्याणार्ण	विश्वकल्याणार्थ
९२	अवथित	अवस्थित
	क्षेयोमार्गविघातक	श्रेयोमार्गविघातक
९४	अष्टभुभा	अष्टभुजा
	पुराणश्रवणेक्षा	पुराणश्रवणेच्छा
	सम्यञ्जानोपलब्धि	सम्यग्जानोपलब्धि
९६	श्रीचरणो	श्रीचरणों
	विलपन्ती	विलपन्तीं
९७	श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त-सद्धर्माभिरक्षिता	श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त-सद्धर्माचाररक्षिता
	सनातनधम	सनातनधर्म

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
९८	विद्ववरेण्य	विद्वद्द्वरेण्य
९९	थे	थे,
	विद्वता	विद्वत्ता
१००	विद्वान	विद्वान्
	विशद्	विशद
१०२	विद्वान,	विद्वान्,
	मूर्तिमान	मूर्तिमान्
१०३	विद्वान	विद्वान्
	पश्चान्	पश्चात्
	था	था,
	सन्यास	संन्यास
१०४	करने	कहने
	अतःकरण	अंतःकरण

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	जाग्रत	जाग्रत्
१०५	की	कीं
	षरिषद	परिषद्
१०६	सन्यासियों	संन्यासियों
	सन्यासी	संन्यासी
	सन्यास	संन्यास
	जगन्नाथपुरी की	जगन्नाथपुरी के
१०७	ब्रह्मचारी	ब्रह्मचारी
	पश्चात	पश्चात्
१०९	शास्त्र	शस्त्र
	मातृ-संख्या	मातृ-संस्था
११०	पीभूषपाणि	पीयूषपाणि

प्रशस्ति–आलोक

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
२	द्वाचत्वारिंशद्ब्दानां	द्वाचत्वारिशदब्दानां
३	दत्त्वांशुमालिनम्	दत्त्वांशुमालिने
४	पण्डित श्रीजंन्यलांभो	पण्डितश्रीजन्यलाभो
६	कथा	कथां
	श्रैमद्भागवतीर्मम	श्रैभद्भागवतींमम
८	गणयाञ्च	गणयाञ्चके
१०	प्रसंगोपात	प्रसंगोपात्त
११	कथना	कथन
	को	कीं
१२	उन्ही	उन्हीं
१३	स्थानीयवैदिक-	स्थानीयवैदिक-
	मतन्त्र्‌ववावदूकैः	मतन्त्र्‌ववावदूकैः
	विदुन्मण्डली	विद्वन्मण्डली
१४	पुरुषों के	पुरुषों की
१६	शष्याः	शिष्याः
	निबन्धो	निबन्धे
१८	तद्योग्यतामनुसरन	तद्योग्यतामनुसरन्

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	कन्यार्थिन कतिपये	कन्यार्थिनः कतिपये
२०	विवेकविघ्ूदयवद्ध मानशमाम्भोनिधीनां =	= विवेकविधूदयवद्ध मानशमाम्भोनिधीनां
	नैष्ठिकब्रह्मचारिणामगृहारणामप्यङ्गीकृतानेकगृहभारणां =	= नैष्ठिकब्रह्मचारिणामगृहणामप्यङ्गीकृतानेकगृहभाराणां
	किञ्चिद्वक्तमुपक्रमे	किञ्चिद्वक्तुमुपक्रमे
	तदानीमद्भुतावर्तः	तदानीमदभुतावर्तः
	सुहृदोऽस्मांकं	सुहृदोऽस्माकं
	यतिवृन्दाब्जभास्कारा:	यतिवृन्दाब्जभास्कराः
	समर्च्य चरणैरेतैः	समर्च्यचरणैरेतैः
२१	भोंरो	भोंरों
	चखाया	चाखा
२२	व्याखान	व्याख्यान
	स्वस्थितम्	स्वस्थितिम्
२३	द्यावाभूमिगतासुमृत्सु	द्यावाभूमिगतासुभृत्सु

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
२४	साघीयसी	साधोयसी
	द्विजत्वसंरक्षणसक्षणानाम् =	=द्विजत्वपरिरक्षणसक्षणानाम्
	सुरसरीवरतीरविराजितं =	=सुरसरिद्वरतीरविराजितं
२५	सुरनदीपरिपूतमहावने	सुरणदीपरिपूतमहावने
२६	वन्दना प्रसूनान्जलि	वन्दना प्रसूनाञ्जलिः
	सहयोगगिनोऽध्यापकाः	सहयोगिनोऽध्यापकाः
	सामुख्यानां	सांमुख्यानां
	समुद्भतानेकदेशिकप्रवरस्य =	=समुद्भूतानेकदैशिकप्रवरस्य
	कर्मणैस्वात्मानंधन्यविदधानानामस्मत् =	=वरिष्ठताप्रतिष्ठितसेवनकर्मणैवात्मानंधन्यंविदधानानामस्मत् ।
	श्रीमत्पाठकवंशभूषणमणिस्वाचारचिन्तामणिर् =	=श्रीमत्पाठकवंशभूषणमणिश्रेणीषु सम्मानिताः
	जीवननांघ्रिश्रिताः	जीवनांघ्रिश्रिताः
	जगत	जगत्
	प्राप्नुवन्	प्रापिताः
	विराजन्त्वमी	लभन्तां स्थितिम्
	राजन्तु	तिष्ठन्तु
	श्रद्धान्जलिविधानेन	श्रद्धाञ्जलिविधानेन
२७	सुतयति	सुतइव
	प्रसन्ना	प्रसन्न
२८	नुमस्तछीविश्वेश्वरचरणपाथोजयुगलम् =	=नुमस्तच्छ्रीविश्वेश्वरचरणपाथोजयुगलम्
	अथाप्यास्मिन्पुण्ये	अथेप्यस्मिन्पुण्ये
३०	नगया	जगर्या
	जगत	जगत्
३१	संसार ने	संसार में
३२	सुखमतुलमाप्रोत्किल	सुखवतुलमाप्नोत्किल
३३	प्रखरेमतिमन्दीकृतेकवः	प्रखरमतिमन्दीकृतकवेः
३४	कतु	कतुँ
३६	एकान्त से	एकान्त में

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	परमजनककेनात्मनि	परमजनकेनात्मनि
	जनकचरणशून्यं	पितृचरणशून्यं
	सिद्धयाह्यचकमतपूर्वं	सिद्धयैह्यचकमतपूर्वं
३७	शिष्याम्तां	शिष्याभ्यां
३८	भसिततिलके नाञ्चितशिरा =	=भसिततिलकेनाञ्चितशिराः
३९	भगवान	भगवान्
४१	यतिववरान्	यतिवरान्
	वर्णिप्रवमरहङ्कारसरलः =	=वर्णिप्रवरमनहङ्कारसरलः
४४	वपुसि ज्ञानमहितान्	वपुषि ज्ञानमहितान्
४६	क्षितिदेववाणीम्	क्षितिदेववाणी
४७	शात्र	शास्त्र
५१	लोभनयं	लोभनीयं
५२	सदथिभ्य	सदर्थिभ्य
५३	भावापदकाराधका	भावपादुकाराधका
५४	त्यागशमदभदमादि	त्यागशमदमादि
५६	तंत्त्वमहम्भजामि	तत्त्वमहम्भंजामि
	शृद्ध-बिधौ	श्राद्ध-बिधौ
	श्राद्धाञ्जलीन्	श्रद्धाञ्जलीन्
	प्रवत्ते	प्रवर्त्ते
	उञ्जलियों	अञ्जलियों
	प्रवृत्ति	प्रवृत्त
	शब्दांस्तिलानक्षत	शब्दाँस्तिलानक्षत
	सहस	सहस्र
	रधिशास्त्र-वृन्दम्	रधिशास्त्रवृन्दम्
	गंगा	गङ्गां
	गुरुदेवमीक्षै	गुरुदेवमीक्षे
५७	विधानैजपन्त	विधानैर्जपन्तमन्तर्ह्यघमर्षणानि
	पश्याभि	पश्यामि
	शिवाशिवाभ्याम्मनसापर्यन्तं =	=शिवाशिवाभ्याम्मनसार्पयन्तं
६२	बुधश्च	बुधैश्च

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	श्रीमज्जीवनदत्तशर्मविदुषामांर्षपदं =	= श्रीमज्जीवनदत्तशर्मविदुषामार्षं पदं
	यस्याद्यान	यस्योद्यान
	ध्रायं	घ्रायं
	ध्रायमतीव	घ्रायमतीव
६३	कालकरालः	कालकराल
	सर्त्रेगतिर्निन्दिता	सर्वैर्गतिर्निन्दता
	सोऽस्मान	सोऽस्मान्
	परिहरन	परिहरन्
	दृष्टि	दृष्टिं
६४	शिष्यास्तच्छिष्यशियाः	शिष्यास्तच्छिष्यशिष्याः
६५	सिद्धान्तदृढ़तां	सिद्धान्तेदृढ़तां
६९	हि सं सम्यगवबुद्धवान्	हि स सम्यगवबुद्धवान्
७०	त्वमभूर्नखरे	त्वमभूर्नाखरे
	जगदम्बा यजनाय	जगदम्बायजनाय
	प्रत्यर्पिता जीवनः	प्रत्यर्पिताजीवनः
७२	समभजन	समभजन्
	स्थिति	स्थितः
७५	वास्यामि	वत्स्यामि
७६	अनिलपुञ्जगतोः	अनिलपुञ्जगताः
७८	रुद्राक्ष षितकरो	रुद्राक्षाभूषितकरो
७९	निरीक्षता	निरीक्षिता
	सस्मरणं	संस्मरणं
८३	विटशुद्रैः	विट्शूद्रैः
८४	शुश्रुषूणां	शुश्रूषूणां
८५	मास्मचिन्तागमः	मास्मचिन्तांगमः
८६	समोयान्	समायान्
	प्रधानाचार्यः पण्डितेषु	प्रधानाचार्याः पण्डितेषु
८८	प्राचचिख्यपन्त	प्राचिख्यपन्त
	शोभ्यते	शोभते
८९	तदानीतन	तदानींतन
९०	विवादभपहाय	विवादमपहाय
	शास्त्रप्रणेतृन्	शास्त्रप्रणेतॄन्
	स्ववंशपितृन्	स्ववंशपितॄन्
	स्वपितृनिव	स्वपितॄनिव
९१	पर्यवसाय्यासात्	पर्यवसाय्यासीत्
९२	कृच्छ्रकि	कृच्छ्रकर्तं
	ह्यक्तिरेषा	ह्युक्तिरेषा
	यदीयमाहात्म्यकथाप्रसंग =	= यदीयमाहात्म्यकथाप्रसंगं
९३	सम्भार्जितोऽजाम्यन्तरभूतलम् =	= सम्भोर्जितोऽजाम्यन्तरभूतलम्
	अग्निगभशिमीमिव	अग्निगर्भां शमीमिव
	कादचित्	कदाचित्
९४	सौहार्द्र भावं	सौहार्दभावं
	पाठशालामध्यापनकार्यमकरोत् =	= पाठशालायामध्यापनकार्यंमकरोत्
	षटषुत्तरैकोनविंशतिशततमे =	= षष्ट्युत्तरैकोनविंशतिशततमे
	सांगवेदमहाविद्यालयाख्यंमेकं =	= सांगवेदमहाविद्यालयाख्यमेकं
	वसताभनवरतम्	वसतामनवरतम्
९५	समागतां जनानां	समागतानां जनानां
	एवं भूताखिलजनहित परायणः =	= एवंभूताखिलजनहितपरायणः
९६	कृत्याकृत्यविधानहानिपुण =	= कृत्याकृत्यविधानहाननिपुणं



संस्मरण–आलोक

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
४	जाग्रत	जाग्रत्
	नंह	नहीं
८	सन्यास	संन्यास
११	भगवान	भगवान्
१६	प्रतीच्छा	प्रतीक्षा
२४	गन्यमान्य	गण्यमान्य
	करता ही था	करते ही थे
	लिखने को	लिखने का
	तपोनिष्ढ	तपोनिष्ठ
२६	अक्षुष्य	अक्षुण्ण
	विद्वान	विद्वान्
	प्रख्यात	प्रख्यात्
२८	दणर्प	दर्पण
२९	प्रत्ताव	प्रस्ताव
	As this Brahimachariji in ligetime =	= In ligetime as this Brahimachariji
३०	This is	He was
	P estive	prestine
	All-most	An-most
३१	षोडस संस्कार	षोडश संस्कार
	जोर्तिमठ	ज्योतिर्मठ
	सतत्	सतत
३२	पुन्य	पुण्य
	और पांडित्य के उनका	और उनका
३३	सन्यासियों	संन्यासियों
३६	चक्रचूडामणी	चक्रचूडामणि
	श्रीहारायणचन्द्र	श्रीहाराणचन्द्र
३८	श्रीधरवीर शास्त्री	श्रीधर शास्त्री
	कल्कौ	कलौ
३९	प्रामाणित	प्रमाणित
	उपनिषद	उपनिषद्
४०	स्वर समाधान	स्वर में समाधान
४१	महाराजश्रा	महाराजश्री

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
४५	महापाजश्रो	महाराजश्री
४७	प्रत्पुत्पन्नमति	प्रत्युत्पन्नमति
५२	चतुर्दिक	चतुर्दिक्
५४	संग्रालय	संग्रहालय
५५	जेष्ठ	ज्येष्ठ
	विद्यु त	विद्यु त्
५६	अथिति	अतिथि
	आथितेय	अथितिथे
	विद्वतापूर्ण	विद्वत्तापूर्ण
	उपयुत	उपयु क्त
	करता	करती
५७	आपुर्वेदाचार्य	आयुर्वेदाचार्य
	श्री महाराज जी को उनके द्वारा अपिरिचित होने =	= श्री महाराजजी को अपरिचित होने पर
५९	विराटता वैसा ही	विराटता का वैसा ही है
	महान	महान्
६०	निवृत	निवृत्त
६३	मुखमण्ठल	मुखमण्डल
६४	ज्योतिरुप वे मे अमर हैं =	= ज्योति रूप में वे अमर हैं ।
६६	परमाश्यक	परमावश्यक
७३	ब्राह्म-भोज	ब्रह्म-भोज
७४	महाराज जी का	महाराज जी की
७५	उन्हे	उन्हें
७७	धर्मसनातन:	धर्मः सनातनः
	रुला दू ँगा के पूरी शक्ति =	= रुला दूगाँ उसके पूरी शक्ति
७९	परमाश्यक	परमावश्यक
	कोपीन	कौपीन
८१	मंगलविद्यायिनो	मंगलविधायिनी
	वृति	वृत्ति
८४	स्नानादि पश्चात्	स्नानादि के पश्चात्

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
८५	मुझे से	मुझसे
८८	ग्रहस्थ	गृहस्थ
९१	गगात्याञ्य	गंगात्यागय
९२	व्याखान	व्याख्यान
	श्रृद्धा	श्रद्धा

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
९३	कालिकाल	कलिकाल
९४	प्रवलतम्	प्रबलतम
९५	अरहर्भि वृद्धश्रेयोभागी =	=अहरहरभिबृद्धश्रेयोभागी

संस्कृति–आलोक

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
४	सम्राट	सम्राट्
५	रचयितृणां	रचयितॄणां
६	सांस्कतिकी	सांस्कृति की
७	राष्ट्रियसंस्कृतेर्निमाणे	राष्ट्रियसंस्कृतेर्निर्माणे
८	चमकाला	चमकीला
	ंस्कृति	संस्कृति
१२	जाग्रत	जाग्रत्
१३	भगवान	भगवान्
१४	जन्म और जीवन ने	जन्म और जीवन से
१८	परिस्कार	परिष्कार
	सतत्	सतत
२०	परमितदिक्कालावच्छिन्न है =	परिमितदिक्कालावच्छिन्न है,
२२	साहिष्णुता	सहिष्णुता
२३	विछृङ्खलन	विश्रृङ्खलन
२४	मावन	मानव
२६	प्रवृति	प्रवृत्ति
२७	निवृति	निवृत्ति
	तेत्त्वघं पाया ये	तेत्त्वघं पापा ये
२८	बनना हा अम्युदय	बनना ही अभ्युदय
२९	'श्रुत्यंकसमधिगभ्य'	'श्रुत्येकसमधिगम्य'
	घन्य	धन्य
	सर्वें वे सुखिन	सर्वे वै सुखिनः
३१	अहकार	अहंकार
	पृथक	पृथक्

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	कारयेत्	कारयन्
३२	श्वेतकेतौ	श्वेतकेतो
	तत्वमसि	त्वमसि
३३	वेदपाणिहितो	वेदप्रणिहितो
	धृति	धृतिः
३४	श्रेयत्त्वं	श्रेयस्त्व
	जोष्यषेत्	जोषयेत्
	पद्धतियों से साकार	पद्धतियों को साकार
३७	शंकेतनं	संकेतनं
३८	एवधुनिकविज्ञानसम्भत	एवाधुनिकविज्ञानसम्मतः
३९	आनन्दसागरमुम्बेईतः	आनन्दसागरमुम्बईतः
४०	विश्वस्ता	विश्वस्ताः
४४	मूल्यवान	मूल्यवान्
४९	पृथक	पृथक्
५०	इन्द्रियन्त्र	इन्द्रिय
५३	श्रेयससिद्धिस धर्मः	श्रेयससिद्धिः स धर्मः
५४	याथाथेन	याथार्थ्येन
	परिशेषांत्	परिशेषात्
५५	आतश्चत	आतञ्चन
	यजमानसंमितः	यजमानसंमिता
५८	संलिष्ट	संश्लिष्ट
	रस्मियाँ	रश्मियाँ
५९	तु स्मृतिः	तुवैस्मृतिः
	आग्नीषोमात्मकंजगत्	अग्निषोमात्मकंजगत्
६०	भयाविन्दश्च	भयादिन्दश्च

पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध	पृ० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
	वागजाल	वाग्जाल	११९	किसा रस को	किसी रस को
१	पितृणां	पितृणां	१३१	रुद्राष्ययी	रुद्राष्टाध्यायी
८	तहि	तर्हि	१३४	प्रयपूत्नवंक	प्रयत्नपूर्वक
९	सस्पूर्णस्य	सम्पूर्णस्य	१३७	वेद और दांगो	वेद और वेदांगों
	विचित्य	विचिंत्य	१३९	बोघ	बोध
२	श्रीष्क्रण	श्रीकृष्ण	१४०	अश्लाल	अश्लील
	इस सभी	इन सभी	१४१	दसरे	दूसरे
६	वृहन्नाराय णोपनिषद्	वृहन्नारायणोपनिशद्		आजोवन	आजीवन
७	विण्ण	विष्णु	१४२	भवभति	भवभूति
४	फलों	फूलों	१४३	वैदिक युगान	वैदिकयुगी
	कर्णफल	कर्णफूल		शारोरिक	शारीरिक
२	कनफल	कनफूल	१४६	अवश्व	अवश्य
३	वेदिक	वैदिक	१४७	आकषित	आकर्षित
	अलंकारों यदि	अलंकारों से यदि	१५१	पग्म्परित	परम्परित
४	फलों	फूलों		जावन्त	जीवन्त
७	रपरामष्टः	रपराम्मृटः	१५४	पष्प	पुष्प
	विधारय	विधारण्य		फटती है	फूटती है।
	तद्विजिज्ञायस्व	तद्विजिज्ञासस्व	१५६	चकित्सा	चिकित्सा
९८	श्री काशीदत्त पाण्डेय	श्री वागीशदत्त पाण्डेय	१६२	श्रणियों	श्रेणियों
	भागीरिथी	भागीरथी		रचना म	रचना में
७८	सूत्र स्मृति	श्रुतिस्मृति	१६५	पु ानी	पुरानी
१०	ध्यन्यात्मक	ध्वन्यात्मक		अनुसंधानकताओं	अनुसंधानकर्ताओं
१	स्फर्त	स्फूर्त	१६७	इन्सुलोन	इन्सुलीन
६	रहती ह।	रहती है।	१६८	अन्तिम दा	अन्तिम दो
७	चल्ता ह।	चलता है।		मेहकुष्ढहगसरा	मेहकुष्ठहरासरा

